जैन आचार मीमांसा में

जीवन प्रबन्धन के तत्त्व

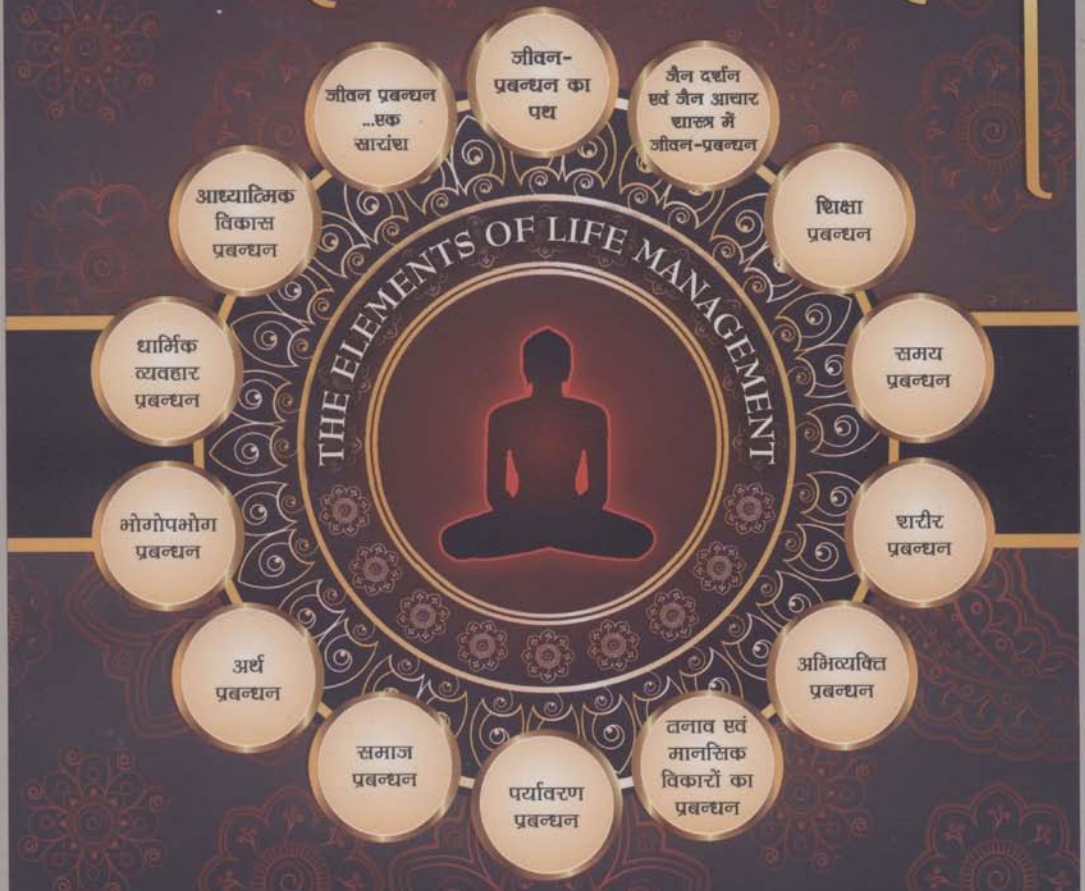

मुनि मनीष सागर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन में सभी को सुख अच्छा लगता है और दुःख बुरा - 'सुहसाया दुक्खपडिकूला' । अतः हमें यह मानना चाहिए कि जैसे हमें दुःख प्रिय नही है, वैसे ही सब जीवों को भी दुःख प्रिय नही है । जीवन-प्रबन्धन की नीति भी यही है कि हम किसी को दुःखी न करें और कोई कुछ भी करे, हम दुःखी न हों । इसे ही 'जिओ और जीने दो' (Live & Let Live) की नीति भी कहते हैं ।

जीवन में संयोग और वियोग का सिलसिला लगा ही रहता है । इसमें कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल परिस्थितियाँ मिलती रहती है । इनमें कैसे जीना चाहिए, यह एक कला है । जीवन-प्रबन्धन का उद्देश्य इसी कला का शिक्षण-प्रशिक्षण प्रदान करना है । इसके अनुसार, व्यक्ति को जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, बन्धु-शत्रु और सुख-दुःख की परिस्थितियों में राग-द्वेष से रहित होकर सम परिणाम रखना चाहिए, जिसे सामायिक कहते हैं।

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदा-पसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥

मानव जीवन सर्व जीवनों में विशिष्ट जीवन है । इसकी प्रामाणिकता तो इससे प्रकट होती है कि जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि सर्व आस्तिक धर्मों के सिद्धांतों में एक आवाज से इसके यशोगान गाये हैं ।

इस विशिष्ट जीवन का एक पल भी महान् कीमती है, क्योंकि एक पलभर भी किया गया प्रभु स्मरण अगणित पुण्य का संग्रह कर सकता है ।

– स्व. प्रव. श्री विचक्षणश्रीजी म. सा.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री महावीरस्वामिने नमः
श्री जिनदत्त-मणिधारी-कुशल-चन्द्रसूरि सद्गुरुभ्यो नमः
श्री गणनायक सुख-हरि-आनन्द-कवीन्द्र-उदय-कान्ति-महोदय सागरसूरिभ्यो नमः

जैन आचार मीमांसा में

जीवन प्रबन्धन के तत्त्व

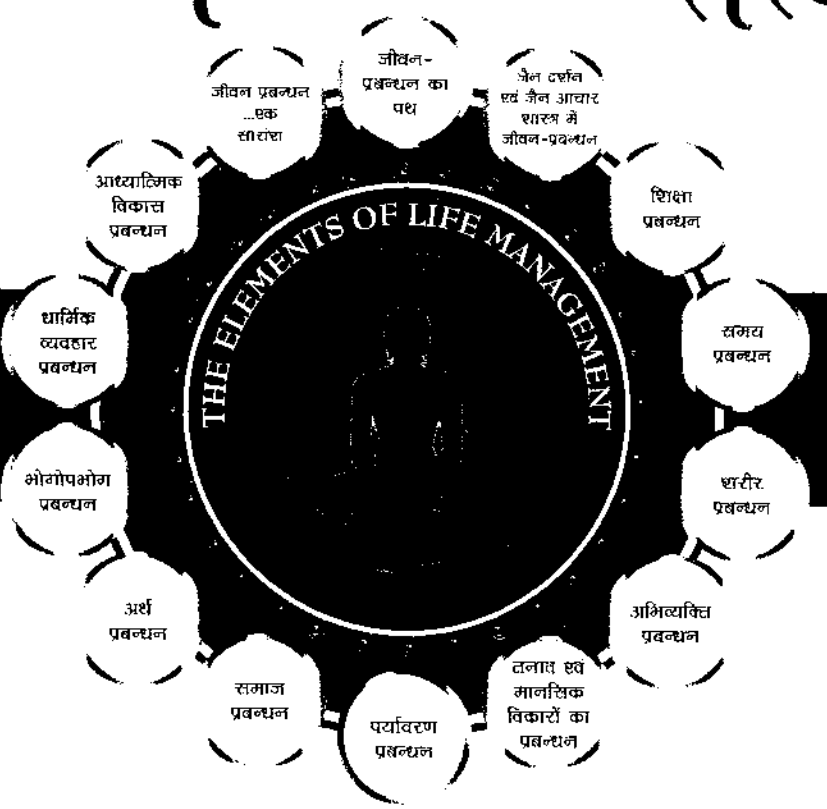

मुनि मनीष सागर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कृति	जैन आचार मीमांसा में **जीवन प्रबन्धन के तत्त्व** (जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ द्वारा स्वीकृत शोध प्रबन्ध : सन् 2012)
लेखक	प.पू. आ.भ. श्रीमज्जिनकैलाशसागरसूरीश्वरजी म.सा. के आज्ञानुवर्ती प.पू. मधुरभाषी मुनि श्री पीयूषसागरजी म.सा. के प्रशिष्यरत्न प.पू. अध्यात्मयोगी श्री महेन्द्रसागरजी म.सा. के शिष्यरत्न **मुनि मनीष सागर** (B.E., M.B.A., Ph.D.)
प्रधान सम्पादक	आगम मर्मज्ञ प्रो. (डॉ.) सागरमल जैन (एम.ए., पीएच.डी.) संस्थापक निदेशक, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)
सह सम्पादक	श्री रामकृष्ण काबरा (एम.ई., एम.बी.ए.) मुख्य अभियन्ता, म.प्र. विद्युत् मण्डल (सेवानिवृत्त), इन्दौर (म.प्र.)
प्रकाशक	1 प्राच्य विद्यापीठ दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.) 465001 मो. 94248-76545, फोन : 07364-222218 email : sagarmal.jain@gmail.com 2 जैन विज्ञान एवं प्रबन्धन संस्थान 112, विक्रम टॉवर, सपना संगीता रोड, इन्दौर, (म.प्र.) 452001 मो. 89894-08204, 93025-04646 email: varunkabra2008@gmail.com
प्रथम संस्करण	सन् 2013
सहयोग राशि (पुनः प्रकाशनार्थ)	₹ 400/-
प्रतियाँ	3000
फोटो सेटिंग	सच्चियायस ग्राफिक स्टुडियो, सूरत (गुज.)
मुद्रक	छाजेड़ प्रिंटरी प्रायवेट लिमिटेड 108, स्टेशन रोड़, रतलाम (म.प्र.)
ISBN	13/978-81-910801-1-7
© कॉपीराईट	सभी अधिकार पुस्तक के लेखक व प्रकाशक के अधीन हैं, इसलिए कोई भी भेटर या चित्र लेखक या प्रकाशक की अनुमति के बिना न छापें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पावन आशीर्वाद

प.पू. शासन प्रभावक खरतरगच्छाधिपति आचार्य भगवंत
श्रीमज्जिन कैलाशसागरसूरीश्वरजी म.सा.

शुभाशीष

प.पू. मरूधरमणि उपाध्याय प्रवर श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.
प.पू. सरल स्वभावी गणिवर्य श्री पूर्णानन्दसागरजी म.सा.
प.पू. मधुरभाषी मुनिप्रवर श्री पीयूषसागरजी म.सा.
प.पू. स्वाध्यायरसिक श्री सम्यक्रत्नसागरजी म.सा.

प्रेरणा एवं मार्गदर्शन

प.पू. अध्यात्मयोगी गुरूदेव श्री महेन्द्रसागरजी म.सा.
प.पू. मरूधरज्योति साध्वीवर्या श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

आत्मीय सहयोग

प.पू. अध्यात्मयोगी श्री महेन्द्रसागर जी म.सा., प.पू. श्री मनीषसागर जी म.सा. के शिष्य रत्न
प.पू. श्री वैराग्यसागर जी म.सा.
प.पू. श्री विवेकसागर जी म.सा.
प.पू. श्री ऋषभसागर जी म.सा.
प.पू. श्री वर्धमानसागर जी म.सा.
प.पू. श्री विराट्सागर जी म.सा.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ सहयोगी

प.पू. अध्यात्मयोगी मुनिवर श्री महेन्द्रसागरजी म.सा. आदि ठाणा 7

के सन् 2011 के ऐतिहासिक चातुर्मास के उपलक्ष्य में

श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्री संघ, खाचरौद

के ज्ञान खाते से

प्राप्ति स्थान

1. **प्राच्य विद्यापीठ**
दुपाड़ा रोड, शाजापुर
(म.प्र.) 465001
मो. 94248–76545, फोन : 07364–222218
email : sagarmal.jain@gmail.com

2. **जैन विज्ञान एवं प्रबन्धन संस्थान**
112, विक्रम टॉवर, सपना संगीता रोड,
इन्दौर, (म.प्र.) 452001
मो. 89894–08204, 93025–04646
email: jayantilal.rathore@yahoo.com

3. **श्री जैन दर्शन विद्या संस्थान**
28, गणेश कॉलोनी, दादावाड़ी,
रामबाग, इन्दौर (म.प्र.) 452002
मो. 98261–16865
email : vnahar06@yahoo.com

4. **आदेश्वर सेल्स कॉरपोरेशन**
51, श्रीमाल निवास, पूर्णेश्वर मन्दिर के
पास, रतलाम (म.प्र.) 457001
मो. 94251–04358, फोन : 07412–234086
email : adeshwar.pen@yahoo.com

5. **श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ**
कैवल्यधाम, कुम्हारी,
जि. दुर्ग (छत्तीसगढ़) 490042
मो. 98271–44296 फोन : 07821–247225

6. **श्री सुभाष जैन**
18, एच.बी. टाऊन, वर्धमान नगर,
नागपुर (महा.) 440008
मो. 93733–93722, फोन : 0712–2721016

7. **दिव्य दर्शन ट्रस्ट**
श्री कुमारपाल वि. शाह
39, कलिकुण्ड सोसायटी, मफलीपुर चार रास्ता,
धोलका, जि. अहमदाबाद (गुज.) 387810
फोन : 02714–225482, 225981

8. **श्री पवन पारख**
201, स्वागत कॉम्पलेक्स, कदमपल्ली रोड,
नानपुरा, सूरत (गुज.) 395003
मो. 93747–17747, 98375–13783
email : parakhvineet@hotmail.com

9. **आदिनाथ जैन ट्रस्ट**
21, वी. वी. कोईल स्ट्रीट, चूलै,
चैन्नई (तमिलनाडु) 600112
फोन : 044–26691616, 25322222

10. **जैन केम. प्राईवेट लिमिटेड**
10, मंडपम रोड, किलपाक गार्डन,
चैन्नई (तमिलनाडु)
मो. 98840–24252, फोन : 044–26470600
email : jain.chem@vsnl.com

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

जिनकी दृष्टि, ज्ञान और चारित्र जीवन-प्रबन्धन का पाथेय है,
उन वीतराग परमात्मा को सादर समर्पित....

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभिनन्दन के स्वर

ॐ आशीर्वचन ॐ

परम पूज्य शासनप्रभावक खरतरगच्छाधिपति
आचार्य श्रीजिनकैलाशसागरसूरीश्वरजी म.सा.

मनीषसागरजी म.सा. को पीएच.डी. की उपाधि मिली, प्रसन्नता हुई। आपने **'जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व'** विषय पर शोध किया व आप ग्रन्थ का प्रकाशन करने जा रहे हैं। निश्चित रूप से यह ग्रन्थ सभी धर्म प्रेमी साधकों सहित जनसामान्य का मार्गदर्शन करेगा।

मैं इस ग्रन्थ के प्रकाशन से जुड़े सभी महानुभावों को साधुवाद प्रेषित करता हूँ तथा इसके शीघ्र प्रकाशन की मंगल कामना करता हूँ।

गच्छहितेच्छु

5 अगस्त, 2012
नाकोड़ा तीर्थ

गच्छा. आचार्य जिनकैलाशसागरसूरि

खरतरगच्छाधिपति आचार्य जिनकैलाशसागरसूरि

ॐ अर्हम् ॐ

परम पूज्य शासनप्रभावक
आचार्य महाश्रमणजी

जैन आचार अपने आप में एक विशिष्ट साधना पद्धति है। उसमें अहिंसा पर बहुत सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया है। वह अपने आप में विलक्षण प्रतीत होता ।

मुनिश्री मनीषसागरजी द्वारा प्रस्तुत **'जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व'** एक विशालकाय ग्रन्थ है। वे स्वाध्याय के क्षेत्र में विकास करते रहें। पाठक को इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक जीवन–प्रबन्धन की समुचित प्रेरणा प्राप्त हो। शुभाशंसा।

21 सितम्बर, 2012
जसोल (राजस्थान)

आचार्य महाश्रमण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ शुभकामना ॐ

परम पूज्य मरूधर मणि उपाध्याय प्रवर
श्रीमणिप्रभसागरजी म.सा.

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति हुई है कि आपका शोध–कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ है। जीवन में सम्यक् प्रबन्धन का अभाव, सबसे बड़ी समस्या है। जीवन के आचार–विचार, समय आदि का सही प्रबन्धन सीख लिया जाए, तो निश्चित ही जीवन तनाव–रहित हो जाता है। ऐसे समीचीन विषय पर आपने शोध–कार्य किया है – आगम की छत्र छांव में! यह कार्य सकल संघ व मानव जाति हेतु उपयोगी साबित होगा।

आपने अल्प समय में अप्रतिम मेधा द्वारा संयम व ज्ञान के क्षेत्र में समुचित प्रगति की है, यह शासन व गच्छ का गौरव है। गुरूदेव से प्रार्थना है कि ज्ञान–ध्यान के क्षेत्र में आप और ऊँचाइयाँ प्राप्त कर शासन व गच्छ की सेवा करें।

03 अक्टूबर, 2012
मुम्बई

उपाध्याय मणिप्रभसागर

ॐ शुभाशीष ॐ

परम पूज्य सरल स्वभावी गणिवर्य
श्रीपूर्णानन्दसागरजी म.सा.

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि मुनिश्री मनीषसागरजी द्वारा लिखित **'जैन आचार में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व'** नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। निश्चित ही यह एक सराहनीय प्रयास है, जिससे अनेक लोग लाभान्वित होंगे। इसका सबसे अधिक विशिष्ट पहलू यह है कि इसमें जीवन के व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक – दोनों पक्षों के समुचित विकास का मार्गदर्शन किया गया है, यह समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। मेरा यह भी मानना है कि इसमें शिक्षा, समय, मन, वचन, काया, पर्यावरण, समाज, अर्थ, भोग, धर्म एवं अध्यात्म के प्रबन्धन सम्बन्धी जो विशद एवं विस्तृत चर्चा की गई है, वह वर्तमान युग में अतिप्रासंगिक है और प्रबन्धन–अकादमियों में अपनाने योग्य है।

आगे भी, आप इसी प्रकार स्व–पर उपयोगी प्रयत्न करते रहें, यही शुभाशीष।

20 सितम्बर, 2012
सैलाना (म.प्र.)

गणि पूर्णानन्दसागर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ शुभाशंसा ॐ

परम पूज्य मधुरभाषी मुनिराज
श्रीपीयूषसागरजी म.सा.

मनुष्य चेतन है, पदार्थ अचेतन है। चेतन की समस्या का समाधान अचेतन नहीं कर सकता। वह समस्या के समाधान में निमित्त बन सकता है, उपादान नहीं। मनुष्य को सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, व्यावसायिक, धार्मिक आदि अन्य–अन्य सम्बन्धों का जीवन भी जीना होता है, जिसमें अनेक प्रकार की समस्याएँ होती हैं। वस्तुतः, जितने प्रकार का जीवन वह जीता है, उतने ही प्रकार की समस्याएँ भी रहती हैं। इन सब समस्याओं का समाधान किसी एक सूत्र से किया जाए, यह सम्भव नहीं है। समस्याएँ अनेक हैं, तो उनके समाधान–सूत्र भी अनेक हैं। मानवीय समस्याओं का वर्गीकरण मुख्यतया पाँच प्रकार से किया जा सकता है।

★ मानवीय सम्बन्धों की समस्या
★ नैतिकता की समस्या
★ सामाजिक विषमता की समस्या
★ अशान्ति और तनाव की समस्या
★ आदर्शवाद और यथार्थवाद की समस्या

उपरोक्त समस्याओं का जनक आदमी का मस्तिष्क है, यही उलझाता है, यही जटिलता पैदा करता है। आश्चर्य यह है कि जन्म लेने वाली इन समस्याओं की मृत्यु और समाधान भी मानव–मस्तिष्क ही है। अत एव निष्कर्ष यही है कि जब तक मस्तिष्क प्रशिक्षित और परिष्कृत नहीं होता, जब तक चेतना विकसित नहीं होती, तब तक समस्याओं का क्षणिक समाधान भले ही हो जाए, लेकिन स्थायी समाधान नहीं हो सकता। स्थायी समाधान के लिए वीतराग–विज्ञान के सम्पोषक श्रमण भगवान् महावीर ने 'विभज्यवाद' का बेजोड़ विकल्प दिया। विभज्यवाद का अर्थ है – हर समस्या को विश्लेषित करके देखो, समस्याओं को मिलाओ मत। बाह्य जीवन से सम्बंधित समस्याओं के निराकरण के लिए सर्वप्रथम आन्तरिक समस्याओं का परिमार्जन कर उनका समाधान करो। जैसे–जैसे आन्तरिक समस्याओं का समाधान होता है, वैसे–वैसे बाह्य जीवन की समस्त समस्याओं को सुलझाने में सुविधा हो जाती है।

इक्कीसवीं सदी के क्षितिज पर, भौतिकता के साधन व सामग्रियाँ चरम उत्कर्ष पर हैं। फिर भी मानव का जीवन निराश, उदास और हताश है। ऐसे विकराल समय व स्थिति में मानव की जीवनशैली को अमूल्य उपहार प्रदान करने, प.पू. खरतरगच्छाधिपति स्व. श्रीजिनमहोदयसागरसूरीश्वरजी म.सा. के अविरल, असीम अनुग्रह से, युवामनीषी, पारदर्शी चिन्तक, विशुद्ध संयमाराधक मुनिप्रवर श्रीमनीषसागरजी ने जिनवाणी की दरिया में गहरी डुबकी लगाकर व्यावहारिक जीवन–प्रबन्धन से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेकर आध्यात्मिक जीवन–प्रबन्धन जैसे दुष्कर विषय को सरल भाषा में प्रांजल शैली के द्वारा प्रकट करने का कार्य किया है, वह अभिनन्दनीय ही नहीं, अनुकरणीय एवं अभिवन्दनीय भी है।

तारक परमात्मा की अनमोल वाणी का गहन चिन्तन–मनन–मन्थन कर आत्मज मुनिवर ने युग को नई दिशा, नई राह प्रदान कर प्रवृत्ति–बहुल युग में निवृत्ति के स्वर को उभारा है। बाहर की ओर दौड़ती दुनिया को अपनी ओर देखने की प्रेरणा दी है। इनकी दक्षता एवं श्रम – दोनों के सहयोग से **"जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व"** नामक शोध–ग्रन्थ स्वयं सौष्ठव बना हुआ है। प्रयोग व अभ्यास की धूरी से आपने जो अनुभव चेतना का विकास किया है, उस अनुभव चेतना का ज्ञान जन–जन में अन्तर के आनन्द को अवतरित करे। आत्मपिपासु, शान्ति–समाधि के पथिक आपके नव्य–भव्य जीवन–उत्कर्ष उद्घोष का सौम्य भाव से चिन्तन, मनन, विश्लेषण कर अपने जीवन की गहराई की जुगाली करें। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से जिनका श्रम, समर्पण रहा उन समस्त ज्ञात–अज्ञात मानस को साधुवाद।

साधना अनुस्यूत जीवन में अपने दायित्व तथा कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहते हुए निरन्तर अमृतोपम चिन्तन से जन–जन को उद्बोधित करने का अनवरत प्रयत्न करते रहें। उसकी फलवत्ता आपके मोक्ष–पाथेय हेतु असन्दिग्ध रहेगी।

धर्मनाथ जिनालय
85, अम्मन कोइल, चैन्नई–79
25 अगस्त, 2012

जिन महोदयसागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

ॐ हार्दिक शुभकामना ॐ

परम पूज्या स्वनाम धन्या महत्तरा साध्वी
श्रीविनीताश्रीजी म.सा.

यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि परम पूज्य श्रीमहेन्द्रसागरजी म.सा. की पावन कृपा से आपने अपना शोध–अध्ययन सानन्द पूर्ण किया। वास्तव में यह शोध–कार्य केवल विद्वानों व शोधकर्त्ताओं ही नहीं, अपितु सामान्यजन के लिए भी जीवन–ग्राह्य होगा। हम इसके प्रकाशन की मंगल–बेला में आपको हृदय से बधाई देते हैं।

10 नवम्बर, 2012
इन्दौर

विचक्षण विनेया
महत्तरा विनीताश्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ हार्दिक अभिनन्दन ॐ

परम पूज्या प्रज्ञा भारती प्रवर्तिनी साध्वी
श्रीचन्द्रप्रभाश्रीजी म.सा.

आधुनिक युग में व्यक्ति के लिए नैतिकता व अध्यात्म का पथ अपनाना अत्यन्त दुष्कर है। इसके दो कारण हैं – व्यक्ति के लिए न दर्शन एवं आचार शास्त्रों की जटिल बातें समझ पाना आसान है और न ही वर्तमान परिवेश में सन्मार्ग के सम्मुख होने का माहौल भी उसे यथोचित रूप से मिलता है। ऐसे कठिन हालातों में, आपके द्वारा आलेखित शोध–प्रबन्ध **'जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व'** निश्चय ही आने वाली पीढ़ी के लिए स्वयं को सही राह पर अग्रसर करने के लिए सुगम व रूचिकर साधन बनेगा।

इस शोध–प्रबन्ध की प्रकाशन–बेला में हम आपको साधुवाद देते हैं और यह विश्वास रखते हैं कि यह ग्रन्थ निश्चित ही जनभोग्य होगा। आपका पुनः पुनः हार्दिक अभिनन्दन.....

10 नवम्बर, 2012
बीकानेर

प्रवर्तिनी चन्द्रप्रभाश्री

ॐ अभिवन्दना..... ॐ

परम पूज्या मरूधर ज्योति साध्वी
श्रीमणिप्रभाश्रीजी म.सा.

आपश्री द्वारा आलेखित शोध–प्रबन्ध का अवलोकन कर अतिप्रसन्नता हुई।

इस शोध–प्रबन्ध में आपश्री ने व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास हेतु आध्यात्मिक ग्रन्थों का गहन स्वाध्याय, विज्ञान एवं मनोविज्ञान का तलस्पर्शी अध्ययन तथा साधना स्फूर्त अनुभव–चिन्तन–मनन से जीवन रूपान्तरण के समस्त पहलुओं पर सशक्त लेखन किया है।

आपश्री की सरल, स्पष्ट, विस्तृत शैली में लिखित यह कृति **'स्वान्तःसुखाय परहिताय'** अवश्य बनेगी। शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और आत्मिक स्तर पर जीवन कैसे जिया जाए? प्राप्त शक्तियों का सदुपयोग किस प्रकार किया जाए? इस सन्दर्भ में प्रशस्त मार्गदर्शन करेगी।

शोध प्रबन्ध प्रकाशन के इस अवसर पर हार्दिक शुभकामना सह पुनः पुनः वन्दन।

30 जुलाई, 2012
भद्रावती

साध्वी मणिप्रभाश्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ साभिनन्दन शुभकामना ॐ

स्वामी गोविन्ददेव गिरि

(आचार्य किशोर व्यास)

अपने प्रिय स्वदेश का नाम भारतवर्ष है। 'भारत' शब्द का अर्थ ही 'ज्ञान की आभा, याने प्रकाश में निरन्तर निमग्न रहने वाला देश' ऐसा है। अपने प्राचीन समृद्ध वाङ्मयभाण्डार की ओर दृष्टिपात करते ही इस नाम की सार्थकता ध्यान में आती है। लगभग ऐसा कोई विषय ही नहीं दिखता, जिसके बारे में प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मार्गदर्शन न किया हो। आजकल सर्वत्र प्रचलित प्रबन्धन–शास्त्र भी इसमें अपवाद नहीं है। महर्षि वेदव्यास प्रणीत महाभारत का परिशीलन करते हुए मुझे बारबार लगता है कि यह प्रबन्धन–शास्त्र का शिरोमणि ग्रन्थ है। श्री क्षेत्र पुष्कर राज में इस विषय की चर्चा श्रीरामकृष्णजी काबरा (इन्दौर) के साथ करते समय पता चला कि जीवन–प्रबन्धन विषयक व्यापक अनुसन्धान आदरणीय मुनिश्री मनीषसागरजी महाराज ने किया है और आपका वह प्रबन्ध प्रकाशन के मार्ग पर है। मेरी जिज्ञासा पर श्री काबराजी ने प्रकाश्य ग्रन्थ की एक प्रति मुझे भेज दी।

'जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व' इस बृहद् ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण प्रकरणों का वाचन और शेष ग्रन्थ का प्रसंगोपात अवलोकन करके मैं साश्चर्य आनन्द विभोर हो गया। अध्ययनशील आदरणीय जैन मुनिवरों से मेरा दीर्घकालीन परिचय एवं सत्संग रहा है। इसमें श्रद्धेय मुनिश्री मनीषसागरजी महाराज के अध्ययन की व्यापकता, चिन्तन की गहराई और लेखन की स्पष्टता देखकर मैं आह्लादित हुआ। भारतीय संस्कृति की एक शोभायमान पक्ष जैन–दर्शन एवं श्रमण–परम्परा है। जैनागमों में अत्र–तत्र बिखरे हुए प्रबन्धन–कला के सूत्रों को सूक्ष्मता से चुनकर मुनिश्री ने इस ग्रन्थ में कुशलता से गूँथा है। असल में प्राचीन जैन–साहित्य का नवीन दृष्टिकोण से अध्ययन एवं प्रस्थापना करके मुनिश्री ने एक नया आयाम ही उजागर कर दिया है। शिक्षाप्रबन्धन, समयप्रबन्धन, शरीरप्रबन्धन तथा सामाजिक एवं धार्मिकव्यवहार प्रबन्धन – ये शब्द ही जीवन की ओर देखने का एक अलग दृष्टिकोण प्रदान कर देते हैं।

श्रद्धेय मुनिश्री का विवेचन पाश्चात्य विद्वानों की प्रबन्धन विषयक परिभाषा एवं विचारों के संकलन तथा समीक्षा के साथ प्रारम्भ होता है। पृ. 60 पर आधुनिक भौतिकताप्रधान जीवनशैली के दुष्परिणामों की सटीक प्रस्तुति है तथा अन्तिम पृष्ठों पर प्रदत्त **'भौतिक और आर्थिक विकास यद्यपि जीवन जीने के लिए आवश्यक हैं, फिर भी उनका सम्यक् प्रबन्धन तो नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन–मूल्यों पर ही आधारित होगा'** – यह निष्कर्ष न केवल पूर्णतया सत्य है, बल्कि यही भारतीय संस्कृति का सारभूत उद्घोष है। इस सांस्कृतिक उद्घोष को अखण्ड अध्यवसाय से श्रद्धेय मुनिश्री ने आधुनिक परिभाषा में सुदृढ़ तार्किक आधार देकर परिपुष्ट किया, इसलिए आपका पुनः–पुनः हार्दिक अभिनन्दन। ग्रन्थ के सर्वत्र प्रचारार्थ शुभकामनाएँ।

10 अगस्त, 2012
धर्मश्री, पुणे
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी

स्वामी गोविन्ददेव गिरि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ जीवन ऊँचाई और अच्छाई के हस्ताक्षर ॐ

जिनशासनरत्न, प्राणिमित्र

श्रीकुमारपाल भाई वि. शाह

'दुल्लहे खलु माणुसे भवे' यानि 'निश्चय ही बड़ा दुर्लभ है मनुष्य होना' (भगवान् महावीर), 'बड़े भाग मानुष तन पावा' (तुलसीदासजी), 'सबार उपर मानुष रात, तुमार उपर नाही' यानि मनुष्य से बढ़कर जगत् में और कुछ नहीं (बंगाली चण्डीदास)। मनुष्य संसार का V.I.P. Person है, 'सब जीवन में सबसे ऊँचा मानव जीवन है', 'मनुष्य होना ही मूल्यवान् घटना है, अपूर्व अवसर है।' इस जीवन में विचार, उच्चार एवं आचार सही बनाने का सुनहरा अवसर प्राप्त होता है। पसंद अपनी अपनी!

मनुष्य ही नर, वानर या नारायण बन सकता है। जानवर, आदमी, फरिश्ता, खुदा इत्यादि आदमी की ही सैकड़ों किस्में हैं। मानव चाहे तो इंसान, भाग्यवान् और महान् भी हो सकता है। यदि आदमी बनने में असफल हो जावे, तो वह जानवर से भी बदतर बन जाता है। सावधान!

जन्म से अन्त तक बकरी बकरी रहती है, कौआ कौआ रहता है। जानवर जानवर रहता है, लक्ष्य इनका सीमित है, मनुष्य के लिए लक्ष्य असीम है। मनुष्य को जन्म के बाद सिद्ध करना पड़ता है कि वह स्वयं मनुष्य है। आइए, असीम की ओर अग्रसर हों!

बाजार, खेत, स्कूल और दूकान जाने वाला जानता है कि मैं किसलिए जा रहा हूँ। क्या हम जानते हैं कि हम कौन हैं व हमारी मंजिल क्या है? मनुष्य जन्म विशेष है। रोते हुए जन्म लेना, शिकायतों में जीवन जीते रहना और निराशा के कोहरे में दम तोड़ना मनुष्य जन्म की सार्थकता नहीं है। विशिष्ट जीवन में विशिष्ट कार्य करने में ही जन्म की सार्थकता है!

परम पूज्य मुनिराज श्री महेन्द्रसागरजी म.सा. और मुनिराज श्री मनीषसागरजी म.सा. जैन परम्परा के श्रमण–रत्न हैं। इन्दौर (म.प्र.) निवासी दोनों सन्त उच्च शिक्षा प्राप्त (इन्जीनियर/एम.बी.ए.) हैं। आत्म–साधक और सत्य–शोधक मुनिश्री आत्मानुभूति एवं आत्मदर्शन की ऊँचाइयों को छू रहे हैं।

स्वाध्याय का आनन्द, आत्मानुभूति का आस्वाद, हर समय समता और समाधि की प्राप्ति तथा जीवन–प्रबन्धन की दिशा की ओर अग्रसर होने वाले मुनिरत्न श्री मनीषसागरजी महाराज ने अपने लिए और सबके लिए **'जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व'** महानिबन्ध प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ऊँचाई और अच्छाई का हस्ताक्षर है। यह ग्रन्थ जीवन के हर क्षेत्र में सफलता के लिए सच्ची दृष्टि और सही दिग्दर्शक (गाईड) भी है। आकृति के मनुष्य को वास्तव में प्रकृति का मनुष्य बनाने में सक्षम भी है। आइए, इस Text Book को अपने जीवन की Taste Book भी बनायें।

परम पूज्य मुनिराजश्री के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए अभिनन्दन के साथ वन्दन करता हूँ।

03 अगस्त, 2012
धोलका

कुमारपाल वि. शाह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ वन्दना के स्वर ॐ

Shri Abhay Chajlani (Padmashri, D.Lit.)
Ex-Chief Editor, 'Naiduniya', Indore

जैन धर्म के दर्शन पर अनेक ग्रन्थ और पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इस धर्म के पालन हेतु नियम, अनुशीलन आदि के बारे में उपदेश, व्याख्यान, आलेखों से बहुत जानने, सुनने, पढ़ने को मिल जाता है। बहुत प्राचीन काल के ग्रन्थों में इस धर्म की व्याख्या, शिक्षा, महत्ता का विवरण मिलता है। पूजा, आराधना, वन्दन की लिखित और मुद्रित रचनाओं, गाथाओं, श्लोकों को जैन धर्मावलम्बी अत्यन्त सम्मान, आदर और विश्वास के साथ प्रभु दर्शन की प्रक्रिया के रूप में, ध्यान लगाकर उच्चारित करते हैं। उनका अर्थ समझ में आए–न–आए, उसकी इच्छा किए बिना उच्चारण के लय और भावना की एकाग्रता से प्रभुदर्शन की संतुष्टि मिलती है। पर क्या? इतना ही और ऐसे ही प्रभुदर्शन और प्रभु आराधना करना किसी को भी सम्पूर्ण स्वरूप में जैन बना देता है। क्या इतनी क्रिया मात्र से स्वयं के जैन होने की संतुष्टि की इति है? विनयपूर्वक कहना चाहूँगा – ऐसा सोच सतही तौर पर स्वयं को संतुष्ट रखने से अधिक कुछ नहीं है।

इस सोच के बाद प्रश्न उठता है, फिर कोई क्या करे? जिससे मन को जैन धर्म के पालन से संतोष मिले। जैन धर्म को स्वीकार करने वाले के लिये यह महत्त्वपूर्ण है कि वह अपने जीवन में पाँच गुणों का परिपालन करे – (1) अहिंसा, (2) दया, (3) सत्य, (4) अनेकांतवाद, (5) अपरिग्रह। दैनंदिन जीवन में, तेज रफ्तार से परिवर्तित हो रही परिस्थितियों, साधनों और नैतिक मूल्यों के कमजोर होने की स्थिति में, इन पाँच आदर्शों का पालन कर पाना कैसे सम्भव है?

इस निराशा का उत्तर मिलता है – पीएच.डी. की उपाधि से सम्मानित शोध प्रबन्ध, **"जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व (एक तुलनात्मक अध्ययन)"** से। जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय (लाडनूँ) की स्वीकृति से किए गए शोध–प्रबन्ध के शोधार्थी हैं– **मुनि मनीषसागर जी।**

जैन–धर्म को समय व परिस्थितियों के अनुसार, अंगीकार करने हेतु जितनी सरलता और सहजता के साथ विश्लेषित कर समझाने की कोशिश उन्होंने की है, वह सराहनीय है। धर्म के पुराने ग्रन्थों की भाषा में जो समझ पाना मुश्किल है, उसे इस शोध–ग्रन्थ ने आसान कर दिया है।

जैन धर्म का एक गम्भीर क्षेत्र है – स्वाध्याय, ध्यान, तपस्या आदि, पर सभी के लिये इस रास्ते पर चलना आसान नहीं होता। अगर जैन धर्म–अनुयायी इस शोध कार्य के विवरणों, विश्लेषण को भी समझ पाएँ, तो धर्म का आधार और अधिक मजबूत और सहज हो सकता है। वे परिवर्तित हो रहे हालातों में भी जैन–दर्शन में स्थापित जीवन–पद्धति को गम्भीरता से समझ सकेंगे। मुनिवर को प्रणाम।

इस लेखन पर किसी के मन में कुछ अन्यथा टिप्पणी लगती हो, तो करबद्ध मिच्छामि दुक्कड़ं।

22 अक्टूबर, 2012
इन्दौर

अभय छजलानी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ एक अद्भुत ग्रन्थ... ॐ

Shri Gopal Swaroop Mathur
Senior Journalist, 'Naiduniya', Indore

मुनिश्री मनीष सागरजी म.सा. द्वारा लिखित शोध ग्रन्थ **"जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व"** पढ़ने का अवसर मिला। जैन धर्म के समग्र व सूक्ष्म दर्शन के परिप्रेक्ष्य में जीवन–प्रबन्धन का यह शोध ग्रन्थ अद्भुत है। अनेक धर्म ग्रन्थों का सार व विद्वानों का उद्धरण इस ग्रन्थ के उद्देश्यों को सफल बनाता है। मुनिश्री का परिश्रम व लक्ष्य स्तुत्य है। मार्गदर्शक डॉ. सागरमल जैन का आशीर्वाद फलीभूत हो गया है। अनेक प्रणाम।

09 अगस्त, 2012
216, द्वारकापुरी, इन्दौर

अकिंचन
गोपाल स्वरूप माथुर

ॐ अन्तःस्फुरित स्वरावली... ॐ

Dr. Prakash Bangani (MBBS, FAAOS - USA)
Consultant & Managing Director
Arihant Hospital & Research Centre, Indore
Ex-Associate Prof. of Orthopaedic Surgery, Virginia Uni., USA

मनीषी मुनिश्री मनीषसागरजी म.सा. ने पीएच.डी. की उपाधि हेतु **'जैनआचारमीमांसा में जीवन प्रबन्धन के तत्त्व'** विषय पर जो शोध अध्ययन किया है, वह जैन–धर्म के धार्मिक पक्ष के अलावा शान्तिमय जीवन जीने की कला का मार्गदर्शन भी करता है। आज के भौतिक युग में जहाँ मानव अराजकता, अशान्ति एवं उद्वेगता में जी रहा है, कौन मानव शान्ति एवं आनन्द में जीना नहीं चाहेगा?

इस शोध–ग्रन्थ में शान्तिमय जीवन जीने के लिए जो आवश्यक है, वैसे हर पहलू, जैसे – शिक्षा, समय, अर्थ, पर्यावरण, समाज प्रबन्धन आदि का सरल एवं सरस भाषा में विवेचन जैन–शास्त्रों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है और यह विश्वशान्ति के लिए एक प्रशस्त उपाय है।

मुनिश्री मनीषसागरजी म.सा. इस अध्ययन को पुस्तक के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, यह निश्चय ही पाठक को शान्तिमय जीवन की राह पर ले जायेगा। इस प्रयास के लिए मुनिश्री एवं मार्गदर्शक डॉ. सागरमलजी जैन को शत–शत वन्दन।

22 अक्टूबर, 2012
इन्दौर

डॉ. प्रकाश बांगानी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ स्वरांजलि ॐ

Er. R. K. Kabra (M.E., M.B.A.) & Er. J. L. Rathore (M.E.)
Ex-Chief Engineer, M.P. Elect. Board

परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री महेन्द्रसागरजी म.सा. की प्रेरणा से परम पूज्य युवामनीषी श्रीमनीषसागरजी (पूज्य श्री महेन्द्रसागरजी म.सा. के सांसारिक पुत्र) ने **"जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व"** पर जो अनूठी व विलक्षण पुस्तक की रचना की है, उसके मर्म (Essence) को समझने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ।

गहन चिन्तन–मनन से सीधे–सरल शब्दों में रचित यह पुस्तक एक 15 वर्ष के बालक से 80 साल के बुजुर्ग व्यक्ति के जीवन के सम्पूर्ण आयामों को स्पर्श करती है, चाहे वे वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित – शिक्षा, समय, शरीर, अभिव्यक्ति एवं मन प्रबन्धन हो, सामाजिक जीवन से सम्बन्धित – पर्यावरण, समाज, परिवार, अर्थ एवं भोगोपभोग प्रबन्धन हो अथवा आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित धर्म एवं आध्यात्मिक प्रबन्धन क्यों न हो। जीवन–प्रबन्धन के सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यवहार के बारे में जैन धर्म क्या बताता है, इसका सैद्धान्तिक (Theoretical) और व्यावहारिक (Practical) मार्गदर्शन यह ग्रन्थ करता है। किसी भी धर्म का कोई भी व्यक्ति 'जीवन–निर्वाह' या उससे बढ़कर 'आत्मकल्याण (जीवन–निर्माण)' हेतु इस सद्ग्रन्थ का अध्ययन कर इसमें निर्दिष्ट प्रबन्धन–सूत्रों को जीवन में अपना सकता है।

जीवन–प्रबन्धन, जीवन–विज्ञान, जीवन–कला पर आज पूरे विश्व में कई प्रकार की सामग्रियाँ व प्रयोगात्मक विधियाँ उपलब्ध हैं, पर इन सभी में प्रायः कुछ न कुछ अपूर्णता रही हैं। किसी ने धर्म, अर्थ, काम – इस त्रिवर्ग को ही जीवन–साध्य मानकर मोक्ष पुरूषार्थ का लोप कर दिया है, तो किसी ने भौतिक संस्कृति से प्रभावित होकर, काम और अर्थ की वासना से ग्रसित होकर मोक्ष (परम शान्ति) तथा इसके साधनरूप धर्म (नैतिकता) की ही उपेक्षा कर दी है। मुझे लगता है, जीवन–प्रबन्धन के सभी पक्षों का सन्तुलित रूप मुनिश्री मनीषसागरजी के इस ग्रन्थ के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

इस श्रेष्ठ कृति का उपयोग भविष्य में अन्य कार्यों, जैसे – स्कूल एवं कॉलेज के थियोरिटिकल/प्रेक्टिकल कोर्सेस आदि हेतु किया जा सकता है। निश्चय ही यह ग्रन्थ 'मानव' में 'मानवता' लाने हेतु आज एक उपयोगी कृति है और नैतिक पतन को रोकने हेतु एक उपयोगी साधन (Tool) भी।

मनुष्य इसका अधिक से अधिक पठन कर इसकी शिक्षाओं को जीवन में उतार सके, तो इस ग्रन्थ की सार्थकता होगी। एक सुझाव भी है कि इस ग्रन्थ को विश्वव्यापी बनाने हेतु इसका अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित हो सके, तो उत्तम होगा।

इस श्रेष्ठ ग्रन्थ के प्रकाशन के शुभ अवसर पर प.पू. मुनिश्री महेन्द्रसागरजी म.सा. एवं मुनिश्री मनीषसागरजी म.सा. आदि ठाणा 7 को सादर प्रणाम व वन्दन करता हूँ।

25 सितम्बर, 2012

इन्दौर

रामकृष्ण काबरा / जयन्तिलाल राठौड़

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ बहुमूल्य कृति ॐ

Prof. (Dr.) Virendra Nahar
Director, Jain Darshan Vidya Sansthan, Indore
Director, Jain Shwetambar Professional Acadamy, Indore

जीवन एक अनुपम उपहार है। पर्यावरण दूसरा महत्त्वपूर्ण उपहार है। जीवन और पर्यावरण का सामंजस्य बना रहे, इस हेतु आवश्यक है कि हम जीवन को संयमित और अनुशासित रखते हुए प्रकृति से नजदीकी बनाये रखें, इसीलिए आवश्यकता है – जीवन को प्रबन्धित करने की। हम अपना कॅरियर प्रबन्धित करते हैं; अर्थ, स्वास्थ्य, शरीर, शिक्षा, परिवार, रिश्ते–नाते आदि प्रबन्धित करते हैं, लेकिन मन, भाषा और स्व–आत्मा को प्रबन्धित करे बगैर हम सम्पूर्ण जीवन को प्रबन्धित करने की कल्पना नहीं कर सकते।

प्रस्तुत पुस्तक में जीवन की समस्त विधाओं को प्रबन्धित कर सुन्दर एवं सफल जीवन जीने की कला अद्‌भुत शैली में व्यक्त की गई है। अध्यात्मप्रेमी मुनिराज श्री महेन्द्रसागरजी म.सा. के सुशिष्य स्वाध्यायप्रेमी युवामनीषी मुनिश्री मनीषसागरजी म.सा. ने जीवन–प्रबन्धन विषय को अपने शोधकार्य में शामिल कर जिनशासन को एक बहुमूल्य कृति प्रदान की है। उन्हें कोटिशः वन्दन।

20 सितम्बर, 2012
इन्दौर

डॉ. वीरेन्द्र नाहर

ॐ जन–जन के लिए प्रेरक कृति ॐ

Prof. Bal Krishna Nilose
Ex-Principal, Holkar Science College, Indore

"जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व" पुस्तक का अवलोकन कर अभिभूत हूँ। जीवन के हर पहलू पर गहन चिन्तन समाहित है। निश्चित रूप से जैन धर्म पूर्ण वैज्ञानिक होकर जीवन को मूल्यवान् बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है। मेरी तो यह बलवती अभिलाषा है कि जैन–धर्म जन–धर्म बन जाए, तो विश्व वर्तमान व्याप्त दुर्दशा से मुक्त हो सकेगा।

निश्चित रूप से पुस्तक की अमूल्य सामग्री जन–जन को प्रेरणा देगी।

7 अगस्त, 2012
इन्दौर

प्रो. बालकृष्ण निलोसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ हृदय के उद्गार ॐ

Dr. Gyan Jain (B.Tech., M.A., Ph.D.)
Managing Director, Jainchem Pvt. Ltd., Chennai
Editor, Khartara Vani (Jain Patrika), Chennai

किसी भी जीवन की सफलता अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष के सम्यक् पुरूषार्थ पर अवलम्बित होती है और पुरूषार्थ आधारित होता है आदर्श प्रबन्धन पर। यह प्रबन्धन जीवन के सर्व आयामों पर लागू होता है, चाहे वह प्रबन्धन शिक्षा का हो या समय, शरीर, अभिव्यक्ति, तनाव एवं मानसिक विकार, पर्यावरण, समाज, अर्थ, भोगोपभोग, धार्मिक–व्यवहार, आध्यात्मिक–विकास या अन्य किसी और विषय का।

यदि सुखाभास के लिए आवश्यकता है – अर्थ और काम के पुरूषार्थ के प्रबन्धन की, तो शाश्वत् सुख के लिए तथा दुःख निवारण के लिए नितान्त जरूरत है – धर्म और मोक्ष प्रबन्धन की। हमारी दुःखभरी समस्या यह है कि हमने जीवन मंच पर अर्थ और काम के प्रबन्धन को तो प्रोत्साहन दिया, धर्म और मोक्ष प्रबन्धन को सही मायनो में नगण्य कर दिया।

श्रद्धेय मुनिप्रवर श्री मनीषसागरजी का यह शोध–ग्रन्थ जीवन के प्रायः हर पहलू के विभिन्न पक्षों का गूढ़ विवेचन करते हुए यही दर्शाता है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र की सम्यक् समझ ही जीवन को राग, द्वेष और मोह से मुक्त कर, कषाय से रिक्त कर, विकार और विकृतियों से विमुख कर, आशातीत सिद्धशिला के पावन, पवित्र आसन पर आरूढ़ करती है।

पूजनीय गुरूभगवन्त ने प्रबुद्धता एवं प्रवीणता से हर विषय की विस्तृत समीक्षा की है और अन्ततोगत्वा यह सिद्ध करने में सफल हुए हैं कि जीवन–प्रबन्धन का लक्ष्य एक ओर क्षमा, मार्दव, आर्जव तथा सन्तोष की संवेदनाओं का प्रादुर्भाव है, तो दूसरी और आत्मवत् सर्वभूतेषू की वह समझ है, जो मैत्री, प्रमोद, करूणा और माध्यस्थ भावना को उजागर करती है एवं जिसके लिए विनय, विवेक के आधार पर सहिष्णुता का सम्यक् पाठ अनिवार्य है।

आज के उन्मार्ग वातावरण के लिए गुरूवर का यह सन्मार्ग प्रेरक शोध–ग्रन्थ हर एक पाठक के लिए प्रज्ञा का आलोक बन अनुप्रेक्षा, परिषह–जय और चारित्र परिणति का सशक्त हेतु बने, यही शुभाकांक्षा।

चैन्नई
10 अगस्त, 2012

डॉ. ज्ञान जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

✍ अभिनन्दन एवं अनुशंसा पत्र ✍

Prof. (Dr.) D. D. Bandiste (Retd.)
M.A. (Phil.) M.A. (Psy.), LL.B. Ph.D.

मुझे हृदय से प्रसन्नता हो रही है कि मुनि मनीषसागरजी का पीएच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **"जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व"** पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकाशन से पुस्तक के रूप में उपलब्ध होने के कारण समाज को भी काफी लाभ होगा।

मैं तो यह भी चाहता हूँ कि मुनि मनीषसागरजी और भी कुछ पुस्तकें लिखें और प्रकाशित करवाएँ। पुनः अभिनन्दन के साथ.....

07 अगस्त, 2012
इन्दौर (म.प्र.)

डी. डी. बंदिष्टे

✍ साहित्य के क्षेत्र में एक मूल्यवान् हस्तक्षेप ✍

Prof. (Dr.) Rajendra Chajlani (Retd.)
Dept. of Physics, Vikram University, Ujjain. (M.P.)

जैन दर्शन के आधार पर जीवन–प्रबन्धन की दिशा में विस्तृत विवेचनापूर्ण शोध पर आधारित यह प्रयास स्तुत्य है। जैन दर्शन मूल रूप से एक जीवनशैली है। इसका कुछ भाग आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित जीवन मूल्यों से मेल खाता है। प्रकृति और मनुष्य जीवन के सन्तुलन के महत्त्व को विस्तार से समझकर जीवन में उतारने की दिशा में यह ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक है।

विद्वान् लेखक मुनिश्री मनीषसागरजी म.सा. ने इस शोधग्रन्थ को लिखने में अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया है तथा साररूप में जीवन–प्रबन्धन के सूत्र प्रस्तुत किये हैं। तनाव, शरीर, पर्यावरण, अर्थ आदि प्रबन्धन के सन्दर्भ में शोध द्वारा जो नियम प्रतिपादित किये गये हैं, उनका अनुकरण सामान्य मनुष्य आसानी से कर सकता है। स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची द्वारा अपना मूल्यांकन करने का अवसर भी प्रस्तुत प्रबन्ध देता है। इस मूल्यांकन को आधार बनाकर एवं नवीन प्रयोग कर कुछ सिद्धान्तों को जीवन में स्थायी रूप से स्थापित करने का मार्गदर्शन इसमें निहित है। जैनदर्शन के और आधुनिकविज्ञान के सिद्धान्तों की समानताओं/असमानताओं को रेखांकित कर विस्तृत अनेकान्त दृष्टि इसमें प्रस्तुत की गई है। यह अध्येता की विज्ञान–पृष्ठभूमि के कारण ही सम्भव हो सका है।

कुल मिलाकर, वर्तमान 'प्रबन्धन' के युग में जीवन–प्रबन्धन पर किये जा रहे विभिन्न समकालीन प्रयासों के बीच यह एक मूल्यवान् हस्तक्षेप है।

12 अगस्त, 2012
उज्जैन (म.प्र.)

डॉ. राजेन्द्रकुमार छजलाणी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७ स्वस्थ समाज का दिग्दर्शक ग्रन्थ ७

Prof. (Dr.) Jayanti Lal Bhandari (D.Lit.)
Director, Acro Tolis Ins. of Research & Management, Indore

मुनिश्री मनीषसागरजी म.सा. ने पीएच.डी. उपाधि हेतु **"जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व"** विषय पर जो शोध अध्ययन किया है, वह जैन–दर्शन के आध्यात्मिक पक्ष के साथ जैन–दर्शन की जीवन–प्रबन्धन में व्यावहारिक उपयोगिता को भी प्रस्तुत करता है। वास्तव में अधिकांश लोग अभी यही समझते हैं कि जैन–दर्शन केवल धार्मिक क्रियाकलापों तक ही सीमित है, लेकिन इस शोध अध्ययन के बाद जैन धर्मावलम्बियों के साथ–साथ जैनेतर लोगों को भी यह महत्त्वपूर्ण बात मालूम होगी कि जैन–दर्शन जीवन जीने की कला, शिक्षा की जरूरतों, समयप्रबन्धन, शरीरप्रबन्धन, अभिव्यक्तिप्रबन्धन, मस्तिष्कप्रबन्धन, पर्यावरणप्रबन्धन, समाजप्रबन्धन एवं अर्थप्रबन्धन से भी जुड़ा हुआ है।

शोध–अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन–दर्शन न केवल एक धार्मिक एवं नैतिक इन्सान के निर्माण में मार्गदर्शन करता है, वरन् एक अच्छे परिवार, अच्छे समाज, अच्छे राष्ट्र और अच्छे विश्व के लिए भी मार्गदर्शन करता है। इस शोध–अध्ययन में प्रयुक्त प्राचीन एवं आधुनिक प्रामाणिक तथा प्रासंगिक सन्दर्भों से शोध का महत्त्व बढ़ गया है। इस शोध में श्वेताम्बर के साथ–साथ दिगम्बर ग्रन्थों का भी उपयोग हुआ है। साथ ही, ख्याति प्राप्त जैनदर्शनशास्त्री डॉ. सागरमल जैन के शोध–निदेशक होने से निश्चित ही मुनिश्री मनीषसागरजी म.सा. का शोध–अध्ययन जैन धर्म और दर्शन का महत्त्व देश और दुनिया में बढ़ाएगा।

हम आशा करें कि जिस तरह मुनिश्री ने पीएच.डी. के लिए शोध के माध्यम से जैन–दर्शन के अछूते, किन्तु उपयोगी आयामों को शिक्षा जगत् एवं समाज के सम्मुख किया है, उसी तरह वे अब और अधिक समर्पित प्रयास करके इसी उपयोगी विषय को शोध क्षेत्र की उच्चतम डिग्री डी.लिट्. के लिए आगे बढ़ाएँ। निश्चित रूप से ऐसे उच्चतम शोध–अध्ययन की और अधिक उपयोगिता होगी और इससे जैन–दर्शन की प्रतिष्ठा और अधिक सुदृढ़ होती हुई दिखाई देगी।

अन्त में, यहाँ पर यह लिखा जाना उपयुक्त है कि मुनिश्री के शोध–अध्ययन पर आधारित पुस्तक जन–जन के लिए उपयोगी होगी।

04 अगस्त, 2012
इन्दौर

डॉ. जयन्तीलाल भण्डारी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ जैन जीवनशैली पर आधारित एक श्रेष्ठ कृति ॐ

Prof. (Dr.) Anupam Jain
Head of Department (Mathematics)
Ex-Controller of Examination
Govt. Holkar Science College, Indore

सूचना और संचार क्रान्ति के इस युग में ज्ञान का विस्फोट हुआ है और विशेषज्ञ इस ज्ञान के प्रबन्धन में जुटे हैं। उनकी प्राथमिकताओं के क्रम में अर्थप्रबन्धन एवं समयप्रबन्धन तो है, किन्तु समाज, पर्यावरण, व्यवहार और उन सबसे ऊपर जीवन–प्रबन्धन गौण हो गये हैं। सम्यक् सूचनाओं के अभाव में जैनधर्म और जैनशास्त्रों में निहित ज्ञान सम्पदा से विश्व अकादमिक समुदाय सदियों से अनभिज्ञ रहा। बीसवीं सदी में जैन आगमसाहित्य तथा उसके व्याख्यासाहित्य के प्रकाश में आने से चिन्तकों का ध्यान इसमें निहित ज्ञाननिधि की ओर आकृष्ट हुआ एवं विगत 2–3 दशकों में इसमें निहित तथ्यों का न केवल आध्यात्मिक व दार्शनिक दृष्टि से, अपितु जीवनशैली के विविध पक्षों की दृष्टि से भी विश्लेषण हुआ और जैनधर्म के सामाजिक सरोकारों को भी प्रमुखता से रेखांकित किया जाने लगा है।

विलक्षण प्रतिभा के धनी मुनिश्री मनीषसागरजी ने समग्र जैनसाहित्य का आलोडन कर उसमें से अमृतमयी **जीवन–प्रबन्धन** के सूत्रों को निकाला है। 14 अध्यायों में विभक्त शोध प्रबन्ध में शिक्षा, शरीर, अभिव्यक्ति, तनाव, पर्यावरण, समाज, अर्थ, भोगोपभोग, धार्मिक–व्यवहार एवं आध्यात्मिक विकास प्रबन्धन जैसे समसामयिक विषयों को एक–एक अध्ययन में विवेचित किया है। मेरी दृष्टि से, प्रत्येक अध्याय एक पूर्ण पुस्तक है, क्योंकि उसमें न केवल जैन साहित्य में आगत विषयों का संकलन किया गया है, अपितु उसका वर्तमान सामाजिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण कर जीवन की गुणवत्ता को सँवारने में उसकी उपयोगिता और आवश्यकता भी प्रतिपादित की है।

जीवन–प्रबन्धन के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए पूज्य मुनिश्री ने सटीक लिखा है :– *''यद्यपि जैनदर्शन निवृत्तिपरक है, तथापि वह प्रवृत्ति की पूर्ण उपेक्षा नहीं करता। वह निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति की बात करता है। जीवन–प्रबन्धन भोग की मर्यादाओं का सीमाकंन करके यही बताता है कि हम किस प्रकार जिएँ, जिससे हम आध्यात्मिक विकास की ऊँचाइयों को स्पर्श कर सकें। अतः हमें जहाँ जीवन के महत्त्व को समझना होगा, वहीं जीवन के प्रबन्धन की महत्ता को भी स्वीकार करना होगा।''*

ग्रन्थ के सभी 14 अध्यायों में दिये गये सटीक सन्दर्भ स्थल और अन्त में दी गई विस्तृत सन्दर्भ ग्रन्थ सूची ने इस ग्रन्थ को संग्रहणीय बना दिया है। जहाँ सम्पूर्ण शोध–प्रबन्ध शोध–पिपासुओं एवं पुस्तकालयों के लिये अत्यन्त आवश्यक है, वहीं इसका प्रत्येक अध्याय जैन धर्म को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समझने की जिज्ञासा रखने वालों के लिए पठनीय एवं उपयोगी है। जैन जीवनशैली की प्रतिपादक इस श्रेष्ठ कृति की प्रस्तुति हेतु मैं पूज्य मुनिश्री के चरणों में नमोस्तु निवेदित करता हूँ।

10 अगस्त, 2012
इन्दौर

डॉ. अनुपम जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ एक असाधारण उपलब्धि ॐ

Prof. (Dr.) Ravindra Jain
M.Com (Gold Med.), Ph.D. (Busi. Mgt.), FDPM (IIM-A)
Ex-V.C., Barkatullah University, Bhopal
Chairman, Faculty of Mgt. Studies, Vikram Uni., Ujjain

मुझे यह जानकर हर्ष है कि परम श्रद्धेय मुनिश्री मनीषसागरजी महाराज साहब को उनके शोध प्रबन्ध **"जैन आचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व : एक तुलनात्मक अध्ययन"** पर जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राजस्थान) द्वारा जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन संकाय के अन्तर्गत पीएच.डी. की उपाधि से विभूषित किया गया है। यह और भी हर्ष का विषय है कि उपरोक्त शोध प्रबन्ध का प्रकाशन एक पुस्तक के रूप में सर्वसाधारण सह मनीषियों के अध्ययन एवं कल्याण हेतु प्रस्तावित है।

उपरोक्त एक शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत लगभग एक दर्जन विषयों का समावेश श्रद्धेय मुनि मनीषसागरजी के श्रेष्ठ ज्ञानबल व तपोबल का द्योतक है। जीवनप्रबन्धन, शिक्षाप्रबन्धन, समयप्रबन्धन, शरीरप्रबन्धन, अभिव्यक्तिप्रबन्धन, तनावप्रबन्धन, पर्यावरणप्रबन्धन, समाजप्रबन्धन, अर्थप्रबन्धन, भोगोपभोगप्रबन्धन, धार्मिकव्यवहारप्रबन्धन, आध्यात्मिकविकासप्रबन्धन – इनमें से प्रत्येक एक विचार या एक विषय से परे अब एक विषय समूह एवं एक पृथक् संकाय (A Separate Discipline) के रूप में तब्दील हो चुके हैं और इन सभी को एक साथ कलमबद्ध करके एक सूत्र में पिरोना एक असाधारण उपलब्धि है, जो कि जनसाधारण के जीवन को उत्तरोत्तर बेहतर बनाने हेतु श्रद्धेय मुनिश्री मनीषसागरजी की प्रतिबद्धता की द्योतक है।

मुझे ऐसी भी अनुभूति होती है कि मुनिश्री अपने पुण्य संचय के प्रतिफल में उपरोक्त पुस्तक के माध्यम से सर्वसाधारण को अपना हिस्सेदार बनाना चाहते हैं। आशा है हम सब अधिक से अधिक लोगों को उपरोक्त ज्ञान आत्मसात् करने और अपना जीवन गौरवपूर्ण बनाने की दिशा में अभिप्रेरित करेंगे।

12 अगस्त, 2012
उज्जैन (म.प्र.)

रवीन्द्र जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

Prof. (Dr.) Sagarmal Jain M.A., Ph.D.
Founder Director, Prachya Vidyapeeth, Shajapur
Ex-Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

जीवन–प्रबन्धन (Life Management) दो शब्दों का एक सांयोगिक रूप है। **प्रबन्धन** शब्द का सामान्य अर्थ सही ढंग से व्यवस्था करना है। प्राचीन जैन–दर्शन में प्रबन्धन के लिए तंत्र शब्द का भी प्रयोग होता है। वस्तुतः, जीवन–तंत्र को सम्यक् रूप से समझे बिना जीवन का सम्यक् प्रबन्धन सम्भव नहीं है। मानव–जीवन एक आध्यात्मिक एवं मनोदैहिक संरचना है। इस जीवन–तंत्र के तीन पक्ष हैं – आत्मा, मन और शरीर। 'प्रबन्धन' शब्द तंत्र की अपेक्षा भी एक व्यापक अर्थ रखता है, जीवन क्या है और जीवन को कैसे जीना चाहिए – ये दोनों ही बातें जीवन–प्रबन्धन में है। इस प्रकार प्रबन्धन यथार्थ और आदर्श का एक सम्मिश्रण है। जब इसे हम जैन आचार्यों की दृष्टि से देखते हैं, तो यह जैन जीवन–प्रबन्धन की विधि बन जाता है। जीवन का प्रबन्धन वस्तुतः बहुकोणीय होता है, क्योंकि जीवन स्वयं बहुआयामी है। जीवन को जीने के जो विविध आयाम हैं, उनके आधार पर जीवन–प्रबन्धन को हम विविध भागों में विभाजित कर सकते हैं।

वस्तुतः, बाल्यकाल से ही जीवन–प्रबन्धन का प्रयास प्रारम्भ हो जाता है। बालक जब युवावस्था की ओर बढ़ने लगता है, तब उसे शिक्षित करने का प्रयास किया जाता है। बालक की शिक्षा कैसी हो और वह शिक्षा उसे किस प्रकार दी जाए – यह जीवन–प्रबन्धन का प्राथमिक तत्त्व है। जैन–दर्शन की मान्यता है कि जो जीवन हमें मिला है, वह मात्र जीवन जीने के लिए नहीं मिला है, अपितु किसी लक्ष्य या आदर्श की पूर्ति के लिए मिला है। जीवन तो पेड़–पौधे और अन्य प्राणी भी जीते हैं, लेकिन उनका जीवन लक्ष्यविहीन होता है। जीवन में लक्ष्य का निर्धारण कर, उसे पाने का प्रयत्न ही सम्यक् जीवनशैली का परिचायक हो सकता है। जीवन क्या है, उसे कैसे जीना चाहिए – यह बताना ही शिक्षा का मुख्य प्रयोजन है। अतः शिक्षा–विधि ऐसी होनी चाहिए, जो जीवन के यथार्थ और आदर्श का समन्वय करते हुए व्यक्ति को उसके जीवन–लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ने में सहायक हो सके।

जीवन का एक लक्ष्य दुःखों से मुक्ति है, किन्तु दुःख विविध प्रकार के हैं। वे दैहिक भी हैं और मानसिक भी हैं। दैहिक दुःखों का निराकरण सम्यक् ढंग से जीवन जीने के द्वारा सम्भव है, किन्तु मानसिक दुःखों से मुक्ति के लिए एक सम्यक् शिक्षण–पद्धति आवश्यक है। अतः, यह सही है कि जीवन जीने के लिए जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है, किन्तु शिक्षा का लक्ष्य मात्र जैविक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित नहीं है। जैन–दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्ति सामान्य रूप से सभी प्राणियों में पाई जाती है, किन्तु मनुष्य मात्र वासनाओं का पिण्ड नहीं है, उसमें विवेक नामक तत्त्व भी है। अतः वह यह विचार कर सकता है कि उसे क्या खाना है, कब खाना है और कैसे खाना है, जो उसके शरीर, स्वास्थ्य और मनोभाव को सम्यक् बनाए रख सके। यह सत्य है कि जीवन में आहार आवश्यक है, किन्तु आहार कैसा हो, कब खाया जाए और कितनी मात्रा में खाया जाए – यह सब निर्णय तो मनुष्य को करना होता है। इसी प्रकार, जीवन की अन्य आवश्यकताएँ, जैसे – निद्रा, सुरक्षा, कामवासना की संतुष्टि आदि भी जीवन से जुड़े अनिवार्य तथ्य हैं, फिर भी इनके सम्बन्ध में एक विवेकशील पद्धति हो सकती है। उसे ही जीवन–प्रबन्धन के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार, प्रबन्धन मात्र एक व्यवस्था नहीं है, अपितु आदर्शोन्मुख जीवनशैली है। इन आदर्शों का बोध शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। अतः सम्यक् जीवन–प्रबन्धन के लिए सम्यक् शिक्षा व्यवस्था का होना आवश्यक है।

प्राणीय जीवन का प्रारम्भ भी किसी कालविशेष में होता है और अन्त भी किसी कालविशेष में होता है, जिन्हें हम जन्म और मृत्यु के नाम से जानते हैं। प्रबन्धन की दृष्टि से, न तो जन्म हमारे हाथ में है और न मृत्यु। किसी उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है –

लाइ हयात आ गये, कज़ा ले चली चले–चले।
न अपनी खुशी आये, न अपनी खुशी गये ।।

जन्म और मृत्यु हमारे हाथ में नहीं हैं, फिर भी जन्म और मृत्यु के दो छोरों के बीच जीवन की धारा सम्यक् रूप से बहती रहती है। यह जीवनधारा ही मनुष्य के अधिकार क्षेत्र में है और इसका सम्यक् नियोजन जीवन–प्रबन्धन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यह कार्य समय–प्रबन्धन के माध्यम से ही सम्भव है। यह सही है कि न भूतकाल हमारे अधिकार क्षेत्र में होता है और न भविष्य। जीवन तो हमेशा वर्तमान में ही जिया जाता है। इसलिए भारतीय चिन्तकों की यह मान्यता रही है कि समय का प्रबन्धन केवल और केवल वर्तमान में ही सम्भव है। अतः, वर्तमान के क्रियाकलापों को सार्थक बनाने के प्रयत्न को ही सम्यक् जीवन–प्रबन्धन कहा जा सकता है। भूत गुजर चुका है, वह अब हमारे हाथ में नहीं है, भविष्य कैसा होगा, यह भी पूर्णतया हमारे अधिकार क्षेत्र में नहीं है। भूतकाल का रोना रोना और भविष्य के सुनहले सपने संजोना, यह मनुष्य के लिए उचित नहीं है। उसके समग्र पुरूषार्थ की सफलता इसी में है कि उसे जो अवसर उपलब्ध हुआ है, उसका सम्यक् ढंग से उपयोग करे, यही **समय–प्रबन्धन** है।

मनुष्य जो भी करता है, वह सब उसके मन, वाणी और शरीर के माध्यम से ही सम्भव होता है। यह कहा जा सकता है कि हमारे समग्र आचार और व्यवहार के संचालन के लिए शरीर एक सशक्त माध्यम है। अतः, शरीर को सही दिशा में नियोजित करना आवश्यक है और इसे ही **शरीर–प्रबन्धन** कहते हैं। इसमें दो तत्त्व प्रमुख होते हैं – पहला स्वास्थ्य का और दूसरा शारीरिक अंगों का संरक्षण।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन्हें हम पोषण और सुरक्षा के प्रयत्न कह सकते हैं। शरीर का पोषण आवश्यक है, क्योंकि यदि शरीर और उसके अंगों का सम्यक् ढंग से पोषण नहीं होगा, तो शरीर अस्वस्थ हो जाएगा और अस्वस्थ शरीर के माध्यम से जीवन को जिस प्रकार जीना चाहिए, हम नहीं जी पायेंगे। इसके लिए हमें पूरी तरह से स्वास्थ्य–विज्ञान और आहार–विज्ञान के नियमों को समझकर, उनका पालन करना होगा। वे सारे तत्त्व जो शारीरिक रूग्णता और मानसिक–तनाव को जन्म देते हैं, उनका वर्जन करना होगा। हमें सम्यक् आहार के माध्यम से शरीर का पोषण करना होगा, तब ही हम शरीर को स्वस्थ रख पायेंगे। शरीर के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारी जीवनयापन की शैली ऐसी हो, जिसमें शरीर की सुरक्षा की भी सम्यक् व्यवस्था हो। अति साहस और अति भोग – दोनों ही शारीरिक सुरक्षा में बाधक होते हैं। वासना के अधीन होकर अधिक भोग और शरीर की क्षमता का ध्यान नहीं रखते हुए कार्य करना – दोनों ही शरीर–प्रबन्धन में बाधक होते हैं। शरीर जीवन जीने का एक सम्यक् साधन है, उसका उपयोग भी सम्यक् तरीके से होना चाहिए, शरीर–प्रबन्धन हमें यही सिखाता है। यहाँ भी वासना और विवेक का सम्यक् समायोजन आवश्यक होता है, अतः व्यक्ति को यह सीखना भी अनिवार्य है कि वह अपने शरीर और उसकी शक्तियों का विनियोग सम्यक् प्रकार से करे।

मनुष्य एक मनोदैहिक रचना है, अतः उसे दैहिक और मानसिक – दोनों आधारों पर सम्यक् रूप से जीवन जीना होगा। जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य यह भी है कि वह न केवल स्वस्थ शरीर के माध्यम से जी सके, अपितु स्वस्थ मन से भी जी सके। आज जो वैश्विक समस्याएँ हैं, उनका एक प्रमुख कारण है – मानसिक–तनाव, जबकि सम्यक् जीवन के लिए स्वस्थ मानसिकता आवश्यक है। यदि व्यक्ति तनाव और तज्जन्य मानसिक–विकारों का सम्यक् प्रबन्धन करने में सफल नहीं होता है, तो भी वह अपने जीवन को सही ढंग से नहीं जी पाता है। मानसिक–विकार और उनसे उत्पन्न होने वाले तनाव क्यों, कब और किस परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं, यह समझना भी आवश्यक है और उनसे मुक्त रहना भी आवश्यक है। यह सत्य है कि तनाव के कारण आन्तरिक और बाह्य – दोनों हो सकते हैं, फिर भी तनाव से मुक्त होकर समता और शान्ति पूर्ण जीवन कैसे जिया जाए, यह भी जीवन–प्रबन्धन के माध्यम से ही जाना जा सकता है। अतः, जीवन में **तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन** भी जीवन–प्रबन्धन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है।

ऊपर हमने जीवन–प्रबन्धन के जो उपाय बताए, उन सबका सम्बन्ध मूलतः व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन से है, किन्तु कुछ समाजगत तथ्य भी हैं, जो हमारे जीवन–प्रबन्धन में साधक या बाधक होते हैं। इनमें वाणी प्रबन्धन, पर्यावरण प्रबन्धन, अर्थ प्रबन्धन, समाज प्रबन्धन और धार्मिक–व्यवहार प्रबन्धन प्रमुख हैं। ये तथ्य हमारे परिवेश से जुड़े हुए हैं और समाज के अन्य घटकों से हमारे सम्बन्ध को बनाते हैं।

संसार में जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें मनुष्य की यह विशेषता है कि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए भाषा या वाणी भी मिली हुई है। वाणी का सम्यक् नियोजन न होने पर भी जीवन में अनेक विसंगतियाँ आ जाती हैं। वाणी एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने भावों की अभिव्यक्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करता है। किन्तु, यह अभिव्यक्ति कहाँ, कब और कैसे हो, इसका सम्यक् रूप से ध्यान रखना आवश्यक होता है। एक गलत अभिव्यक्ति जहाँ व्यक्ति और समाज में विसंवाद उत्पन्न कर देती है, वहीं एक सम्यक् अभिव्यक्ति जीवन में सुसंवाद उत्पन्न कर जीवन को सरस बना देती है। व्यक्ति का परिवार और समाज से जुड़ना और टूटना – दोनों ही उसकी अभिव्यक्ति पर निर्भर करते हैं। अतः जीवन में अभिव्यक्ति (वाणी) का सम्यक् प्रस्तुतीकरण कैसे हो, इसका प्रशिक्षण भी आवश्यक है। इस प्रकार, जीवन–प्रबन्धन के अन्तर्गत सम्यक् **अभिव्यक्ति–प्रबन्धन** भी आवश्यक है।

आज मनुष्य के लिए **पर्यावरण–प्रबन्धन** की भी एक महती आवश्यकता है, क्योंकि प्रदूषित पर्यावरण से न केवल मनुष्य–जीवन को खतरा है, अपितु उसके साथ सम्पूर्ण प्राणीय सृष्टि के अस्तित्व का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। यदि जल और वायु प्रदूषित होते हैं, तो इससे वनस्पति जगत् भी समाप्त हो जाएगा और वनस्पति जगत् के अभाव में जन्तु जगत् भी जीवित नहीं रहेगा और जन्तु जगत् के अभाव में भले ही जगत् की जड़ वस्तुएँ रहें, किन्तु उनके उपयोगकर्ता के अभाव में उनका कोई मूल्य ही नहीं रह पायेगा। इस प्रकार, पर्यावरण–प्रबन्धन का तत्त्व भी जीवन–प्रबन्धन के साथ जुड़ा हुआ है।

चाहे जीवन–प्रबन्धन शब्द आधुनिक लगता हो, किन्तु यह तो एक सम्यक् जीवनशैली का विकास है। यह हमें यही सिखाता है कि वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में कैसे जीना चाहिए? यह हमारे यथार्थ जीवन को आदर्श जीवन बनाने की एक कला है।

वस्तुतः, व्यक्ति एकाकी प्राणी नहीं है। मनुष्य की एक परिभाषा उसे सामाजिक प्राणी के रूप में भी देखती है – **Man is a social animal**। यदि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, तो उसे समाज में कैसे जीवन जीना चाहिए, यह भी जानना होगा। साथ ही उसे समाज में पारस्परिक व्यवहार का सम्यक् तरीका भी सीखना होगा। इसे ही जैन–दर्शन में सम्यक् चारित्र के एक विभाग के रूप में जाना जाता है। यद्यपि समाज एक बृहद् इकाई है, इसके केन्द्र में मनुष्य है, फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि एक सभ्य मनुष्य का निर्माण समाज की ही देन है। वस्तुतः मनुष्य ने पारस्परिक व्यवहार का ढंग या दूसरे शब्दों में कहें तो समाज में जीने का ढंग समाज से ही सीखा है। व्यक्ति और समाज एक–दूसरे पर आधारित हैं, वे परस्पर सापेक्ष हैं। व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति का कोई अर्थ नहीं है। सामाजिक जीवनशैली मानव समाज की एक विशेषता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि समाज मात्र व्यक्तियों का समूह या भीड़ नहीं है, उसका अपना एक तंत्र या व्यवस्था है। यह सामाजिक व्यवस्था भी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन मात्र है। केवल स्वहित को साधना या स्वार्थ–पूर्ति करना – यह सभ्य समाज में मनुष्य का जीवन–लक्ष्य नहीं है। समाज स्वार्थ या स्वहित साधने के मूल्य पर खड़ा नहीं होता है, उसका आधार त्याग और समर्पण के मूल्य हैं। स्वार्थी व्यक्तियों का समूह समाज नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, चोरों, डाकुओं या लुटेरों का समूह समाज नहीं होता है। समाज के निर्माण हेतु स्वार्थ का त्याग आवश्यक होता है। उसका आधार सहयोग एवं मैत्री की भावनाएँ हैं। ये आदर्श जीवन–मूल्य भी आज हमें शिक्षा के माध्यम से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त होते हैं, किन्तु यह शिक्षा किसी स्कूल एवं कॉलेज में नहीं दी जाती, अपितु परिवार और समाज से ही प्राप्त होती है। स्वस्थ मनुष्य एवं स्वस्थ समाज के लिए इन जीवन–मूल्यों का प्रशिक्षण आवश्यक है, किन्तु इसकी प्राथमिक पाठशाला – परिवार, समाज और धर्म ही है। सुसंस्कारों का वपन जीवन–प्रबन्धन की शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। वस्तुतः, **समाज–प्रबन्धन** समाज का प्रबन्धन नहीं है, वह अपनी जीवनशैली का प्रबन्धन है। वह समाज के दूसरे सदस्यों के प्रति हमें सम्यक् जीवनशैली या सम्यक् व्यवहार अपनाने की कला सिखाता है। आज सामान्य जन की एक मान्यता यह है कि समाज सुधार से व्यक्ति का सुधार होगा, किन्तु यह एक गलत अवधारणा है। समाज का प्रमुख घटक व्यक्ति है, जब तक वैयक्तिक स्तर पर सुधार के प्रयत्न नहीं होंगे, समाज सुधार सम्भव नहीं है। भारतीय चिन्तन में जो चार पुरूषार्थ माने गए हैं, उनमें से धर्म, अर्थ और काम – ये तीन समाज–आधारित हैं।

धर्मव्यवस्था या धर्मतन्त्र का मुख्य कार्य तो सम्यक् सामाजिक जीवनशैली का विकास करना ही है। एक सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज का निर्माण त्याग एवं संयम के धार्मिक–मूल्यों को जीवन–व्यवहार में स्थान देने से ही सम्भव है। अतः, हमें समाज या परिवार के दूसरे सदस्यों के हित–साधन हेतु त्याग, समप्रण एवं सेवा के धार्मिक–मूल्यों को आत्मसात् करना आवश्यक है। धर्म एक नियामक जीवन–मूल्य है, दूसरे शब्दों में, धर्म ही अर्थ, काम और पास्परिक–व्यवहार का नियामक है। इसलिए कहा जाता है कि **"आचारः प्रथमो धर्मः"**। धर्म केवल जानने या मानने की वस्तु नहीं है, वह सम्यक् ढंग से जीवन जीने का एक तरीका भी है। कहा जा सकता है कि **धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन** भी जीवन–प्रबन्धन का एक आवश्यक अंग है।

'अर्थ' और 'काम' जीवन के एक आवश्यक अंग हैं, किन्तु जहाँ एक ओर उनकी सम्पूर्ति जरूरी है वहीं दूसरी ओर उनका संयम भी आवश्यक है, क्योंकि अर्थ और काम जीवन के साध्य नहीं हैं, साधन हैं। साधन आवश्यक होते हैं, किन्तु उनकी मूल्यवत्ता साध्य को पाने में निहित होती है। साधन को ही साध्य बना लेना या मान लेना ही जीवन की सबसे भयंकर भूल है, धर्म में इसे ही 'मिथ्यात्व' कहा गया है। साधन को साध्य की प्राप्ति के लिए अपनाना होता है, किन्तु हमारी रागात्मकता या आसक्ति उसे ही साध्य मान लेती है और ऐसी स्थिति में मूल लक्ष्य कहीं दृष्टि से ओझल हो जाता है। अर्थ और काम (रोटी, कपड़ा, मकान आदि) मूलतः आत्म–शान्ति के हेतु हैं, किन्तु जब व्यक्ति इन्हीं साधनों को साध्य बना लेता है, तो वह अपने मूल लक्ष्य आत्म–तोष या आत्म–शान्ति से वंचित हो जाता है। साधनों को अपनाना आवश्यक है, किन्तु ध्यान रहे कि ये साधन कहीं साध्य न बन जाएँ, अन्यथा तृष्णाजन्य दुःख के महासागर से पार हो पाना कठिन होगा। जीवन–प्रबन्धन का मूल लक्ष्य भी एक ऐसी जीवनशैली का विकास करना है, जो मानव–प्रजाति को सम्यक् सुख (आनन्द) और शान्ति प्रदान कर सके और उसका सम्यक् दिशा में आध्यात्मिक–विकास हो सके और अन्ततः वह शाश्वत् जीवन–मूल्य आत्म–शान्ति को प्राप्त हो सके। इस प्रकार, **अर्थ व काम का प्रबन्धन** कर अन्ततोगत्वा **आध्यात्मिक–विकास या जीवन–मुक्ति का प्रबन्धन करना** जीवन–प्रबन्धन का चरम लक्ष्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सार रूप में कहा जा सकता है कि जीवन एक है, किन्तु इसके विविध पहलू हैं, जिनका सम्यक् प्रबन्धन करना ही जीवन–प्रबन्धन है।

मुनिश्री मनीषसागरजी आध्यात्मिक जीवन–दृष्टि सम्पन्न एक युवा संत हैं, उनका लक्ष्य आत्म–शान्ति की प्राप्ति के साथ समाज को एक स्वस्थ और सकारात्मक मानसिकता की दिशा में प्रेरित करना है। यही कारण है कि उन्होंने युवावस्था में ही अध्यात्म सम्पन्न परम पूज्य **श्रीमहेन्द्रसागरजी म.सा.** (सांसारिक पू. पिताजी) के सान्निध्य में संन्यास–मार्ग का चयन किया। स्वयं B.E. एवं M.B.A. होकर भी वे युवावस्था में संन्यास के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चल पड़े। अपनी अध्ययन–वृत्ति को गतिशील रखने के लिए जब उन्होंने मुझसे मार्गदर्शन चाहा, तो मैंने उन्हें **"जैन आचार मीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व"** – यह विषय सुझाया। मुनिश्री ने सम्यक् एवं कठिन परिश्रम करके चार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में यह शोध–प्रबन्ध तैयार किया है। चाहे मार्गदर्शन मेरा रहा हो, किन्तु सारा परिश्रम तो उनका और उनके सहयोगी मुनि मण्डल का ही है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध अतिव्यापक है, इसमें निम्न चौदह अध्याय हैं –

1. जीवन–प्रबन्धन का पथ
2. जैनदर्शन एवं जैनआचारशास्त्र में जीवन–प्रबन्धन
3. शिक्षा–प्रबन्धन
4. समय–प्रबन्धन
5. शरीर–प्रबन्धन
6. अभिव्यक्ति–प्रबन्धन
7. तनाव एवं मानसिक–विकारों का प्रबन्धन
8. पर्यावरण–प्रबन्धन
9. समाज–प्रबन्धन
10. अर्थ–प्रबन्धन
11. भोगोपभोग–प्रबन्धन
12. धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन
13. आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन
14. जीवन–प्रबन्धन : एक सारांश

यह शोध–प्रबन्ध मुनिश्री के अध्ययन की व्यापकता और उपादेयता को सूचित करता है। इसमें प्रबन्धन की आधुनिक विधि और जैन जीवन–मूल्यों का अद्भूत संयोग है। इससे इस ग्रन्थ की मूल्यवत्ता भी स्पष्ट हो जाती है। यह ग्रन्थ कैसा और कितना महत्त्वपूर्ण है, यह बताना तो पाठकों एवं विद्वानों का कार्य है। फिर भी, वर्तमान युग में युवकों की दृष्टि से इसकी मूल्यवत्ता को नकारा नहीं जा सकेगा, ऐसा मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ।

मुनिश्री से मेरी यही अपेक्षा है कि युवावस्था में सतत परिश्रम करते हुए युवाओं को सम्यक् मार्गदर्शन देने हेतु वे अपनी लेखनी का सतत उपयोग करते रहें और जिनवाणी रूपी सरस्वती (जैन–विद्या) की निरन्तर सेवा करते रहें।

पाठकों से निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ का अध्ययन कर सम्यक् दिशा में अपने जीवन की प्रगति करते रहें, इन्हीं शुभभावों के साथ .....।

प्रो. सागरमल जैन

=====<●>=====

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

एक सार्थक कदम

पूज्यपाद अध्यात्मयोगी गुरूदेव
श्रीमहेन्द्रसागरजी म.सा.

'जीवन' यह शब्द अपने आप में बहुत छोटा–सा है, लेकिन इसकी गहराई में जाकर जब इसका निरीक्षण, परीक्षण और समीक्षण करेंगे, तो हमें स्वतः ही इसकी विशालता का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। यह अपने अन्तरंग में अनेकों भावों को समेटे हुए है। व्यक्ति जिन–जिन क्षेत्रों में अपना डग भरता है, उन सभी क्षेत्रों में उसे अपने जीवन को सन्तुलित बनाकर रखना होता है, अन्यथा वह उसमें, जाल में मकड़ी की तरह, उलझ जाता है और अपने जीवन को अस्त–व्यस्त कर देता है। अन्ततः वह उदासी, निराशा और कुण्ठा के एक ऐसे भँवर में फँस जाता है, जहाँ से निकलना उसे असम्भवप्रायः महसूस होता है।

जीवन के इन सभी पहलुओं को सुव्यवस्थित एवं सुसमन्वित करने के लिए जैन–दर्शन में जहाँ–तहाँ समाधान रूपी मोती बिखरे पड़े हैं। उन्हें एकत्र कर एक सुन्दर एवं सुशोभित माला का रूप मुनिमनीषसागरजी ने अपने इस शोध–ग्रन्थ के माध्यम से दिया है। इस ग्रन्थ को **'समस्याओं के समाधान की कुँजी'** (The Key to Life Problems) भी बोलें, तो कोई अतिशयोक्तिभरा शीर्षक नहीं होगा, क्योंकि जीवन के प्रत्येक पहलू में उठती समस्याओं के समाधान का इसमें खूब सुन्दर ढंग से विश्लेषण किया गया है, आवश्यकता है तो उसे जीवन में उतारने की।

यह अनमोल कृति हमें समाधान के द्वार तक तो पहुँचा सकती है, पर उसका जीवन में उपयोग कर हम कैसे इस द्वार के अन्दर प्रवेश पाते हैं और अपने जीवन को सुख, शान्ति और आनन्द से सराबोर बना पाते हैं, वह हमारे हाथ में है।

यह कृति मुनिश्री के गहन चिन्तन, मनन और मन्थन का ही परिणाम है। विहार, प्रवचन, शिविर आदि कार्यक्रमों के चलते, समय की अत्यन्त कटोकटी के बावजूद भी सतत परिश्रम और लगन के साथ स्व–पर उपकारक ऐसी अपूर्व कृति की भेंट से इन्होंने जैन समाज को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव–जाति को लाभान्वित किया है।

अल्पकाल में ही इन्होंने द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग आदि की जिन गहराइयों को स्पर्श किया है, इसका ज्ञान इस कृति का पठन कर स्वतः लगाया जा सकता है। इन्होंने जो विज्ञान व विश्वास पर धर्म को खड़ा करने का कार्य किया है, वह सचमुच ही अपने भावी भविष्य की आधारशिला को स्थापित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करता है।

प्रकाशन के शुभ अवसर पर मैं इनके समुज्जवल भविष्य की कामना करता हूँ। इस कृति का उपयोग करके सभी अपने जीवन तथा अपनी जीवनशैली को सुव्यवस्थित बनाकर आत्मकल्याण के मार्ग में लगें, इसी मंगलभावना के साथ.....

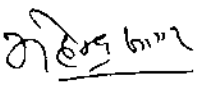

12 नवम्बर, 2012
सूरत

मुनि महेन्द्रसागर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

जैनदर्शन एक प्रामाणिक, प्रासंगिक और प्राचीनतम विचारधारा है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है – वैज्ञानिक चिन्तन–पद्धति। इसमें अंधविश्वासों और अंधरूढ़ियों से ऊपर उठकर जो सिद्धान्त वर्णित हैं, वे जीवन जीने का सही दिग्दर्शन करते हैं।

जैनदर्शन पर ही आधारित जैन–आचार–मीमांसा (ग्रन्थ) हैं, जिनमें एक ओर व्यक्ति को आध्यात्मिक–शिक्षा के माध्यम से आत्मोन्नति के शिखर तक पहुँचने की प्रेरणा दी गई है, तो दूसरी ओर व्यावहारिक–शिक्षा के माध्यम से अपने वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का संतुलित विकास करने की नीतियाँ भी निर्देशित की गई हैं। जैनआचारग्रन्थ न केवल गहन हैं, अपितु व्यापक दृष्टिकोण से युक्त भी हैं। ये व्यक्तिविशेष या समुदायविशेष को लक्ष्य में लेकर नहीं, बल्कि समग्र मानवता को केन्द्र में रखकर रचे गए हैं। इनमें जीवन–प्रबन्धन की सम्यक् दिशा का बोध कराने वाली हितशिक्षाएँ प्रचूर मात्रा में उपलब्ध हैं।

वर्त्तमान परिवेश में जैनआचारग्रन्थों का सम्यक् परिशोधन (Research) कर इनमें निहित प्रबन्धन–सूत्रों को समाज में पुनः प्रतिष्ठित करने की नितान्त आवश्यकता है। कारण यह है कि जैनदर्शन का जो अनैकान्तिक–दृष्टिकोण है, वह जीवन के समग्र, सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित विकास को महत्त्व देता है और यह आधुनिक युग की तीव्र माँग भी है। भले ही आज प्रबन्धन की नई–नई शाखाएँ सामने आई हैं, जैसे – वित्त–प्रबन्धन (Financial Management), विपणन–प्रबन्धन (Marketing Management), मानव–संसाधन–प्रबन्धन (Human Resource Management), संगणक–प्रबन्धन (System Management) आदि, फिर भी इनमें समग्रता का समावेश न होकर, जीवन के कुछैक पहलुओं को ही महत्त्व दिया गया है, जबकि जैन–दृष्टि जीवन के समग्र पहलुओं का समावेश कर जीवन को सन्तुलित बनाने पर जोर देती है। इसमें आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक – दोनों ही पहलुओं को यथोचित महत्त्व दिया जाता है, जिसका अनुकरण कर एक समग्र व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है। अत एव वर्त्तमान युग में इसकी प्रासंगिकता को देखते हुए मैंने अपने शोध–प्रबन्ध का विषय **"जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व"** बनाया है।

जैनदर्शन केवल सिद्धान्तवादी ही नहीं, अपितु प्रयोगवादी भी है। यह हमें जीवन जीने की सैद्धांतिक (Theoretical) एवं प्रायोगिक (Practical) दोनों प्रकार की शिक्षाएँ प्रदान करता है। प्राचीनकाल में जैनधर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने राज्यावस्था में जिन सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना की, वे वर्त्तमान में भी व्यक्ति एवं समाज के जीवन–व्यवहार को समीचीन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बनाने में उपयोगी हैं और इनकी उपयोगिता दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है। भले ही आज हम पाश्चात्य–संस्कृति के मोहपाश में फँसकर भौतिकता पर आधारित जीवनशैली को ही जीवन का एकमात्र आधार मानते हों, परन्तु जैन जीवनशैली को अपनाकर हम अपने जीवन में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का सम्यक् सन्तुलन स्थापित कर सकते हैं। अतः, प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में मैंने इस बात को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है कि जैनआचारमीमांसा के प्रबन्धकीय सूत्र कौन–कौन से हैं और उनका जीवन–व्यवहार में किस प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है।

जैनदर्शन में प्रारंभ से ही प्रबन्धन–चेतना का विकास हुआ है। इसका कारण यह है कि जैनाचार्यों ने जगत् को सदैव परिवर्तनशील रहते हुए एक कायम व्यवस्था के रूप में माना है। आचार्य उमास्वाति ने स्पष्ट कहा है कि यह जगत् उत्पन्न होता है, व्यय होता है और कायम भी रहता है – **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'**। इसीलिए जैनाचार्यों का लक्ष्य सदैव यही रहा कि जीवन की परिवर्तनशीलता या गत्यात्मकता (Dynamicity) को सकारात्मक दिशा दी जाए, जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य भी वस्तुतः यही है। अतः, जैन जीवन–दृष्टि में प्रबन्धन का अर्थ जीवन के प्रवाह को सम्यक् दिशा प्रदान करना ही है। इस शोध–प्रबन्ध में भी जीवन के विविध पक्षों को ध्यान में रखते हुए, उन्हें विसंगतियों से मुक्त कर सुसंगत बनाने का मार्गदर्शन दिया गया है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध मानवीय जीवन के प्रबन्धन को लक्ष्य में लेकर लिखा गया है, क्योंकि मनुष्य ही इस जगत् का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। परिवर्त्तन की सर्वाधिक क्षमता भी मनुष्य में ही होती है। यह परिवर्त्तन चूँकि सकारात्मक भी हो सकता है और नकारात्मक भी, अतः मनुष्य के साथ विकास एवं विनाश दोनों की ही सर्वाधिक संभावनाएँ जुड़ी हुई हैं। फिर भी, प्रारंभ से ही विवेकशील मनुष्य अपने जीवन–विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहा है और इसीलिए उसने संस्कृति और सभ्यता का विकास किया है और संशोधन एवं संवर्धन के माध्यम से उसकी यह विकास–यात्रा सदैव गतिशील होती रही। इसे ही हम मानवीय प्रबन्धन–क्षमता का एक रूप कह सकते हैं।

मानवीय जीवन के प्रबन्धन के लिए यह समझना आवश्यक होगा कि जीने की प्रक्रिया ही जीवन है (The Process of living is life)। प्रत्येक व्यक्ति के साथ तीन अवस्थाएँ जुड़ी हुई हैं – जन्म, जीवन एवं मरण। इनमें से जन्म और मरण तो क्षणिक हैं और इन पर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता, जबकि जीवन अपेक्षाकृत दीर्घकालिक है और इसके अंकुरण, पल्लवन, पोषण एवं विकास पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार होता है। जैनदर्शन आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी दर्शन है। अतः इसमें यह माना गया है कि जीवात्मा अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही जीवन की प्राप्ति करता है। यह जीवन मूलतः जीव का ही कार्य है, क्योंकि जो जीता है, वह वास्तव में जीव ही है **(जीवति इति जीवः)**। फिर भी, व्यावहारिक–दृष्टि से आत्मा और शरीर की सांयोगिक व्यवस्था को भी जीवन कहा जाता है। इस दृष्टि से जीवन पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के बीच की एक कड़ी है। जीवन–प्रबन्धन का लक्ष्य इस जीवन को सम्यक् दिशा प्रदान करना ही है।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को धन, सम्पत्ति एवं परिजनों से भी अधिक प्रियकर मानता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, फिर भी वह, जीवन को कैसे जिया जाए, इस कला से वंचित रह जाता है और उसका जीवन समुचित उपयोग किए बिना ही बीत जाता है। वस्तुतः, जीवन को पाना अलग बात है और जीवन को सम्यक् प्रकार से जीना अलग बात है। जैनाचार्यों ने इसीलिए समस्त मानव जाति को सम्यक् जीवन जीने की जागृति लाने का बारंबार निर्देश किया है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि जीवन की जो रात्रियाँ व्यतीत हो चुकी हैं, उन्हें लौटाया नहीं जा सकता। सूत्रकृतांगसूत्र में वर्त्तमान को लक्ष्य में लेकर कहा गया है कि जो वर्त्तमान क्षण के महत्त्व को जान लेता है, वही वस्तुतः पण्डित (बुद्धिमान) है **(खणं जाणइ से पंडिए)**। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में इसीलिए जीवन कैसे जिया जाय, इस बात की चर्चा की गई है। जीवन जीने का यह ढंग, जिसमें जीवन का प्रतिक्षण एक उपलब्धि बन जाए, जीवन को प्रबन्धन से सम्बद्ध करता है। यह जीवन जीने की सम्यक् कला ही जीवन–प्रबन्धन है, इसे ही जीवन–विज्ञान (Science Of Living) भी कहा जाता है।

प्रकृष्टं बन्धनम् इति प्रबन्धनम्

प्रबन्धन का तात्पर्य निहित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सीमित संसाधनों का उचित समन्वयपूर्वक उपयोग करने की प्रक्रिया ही है। यद्यपि संसाधनों की सीमितता एक बड़ी चुनौती होती है, फिर भी, प्रबन्धन समस्याओं के समाधान में विश्वास रखता है। जहाँ सम्यक् प्रबन्धन का अभाव होता है, वहाँ अधिक संसाधनों के द्वारा भी सफलता नहीं मिलती, किन्तु कुशल प्रबन्धन के द्वारा अल्प संसाधनों से भी अपेक्षित सफलता मिल जाती है। वर्त्तमान युग में इसीलिए प्रबन्धन की व्यापकता, उपयोगिता एवं लोकप्रियता तेजी से बढ़ी है। आज प्रबन्धन–विधा का प्रयोग व्यावसायिक क्षेत्रों के साथ–साथ चिकित्सा, शिक्षा, परिवार, समाज एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में भी होने लगा है।

फिर भी, यह कहना आवश्यक है कि प्रबन्धन की विधा का प्रयोग सीमित दायरे में हो रहा है और जीवन के नैतिक एवं आध्यात्मिक पहलू इससे अभी भी अछूते हैं। फलतः वे क्षेत्र, जहाँ प्रबन्धन की प्रक्रिया का उपयोग किया जा रहा है, भी दुष्प्रभावित हो रहे हैं, क्योंकि वहाँ भी नैतिकता एवं आध्यात्मिकता की कमी होने से असन्तुलन एवं विसंगतियाँ पैदा हो रही हैं। इस हेतु ऐसी प्रबन्धन–प्रणाली का प्रादुर्भाव होना आवश्यक है, जो जीवन के सभी पहलुओं का प्रबन्धन कर सके और इसे ही सही अर्थों में जीवन–प्रबन्धन कहा जा सकता है।

वर्त्तमान युग में प्रचलित प्रबन्धकीय विचारधाराएँ मूलतः भौतिकवादी दृष्टिकोण पर आधारित हैं, जिनमें नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है, इसीलिए हमें कहीं न कहीं उस विचारधारा का आधार लेकर जीवन–प्रबन्धन को वर्त्तमान धरातल पर स्थापित करना होगा, जिससे इन कमियों की पूर्ति हो सके। इस हेतु हमारा आधार जैनआचारमीमांसा है, जिसकी विशेषताओं का वर्णन हमने प्रारंभ में किया है और जिसके माध्यम से वर्त्तमान परिवेश में उपयुक्त जीवन–प्रबन्धन की प्रणाली विकसित की जा सकती है, यही प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का उद्देश्य है।

आधुनिक युग को यद्यपि तीव्र विकास का युग कहा जाता है, फिर भी इसमें जीवन–प्रबन्धन की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नितान्त आवश्यकता है। इस युग में भौतिक–विकास तो अत्यधिक हुआ है, किन्तु इसके साथ ही अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न हो रही हैं। ये समस्याएँ आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं पर्यावरण आदि क्षेत्रों में असन्तुलन एवं अव्यवस्थाएँ पैदा कर रही हैं। नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की उपेक्षा होने से व्यक्ति के समक्ष सम्यक् दिशा का ही अभाव है। वह भागदौड़ अवश्य कर रहा है, किन्तु उसकी दौड़ अन्धी एवं अन्तहीन है। वह प्राप्त समय, समझ, सामर्थ्य एवं साधनों का अधिकाधिक उपयोग कर अल्प समय में ही कल्पनातीत विकास करना चाहता है, किन्तु वह यह नहीं समझ पा रहा है कि उसके जीवन का अंतिम लक्ष्य क्या है और इस लक्ष्य–प्राप्ति का सम्यक् मार्ग क्या है? यद्यपि उसकी चाहना दुःख से मुक्ति एवं सुख की प्राप्ति ही है, फिर भी वह आत्मगत (Subjective) प्रयत्न करने के बजाय वस्तुगत (Objective) प्रयत्न करने में ही व्यस्त है। वह तृष्णा एवं इच्छा के जाल बुनकर स्वयं ही क्लेश एवं कलह से क्लान्त हो रहा है। वह चाहता है कि पूर्ण आनन्दमय जीवन की प्राप्ति हो सके, किन्तु वह अथक परिश्रम (Input) और प्राप्त परिणाम (Output) का सम्यक् समीक्षण भी नहीं कर पा रहा है। वह निम्बोली बोकर आम के मधुर फलों को पाने की चेष्टा कर रहा है। भौतिक विकास के मोह–पाश में फँसकर वह आत्मविनाश की दिशा में गतिशील है और उसके जीवन की स्थिति ऐसी है कि 'मानो मरने की फुरसत नहीं और पल का भरोसा नहीं'। इन सभी समस्याओं के सम्यक् समाधान हेतु व्यक्ति को जीवन का सम्यक् प्रबन्धन करना आवश्यक है। इस हेतु जैनआचारमीमांसा के प्रबन्धन–सूत्र वर्त्तमान युग के लिए आधारभूत हैं, जिनकी चर्चा हमने प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में की है।

जीवन के दो मौलिक कर्तव्य हैं, पहला जीवन–निर्वाह सम्बन्धी और दूसरा आत्म–कल्याण सम्बन्धी। जीवन–निर्वाह सम्बन्धी कर्तव्यों के द्वारा व्यक्ति अपनी जीवनयात्रा को चलाने के साधनों की व्यवस्था एवं उनका उपभोग करता है और आत्म–कल्याण सम्बन्धी कर्तव्यों का निर्वाह कर वह आत्मा को विकारों से मुक्त कर कल्याण के पथ पर अग्रसर होता है। पहला जैविक कर्तव्य है, तो दूसरा आध्यात्मिक। जीवन–प्रबन्धन के लिए दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में इन कर्त्तव्यों के सफल निर्वहन के सूत्रों को जैनआचारमीमांसा के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

जीवन एक है, लेकिन जीवन के पहलू अनेक हैं – शिक्षा, शरीर, समाज, अर्थ, धर्म आदि। जीवन में प्राप्त होने वाली प्रत्येक परिस्थिति किसी न किसी पहलू से जुड़ी होती है। व्यक्ति जब जीवन–निर्वाह एवं आत्म–कल्याण सम्बन्धी कर्तव्यों की पूर्ति का प्रयत्न करता है, तो उसे जीवन के इन विविध पहलुओं को सन्तुलित, समन्वित एवं सुव्यवस्थित करना होता है। इन पहलुओं के साधक, साधन और साध्य – ये तीन विभाग हैं। साधक सम्बन्धी विभाग में शिक्षा, समय, मन, वचन एवं काया – इन पाँच पहलुओं का समावेश होता है, साधन सम्बन्धी विभाग में समाज एवं पर्यावरण – इन दोनों पहलुओं का अन्तर्भाव होता है और साध्य सम्बन्धी विभागों में धर्म, अर्थ, काम (भोग) एवं मोक्ष – ये चार पहलू आते हैं। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में इन ग्यारह पहलुओं में जीवन के सम्पूर्ण व्यवहार को समाहित करके उनके प्रबन्धन के उपायों की चर्चा की गई है।

जीवन–प्रबन्धन के लिए शिक्षा, समय आदि इन सभी जीवन पक्षों का पृथक्–पृथक् सम्यक्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रबन्धन करने के साथ ही इन पक्षों का परस्पर समन्वय करना भी आवश्यक है, क्योंकि जीवन का प्रत्येक पक्ष एक–दूसरे से जुड़ा हुआ है। इस समन्वय की प्रक्रिया में यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि एक पक्ष से दूसरे पक्ष का समन्वय करने में किसी भी पक्ष का प्रबन्धन बिगड़ न जाए। जिस प्रकार एक मोती भले ही शोभनीय और मनोहर क्यों न हो, परन्तु माला नहीं बन सकता, उसी प्रकार जीवन के किसी पक्षविशेष को महत्त्व देकर अन्यों की उपेक्षा करना भी जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य नहीं बन सकता। यही जीवन–प्रबन्धन के प्रस्तावित शोध का लक्ष्य भी था, जिसे प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में पूरा किया गया है। संक्षेप में कहें तो, प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में भिन्न–भिन्न जीवन–पक्षों की प्रबन्धन–प्रक्रिया को परस्पर समन्वित करने की भी चर्चा की गई है।

जीवन–प्रबन्धन की उपयोगिता सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनिक है। यह सम्भव है कि वर्त्तमान युग के प्रचलित विषयों, जैसे – वित्त–प्रबन्धन (Financial Management), विपणन–प्रबन्धन (Marketing Management), मानव–संसाधन–प्रबन्धन (Human Resource Manangement), होटल–प्रबन्धन (Hotel Management) आदि की उपयोगिता किसी को हो और किसी को न भी हो, किन्तु प्रस्तुत शोध–विषय तो प्राणीमात्र से जुड़ा होने से सभी के लिए उपयोगी है। जीवन चाहे प्रवृत्तिमूलक हो या निवृत्तिमूलक, इसके प्रबन्धन की आवश्यकता सभी को है और यह निर्विवाद सत्य है।

प्रस्तुत शोधकार्य में जीवन–प्रबन्धन के उन सभी आयामों को समाहित करने का प्रयत्न किया गया है, जो जीवन जीने के लिए आवश्यक हैं, जैसे – शिक्षा–प्रबन्धन, समय–प्रबन्धन, शरीर–प्रबन्धन, अभिव्यक्ति–प्रबन्धन, तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन, पर्यावरण–प्रबन्धन, समाज–प्रबन्धन, अर्थ–प्रबन्धन, भोगोपभोग–प्रबन्धन, धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन और आध्यात्मिक–जीवन–प्रबन्धन। साथ ही, वे सूत्र भी प्रस्तुत किए हैं, जिनसे इन सभी आयामों का सम्यक् प्रबन्धन हो सके, इसीलिए प्रस्तुत शोधकार्य में मैंने प्रबन्धन के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों का समावेश करते हुए जीवन में इनका प्रयोग किस प्रकार से किया जाए, इसकी भी चर्चा की है। इस प्रकार, जीवन को उसके समग्र रूप में सम्यक्तया नियोजित करने का एक यत्न प्रस्तुत शोधकार्य में किया गया है।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के सोचने, समझने एवं क्रियान्वयन करने का तरीका भी भिन्न–भिन्न होता है और उसकी कार्यक्षमता भी सीमित होती है, फिर भी प्रस्तुत शोधकार्य में अपनी सीमित योग्यता के आधार पर मैंने जीवन के विविध आयामों के प्रबन्धन का समाहार करने का प्रयत्न किया है। मेरा यह दावा तो नहीं है कि मैं सभी पक्षों को पूरी तरह से अभिव्यक्त कर पाया हूँ, क्योंकि इसमें समय और कार्य की सीमा दोनों ही मुझे प्रतिबन्धित करते रहे हैं, फिर भी यह एक ऐसा प्रयत्न है, जिसके माध्यम से जीवन जीने के विविध आयामों के प्रबन्धन की सम्यक् दिशा का निर्धारण होता है।

यहाँ जीवन–प्रबन्धन में जैनआचारशास्त्र को आधार बनाने का प्रयत्न इसीलिए किया गया है, क्योंकि जन–साधारण में जीवन–प्रबन्धन के लिए एक सम्यक् चेतना जाग्रत हो और वह यह समझ सके कि जैनआचारमीमांसा में भी बहुत सारे ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं, जो आधुनिक प्रबन्धनशास्त्र से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साम्यता रखते हैं और उसे नई दिशा प्रदान करने में समर्थ भी हैं। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के लेखन में मेरा उद्देश्य न तो शब्दों की बाजीगरी करना रहा है और न ही अपनी बौद्धिक योग्यता का प्रदर्शन। मेरी आन्तरिक अभिलाषा तो मात्र इतनी है कि विविध जीवन–मूल्यों और जीवन–आयामों को सम्यक् दिशा में नियोजित किया जा सके।

गुरुचरणरज

मुनि मनीषसागर

भद्रावती तीर्थ (महाराष्ट्र)
13 फरवरी, 2013

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन-प्रबन्धन के तत्त्व में जानें कहाँ क्या?

अध्याय प्रथम : जीवन–प्रबन्धन का पथ – इस अध्याय में जीवन और प्रबन्धन की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए जीवन–प्रबन्धन की आवश्यकता, महत्त्व, उद्देश्य एवं साधक–बाधक तत्त्वों की चर्चा की है। साथ ही, जीवन–प्रबन्धन की मूलभूत प्रणाली और इसके मुख्य आयामों को स्पष्ट किया है।

अध्याय द्वितीय : जैनदर्शन एवं जैनआचारशास्त्र में जीवन–प्रबन्धन – इस अध्याय में इस बात पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है कि जैनदर्शन एवं आचारशास्त्रों में वे सारे तत्त्व निहित हैं, जिनका अनुकरण कर जीवन–प्रबन्धन के लक्ष्य को सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।

अध्याय तृतीय : शिक्षा–प्रबन्धन – इस अध्याय में शिक्षा के स्वरूप एवं महत्त्व को स्पष्ट करते हुए वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली के गुण–दोषों की चर्चा की और यह बताने का प्रयत्न किया कि शिक्षा जीवन–विकास की नींव है और इसका सही प्रबन्धन जैनआचारमीमांसा के आधार पर उचित ढंग से किया जा सकता है।

अध्याय चतुर्थ : समय–प्रबन्धन – इस अध्याय में समय के स्वरूप, विशेषता एवं महत्त्व को बताकर समय की अव्यवस्था से प्राप्त होने वाले दुष्परिणामों की चर्चा की और जैनआचारमीमांसा के आधार पर सम्यक् समय–प्रबन्धन के सूत्रों को प्रस्तुत किया है।

अध्याय पंचम : शरीर–प्रबन्धन – इस अध्याय में आधुनिक एवं जैन शरीर–विज्ञान के आधार पर शरीर के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट करके शरीर के अप्रबन्धन से सम्बन्धित दस प्रमुख कारकों की चर्चा की और साथ ही जैनदृष्टि के आधार पर शरीर–प्रबन्धन के पहलुओं को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है।

अध्याय षष्ठम : अभिव्यक्ति–प्रबन्धन – इस अध्याय के प्रारम्भ में अभिव्यक्ति के स्वरूप, प्रकार एवं महत्त्व को स्पष्ट करते हुए असंयमित–भाषिक–अभिव्यक्ति के प्रयोगों को स्पष्ट किया और उनके दुष्परिणामों से बचने के लिए जैनआचारमीमांसा के आधार पर भाषिक–अभिव्यक्ति के सम्यक् प्रबन्धन के सूत्रों को दर्शाया है।

अध्याय सप्तम : तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन – इसके प्रारम्भ में मन के स्वरूप एवं महत्त्व को भारतीय दर्शनों और विशेष रूप से जैनदर्शन के आधार पर प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् मन के असंयम (अप्रबन्धन) के कारण उत्पन्न होने वाले तनाव एवं विविध मानसिक विकारों को भी स्पष्ट किया और अन्त में मानसिक–विकारों के प्रबन्धन–सूत्रों का विश्लेषणात्मक विवेचन किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय अष्टम : पर्यावरण–प्रबन्धन – इस अध्याय में पर्यावरण की अवधारणा एवं महत्ता को स्पष्ट करते हुए वर्त्तमान में व्याप्त पर्यावरणीय समस्याओं एवं प्रदूषणों को सविस्तार समझाने का प्रयास किया और साथ ही पर्यावरण–प्रबन्धन के पहलुओं को सुस्पष्ट करने की कोशिश भी की है।

अध्याय नवम : समाज–प्रबन्धन – इस अध्याय में जैनधर्म की संघीय व्यवस्थाओं से सम्बन्धित सिद्धान्तों का आलम्बन लेकर समाज–प्रबन्धन विषयक चर्चा की और इसके पूर्व समाज के स्वरूप, महत्त्व एवं प्रकारों का वर्णन करते हुए वर्त्तमान में व्याप्त सामाजिक–अव्यवस्थाओं के दुष्परिणामों पर भी एक दृष्टि डाली।

अध्याय दशम : अर्थ--प्रबन्धन – इस अध्याय में पुरूषार्थ–चतुष्टय के एक महत्त्वपूर्ण पहलू 'अर्थ' की अवधारणा एवं महत्ता को विभिन्न दृष्टिकोणों सहित जैन जीवन–दृष्टि के आधार पर रखने का प्रयास किया और साथ ही, वर्त्तमान अर्थनीति की विसंगतियों एवं दुष्परिणामों से सावचेत करते हुए जैनआचारमीमांसा के आधार पर अर्थ--प्रबन्धन के उपायों को प्रस्तुत करने की कोशिश की है।

अध्याय एकादश : भोगोपभोग–प्रबन्धन – इस अध्याय के प्रारम्भ में भोगोपभोग की अवधारणा एवं महत्त्व के साथ–साथ वर्त्तमान में प्रचलित उपभोक्ता–संस्कृति एवं उसकी विसंगतियों को स्पष्ट किया और अंत में जैनआचारमीमांसा के आधार पर नियंत्रित भोगोपभोग करने सम्बन्धी सूत्रों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी किया है।

अध्याय द्वादश : धार्मिक व्यवहार–प्रबन्धन – इस अध्याय में धर्म की अवधारणा एवं महत्ता को समझाते हुए धर्म को एक महत्त्वपूर्ण जीवन–मूल्य के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया, साथ ही अव्यवस्थित धर्मनीति एवं उसके दुष्परिणामों से बचने के लिए धार्मिक–व्यवहारों का प्रबन्धन किस प्रकार किया जाए, इस विषय को समाविष्ट किया है।

अध्याय त्रयोदश : आध्यात्मिक–विकास एवं जीवन–प्रबन्धन – यह अध्याय पूर्वोक्त सभी विषयों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें आध्यात्मिक–विकास के स्वरूप, उसके विभिन्न स्तरों एवं उसमें विद्यमान साधक, साधन एवं साध्य की एकरूपता को दर्शाया है, साथ ही आध्यात्मिक साधना में आ रही विसंगतियों से बचने के लिए आध्यात्मिक जीवन–प्रबन्धन के पहलुओं को भी सुस्पष्ट किया है।

अध्याय अन्तिम : जीवन–प्रबन्धन : एक सारांश – इस अध्याय में पूर्वोक्त सभी अध्यायों की विषय–वस्तु का उपसंहार करते हुए सार रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ का कथ्य कहने का प्रयत्न किया है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कृतज्ञता–ज्ञापन

प्रथम वयसि पीतं तोयमल्पं स्मरन्तः,
शिरसि निहितभारा नारिकेरा नराणाम्;
उदकम – मृतकल्पं दद्युराजीवितान्तं,
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।।

अर्थात् जिस प्रकार नारियल के छोटे–छोटे पौधे मनुष्यों द्वारा अल्प जल से सींचे जाकर विकसित होते हैं और उस थोड़े से जल को याद रखते हुए, वे जीवनपर्यन्त जल का भार अपने मस्तक पर उठाए रखकर, मनुष्यों को अमृत–तुल्य स्वादिष्ट जल प्रदान करते रहते हैं, उसी प्रकार सज्जन पुरूष भी उपकारी के उपकार को कभी नहीं भूलते।

प्रस्तुत शोध–प्रबंध के समापन की इस मंगलमय बेला में मेरा यह पुनीत कर्त्तव्य है कि मैं सज्जन पुरूषों के आदर्शों का अनुकरण करते हुए इस शोधकार्य की निर्विघ्न समाप्ति हेतु असीम कृपा, शुभ आशीष, पावन प्रेरणा, उत्कृष्ट प्रोत्साहन एवं अमूल्य सहयोग प्रदान करने वाले उपकारीजनों के प्रति अपनी भावपूर्ण कृतज्ञता ज्ञापित करूँ। वस्तुतः, उनके प्रति यह आभार–ज्ञापन अमूर्त श्रद्धा की मूर्त अभिव्यक्ति होगी, न कि एक शाब्दिक औपचारिकता।

सर्वप्रथम मैं अंतस् की असीम आस्था के साथ परम उपकारी चौबीस तीर्थंकर परमात्माओं, चारों दादा गुरूदेवों एवं पूर्वाचार्यों सहित समस्त सुदेव, सुगुरू एवं सुशास्त्र को सादर नमन करता हूँ, जिनकी दिव्यकृपा से मुझे सहज ही इस शोधकार्य का सृजन करने की अलौकिक प्रेरणा प्राप्त हुई।

मैं अंतर्हृदय से भावाभिनत हूँ, परम पूज्य आचार्य भगवन्त **श्रीमज्जिनकैलाशसागरसूरीश्वरजी म.सा.**, परम पूज्य उपाध्यायप्रवर **श्रीमणिप्रभसागरजी म.सा.**, परम पूज्य गणिवर्य **श्रीपूर्णानंदसागरजी म.सा.**, मधुरभाषी गुरूभगवन्त परम पूज्य **श्रीपीयूषसागरजी म.सा.** एवं स्वाध्यायरसिक गुरूभगवन्त परम पूज्य **श्रीसम्यक्रत्नसागरजी म.सा.** के प्रति, जिनके पावन आशीर्वाद से यह अध्ययन–यात्रा निरन्तर आगे बढ़ती गई और अंततः गंतव्य को प्राप्त हुई।

मैं सर्वस्व समर्पित हूँ, गुरूदेव अध्यात्मयोगी परम पूज्य **श्रीमहेन्द्रसागरजी म.सा.** के प्रति, जो मेरे जन्मदाता, संस्कारदाता, शिक्षादाता, दीक्षादाता, गुरू और आदर्श ही नहीं, अपितु जीवनसर्वस्व हैं। उनकी अविस्मरणीय प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन बचपन से ही मेरे अंतस् में प्राण–ऊर्जा बनकर प्रवाहित होते रहे हैं। इस शोधकार्य को भले ही शब्दों का चोला मैंने दिया हो, किन्तु इसकी आत्मा तो गुरूदेवश्री का गहन ज्ञान एवं विलक्षण भाव ही हैं। अतः यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति उनके वात्सल्यमय अनुग्रह का परिणाम है।

मेरे अभिन्न मुनिप्रवर **सर्वश्री वैराग्यसागरजी, श्रीविवेकसागरजी, श्रीऋषभसागरजी, श्रीवर्धमानसागरजी** एवं **श्रीविराटसागरजी म.सा.** मेरी लक्ष्यपूर्ति में सदैव सहभागी रहे हैं। प्रस्तुत सृजन में उनका आत्मीय सहकार मेटर–कलेक्शन, लेखन–कार्य, प्रूफ–रीडिंग आदि में उपलब्ध हुआ है, जो सदैव स्मरणीय है। उनके प्रति आभार–ज्ञापन कर मैं अपनी आत्मीयता एवं अभिन्नता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाते हुए केवल इतना कहना चाहूँगा कि उनकी निःस्पृह सेवाओं के बिना यह बृहद्कार्य सम्पन्न कर पाना सम्भव नहीं था।

इस पुनीत अवसर पर मैं विश्व प्रेम प्रचारिका, समन्वयसाधिका, जैन–कोकिला स्व. प्रवर्तिनी **श्रीविचक्षणश्रीजी म.सा.** का शुभ स्मरण करना चाहूँगा, जिनकी अदृश्य कृपा मेरी साधना के विकास में सदैव आधारभूत रही है, साथ ही उनकी सुशिष्या मम संयम–उपकारिणी, मातृहृदया, मरुधरज्योति **श्रीमणिप्रभाश्रीजी म.सा.** का उल्लेख करना चाहूँगा, जिनकी पावन प्रभा से आलोकित होकर मुझे अपनी संयम–यात्रा एवं अध्ययन–यात्रा में अग्रसर होने की राह मिलती रही।

प्रस्तुत शोधकार्य का अथ से इति तक सम्पूर्ण श्रेय जैनधर्मदर्शन के मूर्धन्य विद्वान् **डॉ. सागरमल जैन सा.** को जाता है, जो स्वयं ज्ञान के सागर हैं, आगम–मर्मज्ञ हैं, दार्शनिक क्षेत्र के अग्रणी विद्वानों में से एक हैं और सरलता एवं सहजता से युक्त एक पूर्ण व्यक्तित्व हैं। इनकी प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से ही शोधकार्य करने का आत्मविश्वास मिला और इनके मार्गदर्शन में ही शोधकार्य को गति प्राप्त हुई। आपने विषयवस्तु को प्रासंगिक एवं प्रामाणिक बनाने हेतु पांडुलिपि का अतिसूक्ष्म निरीक्षण, समीक्षण एवं संशोधन किया, ताकि यह शोध–ग्रंथ जनभोग्य बन सके।

सहयोग की शृंखला में **श्रीरामकृष्ण काबरा**, इन्दौर का उल्लेख करना भी आवश्यक होगा, जो सांसारिक जीवन में पूज्य गुरुदेवश्री के अभिन्न मित्र रहे। आप एम.इ. (इलेक्ट्रिकल) एवं एम.बी.ए. की उच्च शिक्षा प्राप्त कर मध्यप्रदेश विद्युत्–मंडल में कार्यरत रहे और नीतिमय जीवन जीकर मुख्य अभियंता के पद से सेवानिवृत्त हुए। आपने इस शोध–ग्रंथ का आद्योपांत अध्ययन कर इसके आलेखन को सरल, सुगम एवं सुव्यवस्थित बनाने में अहोरात्र परिश्रमपूर्वक अपना विशिष्ट एवं चिरस्मरणीय योगदान दिया।

प्रस्तुत शोधकार्य में प्राच्य एवं आधुनिक दोनों शिक्षाओं का समन्वय करना एक आवश्यक कर्तव्य था, जिससे यह वर्त्तमान परिवेश में भी सहजता से उपयोगी बन सके। इस हेतु शिक्षा जगत् के अनेक सुप्रसिद्ध एवं अपने–अपने विषयों में पारंगत विद्वानों ने भी अमूल्य समय देकर मुझे विषय के मर्म तक पहुँचने हेतु उचित मार्गदर्शन प्रदान किया। ये सहयोगी शुभचिन्तक अनेक हैं, जिनमें श्री ज्योति कोठारी (जयपुर), प्रो. वीरेन्द्र नाहर, प्रो. जयन्तीलाल भण्डारी, प्रो. निलोसे, प्रो. अनुपम जैन, डॉ. मनोहर भण्डारी, डॉ. अजय शर्मा, डॉ. दिनेश राँका, प्रो. सरोज कोठारी, श्री कैलाश शर्मा, डॉ. डी. कौल, प्रो. अशोक जैन, प्रो. सुनीता कवीश्वर (सभी इन्दौर), प्रो. बी. एल. जैन (रतलाम), प्रो. पी. सी. करोड़े

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(खाचरौद), प्रो. शैलेन्द्र पाराशर, डॉ. गजेन्द्र पारख, डॉ. दिनेश राँका, डॉ. अजयकीर्ति जैन, सुश्री खान महोदया, प्रो. रवीन्द्र जैन (सभी उज्जैन), डॉ. राजेन्द्र जैन (शाजापुर), प्रो. सरिता जैन (राजगढ़), डॉ. रणजीत मालू (बाड़मेर) आदि उल्लेखनीय हैं। ये सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत शोधकार्य में प्रसिद्ध पत्रकार श्री गोपालस्वरूप माथुर का उल्लेख करना आवश्यक होगा, जिन्होंने शोध–प्रबंध का आद्योपांत अध्ययन कर अपनी विशेष टिप्पणियों के माध्यम से आलेखन को परिमार्जित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रस्तुत शोधकार्य में श्री पारस मेहता, श्री हेमन्त भण्डारी, श्री दिलीप छाजेड़, डॉ. प्रफुल्ल सुराना, श्री देवेन्द्र वनवट, श्री विकास चोपड़ा, श्री अंकित छाजेड़, श्री नवनीत सेठिया, श्री नरेश सकलेचा, श्री हर्ष भण्डारी, श्री श्रेयांस हिंगड़ एवं श्री चेतन नांदेचा (सभी खाचरौद), डॉ. नरेन्द्र धाकड़, श्री नीतिन तातेड़, श्री राजेन्द्र गाँधी, श्री लुकेश गाँधी, श्री पंकज सावनसुखा, श्री पृथ्वीराज शर्मा, श्री अमृत शाह, श्री सुरेश पीपाड़ा, श्री जयन्तीलाल राठौर, श्री रमेश पाटीदार (सभी इन्दौर), डॉ. सुनील मण्डलेचा (राजगढ़), प्रो. राजेन्द्र छजलानी, श्री रितेश नाहर (उज्जैन), श्री गोपाल श्रीश्रीमाल, श्री अरूण चपरोत, श्री हेमन्त बोथरा (सभी रतलाम), डॉ. कविता गाँधी (नागपुर), श्री राम रूसिया (वारासिवनी), श्री प्रवीण शर्मा (शाजापुर), श्री अक्षय बारिया (मुंबई) एवं श्री अनिल जैन (दुर्ग) का भी आत्मीय सहयोग रहा है। इन सभी की ज्ञानभक्ति एवं गुरूभक्ति अनुमोदनीय है।

इस अध्ययन–यात्रा को पूर्ण करने में प्राच्य विद्यापीठ (शाजापुर), कुंदकुंद विद्यापीठ (इन्दौर), श्री जैन श्वेताम्बर अकादमी (इन्दौर), इन्दौर विश्वविद्यालय पुस्तकालय (इन्दौर), ज्ञान भण्डार (खाचरौद), गणेश ज्ञान भण्डार (रतलाम), श्री राजेन्द्रसूरि प्रवचन पुस्तकालय (मोहनखेड़ा) से समय–समय पर संदर्भ–ग्रंथ उपलब्ध होते रहे, अतः मैं इन सभी संस्थाओं के व्यवस्थापकों एवं कार्यकर्ताओं के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रस्तुत शोध–प्रबंध के आलेखन को कम्प्यूटर पर टंकन करने में जिन लोगों ने पूरे मनोयोग के साथ परिश्रम किया है, मैं उन सभी का हृदय से आभारी हूँ। साथ ही, इस शोध–प्रबंध को विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने हेतु प्रिंटिंग कार्य में इम्पीरियल स्कूल, खाचरौद के श्री संजय हिंगड़, श्री विनोद सिसोदिया एवं श्री नरेश नागदा के अवदान को भी भुलाया नहीं जा सकता, जिन्होंने पूर्ण जागृति एवं भक्ति के साथ कार्य किया है।

इस पुनीत कार्य में शाजापुर, इन्दौर, खाचरौद, रतलाम, उज्जैन, महिदपुर, सूरत आदि जैनसंघों के सदस्यों का सम्माननीय सहयोग प्राप्त हुआ, जिन्होंने मुझे अध्ययन के अनुकूल शांतिमय वातावरण के साथ–साथ समुचित व्यवस्थाएँ भी उपलब्ध कराई।

प्रस्तुत शोध–प्रबंध में जिन–जिन विद्वानों एवं सम्पादकों के ग्रंथों का उपयोग हुआ है, मैं उनके प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन सबके अतिरिक्त प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इस शोध–प्रबंध के प्रणयन में जो भी सहयोगी बने हैं, किन्तु मैं उनका नामोल्लेख नहीं कर पाया हूँ, उनसे क्षमायाचना करते हुए उनके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं पूर्व उपकारी जनों सांसारिक माताजी **श्रीमती विमलाजी नाहर** एवं समस्त नाहर परिवार, श्री पीपाड़ा परिवार, श्री कोचर परिवार, श्री सुमतिलाल जेनावत, श्री कुशलचन्द्र शेखावत आदि के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने मुझे आत्मकल्याण के क्षेत्र में प्रवेश तथा विकास करने का उचित वातावरण एवं प्रेरणा दी, जिसके परिणामस्वरूप आज इस शोधकार्य का निष्पादन हो सका।

मैंने अपने मार्गदर्शक डॉ. जैन सा. के सान्निध्य में संबंधित विषय को पूर्णरूपेण प्रामाणिकतापूर्वक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, फिर भी इसकी पूर्णता का दावा नहीं कर सकता, संभव है प्रमादवश कहीं कुछ कमी रह गई हो अथवा प्रूफ–संशोधन में कोई त्रुटि रह गई हो, तो उसके लिए मैं मिच्छामि दुक्कड़ं करता हूँ तथा योग्य निर्देश मिलने पर उसके परिमार्जन की भावना रखता हूँ।

वास्तव में, यह कार्य तो इन सभी सहयोगी जनों का ही है। मैं तो सिर्फ निमित्त मात्र हूँ, कर्त्ता नहीं, यही ध्यान में रखते हुए अंततः, मैं पुनः इस शोधकार्य में सहयोग प्रदान करने वाले महानुभावों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए यह शोधकार्य मूर्धन्य विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

इस शोध–प्रबन्ध में मेरे द्वारा वीतराग–वाणी के विरूद्ध ज्ञाताज्ञात भाव से यदि कुछ भी लिखा गया हो, तो मैं अंतःकरण से क्षमाप्रार्थी हूँ।

गुरुचरणरज

मुनि मनीषसागर

भद्रावती तीर्थ (महाराष्ट्र)
13 फरवरी, 2013

=====<●>=====

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका
Index

1 जीवन-प्रबन्धन का पथ
THE PATH OF LIFE MANAGEMENT

2 जैन दर्शन एवं जैन आचार शास्त्र में जीवन-प्रबन्धन
ELEMENTS OF LIFE MANAGEMENT IN JAIN PHILOSOPHICAL AND ETHICAL SCRIPTURES

3 शिक्षा प्रबन्धन
EDUCATION MANAGEMENT

4 समय प्रबन्धन
TIME MANAGEMENT

5 शरीर प्रबन्धन
BODY MANAGEMENT

6 अभिव्यक्ति प्रबन्धन
COMMUNICATION MANAGEMENT

7 तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन
STRESS AND MENTAL DISORDER MANAGEMENT

8 पर्यावरण प्रबन्धन
ENVIRONMENT MANAGEMENT

9 समाज प्रबन्धन
SOCIAL MANAGEMENT

10 अर्थ प्रबन्धन
WEALTH MANAGEMENT

11 भोगोपभोग प्रबन्धन
CONSUMPTION MANAGEMENT

12 धार्मिक व्यवहार प्रबन्धन
RELIGIOUS BEHAVIOR MANAGEMENT

13 आध्यात्मिक विकास प्रबन्धन
SPIRITUAL DEVELOPMENT MANAGEMENT

14 जीवन प्रबन्धन ...एक सारांश
LIFE MANAGEMENT : A SUMMARY

संदर्भ ग्रंथ सूची
BIBLIOGRAPHY

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

- अभिनन्दन के स्वर — i
- सम्पादकीय — xvii
- एक सार्थक कदम — xxiii
- प्रस्तावना — xxv
- जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व में जानें कहाँ क्या? — xxxi
- कृतज्ञता–ज्ञापन — xxxiii
- अनुक्रमणिका — xxxvii

पृष्ठ क्र.

अध्याय 1 : जीवन–प्रबन्धन का पथ (The Path of Life Management) — 1–90

1.1 मंगलाचरण — 1

1.2 जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में जीवन का स्वरूप एवं मानव–जीवन में प्रबन्धन की योग्यता — 4

1.3 जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में जीवन की विविध शैलियाँ — 18

1.4 जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में प्रबन्धन का मूल स्वरूप एवं जीवन में प्रबन्धन की उपयोगिता — 27

1.5 जीवन–प्रबन्धन की मौलिक अवधारणा एवं स्वरूप — 58

1.6 जीवन–प्रबन्धन की मूलभूत प्रणाली — 70

1.7 जीवन–प्रबन्धन में भारतीय–दर्शन के पुरूषार्थ–चतुष्टय — 73

1.8 जीवन–प्रबन्धन के विविध आयाम — 76

1.9 निष्कर्ष — 83

सन्दर्भसूची — 86

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 2 :	**जैनदर्शन एवं जैनआचारशास्त्र में जीवन–प्रबन्धन (Life Management in Jain Philosophical & Ethical Scriptures)**	91–114
2.1	जैनदर्शन एवं आचारशास्त्र का सह–सम्बन्ध	91
2.2	जैनआचारमीमांसा का उद्देश्य	94
2.3	जैन दर्शनमीमांसा, आचारमीमांसा एवं जीवन–प्रबन्धन का सह–सम्बन्ध	96
2.4	जैनदर्शनमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के मुख्य तत्त्व	102
2.5	निष्कर्ष	111
	सन्दर्भसूची	113
अध्याय 3 :	**शिक्षा–प्रबन्धन (Education Management)**	115–182
3.1	शिक्षा का स्वरूप	115
3.2	शिक्षा की सार्वकालिक महत्ता	118
3.3	वर्त्तमान युग में शिक्षा का महत्त्व	125
3.4	वर्त्तमान युग में शिक्षाप्रणाली की विशेषताएँ (गुण–दोष)	130
3.5	वर्त्तमान युग में शिक्षाप्रणाली की मुख्य कमियाँ एवं दुष्परिणाम	134
3.6	जैनआचारमीमांसा के आधार पर शिक्षा–प्रबन्धन	150
3.7	शिक्षा–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	164
3.8	निष्कर्ष	176
3.9	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	178
	सन्दर्भसूची	179

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 4 :	**समय--प्रबन्धन**	183–226
	(Time Management)	
4.1	जैनदर्शन में समय का स्वरूप एवं समय की मौलिक विशेषताएँ	183
4.2	समय की सार्वकालिक महत्ता	188
4.3	वर्त्तमान युग में समय का महत्त्व	189
4.4	समय का अप्रबन्धन और उसके दुष्परिणाम	190
4.5	जैनआचारमीमांसा के आधार पर समय--प्रबन्धन	191
4.6	जैनदृष्टि पर आधारित समय--प्रबन्धन का प्रायोगिक--पक्ष	195
4.7	निष्कर्ष	220
4.8	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	222
	सन्दर्भसूची	223
अध्याय 5 :	**शरीर--प्रबन्धन**	227–304
	(Body Management)	
5.1	शरीर का स्वरूप	227
5.2	शरीर का महत्त्व	242
5.3	शरीर सम्बन्धी अप्रबन्धन या कुप्रबन्धन के दुष्परिणाम	246
5.4	जैनआचारमीमांसा के आधार पर शरीर--प्रबन्धन	259
5.5	शरीर--प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	294
5.6	निष्कर्ष	299
5.7	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	300
	सन्दर्भसूची	301

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 6 :	**अभिव्यक्ति–प्रबन्धन (Communication Management)**	305–362
6.1	अभिव्यक्ति का स्वरूप – सांकेतिक और भाषिक अभिव्यक्ति	305
6.2	अभिव्यक्ति का महत्त्व	309
6.3	भाषिक (वाचिक) अभिव्यक्ति का विशिष्ट महत्त्व	311
6.4	भाषिक–अभिव्यक्ति का दुरुपयोग	313
6.5	असंयमित भाषिक–अभिव्यक्ति के दुष्परिणाम	317
6.6	जैनआचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में भाषिक–अभिव्यक्ति का प्रबन्धन	320
6.7	भाषिक–अभिव्यक्ति–प्रबन्धन : प्रायोगिक–अध्ययन	353
6.8	निष्कर्ष	357
6.9	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	358
6.10	सन्दर्भसूची	359
अध्याय 7 :	**तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन (Stress & Mental Disorder Management)**	363–424
7.1	भारतीय दर्शनों एवं जैनदर्शन में मन का स्वरूप	363
7.2	मन का महत्त्व	373
7.3	तनाव क्या? क्यों? कैसे?	376
7.4	विविध मानसिक विकार एवं उनके दुष्परिणाम	388
7.5	विविध मानसिक विकारों के कारण : बहिरंग और अंतरंग	400
7.6	जैनआचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में मानसिक–प्रबन्धन	407
7.7	मानसिक–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	409
7.8	निष्कर्ष	419
7.9	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	421
	सन्दर्भसूची	422

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 8 :	**पर्यावरण–प्रबन्धन**	425–490
	(Environment Management)	
8.1	पर्यावरण क्या है?	426
8.2	पर्यावरण का सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनिक महत्त्व	428
8.3	पर्यावरण की समस्याएँ एवं पर्यावरण प्रदूषण के दुष्परिणाम	432
8.4	पर्यावरण की समस्याओं एवं पर्यावरण प्रदूषण के मूल कारण	444
8.5	जैनआचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण–प्रबन्धन	446
8.6	जैनआचारमीमांसा में पर्यावरण–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	459
8.7	निष्कर्ष	482
8.8	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	484
	सन्दर्भसूची	485
अध्याय 9 :	**समाज–प्रबन्धन**	491–528
	(Social Management)	
9.1	समाज का स्वरूप एवं समाज का महत्त्व	491
9.2	सामाजिक संरचना के आधार पर समाज के प्रकार	497
9.3	सामाजिक अव्यवस्था के दुष्परिणाम	503
9.4	जैनआचारमीमांसा के आधार पर समाज–प्रबन्धन	508
9.5	जैनआचारमीमांसा में समाज–प्रबन्धन के प्रायोगिक पक्ष	518
9.6	निष्कर्ष	525
9.7	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	526
	सन्दर्भसूची	527

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 10:	**अर्थ–प्रबन्धन**	529–612
	(Wealth Management)	
10.1	अर्थ की परिभाषा एवं अवधारणा	529
10.2	जीवन में अर्थ का महत्त्व एवं स्थान	537
10.3	जैन जीवनदृष्टि में अर्थ का महत्त्व	543
10.4	असन्तुलित, अमर्यादित एवं अव्यवस्थित अर्थनीति के दुष्परिणाम	547
10.5	जैनआचारमीमांसा के आधार पर अर्थ–प्रबन्धन	558
10.6	जैनआचारमीमांसा के आधार पर अर्थ–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	567
10.7	निष्कर्ष	605
10.8	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	607
	सन्दर्भसूची	608
अध्याय 11:	**भोगोपभोग–प्रबन्धन**	613–652
	(Consumption Management)	
11.1	भोगोपभोग की अवधारणा एवं उपभोक्ता संस्कृति	613
11.2	भोगोपभोग का जीवन में महत्त्व	618
11.3	उपभोक्ता संस्कृति का स्वरूप	621
11.4	असन्तुलित, अमर्यादित एवं अव्यवस्थित भोगपभोग–नीति (उपभोक्ता–संस्कृति) के दुष्परिणाम	623
11.5	जैनआचारमीमांसा के आधार पर भोगोपभोग–प्रबन्धन	628
11.6	भोगोपभोग–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	637
11.7	निष्कर्ष	649
11.8	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	650
	सन्दर्भसूची	651

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 12:	**धार्मिक व्यवहार–प्रबन्धन**	653–696
	(Religious Behaviour Management)	
12.1	धर्म की अवधारणा	653
12.2	धर्म का जीवन में महत्त्व एवं स्थान	656
12.3	धर्म और जीवन मूल्य	661
12.4	अनियोजित धर्मनीति के दुष्परिणाम	664
12.5	जैनधर्म एवं जैनआचारमीमांसा के आधार पर धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन	669
12.6	धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	681
12.7	निष्कर्ष	693
12.8	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	694
	सन्दर्भसूची	695
अध्याय 13:	**आध्यात्मिक–विकास एवं जीवन–प्रबन्धन**	697–744
	(Spiritual Development Management)	
13.1	आध्यात्मिक विकास का स्वरूप	697
13.2	आध्यात्मिक जीवन में साधक, साधन और साध्य की एकरूपता	702
13.3	जैनधर्म में आध्यात्मिक जीवन के विविध स्तर	707
13.4	आध्यात्मिक साधना में आई विसंगतियाँ एवं बाधाएँ	715
13.5	जैनधर्म और आचारशास्त्र के आधार पर आध्यात्मिक–जीवन–प्रबन्धन	722
13.6	आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन का प्रायोगिक–पक्ष	735
13.7	निष्कर्ष	740
13.8	स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	741
	सन्दर्भसूची	742
अध्याय 14:	**जीवन–प्रबन्धन : एक सारांश**	745–760
	(A Summary of Life Management)	
	सन्दर्भग्रन्थसूची	761–770

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 1

जीवन प्रबन्धन का पथ

THE PATH OF LIFE MANAGEMENT

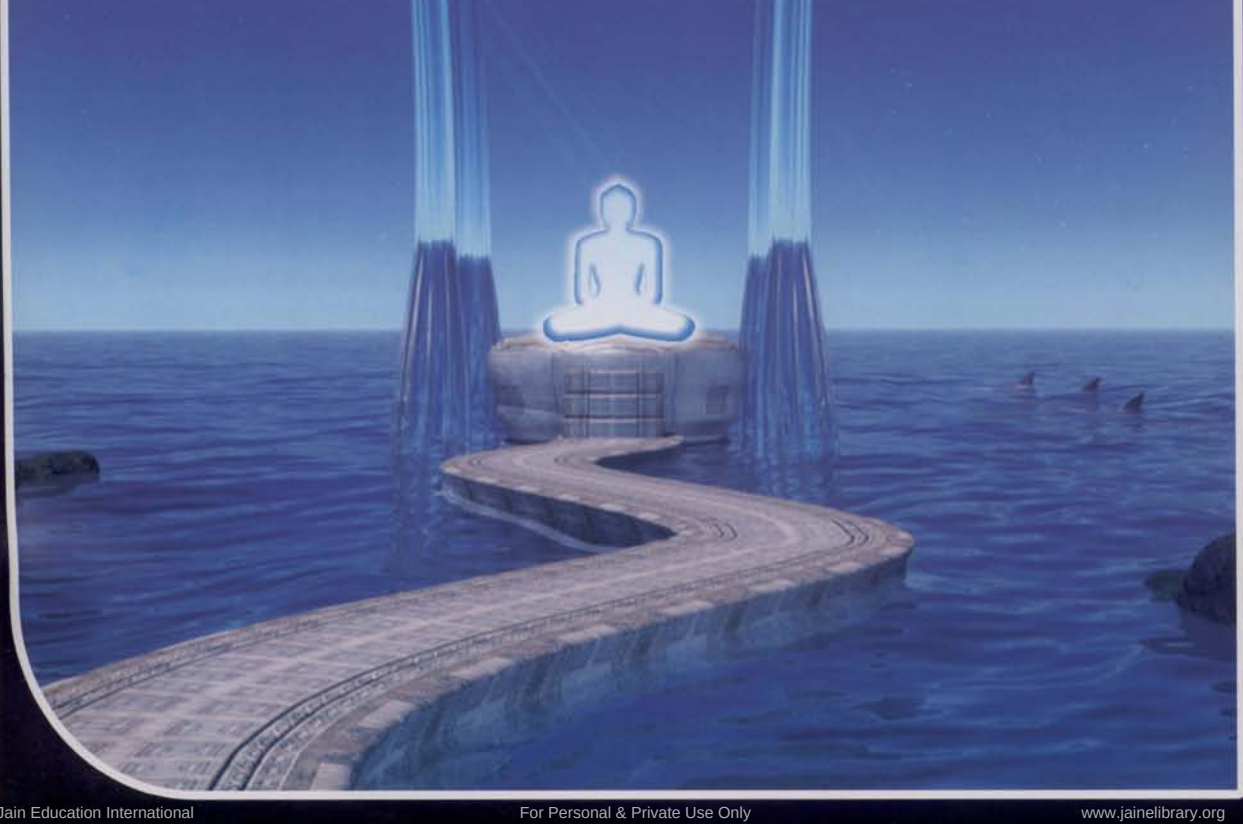

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 1

जीवन–प्रबन्धन का पथ

(The Path of Life Management)

	Page No.
1.1 मंगलाचरण	**1**
1.2 जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में जीवन का स्वरूप एवं मानव–जीवन में प्रबन्धन की योग्यता	**4**
1.2.1 जीवन का अर्थ	4
1.2.2 जीवन के अंग	5
1.2.3 जीवन का लक्षण	6
1.2.4 जीवन के आयाम	10
1.2.5 जीवन के विविध रूप एवं मानव–जीवन में प्रबन्धन की योग्यता	12
1.3 जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में जीवन की विविध शैलियाँ	**18**
1.3.1 जीवनशैली का अर्थ एवं अवधारणा	18
1.3.2 जीवन की विविध शैलियाँ	18
1.4 जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में प्रबन्धन का मूल स्वरूप एवं जीवन में प्रबन्धन की उपयोगिता	**27**
1.4.1 प्रबन्धन का सामान्य परिचय	27
1.4.2 प्रबन्धन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	29
1.4.3 प्रबन्धन की आधुनिक अवधारणाएँ एवं परिभाषाएँ	30
1.4.4 प्रबन्धन की अवधारणाओं एवं परिभाषाओं में विविधताओं के मूल कारण	33
1.4.5 प्रबन्धकीय विचारधाराओं की कमियों से उभरने के मापदण्ड	34
1.4.6 जैनदर्शन के आधार पर प्रबन्धन की अवधारणा एवं परिभाषा	35
1.4.7 प्रबन्धन की विशेषताएँ	38
1.4.8 प्रबन्धन के कार्य	40
1.4.9 प्रबन्धन की प्रकृति	49
1.4.10 प्रबन्धन के सामाजिक उत्तरदायित्व	50
1.4.11 प्रबन्धन के सिद्धान्त	51
1.4.12 प्रबन्धन का क्षेत्र	57
1.5 जीवन–प्रबन्धन की मौलिक अवधारणा एवं स्वरूप	**58**
1.5.1 जीवन–प्रबन्धन की आवश्यकता	58
1.5.2 जीवन–प्रबन्धन का महत्त्व	62
1.5.3 जीवन–प्रबन्धन के उद्देश्य	63
1.5.4 जीवन–प्रबन्धन के साधक एवं बाधक तत्त्व	66
1.6 जीवन–प्रबन्धन की मूलभूत प्रणाली	**70**
1.7 जीवन–प्रबन्धन में भारतीय–दर्शन के पुरूषार्थ–चतुष्टय	**73**
1.7.1 पुरूषार्थ क्या है?	73
1.7.2 पुरूषार्थ चतुष्टय : सामान्य परिभाषा	74
1.7.3 वर्त्तमान विसंगति : मुख्य कारण	75
1.8 जीवन–प्रबन्धन के विविध आयाम	**76**
1.8.1 जीवन–प्रबन्धन के मुख्य विभाग	76
1.8.2 जीवन–प्रबन्धन के आयाम	79
1.9 निष्कर्ष	**83**
सन्दर्भसूची	86

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 1

जीवन–प्रबन्धन का पथ
(The Path of Life Management)

1.1 मंगलाचरण

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के प्रारम्भ में परम्परा का परिपालन करते हुए ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु नमस्कारात्मक मंगलाचरण प्रस्तुत करते हैं –

वीरं नत्वा मनुष्येभ्यः, सिद्धिमार्गप्रकाशकम्।
दुःखमुक्तिकारि वक्ष्ये, श्रीजीवन–प्रबन्धनम्।।

शब्दार्थ

(वीरं) प्रभु महावीरस्वामी को **(नत्वा)** नमस्कार करके **(सिद्धि–मार्ग–प्रकाशकं)** सिद्धि–मार्ग को प्रकाशित करने वाले तथा **(दुःखमुक्तिकारि)** समस्त दुःखों से मुक्त करने वाले **(श्रीजीवन–प्रबन्धनम्)** आत्मसम्पदा (सुख, शान्ति और आनन्द) को प्राप्त कराने वाले जीवन–प्रबन्धन नामक इस शोध–ग्रन्थ को **(मनुष्येभ्यः)** स्व और पर सभी मनुष्यों के हितार्थ **(वक्ष्ये)** कहूँगा।

1.1.1 अनुबन्ध चतुष्टय

प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम अनुबन्ध–चतुष्टय का उल्लेख करना होगा, जो वस्तुतः किसी भी ग्रन्थ में मानव की सोद्देश्य प्रवृत्ति कराने के लिए आवश्यक है। यह विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध – इन चार तथ्यों का समुच्चय है।[1] इन चारों के माध्यम से क्रमशः यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है, इससे किस उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है, इसके अध्ययन का सुयोग्य पात्र कौन है और इस का अपने विषय से क्या सम्बन्ध है? इस प्रकार, अनुबन्ध–चतुष्टय इस बात की सुस्पष्टता है कि समर्थ मानव के प्रयोजन की सिद्धि के लिए ग्रन्थ उपयुक्त विषय का प्रतिपादन करता है।

(1) शोध–ग्रन्थ का विषय

इस शोध–ग्रन्थ का विषय है – जीवन–प्रबन्धन अर्थात् जीवन को सुव्यवस्थित करना। जीवन के सम्यक् प्रबन्धन के अभाव में एक आम आदमी बहिर्मुखी होकर कभी स्वार्थ और ममत्व के लिए,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कभी कामना और वासना के लिए, तो कभी दूसरों की समीक्षा और सुधार के लिए दिन–रात प्रयासरत रहता है। वह धन–सम्पत्ति और सुख–सुविधाओं की प्राप्ति के लिए सतत चिन्ताशील रहता है, किन्तु अथक परिश्रम करने के बाद भी अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं कर पाता, परिणामतः उसका मानस तनाव और निराशा में डूब जाता है और इस तरह जीवन यूँ ही समाप्त हो जाता है। ऐसे निरर्थक जीवन को सार्थक बनाने के लिए आवश्यक है – जीवन को सम्यक् दिशा में नियोजित करना, इसे ही जीवन–प्रबन्धन कहते हैं। यही इस ग्रन्थ की विषय–वस्तु है।

(2) शोध–ग्रन्थ का प्रयोजन

जहाँ अप्रबन्धित–जीवन तनाव, क्लेश और दुःख का जनक है, वहीं प्रबन्धित–जीवन दुःख और तनाव से मुक्त दशा की प्राप्ति कराने वाला है। अतः जब मानव अन्तर्मुखी होकर सकारात्मक चिन्तन करता है, तब जीवन–प्रबन्धन उसका ध्येय बन जाता है। प्रकृत ग्रन्थ का प्रयोजन भी जीवन–प्रबन्धन का ज्ञान कराना है, जिसके प्रयोग से जीवन आनन्दमय बन सके।

(3) शोध–ग्रन्थ के अध्ययन का अधिकारी (सुपात्र)

इस सृष्टि की सर्वोत्तम कृति है – मनुष्य। पाश्चात्य मानवतावादी चिन्तकों ने भी पशु–पक्षी–कीड़े–मकोड़े आदि अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य में निम्नलिखित तीन विशिष्ट योग्यताएँ मानी हैं[2] –

1) विवेक (Discretion)
2) सजगता (Awareness)
3) संयम (Self–control or Temperence)

उपर्युक्त तीनों शक्तियों के कारण हम कह सकते हैं कि मनुष्य में ही वे क्षमताएँ हैं, जो जीवन के प्रबन्धन के लिए आवश्यक हैं। अतः प्रकृत ग्रन्थ का सुयोग्य अधिकारी 'मनुष्य' ही है। सामान्य तौर पर सभी मनुष्य इस ग्रन्थ के अध्ययन के अधिकारी हैं, लेकिन विशेष तौर पर अपने जीवन का प्रबन्धन करने के इच्छुक और रुचिवन्त मनुष्य ही इस ग्रन्थ का अध्ययन करने के लिए समर्थ अधिकारी हैं।

(4) शोध–ग्रन्थ का विषय के साथ सम्बन्ध

प्रकृत शोध–ग्रन्थ और विषय का परस्पर प्रतिपादक–प्रतिपाद्य सम्बन्ध है।

प्रतिपादक – विषय की व्याख्या या प्रतिपादन करने वाला।
प्रतिपाद्य – व्याख्यायित अथवा प्रतिपादित किया जाने वाला।

सार रूप में हमारी अपेक्षा यही है कि प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ के माध्यम से रुचिवन्त मनुष्य जीवन–प्रबन्धन नामक विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर जीवन को सुव्यवस्थित करते हुए सुख, शान्ति तथा आनन्दमय जीवन जीने के स्वप्न को साकार कर सकें। फिर भी, यह सुनिश्चित है कि ग्रन्थ सहयोगी अर्थात् मार्गदर्शक ही है। वस्तुतः, जीवन–प्रबन्धन हेतु रुचिवन्त मनुष्य का निज पुरूषार्थ ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसके जीवन के प्रबन्धन के लिए निर्णायक तत्त्व सिद्ध हो सकता है। अतः उसे चाहिए कि वह निज दायित्व समझकर इस शोध–ग्रन्थ का आद्योपान्त गहन अध्ययन एवं अनुशीलन कर इसमें निर्दिष्ट सिद्धान्तों को विचार और व्यवहार में लाए।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.2 जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में जीवन का स्वरूप एवं मानव–जीवन में प्रबन्धन की योग्यता

'जीवन–प्रबन्धन' दो शब्दों से मिलकर बना है – 'जीवन' और 'प्रबन्धन'। जीवन–प्रबन्धन के सम्यक् बोध के लिए सर्वप्रथम जीवन को समझना आवश्यक है। जीवन वह सत्य है, जिसका अनुभव प्रत्येक मानव को होता है, लेकिन जीवन का सम्यक् स्वरूप समझे बगैर ही सामान्यतया जीवन बीत जाता है। वस्तुतः, जीवन क्या है (What is life), यह जीवन–प्रबन्धन का प्रथम एवं अहम प्रश्न है। प्रथम इसलिए है, क्योंकि जीवन–प्रबन्धन की सारी प्रवृत्तियाँ जीवन के अस्तित्व पर निर्भर करती हैं। जीवन के होने पर ही सब कुछ सम्भव है और जीवन के न होने पर कुछ भी नहीं। जीवन की समाप्ति के साथ ही जीवन–प्रबन्धन की सम्भावनाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। जीवन का प्रश्न अहम इसलिए है, क्योंकि जीवनकाल में जिन वस्तुओं का मूल्य होता है, जीवन की समाप्ति के साथ ही वे वस्तुएँ व्यक्ति के लिए मूल्यहीन हो जाती हैं।[3] अतः जीवन–प्रबन्धन अर्थात् जीवन का सम्यक् दिशा में नियोजन करने के लिए जीवन के स्वरूप को जानना अत्यावश्यक है।

1.2.1 जीवन का अर्थ

जैनदर्शन के आधार पर जीने की प्रक्रिया ही जीवन है (The process of living is life)। प्रत्येक प्राणी की क्रमशः तीन मुख्य अवस्थाएँ होती हैं – जन्म, जीवन और मृत्यु। अतः जीवन और कुछ नहीं, जन्म और मृत्यु के बीच की अवस्था है। इन तीनों अवस्थाओं में जीवन का महत्त्व विशिष्ट है, क्योंकि 'जन्म' और 'मृत्यु' तो क्षणिक हैं और इन पर प्राणी का कोई बस नहीं चलता, जबकि 'जीवन' अपेक्षाकृत दीर्घ होता है और इसके पल्लवन, पोषण, संवर्धन एवं विकास के लिए प्राणी स्वतन्त्र होता है। जैनदर्शन आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी दर्शन है,[4] जिसमें यह माना गया है कि जीवात्मा अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार पूर्वजन्म को समाप्त कर नवीन शरीर को धारण करता है और एक निश्चित अवधि तक इसमें जीकर अगले जन्म के लिए प्रस्थान करता है, इस दृष्टि से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के बीच के अन्तराल में आत्मा और शरीर की संयोगजन्य व्यवस्था जीवन है।

जैनदर्शन में जीवन की व्याख्या दो दृष्टियों से की गई है – आध्यात्मिक और व्यावहारिक। आध्यात्मिक–दृष्टि (निश्चय–दृष्टि) आत्मा को ही जीवन का एकमात्र कारण मानती है और उसके अनुसार, यह जीवन जीव का ही कार्य है, क्योंकि जो जीता है, वह वास्तव में जीव ही है **(जीवति इति जीवः)**।[5] व्यावहारिक–दृष्टि 'आत्मा' और 'शरीर' दोनों को जीवन का प्रमुख घटक मानती है और उसके अनुसार, यदि आत्मा जीवन की अंतरंग अभिव्यक्ति है, तो शरीर जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति है तथा इन दोनों की सांयोगिक अवस्था ही जीवन है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में आध्यात्मिक–दृष्टि को लक्ष्य में रखकर व्यावहारिक–दृष्टि की मुख्यता से जीवन की चर्चा की गई है। श्रीमद्राजचन्द्र ने भी इस समन्वयात्मक नीति की पुष्टि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए कहा है –

निश्चय वाणी सांभळी, साधन तजवा नो'य।
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवा सोय।। [6]

अर्थात् आध्यात्मिक–दृष्टि से कहे गए उपदेशों को सुनकर व्यावहारिक–दृष्टि को त्यागना नहीं चाहिए, बल्कि आध्यात्मिक–दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर व्यावहारिक–दृष्टि रूपी साधन का उपयोग कर लेना चाहिए।

1.2.2 जीवन के अंग

जीवन का पहला अंग है – आत्मा। इसे जीव, चेतन, सत्त्व, भूत आदि अनेकानेक नामों से पहचाना जाता है।[7] प्रायः सभी भारतीयदर्शन और विशेष रूप से जैनदर्शन में जीव को ही जीवन का मुख्यतम आधार माना गया है। जैनदर्शन में जीव तथा अजीव दोनों के अस्तित्व को स्वीकारा गया है और यह स्पष्ट कहा गया है कि न अजीव से जीव उत्पन्न होता है और न जीव से अजीव। जीव चैतन्यशक्ति से युक्त एक अभौतिक द्रव्य (Non Physical Substance) है, जबकि अजीव चैतन्यशक्ति से रहित एक भौतिक द्रव्य (Corporeal Substance) है। यह जीव यद्यपि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द आदि भौतिक विशेषताओं से विरहित है, फिर भी यह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग आदि अनन्त शक्तियों का पिण्ड है।[8] इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति है – ज्ञान–शक्ति अर्थात् जानने की शक्ति, जिसके बल पर जीव प्रतिक्षण स्व या पर वस्तुओं सम्बन्धी जानने, देखने, सोचने, समझने, विश्लेषण करने, संश्लेषण करने, स्मरण करने, अनुभव करने, कल्पना करने, निर्णय करने, धारणा करने आदि की क्रियाएँ करता रहता है। दर्शन–शक्ति एक अन्य महत्त्वपूर्ण शक्ति है, जिसके द्वारा जीव स्व या पर वस्तुओं से सम्बन्धित मान्यता या दृष्टिकोण बनाता है। चारित्र–शक्ति भी एक विशिष्ट शक्ति है, जिसके माध्यम से जीव स्व या पर के प्रति अपनी प्रतिक्रिया (आचरण) करता है। तप वह महत्त्वपूर्ण शक्ति है, जिसके बल पर जीव अपने कार्यों में विशेष प्रयत्न करता है। वीर्य–शक्ति भी एक अहम शक्ति है, जिसके द्वारा जीव विशेष उत्साहित होकर किसी भी कार्यविशेष को सम्पादित करने का प्रयत्न करता है। इन ज्ञानादि शक्तियों के अतिरिक्त भी आत्मा में सहज और शाश्वत् अनेकानेक शक्तियाँ होती हैं। अधिक क्या कहें, द्वादशानुप्रेक्षा में स्पष्ट कहा है कि यह जीव उत्तम गुणों का आश्रय है, समस्त द्रव्यों में उत्तम है और सब तत्त्वों में परम है।[9] जीवन–प्रबन्धन की दृष्टि से भी आत्मा ही जैन–जीवन–प्रबन्धन का मुख्य सूत्रधार है। यदि आत्मा और उसकी शक्तियों का सम्यक् दिशा में नियोजन किया जाए, तो ये जीवन–विकास की हेतु बन सकती हैं, अन्यथा ये ही अवरोधक भी बन जाती हैं। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का मुख्य लक्ष्य उन प्रबन्धकीय सूत्रों का निर्देश करना है, जिनके माध्यम से व्यक्ति अपनी आत्मिक–शक्तियों का सम्यक् दिशा में प्रयोग करता हुआ आत्मिक–पवित्रता में अभिवृद्धि करे, जो उसके जीवन–निर्वाह एवं जीवन–निर्माण सम्बन्धी कार्यों में सहयोगी बन सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन का दूसरा अंग है – शरीर। शरीर जीवन का वह आधार है, जिसके बिना किसी भी संसारी प्राणी का अस्तित्व नहीं होता। प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों परम्पराओं में शरीर के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। यह शरीर दिखने में सामान्य होता है, किन्तु इसकी संरचना अत्यन्त जटिल होती है। यदि व्यक्ति इसकी देख–रेख सम्यक्तया नहीं करता है, तो यह जीवन–विकास का साधक बनने के बजाय बाधक बन जाता है। सभी भारतीयदर्शनों विशेषतया जैनदर्शन में इसे एक यन्त्र के समान माना गया है और इस बात पर जोर दिया गया है कि व्यक्ति इसकी सम्यक् देख–रेख एवं सदुपयोग करे, तो बड़े से बड़े लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकता है। जिस प्रकार आत्मा की अपनी विशिष्ट शक्तियाँ होती हैं, उसी प्रकार शरीर की भी अपनी अद्भुत योग्यताएँ होती हैं, जैसे – मन, वाणी, इन्द्रिय, कार्य (कर्म) करने आदि से सम्बन्धित योग्यताएँ। यह शरीर अनेकानेक सूक्ष्म अवयवों का संगठित रूप है। आधुनिक आयुर्विज्ञान के अनुसार, इसके ग्यारह तन्त्र हैं – अस्थि–तन्त्र, मांसपेशीय–तन्त्र, त्वचा–तन्त्र, पाचन–तन्त्र, रक्त–परिसंचरण–तन्त्र, श्वसन–तन्त्र उत्सर्जन–तन्त्र, तंत्रिका–तन्त्र, अन्तःस्रावीग्रन्थि–तन्त्र, लसिका–तन्त्र एवं प्रजनन–तन्त्र।[10] इन तन्त्रों की स्वस्थता के लिए जैनदर्शन में आहार–प्रबन्धन, जल–प्रबन्धन, प्राणवायु–प्रबन्धन, श्रम–विश्राम–प्रबन्धन, निद्रा–प्रबन्धन, स्वच्छता–प्रबन्धन, शृंगार (साज–सज्जा)–प्रबन्धन, ब्रह्मचर्य–प्रबन्धन, मनोदैहिक–प्रबन्धन एवं अन्यकारक–प्रबन्धन से सम्बन्धित निर्देश दिए गए हैं। साथ ही, स्वस्थ शरीर का सम्यक् दिशा में प्रयोग किस प्रकार से किया जाए, इस हेतु मन, वाणी, इन्द्रिय आदि के सम्यक् प्रबन्धन (संचालन) की चर्चा भी की गई है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का उद्देश्य उन प्रबन्धकीय सूत्रों का निर्देशन करना है, जिनके माध्यम से आत्मा रूपी यन्त्री शरीर रूपी यन्त्र के साथ इस प्रकार समन्वयपूर्वक कार्य करे कि ये दोनों मिलकर जीवन को विकास के शिखर पर आरूढ़ कर सकें।

1.2.3 जीवन का लक्षण

भारतीय दर्शनों में प्रारम्भ से ही लक्षण शब्द का विशिष्ट प्रयोग मिलता है। इसमें अर्थ की गहनता और गम्भीरता दोनों ही विद्यमान है। जैनदर्शन में लक्षण शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'मिली हुई वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।'[11] अन्य प्रकार से यह भी कहा गया है कि पदार्थ के असाधारण धर्म (गुण) को लक्षण कहते हैं, जैसे – पुद्गल (जड़) पदार्थ में रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि।[12] न्यायविनिश्चय में और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्'** अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थ को लक्षित किया जाए, वही लक्षण है।[13] इससे स्पष्ट है कि लक्षण ही लक्ष्य का सम्यक् परिज्ञान कराता है और लक्षण में दोष होने पर पदार्थ का सम्यक् निर्धारण नहीं हो पाता। प्रस्तुत प्रसंग में जीवन के रहस्यों का अनावरण करने के लिए जीवन का लक्षण जानना होगा, जिससे जीवन–प्रबन्धन का पथ स्पष्ट हो सके।

जैनदर्शन में जीवन का लक्षण अर्थात् असाधारण धर्म 'प्राण' बताया गया है। राजप्रश्नीयसूत्र (सटीक) आदि अनेक ग्रन्थों में कहा गया है कि 'प्राणों को धारण करना ही जीवन है।'[14] गोम्मटसार में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा गया है कि 'यह जीव प्राणों के द्वारा ही जीवन–व्यवहार के योग्य होता है।'[15] वस्तुतः, प्राणी के द्वारा पूर्व में किए गए कर्मानुसार आत्मा और शरीर का न केवल संयोग–सम्बन्ध होता है, अपितु इनमें विशेष सक्रियता भी उत्पन्न होती है, जिसे प्राण–शक्ति कहा जाता है। इस प्राण–शक्ति के सद्भाव में जीवन का अस्तित्व बना रहता है और अभाव होने के साथ ही जीवन समाप्त हो जाता है। यह मानना कि शरीर है तो जीवन है, बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि मरने के बाद भी पार्थिव शरीर तो रहता है, किन्तु आत्मा एवं प्राण–शक्ति का अभाव होने से जीवन नहीं रहता। यद्यपि आधुनिक आयुर्विज्ञान (Medical Science) एवं भौतिक–जीवन–दृष्टि प्राण–शक्ति के अस्तित्व को नहीं मानती, फिर भी इसे नकारा नहीं जा सकता। वस्तुतः, प्राण सूक्ष्म तत्त्व है, जिसे यन्त्रों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह व्यक्ति की जीवनी–शक्ति है। सम्पूर्ण शरीर प्राणों से संचालित होता है। यहाँ तक कि मन, वाणी, श्वास आदि की क्रियाएँ भी प्राणों से ही नियंत्रित होती हैं।[16]

यह प्राण दो प्रकार का होता है – निश्चय–प्राण (भावप्राण) एवं व्यवहार–प्राण (द्रव्यप्राण)।[17] जीव की चैतन्यशक्ति निश्चय–प्राण कहलाती है और पाँच इन्द्रियाँ – मन, वचन, काया, आयु एवं श्वासोच्छ्वास व्यवहार–प्राण कहलाते हैं।[18] विशेषता यह है कि निश्चय–प्राण का सम्बन्ध आत्मा से है और व्यवहार–प्राण का शरीर से। गोम्मटसार में जीवन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यह जीव अंतरंग एवं बहिरंग अर्थात् निश्चय एवं व्यवहार दोनों प्राणों के बल पर जीवन जीता है।[19] वस्तुतः, ये दोनों प्राण ही जीवन के अस्तित्व के मापदण्ड हैं और इनके द्वारा ही जीवन की अभिव्यक्ति भी होती है। इन प्राण–शक्तियों का सम्यक् सम्प्रयोग जीवन–प्रबन्धन का मुख्य लक्ष्य है और जीवन की सफलता इन प्राण–शक्तियों के सर्वोत्तम सदुपयोग पर निर्भर करती है।

(1) निश्चय–प्राण – जैनदर्शन में जीव की चैतन्यशक्ति को निश्चय–प्राण कहा गया है। प्रवचनसार में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जीव में सहज रूप से प्रकट, सदैव बने रहने वाला और अनन्त ज्ञानशक्ति का हेतु, जो निश्चय जीवत्व है, वही निश्चय–प्राण है।[20] इस अपेक्षा से आत्मा का सहज, स्वाधीन एवं शाश्वत् स्वभाव ही निश्चय–प्राण है, जिसके बल पर जीव की ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि से सम्बन्धित विविध अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। चूँकि आत्मा की अनन्त शक्तियों में से दो प्रमुख शक्तियाँ ज्ञानशक्ति (विशेष जानने की शक्ति) और दर्शनशक्ति (सामान्य जानने की शक्ति) हैं, अतः गोम्मटसार में आत्मा की ज्ञान–दर्शनोपयोग रूप चेतना को निश्चय–प्राण कहा गया है।[21] पंचास्तिकाय में निश्चय–प्राण को विशेष महत्त्व देते हुए कहा गया है कि यह निश्चय–प्राण ही है, जो दसों प्रकार के व्यवहार–प्राणों में चेतनता का संचार करता है।[22] इससे स्पष्ट है कि निश्चय–प्राण के बिना व्यवहार–प्राण महत्त्वहीन (निष्क्रिय) हो जाते हैं। यद्यपि जैनदर्शन में निश्चय–प्राण को विशेष महत्त्व दिया गया है, फिर भी जीवन–प्रबन्धन किसी अपेक्षा से निश्चय और व्यवहार प्राण का सम्यक् सन्तुलित प्रवर्त्तन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) व्यवहार–प्राण – निश्चय–प्राण के समान व्यवहार–प्राण का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। यद्यपि यह सत्य है कि निश्चय–प्राण जीवन का अंतरंग (वास्तविक) आधार है और व्यवहार–प्राण जीवन का बाह्य (आरोपित) आधार है, फिर भी व्यवहार–प्राण के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। कारण यह है कि किसी जीवित प्राणी के मूर्त्त स्वरूप (शरीर) के माध्यम से ही अमूर्त्त स्वरूप (आत्मा) की अनुभूति तक पहुँचना सम्भव है। जीवन–प्रबन्धन के लिए भी समस्त व्यवहार प्राणों का अनुशासित प्रवर्त्तन अपेक्षित है, क्योंकि ये न केवल जीवन के लक्षण हैं, अपितु जीवन जीने के उपयोगी साधन भी हैं। ये व्यवहार–प्राण यद्यपि पौद्गलिक अर्थात् जड़ पदार्थ हैं, फिर भी इन्हें जीवन का लक्षण माना गया है, क्योंकि जीवन में चेतना की अभिव्यक्ति इन्हीं के माध्यम से देखी जाती है। पंचास्तिकाय में व्यवहार–प्राण का लक्षण इस प्रकार से वर्णित है – जो प्राण पुद्गलान्वित अर्थात् पुद्गल से रचित हैं, किन्तु जिनमें चेतना की धारा प्रवाहित है, वे व्यवहार–प्राण कहलाते हैं।[23] इसी प्रकार गोम्मटसार में भी कहा गया है कि पुद्गल द्रव्य से उत्पन्न जो इन्द्रियाँ आदि हैं, उनका चेतना के माध्यम से प्रवर्त्तन ही व्यवहार–प्राण है।[24] अन्यत्र भी व्यवहार–प्राण के सन्दर्भ में कहा गया है कि ये पुद्गल (जड़) की ही संरचना हैं और इसीलिए रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि शक्तियों से युक्त हैं।[25] यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक होगा कि व्यवहार–प्राण सामान्य जड़ पदार्थों से इस अर्थ में भिन्न है कि इनमें चेतना प्रवाहित होती है।

व्यवहार प्राणों के दस भेद हैं। गोम्मटसार में इनका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, एक श्वासोच्छ्वास और एक आयु – ये दस प्राण हैं।[26] इनका वर्णन इस प्रकार है –

(क) इन्द्रिय (Senses) – सांसारिक जीवों के लिए जानने का साधन 'इन्द्रिय' कहलाती है।[27] ये इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की होती हैं – स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र।[28] व्यक्ति इन इन्द्रियों के माध्यम से प्रतिसमय बाह्य जगत् की सूचनाएँ प्राप्त करता है और प्राप्त ज्ञान के आधार पर अपना जीवन–व्यवहार चलाता है। अधिकांश प्राणी इन इन्द्रियों का अनावश्यक कार्यों में उपयोग करते हैं और जीवन में अपेक्षित सफलता से वंचित रह जाते हैं, अतः इन्द्रियों का सम्यक् दिशा में सम्प्रयोग जीवन–प्रबन्धन का एक आवश्यक तत्त्व है और इसीलिए जीवन–प्रबन्धन इन्द्रिय–व्यापारों के सम्यक् दिशा में नियोजन की विधि भी बताता है।

(ख) बल (Power) – शरीर में शक्ति का उपचय (एकत्रित रूप) ही बल है।[29] वस्तुतः, बल, सामर्थ्य, पराक्रम अथवा स्थाम – ये सभी एकार्थवाची हैं।[30] यह तीन प्रकार का होता है – मनोबल, वचनबल और कायबल।[31] व्यक्ति मनोबल के माध्यम से गुण–दोषों का विचार, मनन एवं स्मरण आदि करने,[32] वचनबल के माध्यम से सूचनाओं और भावों को अभिव्यक्त करने तथा कायबल के माध्यम से आहार, विहार आदि विविध प्रकार के कार्यों को करने में समर्थ होता है। जीवन–प्रबन्धन में नियोजन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(Planning) से लेकर क्रियान्वयन (Implementation) तक प्रत्येक कार्य में इन तीनों बलों का अत्यधिक प्रयोग होता है और इसीलिए जीवन–प्रबन्धन इनके निषेधात्मक उपयोग को रोकने तथा सकारात्मक उपयोग को बढ़ाने का निर्देश करता है।

(ग) श्वासोच्छ्वास (Respiration) – प्राणवायु को अन्दर खींचना और बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहलाता है।[33] यह दो प्रकार का होता है – बाह्य एवं आभ्यन्तर। बाह्य श्वासोच्छ्वास वह होता है, जो घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है और स्पष्टतया अनुभव में आता है, जबकि आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास वह होता है, जो बाह्य प्राणवायु को ग्रहण करके उसे श्वासोच्छ्वास के रूप में सम्पूर्ण शरीर में संचरित करता है, इसे स्थूल रूप से महसूस नहीं किया जा सकता।[34] इन दोनों प्रकार के श्वासोच्छ्वास का जीवन में विशिष्ट महत्त्व है। आधुनिक आयुर्विज्ञान में श्वासोच्छ्वास के सन्दर्भ में कहा गया है कि यह रक्त–शोधन की प्रक्रिया के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर को सक्रिय रखता है। प्राचीन दर्शनों विशेषतया योगदर्शन में भी प्राणायाम आदि की प्रक्रिया को जो महत्त्व दिया गया है, वह भी श्वासोच्छ्वास के महत्त्व को इंगित करता है। जहाँ तक जैन जीवन–प्रबन्धन का प्रश्न है, इसमें भी श्वासोच्छ्वास की शुद्धता, नियमितता एवं सहजता को एक आवश्यक अंग माना गया है, क्योंकि इससे शारीरिक–स्वस्थता एवं मानसिक–स्थिरता की प्राप्ति होती है।

(घ) आयु (Life Time) – वह प्राण, जिसके सद्भाव से आत्मा एक शरीर में रहती है और जिसका अभाव हो जाने पर आत्मा एवं शरीर पृथक्–पृथक् हो जाते हैं, उसे आयु कहते हैं।[35] आयु के निमित्त से आत्मा पशु–पक्षी आदि अनेक प्रकार के जीवनरूपों को धारण करती है। आयु जीवन का आधार है और प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है। यह कब समाप्त हो जाए, यह अनिश्चितता ही जीवन–प्रबन्धन के लिए सजग होने की प्रेरणा देती है। उत्तराध्ययनसूत्र आदि में इसीलिए जीवन की क्षणभंगुरता को बारम्बार समझाकर नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करने का निर्देश दिया गया है। जीवन–प्रबन्धन का लक्ष्य भी यही है कि व्यक्ति अपनी आयु का सर्वोत्तम सदुपयोग करे।

इस प्रकार, निश्चय और व्यवहार प्राण प्राणीमात्र के जीवन के आधार हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति में प्राणों के महत्त्व को दर्शाते हुए कहा गया है कि एक समान उम्र, शक्ति तथा साधन वाले दो व्यक्तियों में परस्पर युद्ध होने पर एक हार जाता है और दूसरा जीत जाता है। इसका कारण यह है कि प्राण–शक्तिसम्पन्न (सवीर्य) व्यक्ति जीत जाता है और प्राण–शक्तिहीन (वीर्यहीन) हार जाता है। यहाँ प्राण–शक्ति (वीर्य) से अभिप्राय उस प्रचण्ड ऊर्जा–शक्ति से है, जो उत्साह, उमंग, साहस, पराक्रम, मनोबल या संकल्प बल के रूप में उभरती है।[36] अतः जीवन–प्रबन्धन के लिए प्राण–शक्ति का सम्यक् दिशा में नियोजन और प्रवर्त्तन अत्यावश्यक कार्य है। वस्तुतः, निश्चय और व्यवहार प्राणशक्तियों को उद्देश्यविहीन कार्यों से हटाने तथा सोद्देश्य कार्यों में प्रवर्त्तित करने से ही जीवन का सर्वोत्तम सदुपयोग हो सकता है और यही जीवन–प्रबन्धन का लक्ष्य है। सारांश यह है कि जीवन–प्रबन्धन प्राण–शक्तियों के सम्यक् नियोजन पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.2.4 जीवन के आयाम

जीवन–प्रबन्धन के लिए जीवन के विविध आयामों का सम्यक् परिज्ञान होना भी आवश्यक है, जो इस प्रकार हैं –

1) संसार में सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है और इसीलिए सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।[37]

सव्वे पाणा पिआउआ, जीविउ कामा, सव्वेसिं जीवियं पियं

2) जीवन और जगत् प्रतिसमय परिवर्त्तनशील हैं और बदलते हुए जीवन में प्रतिपल नई–नई अवस्थाएँ आती रहती हैं एवं पुरानी बीतती जाती हैं।[38]

उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य–युक्तं सत्

3) जीवन का जो समय बीत जाता है, वह पुनः लौटकर नहीं आता, अतः वर्त्तमान समय का सम्यक् प्रबन्धन करके ही जीवन को सफल बनाया जा सकता है।[39]

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिणियत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइयो।।

4) जीवन के मुख्यतया पाँच पड़ाव हैं – जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्यु।[40] इन सभी अवस्थाओं में जीवन का सम्यक् प्रबन्धन करना आवश्यक है, क्योंकि जीवन निरन्तर मृत्यु की ओर बढ़ता जाता है।[41]

उवणिज्जइ जीवियमप्पमायं

5) जीवन क्षणभंगुर है और मृत्यु अवश्यंभावी है। कई प्राणी जन्म लेते ही, कई बाल्यावस्था में और कई युवावस्था में काल के गाल में समा जाते हैं तथा बुढ़ापा तो मृत्यु का द्वार या द्वारपाल ही है।[42] अतः कल का भरोसा किए बिना वर्त्तमान जीवन का सम्यक् प्रबन्धन कर लेना चाहिए, अन्यथा यह मेरे पास है और यह मेरे पास नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है – ऐसा विचार करते–करते ही कालरूपी चोर प्राणों का हरण कर लेता है।[43]

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए।।

6) जीवन में चार 'स' अल्प या अधिक मात्रा में सभी को प्राप्त होते हैं – समय, समझ, सामर्थ्य एवं सामग्री। फिर भी, जीवन का सम्यक् प्रबन्धन न होने से जीवन यूँ ही बीत जाता है। बचपन में समझ, जवानी में समय, बुढ़ापे में सामर्थ्य एवं मृत्यु के समय सामग्री का अभाव होना, इसका प्रमुख कारण है। अतः उचित वय में उचित कार्य कर लेना चाहिए, यही जीवन–प्रबन्धन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा गया है – जब तक बुढ़ापा नहीं आता और इन्द्रियाँ अशक्त नहीं होती, तब तक धर्म का अच्छी तरह आचरण कर लेना चाहिए।[44]

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जीविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे।।

7) जीवन के दो रूप बताए गए हैं – संयमित–जीवन और असंयमित–जीवन।[45] इनमें से संयमित–जीवन ही श्रेयस्कर है, क्योंकि इसमें जीवन–निर्वाह के साथ जीवन–निर्माण के लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न भी किया जाता है। यह वस्तुतः अनावश्यक कार्यों को छोड़कर आवश्यक कार्यों को महत्त्व देने वाला जीवन है। इन दोनों प्रकार के जीवन को ही हम क्रमशः प्रबन्धित और अप्रबन्धित जीवन भी कह सकते हैं।

जीवितं दुविहं – संजमजीवियं, असंजमजीवियं च

8) जीवन में संयोग और वियोग का सिलसिला लगा ही रहता है। इसमें कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल परिस्थितियाँ मिलती रहती हैं। इनमें कैसे जीना चाहिए, यह एक कला है। जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य इसी कला का शिक्षण–प्रशिक्षण प्रदान करना है। इसके अनुसार, व्यक्ति को जीवन–मरण, लाभ–हानि, संयोग–वियोग, बन्धु–शत्रु और सुख–दुःख की परिस्थितियों में राग–द्वेष से रहित होकर सम परिणाम रखना चाहिए, जिसे सामायिक कहते हैं।[46]

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदा–पसंसासु, तहा माणावमाणओ।।

9) जीवन में सभी को सुख अच्छा लगता है और दुःख बुरा – **'सुहसाया दुक्खपडिकूला'**।[47] अतः हमें यह मानना चाहिए कि जैसे हमें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है।[48] जीवन–प्रबन्धन की नीति भी यही है कि हम किसी को दुःखी न करें और कोई कुछ भी करे, हम दुःखी न हों। इसे ही **'जिओ और जीने दो' (Live & Let Live)** की नीति भी कहते हैं।

10) जीवन का पूर्वार्ध वृद्धिमय होता है, जबकि उत्तरार्ध ह्रासमय होता है। इस आधार पर जैनाचार्यों ने जीवन को सौ वर्ष का मानकर दस–दस वर्ष के दस विभाग किए हैं[49]–

1) बाला 2) क्रीड़ा 3) मन्दा 4) बला 5) प्रज्ञा
6) हायनी 7) प्रपंचा 8) प्राग्धारा 9) मृन्मुखी 10) शायनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनमें से किसी भी अवस्था की उपेक्षा न करते हुए सभी अवस्थाओं में जीवन को सकारात्मक दिशा प्रदान करना जीवन के सम्यक् प्रबन्धन के लिए एक आवश्यक कर्त्तव्य है (विस्तृत विवरण के लिए देखें, अध्याय – 5.1.1)।

11) जीवन में बहिरंग परिवेश भी मिलता है और अंतरंग परिवेश भी। बहिरंग परिवेश का सम्बन्ध आसपास के मानवीय एवं गैर–मानवीय पदार्थों से है, जबकि अंतरंग परिवेश का सम्बन्ध आत्मिक एवं शारीरिक पक्षों से है। जीवन–प्रबन्धन का मूल नियन्त्रक अंतरंग परिवेश और उसमें भी आत्मिक–पक्ष है। इसीलिए जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया का अन्तिम उद्देश्य आत्मिक–पक्ष को परिष्कृत करना है। इसमें अनेकानेक निषेधात्मक तत्त्व हैं, जिनका परिहार करना होता है, जैसे – मिथ्यात्व, अज्ञान, संज्ञाएँ (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह), राग–द्वेष, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) एवं इच्छाएँ आदि। इसी प्रकार, इसमें अनेकानेक सकारात्मक तत्त्व योग्यतारूप में विद्यमान हैं, जिनका प्रकटीकरण करना होता है, जैसे – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, समत्वयोग इत्यादि (विस्तृत विवरण के लिए देखें, अध्याय – 13)।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि जीवन के अनेकानेक आयाम होते हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर जीवन जीना होता है। यही जीवन–प्रबन्धन की सम्यक् दिशा भी है।

1.2.5 जीवन के विविध रूप एवं मानव–जीवन में प्रबन्धन की योग्यता

जो प्राण धारण करता है, उसे प्राणी कहते हैं,[50] लेकिन प्राणियों के भी अनेक रूप होते हैं। इन रूपों में परस्पर भिन्नता होती है। कोई रूप निम्न, तो कोई उच्च श्रेणी का होता है। इनमें से कौन–सा जीवन ऐसा है, जिसमें जीवन–प्रबन्धन की सर्वश्रेष्ठ योग्यताएँ होती हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

जैनदर्शन में जीवन का वर्गीकरण करते हुए जीवन के वैविध्य को अनेक दृष्टिकोणों से दर्शाया गया है और इस बात को सिद्ध किया गया है कि मनुष्य जीवन एक श्रेष्ठ जीवन रूप है, जिसमें जीवन–प्रबन्धन की असीम योग्यताएँ निहित हैं। इनमें से प्रमुख वर्गीकरण इस प्रकार हैं –

(1) संसारी एवं मुक्त के आधार पर

जीवन का वर्गीकरण करते हुए सर्वप्रथम संसारी और मुक्त – इन दो रूपों में जीवन का विभाजन किया गया है।[51] वह जीवन, जो भव–संसरण अर्थात् परिभ्रमण से निवृत्ति रूप है, मुक्त–जीवन कहलाता है[52] और वह जीवन, जिसमें जन्म–मरण रूप परिभ्रमण जारी रहता है, संसारी–जीवन कहलाता है।[53] जीवन–प्रबन्धन की अपेक्षा से मुक्त–जीवन, जीवन के सम्पूर्ण विकास का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण (Model) है, क्योंकि इस अवस्था को प्राप्त जीव कर्ममल से मुक्त होकर अनन्त अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करते हैं। संसारी जीवन जीने वाले सभी प्राणियों को किसी न किसी रूप में जीवन–प्रबन्धन की आवश्यकता होती है, परन्तु इनमें भी मनुष्य ही जीवन–प्रबन्धन का सुयोग्य अधिकारी होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) गति के आधार पर

पुनः जैनाचार्यों ने 'गति' के आधार पर संसारी जीवन के चार भेद किए हैं – नारक, तिर्यंच, देव एवं मनुष्य।[54] इनमें से नरकों में जन्म लेने वाले जीव नारक कहलाते हैं,[55] जो हिंसादि असत्कार्यों में निरत रहते हैं[56] तथा जीवनपर्यन्त दैविक, शारीरिक, मानसिक, क्षेत्रीय एवं परस्पर–उत्पन्न दुःखों का अनुभव करते रहते हैं।[57] दूसरे तिर्यंच होते हैं, जो वनस्पति आदि एकेन्द्रिय, कीट–पतंग आदि विकलेन्द्रिय और जलचर, थलचर, नभचर आदि पंचेन्द्रिय के भेद से अनेक प्रकार के होते हैं।[58] धवला में कहा गया है कि जो मन–वचन–काया की कुटिलता को प्राप्त हैं, जिनकी आहार आदि संज्ञाएँ सुव्यक्त हैं, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनमें पाशविक प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे तिर्यंच कहलाते हैं।[59] इन्हें जीवनपर्यन्त ताड़ना, तर्जना, छेदन, भेदन, बन्धन, रोग, शोक, भूख, प्यास, बोझ, वेदना आदि दुःखों का सामना करना पड़ता है।[60] तीसरे देव होते हैं, जो नाना प्रकार की बाह्य विभूतियों से युक्त होते हैं, और द्वीप–समुद्र आदि स्थानों पर जाकर इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं।[61] इस जीवन में अपार ऐश्वर्य, विशिष्ट ऋद्धि, देवांगना आदि भोग–सामग्री, अतुलनीय शरीर, समृद्ध ज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, फिर भी प्रायः जीवन कभी भोगविलासिता में लीन होकर और कभी विषय–तृष्णा के मानसिक दुःखों से पीड़ित होकर यूँ ही बीत जाता है।[62] जैनाचार्यों के अनुसार, इन तीनों जीवनरूपों में जीवन–प्रबन्धन की सम्भावनाएँ अत्यल्प हैं, क्योंकि इनका जीवन मूल–प्रवृत्तियों (Basic Instincts/संज्ञा) से संचालित होता है और इनके स्वभाव में परिवर्त्तन आना असम्भव प्रायः होता है। चौथे मनुष्य होते हैं, जो मन के द्वारा उचित–अनुचित विचार या मनन करते हैं, कला, शिल्प आदि में कुशल होते हैं, मन के कारण उत्कृष्ट कहलाते हैं और मनु की सन्तान होते हैं।[63] ये मनुष्य जन्म के आधार पर दो प्रकार के होते हैं – सम्मूर्च्छिमज (Asexual) एवं गर्भज (Sexual)। जो मनुष्य गर्भ में उत्पन्न न होकर विष्टा, मूत्र, कफ, वमन, नासिका–मल, मृत देह, स्त्री–पुरूष सम्भोग, पित्त, मवाद, खून, वीर्य, सूखकर पुनः गीले हुए वीर्य, गटर एवं अन्य सब अशुचि स्थान – इन चौदह प्रकार के स्थानों में उत्पन्न होते हैं, वे सम्मूर्च्छिमज कहलाते हैं। ये मनरहित और अविकसित रहकर अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में मर जाते हैं।[64] दूसरे, गर्भ में उत्पन्न होने वाले मनुष्य गर्भज कहलाते हैं।[65] ये नियमतः मनसहित ही होते हैं।[66] जीवन–प्रबन्धन की दृष्टि से देखें, तो एकमात्र गर्भज मनुष्य ही जीवन के विकास के लिए चिन्तन–मनन करते हुए सम्यक् उद्देश्य का निर्धारण कर सकते हैं और अपने सामर्थ्य का सम्यक् प्रयोग कर निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति भी कर सकते हैं।

(3) स्थावर एवं त्रस के आधार पर

जैनाचार्यों ने गमनागमन की योग्यता के आधार पर भी संसारी जीवन के दो भेद किए हैं – स्थावर एवं त्रस।[67] वह जीवन, जिसमें जीने वाले प्राणी समझपूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान तक गमनागमन करने में असमर्थ होते हैं, स्थावर कहलाता है। इसमें मूलतः तिर्यंच और उसमें भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पतिकायिक जीवन का समावेश होता है। इससे विपरीत वह जीवन, जिसमें जीने वाले प्राणी समझपूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान तक गमनागमन करने में समर्थ होते हैं, त्रस कहलाता है।[68] पूर्वोक्त पृथ्वीकायिकादि को छोड़कर शेष समस्त नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव त्रस ही होते हैं। चेतना का विकास अत्यल्प होने से स्थावर जीवन में जीवन–प्रबन्धन की योग्यता बिल्कुल नहीं होती और त्रस जीवों में भी मुख्यतया मनुष्य में ही होती है।

(4) इंद्रिय के आधार पर

जैनाचार्यों ने इन्द्रियों की प्राप्ति के आधार पर भी जीवन के पाँच भेद किए हैं – एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय। जिस जीवन में एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय प्राप्त होती है, वह एकेन्द्रिय कहलाता है, जैसे – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। जिसमें स्पर्शन और रसन – ये दो इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं, वह बेइन्द्रिय कहलाता है, जैसे – कृमि, सीप, शंख, गण्डोला, अरिष्ट, चन्दनक, शम्बुक आदि।[69] जिसमें स्पर्शन, रसन और घ्राण – ये तीन इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं, वह तेइन्द्रिय कहलाता है, जैसे – जूँ, लीख, खटमल, चींटी, इंद्रगोप, दीमक, झींगर, इल्ली आदि।[70] जिसमें स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु – ये चार इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं, वह चउरिन्द्रिय कहलाता है, जैसे – मकड़ी, पतंगा, डांस, भँवरा, मधुमक्खी, गोमक्खी, टिड्डी, ततैया आदि[71] और जिसमें स्पर्शनादि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं, वह पंचेन्द्रिय कहलाता है, जैसे – हाथी, बैल, बकरी, मनुष्य आदि।

पूर्वोक्त नारक, मनुष्य और देव नियम से पंचेन्द्रिय होते हैं, जबकि तिर्यंच एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी प्रकार के होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवन के भी दो प्रकार होते हैं – संज्ञी (मनसहित) और असंज्ञी (मनरहित)।[72] जहाँ तक जीवन–प्रबन्धन का प्रश्न है, इसकी योग्यता केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में ही होती है, शेष में नहीं, क्योंकि जीवन–प्रबन्धन के लिए ज्ञान का विकास अपेक्षित है और ज्ञान के विकास का सम्बन्ध इन्द्रियों एवं मन के विकास से है।

इस प्रकार, जैनदर्शन में जीवों के विविध रूपों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है, जो इस बात को सूचित करता है कि जीवन के तो अनेक रूप हैं, किन्तु इनमें मनुष्य जीवन सर्वश्रेष्ठ जीवन है।

आगे, विज्ञान तथा दर्शन और विशेष रूप से जैनदर्शन के आधार पर मनुष्य जीवन की योग्यताओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिसके कारण मनुष्य जीवन को सर्वश्रेष्ठ जीवन माना जाता है।

(1) आत्मिक पवित्रता – यह मनुष्य की अंतरंग श्रेष्ठता है। भले ही नारक और तिर्यंच गतियों के प्राणी किसी दृष्टि से मनुष्य के समकक्ष हो सकते हैं, फिर भी उनमें कहीं न कहीं संक्लेश परिणामों का आधिक्य होता है, जबकि मनुष्य में सामान्यतया मन्दपरिणामों की प्रधानता होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) पुण्य कर्म का विशिष्ट उदय – यह मनुष्य की कर्म–आधारित योग्यता है। नारक और तिर्यंच गतियों के प्राणी पापकर्मों के तीव्र उदय से पीड़ित होते हैं और इसीलिए जीवन–प्रबन्धन का विचार करना भी उनके लिए अत्यन्त कठिन है, किन्तु सामान्यतया मनुष्य का इतना पुण्य का उदय तो होता ही है कि वह जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया को जीवन में उतार सके।

(3) पर्याप्तियाँ – जीव उत्पत्ति–स्थान पर पहुँचकर अन्तर्मुहूर्त्त में जिन पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है, उनसे आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन की संरचना होती है और पुद्गल को आहारादि रूप में परिणत करने की इस शक्ति को ही पर्याप्ति कहते हैं।[73] मनुष्य की यह विशेषता है कि वह आहारादि छहों प्रकार की पर्याप्तियों को प्राप्त करने में समर्थ होता है। वस्तुतः, इन पर्याप्तियों का मिलना ही उसके जीवन–प्रबन्धन की योग्यता का प्राथमिक आधार है।

(4) इन्द्रियाँ – मनुष्य में पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं, जिनसे वह जीवन–निर्वाह एवं आत्म–कल्याण हेतु उपयोगी ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। यह ऐन्द्रिक योग्यता कितने ही तिर्यंचों में नहीं पाई जाती।

(5) मन – मनुष्य में विकसित मन होता है, जिससे वह चिन्तन, मनन, निर्णय, विचार एवं कल्पना आदि करने में समर्थ होता है। वह सभी प्रकार से अपने विकास के बारे में सोच सकता है। यह विकसित मन की योग्यता भी तिर्यंचों में नहीं पाई जाती।

(6) वाणी – मनुष्य में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने की भाषिक–शक्ति होती है, जिससे वह अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दोनों प्रकार की भाषाओं का उपयोग करने में सक्षम होता है। उसके पास अनेक भाषाएँ एवं बोलियाँ हैं तथा इनका प्रयोग करने के लिए समृद्ध शब्दकोश भी है। तिर्यंच गति के पशु–पक्षी आदि में इस शक्ति का विकास नहींवत् होता है।

(7) कर्मेन्द्रियाँ – मनुष्य में कार्य करने की विशिष्ट योग्यताएँ होती हैं। वह हाथ–पैर के माध्यम से रखना, उठाना, फेंकना, गिराना, चलना, रूकना, खाना, पीना आदि विविध कार्यों को आसानी से करने में समर्थ होता है।

(8) दैहिक संरचना – मनुष्य के पास एक अत्यन्त जटिल (Complex), किन्तु अतिविकसित दैहिक संरचना है। आधुनिक आयुर्विज्ञान के अनुसार, मनुष्य एक बहुकोशिकीय संरचना (Multicellular Structure) वाला प्राणी है, जो संसार के समस्त जीवों में सबसे अधिक विकसित है। डार्विन की विकासवादी मान्यता भी यह मानती है कि अमीबा से जीवन का विकास प्रारम्भ हुआ और विभिन्न चरणों से गुजरकर मनुष्य के रूप में सर्वाधिक विकसित अवस्था को प्राप्त हुआ।[74] मनुष्य की दैहिक संरचना का विस्तृत विवरण हमें तंदूलवैचारिक ग्रन्थ में मिलता है।

(9) दीर्घायु – मनुष्य के पास सामान्यतया इतनी जीवनावधि होती है कि वह अपना जीवन–प्रबन्धन सहजता से कर सके। यह योग्यता अधिकांश तिर्यंच प्राणियों में नहीं होती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(10) माता–पिता एवं परिजन – मनुष्य के पास एक सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था के रूप में परिवार संस्था (Family Institution) है, जो पशु–पक्षियों के पास नहीं है। मनुष्य को जन्म के साथ ही माता–पिता, भाई–बहन, दादा–दादी, नाना–नानी, चाचा–चाची, मामा–मामी आदि का आश्रय, प्रेम, सहयोग, सुरक्षा एवं सेवा की प्राप्ति हो जाती है। इससे जीवन के विविध आयामों के विकास की प्रेरणा बार–बार मिलती है। स्थानांगसूत्र में इसीलिए कहा गया है कि माता–पिता आदि के उपकारों का बदला नहीं चुकाया जा सकता।[75]

(11) सामाजिक संगठन – मनुष्य के पास अड़ोसी–पड़ोसी, मित्र, कुटुम्बी, नौकर–चाकर, सरकार, प्रशासन, चिकित्सक, अधिवक्ता, अभियन्ता, व्यापारी आदि अनेक सहयोगी होते हैं, जिनके अनुभव, ज्ञान, विचार, सलाह आदि उसे प्राप्त होते रहते हैं। इनका भी जीवन–प्रबन्धन हेतु विशिष्ट लाभ समय–समय पर मिलता रहता है।

(12) आजीविका के साधन – मनुष्य के पास सामान्यतया जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन–सम्पत्ति आदि की व्यवस्था होती है, जिससे वह निश्चिन्त होकर जीवन–प्रबन्धन का प्रयास कर सके।

(13) नैतिकता के साधन – मनुष्य के पास परमात्मा या उनकी प्रतिमा, गुरू एवं शास्त्र उपलब्ध होते हैं, जिनका उपयोग करके वह नैतिक–मूल्यों का विकास कर सके। यह योग्यता सुलभता से नारक, तिर्यंच और देव को नहीं मिलती।

(14) आध्यात्मिक–विकास के साधन – मनुष्य के पास अंतरंग में मति एवं श्रुत ज्ञान की योग्यता होती है, जिनका सम्यक् उपयोग करके वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य आदि की सम्यक् साधना कर मोक्ष या मुक्त अवस्था की प्राप्ति कर सकता है, जो जीवन–प्रबन्धन का परम साध्य है। यह योग्यता मनुष्य को छोड़कर अन्य किसी प्राणी में नहीं होती।

(15) परिवर्त्तन–क्षमता – मनुष्य के पास अपनी प्रकृति (आदत/संस्कार) को परिवर्त्तित करने की अद्भुत योग्यता है। पाश्चात्य मानवतावादी विचारकों ने मनुष्य में तीन विशिष्ट योग्यताएँ बताई हैं – विवेकशक्ति (Rationality), सजगता (Awareness) तथा संयम (Self control or Temperence),[76] जो इस बात को द्योतित करती हैं कि मनुष्य स्वयं को बदलने की पूरी क्षमता रखता है।

उपर्युक्त बिन्दुओं से यह स्पष्ट है कि मनुष्य–जीवन में प्रचुर योग्यताएँ विद्यमान हैं। यदि इनका सकारात्मक प्रयोग किया जाए, तो मनुष्य–जीवन विकास का साधन बन सकता है और यदि नकारात्मक प्रयोग किया जाए, तो विनाश का भी। इसमें रहकर एक ओर मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है, तो दूसरी ओर नरक की भी। जीवन–प्रबन्धन का सम्यक् प्रयोग कर मनुष्य क्षमा, शान्ति, समता, सहिष्णुता, सरलता आदि सद्गुणों का चरम विकास कर सकता है। जैन–पुराणों में अर्जुनमाली,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दृढ़प्रहारी, चिलातीपुत्र, इलायचीकुमार आदि अनेक दृष्टान्त हैं, जो इस बात की पुष्टि करते हैं।

सार रूप में, यह कहा जा सकता है कि मानव–जीवन में ही प्रबन्धन की सर्वश्रेष्ठ योग्यताएँ विद्यमान हैं और इसीलिए प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का सुयोग्य पात्र भी मनुष्य ही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.3 जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में जीवन की विविध शैलियाँ

1.3.1 जीवनशैली का अर्थ एवं अवधारणा

जीवनशैली का शाब्दिक अर्थ है – जीने की शैली (The way of living)। संस्कृत भाषा में 'शैली' शब्द की उत्पत्ति 'शील' शब्द में 'ष्यञ्' और 'ङीप्' प्रत्यय जुड़ने और यकार का लोप होने से हुई है, जिसका अर्थ है – प्रकृति, स्वभाव, चरित्र, आदत, व्यवहार, काम करने का ढंग इत्यादि।[77] इस प्रकार, जीवनशैली को जीवन–व्यवहार, जीवन–आदत, जीवन–स्वभाव, जीवन–आचरण अथवा जीवन–ढंग भी कहा जा सकता है।

'जीवनशैली' (Lifestyle) एक प्रचलित शब्द है, जिसका प्रयोग अपने–अपने अभिप्राय से सभी करते हैं, जैसे – कोई सिर्फ पहनावे के तरीके को, कोई खान–पान सम्बन्धी आदतों को, कोई घर की सजावट को, तो कोई बोलने–सुनने की कला को ही जीवनशैली का मापदण्ड मानता है, लेकिन यह उचित नहीं है। जीवनशैली का सम्बन्ध किसी एक व्यवहार से नहीं, अपितु जीवन के समस्त व्यवहारों से है। वस्तुतः, इस बदलते हुए परिवेश में जीवनशैली के अन्तर्गत हमारा रहन–सहन, खान–पान, पहनना–ओढ़ना, सजना–धजना, बोलना–सुनना, सोचना–विचारना, श्रम–विश्राम आदि से सम्बन्धित सम्पूर्ण गतिविधियाँ शामिल हो जाती हैं। इसमें हमारे जीवन के धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप बहिरंग और अंतरंग दोनों ही पक्षों का समावेश हो जाता है। आशय यही है कि जीवनशैली हमारे जीवन जीने का तरीका है और यह जीवन की समग्र एवं वास्तविक तस्वीर है।

भले ही जीवन की प्राप्ति और उसकी समयावधि हमारे हाथ में नहीं है, लेकिन जीवनशैली पर हमारा पूरा अधिकार है। हम जीवनशैली को सुधार भी सकते हैं और बिगाड़ भी। यह हमारी रुचि और अभ्यास पर निर्भर करता है कि हम अपनी जीवनशैली को कौन–सी दिशा प्रदान करें? एरिस्टोटल ने कहा भी है – हम जैसा बारम्बार करते हैं, वैसा ही बन जाते हैं (We are, what we repeatedly do)।[78]

जैनआचारशास्त्रों में जीवनशैली को सम्यक् दिशा में नियोजित और प्रवर्त्तित करने के लिए सम्यक् मार्गदर्शन दिया गया है, जिसके आधार पर हम अपनी जीवनशैली का सम्यक् विकास कर सकते हैं, यही जीवन–प्रबन्धन का मूल उद्देश्य है।

1.3.2 जीवन की विविध शैलियाँ

जीवन–प्रबन्धन का लक्ष्य है – मानवीय–विकास। मानव में ही विकास की असीम सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। मानवीय–जीवन संसार की एक सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसका अर्थ सिर्फ जन्म और मृत्यु के बीच की विवशता नहीं है, यह जीवन तो सम्यक् उत्थान, उन्नति और उत्कर्ष की प्राप्ति का अमूल्य अवसर है। इसमें जहाँ शारीरिक क्षमताओं के विकास की सम्भावनाएँ हैं, वहीं आत्मिक–शक्तियों के विकास की भी। यह अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि मानव में अन्य समस्त प्राणियों की तुलना में अपनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्ट योग्यताओं को बढ़ाने की सर्वाधिक शक्यता है। आवश्यकता इस बात की है कि वह इन विशिष्टताओं का सम्यक् प्रबन्धन करे और यही जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य भी है।

जहाँ सामर्थ्य और स्वतन्त्रता अधिक होती है, वहाँ जीवन जीने के तरीकों में विविधताएँ भी अधिक होती हैं। यही कारण है कि पशुओं की तुलना में मनुष्यों की जीवनशैली में अत्यधिक वैविध्य दिखता है। अक्षमता और परतन्त्रता की विवशता से पशु–जाति के प्राणियों की संख्या अधिक होने पर भी जीवन–व्यवहार में प्रायः साम्य होता है, जबकि संख्या अपेक्षाकृत अल्प होते हुए भी प्रत्येक मानव की जीवनशैली अपने आप में अनन्य, अनोखी, अनूठी, विलक्षण और अद्वितीय होती है। कहा जा सकता है – Lifestyle of every individual is unique.

जीवन–प्रबन्धन को समझने के लिए जीवन जीने की इन विविध शैलियों को जानना भी आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति की जीवनशैलियों के विविध रूपों से यह ज्ञात होता है कि प्राप्त योग्यताओं का प्रयोग किन–किन प्रकारों से किया जा रहा है तथा इनमें से कौन–सा प्रयोग सही हैं एवं कौन–सा नहीं? अपनी शक्ति का सही उपयोग करना ही जीवन–प्रबन्धन है। वस्तुतः, यह महसूस करना होगा कि जीवन कोई यन्त्र नहीं है, जिसके विविध अवयव प्रतिक्षण एक जैसा कार्य कर रहे हों। जीवन की महत्त्वपूर्ण विशेषता है – उसके संवेदनात्मक और भावात्मक पक्ष, जो हर समय यह निर्देश देते रहते हैं कि हमें जीवन कैसे जीना है। इन निर्देशों अर्थात् अन्तरात्मा की आवाज में प्रतिसमय परिवर्त्तन आने से जीवन–व्यवहार भी सतत बदलता रहता है। यह कभी सकारात्मक हो जाता है और कभी नकारात्मक। अतः प्रस्तुत प्रकरण में हमें जीवन की विविध शैलियों और उनके औचित्य–अनौचित्य का चिन्तन करना है, जिससे हम सम्यक् जीवनशैली को समझ सकें, स्वीकार सकें और उनका अनुकरण कर जीवन का सम्यक् प्रबन्धन कर सकें।

व्यक्ति के समक्ष जीवन–लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के उपाय सम्बन्धी अनेकानेक विकल्प होते हैं। वह अपनी आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं के आधार पर इनका चयन एवं प्रयोग करता है। चूँकि आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं में विविधताएँ होती हैं, इसीलिए हमें नानाविध जीवनशैलियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। जीवन–प्रबन्धन के लिए मुख्य शैलियों को जानना आवश्यक है, जो मेरी दृष्टि में, इस प्रकार हैं –

(1) आध्यात्मिक और भौतिक – आत्म–शुद्धि और आत्म–शान्ति पर केन्द्रित जीवनशैली आध्यात्मिक कही जाती है, जबकि अनात्म या जड़ पदार्थों पर केन्द्रित जीवनशैली भौतिक कही जाती है।

जैनदर्शन के अनुसार, भौतिक प्रगति से हमें केवल सुविधा और सम्पन्नता मिल सकती है, लेकिन शान्ति, सन्तुष्टि, आनन्द और पवित्रता की प्राप्ति तो आध्यात्मिक जीवनशैली से ही सम्भव है। यह निश्चित है कि आध्यात्मिक जीवनशैली को अपनाए बिना जीवन–प्रबन्धन का स्वप्न कभी साकार नहीं हो सकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) अर्थपरक, कामपरक, धर्मपरक, और मोक्षपरक – व्यक्ति की जीवनशैली में भिन्न–भिन्न पुरूषार्थों की प्रधानता होती है। ये पुरूषार्थ चार होते हैं – अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष।[79] अर्थपरक जीवनशैली में धन, सम्पत्ति आदि का संग्रह करने के प्रयासों की मुख्यता होती है, तो कामपरक जीवनशैली में संचित धन, सम्पत्ति आदि के भोगोपभोग के प्रयत्नों की प्रधानता होती है, धर्मपरक जीवनशैली में असदाचार, अशुभाचार एवं पापकार्यों से निवृत्ति तथा सदाचार, शुभाचार एवं पुण्यकार्यों में प्रवृत्ति के पुरूषार्थ की प्रबलता होती है, तो मोक्षपरक जीवनशैली में पर से स्व, विभाव से स्वभाव, दुःखी अवस्था से सुखी अवस्था और अस्थिरदशा से स्थिरदशा की प्राप्ति के सम्यक् प्रयत्न की प्रमुखता होती है।

जैनदर्शन के अनुसार, मोक्षपरक जीवनशैली ही परम–कर्त्तव्य और परम–लक्ष्य है।[80] अर्थपरक और कामपरक जीवनशैलियाँ किसी विशिष्ट अपेक्षा से निरर्थक, निःसार, संसार–परिभ्रमण को बढ़ाने वाली और आत्मिक–अशान्ति का कारण होने से त्याज्य हैं। धर्मपरक जीवनशैली सेतु के समान है, जो अर्थ और काम के पुरूषार्थों पर उचित नियन्त्रण करके आत्मा की पात्रता का विकास करती है और मोक्ष के पुरूषार्थ के लिए सम्यक् साधन बनती है।

(3) प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक – जिसमें मन, वचन और काया की वृत्तियों की प्रधानता होती है, वह प्रवृत्तिपरक और जिसमें इनके संयम (निरोध) की प्रधानता होती है, वह निवृत्तिपरक जीवनशैली कहलाती है।[81]

जैनदर्शन मुख्यतया निवृत्तिपरक विचारधारा है। इसकी मान्यता है कि निवृत्तिपरक जीवनशैली के माध्यम से ही संसार एवं सर्व दुःखों से मुक्ति पाकर आत्मा एवं आत्मानन्द की प्राप्ति की जा सकती है। फिर भी, इसके आचार–ग्रन्थों में क्रमिक निवृत्ति का निर्देश दिया गया है और साथ ही यह भी कहा गया है कि जब तक यथायोग्य निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक प्रवृत्तियों में सात्विकता, शुभ्रता एवं पवित्रता का अभ्यास करना चाहिए। जीवन–प्रबन्धन वस्तुतः, निवृत्तिपरक जीवनशैली को अनुक्रम से अपनाने की एक प्रक्रिया है।

(4) वैयक्तिक और सामाजिक – जीवन–लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए जिसमें व्यक्तिगत हितों के प्रयासों की प्रधानता होती है, वह वैयक्तिक और जिसमें सामूहिक हितों के प्रयासों की मुख्यता होती है, वह सामाजिक जीवनशैली होती है।

जैनदर्शन में वैयक्तिक और सामाजिक जीवनशैली के प्रति समन्वयात्मक दृष्टिकोण रहा है। इसका मानना है कि व्यक्ति को देश, काल एवं परिस्थिति में आवश्यकता और औचित्य का विचार करके दोनों जीवनशैलियों को अपनाना चाहिए। इन दोनों शैलियों में इस प्रकार सामंजस्य स्थापित करना चाहिए कि वैयक्तिक हित तो हो, लेकिन सामाजिक अहित न हो। हमारे व्यावहारिक जीवन का निर्वहन नैतिक मानदण्डों पर आधारित हो। वस्तुतः, यह समन्वित जीवनशैली ही जीवन का समुचित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विकास करने में सक्षम है और जीवन–प्रबन्धन के लिए आवश्यक है।

(5) स्वाश्रित और पराश्रित – जीवन जीने का वह तरीका, जिसमें व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए स्वयं पर आश्रित होता है, वह स्वाश्रित और जिसमें अन्यों, जैसे – परिजन, पड़ोसी, मित्र आदि पर आश्रित होता है, वह पराश्रित जीवनशैली होती है।

जैनदर्शन स्वाश्रित जीवनशैली का पक्षधर है, लेकिन इसमें यह भी निर्देश है कि यदि व्यक्ति अपरिपक्व, असंयमित एवं अज्ञ है, तो उसकी स्वाश्रित जीवनशैली कभी भी स्वच्छन्द जीवनशैली में परिवर्त्तित हो सकती है। व्यक्ति की स्वच्छन्दता, स्वयं और समाज दोनों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है, अतः ऐसे व्यक्ति को योग्य निमित्तों के आश्रय से अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए। इस प्रकार, जैनदर्शन दोनों शैलियों में सामंजस्य स्थापित करता है। जीवन–प्रबन्धन के लिए व्यक्ति को विवेकपूर्वक स्वमूल्यांकन करके योग्य एवं लोचपूर्ण (Flexible) जीवनशैली को अपनाना चाहिए।[82]

(6) सेवा–प्रधान और स्वार्थ–प्रधान – जीवन जीने का वह ढंग, जिसमें लोकहित का प्रयोजन मुख्य हो, वह सेवाप्रधान और जिसमें स्वहित की संकीर्ण मानसिकता हो, वह स्वार्थप्रधान जीवनशैली कहलाती है।

जैनदर्शन का इस विषय में गहन और व्यापक दृष्टिकोण है। इसके अनुसार, लौकिक उपलब्धियाँ, जैसे – पद, पैसा, परिग्रह, प्रसिद्धि आदि तो पूर्वकृत कर्मों के परिणाम हैं, अतः इनकी लालसा में विचलित नहीं होना चाहिए। लौकिक स्वार्थ के वशीभूत होकर संकीर्ण, कलुषित और अनैतिक जीवन–व्यवहार नहीं करना चाहिए, अन्यथा ऐसा जीवन–व्यवहार नवीन पाप–कर्मों के बन्ध का कारण बन जाता है। अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह लौकिक उपलब्धियों के अभाव में भी सरल, सन्तुष्ट और अविचलित रहे। यदि कर्मवशात् उसके पास लौकिक साधनों का आधिक्य हो, तो वह स्वार्थी न बने, वरन् इनका उपयोग सेवा के क्षेत्र में वैयावृत्य (आभ्यन्तर तप का एक प्रकार),[83] दान (चतुर्विध धर्म का एक प्रकार),[84] संविभाजन (द्वादश व्रत में से एक)[85] आदि के रूप में करे। इससे व्यक्ति की स्वार्थवृत्ति पर उचित अंकुश लगेगा और सामाजिक सन्तुलन की अभिवृद्धि होगी, लेकिन यह अवस्था भी सिर्फ मध्यवर्ती सोपान है, अन्तिम साध्य नहीं। जैनदर्शन के अनुसार, व्यक्ति का परम–साध्य आध्यात्मिक–विकास है, जिसमें लौकिक स्वार्थ और लौकिक सेवा से परे आत्महित ही सर्वोपरि होता है।[86]

(7) कर्त्तव्यपरक और अधिकारपरक – जीवन जीने की वह शैली, जिसमें उत्साहपूर्वक दायित्वनिर्वाह की मुख्यता हो, वह कर्त्तव्यपरक और जिसमें अप्राप्त अधिकारों की चाह एवं प्राप्त अधिकारों का अहंकार मुख्य हो, वह अधिकारपरक जीवनशैली होती है।

जैनआचारमीमांसा का अनुयायी, अधिकारों की माँग करने के बजाय कर्त्तव्यों का निर्वहन करने को आवश्यक मानता है। जैसे–जैसे वह आध्यात्मिक साधना में आगे बढ़ता है, वैसे–वैसे उसे अधिकारों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की निःसारता, तुच्छता और अनित्यता अनुभव में आने लगती है, परिणामस्वरूप अधिकारों की आकांक्षा शनैः–शनैः विलुप्त होती जाती है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक–विकास की प्रक्रिया में जब तक व्यक्ति समाज की परिधि में जीता है, तब तक निःस्वार्थ और निश्छल भाव से अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् निर्वहन करने के लिए तत्पर रहता है। अन्ततः सर्वसंग का परित्याग कर केवल आत्म–कल्याण के पुनीत कर्त्तव्य में रत हो जाता है।[87]

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तरसुं न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल।।[88]

(8) आत्मप्रशंसापरक और आत्मप्रवीणतापरक – अहंकार आदि की पुष्टि के लिए अपनी प्रतिभा, समृद्धि आदि उपलब्धियों को जैसी हैं वैसी अथवा बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत करने की जीवनशैली आत्म–प्रशंसापरक या प्रदर्शनपरक होती है, जबकि प्रदर्शन के बजाय वास्तविक आत्म–निपुणता के विकास में विश्वास रखने की जीवनशैली आत्म–प्रवीणतापरक होती है।

जहाँ तक जैनदर्शन का सवाल है, इसमें अंतरंग व्यक्तित्व–विकास को ही वास्तविक विकास माना गया है। इसका मानना है कि गुणों से ही पूज्यता प्रकट होती है। यहाँ अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को उनके गुणों के आधार पर ही पूजनीय और वन्दनीय माना गया है। यह निर्देश भी दिया गया है कि गुणिजनों को देखकर कभी भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए, अपितु मन में प्रमोद या आनन्द उमड़ना चाहिए।[89] इससे विपरीत, प्रदर्शनात्मक जीवनशैली को मायापरक आचरण कहा गया है। इसे यश, कीर्त्ति, सम्मान, प्रसिद्धि अथवा लोभ की पूर्त्ति के लिए किया जाने वाला एक निन्दनीय आचरण माना गया है। यह भी स्पष्ट कहा गया है कि आत्म–प्रशंसा और पर–निन्दा से निम्न गोत्र की प्राप्ति होती है।[90]

(9) कलापरक, वाणिज्यपरक और विज्ञानपरक – कला पर आधारित जीवनशैली में कला–कौशल की निपुणता होती है, वाणिज्य पर आधारित जीवनशैली में लेखा–जोखा एवं लाभ–हानि का विश्लेषण करने की प्रवीणता होती है और विज्ञान पर आधारित जीवनशैली में निरीक्षण, विश्लेषण, परीक्षण तथा प्रयोग पर आधारित ज्ञान की विशिष्टता होती है। ये तीनों ही जीवनशैलियाँ सांसारिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में विकास के लिए सहयोगी होती हैं। ये जन्मजात भी होती हैं और उपार्जित भी।

जैनदर्शन के साहित्य धार्मिक एवं आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से कला, विज्ञान और वाणिज्य की त्रिवेणी हैं। ये चार अनुयोगों – धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरण–करणानुयोग में विभाजित हैं।[91] इनमें से चरण–करणानुयोग को कला, द्रव्यानुयोग को विज्ञान और गणितानुयोग को वाणिज्य कहा जा सकता है। अन्तिम अनुयोग है – धर्मकथानुयोग, जिसमें पूर्वोक्त तीनों अनुयोगों का सम्यक् समन्वय कर जीवन को आदर्श बनाने वाले महापुरूषों की कथाएँ हैं। जैनाचार्यों ने स्पष्ट कहा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि जीवन के सम्यक् विकास के लिए चारों अनुयोगों का महत्त्व है। इस प्रकार, जैनदर्शन कला, विज्ञान और वाणिज्य पर आधारित एक समन्वित जीवनशैली का पक्षधर है, जो जीवन–प्रबन्धन के लिए भी आवश्यक है।

(10) स्फूर्त्तिपरक और प्रमादपरक – कुछ लोगों की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों में स्फूर्त्ति होती है, जबकि कुछ लोगों की प्रवृत्तियों में प्रमाद (असावधानी या आलस्य) झलकता है।

जैनदर्शन में प्रमाद को सर्वथा त्यागने योग्य कहा गया है – **समयं मा पमायए।**[92] इसमें प्रमाद को कर्म–बन्धन के पाँच हेतुओं में से एक माना गया है। ये पाँच हेतु हैं – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।[93] यहाँ केवल बाह्य असावधानी को ही नहीं, अपितु एक क्षण के लिए भी आत्म–स्वरूप की विस्मृति होने को प्रमाद कहा गया है। आशय इतना है कि जैनदर्शन में व्यक्ति को जीवन के सम्यक् उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए जाग्रत और प्रयत्नशील रखने वाली प्रमादरहित स्फूर्त्तिपरक जीवनशैली अपनाने का निर्देश दिया गया है, जो जीवन–प्रबन्धन की सफलता में अत्यन्त उपयोगी है।

(11) आकांक्षापरक और सन्तोषपरक – आकांक्षापरक व्यक्तियों की जीवनशैली में साधनों और सुविधाओं की लालसा का आधिक्य होता है। वे संग्रह–वृत्ति वाले तथा प्राप्त उपलब्धियों में सदा असन्तुष्ट और अप्राप्त के प्रति लालायित रहते हैं। इसके विपरीत, सन्तोषपरक जीवनशैली वाले व्यक्तियों में प्राप्त उपलब्धियों में सन्तुष्ट हो जाने की वृत्ति होती है। इनमें से कुछ विरल–विभूतियाँ ऐसी भी होती हैं, जो स्वयं को प्राप्त सामग्रियों में न केवल सन्तुष्ट हो जाती हैं, बल्कि अन्यों के लिए उनका संविभाग भी कर देती हैं।

जैन–साधना का सर्वोच्च आदर्श वीतराग अवस्था है, जिसमें कोई इच्छा शेष नहीं रहती, अतः स्पष्ट है कि जैनदर्शन आकांक्षापरक जीवनशैली का पक्षधर नहीं है। यहाँ सदैव इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने का मार्गदर्शन दिया जाता है। कहा भी गया है कि इच्छाओं का निरोध करना ही सम्यक् तप है[94] और इस तप से आत्म–शुद्धि, आत्म–कल्याण और आत्म–शान्ति की प्राप्ति होती है। यहाँ गृहस्थ हो अथवा साधु – दोनों को ही सन्तोष और निर्लोभतायुक्त जीवनशैली से जीने का उपदेश दिया गया है – **लोभं संतोसओ जिणे।**[95] साधु को तो सिर्फ उदरपूर्त्ति जितना ग्रहण करने और गृहस्थ को भी आवश्यकतानुसार सीमित संग्रह करने का ही निर्देश दिया गया है।[96] इसके अतिरिक्त गृहस्थ के लिए जो बारहवां व्रत उपदिष्ट है, उसके अनुसार, उसे अपनी सामग्रियों में से एक उचित अंश का संविभाग सत्पुरूषों के लिए करना चाहिए।[97] यहाँ तक भी कहा गया है कि असंविभागी का मोक्ष सम्भव नहीं है।[98] जैन साधु का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि आहार लाने के पश्चात् वह प्रीतिपूर्वक आचार्य एवं अन्य साधुओं को अनुक्रम से निमंत्रण दे और प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ आहार करे। यह पारस्परिक प्रेम और सन्तोष का आदर्श स्वरूप है।[99]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(12) फैशनपरक और सादगीपरक – फैशनपरक जीवनशैली वाला व्यक्ति लोकाचार का अन्धानुकरण कर अपने पहनावे, चाल–ढाल, खान–पान, आभूषण–विलेपन आदि से लोगों को आकर्षित करके प्रभावित करना चाहता है, लेकिन सादगीपरक जीवनशैली वाला व्यक्ति स्वाभाविक सौन्दर्य और सादगीयुक्त जीवन जीता है।

जैनदर्शन सादगीपरक जीवनशैली को ही उचित मानता है, क्योंकि इसमें अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रह होता है। इससे प्राणियों की सुरक्षा, समय की बर्बादी से बचाव, श्रमपूर्वक उपार्जित धन का मितव्यय और आत्महित सम्भव हो पाते हैं। इसके विपरीत, फैशनपरक जिन्दगी में प्रयुक्त कॉस्मेटिक्स, वस्त्र, फर्नीचर आदि साधन महँगे भी होते हैं, प्राणियों की हिंसा से निर्मित होते हैं, इनके भोगोपभोग में जीवन का अमूल्य समय नष्ट होता है और व्यक्ति की मनोवृत्ति में विकार एवं वासनाओं का जन्म होता है, अतः जैनदर्शन में इन्हें त्याज्य बताया गया है। वस्तुतः, सादगीपरक जीवनशैली से ही जीवन की असीम शक्तियों का सदुपयोग करने की सम्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, अतः यह जीवन–प्रबन्धन के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है। वस्तुतः, आवश्यकताओं की पूर्त्ति तो सम्भव है, किन्तु इच्छाओं और अपेक्षाओं की नहीं।[100] ये तो चित्त में विक्षोभ उत्पन्न कर तनाव को जन्म देती हैं, अतः जैनदर्शन में इन्हें सीमित करने का निर्देश दिया गया है।

(13) सुनियोजित और अनियोजित – सुनियोजित (Planned) जीवनशैली में सुव्यवस्थित चिन्तन करके कार्य करने की नीति होती है, जबकि अनियोजित (Unplanned) जीवनशैली में चिन्तन, विचार अथवा नियोजन की ही उपेक्षा होती है।

जैनदर्शन में सुनियोजित जीवनशैली को ही उचित माना गया है। इसके अनुसार, सम्यग्ज्ञान से ही सत्य–असत्य का विवेक और कृत्य–अकृत्य का निर्णय किया जा सकता है।[101] ज्ञान के बिना किया गया आचरण परम–साध्य रूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं करा सकता।[102] वस्तुतः, सम्यग्ज्ञान (Right Knowledge), सम्यग्दर्शन (Right Belief) और सम्यक्चारित्र (Right Character) की एकता ही मोक्ष–मार्ग है।[103] इसमें भी चारित्र का मूल दर्शन है, तो दर्शन का मूल ज्ञान है।[104] कहा जा सकता है कि सही जानने एवं सही मानने के साथ–साथ सही जीना ही जीवन–सफलता का सिद्धान्त है। अतः अनियोजित जीवनशैली अनुचित ही नहीं, वरन् मूर्खतापूर्ण भी है।

(14) आवश्यकतापरक एवं अनावश्यकतापरक – आवश्यकतापरक जीवन–व्यवहार में व्यक्ति आवश्यक कार्यों को ही महत्त्व देता है और अनावश्यकतापरक में व्यक्ति निरर्थक कार्यों में ही अपने समय, संस्कार, सम्मान, समृद्धि और ऊर्जा का नाश कर डालता है।

जैनदर्शन का आशय यह है कि जीवन अल्प है और जंजाल अनेक हैं।[105] अतः अनावश्यक कार्यों में जीवन को नष्ट न कर विवेकपूर्वक सम्यक् लक्ष्य–निर्धारण करके उसकी प्राप्ति हेतु योग्य कार्य ही करना चाहिए। जो कार्य अनावश्यक या निरर्थक होते हैं, उनका 'अनर्थ–दण्ड–परिमाण व्रत' के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माध्यम से त्याग करना चाहिए, अन्यथा ये व्यर्थ ही नवीन कर्म–बन्धनों का कारण बनते हैं।[106] यह जीवनशैली जीवन–प्रबन्धन के सम्यक् क्रियान्वयन में सहायक होती है, क्योंकि यह अल्पतम प्रयास के द्वारा अधिकतम परिणाम की प्राप्ति के सिद्धान्त पर आधारित है।

(15) व्यसनयुक्त और व्यसनमुक्त – एक जीवन–ढंग व्यसनयुक्त है, जिसमें व्यक्ति कुछ ऐसी आदतें बना लेता है, जो उसे पहले मस्त करती हैं, फिर व्यस्त करती हैं, कुछ समय बाद त्रस्त करती हैं और अन्त में अस्त कर देती हैं। लेकिन, दूसरा ढंग व्यसनमुक्त है, जिसमें व्यक्ति व्यसन के मोहपाश से मुक्त रहकर जीवन को सार्थक बना सकता है।

जैनआचारशास्त्रों में प्राथमिक रूप से सप्तव्यसनों से मुक्त होने की शिक्षा दी गई है, जो प्रत्येक मानव के लिए आचरणीय है। ये व्यसन हैं[107] –

1) शिकार 2) जुआ 3) चोरी 4) मांसभक्षण 5) मद्यपान 6) वेश्यागमन 7) परस्त्रीगमन

(16) सैद्धान्तिकज्ञानपरक और प्रायोगिकज्ञानपरक – जिसमें सिद्धान्तों पर आधारित शिक्षा का आधिक्य होता है, वह सैद्धान्तिक–ज्ञानपरक जीवनशैली कहलाती है और जिसमें प्रयोग या अभ्यास पर आधारित शिक्षा की मुख्यता होती है, वह प्रायोगिक–ज्ञानपरक जीवनशैली कहलाती है।

जहाँ तक जैनआचारशास्त्रों का प्रश्न है, इनमें शिक्षा के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक – दोनों पक्षों को समान रूप से महत्त्व दिया गया है।[108] यह जीवन–प्रबन्धन के लिए आवश्यक है, क्योंकि इससे जीवन का सन्तुलित विकास होता है।

(17) आवेगप्रधान एवं शान्तिप्रधान – वह जीवनशैली, जिसमें हमारी प्रवृत्तियों में क्रोध, मान, माया और लोभ – इन चार आवेगों (कषायों) की प्रधानता होती है और जिससे हमारे बहिरंग एवं अंतरंग परिवेश में अशांति, तनाव और निराशा का वातावरण छा जाता है, आवेगप्रधान (काषायिक) जीवनशैली कहलाती है। इसके विपरीत, वह जीवनशैली, जिसमें क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता आदि सद्गुणों की अभिव्यक्तियाँ होती हैं और जिससे शान्ति, सद्भावना तथा सौहार्दपूर्ण वातावरण की स्थापना होती है, शान्तिप्रधान (अकाषायिक) जीवनशैली कहलाती है।

जैनदर्शन में आवेगात्मक जीवनशैली को विकार या विभाव रूप होने से त्याज्य कहा गया है और अकाषायिक जीवनशैली को स्वभाव रूप होने से पूर्ण कषायरहित जीवन को सर्वोच्च आदर्श के रूप में स्वीकारा गया है।[109]

(18) शिष्टतायुक्त एवं अशिष्टतायुक्त – कुछ लोगों की जीवनशैली में सभ्यता, विनम्रता और आदर झलकता है, जबकि कुछ लोगों का व्यवहार असभ्य, अविनीत और अशोभनीय होता है।

जैनदर्शन में गुरू और शिष्य के बीच आत्मीय सम्बन्धों की स्थापना हेतु जो व्यापक वर्णन किया गया है, वह इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति को सदैव शिष्टतायुक्त व्यवहार करना चाहिए और यह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवनशैली भी जीवन–प्रबन्धन का अनिवार्य अंग है।[110] जैनाचार्य हेमचंद्र ने मार्गानुसारी श्रावक का द्वितीय गुण शिष्टाचार–प्रशंसक बताया है, जो सभी जीवन–प्रबन्धकों के लिए पालन करने योग्य है।[111]

(19) संयमित और असंयमित[112] – असंयमित जीवन–व्यवहार में स्वच्छन्दता का आधिपत्य, मन, वचन एवं काया की सीमाओं का अतिक्रमण तथा हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह की वृत्तियों का आधिक्य होता है, जबकि संयमित जीवन–व्यवहार में स्वच्छन्दता का निरोध, हिंसा आदि पाँच पापों का परित्याग तथा स्व और पर दोनों का हित होता है।

जैनदर्शन में सभी के लिए संयमित जीवनशैली को अपनाने का निर्देश मिलता है। गृहस्थ के लिए अल्प संयम रूप अणुव्रतों का विधान है, तो श्रमण के लिए पूर्ण संयम रूप महाव्रतों का।[113]

(20) अन्य जीवनशैलियाँ – इसमें समयपरक (Time Oriented), गुणवत्तापरक (Quality Oriented), परिमाणपरक (Quantity Oriented), मितव्ययितापरक (Economy Oriented) या विविधतापरक (Variety Oriented) आदि जीवनशैलियों का समावेश होता है। किसी भी कार्य को करने में समयपरक जीवनशैली में समय की दृढ़ता झलकती है, गुणवत्तापरक में कार्य की गुणवत्ता या स्तर को महत्त्व दिया जाता है, परिमाणपरक में कार्य के परिमाण या मात्रा की मुख्यता होती है और मितव्ययितापरक में व्यय को न्यूनतम करने पर बल दिया जाता है।

जैनदर्शन का मानना है कि सामान्यरूप से व्यक्ति की कार्यशैली ऐसी होनी चाहिए कि कार्य के सभी घटकों को समान महत्त्व दिया जा सके और यदि अपवादरूप से असमान महत्त्व देना पड़े, तो देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति के आधार पर निर्णय लेना चाहिए।

इस प्रकार, जीवन की प्रमुख जीवनशैलियों के परिज्ञान से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को सतर्कतापूर्वक अपनी जीवनशैली का निर्माण करना चाहिए। वह चाहे तो नकारात्मक जीवनशैली के द्वारा जीवन को निरर्थक बना सकता है और चाहे तो सकारात्मक जीवनशैली के द्वारा सार्थक बना सकता है। जैनदर्शन पर आधारित जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करके समीचीन दिशा–निर्देश देती है, जिसका अनुसरण कर सकारात्मक जीवनशैली के रूप में जीवन का रूपान्तरण किया जा सकता है।

=====◄●►=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.4 जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में प्रबन्धन का मूल स्वरूप एवं जीवन में प्रबन्धन की उपयोगिता

1.4.1 प्रबन्धन का सामान्य परिचय

'प्रबन्धन' शब्द की व्युत्पत्ति है – **'प्रकृष्टं बन्धनम् इति प्रबन्धनम्'**। 'प्रकृष्ट' का अर्थ है – सर्वोत्तम या श्रेष्ठ और 'बन्धन' का अर्थ है – जोड़ने या एकीकरण की प्रक्रिया, अतः सामान्यरूप से यह कहा जा सकता है कि एकीकरण या समन्वय की सर्वोत्तम प्रक्रिया ही प्रबन्धन है।

प्रबन्धन की प्रक्रिया में मूलतः पाँच पक्षों का समावेश होता है –

1) साधना या प्रबन्धन (Management) – वह कार्य–शृंखला या प्रक्रिया, जिसके माध्यम से लक्ष्य की प्राप्ति की जाती है, साधना या प्रबन्धन कहलाती है।
2) साधक या प्रबन्धक (Manager) – वह व्यक्ति, जो लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है, साधक या प्रबन्धक कहलाता है **(साधयति इति साधकः[114])**।
3) साध्य (Goal) – वह लक्ष्य या उद्देश्य, जिसे साधक (प्रबन्धक) प्राप्त करना चाहता है, साध्य कहलाता है **(इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्[115])**। अंग्रेजी भाषा में इसे (Objective, Aim, Target) आदि भी कहते हैं।
4) साधन (Means) – वह जैविक या भौतिक तत्त्व, जो लक्ष्य–प्राप्ति के लिए सहयोगी बनता है, साधन कहलाता है **(साधनं कारणं[116])**।
5) सिद्धि (Achievement of Goal) – वह अवस्था, जिसमें साधक साध्य की प्राप्ति कर लेता है, सिद्धि या सफलता कहलाती है **(सिध्यन्ति कृतार्था भवन्ति यस्यां सा सिद्धिः[117])**।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

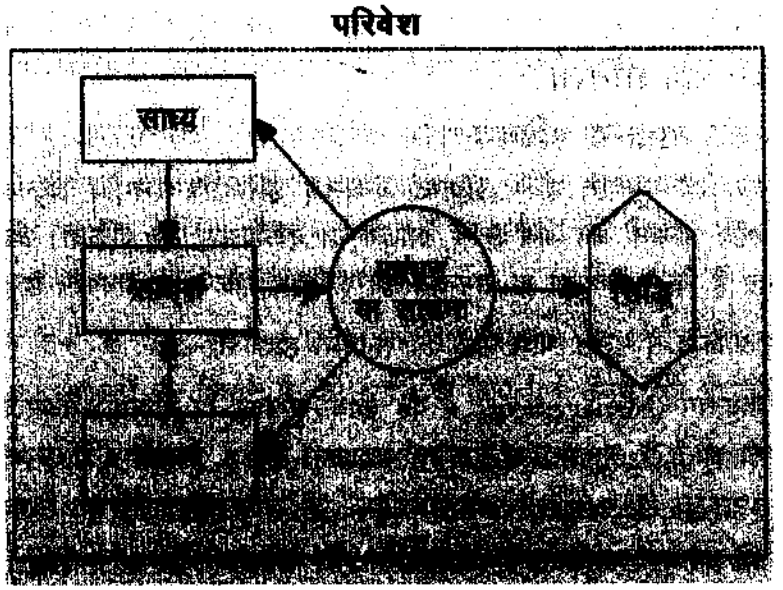

साधक, साधन, साधना, साध्य एवं सिद्धि का सम्बन्धदर्शक रेखाचित्र

उपर्युक्त चित्र से यह निष्कर्ष निकलता है कि –

- साधक सर्वप्रथम प्रबन्धन का प्रयोग कर साध्य का निर्धारण करता है।
- साधक फिर प्रबन्धन का प्रयोग कर साधन को ग्रहण करता है।
- साधक अन्ततः प्रबन्धन का प्रयोग कर साध्य की सिद्धि करता है।

स्पष्ट है कि साधना या प्रबन्धन के माध्यम से ही साध्य, साधक और साधन की एकता होती है, जिससे सिद्धि अर्थात् सफलता की प्राप्ति होती है। मूलतः प्रबन्धन वह प्रक्रिया है, जो बदलते हुए परिवेश में निर्धारित साध्य की प्राप्ति के लिए साधक, साधन तथा साध्य को एक सूत्र में पिरो देती है और इसके बिना साधक, साधन तथा साध्य का समन्वय असम्भव है। प्रबन्धन की यह भूमिका ही किसी भी कार्य में प्रबन्धन की अनिवार्य आवश्यकता को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है। अतः प्रत्येक मानव को चाहिए कि वह प्रबन्धन–प्रक्रिया को जाने, स्वीकारे एवं उसका सम्यक् प्रयोग करके उपलब्ध साधनों की सहायता से सही लक्ष्य की सम्प्राप्ति करे। मेरी दृष्टि में, सार रूप में यह कहा जा सकता है कि –

वह साधना, जिसके माध्यम से साधक परिवर्त्तनशील परिवेश में, साधनों का सम्यक् प्रयोग करता हुआ साध्य की सिद्धि करता है, प्रबन्धन कहलाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.4.2 प्रबन्धन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रबन्धन (Management) को एक नवीन विषय माना जाता है, किन्तु प्रबन्धन का अस्तित्व तो प्राचीनकाल में भी था, आज भी है और आगे भी रहेगा। वस्तुतः, जब से मानवीय सभ्यता का विकास प्रारम्भ हुआ, तब से ही किसी न किसी रूप में प्रबन्धन का प्रयोग होता रहा। अन्तर इतना है कि प्राचीनकाल में जिसे नीति, मर्यादा, कल्प, व्यवस्था, शासन, अनुशासन कहा जाता था, वर्त्तमान में वह 'प्रबन्धन–विधा' के रूप में जनप्रचलित और लोकप्रसिद्ध हो रही है।

प्राचीन युग में विकास के प्रथम चरण में मनुष्य ने आजीविका, सुरक्षा आदि के लिए परस्पर सहयोग की आवश्यकता महसूस की और सामाजिक व्यवस्था की नींव डाली। उसने व्यक्तिगत और सामूहिक विकास के लिए लक्ष्य–निर्धारण, नीति–निर्माण, नियम, कार्यविधि, तकनीक आदि प्रबन्धन–तत्त्वों का उचित प्रयोग भी किया। इस तथ्य की पुष्टि अनेकानेक साक्ष्यों से होती है, जो हमें लगभग पाँच हजार वर्ष पुराने अवशेषों और शिलालेखों के माध्यम से मिलते हैं। हड़प्पा–मोहनजोदड़ो की सभ्यता, सिन्धु–घाटी की सभ्यता, सुमेरियन सभ्यता, इजिप्ट के पिरामिड, चीन की सिविल सर्विस, रोम के कैथोलिक चर्च, अशोककालीन चक्र–स्तम्भादि, सिकन्दर की युद्धकला, चन्द्रगुप्त का शासनतन्त्र, राजा सम्प्रति की धार्मिक व्यवस्था, नालन्दा, तक्षशिला आदि के विश्वविद्यालय तथा राजा कुमारपाल की धर्म–प्रभावना आदि इसके प्रमाण हैं। इतना ही नहीं, ऐतिहासिक कथा और पुराण साहित्य में भी भगवान् ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती, राम, श्रीकृष्ण आदि की प्रबन्धन–शैलियों का वर्णन मिलता है। उस समय जहाँ प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्ष या विचार पक्ष को **'नीति'** कहते थे, वहीं प्रायोगिक पक्ष या आचार पक्ष को **'व्यवस्था'** या **'अनुशासन'** कहते थे। कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल से ही प्रबन्धन की उपयोगिता निर्विवाद रूप से मान्य रही है।

आधुनिक युग में 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पाश्चात्य देशों में इसका विकास पुनः प्रारम्भ हुआ, जिसका श्रेय रॉबर्ट ओवन (1771–1858), चार्ल्स बेवेज (1792–1871), हेनरी वर्नुन पूअर, हेनरी रॉबिन्सन टॉवने (1844–1924), जेम्स वॉट (1796–1848), बाउल्टन (1770–1842), केप्टन हेनरी मेटकेल्फ (1847–1917) आदि को जाता है।[118]

लगभग 20वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् प्रबन्धन का एक विज्ञान के रूप में सुव्यवस्थित और विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रारम्भ हुआ, जिसका मुख्य श्रेय सर एफ.डब्ल्यु. टेलर को जाता है।

इस प्रकार, किसी भी कार्य के सफल सम्पादन हेतु प्रबन्धन के तत्त्वों का प्रयोग भूतकाल में होता था, वर्त्तमान में हो रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.4.3 प्रबन्धन की आधुनिक अवधारणाएँ एवं परिभाषाएँ

आधुनिक युग में प्रबन्धन के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों ने काल–क्रम से अपनी–अपनी अवधारणाएँ एवं परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। यद्यपि ये अवधारणाएँ मूलतः भौतिक और विशेष रूप से व्यावसायिक क्षेत्र तक ही सीमित रही हैं और इनमें जीवन के समग्र पहलुओं का समावेश नहीं हो सका है, फिर भी ये किस हद तक जीवन–प्रबन्धन के लिए उपयोगी हो सकती हैं, इसकी चर्चा करने का प्रयत्न भी यहाँ किया गया है, जो इस प्रकार है –

(1) हर्बीसन एवं मेयर्स की औद्योगिक अवधारणा – प्रसिद्ध विद्वान् हर्बीसन और मेयर्स के अनुसार, 'प्रबन्धन' उत्पादन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन (Factor) है। यह उत्पादन के मानवीय और गैर–मानवीय घटकों – भूमि (Land), श्रमिक (Labourer), उद्यमी (Entrepreneur), पूंजी (Capital) और मशीन व माल (Machines & Materials) में समन्वय स्थापित करता है, जिससे इन घटकों की कार्यकुशलता और लाभदायकता में वृद्धि होती है।[119]

यदि इस अवधारणा को औद्योगिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रखा जाए, तो यह जीवन–प्रबन्धन के लिए भी किसी अपेक्षा से उपयोगी बन सकती है। जीवन–प्रबन्धन का आशय भी जीवन में प्राप्त होने वाले मानव और गैरमानव–संसाधनों का उचित समन्वय करना ही है, जिससे जीवन–लक्ष्य की सिद्धि हो सके।

(2) फ्रेडरिक डब्ल्यू. टेलर की वैज्ञानिक अवधारणा – इन्हें वैज्ञानिक–विधि पर आधारित प्रबन्धन का जनक भी कहा जाता है। इनके अनुसार, "प्रबन्धन यह जानने की कला है कि क्या करना है और उसे करने का सर्वोत्तम एवं सुलभ तरीका क्या है।"[120]

इस अवधारणा का आशय यह है कि किसी भी कार्य को करने में अस्पष्टता, अनिश्चितता एवं अनभिज्ञता नहीं रहनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, 'Rule of the Thumb' सिद्धान्त पर आधारित कार्यशैली नहीं होनी चाहिए, बल्कि कार्य को सर्वमान्य, सुनिश्चित एवं सुस्पष्ट सिद्धान्तों एवं प्रयोगों पर आधारित बनाना चाहिए। प्रबन्धन के अन्तर्गत वैज्ञानिक–विधि से अनुसंधान करने एवं नियमों का सम्पादन करने के लिए अवलोकन एवं निरीक्षण (Observation), माप (Measurement), प्रयोग (Experimentation), विश्लेषण (Analysis), युक्ति (Rationality) एवं तर्क (Reasoning) – इन छः साधनों का उपयोग करना चाहिए।

जैनदर्शन में भी उपर्युक्त वैज्ञानिक शैली पर आधारित प्रबन्धन–प्रणाली दिखाई देती है। इसमें साधक को सम्यक् लक्ष्य एवं सम्यक् मार्ग के निर्धारण का निर्देश दिया गया है। नियमसार के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि जिनशासन में केवल मार्ग और मार्ग के फल (लक्ष्य) का उपदेश दिया जाता है।[121] अन्यत्र भी, जैनदर्शन में द्रव्य–विज्ञान, कर्म–विज्ञान, गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास आदि सिद्धान्तों के द्वारा वैज्ञानिक शैली में जीवन–प्रबन्धन के लिए उपयोगी मार्गदर्शन दिए गए हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) हेनरी फेयॉल की क्रियात्मक अवधारणा – प्रसिद्ध प्रबन्धक हेनरी फेयॉल के अनुसार, 'प्रबन्धन का आशय पूर्वानुमान लगाने, योजना बनाने, संगठन की व्यवस्था करने, निर्देश देने, समन्वय करने तथा नियन्त्रण करने से है।'[122]

इस प्रकार, फेयॉल के द्वारा प्रबन्धन को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः, जैनआचारमीमांसा पर आधारित जीवन–प्रबन्धन के लिए भी जीवन की आचार व्यवस्था का सुव्यवस्थित नियोजन (Planning), जीवन में परस्पर सहयोग की पूर्ति के लिए संगठन (Organising) एवं निर्देशन (Directing) और कार्य के सम्यक् निष्पादन के लिए जीवन के विविध तत्त्वों के बीच उचित समन्वयन (Coordinating) एवं नियन्त्रण (Controlling) की कदम–कदम पर आवश्यकता होती है।

(4) थियो हेमन की अवधारणा – इनके अनुसार, प्रबन्धन शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया जाता है[123] –

- ★ **संज्ञा** – प्रबन्धन का तात्पर्य प्रबन्धकीय कार्यकर्त्ताओं (Managerial Personnel) से है, जो सभी कार्यरत व्यक्तियों की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखते हैं।
- ★ **प्रक्रिया** – प्रबन्धन वास्तव में एक प्रक्रिया है, जिसके आधारभूत अंग हैं – नियोजन, संगठन, अभिप्रेरण तथा नियन्त्रण एवं जिसमें सामूहिक प्रयासों के सर्वश्रेष्ठ उपयोग के लिए मानव (Man), माल (Material), मशीन, विधि (Method) एवं मुद्रा (Money) का प्रयोग होता है, जिससे पूर्व निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।
- ★ **अनुशासन या विधा** (Discipline) – प्रबन्धन ज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा है, जो कला, विज्ञान, वाणिज्य, अभियांत्रिकी, चिकित्सा आदि के समान ही एक अनुशासन या विधा है।

प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ में प्रयुक्त 'जीवन–प्रबन्धन' शब्द का प्रयोग भी अनेक अर्थों में सम्भव है। प्रसंगानुसार यह एक व्यक्ति (Life Manager) या एक प्रक्रिया (Process) या एक विधा (Discipline) का द्योतक है।

(5) हेरॉल्ड कूण्ट्ज की अवधारणा – इनके अनुसार, "प्रबन्धन अन्य लोगों के द्वारा और उनके साथ मिलकर काम करने की कला है (Getting the things done through and with people)।" इस अवधारणा का आशय यह है कि प्रबन्धन एक अधिनायकवादी (तानाशाही) नहीं, वरन् प्रजातांत्रिक तकनीक है। इसमें टीम भावना पर विशेष बल दिया गया है तथा सिर्फ नियन्त्रण पर नहीं, वरन् अभिप्रेरण की आवश्यकता को भी स्वीकारा गया है।[124]

यह जैनसंघ और जैनसाधना–व्यवस्था की विशेषता है कि साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका परस्पर उत्तरदायी भी होते हैं और अधिकारी भी। इतना ही नहीं, सभी परस्पर मिलकर आत्म–उत्थान के मार्ग में आगे बढ़ते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(6) जेम्स लुण्डी की अवधारणा – इनके अनुसार, "प्रबन्धन मुख्य रूप से विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नों का नियोजन (Planning), क्रियान्वयन (Implementation) और नियन्त्रण (Controlling) करने का कार्य है।"[125]

यह ध्यान देना आवश्यक है कि जैनआचारमीमांसा पर आधारित जीवन–प्रबन्धन में भी ये तीनों कार्य निहित हैं।

प्रबन्धन की आधुनिक अवधारणा की स्पष्टता के लिए प्रबन्धन की अन्य प्रमुख परिभाषाओं को जानना भी आवश्यक है, जो इस प्रकार हैं –

1) **स्टेनले वेंस** के मत में,

"प्रबन्धन का आशय निर्णय लेने तथा मानवीय क्रियाओं पर नियन्त्रण की प्रक्रिया से है, जिससे पूर्व निर्धारित लक्ष्यों को आसानी से प्राप्त किया जा सके।"[126]

2) **न्यूमैन एवं समर** की दृष्टि में,

"प्रबन्धन एक सामाजिक प्रक्रिया है। यह एक प्रक्रिया इसीलिए है, क्योंकि यह एक कार्य–शृंखला (A Series of actions) है, जो उद्देश्य की प्राप्ति कराती है। यह सिर्फ एक प्रक्रिया ही नहीं, वरन् एक सामाजिक प्रक्रिया भी है, क्योंकि प्रबन्धन के द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्य मुख्यतया मानवीय सम्बन्धों पर आधारित होते हैं।"[127]

3) **टेरी** के अनुसार,

"नियोजन करने, संगठन करने, प्रोत्साहन देने और नियन्त्रण करने की वह प्रक्रिया, जिसमें मानव और अन्य संसाधनों के माध्यम से सामूहिक लक्ष्य का निर्धारण तथा सामूहिक लक्ष्य की प्राप्ति हो सके, प्रबन्धन कहलाती है।"[128]

4) **आर.सी. डेविस** की दृष्टि में,

"प्रबन्धन एक कार्यकारी नेतृत्व प्रदान करने की प्रक्रिया है।"[129]

5) **इ. एफ. एल. ब्रेच** का आशय है,

"प्रबन्धन का सम्बन्ध किसी उद्यम में होने वाले कार्य की पूर्णता से है, जिसके लिए प्रबन्धन का प्रयास प्रक्रियाओं के नियोजन एवं मार्गदर्शन पर केन्द्रित होता है।"[130]

6) **पीटर एफ. ड्रकर** का कहना है,

"प्रबन्धन एक बहु–उद्देशीय अंग है, जो उद्यम को प्रबन्धित करता है, प्रबन्धकों को प्रबन्धित करता है और कार्यकर्ता एवं कार्य को प्रबन्धित करता है।"[131]

7) **कूण्ट्ज और ओ'डोनेल** के अनुसार,

"किसी भी उद्यम में, प्रबन्धन अंतरंग परिवेश की वह रचना और स्थिरीकरण है, जिसमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समूह में कार्यरत सभी सदस्य दक्षतापूर्वक और प्रभावशाली तरीके से कार्य कर सकें।"[132]

8) **हेनरी एल. सिस्क** ने समन्वयता की मुख्यता के आधार पर कहा है,

"निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नियोजन करने, संगठन बनाने, निदेशन करने और नियन्त्रण करने की प्रक्रिया के माध्यम से सभी संसाधनों का समन्वय करना ही प्रबन्धन है।"[133]

9) **जॉन एफ. मी.** के अनुसार,

"प्रबन्धन से आशय न्यूनतम प्रयास द्वारा अधिकतम परिणाम प्राप्त करने की कला से है, जिससे स्वामी और सेवक दोनों के लिए अधिकतम समृद्धि एवं खुशहाली और लोक के लिए सर्वश्रेष्ठ सेवा सम्भव हो सके।"[134]

प्रबन्धन की उपर्युक्त अवधारणाओं और परिभाषाओं से जहाँ एक ओर प्रबन्धन के विविध अर्थ प्राप्त होते हैं, वहीं दूसरी ओर यह निष्कर्ष भी निकलता है कि इन विचारधाराओं में एकमतता एवं समग्रता का अभाव है और इसी कारण, आज तक भी आधुनिक विचारकों के द्वारा प्रबन्धन की सार्वभौमिक परिभाषा का विकास नहीं हो सका।[135]

1.4.4 प्रबन्धन की अवधारणाओं एवं परिभाषाओं में विविधताओं के मूल कारण

अब, यह विचारणीय है कि आखिर आधुनिक विद्वानों और विचारकों में दृष्टि–भेद क्यों रहा। आगे, इसके कुछ सम्भावित कारणों का वर्णन किया जा रहा है।

- ★ **समय–भेद** – विभिन्न विद्वानों का काल भिन्न–भिन्न रहा, अतः तत्कालीन प्रचलित कार्य–प्रणालियों और कार्य–तकनीकों का प्रभाव भी उनकी विचारधाराओं पर पड़ा।
- ★ **क्षेत्र–भेद** – अविकसित, विकसित और विकासशील – इन भिन्न–भिन्न परिवेशों में कार्य करने से भी विचारधाराओं में भेद पड़ा।
- ★ **संगठन–भेद** – संगठनों के कई भेद होते हैं, जैसे – लघु या बृहद्, व्यावसायिक या अव्यावसायिक, श्रम–आधारित या मशीन–आधारित इत्यादि। इन सबकी संरचना एवं व्यवस्था में अन्तर होने से भी विचारधाराओं में भेद रहा।
- ★ **प्रबन्धक–स्तर–भेद** – एक ही संगठन में प्रबन्धकों के कई स्तर होते हैं, जैसे – शीर्ष (Top or Apex), माध्यमिक (Middle) या प्राथमिक (Primary) स्तर। इनमें भेद होने से भी प्रबन्धन सम्बन्धी विचारधाराओं में भेद आया।
- ★ **शैक्षिक–भेद** – अलग–अलग विद्वानों की शैक्षिक–पृष्ठभूमि में भी अन्तर होने से विचारधाराओं में भेद रहा। जैसे – टेलर ने लौकिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् प्रायोगिक अनुभव प्राप्त किया, जबकि फेयॉल ने सीधे ही प्रायोगिक अनुभव लिया।
- ★ **अनुभव–भेद** – कार्य, क्षेत्र, समय आदि से भी महत्त्वपूर्ण है – अनुभव की भिन्नता और इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारण भी किसी ने मानव संसाधन को महत्त्व दिया, तो किसी ने नेतृत्व आदि को।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विचारक देश, काल एवं परिस्थितिविशेष में जिस दृष्टिकोण से प्रबन्धन को देखता है, वह उसी आधार पर प्रबन्धन की अवधारणा बना लेता है और ऐसी स्थिति में मत–वैविध्य सामने आते हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि कुछ दृष्टिविहीन पुरूष हाथी के विविध अंगो को छुएँ, तो वे हाथी के बारे में विविध मत बना लेते हैं। कोई कहता है कि हाथी स्तम्भ के समान गोलाकार है, तो कोई कहता है कि सूपड़े के समान पतला है इत्यादि। ये सभी पक्ष अपेक्षा–भेद से सत्य होते हुए भी एकांगी एवं अपूर्ण हैं।[136]

इस समस्या का समाधान जैनदर्शन का अद्वितीय, अनुपम और असाधारण सिद्धान्त **'अनेकान्तवाद'** है। अनेकान्तवाद के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति या कार्य के अनेक पक्ष या आयाम होते हैं और इसीलिए प्रबन्धन–कार्य के भी अनेक आयाम हैं। चूँकि जैनदर्शन किसी भी कार्य के सर्व पक्षों पर अर्थात् समग्रता पर जोर देता है, इसीलिए हमने प्रस्तुत शोध–कार्य हेतु जैनआचारमीमांसा को आधार बनाया है।

1.4.5 प्रबन्धकीय विचारधाराओं की कमियों से उभरने के मापदण्ड

आधुनिक विचारकों द्वारा प्रबन्धकीय विचारधारा के विकास के लिए जो अथक प्रयास किए गए हैं, वे तभी सफल हो सकते हैं, जब उनमें दृष्टि की संकीर्णता नहीं, बल्कि व्यापकता हो। अतः मेरे विचार में, यहाँ यह आवश्यक है कि हम प्राचीन दर्शनों और विशेषतया जैनदर्शन का आश्रय लेकर 'प्रबन्धन' की विचारधारा को आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित और स्थिर करें। इस हेतु हमें जैनदर्शन के अनैकान्तिक दृष्टिकोण को आधार बनाना होगा और वर्त्तमान में प्रचलित प्रबन्धकीय अवधारणाओं की कमियों से उभरने के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं का समावेश करना होगा –

(1) प्रबन्धन की सार्वभौमिकता – 'प्रबन्धन' का क्षेत्र अतिविस्तृत और बहुआयामी (Multidimensional) है। अतः हमें अपनी प्रबन्धकीय विचारधारा को सिर्फ औद्योगिक या व्यावसायिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखते हुए सार्वभौमिक (सर्वव्यापी) बनाना होगा और इस हेतु हमें प्रबन्धन के अन्तर्गत आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों का सन्तुलित समावेश करना होगा।

(2) प्रबन्धन की सार्वकालिकता – प्रबन्धकीय विचारधाराओं में बारम्बार परिवर्त्तन आने का मुख्य कारण बदलता हुआ परिवेश माना जाता है, लेकिन जैनदर्शन का यह दृष्टिकोण है कि प्रबन्धन के कुछ सिद्धान्त परिवर्त्तनशील (कालिक) होते हैं और कुछ अपरिवर्त्तनशील (शाश्वत्) भी। अतः प्रबन्धकीय विचारधारा में देश, काल एवं परिस्थितिजन्य परिवर्त्तनों के लिए लचीलापन भी होना चाहिए, तो उसमें शाश्वत् मूल्यों के स्थायित्व की सुव्यवस्था भी होनी चाहिए। इसमें न अतितरलता होनी चाहिए और न ही अतिकठोरता, बल्कि परिस्थितियों का सामना करने के लिए सार्वकालिक प्रासंगिकता की विशिष्टता होनी चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) प्रबन्धन की सार्वजनीनता – प्रबन्धकीय विचारधारा की व्यापकता हेतु हमें इस मान्यता में भी परिवर्त्तन करना होगा कि प्रबन्धक किसी संस्था का कोई अधिकारी अथवा विशेष शिक्षा–प्राप्त कोई व्यक्ति ही हो सकता है। वस्तुतः, हमें यह दृष्टिकोण विकसित करना होगा कि एक आम आदमी भी प्रबन्धक हो सकता है, क्योंकि उसे भी अपने कार्य के सफल निष्पादन हेतु प्रबन्धन के सिद्धान्तों का पालन करना होता है। भले ही कोई विद्यार्थी हो या व्यवसायी, गृहिणी हो या गृहस्वामी, सेवक हो या नियोक्ता, कर्मचारी हो या उद्योगपति, बालक हो या वृद्ध, प्रत्येक व्यक्ति को अपने दायित्वों का निर्वाह करने के लिए 'प्रबन्धन–कला' का प्रयोग कहीं ना कहीं करना ही होता है। अतः कहा जा सकता है कि प्रबन्धकीय विचारधारा सार्वजनीन होनी चाहिए।

(4) प्रबन्धन में वैयक्तिकता, सामाजिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय – प्रबन्धन को वर्त्तमान में केवल सामाजिक प्रक्रिया के रूप में माना जा रहा है, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में स्वार्थ, परार्थ तथा परमार्थ के बीच सामंजस्य स्थापित करना होता है और इस हेतु उसे जीवन में वैयक्तिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को अपनाना होता है, जिसके सफल निर्वहन के लिए प्रबन्धन की आवश्यकता होती है। यदि हम प्रबन्धन को सिर्फ सामाजिक प्रक्रिया मानें, तो जीवन सन्तुलित नहीं हो सकेगा। अतः हमें इस विचारधारा का विकास करना होगा कि प्रबन्धन वैयक्तिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक – इन तीनों उद्देश्यों के सफल निर्वहन की प्रक्रिया है।

(5) प्रबन्धन में साध्य–साधन सन्तुलन – वर्त्तमान में प्रचलित प्रबन्धकीय विचारधाराएँ साधन को ही साध्य मानकर, प्रबन्धन–सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं, परिणामस्वरूप व्यक्ति का विकास साधनों की प्राप्ति तक ही सीमित हो गया है। जहाँ प्राचीन युग में धन को धर्म और धर्म को मोक्ष का साधन माना जाता था, वहीं आधुनिक युग में धन को साध्य के रूप में देखा जा रहा है। अतः हमें प्रबन्धन की उस प्रक्रिया को अपनाना होगा, जिसमें साधन–प्राप्ति के माध्यम से साध्य–प्राप्ति का उद्देश्य पूर्ण करने का प्रयत्न हो।

इस प्रकार, हमें प्रबन्धन के सन्दर्भ में एक व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसमें प्रबन्धकीय अवधारणा का एक सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन स्वरूप प्रस्तुत हो सके और विविध विचारकों के दृष्टिकोणों का एकीकरण भी किया जा सके। आगे, इस हेतु आध्यात्मिक–दृष्टिकोणों और विशेष रूप से जैन–दृष्टिकोण के आधार पर चर्चा की जा रही है।

1.4.6 जैनदर्शन के आधार पर प्रबन्धन की अवधारणा एवं परिभाषा

प्रबन्धन एक कला है, जिसका उपयोग केवल व्यावसायिक या औद्योगिक प्रबन्धन तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, क्योंकि औद्योगिक और व्यावसायिक क्षेत्रों के प्रबन्धन सिर्फ साधनरूप होने से भौतिक सुख रूपी लक्ष्य की प्राप्ति में भले ही सहायक हों, किन्तु ये चरम आध्यात्मिक–शान्ति और आध्यात्मिक–विकास तक नहीं पहुँचा सकते। वस्तुतः, जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के सम्यक् प्रयासों को ही 'प्रबन्धन' कहना चाहिए। जीवन का लक्ष्य तो चैतसिक विकारों और तज्जन्य तनावों से मुक्त होकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

असीम आनन्द की प्राप्ति को ही माना जा सकता है। अतः प्रबन्धन केवल अर्थ–प्राप्ति के साधनों का प्रबन्धन नहीं होकर आत्मिक–शान्ति रूपी साध्य की प्राप्ति का पुरूषार्थ भी बनना चाहिए। आध्यात्मिक–दृष्टि से मानव का साध्य चेतना का समत्व या आत्मिक शान्ति ही हो सकता है, अतः प्रबन्धन की आवश्यकता इस साध्य की सिद्धि के लिए होनी चाहिए। जैनदर्शन में इस साध्य को 'मोक्ष' कहा जाता है और यह मोक्ष, मोह और क्षोभ से रहित, आत्मा का समत्व या आत्मिक–शान्ति ही है।[137]

जैनदृष्टि से हमें प्रबन्धन को केवल व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रबन्धन नहीं मानकर, जीवन के प्रबन्धन के रूप में लेना होगा, क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार, जीवन एक समग्रता है और इसमें जो पुरूषार्थ चतुष्टय माने गए हैं, उनमें से 'अर्थ' एक निम्न श्रेणी का पुरूषार्थ है। 'काम' चाहे 'अर्थ' की अपेक्षा से साध्य हो, किन्तु वह भी स्थायी आध्यात्मिक शान्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि 'काम' का जन्म इच्छाओं, आकांक्षाओं और अपेक्षाओं से होता है तथा ये सब आध्यात्मिक शान्ति को भंग ही करती हैं। कामनाओं की पूर्त्ति में भले ही क्षणिक सुख का आभास हो, किन्तु वह क्षणिक सुख भी इच्छाओं व आकांक्षाओं की ज्वाला को और अधिक प्रज्ज्वलित ही करता है तथा व्यक्ति को वास्तविक शान्ति प्रदान नहीं करता है, इसीलिए किसी ने कहा भी है[138] –

सोचा करता हूँ भोगों से, बुझ जाएगी इच्छा ज्वाला।
परिणाम निकलता है लेकिन, मानों पावक में घी डाला।।

कामनाओं की पूर्त्ति में हम मनोवैज्ञानिक–शान्ति (Psychological Peace) का भ्रम भले ही पाल लें, लेकिन इससे भी वास्तविक शान्ति की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि इच्छापूर्त्ति के इन प्रयासों में नई–नई इच्छाएँ जन्म लेती रहती हैं और इनकी पूर्त्ति की चाह में नए–नए तनाव भी उत्पन्न होते रहते हैं, इसीलिए जैनाचार्यों की दृष्टि में प्रबन्धन मात्र औद्योगिक या व्यावसायिक प्रबन्धन नहीं, अपितु जीवन के समग्र पक्षों का स्थायी प्रबन्धन है।

अभी तक प्रबन्धन–शास्त्रों में प्रबन्धन की जो परिभाषाएँ उपलब्ध हैं और जिनकी चर्चा हमने पूर्व में की है, वे केवल आंशिक या एकपक्षीय परिभाषाएँ ही हैं। उनका क्षेत्र अर्थोपार्जन की माँग और पूर्त्ति तक ही सीमित है। अतः हमें प्रबन्धन की एक ऐसी परिभाषा खोजनी होगी, जो जीवन के समग्र पक्षों का समन्वय करते हुए क्षणिक शान्ति की अपेक्षा चिरस्थायी आत्मिक–शान्ति प्रदान कर सके। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बाह्य शान्ति, आध्यात्मिक–शान्ति के बिना एकांगी और आधारहीन होती है। आध्यात्मिक शान्ति ही समग्र और चिरकालिक हो सकती है, इसीलिए जैनाचार्यों की दृष्टि में, प्रबन्धन वह कला या विज्ञान है, जो जीवनशैली का समग्र रूपान्तरण करके चिरकालिक आध्यात्मिक शान्ति को प्रदान करता है। अतः प्रबन्धन के क्षेत्र में जीवन को अशान्त और तनावग्रस्त बनाने वाले तत्त्वों का निराकरण और इसके विपरीत, जीवन को तनाव एवं अशान्ति से मुक्ति तथा चिरशान्ति प्रदान करने वाले तत्त्वों का स्वीकरण किया जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन की प्रबन्धकीय अवधारणा के आधार पर हमारे समक्ष प्रबन्धन के अन्तर्गत मुख्यतः पाँच पक्ष आते हैं –

1) प्रबन्धन करने वाला
2) प्रबन्धन का लक्ष्य
3) प्रबन्धन के साधक–तत्त्व
4) प्रबन्धन के बाधक–तत्त्व
5) प्रबन्धन के लक्ष्य की प्राप्ति

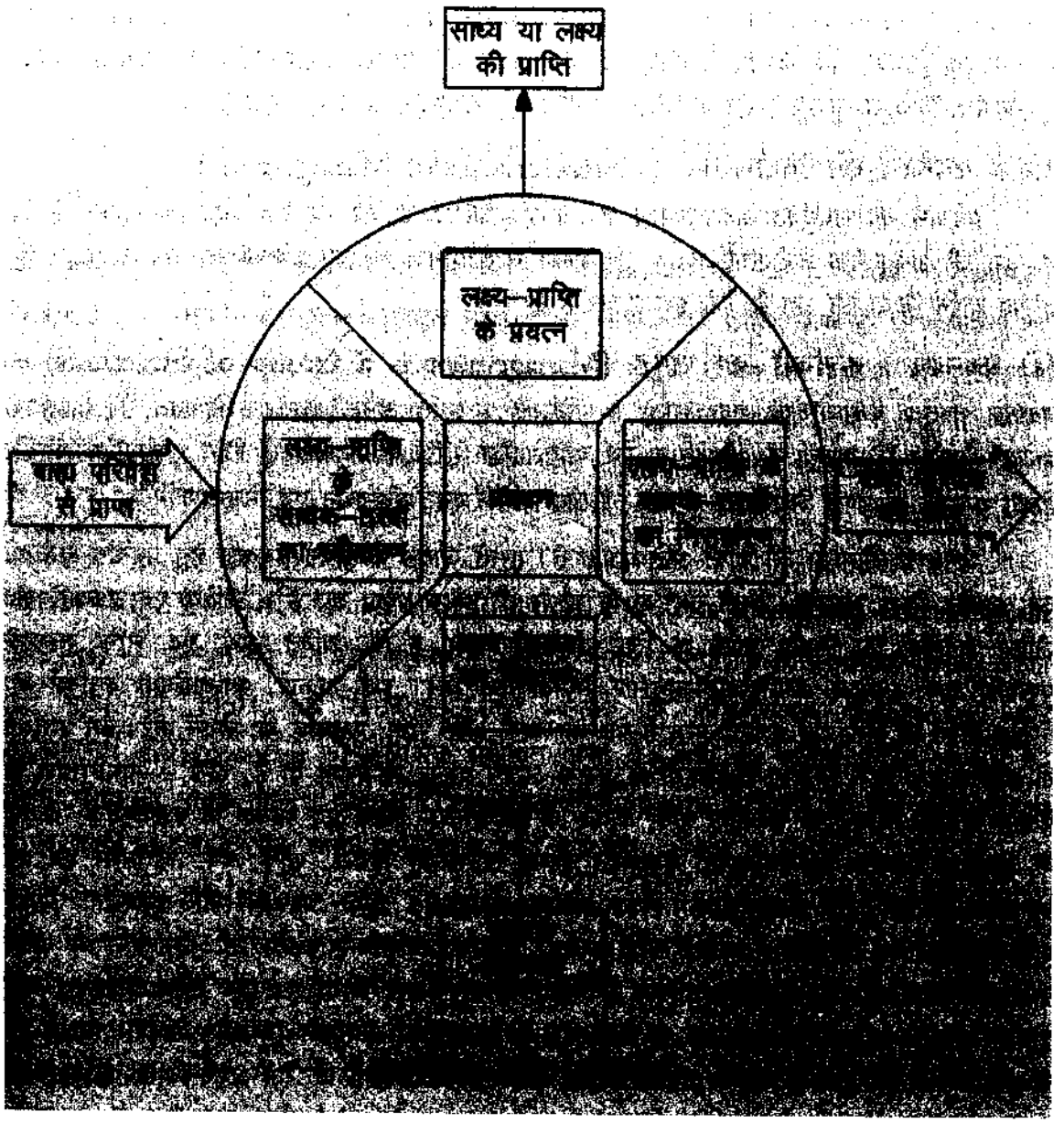

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त समस्त चर्चा के आधार पर मेरी दृष्टि में, प्रबन्धन की सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन परिभाषा इस प्रकार हो सकती है –

प्रबन्धन वह वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है, जो बदलते हुए परिवेश में, जीवन के सम्यक् लक्ष्य का निर्धारण कर, लक्ष्य की सिद्धि के लिए नियोजन, संगठन, संसाधन, निर्देशन, समन्वयन और नियन्त्रण का समुचित प्रयोग कर, साधक–तत्त्वों का सम्यक् उपयोग एवं बाधक–तत्त्वों का सम्यक् निराकरण कर लक्ष्य की प्राप्ति कराता है और अन्ततः जीवन का समग्र विकास करके चरम आत्मिक–शान्ति या समाधान प्रदान करता है।

1.4.7 प्रबन्धन की विशेषताएँ (Characteristics of Management)

प्रबन्धन की उपर्युक्त अवधारणाओं एवं परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रबन्धन की अनेकानेक विशेषताएँ हैं। प्रस्तुत प्रसंग में आधुनिक एवं जैनदृष्टियों का समन्वय करते हुए इनका वर्णन किया जा रहा है, जो इस प्रकार है –

(1) प्रबन्धन : कर्त्तव्यों का समूह (Management is a Group of Functions) – प्रबन्धन वस्तुतः कर्त्तव्यों का एक समूह है, जिसके अन्तर्गत अनेक कार्य करने होते हैं। आधुनिक प्रबन्धन–शास्त्र में मुख्यता से औद्योगिक एवं व्यावसायिक दृष्टि से प्रबन्धन के जिन कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है, वे हैं – नियोजन, संगठन, संसाधन, निर्देशन, समन्वयन एवं नियन्त्रण।[139]

जैनआचारमीमांसा की दृष्टि अतिव्यापक है। इसमें जीवन के समग्र प्रबन्धन हेतु प्रबन्धन–कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इसमें कर्त्तव्यों के मूलतः दो विभाग किए गए हैं – जैविक एवं आध्यात्मिक। जैविक कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए यह कहा गया है कि व्यक्ति 'अर्थ' एवं 'भोग' सम्बन्धी पुरूषार्थ करे, लेकिन अपनी भूमिकानुसार मर्यादापूर्वक करे। इसी प्रकार, आध्यात्मिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए यह बताया गया है कि वह 'धर्म' और 'मोक्ष' पुरूषार्थ का सेवन करे। इन कर्त्तव्यों के प्रति सजग होने के लिए जैनाचार्यों ने अलग–अलग प्रकार से प्रेरणा दी है, जैसे – मार्गानुसारी के पैंतीस कर्त्तव्य, श्रावक के इक्कीस गुण, श्रावक के षट्कर्त्तव्य, श्रमण एवं श्रावक के षडावश्यक, श्रावक के बारहव्रत, श्रमण के पंचमहाव्रत इत्यादि। इसके अतिरिक्त दिवस, रात्रि, पर्व, चातुर्मास एवं वर्ष सम्बन्धी कर्त्तव्यों का भी सुस्पष्ट निर्देश किया गया है। चूँकि प्रबन्धन की कुशलता उसकी समन्वयशीलता में निहित है, अतः इन कर्त्तव्यों की पारस्परिक सापेक्षता को जैनदर्शन ने अपने स्याद्वाद के सिद्धान्त द्वारा सम्यक् रूप से समझाने का प्रयास किया है। यह अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि इन कर्त्तव्यों में आधुनिक प्रबन्धन–शास्त्रों में निर्दिष्ट उपर्युक्त नियोजन आदि कर्त्तव्यों का समावेश स्वतः हो जाता है। जैन–दार्शनिकों का तो यह भी कहना है कि हमें अपने विभिन्न कर्त्तव्यों को इस तरह से संयोजित करना चाहिए, जिससे वे एक समग्रता को अभिव्यक्त कर सकें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) प्रबन्धन : एक सतत प्रक्रिया (Management is a Continuous Process) – प्रबन्धन एक प्रक्रिया है, जो कई कार्याशों की एक श्रेणिबद्ध शृंखला है। प्रबन्धन के कर्त्तव्य अनवरत रूप से तब तक किए जाते हैं, जब तक कि उद्देश्य की प्राप्ति न हो जाए। यद्यपि इसमें नियोजन करना प्रथम कर्त्तव्य होता है, लेकिन नियन्त्रण अन्तिम नहीं, क्योंकि नियन्त्रण से प्राप्त पुनःप्रेक्षण (Feedback) नियोजन में आवश्यक संशोधन कराता है। साथ ही ऐसा भी नहीं है कि नियोजनादि कर्त्तव्य क्रमशः ही किए जाएँ। अतः कहा जा सकता है कि प्रबन्धन एक सतत प्रक्रिया है।[140]

जैनदर्शन के अनुसार, अस्तित्व का प्रत्येक रूप अपने आप में एक सतत प्रक्रिया ही है, क्योंकि वह अस्तित्व को **'परिणामी–नित्य'** मानता है।[141] इस दृष्टि से जीवन भी एक सतत प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया का सम्यक् दिशा में गमन ही प्रबन्धन है।

(3) प्रबन्धन : एक उद्देश्यपरक प्रक्रिया (Management is a Goal–Oriented Process) – प्रबन्धन का एकमात्र आधार होता है – 'लक्ष्य' और केवल लक्ष्य के लिए प्रयास हो, यही प्रबन्धन की मुख्य नीति है।[142] जैनदर्शन यह मानता है कि जीवन की प्रक्रिया को लक्ष्यात्मक बनाना चाहिए, क्योंकि लक्ष्यहीन प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके जारी रहने पर भी अभीष्ट परिणामों की प्राप्ति नहीं हो पाती। आचार्यों ने इसे घानी के बैल के समान बताया है। सारांश यह है कि जीवन की प्रक्रिया घानी के बैल की तरह केवल गतिशील ही न हो, बल्कि वह एक सम्यक् दिशा में गतिशील हो।

(4) प्रबन्धन : एक वैयक्तिक और सामाजिक प्रक्रिया (An Individual and a Social Process) – प्रबन्धन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संसाधन मानव है, जिसके बिना भौतिक–संसाधनों का कोई मूल्य नहीं होता। अतः मानवीय–सम्बन्ध प्रबन्धन की कार्यकुशलता (Efficiency) और प्रभावशीलता (Effectiveness) को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। कहा जा सकता है कि प्रबन्धन की प्रक्रिया मुख्यतया मानव–केन्द्रित होती है।[143] आधुनिक प्रबन्धन–शास्त्र में मानव की इस अहम भूमिका के कारण ही प्रबन्धन को एक सामाजिक प्रक्रिया माना गया है।

जहाँ तक जैनदर्शन का सवाल है, इसके अनुसार, व्यक्ति अपने आप में व्यक्ति और समाज दोनों होता है और इसीलिए प्रबन्धन सम्बन्धी उसके समग्र प्रयास वैयक्तिक के साथ–साथ समाज–केन्द्रित होने चाहिए। जैनदर्शन में कहा गया है कि व्यक्ति आत्महित भी करे और लोकहित भी, किन्तु लोकहित और आत्महित में विरोध हो, तो आत्महित ही करे, क्योंकि उसका यह भी मानना है कि व्यक्ति के विकास में ही समाज का विकास है, समाज तो एक अमूर्त्त कल्पना है, जो व्यक्ति के माध्यम से ही मूर्त्त रूप लेती है। इसीलिए जैनदृष्टि में प्रबन्धन को एक वैयक्तिक और सामाजिक प्रक्रिया माना गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(5) प्रबन्धन : बदलते हुए परिवेश में (Management in a Dynamic Environment) – जीवन और जगत् सतत परिवर्त्तनशील हैं। अतः प्रबन्धन को हमेशा बदलते हुए परिवेश में अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न करना होता है, जिसके लिए हमेशा सजग रहने की आवश्यकता होती है।

आधुनिक प्रबन्धन–शास्त्र की यह मान्यता है कि प्रबन्धन की आवश्यकता बदलते हुए परिवेश में ही होती है और व्यक्ति को इस परिवेश में लक्ष्य का निर्धारण कर प्रबन्धन सम्बन्धी प्रयत्न करना होता है। जैन–दार्शनिकों का भी यह कहना है कि आचार का मार्ग उत्सर्ग (सामान्य) और अपवाद दोनों से मिलकर बनता है।[144] जब सामान्य नियम परिवर्त्तनशील परिस्थितियों में क्रियान्वित किए जाते हैं, तो उन पर परिस्थितियों का दबाव पड़ता है और परिवर्त्तन के साथ अनुकूलन (Adaptation) ही जैनदृष्टि से प्रबन्धन का सम्यक् लक्ष्य हो सकता है।[145]

(6) प्रबन्धन की आवश्यकता (Requirement of Management) – प्रत्येक कार्य के प्रत्येक स्तर पर प्रबन्धन की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि संघीय अथवा वैयक्तिक कार्यों के लिए उत्तरदायी प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में प्रबन्धक ही होता है।[146]

जहाँ तक प्रबन्धन की आवश्यकता का प्रश्न है, जैन दार्शनिक इससे भी असहमत नहीं हैं। यदि जीवन एक प्रक्रिया है और उस प्रक्रिया को हमें लक्ष्योन्मुखी बनाना है, तो कहीं न कहीं प्रबन्धन की आवश्यकता तो रहेगी ही। जीवन में लक्ष्य का निर्धारण कर उस दिशा में सम्यक् प्रयत्न करना ही प्रबन्धन है और ऐसे प्रबन्धन की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी।

इस प्रकार, हम पाते हैं कि आधुनिक एवं जैन दोनों ही दृष्टियों में प्रबन्धन और उसकी विशिष्टताओं को पूर्णतया स्वीकार किया गया है, फिर भी यह कहना होगा कि जैनदर्शन में प्रबन्धकीय दृष्टिकोण अतिव्यापक होकर आत्मलक्षी भी है।

1.4.8 प्रबन्धन के कार्य (Functions of Management)

प्रबन्धन वह प्रक्रिया है, जिसमें अनेक कार्य सम्पादित किए जाते हैं। इन कार्यों के सन्दर्भ में यह माना जाता है कि आधुनिक युग में सर्वप्रथम श्री हेनरी फेयॉल (Henry Feyol) ने इनका प्रतिपादन किया और उसके बाद लूथर गुलिक, कूण्ट्ज, ओ'डोनेल, नाइल्स और डेविस आदि परवर्ती विद्वानों ने भी अपनी–अपनी दृष्टि से इनका उल्लेख किया है।[147] फिर भी, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन दर्शनों और विशेषरूप से जैनदर्शन में भी प्रबन्धन के कार्यों का विस्तृत विवेचन मिलता है। इसमें जीवन–निर्वाह के साथ–साथ जीवन–निर्माण को भी लक्ष्य में रखकर प्रबन्धन के कार्यों को प्रतिपादित किया गया है, जो जीवन–प्रबन्धन की दृष्टि से भी उपयोगी हैं।

आगे, जीवन–प्रबन्धन के उद्देश्य से आधुनिक तथा जैनदृष्टि को समन्वित करके प्रबन्धन के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कार्यों का वर्णन किया जा रहा है, जो इस प्रकार हैं[148] –

1) नियोजन (Planning) 2) संगठन (Organizing) 3) संसाधन (Resourcing)

4) निर्देशन (Directing) 5) समन्वयन (Coordinating) 6) नियन्त्रण (Controlling)

(1) नियोजन (Planning)

किसी भी कार्य के कुशलतापूर्वक क्रियान्वयन में नियोजन की अहम भूमिका रहती है। यह प्रबन्धन का वह प्राथमिक और प्रमुखतम कार्य है, जिस पर प्रबन्धन के संगठन आदि अन्य कार्य आश्रित रहते हैं। वस्तुतः, भविष्य में प्राप्त करने योग्य उद्देश्यों को वर्त्तमान में निर्धारित करना ही नियोजन है। यह किसी भी लक्ष्य के सन्दर्भ में क्या करना है, कैसे करना है और कब करना है, का निर्णय करता है।[149]

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन (Right Belief) एवं सम्यग्ज्ञान (Right Knowledge) की प्राप्ति को बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य माना गया है, जो इस बात को परिलक्षित करता है कि जैनदर्शन में भी नियोजन एक विशिष्ट कर्त्तव्य है। इतना ही नहीं, इसे एक प्राथमिक कर्त्तव्य के रूप में भी प्रतिपादित किया गया है – **पढमं नाणं तओ दया** (प्रथम नियोजन हो, फिर क्रियान्वयन हो)।[150] उपाध्याय यशोविजयजी ने इसीलिए किसी भी कार्य के क्रियान्वयन के मूल में नियोजन (ज्ञान) को स्वीकार करते हुए कहा है[151] –

सकल क्रियानुं मूळ ते श्रद्धा, तेहनुं मूळ ते कहिए रे।
तेह ज्ञान नित–नित वंदीजे, ते विण कहो केम रहिए रे।।

(क) नियोजन के कार्य – नियोजन के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यों का समावेश होता है –

1) लक्ष्य–निर्धारण (Determination of Goal) – यह नियोजन का प्रथम चरण है, जिसमें प्राप्त करने योग्य मुख्य एवं सहायक लक्ष्यों का निर्धारण किया जाता है। वस्तुतः, इससे ही सम्पूर्ण प्रबन्धन–प्रक्रिया का प्रवाह सही दिशा में हो पाता है।[152]

जैनदर्शन में लक्ष्य–निर्धारण को हमेशा ही प्राथमिकता दी गई है। नियमसार में कहा गया है कि जिनशासन में सिर्फ 'लक्ष्य' और 'मार्ग' – इन दो बातों का ही उपदेश दिया गया है।[153] वस्तुतः, यहाँ धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरूषार्थ चतुष्टय की चर्चा लक्ष्य–निर्धारण की अपेक्षा से ही की गई है। जैनग्रन्थों में यह भी कहा गया है कि लक्ष्यविहीन (सम्यक्त्वविहीन) जीवन संख्यारहित शून्य के समान है।[154] उपाध्याय यशोविजयजी ने सम्यक् लक्ष्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जीवन में पाँच प्रकार की क्रियाएँ सम्भव हैं, जिनमें से प्रथम तीन क्रियाएँ – विष, गरल एवं अननुष्ठान हैं, जो अकरणीय हैं, क्योंकि ये सम्यक् लक्ष्य से रहित होती हैं, जबकि अन्तिम दो क्रियाएँ – तद्हेतु एवं अमृत हैं, जो करणीय हैं, क्योंकि ये सम्यक् लक्ष्यपूर्वक होती हैं।[155] (विशेष विवरण : देखें अध्याय 12)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2) नीति–निर्माण (Formulation of Policies) – ये वे मौलिक सिद्धान्त हैं, जिनके आधार पर कार्यों का क्रियान्वयन करके निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति की जाती है। यदि 'उद्देश्य' प्रबन्धन का लक्ष्य है, तो 'नीतियाँ' लक्ष्य–प्राप्ति का साधन। हेरॉल्ड कूण्ट्ज की दृष्टि में, नीतियाँ वे सामान्य विवरण हैं, जो निर्णय लेने में प्रबन्धकों को चिन्तन योग्य मार्गदर्शन प्रदान करती हैं।[156]

जैनदर्शन की यह विशेषता है कि इसमें आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दोनों नीतियों का सम्यक् समन्वय किया गया है। इनका उद्देश्य यही है कि व्यक्ति भौतिक–मूल्यों के साथ–साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का विकास भी करे। वह इस प्रकार से जीवन जिए कि वह किसी को दुःखी न करे और कोई कुछ भी करे, वह दुःखी न हो – **जिओ और जीने दो**।

3) कार्यविधियाँ (Procedures) – कार्यविधि अर्थात् काम करने की क्रमिक विधि। यह लक्ष्य–प्राप्ति के लिए कार्यों के सर्वश्रेष्ठ क्रम का चयन करने पर आधारित है, जिससे न्यूनतम निवेश में अधिकतम परिणाम प्राप्त किए जा सकें।[157]

जैनदर्शन में कार्य के सफल सम्पादन के लिए कार्यविधि को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। यहाँ स्वाध्याय की विधि क्रमशः वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा – इन पाँच अंगों से युक्त बताई गई है, उपासना की विधि गुरूवन्दन, चैत्यवन्दन, देववन्दन, सामायिक, देशावगासिक, पौषध, प्रतिक्रमण आदि रूपों में बताई गई है, आध्यात्मिक–विकास की विधि क्रमशः सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करते हुए सम्यक्चारित्र की अभिवृद्धि करने रूप बताई गई है इत्यादि।

4) नियम (Rules) – वे बिन्दु, जो विशिष्ट परिस्थितियों के सन्दर्भ में दृढ़ निर्देश देते हैं और जिनका पालन करना अनिवार्य होता है, नियम कहलाते हैं। इन्हे 'Dos' and 'Don'ts' की सूची भी कहते हैं।[158]

जैनदर्शन में 'नियमों' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका निर्धारण हेय, ज्ञेय एवं उपादेय के विश्लेषण के आधार पर किया जाता है। जैनआचारमीमांसा में सप्तव्यसन का त्याग, बाईस अभक्ष्य का त्याग, अकल्पनीय कार्यों का त्याग, मार्गानुसारी गुणों का पालन, श्रावक योग्य बारह व्रतों का पालन, साधक योग्य ग्यारह प्रतिमाओं का वहन, मुनि योग्य पंच महाव्रतों का पालन आदि जो निर्देश दिए गए हैं, वे वस्तुतः 'नियम' ही हैं। विशेषता यह है कि ये नियम उत्सर्ग (सामान्य) एवं अपवाद के भेद से दो प्रकार के हैं और व्यक्ति अपनी भूमिकानुसार इत्वरकथिक (अल्पावधि) या यावत्कथिक (आजीवन) रूप से इनका पालन कर सकता है।

5) व्यूहरचना एवं सुरक्षानीति (Strategy) – हर व्यक्ति को बदलते हुए परिवेश में आन्तरिक और बाह्य घटकों से कई बाधक कारण प्राप्त होते हैं। इनका सामना किस प्रकार से किया जाए, जिससे निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हो सके, यह योजना ही व्यूहरचना एवं सुरक्षानीति कहलाती है।[159]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में बाधक कारणों का अतिसूक्ष्म विश्लेषण करके इनके आन्तरिक और बाह्य – दो भेद बताए गए हैं। जहाँ तक आन्तरिक बाधाओं का प्रश्न है, जैनाचार्यों का कहना यही है कि व्यक्ति इन पर विजय प्राप्त करने हेतु इच्छारोधन रूप आभ्यन्तर तप तथा अनशन आदि रूप बाह्य तप करे। जहाँ तक बाह्य बाधाओं का प्रश्न है, जैनाचार्यों का सदुपदेश यही है कि व्यक्ति इनका सामना करते हुए नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से कभी नहीं डिगे। वह धर्म, अर्थ एवं काम – इन तीनों पुरूषार्थों में धर्म (नैतिकता) को सर्वोपरि महत्त्व दे और प्राप्त समस्या का सम्यक् समाधान खोजे।

(ख) नियोजन के प्रकार (Types of Planning) – जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में नियोजन के मुख्य दो प्रकार हैं –

1) समय–आधारित नियोजन (Time based Planning) – यह नियोजन समयावधि को आधार बनाकर किया जाता है, जिसके दो प्रकार होते हैं – प्रथम दीर्घकालीन नियोजन (Long term Planning) है, जो लम्बी अवधि के लिए होता है एवं द्वितीय अल्पकालीन नियोजन (Short term Planning) है, जो अल्प अवधि के लिए होता है।[160]

जैनदृष्टि के आधार पर इन्हें परम्पर एवं अनन्तर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला नियोजन कहा जा सकता है। इतना ही नहीं, जैनदर्शन में समय के अनेक विभाग एवं उनके नियोजनों की चर्चा की गई है, जैसे – दैनिक (रात्रिक/दैवसिक), पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक आदि। कहीं–कहीं पर यावत्कथिक (दीर्घावधि) एवं इत्वरकथिक (अल्पावधि) – इन दोनों के आधार पर भी नियोजन करने का निर्देश दिया गया है।

2) उद्देश्य आधारित नियोजन (Objective based Planning) – इसमें विभिन्न उद्देश्यों को आधार बनाकर नियोजन किया जाता है। आधुनिक विद्वान् इस प्रकार के नियोजन में नवाचार, विकासवादी एवं क्रियात्मक योजनाओं (Innovative, Developmental and Functional Planning) का समावेश करते हैं,[161] किन्तु उनकी दृष्टि भौतिक उन्नति तक ही सीमित है। जहाँ तक जैनदर्शन का सवाल है, इसमें जीवन–निर्वाह और जीवन–निर्माण दोनों के उचित महत्त्व को ध्यान में रखकर नियोजन करने का निर्देश किया गया है। जीवन–निर्वाह के लिए 'अर्थ' एवं 'भोग' तथा जीवन–निर्माण के लिए 'धर्म' एवं 'मोक्ष' को मुख्यता दी गई है। इस प्रकार, जीवन–निर्वाह से लेकर जीवन–निर्माण तक बहुआयामी उद्देश्य बनाकर, अन्ततः जीवन–निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति रूप परम उद्देश्य (Ultimate Aim) का नियोजन करने का निर्देश किया गया है। यह जैनआचारमीमांसा का वैशिष्ट्य है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि नियोजन लक्ष्य–प्राप्ति हेतु एक अनिवार्य प्रयास है, जो पूर्वानुमान पर आधारित है। इसमें दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता तथा विवेक की आवश्यकता होती है और इसीलिए आचार्य हेमचंद्र ने दूरदर्शिता को व्यक्तित्व का एक आवश्यक अंग माना है।[162] नियोजन एक लोचपूर्ण प्रक्रिया भी है, जिसमें देश, काल एवं परिस्थिति के अनुरूप संकुचन तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विस्तार की व्यवस्था होना आवश्यक है और इसीलिए आचार्य हेमचंद्र का कदाग्रहरहित होने का निर्देश औचित्यपूर्ण है।[163] नियोजन एक सतत प्रक्रिया भी है, क्योंकि यह उद्देश्य प्राप्ति तक चलती रहती है। नियोजन के महत्त्व को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह व्यक्तिविशेष का नहीं, व्यक्तिमात्र का कर्त्तव्य है।[164]

(2) संगठन या व्यवस्था (Organizing)

संगठन वह साधन है, जो नियोजन द्वारा निर्धारित उद्देश्यों, नीतियों, कार्यविधियों, नियमों और रणनीतियों का क्रियान्वयन करता है।[165] यह मानव और भौतिक संसाधनों का इस प्रकार से एकीकरण करता है कि वे समन्वित होकर सृजनात्मक और उत्पादनात्मक प्रक्रियाओं (Constructive & Productive Interrelationship) से जुड़ जाएँ, जिससे निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।

संगठन–प्रक्रिया के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नलिखित कार्यों का समावेश होता है[166] –

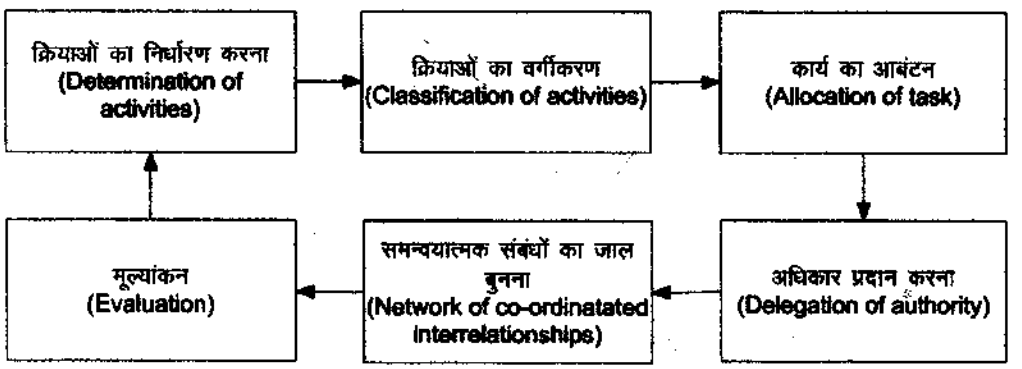

संगठन–प्रक्रिया (Organizational Process)

(क) क्रियाओं का निर्धारण (Determination of Activities) – उद्देश्य की प्राप्ति और योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक क्रियाओं का निर्धारण करना संगठनात्मक प्रक्रिया का प्रथम चरण है। इस चरण में सम्पूर्ण कार्यों को क्रियाओं और उपक्रियाओं के रूप में विभाजित किया जाता है।

(ख) क्रियाओं का वर्गीकरण (Classification of Activities) – इसका आशय समान और सजातीय क्रियाओं को सामूहिक रूप से किसी वर्गविशेष में रखना है। इसके अन्तर्गत एक वर्ग की परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं को विभागों एवं क्षेत्रों में विभक्त किया जाता है। तत्पश्चात् इन विभागीय एवं क्षेत्रीय क्रियाओं को पुनः खण्डों और उपखण्डों में विभक्त किया जाता है, जिससे कार्य का क्रियान्वयन आसान और स्पष्ट हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ग) कार्य का वितरण (Allocation of Task) – सम्बन्धित विभागों या व्यक्तियों की योग्यता, चातुर्य और अनुभव के आधार पर उन्हें कार्य सौंपना ही कार्य का वितरण या आवंटन कहलाता है। यह तीसरा महत्त्वपूर्ण चरण है, जिसमें कार्य की गति और कार्य के प्रति उत्तरदायित्व की भावना बढ़ती है।

(घ) अधिकार प्रदान करना (Delegation of Authority) – कर्त्तव्य के वितरण के साथ–साथ सम्बन्धित विभागों या व्यक्तियों को अधिकार प्रदान करना भी आवश्यक है, जिससे वे निर्दिष्ट कार्य को करने या कराने में समर्थ हो सकें।

(ङ) समन्वयात्मक सम्बन्धों की रचना (Formation of Coordinated Interrelationships) – उद्देश्य और कार्य की एकता के लिए समन्वय अत्यन्त आवश्यक है। समन्वय के लिए व्यक्तिविशेष को अन्य विभागों एवं व्यक्तियों से परिचित होना आवश्यक है। उसे इसका भान होना चाहिए कि मुझे किससे मार्गदर्शन लेना है, किससे सहयोग लेना है और किसे सहयोग देना है इत्यादि। इससे परस्पर सहयोगात्मक और स्वस्थ वातावरण की रचना होती है तथा सामूहिक प्रयासों की सफलता सुनिश्चित होती है।

(च) मूल्यांकन (Evaluation) – संगठन–संरचना की प्रभावशीलता व कार्यकुशलता का मूल्यांकन करना अन्तिम और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरण है, जिससे बदलते हुए परिवेश में संगठन–प्रक्रिया में वांछनीय परिवर्त्तन या संशोधन किया जा सके।

जैनदर्शन में प्राचीनकाल से ही संगठन या व्यवस्था की प्रक्रिया बताई गई है। भगवान् ऋषभदेवजी ने स्वयं सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक व्यवस्था की स्थापना की। गृहस्थावस्था में रहते हुए उन्होंने शिक्षा–व्यवस्था, परिवार–व्यवस्था, समाज–व्यवस्था, राज्य–व्यवस्था आदि का प्रवर्त्तन किया। तीर्थंकर अवस्था में रहते हुए उन्होंने श्रमण, श्रमणी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की तथा ऐसी सुव्यवस्था प्रदान की कि ये मोक्षमार्ग में अग्रसर हो सकें।

संगठन सम्बन्धी जिन कार्यों का वर्णन ऊपर किया गया है, उनका प्रचलन जैन–परम्परा में प्राचीन काल से ही रहा है। उदाहरणस्वरूप, राज्याभिषेक के पश्चात् ऋषभदेव ने तत्कालीन संगठनात्मक संरचना का **मूल्यांकन** करते हुए उसमें वांछनीय संशोधन किया। इसके अन्तर्गत उन्होंने राज्य की सुव्यवस्था और विकास के लिए **विविध कार्यों का निर्धारण** किया। तत्पश्चात् सजातीय कार्यों का **विभागीकरण** करते हुए सुरक्षा–व्यवस्था हेतु आरक्षक–दल, राजकीय–व्यवस्था में परामर्श हेतु मंत्रीमण्डल, अतिरिक्त सलाह के लिए परामर्शमण्डल और सामान्य कार्यों के लिए कर्मचारी–वर्ग की स्थापना की। उसके बाद उन्होंने इन विभागों हेतु योग्य व्यक्ति या व्यक्तियों का चुनाव कर **कार्यों का वितरण** किया, इन्हें क्रमशः उग्र, भोग, राजन्य एवं क्षत्रिय नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इतना ही नहीं, कार्यों के सम्यक् निर्वहन के लिए इन्हें उचित **अधिकार–प्रदान** किए और **पारस्परिक समन्वयात्मक सम्बन्धों की स्थापना** भी की।[167]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) संसाधन (Resourcing)

प्रबन्धन का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है – संसाधन। इसका आशय योग्य सामग्रियों द्वारा योग्य कार्य को निष्पन्न करना है। जीवन प्रबन्धन के सन्दर्भ में संसाधन दो प्रकार के होते हैं – क) मानव (Human) और ख) गैर–मानव (Non–Human)। मानव–संसाधन के अन्तर्गत कार्य के सम्यक् निष्पादन में सहायक मनुष्यों का समावेश होता है, जबकि गैर–मानव संसाधन में भूखण्ड, सम्पत्ति, उपकरण, पूंजी, माल, हाथी, घोड़े आदि चराचर सामग्रियों का समावेश होता है।

सामान्यतया गैर–मानव संसाधनों को ही एकमात्र संसाधन माना जाता है, किन्तु यह मान्यता सही नहीं है। वस्तुतः, मानव–संसाधन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संसाधन है, जो अपनी क्षमताओं का प्रयोग करके गैर–मानव संसाधनों का सम्यक् उपयोग करता है। अतः किसी अपेक्षा से प्रबन्धन व्यक्तियों का विकास ही है, न कि वस्तुओं का निर्देशन, क्योंकि यदि व्यक्ति का प्रबन्धन हो जाए, तो भौतिक सामग्रियों का प्रबन्धन स्वतः हो जाएगा।

आधुनिक प्रबन्धन–प्रणाली में संसाधन को मानव–संसाधन (Staffing) के रूप में ही माना गया है तथा गैरमानव–संसाधन को कच्चे माल एवं बुनियादी ढाँचे (Infrastructure) के रूप में स्वीकार किया गया है।[168]

संसाधन (Resourcing) के अन्तर्गत निम्न कार्यों का समावेश होता है –

1) योग्य संसाधनों की आवश्यकता सम्बन्धी योजना बनाना।
2) योग्य संसाधनों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना।
3) योग्यतम संसाधनों का चयन करना।
4) चयनित संसाधनों को कार्यों में प्रयुक्त करना।
5) मानव संसाधनों को आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक संरक्षण देकर अभिप्रेरित करना और भौतिक संसाधनों का सम्यक् रख–रखाव करना।
6) समय–समय पर मानव संसाधनों की क्षमता का परिष्करण एवं परिवर्धन तथा भौतिक संसाधनों की मरम्मत एवं नवीनीकरण करना।

जैनदर्शन में संसाधनों का विशिष्ट महत्त्व है और इसमें भी मानव–संसाधनों की श्रेष्ठता निर्विवाद है। यही कारण है कि इसमें साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका को विशेष सम्माननीय स्थान दिया गया है। यहाँ तक कि भगवान् ऋषभदेव के काल में मानव–संसाधनों के संरक्षण एवं विकास के उद्देश्य से ही अनेक व्यवस्थाओं का सूत्रपात हुआ, जैसे – राज–व्यवस्था, मंत्रीमण्डल–व्यवस्था, परामर्शमण्डल–व्यवस्था, ग्राम–व्यवस्था, वर्ण–व्यवस्था, विवाह–व्यवस्था, परिवार–व्यवस्था, आजीविका–व्यवस्था (असि, मसि एवं कृषि सम्बन्धी), कला–प्रशिक्षण–व्यवस्था, आरक्षक–व्यवस्था, दण्ड–व्यवस्था आदि।[169]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में गैर–मानव संसाधनों का भी यथोचित महत्त्व है। लौकिक जीवन की अपेक्षा से यहाँ कला और शिल्प का निर्देश दिया गया है, तो लोकोत्तर जीवन की अपेक्षा से जिनालय, उपाश्रय, स्थानक, तीर्थ, ग्रन्थ एवं अन्य उपकरणों का भी महत्त्व बताया गया है।

(4) निर्देशन (Directing)[170]

प्रबन्धन–प्रक्रिया में कुशल संचालन या निर्देशन भी नितान्त आवश्यक है। इसके अन्तर्गत तीन कार्यों का समावेश होता है – नेतृत्व (Leadership), अभिप्रेरण (Motivation) एवं संप्रेषण (Communication)। वस्तुतः, निर्देशन नेतृत्व करने का कार्य है, जिससे नियुक्त किया गया व्यक्ति कुशलतापूर्वक कार्य निष्पन्न कर सके। कुशल–निर्देशक इस प्रकार से व्यक्ति को अभिप्रेरित करता है कि वह पूर्ण उत्साह और आत्मविश्वास के साथ अपनी अधिकतम क्षमता का उपयोग कर सके। इतना ही नहीं, सही निर्देशक अपने लक्ष्य, नीति, कार्यक्रम, नियम आदि के विषय में उचित व्यक्ति के साथ उचित संप्रेषण भी करता है। संप्रेषण के माध्यम से ही कार्य का स्पष्टीकरण, किए गए कार्य का पर्यवेक्षण (Supervision) तथा कार्य सम्बन्धी परामर्श प्रदान करना सम्भव हो पाता है। किसी ने सच ही कहा है, "Manage–men–t" अर्थात् Manage the men tactfully।

जैनदर्शन में भी निर्देशन प्रक्रिया को एक आवश्यक कर्त्तव्य माना गया है। जहाँ तक नेतृत्व का प्रश्न है, व्यवहारसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि श्रमण निर्ग्रन्थों को आचार्य और उपाध्याय के नेतृत्व में ही रहना चाहिए, क्योंकि आचार्य के नेतृत्व में इनकी संयम–समाधि बनी रहती है और उपाध्याय के नेतृत्व में इनका आगमानुसार व्यवस्थित अध्ययन होता है।[171] किन्तु यहाँ केवल दूसरों को ही नहीं, अपितु स्वयं को भी निर्देशित करने की बात कही गई है। उदाहरणस्वरूप, जैनसंघ में आचार्य भगवन्तों को दीपक की उपमा दी जाती है,[172] क्योंकि ये एक ओर अपनी आत्मशुद्धि हेतु स्वयं ही स्वयं को निर्देश देते हैं, तो दूसरी ओर सारणा (हितकारी कार्यों में लगाना), वारणा (विपरीत कार्यों से हटाना), चोयणा (मधुर शब्दों से प्रेरणा देना) एवं पडिचोयणा (बारम्बार प्रेरणा देना) के माध्यम से अपने विशाल शिष्य समुदाय का संचालन भी करते हैं।[173]

(5) समन्वयन (Coordinating)

समन्वय का आशय प्रबन्धन–प्रक्रिया के विभिन्न कार्यों को एक सूत्र में पिरोना है, जिससे वे सभी कार्य मिलकर उद्देश्य की प्राप्ति कर सकें। वास्तव में यह प्रबन्धन का सार–तत्त्व है। प्रबन्धन के प्रत्येक कार्य में इसका अंश अवश्य पाया जाता है। इ.एफ.एल. ब्रेच के अनुसार, "किसी समूह के सदस्यों के बीच इस ढंग से कार्य का वितरण करना कि उनमें परस्पर सन्तुलन एवं सहयोग बना रहे तथा यह देखना कि कार्य सद्भावना के साथ सम्पन्न हो जाए, समन्वय कहलाता है।"[174]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समन्वय के अन्तर्गत निम्नलिखित उपकार्यों का समावेश होता है[175] –

1) कर्त्तव्य और अधिकार की स्पष्टता (Clarity of Authority & Responsibility)
2) निर्देशन की एकता (Unity of Direction)
3) आदेश की एकता (Unity of Command)
4) प्रभावी संप्रेषण (Effective Communication)
5) प्रभावी नेतृत्व (Effective Leadership)

जैनदर्शन में समन्वयात्मक जीवनशैली पर बहुत बल दिया गया है। इसका आधारभूत सिद्धान्त है – अनेकान्तवाद। अनेकान्तवाद वस्तुतः एक–दूसरे की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर जीवन–व्यवहार करने की कला सिखाता है। इसके उत्कृष्ट उदाहरण आचार्य होते हैं, जो स्वयं आचार, ज्ञान, शारीरिक–स्वस्थता, वचन, वांचना, मति (बुद्धि), प्रयोगमति एवं संग्रहपरिज्ञा (धर्म–प्रभावना) – इन आठ योग्यताओं में निपुण होते हैं। इन सद्गुणों के बल पर वे अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों का सम्यक् निर्वाह करते हुए सम्पूर्ण संघ के सदस्यों की सुरक्षा एवं विकास भी करते हैं।[176] इस प्रकार अनेकान्तवाद का सिद्धान्त यदि प्रयोग में लाया जाए, तो निश्चित रूप से यह व्यक्ति के सामाजिक जीवन को समन्वित करने में सफल हो सकता है।

(6) नियन्त्रण (Controlling)

निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किए जा रहे प्रयासों की जाँच करना तथा यदि उनमें किसी प्रकार की त्रुटि हो, तो उसे दूर करना नियन्त्रण कहलाता है।[177] इस प्रक्रिया में निम्नलिखित उपकार्यों का समावेश होता है[178] –

1) पूर्व–निर्धारित लक्ष्य के सापेक्ष किए गए वास्तविक कार्य का मूल्यांकन करना।
2) निर्धारित लक्ष्य और निष्पादित कार्य के अन्तर को पहचानना।
3) अन्तर को समाप्त करने के लिए सुधारात्मक उपाय करना।

जैनदर्शन में नियन्त्रण को जीवन–प्रबन्धन का अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है। यहाँ स्व और पर दोनों पर नियन्त्रण की बात कही गई है। जहाँ सामाजिक जीवन में भूमिकानुसार पर–नियन्त्रण को स्थान दिया गया है, वहीं आध्यात्मिक जीवन में स्व–नियत्रंण को महत्त्व दिया गया है। यही कारण है कि एक ओर आचार्य का यह कर्त्तव्य है कि वे शिष्यों को संयम और त्याग–तप सम्बन्धी समाचारी का ज्ञान कराएँ तथा शिष्यों में उत्पन्न दोषों का शमन कराएँ, वहीं दूसरी ओर वे अपने संयम गुणों एवं आत्मसमाधि की पूर्णरूपेण सुरक्षा एवं वृद्धि करें।[179] वस्तुतः, जैनदर्शन में पर–नियन्त्रण की अपेक्षा स्व–नियन्त्रण को अधिक महत्त्व दिया गया है। कहा भी गया है, 'जो अपने पर अनुशासन नहीं रख पाता, वह औरों पर अनुशासन कैसे कर सकता है।'[180] इस आत्म–नियन्त्रण की अपेक्षा से ही प्रतिक्रमण, आलोचना एवं प्रत्याख्यान का निर्देश दिया गया है। यह जीवन–प्रबन्धन के लिए अत्यन्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार, प्रबन्धन के प्रमुख कर्त्तव्य हैं – नियोजन, संगठन, संसाधन, निर्देशन, समन्वयन और नियन्त्रण। इन कर्त्तव्यों की यह विशेषता है कि ये परस्पर एक–दूसरे में गुँथे हुए हैं। अतः, इनकी व्याख्या भले ही क्रम से होती हो, फिर भी प्रायोगिक रूप में ये किसी भी क्रम से प्रयोग में लाए जा सकते हैं। यह तथ्य निम्न चित्र से स्पष्ट है –

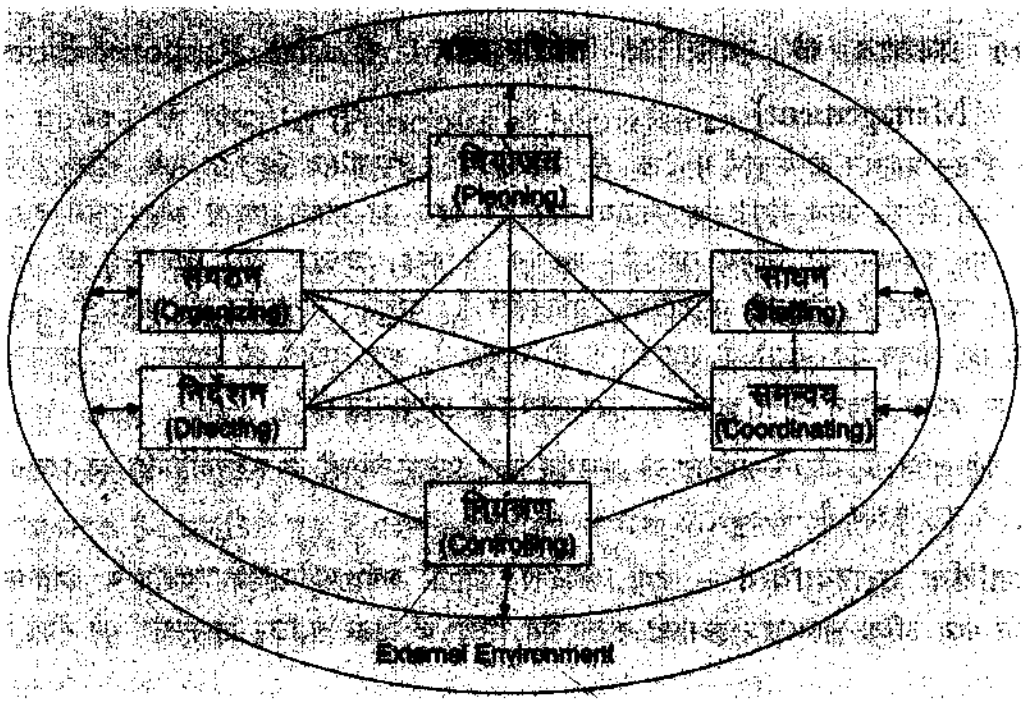

प्रबन्धन के कार्यों का परस्पर सम्बन्ध[181]

1.4.9 प्रबन्धन की प्रकृति (Nature of Management)

प्रबन्धन की प्रकृति वस्तुतः प्रबन्धन के विविध उपयोग का आधार है। जैसे एक कुशल चिकित्सक औषधि का प्रयोग तभी कर पाता है, जब उसे औषधि के स्वभाव की सही समझ हो, वैसे ही प्रबन्धन का कुशल प्रयोग तभी सम्भव है, जब प्रबन्धन की प्रकृति का समुचित परिज्ञान हो। अतः कुशल प्रबन्धक को चाहिए कि वह प्रबन्धन की प्रकृति या स्वभाव से भली–भाँति परिचित हो और उसका आवश्यकतानुसार प्रयोग करे, अन्यथा जब तक प्रबन्धन का सम्यक् प्रयोग नहीं किया जाता, तब तक लक्ष्य की प्राप्ति भी शंकास्पद रहती है। अतः प्रबन्धन की प्रकृति को जानना अत्यावश्यक है, यह जीवन–प्रबन्धन के लिए भी अपेक्षित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक प्रबन्धनशास्त्रियों ने प्रबन्धन की प्रकृति को समझाने के लिए निम्न तथ्य बताए हैं–

1) प्रबन्धन एक कला है (Management is an Art)।
2) प्रबन्धन एक विज्ञान है (Management is a Science)।
3) प्रबन्धन एक प्रणाली है (Management is a System)।
4) प्रबन्धन एक सामाजिक–उत्तरदायित्व है (Management is a Social Responsibility)।[182]

1.4.10 प्रबन्धन के सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Responsibilities of Management)

जीवन प्रबन्धन के सन्दर्भ में देखें, तो प्रबन्धन का उत्तरदायित्व संकुचित नहीं, बल्कि व्यापक है, क्योंकि यह सिर्फ स्वार्थ–सिद्धि का उपाय नहीं है। स्वयं का पोषण करना और दूसरों का शोषण करना, यह प्रबन्धन का उद्देश्य नहीं है। प्रबन्धन तो सेवा, सहयोग और सहिष्णुता की नीति पर आधारित व्यवस्था है, जिसकी उपयोगिता सार्वजनीन है। वस्तुतः, जैनदर्शन की शिक्षा भी यही है कि प्राणियों का जीवन एक–दूसरे के सहयोग से ही चलता है, अतः व्यक्ति को सहयोग का आदान–प्रदान करते हुए अपना जीवन जीना चाहिए – **परस्परोपग्रहो जीवानाम्।**[183]

मेरी दृष्टि में, जीवन–प्रबन्धन के अन्तर्गत जिन प्रमुख सामाजिक उत्तरदायित्वों का पालन करना चाहिए, वे इस प्रकार हैं –

(1) आर्थिक उत्तरदायित्व – राष्ट्र, सरकार, स्वामी, कर्मचारी, ग्राहक, पर्यावरण आदि सभी के हितों के मध्य उचित सामंजस्य स्थापित करना एवं संस्था के हितों के लिए निजस्वार्थ को गौण करना।

(2) पारिवारिक उत्तरदायित्व – परिवार के प्रत्येक सदस्य के प्रति उचित व्यवहार करना। बड़ों के प्रति आदर, छोटों के प्रति वात्सल्य और समान वय वालों के प्रति प्रेम एवं स्नेह रखना। जीवन में स्वहित की अपेक्षा पारिवारिक हितों को मुख्यता देना।

(3) अन्य सामाजिक उत्तरदायित्व – कुटुम्ब, अड़ोसी–पड़ोसी, मित्र एवं अन्य परिचितों के प्रति मैत्रीभाव अर्थात् अद्वेष–बुद्धि रखना।

(4) राष्ट्रीय उत्तरदायित्व – राष्ट्रीय सम्पत्ति एवं संसाधनों का समुचित संप्रयोग और संरक्षण करना।

(5) शासकीय उत्तरदायित्व – शासकीय कानूनों का समुचित पालन करना, करों का उचित भुगतान करना, तस्करी, जमाखोरी, कालाबाजारी, मुनाफाखोरी एवं भ्रष्टाचारी नहीं करना इत्यादि।

(6) धार्मिक (नैतिक) उत्तरदायित्व – धर्म के सही मर्म को समझना, उसकी शिक्षाओं को विचार और व्यवहार में उतारना, धर्म का उचित प्रचार–प्रसार करना, धार्मिक–सम्पत्ति के संरक्षण और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभिवृद्धि में सहयोग देना इत्यादि।

इस प्रकार, प्रबन्धन केवल व्यक्ति या संस्था विशेष के प्रति ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानवता के प्रति उत्तरदायी होता है। पीटर एफ. ड्रकर के अनुसार, प्रबन्धन का उत्तरदायित्व उपक्रम के प्रति भी होता है, जो समाज का एक अंग है और समाज के प्रति भी होता है, जिसका अंग कोई उपक्रमविशेष है।[184] जैनआचारमीमांसा पर आधारित जन–जन में प्रचलित **'जिओ और जीने दो' (Live & let live)** की उक्ति भी इसी बात को परिलक्षित करती है। यह मनुष्य के विचार, वाणी और व्यवहार में दृष्टिगोचर होना आवश्यक है, क्योंकि यह उसे समाज में जीने की सम्यक् कला सिखाती है।

1.4.11 प्रबन्धन के सिद्धान्त (Principles of Management)

सामाजिक जीवन की आम समस्या है – वैचारिक, वाचिक और व्यावहारिक संघर्षों का होना। ये संघर्ष जब क्रोध, कलह और क्लेश का रूप ले लेते हैं, तो पारस्परिक व्यवहार में उदारता का अभाव होकर कार्य के प्रति उत्साह में कमी आ जाती है, जिससे सामाजिक परिवेश असामान्य (Abnormal) हो जाता है। दुष्परिणाम यह निकलता है कि सभी अपने–अपने वैयक्तिक स्वार्थ को साधने में लग जाते हैं। पद, प्रतिष्ठा और पैसा मुख्य बन जाते हैं, जबकि कार्य का सम्यक् नियोजन एवं क्रियान्वयन गौण हो जाता है। फलतः सामूहिक प्रयास का सार्थक फल प्राप्त नहीं हो पाता।

इस विसंगति से बचने के लिए व्यक्ति के समक्ष सामाजिक जीवन के प्रबन्धन–सिद्धान्तों का होना अत्यावश्यक है। आधुनिक युग में प्रबन्धन–सिद्धान्तों के पिता सर हेनरी फेयॉल (Henry Feyol) ने प्रशासन के 14 सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, जो इस प्रकार हैं –

1) कर्त्तव्य और अधिकार का सम्बन्ध
2) आदेश की एकता
3) निर्देश की एकता
4) आदेश की श्रेणिबद्ध शृंखला
5) कार्य का विभाजन
6) अनुशासन
7) सर्वहित के लिए वैयक्तिक स्वार्थ की गौणता
8) पारिश्रमिक और पारितोषिक
9) केन्द्रीकरण
10) व्यवस्था
11) समता
12) व्यक्ति के कार्यकाल का स्थायित्व
13) पहल
14) सहकारिता और टीम–भावना

जैनधर्मदर्शन में भी प्राचीनकाल से ही प्रबन्धन के उपर्युक्त सिद्धान्त किसी न किसी रूप में प्रचलित रहे हैं। वस्तुतः, ये सिद्धान्त नवीन नहीं, अपितु लौकिक एवं नैतिक जीवन–मूल्यों पर आधारित प्राचीन सिद्धान्त हैं। यदि तुलनात्मक रूप से देखा जाए, तो यह प्रतीत होता है कि जैनदर्शन और फेयॉल के सिद्धान्तों में कहीं न कहीं एकरूपता है। यद्यपि देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर इनमें थोड़ी भिन्नता भी दिखाई देती है, फिर भी वह अत्यल्प है। इतना अवश्य है कि सर हेनरी फेयॉल ने इनकी उपयोगिता सिर्फ उद्योगों एवं व्यवसायों तक ही सीमित मानी है, जबकि जैनदर्शन में इन्हें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक सामाजिक पहलू के प्रबन्धन हेतु उपयोगी माना गया है और इसीलिए जैनधर्मदर्शन की सामाजिक जीवन–प्रणाली में ये सिद्धान्त स्पष्टतया समझाए गए हैं।

विस्तारभय से प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में इन सिद्धान्तों का अतिविस्तृत विवेचन नहीं किया जा रहा है, फिर भी, यह मानना आवश्यक है कि जीवन के आर्थिक, पारिवारिक, कौटुम्बिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, राष्ट्रीय, धार्मिक आदि समस्त सामाजिक पक्ष, जिनमें व्यक्ति को व्यक्ति के साथ जीना होता है, उनमें कहीं न कहीं इन सिद्धान्तों का प्रयोग करना आवश्यक है, ताकि सामाजिक जीवन में व्याप्त संघर्षों का अभाव होकर तनाव–मुक्त एवं समरसतापूर्ण जीवनशैली का सम्यक् विकास हो सके। आगे, आधुनिक एवं जैनदृष्टि को आधार बनाकर इनका संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है –

(1) कर्त्तव्य और अधिकार का सम्बन्ध (Responsibilities & Authority are Related) – कर्त्तव्य और अधिकार हमेशा सहगामी होते हैं। किसी भी व्यक्ति को कार्य सौंपते हुए कार्य के कुशल निष्पादन हेतु आवश्यक अधिकार भी सौंपे जाने चाहिए और साथ ही जिस व्यक्ति को अधिकार मिलते हैं, उसे अपने कर्त्तव्यों का बोध भी होना चाहिए।[185]

जैनधर्मसंघ में भी आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणि, गणधर एवं गणावच्छेदक – ये सात पदों की व्यवस्था है, जिन पर आसीन करने के साथ–साथ साधक को उचित कर्त्तव्य भी सौंपे जाते हैं। यह व्यवस्था वस्तुतः अधिकार के साथ कर्त्तव्यों के समन्वय की द्योतक है।[186]

(2) आदेश की एकता (Unity of Command) – किसी व्यक्ति को मिलने वाले समस्त आदेश एक अधिकारी से ही प्रेषित होने चाहिए, जिससे वह व्यक्ति एक ही अधिकारी के प्रति पूर्ण उत्तरदायी बन सके। आदेश की एकता न होने पर अनुशासन भंग होने की आशंका बनी रहती है तथा दोहरा शासन होने से वातावरण भी दुविधामय हो जाता है।[187]

जैनसंघ में भी सामान्यतया आदेश की एकता का सिद्धान्त ही अपनाया जाता रहा है, फिर भी कभी–कभी अपवादस्वरूप अन्य उच्च पदवीधारियों से सीधे प्रेषित आदेशों का पालन भी सम्बन्धित व्यक्ति को करना होता है। इतना अवश्य है कि आचार्य का आदेश ही अन्तिम माना जाता है।[188]

(3) निर्देश की एकता (Unity of Direction) – किसी उद्देश्य से सम्बन्धित क्रियाकलापों को सम्पन्न करने के लिए कोई वर्ग या समूह उत्तरदायी होता है और उस वर्गविशेष के कार्यों के कुशलतापूर्वक संचालन हेतु एक ही निर्देशक होना चाहिए।[189]

इसी प्रकार, जैनधर्म पर आधारित संघीय व्यवस्था में सामान्यतया निर्देश की एकता का सिद्धान्त ही मान्य है, फिर भी परिस्थितिविशेष में अन्य उच्च पदस्थों के द्वारा सीधे दिए जाने वाले निर्देशों का पालन भी सम्बन्धित वर्ग या समूह को करना होता है। इतना सुनिश्चित है कि आचार्य का निर्देश ही सर्वोच्च होता है।[190]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदेश और निर्देश में अन्तर

फ़ेयॉल के अनुसार, आदेश व्यक्ति के लिए होता है, जबकि निर्देश वर्गविशेष या समूहविशेष के लिए होता है। आदेश में लोच का अभाव होता है, जबकि निर्देश लोचपूर्ण होता है। आदेश में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं होता, जबकि निर्देश में देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर एक सीमा तक संशोधन या समायोजन किया जा सकता है।

किसी अपेक्षा से व्यक्ति के व्यक्तित्व में एकरूपता होती है, अतः उसके लिए आदेश आवश्यक होता है, ताकि उसमें वह अपनी स्वेच्छा को न जोड़ सके। इसके विपरीत, समूह में रुचि–वैचित्र्य और क्षमता–वैचित्र्य होता है, अतः उसके लिए निर्देश आवश्यक होता है, ताकि व्यक्तियों की भिन्न–भिन्न क्षमता और परिस्थिति का आकलन कर उन्हें अलग–अलग निर्देश दिए जा सकें।

(4) आदेश की श्रेणिबद्ध शृंखला (Scalar Chain of Command) – फेयॉल के अनुसार, संस्था के समस्त सदस्य ऊपर से नीचे की ओर एक सीधी रेखा के रूप में संगठित होने चाहिए तथा सभी सदस्यों को चाहिए कि वे अपनी पद–मर्यादा का उल्लंघन नहीं करें। इसका आशय यह है कि सदस्यों की क्रमिक शृंखला में से किसी भी स्तर अथवा सदस्य का अनादर न हो जाए, जिससे संस्था की एकता भंग होकर परस्पर अनबन हो।

विशिष्ट परिस्थितियों में कार्य के शीघ्र निष्पादन हेतु फेयॉल ने इस सिद्धान्त में लचीलेपन को भी मान्य किया है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि आपवादिक परिस्थिति में एक विभाग का कार्यकर्त्ता दूसरे विभाग के कार्यकर्त्ता से सीधे सम्पर्क कर सकता है।[191] यह बात जैनधर्म की संघीय व्यवस्था में भी परिलक्षित होती है। जैन–संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक आदि पदों की व्यवस्था द्वारा यह बताया गया है कि ये पदवीधारी अपने ऊपर के संघ के पदाधिकारियों के आदेशों के क्रियान्वयन में संलग्न रहें। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आदेश को परिवर्तित करने का अधिकार तो नहीं होता, किन्तु देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति को ध्यान में रखकर निर्देश में यथोचित परिवर्तन करके उसे क्रियान्वित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में उत्सर्ग और अपवाद – ऐसी दो विधाएँ जैननीतिशास्त्रों में प्रस्तुत की गई हैं। इनके अनुसार, सामान्य परिस्थिति में 'उत्सर्ग' (सामान्य विधि) का पालन करना होता है, किन्तु विशेष परिस्थिति में 'अपवाद' का सेवन भी किया जा सकता है।[192]

(5) कार्य का विभाजन (Division of Work) – फेयॉल के अनुसार, प्रत्येक कार्य को कार्यांशों में विभाजित करके उन कार्यांशों को योग्य और प्रशिक्षित व्यक्तियों से सम्पन्न कराना चाहिए। इसे सही व्यक्ति को सही कार्य सौंपना (Right Person at the Right Job) भी कहते हैं। इसमें व्यक्ति की दक्षता (Specialization) का लाभ प्राप्त होकर न्यूनतम समय में अधिकतम परिमाण और गुणवत्ता का कार्य सम्पन्न हो जाता है।[193]

जहाँ तक जैनसंघ का सम्बन्ध है, इसमें कार्यों के विभाजन की यह व्यवस्था प्राचीनकाल से ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रही है। इसमें संघ के प्रशासन का कार्य आचार्य का एवं शिक्षा–दीक्षा का कार्य उपाध्याय का होता है। इसी प्रकार संघ में जो विभिन्न पद निर्धारित किए गए हैं, उनके अपने–अपने दायित्व भी सुनिश्चित किए गए हैं। छेद–सूत्रों में यह भी बताया गया है कि कौन–सा व्यक्ति किस पद का अधिकारी हो सकता है तथा उसके क्या–क्या दायित्व हो सकते हैं।[194]

(6) अनुशासन (Discipline) – अनुशासन से तात्पर्य है – अपने से उच्च अधिकारी की आज्ञा का पालन करना, नियमों के प्रति निष्ठा रखना तथा सम्बन्धित अधिकारियों के प्रति आदरभाव होना। फेयॉल के अनुसार, "बुरा अनुशासन एक बुराई है, जो प्रायः बुरे नेतृत्व से आती है।" दूसरे शब्दों में, एक अच्छा नेता ही अच्छा अनुशासन कायम कर सकता है।[195]

जहाँ तक अनुशासन का प्रश्न है, जैनसंघ की व्यवस्था अनुशासन के प्रति प्राचीनकाल से ही सजग रही है। जैनसंघ में सदैव आचार्य, उपाध्याय आदि के प्रति निष्ठा रखने और उनके आदेशों के सम्यक् परिपालन हेतु बल दिया गया है।[196] आचार्य, उपाध्याय आदि का अनुशासन कैसा हो, इसकी चर्चा विभिन्न जैनग्रंथों में विस्तार से की गई है।

(7) सर्वहित के लिए वैयक्तिक स्वार्थ की गौणता (Subordination of Individual Interest to General Interest) – एक कुशल प्रबन्धक का कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह सामूहिक हितों एवं व्यक्तिगत स्वार्थ में उचित सामंजस्य एवं समन्वय रखे। यदि इन दोनों में टकराव होने लगे, तो वह सामूहिक हितों को प्राथमिकता दे।[197] उसे चाहिए कि वह न्याय, दृढ़ता तथा सर्तकता के साथ कार्य करे, इसीलिए जैनदर्शन की साधना–पद्धति में आत्महित के साथ संघहित को भी प्राथमिकता दी गई है। वस्तुतः, जैनदर्शन की यह मान्यता है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का विर्सजन करना चाहिए, किन्तु नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की अवहेलना करके परार्थ करना उचित नहीं है।[198]

(8) पारिश्रमिक और पारितोषिक (Remuneration) – संस्था के प्रत्येक व्यक्ति को सन्तोषप्रद पारिश्रमिक और पारितोषिक दिया जाना चाहिए, जिससे कर्त्तव्यों के प्रति उपेक्षाभाव और सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न न हो। कार्यकर्त्ताओं को प्रोत्साहित करने के लिए वित्तीय के साथ–साथ गैरवित्तीय सहयोग, जैसे – चिकित्सा–सुविधा, गृह–सुविधा, कार्यालयीन–सुविधा आदि भी अपेक्षित हैं और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।[199] इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि व्यक्ति का शोषण नहीं करना चाहिए, अपितु उसके कार्य का सम्यक् पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए। इससे वह अत्यन्त सन्तुष्ट होकर पहले से भी अधिक कार्य करता है। इस प्रकार, स्वामी–सेवक सम्बन्ध में आत्मीयता, कार्य–निष्पादन में कुशलता और उत्पादक क्षमता में अभिवृद्धि होती है।[200]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(9) केन्द्रीकरण (Centralisation) – संस्था के प्रबन्धन में केन्द्रीकरण की नीति अपनाई जाए अथवा विकेन्द्रीकरण की, इसका निर्णय संस्था के व्यापक हितों, कार्यकर्त्ताओं की मनोभावनाओं और कार्य की प्रकृति आदि समस्त तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद करना चाहिए। सामान्यतया लघु संस्थाओं में केन्द्रीकरण और बड़ी संस्थाओं में विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाई जाती है, फिर भी इनका अनुपात परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है।[201]

जैनधर्मदर्शन में संघ के स्थान पर आचार्य पद को ही सर्वोपरि माना गया है और समस्त सत्ता उसमें ही केन्द्रित कर दी गई है। फिर भी, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इसमें देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण दोनों की ही व्यवस्था दी गई है और यह माना गया है कि आचार्य आदि पर भी संघ के निर्णय की बाध्यता बनी रहे।[202]

(10) व्यवस्था (Arrangement) – व्यवस्था के सम्बन्ध में फेयॉल ने दो उपसिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं[203] –

1) प्रत्येक वस्तु के लिए एक नियत स्थान हो और उसी स्थान पर वस्तु को रखा जाए।

2) प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक नियत स्थान हो और उसी स्थान पर व्यक्ति की उपस्थिति हो।

जैनग्रन्थों में भी उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त वर्णित हैं। प्रथम उपसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में देखें, तो श्रमणों (उपलक्षण से सभी) के लिए उपकरण सम्बन्धी अनेक कर्त्तव्य निर्दिष्ट हैं, जैसे – उचित उपकरणों को ग्रहण करना, सुरक्षित स्थान पर रखना, योग्य व्यक्ति को प्रदान करना आदि। आशय यह है कि व्यक्ति उपयोग की वस्तुओं का सम्यक् अवलोकन कर उन्हें उचित स्थान पर स्थापित करे। द्वितीय उपसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में भी जैनदर्शन में अनेक निर्देश मिलते हैं, जैसे – तीर्थंकर परमात्मा के समवसरण में बारह प्रकार की पर्षदाओं (वर्गों) का अपने–अपने नियत स्थान पर बैठना, साधु–साध्वियों का सूत्र–वांचन, अर्थ–वांचन, आहार–ग्रहण, प्रतिलेखना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय एवं रात्रि–विश्राम हेतु मण्डली–रचना करके नियत स्थान पर बैठना,[204] साधु–साध्वियों का ज्येष्ठ क्रमानुसार चलना आदि।[205]

(11) समता (Equity) – अधीनस्थ कार्यकर्त्ताओं के साथ न्याय और उदारता का व्यवहार हो, जिससे परस्पर सद्भावना और सहयोग का वातावरण दीर्घकाल तक बना रहे।[206]

यदि हम देखें, तो जैनधर्मदर्शन समता के आधार पर ही खड़ा हुआ है। भगवान् महावीर ने धर्म को व्याख्यायित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था कि आर्य–जन समता को ही धर्म मानते हैं।[207] वस्तुतः जैनधर्मदर्शन का आदि और अन्त समत्वभाव पर ही आधारित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(12) व्यक्ति के कार्यकाल का स्थायित्व (Stability of Tenure of Personnel) – जहाँ तक सम्भव हो, कर्मचारियों के कार्यकाल का स्थायित्व होना चाहिए, जिससे वे निश्चिन्तता, निष्ठा, उत्तरदायित्व एवं तत्परता के साथ कार्य कर सकें।[208]

इस सन्दर्भ में यदि हम जैनदृष्टिकोण से विचार करते हैं, तो पाते हैं कि उसकी संघीय व्यवस्था में आचार्य आदि के जो पद दिए जाते हैं, वे सभी भले ही आपवादिक परिस्थितियों में अल्पकालिक होते हैं, किन्तु सामान्य परिस्थितियों में जीवनपर्यन्त के लिए ही होते हैं,[209] अतः कार्यकाल के स्थायित्व के सन्दर्भ में जैनधर्मदर्शन और फेयॉल की मान्यता में एकरूपता दिखाई देती है।

(13) पहल (Initiative) – कुशल प्रबन्धकों को चाहिए कि वे अपने अहंकार का त्याग कर ऐसा वातावरण निर्मित करें कि अधीनस्थों की योग्यता एवं सम्पन्नता का विकास हो सके। इससे बुद्धिमान् कार्यकर्त्ताओं को पहल करने की स्वतन्त्रता मिलती है और कार्य–सन्तुष्टि (Job Satisfaction) भी अधिक होती है, जिससे वे बिना इंगित या प्रेरित किए ही कार्य करने लगते हैं।[210]

जैनधर्मदर्शन में प्रेरणा और पहल दोनों ही अलग–अलग माने गए हैं। अन्य व्यक्तियों के द्वारा प्रेरणा तो दी जा सकती है, किन्तु पहल तो स्वयं को ही करनी होती है। साधना के क्षेत्र में जैनधर्मदर्शन में भी आचार्य आदि के द्वारा ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए सदुपदेश के माध्यम से ऐसा वातावरण निर्मित होता है, जिससे लोगों में धर्म (नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य) के प्रति श्रद्धा सुदृढ़ होती है और वे किसी के दबाव में नहीं, अपितु स्वप्रेरणा से आध्यात्मिक–विकास की साधना की पहल करते हैं।[211]

(14) सहकारिता और टीम–भावना (Espirit de Corps) – संगठन में सहकारिता और सामूहिकता की भावना को प्रोत्साहित करना चाहिए। संगठन के विकास के लिए दो नीतियों से बचना चाहिए – क) फूट डालो, शासन करो तथा ख) संवादरहित लिखित सम्प्रेषण प्रणाली। यदि लिखित संप्रेषण की आवश्यकता भी हो, तो वह वाणी–सम्प्रेषण के साथ हो, जिससे कार्य की गति, विचारों की स्पष्टता और सम्बन्धों की मधुरता में अभिवृद्धि हो सके।[212]

जहाँ तक पारस्परिक सहयोग का प्रश्न है, जैनधर्मदर्शन का कहना यही है कि सहयोग जीवन की एक अनिवार्यता है। जैनदर्शन में हमेशा मैत्री, प्रमोद, करूणा और माध्यस्थ्य भावना की प्रेक्षा करने पर बल दिया गया है,[213] जिससे सहभागिता की भावना बनी रहे। तत्त्वार्थसूत्र में भी उमास्वाति ने **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि जीवन का नियम पारस्परिक सहयोग है **(The law of life is the law of cooperation)**।[214] इस पारस्परिक सहयोग की भावना के विकास हेतु जैनआचारमीमांसा में 'फुट डालो और शासन करो' की कुटिल नीति के बजाय 'जिओ और जीने दो' की सम्यक् शैली को प्रोत्साहित किया जाता है। जहाँ तक संवादरहित लिखित संप्रेषण–प्रणाली का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न है, जैनदर्शन में सदा से ही मौखिक संप्रेषण–प्रणाली की मुख्यता रही है। आवश्यकता पड़ने पर आदेश की अधिक स्पष्टता हेतु आपसी विचार–विमर्श भी किया जाता है और इसके अतिरिक्त प्रतिदिन सुबह–शाम ज्येष्ठ–वन्दना की परम्परा भी है, जिससे असंवाद की स्थिति निर्मित ही नहीं होती।[215]

इस प्रकार, उपर्युक्त चौदह सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामाजिक जीवन में अपनी भूमिका को स्पष्ट करने में, पारस्परिक व्यवहार को सम्यक् दिशा प्रदान करने में, पारस्परिक सौहार्दता का वातावरण निर्मित करने में तथा सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में सहयोगी बन सकते हैं और यह जीवन–प्रबन्धन के लिए अपेक्षित भी है।

1.4.12 प्रबन्धन का क्षेत्र (Scope of Management)

आधुनिक युग में प्रबन्धन का एक विधा (Discipline) के रूप में प्रादुर्भाव हुए 75 वर्षों से भी अधिक काल हो चुका है[216] और इसका क्षेत्र निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है, फिर भी इसका मुख्य लक्ष्य भौतिक–विकास पर ही केन्द्रित है। प्रारम्भ में औद्योगिक–विकास के लिए ही प्रबन्धन–चेतना का उद्भव हुआ और शनैः–शनैः यह अधिकतम उत्पादन और अधिकतम लाभ का एक महत्त्वपूर्ण कारक बन गया। वर्त्तमान में प्रत्येक औद्योगिक संगठन में इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया जा रहा है। इतना ही नहीं, प्रबन्धन की बढ़ती लोकप्रियता से अन्य सामाजिक क्षेत्र भी इसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सके। फलस्वरूप, प्रबन्धन की व्यापकता और उपयोगिता में दिनोंदिन अभिवृद्धि होती जा रही है और आज आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, न्यायिक, शैक्षणिक आदि अनेक संगठनों में भी इसकी आवश्यकता महसूस की जा रही है। फिर भी, इतना अवश्य है कि आधुनिक प्रबन्धन–विधा में प्रबन्धन की विषय–वस्तु मुख्यतया भौतिक संसाधनों के प्रबन्धन पर ही आधारित रही है और व्यक्तित्व–विकास का स्थान गौण ही रहा है। वर्त्तमान में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की अत्यधिक आवश्यकता है, अतः आज हमें प्रबन्धन के क्षेत्र को व्यापक बनाना होगा, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक विकास तक सीमित न रखकर, आध्यात्मिक विकास से भी जोड़ सके।

प्राचीनकाल से ही आध्यात्मिक विचारकों और साधकों ने भौतिक–विकास की अपेक्षा आध्यात्मिक–विकास को ही श्रेयस्कर माना है और इसीलिए जैनआचारशास्त्रों में जीवन के आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाने का ही लक्ष्य रहा हैं। 'जीवन कैसे जीना चाहिए?' इस ज्वलन्त और जटिल प्रश्न का सम्यक् समाधान ही इन शास्त्रों का कथ्य, तथ्य और निष्कर्ष है। दूसरे शब्दों में, जैनआचारशास्त्र की विषय–वस्तु जीवन–प्रबन्धन पर आधारित है।

निष्कर्ष यह है कि हम प्रबन्धन की अवधारणा को जीवन–निर्वाह के साथ–साथ आत्म–कल्याण के लिए भी लागू करें, क्योंकि सफलता प्राप्त करने के लिए मनुष्य चाहे आसमान को भी छू ले, फिर भी आत्मिक–शान्ति के बिना उसकी यह उड़ान अधूरी ही मानी जाएगी।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.5 जीवन–प्रबन्धन की मौलिक अवधारणा एवं स्वरूप

1.5.1 जीवन–प्रबन्धन की आवश्यकता

आधुनिक युग को तीव्र विकास का युग कहा जाता है। इसमें हुई वैज्ञानिक प्रगति से एक आम आदमी की विचारधारा में व्यापक परिवर्त्तन आया है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने शताब्दियों से प्रचलित अंधविश्वासों और अंधरूढ़ियों को ध्वस्त कर दिया है। वैज्ञानिक शिक्षा पाकर व्यक्ति अधिक तार्किक हो गया है, विश्लेषणात्मक बुद्धि से उसकी सोच व्यापक और ज्ञान गहन हो गया है। वैज्ञानिक प्रगति से औद्योगिक विकास में गति आई है, फलतः व्यक्ति की साधन–सम्पन्नता में भी अभिवृद्धि हुई है। इससे उसका आर्थिक और सामाजिक स्तर भी बहुत उन्नत हुआ है। जीवन जीने के लिए आवश्यक साधन न केवल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो रहे हैं, बल्कि क्रयशीलता बढ़ जाने से सुख–सुविधा के साधनों की पहुँच आम आदमी तक हो गई है। अतः यह कल्पना होना स्वाभाविक है कि आज जीवन कितना सुखमय हो गया है, जबकि यह केवल एक भ्रान्ति है।

जीवन जीने के चार साधन हैं – समय, समझ, सामर्थ्य और सामग्री, जिनका हर व्यक्ति अधिकाधिक दोहन करना चाहता है। आज के युग का नारा है – 'अल्पातिअल्प समय में कल्पनातीत विकास करना'। क्या पुरूष और क्या महिलाएँ, क्या बालक और क्या वृद्ध, क्या ग्रामीण और क्या शहरी, क्या नेता और क्या अभिनेता, क्या अफसर और क्या व्यवसायी – सभी विकास की अंधी दौड़ में भाग रहे हैं, इसीलिए इस युग को 'जेट युग' भी कहा जाता है।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति विकास के सुनहरे सपने देख रहा है और दिन–रात परिश्रम कर रहा है, फिर भी यह सत्य है कि आज न लक्ष्य का सम्यक् निर्धारण है और न ही मार्ग की सुस्पष्टता। यह अन्तहीन सिलसिला अनवरतरूप से चलता ही रहता है और व्यक्ति का जीवन असन्तुलित, अव्यवस्थित और असमन्वित बना रहता है। अस्त, व्यस्त और त्रस्त जिंदगी की स्थिति ऐसी है, मानों 'मरने की फुरसत नहीं और क्षण का भरोसा नहीं'। संसार की असारता का चित्रण करते हुए किसी ने सच ही कहा है[217] –

दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान।
कहीं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान।।

प्रश्न उठता है कि आखिर मानव क्यों दौड़ लगा रहा है, वह किस ऊँचाई को छूना चाहता है और उसके जीवन का परम साध्य क्या है (What is the ultimate goal of a human life) ?

इसका चिन्तन और समीक्षण करने पर उत्तर स्पष्ट है कि दुःख से मुक्ति और सुख की प्राप्ति ही प्रत्येक प्राणी का परम–साध्य है और तद्हेतु ही वह जीवनभर प्रयत्नशील रहता है।[218] वह एक ऐसी ऊँचाई को छूना चाहता है, जहाँ पहुँचकर जीवन में तनाव एवं चिन्ता का कोई स्थान न रहे और सदा–सदा के लिए सुख, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हो जाए, किन्तु वास्तव में इस अवस्था को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त किए बिना ही पूरा जीवन बीत जाता है। कह सकते हैं कि परिश्रम करने पर भी परिणाम प्राप्त नहीं हो पाता और जीवन निरर्थक ही समाप्त हो जाता है।

यह समय है परिश्रम और परिणाम की समीक्षा का, ताकि हम जान सकें कि इतनी वैज्ञानिक प्रगति होने के बावजूद भी हमारा जीवन तनावग्रस्त और उलझनभरा क्यों है। कहीं न कहीं कोई ऐसी भूल हो रही है, जिससे इतनी यथोचित सामग्रियाँ प्राप्त करके भी व्यक्ति का जीवन शान्तिमय नहीं बन पा रहा।

वस्तुतः जैसे–जैसे वैज्ञानिक प्रगति हो रही है, वैसे–वैसे व्यक्ति की दमित इच्छाएँ, अपेक्षाएँ और आकांक्षाएँ मुखर होती जा रही हैं। उसका भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। वह कामनाओं और वासनाओं को तृप्त करना चाहता है, जबकि वे और अधिक बढ़ती जा रही हैं। आज संस्कृति अर्थप्रधान और भोगप्रधान बनती जा रही है। व्यक्ति 'अर्थ' एवं 'भोग' का पुरूषार्थ जितना–जितना बढ़ाता है, उसके जीवन में व्यस्तता और तनाव भी उतने–उतने बढ़ते जाते हैं। भ्रमवश वह और अधिक 'अर्थ' एवं 'भोग' का पुरूषार्थ करता है, फलतः उसका तनाव और भी अधिक बढ़ जाता है एवं आनन्द लुप्त हो जाता है। यह अन्तहीन सिलसिला जीवनभर ही गतिशील रहता है। इस चक्रव्यूह में फँसकर वह धर्म और मोक्ष का पुरूषार्थ भी छोड़ देता है तथा इस प्रकार नैतिक और आध्यात्मिक विकास के मार्ग से वंचित रह जाता है।

कई लोग बाहर से तो अस्त–व्यस्त नहीं होते, क्योंकि उनकी जिन्दगी में अधिक भाग–दौड़ नहीं होती और इसीलिए वे शान्तिमय जीवन बिताते हुए दिखते हैं। उनके जीवन की यह विशेषता होती है कि वे जीवन में प्राप्त हुए 'अर्थ' और 'भोग' के साधनों में ही सन्तोष कर लेते हैं और प्रायः उन्हें अधिक चिन्ता और तनाव नहीं रहते, फिर भी ऐसे लोगों के जीवन को प्रबन्धित नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि ये लोग सामान्यतया दुनिया के परिवर्त्तनों से अनभिज्ञ और स्वभाव से आलसी होते हैं, इसीलिए उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ दब जाती हैं और उनमें भविष्य की तृष्णाएँ दिखाई नहीं देती। वस्तुतः, उनमें तर्कसंगत विचार और तज्जन्य विवेक की कमी होती है, अतः बाह्य जीवन अस्त–व्यस्त नहीं होते हुए भी उनका तथाकथित शान्तिमय जीवन का स्थायित्व संदेहास्पद होता है। ऐसे लोग विषम परिस्थितियों में अभावग्रस्त होने पर तनाव और अवसाद को भी प्राप्त हो सकते हैं। यह अवस्था भी जीवन का साध्य नहीं है। जैनकथासाहित्य में सेठ शालिभद्र का उदाहरण मिलता है, जो भौतिक–दृष्टि से अतिसमृद्ध और अपार ऐश्वर्य के धनी थे। उनका जीवन भोग भोगने और आराम करने में बीत रहा था, किन्तु राजा श्रेणिक से भेंट होने पर उन्हें अपने अप्रबन्धित जीवन का अनुभव हुआ और तभी उन्होंने जीवन को पूर्ण प्रबन्धित करने हेतु आत्म–संयम का मार्ग स्वीकार किया।[219]

आज ऐसे भी लोग हैं, जो व्यवस्थित और शान्तिमय तरीके से जीवन जीने के लिए, अनैतिक और असामाजिक साधनों का उपयोग करते हैं। वे लोग अपने दायित्वों को नहीं निभाकर दूसरों पर दायित्व थोपते हैं, अपने अधिकारों का अतिक्रमण कर दूसरों के अधिकारों का शोषण करते हैं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गैरकानूनी गतिविधियों में लिप्त रहकर अन्य–अन्य अवांछनीय तरीकों से 'अर्थ' और 'भोग' के पुरूषार्थ को साधते हैं और फिर भी चिन्तामुक्त जीवन जीते हुए महसूस होते हैं। यह भी जीने का सही रूप नहीं है, क्योंकि जीवन तो एक प्रतिध्वनि है, जैसा भेजेंगे वैसा ही लौटकर आएगा। जैनपुराणों में श्रीपाल के काका अजितसेन का उदाहरण मिलता है, जिन्होंने राज्य–सुखों की लालसा में अपने भतीजे (राजकुमार श्रीपाल) को मारने का षडयन्त्र रचा एवं उसका राज्य हड़प लिया, किन्तु इसका दुष्परिणाम उन्हें अन्त समय में भोगना पड़ा। अपनी अप्रबन्धित जीवनशैली का बोध होने पर उन्होंने प्रबन्धित जीवन हेतु आत्म–साधना का मार्ग स्वीकार किया।[220]

ऐसे भी कुछ लोग हैं, जो एक हद तक अपने जीवन को प्रबन्धित कर लेते हैं। उनका सामान्य जीवन नियमित हो जाता है। वे बाह्य विकास के लिए सजग होते हैं और इस प्रकार नियोजित प्रयास करते हैं कि उन्हें जीवन में समय–समय पर सफलता मिलती जाती है। उस सफलता की खुशी में वे उत्साहित और उल्लसित भावों से जीवन जीते हैं। केवल बाहर की सफलता से निश्चिंत जीवन को भी समग्रतया प्रबन्धित नहीं कहा जा सकता। यदि उनके जीवन में आत्मिक–विकास से प्राप्त शान्ति नहीं है, तो ऐसे लोग अक्सर अपनी विफलताओं में विकल और चिन्तित हो जाते हैं। अतः इनको प्राप्त होने वाला सुख वास्तविक नहीं, वरन् पराश्रित, अस्थायी और काल्पनिक ही है। इनके जीवन में आत्मिक–विकास और तज्जन्य शान्ति, सुख और आनन्द के लिए कोई स्थान नहीं है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर इन जीवनशैलियों के दुष्परिणामों पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है। ये दुष्परिणाम विचारवान् व्यक्ति को सोचने के लिए बाध्य कर सकते हैं कि वह जाग्रत हो जाए और स्वयं को नियंत्रित करे तथा स्व–पर हित के लिए सम्यक् दिशा में अपना प्रयत्न करे, जिसे जीवन–प्रबन्धन कहते हैं। प्रमुख दुष्परिणामों का वर्णन इस प्रकार है –

- ★ व्यक्ति के द्वारा अपनी स्वार्थपूर्त्ति के लिए संसाधनों (Resources) का भरपूर दोहन करने से पर्यावरणीय सन्तुलन दिन–पर–दिन बिगड़ता जा रहा है, जिसके कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं, जैसे – प्रदूषण में वृद्धि, वन्य–सम्पदा में हानि, भूजल–स्तर में कमी, ओजोन–परत में छेद, विश्व–ताप–वृद्धि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि इत्यादि।
- ★ मनुष्य दुनिया का सबसे क्रूर प्राणी बनता जा रहा है, जिससे सभी आक्रान्त हैं। गोवंश, हिरण, हाथी, मुर्गी, कबूतर आदि प्राणियों की करोड़ों की संख्या में प्रतिदिन हिंसा हो रही है, जिसके परिणामस्वरूप कई प्रकार की जड़ी–बूटी, जन्तु, पशु–पक्षी आदि की प्रजातियाँ लुप्त होती जा रही हैं।
- ★ स्वयं मनुष्य भी मनुष्य से भयभीत है, क्योंकि आतंकवाद, उग्रवाद, नक्सलवाद आदि के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के संगठन बन चुके हैं।
- ★ समाज में नशा–सेवन की प्रवृत्तियों और आपराधिक गतिविधियों में दिनोंदिन वृद्धि हो रही है।
- ★ विश्वस्तर पर आत्महत्या की घटनाएँ बढ़ रही हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ समाज व परिवार के सदस्यों में पारस्परिक विश्वास की कमी आई है और एक–दूसरे का स्वार्थ आड़े आ रहा है। बुजुर्गों के प्रति आदर और बालकों के प्रति वात्सल्य में भी कमी आ रही है।

★ सामाजिक कार्यकर्त्ताओं में पद–लिप्सा की अभिवृद्धि हो रही है, जिससे उनमें संगठन के प्रति निष्ठा में कमी, संगठनात्मक सोच के बजाय विद्रोहात्मक सोच और नकारात्मक कार्यशैली की अभिवृद्धि हो रही है।

★ परस्पर मैत्री, सहयोग और संवेदनाओं के स्थान पर स्वार्थ, असहयोग, मौकापरस्ती और शुष्कता की भावना मानव–मन पर हावी हो रही है।

★ आर्थिक विकास के क्षेत्र में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के स्थान पर प्रतिद्वन्द्विता बढ़ रही है।

★ अनीति और भ्रष्टाचार सामाजिक संस्कृति बन चुके हैं।

★ येन–केन–प्रकारेण पद, प्रतिष्ठा, पैसा और परिग्रह की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य बन चुका है।

★ प्रायः सभी देशों के राजस्व का सबसे बड़ा हिस्सा सुरक्षा पर खर्च हो रहा है, फिर भी विश्वयुद्ध का भय प्रतिपल मंडरा रहा है।[221]

★ आज विश्व के अधिकतर लोग मांसाहारी हो गए हैं।

★ जैसे–जैसे भोग–विलासिता की सामग्रियाँ बढ़ रही हैं, वैसे–वैसे नए–नए रोगों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। अल्पवय में ही हृदय रोग, मधुमेह, रक्तचाप, एड्स आदि रोगों का होना, आज कोई आश्चर्य का विषय नहीं है।

★ मनोरंजन के सस्ते, अनैतिक और अश्लील साधनों की लोकप्रियता बढ़ रही है, जिससे व्यक्ति का समय और समझ दोनों नष्ट हो रहे हैं।

★ निर्लज्जता ही नहीं, बल्कि अनैतिक यौन सम्बन्ध भी बढ़ रहे हैं।

★ व्यक्ति अपनी उपलब्धियों और वैभव का ज्यादा से ज्यादा प्रदर्शन करने में लगा है।

★ विश्व में अवसाद (Depression) से ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है, जिनमें से अधिकांश शिक्षित व उच्च पदस्थ भी हैं। यहाँ तक कि दुनिया में सर्वाधिक पागलों की संख्या अमेरिका जैसे विकसित देश में है।

★ व्यक्ति में अंतरंग तनाव या दबाव बढ़ता ही जा रहा है, जिससे उत्तेजना, चिड़चिडाहट, तुनकमिजाजी, रोष आदि मानसिक–विकार व्यक्ति के स्वभाव ही बनते जा रहे हैं।

★ सत्संग, सद्विचार और संस्कारों का महत्त्व तेजी से घट रहा है और व्यक्ति नैतिकता और सदाचार से विमुख होता जा रहा है, इत्यादि।

उपर्युक्त दुष्परिणामों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस वैज्ञानिक युग में भी वैश्विक, सामाजिक और वैयक्तिक समस्याएँ उग्र होती जा रही हैं। यह निश्चित है कि मनुष्य का पुरूषार्थ सही दिशा में नहीं चल पा रहा है। उसका मार्ग उत्थान का नहीं, बल्कि पतन का है, क्योंकि उसका बौद्धिक और भौतिक विकास वस्तुतः आत्मविनाश की दिशा में ही गतिशील है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आज एक नई जीवनशैली के सृजन की आवश्यकता है, जो हमारे जीवन के विविध तत्त्वों का सम्यक् समायोजन कर सके और जीवन में आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक पक्षों में सन्तुलन पैदा कर सके। इतना ही नहीं, जीवन के किसी पहलूविशेष का एकाकी विकास करने के बजाय जीवन का समग्र विकास कर सके। इस अभिनव जीवनशैली का उपाय जीवन–प्रबन्धन है, अतः कह सकते हैं कि आज विश्व में प्रत्येक मानव को जीवन–प्रबन्धन की नितान्त आवश्यकता है।

आगे, इस विषय पर चर्चा की जा रही है कि आखिर जीवन–प्रबन्धन का ऐसा क्या महत्त्व है, जिसके कारण जीवन में इसका प्रयोग अपरिहार्य है।

1.5.2 जीवन–प्रबन्धन का महत्त्व

जीवन–प्रबन्धन एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह व्यक्ति और वस्तु रूप संसाधनों की योग्यताओं का सर्वोत्तम सदुपयोग करती है, जिससे जीवन–उद्देश्यों का कुशलतापूर्वक निष्पादन या सम्पादन किया जा सकता है। इसका महत्त्व निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट है –

- ★ जीवन–प्रबन्धन वह महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, जिसके द्वारा जीवन के प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधक, साधन और साध्य का सम्यक् समन्वय या एकीकरण किया जाता है। यह समन्वयन ही जीवन की सफलता का सूत्र है।
- ★ जीवन–प्रबन्धन वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से जीवन में अल्प पुरूषार्थ के द्वारा अधिकतम सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसमें बाधक तत्त्वों का निषेध कर साधक तत्त्वों को ग्रहण किया जाता है, जिससे मार्ग की बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं और साधक तीव्र गति से लक्ष्य की ओर बढ़ जाता है। जैनधर्मदर्शन में इसका प्रायोगिकरूप हमें आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान के माध्यम से मिलता है। अतीत सम्बन्धी बाधक तत्त्वों को दूर करना प्रतिक्रमण है, वर्त्तमान में उनसे बचना आलोचना है और भविष्य में उनको नहीं स्वीकारना प्रत्याख्यान है।[222] यह जीवनशैली व्यक्ति को समय का सदुपयोग, अर्थ की मितव्ययिता, भोग पर नियन्त्रण इत्यादि की सत्प्रेरणा देती है। इस प्रकार जीवन में अल्प प्रयत्न के द्वारा भी अधिकतम सफलता प्राप्त की जा सकती है।
- ★ जीवन–प्रबन्धन वैयक्तिक–विकास के माध्यम से वैश्विक–विकास की प्राप्ति का साधन है। यदि प्रत्येक व्यक्ति जीवन–प्रबन्धन को अपना ले, तो विश्वस्तरीय समस्याओं का समाधान सहज ही हो जाए। यहाँ तक की जो समस्याएँ महायुद्धों से भी हल नहीं हो सकती, वे जीवन–प्रबन्धन के माध्यम से आसानी से हल हो सकती हैं।
- ★ जीवन–प्रबन्धन जीवन को सुव्यवस्थित करता है, जिससे स्वस्थ वातावरण का निर्माण होता है। स्वस्थ वातावरण में ही व्यक्ति की शक्ति का उपयोग सृजनात्मक और रचनात्मक कार्यों में किया जा सकता है और परिणामस्वरूप विकास (Development) और नवाचार (Innovation) की सम्भावनाएँ भी साकार हो सकती हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ जीवन–प्रबन्धन के माध्यम से ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का सन्तुलित, समन्वित और समग्र विकास सम्भव है। यद्यपि आज व्यक्तित्व विकास का मापदण्ड बदल गया है और केवल देह, वाणी और अन्य भौतिक सामग्रियों के विकास को ही विकास माना जा रहा है। यह केवल अपनी कमजोरियों को छिपाने और योग्यताओं को बढ़ा–चढ़ाकर प्रदर्शित करने का भ्रामक तरीका है। इन भ्रान्तिपूर्ण स्थितियों से बचकर जीवन–प्रबन्धन के माध्यम से व्यक्तित्व का वास्तविक विकास किया जा सकता है।

★ जीवन–प्रबन्धन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष आत्मिक–शान्ति की प्राप्ति है। यह भौतिक सुख–सुविधाओं से प्राप्त नहीं हो सकती और न ही इसे बाजार से क्रय किया जा सकता है। इसका शिक्षण–प्रशिक्षण भले ही दिया जाए, लेकिन हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता, बलात् कोई दूसरा इसे छीन भी नहीं सकता। आशय यह है कि आत्मिक–शान्ति या आत्मिक–आनन्द सिर्फ जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया से ही प्राप्त हो सकता है।

★ जीवन–प्रबन्धन की साधना से प्राप्त आत्मिक–शान्ति वह पूंजी है, जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति के लिए लाभप्रद है। यह वह रक्षा कवच है, जो विषम परिस्थितियों में भी साधक को विकल एवं विफल नहीं होने देता। यह उस अधिकारी के समान है, जो साधक रूपी अधीनस्थ को प्रतिक्षण सम्यक् और स्व–पर हितकारी निर्देश देता है, लेकिन कभी भी उसका शोषण नहीं करता।

सार रूप में कहा जा सकता है कि जीवन–प्रबन्धन हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

1.5.3 जीवन–प्रबन्धन के उद्देश्य

जीवन–प्रबन्धन वह प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य वैयक्तिक जीवन का वास्तविक विकास करना है, क्योंकि वैयक्तिक–विकास होने से परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र और विश्व का विकास स्वतः हो जाता है। आशय यह है कि व्यक्ति के सुधार में ही जग का सुधार है। कहा जा सकता है कि जीवन–प्रबन्धन, पर–सुधार की कल्पनाओं, आकांक्षाओं और इच्छाओं की अपेक्षा स्व–सुधार के प्रयत्नों को महत्त्व देता है।

वैयक्तिक विकास की दृष्टि से भी जीवन–प्रबन्धन का लक्ष्य व्यक्ति को काल्पनिक ऊँचाइयों के शिखर तक पहुँचाना नहीं है, अपितु यथार्थ के धरातल पर सुखी जीवन जीने की कला सिखाना है। वह जीवन किसी काम का नहीं, जिसमें पद, प्रतिष्ठा, पैसा इत्यादि मिलने पर भी निश्चिन्तता और निराकुलता न हो, इसीलिए जीवन–प्रबन्धन का विशुद्ध लक्ष्य व्यक्ति को काल्पनिक कामनाओं और वासनाओं में उलझाना नहीं, अपितु सुव्यवस्थित जीवन जीते हुए आत्म–शान्ति की अनुभूति कराना है।

भारतीय–दर्शनों और विशेषरूप से जैनधर्मदर्शन में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि दुःख और तनाव का मूल कारण 'मोह' है[223] और इसीलिए जीवन–प्रबन्धन का परम साध्य मोह से मुक्त दशा की प्राप्ति कराना है, जिसे 'मोक्ष' कहा जाता है।[224] जैनाचार्यों ने मोह को स्पष्ट करते हुए कहा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि सदसद् विवेक का नाश, हेय–उपादेय बुद्धि का अभाव, अज्ञान, विपरीत बुद्धि, मूढ़ता, चित्त की व्याकुलता, मिथ्यात्व तथा कषाय–विषय आदि की अभिलाषा, यह सब मोह है।[225] दूसरे शब्दों में कहें, तो असत्य में सत्य की कल्पना या भ्रम ही मोह है। जब जीव स्व–पर के सन्दर्भ में भ्रमित या उन्मत्त होकर जीता है, तब उसकी मान्यता, उसका ज्ञान और उसका आचरण मिथ्या होता है और इसे ही मोह दशा कहते हैं। आध्यात्मिक साधना के माध्यम से जैसे–जैसे जीव मोह पर विजय प्राप्त करता जाता है, वैसे–वैसे उसकी आत्मिक–शान्ति में अभिवृद्धि होती जाती है और जब मोह का पूर्ण क्षय हो जाता है, तब चरम आत्मिक–शान्तिरूप मोक्ष दशा प्रकट हो जाती है, जिसे जीवन–मुक्ति या निर्वाण की दशा भी कहा जाता है। इस दशा में विशिष्ट और अनिर्वचनीय आत्मिक–आनन्द की अनुभूति होती है, जिसे जैनाचार्यों ने परम, अनन्त, अव्याबाध, सहज, स्वाभाविक, निराकुल, निर्भय, निर्ममत्व, निश्चल, निश्छल, निष्काम, अपराश्रित, अनुत्तर, अनुपम, अप्रयासी, अविचल आदि विशेषणों से विभूषित किया है।[226]

जैन जीवन–प्रबन्धन का परम साध्य तो एकमात्र मोक्ष (मुक्त) अवस्था ही है, लेकिन इस कलिकाल में मोक्ष का सम्यक् और तीव्र पुरूषार्थ करने वाले विरल हैं। श्रीमद्राजचन्द्र को भी कहना पड़ा[227] – **"वर्त्तमान आ काळमां मोक्षमार्ग बहुलोप"**। अतः मोक्ष या आत्म–कल्याण की पात्रता और योग्यता का विकास करना भी जैन–जीवन–प्रबन्धन का एक उद्देश्य है। जीवन के विविध कर्त्तव्यों का उचित निर्वाह किए बिना आत्म–कल्याण की पात्रता अथवा आत्म–कल्याण के पुरूषार्थ में निरन्तरता सम्भव नहीं है। अतः इन कर्तव्यों का सफल निर्वहन भी जीवन–प्रबन्धन का एक प्राथमिक उद्देश्य है।

ये कर्त्तव्य मूलतः दो प्रकार के हैं –

1) जैविक कर्त्तव्य 2) आध्यात्मिक कर्त्तव्य

1) **जैविक कर्त्तव्य** – ये वे कर्त्तव्य हैं, जिनके माध्यम से व्यक्ति अपनी दैहिक, पारिवारिक, व्यावसायिक आदि आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है। दूसरे शब्दों में, वे कार्य जो जीवन–निर्वाह के लिए उपयोगी हैं, जैविक कर्त्तव्य कहलाते हैं। इनके माध्यम से व्यक्ति जीवनयापन के साधनों को जुटाता है और आवश्यकतानुसार एकत्रित साधनों का उपयोग करता है।

2) **आध्यात्मिक कर्त्तव्य** – ये वे कर्त्तव्य हैं, जिनके माध्यम से व्यक्ति आत्मशान्ति और आत्मपूर्णता की प्राप्ति करता है। इन्हें आत्म–कल्याण या जीवन–निर्माण सम्बन्धी कर्त्तव्य भी कहते हैं। इनका निर्वहन करता हुआ व्यक्ति भौतिक–सुख (सुखाभास) के प्रति अनासक्त होकर क्रमशः आत्म–अनुसंधान, आत्म–ज्ञान और आत्मरमणता की अवस्थाओं को प्राप्त होता है। वह अन्ततः आत्मिक–आनन्द में लीन होता जाता है और उसकी इस चरम–अवस्था को ही 'मोक्ष' कहा जाता है, जो जीवन–प्रबन्धन का भी परम–साध्य (Ultimate Goal) है। इस प्रकार आध्यात्मिक कर्त्तव्य वे आत्म–लक्षी प्रयास हैं, जिनमें तनाव और दुःखों से पूर्ण मुक्त होने का समाधान छिपा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुआ है। अतः किसी अपेक्षा से जैविक–कर्त्तव्य की तुलना में आध्यात्मिक–कर्त्तव्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

जैविक–कर्त्तव्य का निर्वाह करना व्यक्ति की विवशता है, लेकिन आध्यात्मिक कर्त्तव्यों का पालन करना व्यक्ति की परम आवश्यकता है। जीवन–प्रबन्धक जैविक–कर्त्तव्य रूपी साधन को माध्यम बनाकर आध्यात्मिक–कर्त्तव्य रूपी साध्य की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। अतः जीवन–प्रबन्धन का यह लक्ष्य है कि वह जीवन में जैविक और आध्यात्मिक कर्त्तव्यों में परस्पर समन्वय करे, जिससे उसका जीवन अधिकाधिक सुव्यवस्थित और आनन्दमय होता जाए।

व्यक्ति को अपने जैविक और आध्यात्मिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करना आवश्यक है, किन्तु यह तभी सम्भव है, जब उसकी जीवनशैली सुव्यवस्थित हो। यह जीवनशैली किस प्रकार से सुव्यवस्थित की जाए, यह एक विचारणीय प्रश्न है, क्योंकि अक्सर व्यक्ति अपनी अव्यवस्थित और दोषपूर्ण जीवनशैली को ही सही मानता रहता है, जिसे जैनधर्मदर्शन में मिथ्यात्व (गलत मान्यता) कहा गया है। अतः मेरी दृष्टि में, जीवन–प्रबन्धन के तीन उद्देश्य और भी हैं, जिनकी प्राप्ति कर व्यक्ति अपनी जीवनशैली को सुव्यवस्थित बना सकता है और जैविक तथा आध्यात्मिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करता हुआ अपने परम–साध्य रूप 'मोक्ष' की प्राप्ति कर सकता है। ये उद्देश्य हैं –

1) जीवन की समग्रता 2) जीवन की सन्तुलितता 3) जीवन की समन्वयता

1) **जीवन की समग्रता** – जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य जीवन की समग्रता अर्थात् जीवन का बहु–आयामी विकास है (Multidimensional Development)। वस्तुतः, जीवन के अनेकानेक आयाम हैं, जिन्हें भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में कुशलता (Perfection) प्रदान करने की आवश्यकता होती है। ये परिस्थितियाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। नकारात्मक परिस्थितियों के प्राप्त होने पर अक्षम व्यक्ति पलायित या पराजित हो जाता है, जबकि जीवन–प्रबन्धन के माध्यम से बहुआयामी व्यक्तित्व का विकास करने वाला व्यक्ति समस्याओं का समाधान खोज लेता है। वह जैनधर्मदर्शन पर आधारित अनैकान्तिक जीवनशैली के माध्यम से जीवन की वैचारिक और व्यावहारिक सभी समस्याओं का निवारण कर लेता है।

2) **जीवन की सन्तुलितता** – जीवन के विविध पक्षों के मध्य उचित सन्तुलन होना आवश्यक है। जीवन–प्रबन्धन 'अतिवाद' और 'अल्पवाद' का विरोधी तथा 'औचित्यवाद' का पक्षधर है। किस पक्ष या विभाग हेतु कितना समय, कितनी ऊर्जा, कितनी बुद्धि, कितने साधन, कितने कौशल आदि का प्रयोग करना होगा, इसकी उचितता का विवेक होना ही जीवन की सन्तुलितता है।

3) **जीवन की समन्वयता** – जीवन के विविध आयामों में उचित समन्वय होना चाहिए। इससे इन आयामों के लिए किए जा रहे प्रयत्नों में अन्तर्विरोध नहीं होता, बल्कि परस्पर सहयोग मिलता है। कहावत भी है – एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन–प्रबन्धन के सहायक उद्देश्य या उपसाध्य

जीवन–प्रबन्धन का यह सहायक उद्देश्य है कि व्यक्ति उपर्युक्त साध्यों की प्राप्ति का प्रयास करता हुआ जगत् में विद्यमान जीवों को दुःखी न करे और जड़ पदार्थों का अनुचित दोहन भी न करे। यह तथ्य निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट है –

1) **पर–दुःख–कातरता** – जीवन–प्रबन्धन का एक सहायक उद्देश्य है – किसी को भी दुःखी नहीं करना। जीवन में प्रतिदिन और प्रतिपल हमारे आसपास के परिवेश में नानाविध प्राणी रहते हैं। इन प्राणियों को हमारी दोषपूर्ण जीवनशैली से किसी प्रकार की पीड़ा, कष्ट, निराशा, शोक, तनाव अथवा दुःख उत्पन्न नहीं होना चाहिए। जैनधर्मदर्शन का लोकप्रचलित सिद्धान्त है – **'धम्ममहिंसा समं नत्थि'**[228] अर्थात् अहिंसा ही परम धर्म है। वस्तुतः, अहिंसा का जितना सूक्ष्म प्ररूपण जैनधर्मदर्शन में हुआ है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। स्थूलरूप से भी कहें, तो मन, वचन एवं काया – इन तीनों योगों से न हिंसा करना, न हिंसा कराना और न हिंसा का अनुमोदन करना, यह जीवन–प्रबन्धन का प्रथम उपसाध्य है। वस्तुतः, जीवन–प्रबन्धन स्वार्थपूर्त्ति का चातुर्य नहीं, बल्कि स्वहित और परहित का सुन्दर समायोजन है। संक्षेप में कहें, तो यह **'जिओ और जीने दो'** का प्रायोगिक रूप है।

2) **प्रकृति का संरक्षण** – जीवन–प्रबन्धन का एक और उपसाध्य है – प्रकृति का संरक्षण करना। जीवन–प्रबन्धन की दृष्टि से प्रकृति के बिना प्राणी का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। प्रकृति के उपकार से ही जीवनरूपी वृक्ष अंकुरित, पोषित, पल्लवित, पुष्पित और फलीभूत होता है, फिर भी कृतघ्न एवं क्रूर मानव प्रकृति के साथ छेड़–छाड़ कर रहा है। परिणामतः व्यक्ति स्वयं ही स्वयं के लिए खतरा बनता जा रहा है। अतः जीवन–प्रबन्धन की दृष्टि से व्यक्ति का जीवन इतना संयमित होना चाहिए कि प्रकृति और जीवन दोनों का संरक्षण हो जाए। जैनधर्मदर्शन का अपरिग्रह–सिद्धान्त इस लक्ष्य की पूर्त्ति में विशेष सहयोगी है। यह सिद्धान्त जीवन में अनावश्यक संचय को रोकने की प्रेरणा देता है, जिससे न केवल प्रकृति का संरक्षण होता है, अपितु जीवन में निर्भारता का आनन्द भी सहज रूप से प्राप्त होता रहता है। यह आनन्दमयी जीवन दशा जीवन–प्रबन्धन का द्वितीय उपसाध्य है।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य जीवन और जगत् दोनों के लिए हितकारी जीवनशैली का निर्माण करते हुए क्रमशः मोक्ष या मुक्तावस्था को प्राप्त कराना है।

1.5.4 जीवन–प्रबन्धन के साधक एवं बाधक तत्त्व

प्रत्येक व्यक्ति को बदलते हुए परिवेश में जीवन जीना होता है। इस परिवेश में अलग–अलग व्यक्ति, वस्तु या परिस्थितियाँ होती हैं, जिनके साथ व्यक्ति का संयोग होता है अथवा जिनके साथ व्यक्ति संयोग करना चाहता है। जैनदर्शन में इन तत्त्वों को तीन भागों में विभक्त किया गया है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ साधक या उपादेय तत्त्व

★ असम्बन्धित या ज्ञेय तत्त्व

★ बाधक या हेय तत्त्व

(1) साधक तत्त्व या उपादेय तत्त्व – वे व्यक्ति, वस्तु या परिस्थितियाँ, जो साधक के सुव्यवस्थित एवं आत्मिक–शान्तिमय जीवन में सहायक होने से ग्रहण या स्वीकार करने योग्य होती हैं, साधक तत्त्व या उपादेय तत्त्व कहलाती हैं। इन्हें ही उपाय, हेतु, साधन या साधक कारण भी कहते हैं। कुशल जीवन–प्रबन्धक इन साधक तत्त्वों को उचित महत्त्व देकर जीवन में इनका सम्यक् प्रयोग करता है।

(2) असम्बन्धित या ज्ञेय तत्त्व – वे व्यक्ति, वस्तु या परिस्थितियाँ, जिनसे व्यक्ति का विकास और ह्रास दोनों ही नहीं होता और जो केवल जानने योग्य होती हैं, असम्बन्धित या ज्ञेय तत्त्व कहलाती हैं। ये जीवन को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं करती। कुशल जीवन–प्रबन्धक इन तत्त्वों की चाहना नहीं करके एकमात्र अपने जीवन–लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। वस्तुतः, जीवन के बदलते हुए परिवेश में जो अनेकानेक तथ्य या स्थितियाँ प्राप्त होती हैं, उनमें से अधिकांश 'ज्ञेय' रूप होती हैं।

(3) बाधक तत्त्व या हेय तत्त्व – वे व्यक्ति, वस्तु या परिस्थितियाँ, जो जीवन–प्रबन्धक के लिए अव्यवस्थित, अशान्तिमय एवं तनावयुक्त जीवन का कारण होने से त्याग करने योग्य होती हैं, बाधक या हेय तत्त्व कहलाती हैं। कुशल जीवन–प्रबन्धक इनकी व्यर्थता को समझकर इनसे दूर ही रहता है।

किसी भी प्रबन्धक के लिए बाधक और साधक तत्त्वों की स्पष्ट समझ होना आवश्यक है, अन्यथा वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। उदाहरणस्वरूप, विद्यार्थी का टी. वी. देखना बाधक तत्त्व हो सकता है और पाठ्यपुस्तक का अध्ययन करना साधक तत्त्व हो सकता है। इसी प्रकार किसी आध्यात्मिक साधक के लिए परिवार, कुटुंब, समाज, धन–सम्पत्ति इत्यादि बाधक तत्त्व हो सकते हैं और सुदेव, सुगुरु, सुधर्म इत्यादि साधक तत्त्व हो सकते हैं।

वस्तुतः जीवन–प्रबन्धन एक प्रकार की चिकित्सा पद्धति ही है। जिस प्रकार चिकित्सा प्रक्रिया में एक ही समय में भिन्न–भिन्न रोगियों के लिए अथवा भिन्न–भिन्न समय में एक ही रोगी के लिए कोई औषधिविशेष अमृततुल्य भी हो सकती है और विषतुल्य भी, उसी प्रकार जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया में एक ही समय में अलग–अलग व्यक्तियों के लिए अथवा अलग–अलग समय में एक ही व्यक्ति के लिए कोई सामग्री साधक भी हो सकती है और बाधक भी। उदाहरणस्वरूप, प्रतिक्रमण (दोष–शुद्धि की प्रक्रिया) को किसी प्रसंग में अमृतकुम्भ कहा गया, तो किसी प्रसंग में विषकुम्भ भी।[229] इतना ही नहीं, जिस प्रकार चिकित्सा–प्रक्रिया में अनुक्रम से रोगी का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार जीवन–प्रबन्धन में जीवन की विकृतियों का क्रमशः उपचार किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप जीवन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के अंतरंग और बाह्य पक्षों में सन्तुलन आ जाता है तथा जीवन–प्रबन्धक एक स्वस्थ जीवनशैली को प्राप्त कर लेता है।

जैनदर्शन के अनुसार, इन साधक या बाधक तत्त्वों की मौजूदगी केवल बहिरंग परिवेश में ही नहीं, अपितु अंतरंग परिवेश में भी होती है, अतः जीवन–प्रबन्धक के लिए इन दोनों परिवेश का सम्यक् परिज्ञान होना आवश्यक है। इनका वर्णन इस प्रकार है –

(क) अंतरंग परिवेश (Internal–Environment) – व्यावहारिक दृष्टि से आत्मिक और शारीरिक योग्यताओं का योग ही जीवन की अभिव्यक्ति है और इस अपेक्षा से द्रव्य तथा भाव–प्राण का समूह ही अंतरंग परिवेश है। इसे व्यक्ति का व्यक्तित्व भी कहा जा सकता है। इस अंतरंग परिवेश में एक ओर जीवन–उपयोगी साधक तत्त्व होते हैं, तो दूसरी ओर विकार रूप बाधक तत्त्व भी होते हैं। उदाहरणस्वरूप, शरीर की स्वस्थता साधक तत्त्व है और अस्वस्थता बाधक तत्त्व है। इसी प्रकार दया, शान्ति, क्षमा, सहिष्णुता, धैर्य आदि सद्भावों का होना साधक तत्त्व है तथा क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों का होना बाधक तत्त्व है।

(ख) बहिरंग परिवेश (External–Environment) – अंतरंग परिवेश को छोड़कर, वह सम्पूर्ण परिवेश जो अति व्यापक है एवं जिसमें सम्पूर्ण जीव और जड़ जगत् का समावेश हो जाता है, बहिरंग परिवेश कहलाता है, जैसे – परिजन, समाज, पूंजी, गृह, प्रतिष्ठान, उपकरण, भूमि, वन, नदी, पर्वत आदि। अंतरंग परिवेश के समान बाह्य परिवेश में भी साधक और बाधक दोनों ही तत्त्वों की उपस्थिति रहती है, जैसे – सत्संग, सद्विचार और सद्धर्म के प्रेरक निमित्त साधक तत्त्व हैं, जबकि असत्संग, कुविचार और अधर्म के प्रेरक निमित्त बाधक तत्त्व हैं।

उपर्युक्त दोनों परिवेशों में यह अन्तर है कि अंतरंग–परिवेश स्वयं जीवन–प्रबन्धक और उसकी योग्यताएँ हैं, जबकि बहिरंग परिवेश जीवन–प्रबन्धक को छोड़कर सम्पूर्ण पर्यावरण है।

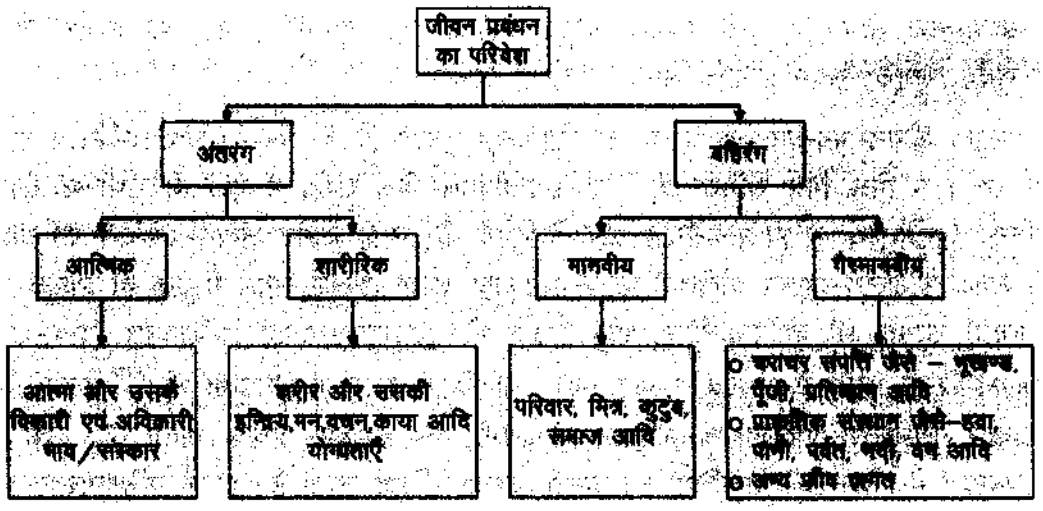

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साररूप में यह कहा जा सकता है कि जीवन–प्रबन्धक को उसकी प्रबन्धन–यात्रा में साधक और बाधक दोनों ही तत्त्व प्राप्त होते हैं। यदि वह प्रबन्धन की प्रक्रिया में साधक तत्त्वों का चयन एवं प्रयोग करता है, तो उसे परिणामतः सफलता की संप्राप्ति होती है और इससे विपरीत, यदि वह बाधक तत्त्वों का चयन एवं प्रयोग करता है, तो परिणामतः दुःख और विफलता ही हाथ लगती है। अतः साधक को चाहिए कि वह बाधक तत्त्वों का त्याग करता हुआ साधक तत्त्वों को ग्रहण कर अपनी सफलता का मार्ग प्रशस्त करे।[230]

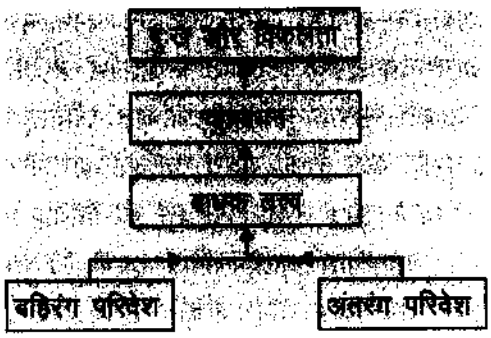

बाधक तत्त्वों के प्रयोग का परिणाम

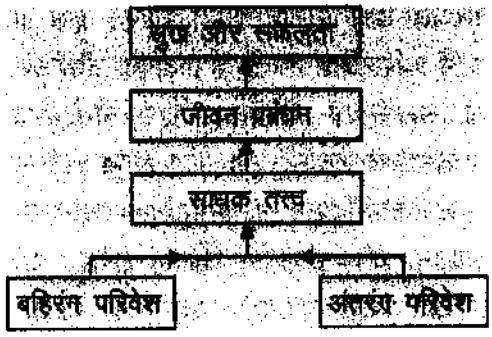

साधक तत्त्वों के प्रयोग का परिणाम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.6 जीवन–प्रबन्धन की मूलभूत प्रणाली

जीवन–प्रबन्धन की सबसे बड़ी बाधा है – जीवन की जटिलता का होना। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अनेकानेक परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं। सामान्य मानव का जीवन इन परिस्थितियों के चक्रव्यूह में फँस जाता है। प्राप्त परिस्थितियों में निषेधात्मक विचार और निषेधात्मक व्यवहार से जीवन असन्तुलित, असमन्वित और अनियंत्रित हो जाता है, इससे जीवन में शारीरिक पीड़ा और मानसिक दुःख का सतत प्रवाह बना रहता है।

जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य एक ऐसी प्रणाली का विकास करना है, जिससे जीवन सन्तुलित, सुव्यवस्थित और समन्वित हो जाए। इस प्रकार की प्रबन्धन–प्रणाली सभी तीर्थंकर परमात्माओं के जीवन में परिलक्षित होती है। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जिन्होंने गृहस्थ, श्रमण एवं अरिहंत – इन तीनों अवस्थाओं में अपनी भूमिकानुसार सुप्रबन्धित जीवन जीया। गृहस्थावस्था में उन्होंने एक ओर आत्म–साधना की और दूसरी ओर राजा योग्य कर्त्तव्यों का भी निर्वाह किया। उनके निर्देशन में सामाजिक–विकास के अनेक उपक्रम हुए। उन्होंने जीवन के विविध विभागों की स्थापना की, जैसे – शिक्षा, शरीर, परिवार, व्यापार, राजनीति आदि। फिर इनके विकास हेतु प्रत्येक का पृथक्–पृथक् प्रबन्धन भी किया और परस्पर समन्वयन भी। उचित समय पर उन्होंने श्रमण–जीवन अंगीकार किया और उत्कृष्ट आत्म–साधना कर अरिहंत अवस्था की प्राप्ति की। तत्पश्चात् उन्होंने श्रमण, श्रमणी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की और चरण–दर–चरण आगे बढ़ते हुए चरम आत्म–विकास करने का मार्गदर्शन दिया।[231] वस्तुतः, यह जीवन–प्रबन्धन की मूलभूत प्रणाली के प्रयोग का आदर्श उदाहरण है।

इस प्रणाली को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

(1) जीवन का विभागीकरण – सर्वप्रथम जीवन में प्राप्त होने वाली परिस्थितियों के आधार पर जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं की पहचान करके उन्हें स्वतन्त्र विभाग रूप में समझना चाहिए, जैसे – शिक्षा, परिवार, धर्म आदि ऐसे पहलू हैं, जिन्हें मानव अनदेखा नहीं कर सकता। अतः जिस प्रकार किसी कम्पनी के समग्र प्रबन्धन हेतु उसमें भिन्न–भिन्न विभागों की स्थापना की जाती है, उसी प्रकार जीवन के समग्र प्रबन्धन हेतु जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को पृथक्–पृथक् विभाग के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

(2) विभागों का स्वतन्त्र प्रबन्धन – जीवन का विभागीकरण करने के पश्चात् प्रत्येक विभाग (पहलू) की आवश्यकता और महत्त्व को समझकर उसकी स्वतन्त्र समीक्षा करनी चाहिए और उसमें आने वाली कमियों या बाधाओं को पहचानकर उनसे उभरने के सिद्धान्त सुनिश्चित करने चाहिए। इसे हम विभागीय–प्रबन्धन की प्रक्रिया भी कह सकते हैं। इस प्रक्रिया में विभागों की प्राथमिकता के आधार पर उनका पृथक्–पृथक् प्रबन्धन करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) विभागों का पारस्परिक समन्वय – सभी विभागों के स्वतन्त्र प्रबन्धन–सिद्धान्त सुनिश्चित करने के साथ–साथ इन विभागों का परस्पर समन्वय भी एक आवश्यक कार्य है, क्योंकि जीवन का प्रत्येक पहलू एक–दूसरे से जुड़ा हुआ है। यहाँ पर विभागों की परस्पर–आश्रयता (Interdependency) एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता बन जाता है। जिस प्रकार एक मोती भले ही शोभनीय और मनोहर हो, किन्तु वह माला नहीं बन सकता, उसी प्रकार जीवन का कोई पहलू प्रबन्धित हो, किन्तु अन्यों की उपेक्षा हो तो समग्र जीवन–प्रबन्धन नहीं हो सकता। वस्तुतः, जीवन–प्रबन्धन तो सर्वांगीण जीवन–विकास में विश्वास रखता है।

उदाहरण – कोई–कोई व्यक्ति समय के अतिपाबन्द और कार्य के प्रति पूर्ण अनुशासित होते हैं, किन्तु थोड़ा–सा भी कार्य गलत हो जाए अथवा समय पर न हो पाए, तो वे अपने तनाव पर नियन्त्रण नहीं रख पाते। परिणामस्वरूप वे चिड़चिड़े, ईर्ष्यालु और कुण्ठाग्रस्त हो जाते हैं, इससे वे स्वयं भी अशान्त रहते हैं और दूसरों को भी अशान्त करते हैं। यह उदाहरण इस बात को दर्शाता है कि व्यक्ति का समय–प्रबन्धन का उद्देश्य तो पूरा हुआ, किन्तु मन–प्रबन्धन का नहीं। वस्तुतः, यहाँ जीवन–प्रबन्धन की समग्रता की आवश्यकता है। साररूप में कहा जा सकता है कि जीवन–प्रबन्धन स्वतन्त्रता (Independency) और परस्पर–आश्रयता (Interdependency) का सुन्दर समायोजन है।

(4) जीवन–प्रबन्धन के विविध चरण : एक आवश्यक कर्त्तव्य – जीवन–प्रबन्धन की दिशा में चरण–दर–चरण ही आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि जीवन का समग्र प्रबन्धन यकायक करने की कल्पना करना केवल एक सुखद स्वप्न के समान है। सामान्य मनुष्य के लिए यह असम्भव है। एवरेस्ट की उत्तुंग चोटी तक पहुँचने का निर्णय और विश्वास तो क्षण भर में हो सकता है, लेकिन इसकी क्रियान्विति तो क्रमशः या शनैः–शनैः ही सम्भव है। जीवन–प्रबन्धन दीर्घकालिक और गाढ़ संस्कारों की विशुद्धि और निर्मलता का सकारात्मक, लेकिन एक कठिन और दुस्तर अभियान है। अतः इसमें धैर्य और विवेक का समावेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक ही प्रयास में जीवन का आमूलचूल परिवर्त्तन असम्भव है। अतः हमें चाहिए कि हम जीवन–प्रबन्धन के अभियान को विविध चरणों या स्तरों में विभाजित कर दें, जिससे सरलतापूर्वक उद्देश्य की प्राप्ति हो सके।

जीवन–प्रबन्धक (Life Manager) के लिए आवश्यक है कि वह जीवन के प्रत्येक विभाग के प्रबन्धन की प्रक्रिया में सामान्य से विशेष, अल्प से अधिक एवं सरल से जटिल विषयों की ओर अग्रसर हो। इसके लिए उसे जीवन–प्रबन्धन को विविध चरणों में विभाजित करना चाहिए, जैसे –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1) प्राथमिक चरण का जीवन–प्रबन्धन

3) उच्च स्तर का जीवन–प्रबन्धन

5) चरम जीवन–प्रबन्धन

जीवन–प्रबन्धक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी परिस्थिति और अपनी क्षमता का सम्यक् मूल्यांकन करके यह नियोजित करे कि –

★ मेरे जीवन–प्रबन्धन का चरमसाध्य क्या है।
★ वर्त्तमान में जीवन–प्रबन्धन के प्रारम्भ हेतु कौन–सा चरण उपयुक्त है।
★ इस चरण में मुझे कितने समय तक रूकना है।
★ भविष्य में मुझे किस–किस चरण से होते हुए आगे बढ़ना है और
★ कितने समय तक मुझे अमुक–अमुक चरणों में अभ्यास करना है।

उपर्युक्त बिन्दुओं को आधार बनाकर जीवन को सम्यक् दिशा में नियोजित किया जा सकता है और इससे ही जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया सरल तथा सहज बन सकती है।

=====◄●►=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.7 जीवन–प्रबन्धन में भारतीय–दर्शन के पुरूषार्थ–चतुष्टय

प्राचीनकाल से ही भारतीय–संस्कृति में जीवन का सम्यक् लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति के उपाय के रूप में पुरूषार्थ चतुष्टय की अवधारणा प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रही है। जहाँ यह हिन्दू–दर्शन की आधारशिला है, वहीं जैन, बौद्ध आदि दर्शनों में भी इसके महत्त्व को नकारा नहीं गया है।[232] मेरी दृष्टि में, यह वह गहन एवं उपयोगी अवधारणा है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्यक् जीवन–लक्ष्य का निर्धारण, उसकी प्राप्ति के उपायों और विविध उपायों के मध्य उचित सामंजस्य स्थापित करने का मार्गदर्शन प्रदान करती है। इसके आधार पर व्यक्ति दिग्मूढ़ता की स्थिति से उबरकर सम्यक् दिशा एवं दशा की संप्राप्ति आसानी से कर सकता है। इससे किंकर्त्तव्यविमूढ़–सी दुविधामय स्थिति समाप्त हो जाती है और अपने हित–अहित, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, हेय–उपादेय एवं साध्य–साधन का बोध सहज हो जाता है।

1.7.1 पुरूषार्थ क्या है?

पुरूषार्थ से सामान्यतः दो अर्थ अभिप्रेत हैं[233] – 1) पुरूष का प्रयोजन और 2) पुरूष के लिए करणीय।

प्रथम अर्थ पुरूष (व्यक्ति) के साध्य को परिलक्षित करता है और इसीलिए आर.सी.पाठक ने पुरूषार्थ का आशय बताया है[234] – The object of man's creation & existence। इस दृष्टि से, साध्य, लक्ष्य, प्रयोजन, उद्देश्य आदि पुरूषार्थ के वाच्य हैं।

द्वितीय अर्थ पुरूष के द्वारा साध्य–प्राप्ति के लिए करणीय प्रयत्न अर्थात् साधन को परिलक्षित करता है। अष्टशती में कहा भी गया है – **'पौरूषं पुनरिह चेष्टितम्'** अर्थात् चेष्टा करना ही पुरूषार्थ है।[235] इस दृष्टि से प्रयत्न, परिश्रम, प्रयास, उद्यम, उद्योग, वीर्य, बल, पौरूष, चेष्टा आदि पुरूषार्थ के ही समानार्थी हैं। जैन–परम्परा में यह दूसरा अर्थ तुलनात्मक रूप से ज्यादा प्रचलित है।

प्रत्येक प्राणी प्रतिसमय जो भी चेष्टा करता है, वह उसका पुरूषार्थ है। यह पुरूषार्थ (वीर्य) मूलतः एक आत्मिक–शक्ति है और इसीलिए प्राणी का स्वाभाविक गुण भी है। यही कारण है कि कोई भी प्राणी कभी भी पुरूषार्थ से रिक्त नहीं हो सकता।[236]

मनुष्य का जीवन बहुआयामी है, जिसके अनेकानेक पक्ष हैं। अतः वह लौकिक और लोकोत्तर दोनों क्षेत्रों में पुरूषार्थ करने में समर्थ होता है। इन दोनों क्षेत्रों के आधार पर सभी भारतीय दर्शनों ने 'पुरूषार्थ' को चार प्रकारों में वर्गीकृत किया है – 1) धर्म 2) अर्थ 3) काम 4) मोक्ष।

इन चारों पुरूषार्थों का सुसमन्वय किए बिना एक सामान्य आदमी के जीवन का सन्तुलित, समग्र और सुव्यवस्थित विकास नहीं हो सकता और जीवन निष्फल हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि प्राचीन जैन साहित्य में इनके सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्याएँ उपलब्ध नहीं हैं, तथापि इनकी मान्यता जैनदर्शन में प्राचीनकाल से ही सुप्रतिष्ठित है। ज्ञानार्णव की पंक्तियाँ इसे सुस्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं[237] –

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः।
पुरूषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः।।

अर्थात् प्राचीनकाल से महर्षियों के द्वारा चार प्रकार के पुरूषार्थ बताए गए हैं। सिर्फ जैन ही नहीं, अपितु सभी भारतीय–दर्शनों में इसकी अवधारणा प्राचीनकाल से ही मौजूद है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू–दर्शन में औपनिषद काल के पूर्व तक धर्म, अर्थ एवं काम – इस 'त्रिवर्ग व्यवस्था' का ही निर्देश मिलता है और उपनिषदों में मोक्ष यानि 'अपवर्ग' को जोड़ दिया गया है, तथापि यह सर्वथा सत्य नहीं है।[238] औपनिषद काल से पूर्व भी 'मोक्ष' की मान्यता थी और इसीलिए आरम्भिक ग्रन्थों, जैसे – महाभारत, रामायण आदि में भी मोक्ष का उल्लेख मिलता है। यह कहा जा सकता है कि सामान्य गृहस्थ जीवन में आचरणीय न होने से 'मोक्ष' का उल्लेख कई सामाजिक ग्रन्थों में नहीं किया गया है।[239] कुल मिलाकर, यह स्वीकारना आवश्यक होगा कि पुरूषार्थ चतुष्टय की अवधारणा प्राचीन भारतीय दर्शनों की एक सर्वसम्मत मान्यता रही है। इससे ही इसकी प्रामाणिकता, महत्ता एवं उपयोगिता का संकेत मिलता है।

1.7.2 पुरूषार्थ–चतुष्टय : सामान्य परिभाषा

भारतीय विचारकों ने सामान्य रूप से पुरूषार्थ–चतुष्टय की निम्न परिभाषाएँ दी हैं[240] –

(1) धर्म – वह पुरूषार्थ जिससे स्व–पर का कल्याण होता हो, व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होता हो एवं सामाजिक जीवन का निर्वाह सुचारू रूप से होता हो, धर्म–पुरूषार्थ कहलाता है।

(2) अर्थ – जीवन–निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्यकता होती है, अतः इनकी पूर्त्ति हेतु साधन जुटाना ही अर्थ–पुरूषार्थ है।

(3) काम – जैविक आवश्यकताओं की पूर्त्ति हेतु जुटाए गए साधनों का उपभोग करना काम–पुरूषार्थ है। दूसरे शब्दों में, ऐन्द्रिक विषयों का भोग करना काम–पुरूषार्थ है।

(4) मोक्ष – दुःख के कारणों को जानकर उनसे पूर्ण मुक्त होने के लिए किया गया पुरूषार्थ मोक्ष–पुरूषार्थ है। इसमें दैहिक वासनाओं एवं कामनाओं से ऊपर उठने और आत्म–स्वातन्त्र्य का प्रयत्न करने की प्रमुखता होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.7.3 वर्त्तमान विसंगति : मुख्य कारण

वर्त्तमान परिवेश में 'पुरूषार्थ–चतुष्टय' के सापेक्ष दो प्रमुख विसंगतियाँ विद्यमान हैं, जो इस प्रकार हैं – 1) अधिकतम व्यक्तियों के जीवन में केवल अर्थ और काम के पुरूषार्थ ही सर्वस्व हैं तथा धर्म और मोक्ष के पुरूषार्थों का कोई स्थान नहीं है। 2) कुछैक व्यक्तियों के जीवन में धर्म और मोक्ष के पुरूषार्थ का स्थान तो है, किन्तु पर्याप्त रूप से नहीं है। वहाँ एक ओर अर्थ एवं काम का अतिरेक है, तो दूसरी ओर धर्म एवं मोक्ष अत्यल्प हैं। इससे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, पर्यावरणीय, नैतिक, आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रों में मनुष्य को अवांछनीय विसंगतियों का सामना करना पड़ रहा है। जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह चारों पुरूषार्थों की सम्यक् समझ उत्पन्न करे और देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार जीवनशैली में इनका समुचित एवं सन्तुलित समावेश करे। दूसरे शब्दों में कहें, तो इन चारों का जीवन में उचित प्रबन्धन करे।

आगे, जैनआचारमीमांसा के आधार पर इनके प्रबन्धन के उपायों की चर्चा पृथक्–पृथक् अध्यायों में की जाएगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.8 जीवन–प्रबन्धन के विविध आयाम

प्रबन्धन का यह सिद्धान्त है कि जटिल कार्य को आसान करने के लिए उसे छोटे–छोटे कार्यांशों में विभाजित कर देना चाहिए। इसी सिद्धान्त को जीवन–प्रबन्धन में भी लागू करना आवश्यक है। चूँकि जीवन–प्रबन्धन एक बृहत्प्रक्रिया है, जिसके अनेक पक्ष या पहलू हैं। अतः इन पक्षों का पृथक्–पृथक् प्रबन्धन करके उनका एकीकरण करना ही जीवन का समग्र प्रबन्धन है। इन्हें ही जीवन–प्रबन्धन के विविध आयाम कहा जा सकता है।

1.8.1 जीवन–प्रबन्धन के मुख्य विभाग

प्रबन्धन के विषय में यह कहा जा चुका है कि साधक, साधन और साध्य को एक सूत्र में पिरोने वाली प्रक्रिया 'प्रबन्धन' है। इस परिभाषा से यह ज्ञात होता है कि प्रबन्धन–प्रक्रिया के तीन मुख्य विभाग होते हैं – साधक, साधन और साध्य। जीवन का समग्र प्रबन्धन करने के लिए हम जीवन के समस्त पहलुओं का समायोजन इन तीन मुख्य विभागों के अन्तर्गत कर सकते हैं। अतः साधक–प्रबन्धन, साधन–प्रबन्धन और साध्य–प्रबन्धन का समन्वित योग ही जीवन–प्रबन्धन है, जो निम्न चार्ट से स्पष्ट है –

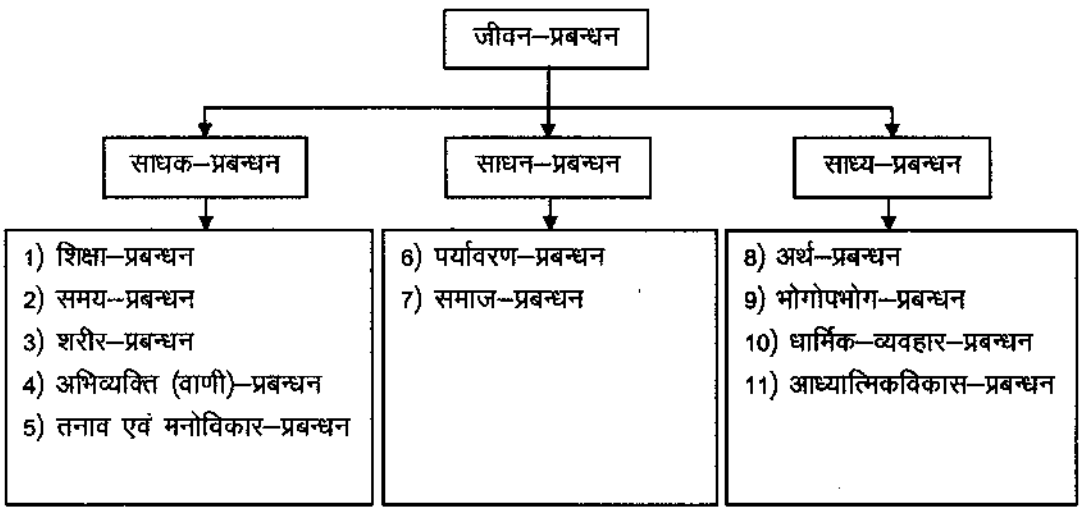

(1) साधक–प्रबन्धन – साधक के व्यक्तित्व से सम्बन्धित पहलुओं का प्रबन्धन 'साधक–प्रबन्धन' कहलाता है। साधक के व्यक्तित्व की तीन मूलभूत योग्यताएँ होती हैं – समझ, समय और सामर्थ्य। इनकी अभिव्यक्ति भी प्रत्येक साधक में भिन्न–भिन्न होती है।

समझ का अर्थ 'विवेक–बुद्धि' है, जो जीवन की सकारात्मक गत्यात्मकता (Positive Dynamicity) का मुख्य हेतु है। इस समझ या विवेकशीलता का विकास शिक्षा से होता है।

समय का अर्थ 'काल' है, जो जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण पक्षों में से एक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्य का आशय व्यक्ति की 'क्षमता' से है, जिसकी अभिव्यक्ति तीन साधनों से होती है – मन (Mind), वचन (Speech) और काया (Body)।

इन योग्यताओं को प्रबन्धित करके ही व्यक्तित्व का प्रबन्धन सम्भव होता है, जिसे 'साधक–प्रबन्धन' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत शिक्षा–प्रबन्धन, समय–प्रबन्धन, शरीर–प्रबन्धन, अभिव्यक्ति (वाणी)–प्रबन्धन और तनाव एवं मनोविकार–प्रबन्धन आते हैं।

(2) साधन–प्रबन्धन – जीवन के वे पहलू, जिनके माध्यम से साधक अपने साध्य की प्राप्ति करता है, साधन कहलाते हैं। साधन दो प्रकार के होते हैं – आन्तरिक और बाह्य। इन दोनों साधनों का सम्यक् प्रबन्धन साधन–प्रबन्धन है।

(क) आन्तरिक साधन–प्रबन्धन (Internal Means Management) – आन्तरिक साधन–प्रबन्धन से हमारा तात्पर्य उन साधनों के प्रबन्धन से है, जो व्यक्ति में ही होते हैं। इसमें व्यक्ति की चेतना, व्यक्ति का शरीर और शरीर के मन, वाणी, इन्द्रिय, हाथ–पैर आदि सभी उपकरण समाहित हैं।

जब हम इस आन्तरिक साधन–प्रबन्धन की बात करते हैं, तो हमें इन तीनों पर ध्यान देना होता है। जहाँ तक **चेतना के प्रबन्धन** का प्रश्न है, वह एक आध्यात्मिक पहलू है और उसका प्रशिक्षण भी आध्यात्मिक दृष्टि से ही संभव होता है। इसमें मुख्य रूप से चेतना को संक्लेश अर्थात् तनावों से मुक्त रखकर समत्व की स्थिति में लाने हेतु प्रशिक्षित और परिष्कृत करने का प्रयास किया जाता है। जहाँ तक **शरीर के प्रबन्धन** का प्रश्न है, वस्तुतः उसके तीन पक्ष हो सकते हैं। पहला व्यक्ति की दैहिक क्षमता का पूर्ण, लेकिन सम्यक् दिशा में प्रयोग, दूसरा उन परिस्थितियों से शरीर को बचाने का प्रयास, जो उसकी शारीरिक क्षमता को अवरूद्ध करती हैं और तीसरा दैहिक ऊर्जा की सम्यक् सम्पूर्त्ति का प्रयास, जो व्यक्ति के कार्य करने में नष्ट होती है। जहाँ तक **साधन रूप उपकरणों के प्रबन्धन** का प्रश्न है, उनका प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए कि व्यक्ति की दैहिक और चैतसिक–क्षमता का दोहन कम से कम हो और फल अधिक से अधिक मिल सके। साथ ही, उनका उपयोग करने से उपभोगकर्त्ता और दूसरे प्राणियों पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। इस प्रकार, आन्तरिक साधन–प्रबन्धन में मुख्य रूप से चैतसिक–समत्व, दैहिक–सतुलन और दैहिक–उपकरणों का सम्यक् उपयोग – ये तीनों ही आवश्यक हैं।

अंतरंग साधन वस्तुतः साधक की ही योग्यताएँ हैं, क्योंकि इनका सीधा सम्बन्ध साधक के व्यक्तित्व से जुड़ा है, अतः प्रस्तुत शोध–कार्य में इनका प्रबन्धन साधक–प्रबन्धन अर्थात् शिक्षा, समय, शरीर, वाणी और मन–प्रबन्धन के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ख) बाह्य साधन–प्रबन्धन – बाह्य साधन–प्रबन्धन से हमारा आशय उन साधनों के प्रबन्धन से है, जो साधक को बाह्य परिवेश से प्राप्त होते हैं। ये बाह्य–साधन दो प्रकार के होते हैं – गैर–मानवीय (पर्यावरण) और मानवीय (समाज) तथा इनका प्रबन्धन बाह्य–साधन–प्रबन्धन है।

इसके अन्तर्गत पर्यावरण–प्रबन्धन एवं समाज–प्रबन्धन आते हैं।

(3) साध्य–प्रबन्धन – साध्य का अर्थ है – लक्ष्य या उद्देश्य। निशीथ भाष्य में भी कहा गया है कि कार्य के दो रूप हैं – साध्य और असाध्य। जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह केवल साध्य को साधने का प्रयत्न करे, न कि असाध्य को, क्योंकि असाध्य को साधने में व्यर्थ का क्लेश ही होता है और कार्य भी सिद्ध नहीं हो पाता।[241]

व्यक्ति का चरम साध्य (Ultimate Aim) परम आनन्द की प्राप्ति करना है। इस साध्य की प्राप्ति के लिए ही वह विविध प्रयत्न या उद्यम करता है, जिसे पुरूषार्थ कहा जाता है। हरिभद्रसूरि के अनुसार, ये पुरूषार्थ चार प्रकार के होते हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें धर्म, अर्थ और काम – ये तीन पुरूषार्थ साध्य रूप भी होते हैं और अपने अग्रिम पुरूषार्थ के लिए साधन रूप भी, किन्तु मोक्ष पुरूषार्थ तो केवल साध्यरूप ही होता है।[242] इन चारों का प्रबन्धन साध्य–प्रबन्धन कहलाता है।

इसके अन्तर्गत अर्थ–प्रबन्धन, भोगोपभोग–प्रबन्धन, धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन और आध्यात्मिक–विकास (मोक्ष)–प्रबन्धन आते हैं।

इन तीनों विभागों (साधक, साधन एवं साध्य) में व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ सकारात्मक भी हो सकती हैं और नकारात्मक भी। अतः इनका सम्यक् प्रवर्त्तन एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.8.2 जीवन–प्रबन्धन के आयाम

जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में उपर्युक्त साधक–प्रबन्धन, साधन–प्रबन्धन एवं साध्य–प्रबन्धन के अन्तर्गत जिन आयामों का समावेश होता है, उनका वर्णन इस प्रकार है –

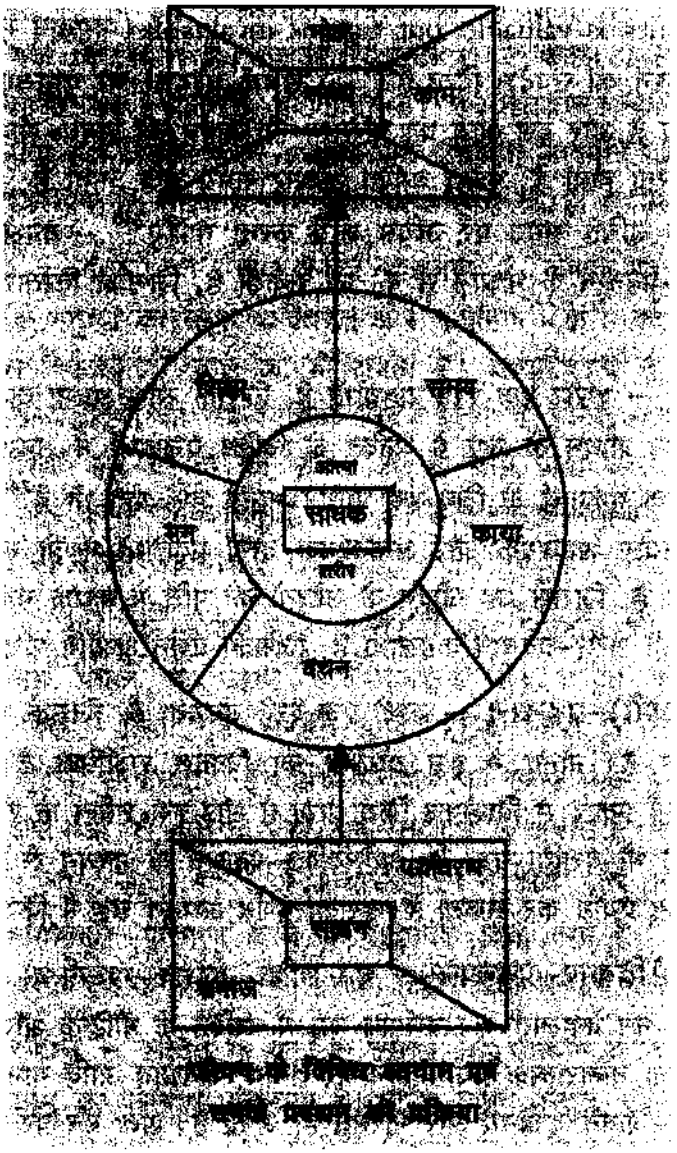

(1) शिक्षा–प्रबन्धन – शिक्षा प्रत्येक मानव की प्राथमिक आवश्यकताओं में से एक है। यह वह प्रक्रिया है, जो जन्म से मृत्यु तक चलती रहती है। जीवन के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष का प्रबन्धन ही शिक्षा–प्रबन्धन (Education Management) कहलाता है। शिक्षा–प्रबन्धन वस्तुतः शिक्षा का सही दिशा में नियोजन है, जिससे व्यक्ति की शिक्षा उसके व्यक्तित्व–विकास में सहायक हो सके। जैनधर्मदर्शन में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी सन्तुलित शिक्षा के दो पक्ष बताए गए हैं[243] – ग्रहणात्मक–शिक्षा (सैद्धान्तिक–शिक्षा) और आसेवनात्मक–शिक्षा (प्रायोगिक–शिक्षा)। शिक्षा–प्रबन्धन का विशेष वर्णन अध्याय तीन में किया जाएगा।

(2) समय–प्रबन्धन – किसी भी वस्तु का कोई मूल्य अवश्य होता है, लेकिन समय अनमोल है। कहावत भी है – Money is valuable, but time is invaluable। भगवान् महावीर ने समयमात्र के लिए भी प्रमाद नहीं करने का उपदेश दिया है[244] – **'समयं गोयम! मा पमायए'**। वस्तुतः, हर व्यक्ति को नियत आयु मिलती है और इस आयु का परिमाण ही जीवन की समय–सीमा है। इसमें ही जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है, परन्तु व्यक्ति अक्सर समय चूक जाता है, अतः जैनदर्शन में कहा गया है कि व्यक्ति को उचित समय पर उचित कार्य करना चाहिए[245] – **काले कालं समायरे**। इस उद्देश्य की पूर्त्ति समय–प्रबन्धन के माध्यम से की जा सकती है, जिसका विस्तार से वर्णन अध्याय चार में किया जाएगा।

(3) शरीर–प्रबन्धन – शरीर एक ऐसा सहयोगी है, जिसके साथ आत्मा का सम्बन्ध जन्म से मृत्यु तक बना रहता है। यह साधन के रूप में व्यक्ति के विविध पुरूषार्थों में सहगामी होता है। भारतीय दार्शनिकों ने आध्यात्मिक पुरूषार्थ के लिए इसे साधन मानते हुए कहा भी है[246] – **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं'**। इसका प्रयोग आवश्यक और अनावश्यक दोनों प्रवृत्तियों में हो सकता है। अतः इसका प्रबन्धन होना आवश्यक है, जिससे यह जीवन के उद्देश्यों की पूर्त्ति में बाधक नहीं, अपितु साधक सिद्ध हो सके। यह प्रबन्धन ही शरीर–प्रबन्धन कहलाता है, जिसका वर्णन अध्याय पाँच में किया जाएगा।

(4) अभिव्यक्ति (वाणी)–प्रबन्धन – वाणी एक ऐसी योग्यता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने भावों को प्रकट करता है। मानव में इस योग्यता का विकास सर्वाधिक है। जैनधर्मदर्शन में इस वाचिक–योग्यता का कई प्रकार से विश्लेषण किया गया है और इस शक्ति के सही एवं गलत दोनों ही प्रयोगों के परिणामों को भी दर्शाया गया है। अभिव्यक्ति–प्रबन्धन के माध्यम से ही व्यक्ति अपनी वाणी का सम्यक् और संयमित प्रयोग कर सकता है। इसका वर्णन अध्याय छह में किया जाएगा।

(5) तनाव एवं मनोविकार–प्रबन्धन – वह शक्ति, जिसके माध्यम से व्यक्ति चिन्तन, मनन, विचार आदि करता है, मन कहलाती है। वर्त्तमान युग में व्यक्ति के बौद्धिक और मानसिक विकास का आधार 'मन' है। मन का नकारात्मक प्रयोग होने पर तनाव, अवसाद आदि मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है, जिससे मानव–जीवन दुःखमय और भारभूत हो जाता है। अतः मन पर नियन्त्रण आवश्यक है। मन का सकारात्मक प्रयोग करने पर यही मुक्ति का साधन भी बन जाता है। कहा भी गया है कि – **"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"** अर्थात् मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण है।[247] अतः प्रत्येक मनुष्य को मन–प्रबन्धन की नितान्त आश्यकता है। मन–प्रबन्धन का आशय एक ऐसी कला से है, जिससे मानव अपने तनाव और मानसिक विकारों का सम्यक् प्रबन्धन कर सके। इसकी चर्चा अध्याय सात में विस्तार से की जाएगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(6) पर्यावरण–प्रबन्धन – व्यक्ति के चारों ओर व्याप्त परिवेश पर्यावरण कहलाता है। आज पर्यावरण सम्बन्धी समस्याएँ विश्व की ज्वलन्त समस्याएँ हैं, जिनका सम्बन्ध प्राणिमात्र से है। मानव पर्यावरणीय समस्याओं को बढ़ाने में सबसे अहम भूमिका निभा रहा है। यदि मानव अपने क्रियाकलापों पर उचित नियन्त्रण करे, तो ही इस विश्वव्यापी समस्या का समाधान सम्भव है। जैनधर्मदर्शन एक वैज्ञानिक और आध्यात्मिक विचारधारा है। इसके सिद्धान्तों से न केवल आत्महित होता है, अपितु पर्यावरण सम्बन्धी चिन्ताओं का निराकरण भी होता है। इन सिद्धान्तों का जीवन में प्रयोग ही पर्यावरण–प्रबन्धन कहलाता है, जिसका वर्णन अध्याय आठ में किया जाएगा। यह ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ में पर्यावरण के अन्तर्गत मुख्यतया गैर–मानवीय परिवेश को ही शामिल किया गया है।

(7) समाज–प्रबन्धन – मनुष्यों का समूह 'समाज' कहलाता है, जबकि पशुओं का समूह 'समज'। दोनों में यह अन्तर है कि मनुष्यों का समूह व्यक्तिगत और सामूहिक विकास का एक साधन है, जबकि पशुओं के समूह में इस विकास की पहल का ही अभाव है। जैनधर्मदर्शन ने इसीलिए एकाकी और सामूहिक दोनों ही जीवन–पद्धतियों का समन्वयात्मक निर्देश किया है, किन्तु मानव की यह विडम्बना है कि वह परस्पर सहकारिता और बन्धुत्व की भावना से जी नहीं पाता और परिणामस्वरूप समाज, परिवार आदि में क्लेश और कलह की अभिवृद्धि होती है। अतः समाज–प्रबन्धन आवश्यकता बन जाता है। इसकी चर्चा अध्याय नौ में की जाएगी।

(8) अर्थ–प्रबन्धन – 'अर्थ' का आशय है – वस्तु।[248] अतः उपभोग की वस्तुओं का ग्रहण एवं संचय करने वाले समग्र प्रयत्न या उद्यम 'अर्थ–पुरूषार्थ' हैं। व्यक्ति की अनेकानेक भौतिक आवश्यकताएँ होती हैं, जैसे – पैसा, गृह, सम्पत्ति आदि। इनकी प्राप्ति के लिए किया गया पुरूषार्थ अर्थ–पुरूषार्थ कहलाता है।[249] सामान्यतया इस अर्थ–पुरूषार्थ का साध्य काम–पुरूषार्थ होता है, क्योंकि व्यक्ति कामनाओं और वासनाओं की पूर्त्ति के लिए अर्थ–पुरूषार्थ से जुड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि 'अर्थ' साधन है और 'भोग' साध्य है।[250] जैनआचारमीमांसा में 'अर्थ' और 'भोग' दोनों के सन्दर्भ में परिग्रह–परिमाण और भोगोपभोग–परिमाण करने का सदुपदेश दिया गया है।[251] अर्थ–प्रबन्धन वस्तुतः अर्थ–पुरूषार्थ के व्यवस्थितीकरण की प्रक्रिया है। इसकी विशेष चर्चा अध्याय दस में की जाएगी।

(9) भोगोपभोग–प्रबन्धन – संचित या एकत्रित वस्तुओं का उपयोग करने हेतु किया गया प्रयत्न या उद्यम ही भोग या काम का पुरूषार्थ कहलाता है। भ्रमित मानव वस्तुतः भौतिक सुख को ही यथार्थ सुख मान लेता है और इसकी प्राप्ति के लिए ऐन्द्रिक–विषयों का सेवन करता रहता है, यही भोग या काम का पुरूषार्थ है।[252] जैन–जीवन–दृष्टि में भोग का पुरूषार्थ वस्तुतः दलदल के समान है, जिसमें भोगी पुरूष फँसता ही चला जाता है और अपने जीवन को नष्ट कर देता है। भोग–प्रबन्धन भोगवृत्ति को शनैः–शनैः सीमित करने की एक प्रक्रिया है। इससे व्यक्ति की जीवनशैली संयमित होती जाती है। इसकी विस्तृत चर्चा अध्याय ग्यारह में की जाएगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(10) धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन – धर्म का अर्थ है – नैतिकता। अतः वह पुरूषार्थ, जिसके माध्यम से व्यक्ति अशुभाचार से निवृत्त होकर शुभाचार में प्रवृत्त होता है, धर्म–पुरूषार्थ कहलाता है। यह पुरूषार्थ आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों ही जीवन रूपों में उपयोगी है। धर्म–पुरूषार्थ यदि व्यवहारीजन के लिए नैतिकता एवं सदाचारिता का माध्यम है, तो आत्मार्थीजन के लिए मुमुक्षुता और वैराग्य का उत्तम साधन है। वस्तुस्थिति यह है कि व्यक्ति धर्म के मर्म तक नहीं पहुँच पाता और इसीलिए धर्म–पुरूषार्थ करने का उचित परिणाम भी उसे प्राप्त नहीं हो पाता। इस प्रकार उसमें न तो सदाचारिता आ पाती है और न मुमुक्षुता या वैराग्य ही। अतः धर्म–प्रबन्धन या धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन की नितान्त आवश्यकता है। इससे ही व्यक्ति धर्म की वैज्ञानिक गहनता को समझ सकता है। यह धर्म–प्रबन्धन वस्तुतः धार्मिक अंधविश्वासों और आडम्बरों से रहित एक विशुद्ध विचारधारा है। इसकी विस्तृत चर्चा अध्याय बारह में की जाएगी।

(11) आध्यात्मिक–विकास (मोक्ष)–प्रबन्धन – मोक्ष का अर्थ है – 'मुक्ति'। वस्तुतः, जहाँ इच्छाओं, आकांक्षाओं और अपेक्षाओं का बन्धन है, वहाँ दुःख और तनाव अवश्यंभावी हैं और इसका तात्पर्य यह है कि मुक्त–दशा में ही प्रसन्नता और आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। जैन–जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया का परम साध्य भी यही अवस्था या दशा है एवं तद्हेतु किया गया पुरूषार्थ मोक्ष–पुरूषार्थ कहलाता है।[253] जैनदर्शन के अनुसार, समस्त पर–पदार्थों से भिन्न और निज–शुद्धात्मस्वरूप से अभिन्न आत्मिक अवस्था (परिणति) की प्राप्ति के लिए किया गया पुरूषार्थ मोक्ष–पुरूषार्थ है। जैसे–जैसे मोक्ष–पुरूषार्थ में प्रगति होती है, वैसे–वैसे आत्म–स्थिरता और तज्जन्य आत्मिक–आनन्द में भी अभिवृद्धि होती जाती है। इस पुरूषार्थ की चरम स्थिति मोक्ष है।

इस कलिकाल में मोक्षमार्ग के साधन सुलभ नहीं हैं, जिससे अक्सर व्यक्ति पथभ्रष्ट भी हो जाया करता है। आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम के पुरूषार्थ से शनैः–शनैः निवृत्त होता हुआ मोक्ष–प्राप्ति का सम्यक् प्रयत्न करता जाता है। इसकी भी विस्तृत चर्चा अध्याय तेरह में की जाएगी।

इस प्रकार, जीवन–प्रबन्धन के अन्तर्गत जीवन को सुव्यवस्थित करने वाले विविध पहलुओं का प्रबन्धन होता है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1.9 निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ का विषय है – जैनआचार में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्व। इसके प्रथम अध्याय में हमने जीवन–प्रबन्धन के मूलभूत सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है। आधुनिक युग में 'प्रबन्धन' एक बहुप्रचलित विधा के रूप में लोकप्रिय है, किन्तु इसका क्षेत्र अब तक भी सीमित ही है, इसमें आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का प्रायः अभाव है। इसके विपरीत, प्राचीन भारतीय–दर्शनों और विशेषरूप से जैनदर्शन की दृष्टि अतिव्यापक है। इसमें निर्दिष्ट सिद्धान्तों में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का सम्यक् सामंजस्य स्थापित किया गया है। जैनआचारमीमांसा (जैनआचारशास्त्रों) में जीवन–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों पक्षों का वर्णन मिलता है, जो जीवन–व्यवहार को समीचीन बनाने हेतु सम्यक् मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। यही कारण है कि हमने प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के लिए जैनआचारमीमांसा (जैनआचारशास्त्रों) को अपना आधार बनाया है।

जैनआचारमीमांसा पर आधारित जीवन–प्रबन्धन विषय में प्रवेश हेतु 'जीवन' और 'प्रबन्धन' दोनों के स्वरूप को सही ढंग से समझना अत्यावश्यक है। 'जीवन' आत्मा और शरीर की संयोगजन्य अवस्था है। आध्यात्मिक–दृष्टि से आत्मा ही जीवन का एकमात्र आधार है, परन्तु व्यावहारिक–दृष्टि से जिसमें चेतना का संचार महसूस होता है, उस शरीर को भी जीवन का एक अंग कहा गया है। आत्मा और शरीर में जीवन की अभिव्यक्ति जिस शक्ति के माध्यम से होती है, उसे जैनग्रन्थों में प्राण कहा गया है। यह प्राण जीवन का लक्षण है, क्योंकि इसके सद्भाव में जीवन का अस्तित्व बना रहता है और इसके अभाव में जीवन समाप्त हो जाता है। यह प्राण दो प्रकार का होता है – प्रथम निश्चय–प्राण कहलाता है, जो आत्मा की चैतन्य–शक्ति है और द्वितीय व्यवहार–प्राण कहलाता है, जो शरीर में विद्यमान पाँच इन्द्रियों, मन, वचन, काया, आयु एवं श्वासोच्छ्वास का समुच्चय है। जीवन–प्रबन्धन वस्तुतः, इन प्राण–द्वय का सम्यक् प्रवर्तन ही है।

जीवन से जुड़े अनेक पहलू हैं, जैसे – सभी प्राणियों के लिए जीवन का महत्त्व एवं स्थान सर्वोपरि होना, जीवन का प्रतिसमय परिवर्तित होना, बीते हुए जीवन का लौटकर नहीं आना, जीवन की अन्तिम परिणति मृत्यु होना इत्यादि। इन सभी पहलुओं को ध्यान में रखकर ही कोई व्यक्ति अपने जीवन को सम्यक् दिशा में नियोजित कर सकता है।

यद्यपि संसार में अनेक जीवनरूप हैं, जिन्हें जैनशास्त्रों में गति, इन्द्रिय, हलन–चलन आदि के आधार पर अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया गया है, फिर भी इनमें मनुष्य–जीवन की श्रेष्ठता को निर्विवाद रूप से स्वीकारा गया है। मनुष्य में आध्यात्मिक, मानसिक, वाचिक, शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में विकास करने की अद्भुत योग्यता है, जो इस बात को सिद्ध करती है कि जीवन–प्रबन्धन का सुयोग्य पात्र मानव ही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानव अपनी योग्यता का सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार से उपयोग कर सकता है। इन उपयोगों में भी अनेक विविधताएँ होती हैं और इसी कारण मानव अनेक प्रकार की जीवनशैलियों से जीता है। जैनाचार्यों ने सदैव नकारात्मक जीवनशैली को छोड़कर सकारात्मक जीवनशैली को अपनाने पर बल दिया है। वस्तुतः, यही जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य भी है।

प्रत्येक मानव जीवन–प्रबन्धन के लिए समर्थ होने पर भी अपने जीवन को प्रबन्धित नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि वह 'प्रबन्धन' के सम्यक् स्वरूप से अनभिज्ञ होता है। वह यह नहीं समझ पाता कि प्रबन्धन का महत्त्व सार्वकालिक, सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन है। वास्तव में प्रबन्धन तो वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति साधक, साधन और साध्य को एक सूत्र में पिरोकर सफलता की प्राप्ति कर सकता है। इस हेतु उसे नियोजन, संगठन, संसाधन, निर्देशन, समन्वयन एवं नियन्त्रण रूप प्रबन्धन–कर्त्तव्यों का सम्यक् क्रियान्वयन करना आवश्यक होता है। साथ ही वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के प्रबन्धन–सिद्धान्तों का सम्यक् निर्वहन भी करना होता है। उसे प्रबन्धन को एक कला, विज्ञान, प्रणाली एवं सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में प्रयोग करना होता है।

व्यक्ति जब प्रबन्धन को केवल व्यावसायिक या औद्योगिक पक्ष तक सीमित नहीं रखता हुआ, जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं के लिए प्रयोग में लाता है, तब जीवन–प्रबन्धन अस्तित्व में आता है। जीवन–प्रबन्धन की आवश्यकता प्रायः सभी को है, क्योंकि वर्त्तमान युग में प्रायः सभी का जीवन अस्त–व्यस्त एवं त्रस्त है। व्यक्ति जीवन में सुख, शान्ति और आनन्द चाहता है, किन्तु अप्रबन्धित जीवनशैली होने से वह अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं कर पाता। जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया को अपनाकर वह न केवल जीवन–निर्वाह, अपितु जीवन–निर्माण (आत्म–कल्याण) के लक्ष्य को भी सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकता है।

जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य वास्तव में व्यक्ति को काल्पनिक ऊँचाइयों के शिखर तक पहुँचाना नहीं, अपितु वास्तविकता की धरातल पर सुखी जीवन जीने की कला सिखाना है। इसका परम आदर्श मोह और क्षोभ से मुक्त मोक्ष–दशा की प्राप्ति कराना है। इस हेतु जीवन–प्रबन्धन की मूल प्रक्रिया यही है कि व्यक्ति उचित लक्ष्य का निर्धारण करे, लक्ष्य–प्राप्ति में सहयोगी साधक–तत्त्वों को ग्रहण करे, लक्ष्य–प्राप्ति में अवरोधरूप बाधक–कारणों का त्याग करे और अन्ततः जीवन–लक्ष्य की संप्राप्ति करे।

जीवन–प्रबन्धन की सबसे बड़ी बाधा है – जीवन का जटिल होना। इसे सरलीकृत करने के लिए जीवन के विविध पहलुओं का विभागीकरण कर उनका पृथक्–पृथक् प्रबन्धन करना आवश्यक है। इतना ही नहीं, उनमें पारस्परिक समन्वय स्थापित करना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः धैर्य और विवेक का समावेश करते हुए व्यक्ति को जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया में चरण–दर–चरण आगे बढ़ना ही उचित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन–प्रबन्धन एक बृहत्प्रक्रिया है, जिसके अनेक आयाम हैं। प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ में जीवन–प्रबन्धन के ग्यारह प्रमुख आयामों से सम्बन्धित प्रबन्धन–सूत्रों का निरूपण किया जा रहा है। ये आयाम हैं – शिक्षा–प्रबन्धन, समय–प्रबन्धन, शरीर–प्रबन्धन, अभिव्यक्ति (वाणी)–प्रबन्धन, तनाव एवं मनोविकार–प्रबन्धन, पर्यावरण–प्रबन्धन, समाज–प्रबन्धन, अर्थ–प्रबन्धन, भोगोपभोग–प्रबन्धन, धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन एवं आध्यात्मिक–विकास (मोक्ष)–प्रबन्धन। इन सभी आयामों का सम्यक् प्रबन्धन ही जीवन–प्रबन्धन की समग्रता है।

प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह इन सभी आयामों पर कार्य करता हुआ जीवन को सन्तुलित, सुव्यवस्थित और सुसमन्वित करे, ताकि वह जीवन में सुख, शान्ति एवं आनन्द की संप्राप्ति कर सके।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 ग्रन्थाध्ययनविषयकप्रवृत्तिप्रयोजनज्ञानविषयत्व–
मनुबंधसामान्यलक्षणम्।
– सिद्धांतकौमुदी, भाग 1, गोपालदत्त पाण्डेय,
2 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 1/139
3 जीवनविज्ञान की रूपरेखा, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 43
4 आचारांगसूत्र, 1/1/1
5 उत्तराध्ययनसूत्र, 36/48 (पृ. 642 से उद्धृत)
6 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि 131, पृ. 564
7 व्याख्याप्रज्ञप्ति, 20/2/7
8 उत्तराध्ययनसूत्र, 28/11
9 द्वादशानुप्रेक्षा, 204
10 जीवनविज्ञान की रूपरेखा, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 45
11 व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।
– न्यायदीपिका 1/ 3, पृ. 5
12 असाधारणधर्म वचनं लक्षणम् इति केचित्।
– वही 1/5, पृ. 7
13 न्यायविनिश्चयटीका, 1/3/85/5
14 अभिधानराजेन्द्रकोष, 4/1564 से उद्धृत
15 जीवन्ति–प्राणन्ति जीवित–व्यवहार–योग्या भवन्ति जीवा येस्ते
प्राणाः।
– गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 1/2, पृ. 34
16 जीवनविज्ञान की रूपरेखा, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 46
17 गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 130
18 वही, 129
19 बाहिरपाणेहि जहा तहेव अब्भंतरेहि पाणेहिं।
पाणन्ति जेहि जीवा पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा।।
– गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 4/129, पृ. 264।
20 जीवस्य सहज.....निश्चय जीवत्वे सत्यपि
– प्रवचनसार, 145, पृ. 301
21 कर्मोपाधिसापेक्षज्ञानदर्शनोपयोगचैतन्यप्राणेन जीवन्तीति जीवाः।
– गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 1/ 2, पृ. 34
22 इन्द्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणा हि प्राणाः।
तेषु चित्सामान्यान्वयिनो भावप्राणाः।
– पंचास्तिकायसंग्रह, 30, पृ. 61
23 पुद्गलसामान्यान्वयिनो द्रव्यप्राणाः।
– पंचास्तिकायसंग्रह, 30, पृ. 61
24 पौद्गलिक–द्रव्येन्द्रियादिव्यापाररूपाः द्रव्य–प्राणाः।
– गोम्मटसार (जीवकाण्ड), अधि. 4/129, पृ. 264
25 स्पर्श–रस–गंध–वर्णवन्तः पुद्गलाः।
– तत्त्वार्थसूत्र, 5/23, पृ. 128
26 गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 13
27 जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, 1/300
28 स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि।।
– तत्त्वार्थसूत्र, 2/20, पृ. 56
29 शक्त्युपचये – अभिधानराजेन्द्रकोष, 5/1287
30 निशीथचूर्णी, 1
(अभिधानराजेन्द्रकोष, 5/1287 से उद्धृत)
31 पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च,
निःश्वास उच्छ्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता–
स्तेषां वियोगिकरणं तु हिंसा।। – वही, पृ. 826
32 (क) मणणं व मण्णए वाऽणेण मणो तेण दव्वओ तं च।
तज्जोग्गपुग्गलमयं भावमणो भण्णए संता।।
– विशेषावश्यकभाष्य 2/3525, पृ. 546
(ख) द्रव्यमनश्च.गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधाना–
ऽभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला मनस्त्वेन परिणता इति
पौद्गलिकम्। – वही, 5/19, पृ. 218
33 संस्कृतहिन्दीकोश, पृ. 183
34 नवतत्त्वप्रकरण(सार्थ), 7, पृ. 40
35 यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायुः।
यस्य भावात् आत्मनः जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत
इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते।
– राजवार्तिक 2/8/10, पृ. 575
36 कर्मसंहिता, पृ. 439
37 आचारांगसूत्र, 1/2/3
38 तत्त्वार्थसूत्र, 5/29
39 उत्तराध्ययनसूत्र, 14/25
40 वही, 4/1, पृ. 75
41 वही, 13/26
42 वही, 4/1, पृ. 75
43 वही, 14/15
44 दशवैकालिकसूत्र, 8/36
45 अभिधानराजेन्द्रकोष, 4/1564 से उद्धृत
46 उत्तराध्ययनसूत्र, 19/91
47 आचारांगसूत्र, 1/2/3
48 समणसुत्तं, 150
49 तंदुलवैचारिकप्रकीर्णक, डॉ.सुभाष कोठारी, पृ. 45–55
50 पदार्थप्रकाश, हेमचन्द्रसूरि, भाग 1, पृ. 1
51 संसारिणो मुक्ताश्च – तत्त्वार्थसूत्र, 2/10, पृ. 53
52 संसारान्निवृत्ता ये ते मुक्ताः – सर्वार्थसिद्धि, 2/10,
पृ. 122

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

53 संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः। स एषामस्ति ते संसारिणः।
– सर्वार्थसिद्धि, 2/10, पृ. 119

54 गइउदयपज्जाया चउगइगमणस्स हेदु वा हु गई।
– गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 6/146, पृ. 278

55 नरकेषु जाता नारकाः
– वही, 6/147, पृ. 279

56 हिंसाद्यसदनुष्ठानेषु निरता व्यापृताः प्रवृत्ताः
– वही, 6/147, पृ. 279

57 असुरोदीरिय–दुक्खं, सारीरं माणसं तहा विविहं।
खित्तुब्भवं तिव्वं, अण्णोण्णकयं च पंचविहं।।
– कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 35, पृ. 17।

58 जैनदर्शनपारिभाषिककोष, पृ. 112

59 तिरियंति कुडिल भावं सुवियड सण्णा णिगिट्ठमण्णाणा।
अच्चंत–पाव–बहुला तम्हा तेरिच्छया णाम।।
– षट्खण्डागम (धवला) 1/1/1/129, पृ. 203

60 भगवतीआराधना, 1982–1987

61 देवगतिनामकर्मोदये सत्यभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूति विशेषैः द्वीपाद्रिसमुद्रादिप्रदेशेषु यथेष्टं दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः। – सर्वार्थसिद्धि, 4/1, पृ. 177

62 कार्तिकेयानुप्रेक्षा संसार–अनुप्रेक्षा, 59–61, पृ. 24

63 मण्णंति जदो णिच्चं मणेन णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मणुउब्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिदा।।
– गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 6/149, पृ. 280

64 मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता,
तं जहा–सम्मुच्छिममणुस्सा य, गब्भवक्कंतियमनुस्सा य
– जीवाजीवाभिगमसूत्र, 1/1/41, पृ. 98

65 तत्त्वार्थसूत्र, 2/32

66 वही, 2/25

67 दुविहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता ते एवमाहंसु तं
जहा–तसा चेव थावरा चेव
– जीवाजीवाभिगमसूत्र, 1/1/9, पृ. 24

68 वही, 1/1/41, पृ. 25

69 संख कवड्डय गंडुल, जलोय चंदणग अलस लहगाइ।
मेहरि किमि पुअरगा, बेइंदियमाई वाहाई।।
– जीवविचारप्रकरण, 15, पृ. 7

70 गोमी मंकण जूआ, पिपीलि उद्देहिया य मक्कोडा।
इल्लिय घयमिल्लीओ, सावय गोकीडजाइओ।।
गद्दहय चोरकीड़ा, गोमय कीड़ा य धन्न कीडा य।
कुंथु गोवालिय इलिया, तेइंदिय इंदगोवाइ।।
– वही, 16, 17, पृ. 8

71 चउरिंदिया य विच्छू, ढिंकुण भमरा य भमरिया तिड्डा।
मच्छिय डंसा मसगा, कंसारी कविल डोलाइ।।
– वही, 18, पृ. 9

72 तत्त्वार्थसूत्र, 2/11

73 पर्याप्तिर्नामाहारादिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः
– जीवाजीवाभिगमसूत्र, 1/1/12, पृ. 27

74 मनुष्य में देवत्व का उदय, पं.श्रीरामशर्मा, 5.8

75 स्थानांगसूत्र, 3/1/87

76 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/139

77 संस्कृतहिन्दीकोश, पृ. 1030

78 The seven habits of highly effective people, Stephen R. Covey, p 46

79 ज्ञानार्णव, 3/4

80 प्रशमरति, 148

81 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/121

82 धर्मबिन्दु, 1/56

83 त्रीणिछेदसूत्राणि (व्यवहारसूत्र), 10/37, पृ. 55

84 श्रीकुलकसमुच्चय, दानकुलक, पृ. 21

85 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/300–301

86 वही, 2/165

87 श्रीमद्राजचंद्र, पत्रांक 738, पृ. 572

88 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/157

89 मैत्री–प्रमोद–कारूण्य–माध्यस्थ्यानि
सत्त्व–गुणाधिक–क्लिश्यमानाऽविनेयेषु।
– तत्त्वार्थसूत्र, 7/6

90 परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणाऽऽच्छादनोद्भावने च
नीचैर्गोत्रस्य। – वही, 6/24

91 उपासकदशांगसूत्र, मधुकरमुनि, प्रस्तावना, पृ. 6

92 उत्तराध्ययनसूत्र, 10/2

93 मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः।
– तत्त्वार्थसूत्र, 8/1

94 तिण्णं रयणाणमा विब्भावट्ठ–मिच्छाणिरोहो।
– षट्खण्डागम, 13/5/4/26, पृ. 54

95 दशवैकालिकसूत्र, 8/39

96 कुक्खी संबलस्स, आनंदस्वाध्यायसंग्रह, पाक्षिकसूत्र, पृ. 111

97 उपासकदशांगसूत्र, 1/56, पृ. 53–54

98 असंविभागी न हु तस्स मोक्खो
– दशवैकालिकसूत्र, 9/2/22

99 साहवो तो चियत्तेणं निमंतेज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा तेहिं सद्धिं तु भुंजए।।
– वही, 5/1/95

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

100 उत्तराध्ययनसूत्र, 9/48

101 जेणं भक्खाभक्खं, पिज्जापिज्जं पमाणं
— सिद्धचक्र नवपद स्वरूप दर्शन, पृ. 205

102 नाण–किरियाहिं मोक्खो–विशेषावश्यकभाग्य, 3

103 सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।
— तत्त्वार्थसूत्र, 1/1

104 सकलकिरियाण मूलं, सद्धा पमाणं
— सिद्धचक्र नवपद स्वरूप दर्शन, पृ. 206

105 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 2, पृ. 6

106 तत्त्वार्थसूत्र, 7/27

107 समणसुत्तं, 303

108 स्थानांगसूत्र, 2/1/168, पृ. 46

109 दशवैकालिकसूत्र, 8/37–40

110 उत्तराध्ययनसूत्र, 1/8–11

111 योगशास्त्र, 1/47

112 अभिधानराजेन्द्रकोष, 4/1564 से उद्धृत

113 तत्त्वार्थसूत्र, 7/2

114 सागारधर्मामृत, 1/20

115 परीक्षामुख, 3/15

116 तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 1/7, पृ. 38

117 स्थानांगसूत्रवृत्ति, अभयदेवसूरि, 46

118 Management & Organization, C.B.Gupta, p.1.56

119 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 7

120 वही, पृ. 2

121 नियमसार, 1/2

122 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 25

123 वही, पृ. 3

124 वही, पृ. 4

125 वही, पृ. 5

126 वही, पृ. 2

127 Newman and Summer regard management as a social process. According to them, it is a process as it comprises a series of actions that lead to the accomplishment of objectives. It is a social process, because these actions are principally concerned with relations between people. - Organization & Management, R.D.Agrawal, p.4

128 Terry also views management as the process of planning, organizing, actuating and controlling, performed to determine and accomplish common goals by the use of human and other resources. - do, p.4

129 Management is the function of executive leadership anywhere. - do, p.4

130 Management is concerned with seeing that the job gets done. It tasks all centre on planning and guiding the operations that are going on in the enterprise. - do, p.4

131 Management is a multipurpose organ that manages the business & manages managers & manage worker & work. - Management & Organization, C.B.Gupta, p.1.8

132 Management is the creation and maintenance of an internal environment in an enterprise where individuals, working in groups, can perform efficiently and effectively toword the attainment of group goals. - do, p.1.9

133 Management is the coordination of all resources through the process of planning, organising, directing and controlling in order to attain stated goals. - do, p.1.9

134 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 2

135 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 4

136 पुरूषार्थसिद्धयुपाय, 2

137 प्रवचनसार, 1/7

138 देवगुरूशास्त्रपूजा, युगलजी

139 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 5

140 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 8

141 तत्त्वार्थसूत्र, 5/29

142 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 8

143 वही, पृ. 8

144 निशीथभाष्य, 5248

145 ओघनिर्युक्ति, 55

146 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 9

147 वही, पृ. 25

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

148 वही, पृ. 25
149 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 6
150 दशवैकालिकसूत्र, 4/61
151 नवपदपूजा, सम्यग्ज्ञानपद, उपाध्याय यशोविजयजी
152 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 45
153 नियमसार, 1/2
154 पुरूषार्थसिद्ध्युपाय, 21, पृ. 13
155 अध्यात्मसार, 3/10/2–28
156 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 45
157 वही, पृ. 46
158 वही, पृ. 47
159 वही, पृ. 47
160 वही, पृ. 48
161 वही, पृ. 48
162 योगशास्त्र, 1/4
163 वही, 1/52
164 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 43
165 वही, पृ. 26
166 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 94
167 जैनविद्या, भाग 1, (बी.ए.1), पृ. 14–16
168 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 7
169 जैनविद्या, भाग 1, (बी.ए.1), पृ. 14–16
170 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 7
171 त्रीणिछेदसूत्राणि (व्यवहारसूत्र), 3/11, पृ. 324
172 नवपदपूजा, आचार्यपद, उपाध्याय यशोविजयजी
173 गच्छाचारपयन्ना, 1/17
174 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 26
175 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 8
176 त्रीणिछेदसूत्राणि (दशाश्रुतस्कंध), पृ. 20–21
177 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 27
178 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 8
179 त्रीणिछेदसूत्राणि (दशाश्रुतस्कंध), पृ. 27–28
180 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/1/2/17
181 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 8
182 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 11
183 तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
184 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 17
185 वही, पृ. 38
186 त्रीणिछेदसूत्राणि (बृहत्कल्पसूत्र), 3/13, पृ. 181–182
187 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 39
188 त्रीणिछेदसूत्राणि (बृहत्कल्पसूत्र), 3/13, पृ. 181–182
189 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 39
190 त्रीणिछेदसूत्राणि (बृहत्कल्पसूत्र), 3/13, पृ. 181–182
191 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 39
192 निशीथभाष्य, 5245
193 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 38
194 त्रीणिछेदसूत्राणि (बृहत्कल्पसूत्र), 3/13, पृ. 181
195 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 38
196 उत्तराध्ययनसूत्र, 1/8–11
197 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 39
198 जैनआचार, देवेन्द्र मुनि, पृ. 110
199 Organisation & Management, R.D.Agrawal, p.15
200 पंचाशकप्रकरण, 3/21–24
201 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 39
202 स्थानांगसूत्र, 4/3/430
203 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 40
204 स्थानांगसूत्र, 2/1/168
205 आचारांगसूत्र, 2/3/3/507, पृ. 201
206 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 40
207 आया णे अज्जो! सामाइए
आया णे अज्जो! सामाइयस्स अट्ठे
– व्याख्याप्रज्ञप्ति, 1/9/21/4

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

208 व्यावसायिक प्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता, डॉ.प्रवीण कुमार अग्रवाल, पृ. 40
209 त्रीणिछेदसूत्राणि (व्यवहारसूत्र), 2/25, पृ. 299–300
210 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 16
211 त्रीणिछेदसूत्राणि (दशाश्रुतस्कंध), 4/8/1, पृ. 26
212 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 16
213 तत्त्वार्थसूत्र, 7/6
214 वही, 5/21
215 त्रीणिछेदसूत्राणि (बृहत्कल्पसूत्र), 3/20, पृ. 185
216 Organization & Management, R.D.Agrawal, p. 4
217 संसारभावना – कविवरभूधरदास कृत बारह भावना
218 आचारांगसूत्र, 1/2/3
219 मुक्तिवैभव, त्रिशलादेवी कोठारी, पृ. 257–258
220 श्रीपालचरित्र, सा. हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 31,101
221 पर्यावरणविकास (पत्रिका), सितंबर, 2008, अंक 9, पृ. 10
222 समयसार, 9/383–385
223 मोहमूलाणि दुक्खाणि – ऋषिभाषित, 2/7
224 उत्तराध्ययनसूत्र, 32/2
225 आचारांगसूत्र, 1/1/2/14, पृ. 10–11
226 (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 23/83
(ख) नियमसार, 43–44
227 श्रीमद्राजचंद्र, पत्रांक 718, पृ. 534
228 भक्तपरिज्ञा, 91
229 समयसार, 8/306–307, पृ. 389
230 श्रीमद्देवचंद्र, अतीत चौबीसी, 11/10
231 देखें, तीर्थंकरचरित्र (आदिनाथ चरित्र), मुनिजयानंदविजय, पृ. 15–30
232 भारतीय जीवन मूल्य, डॉ.सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 127
233 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशिलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 548
234 जैन नीतिशास्त्र : एकपरिशीलन, देवेन्द्रमुनि, पृ. 124
235 अष्टशती (जैनेन्द्रसिद्धांतकोश, 3/70)
236 जैनेन्द्रसिद्धांतकोश, 3/70
237 ज्ञानार्णव, 3/4
238 भारतीय जीवन मूल्य, डॉ.सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 31
239 वही, पृ. 32
240 (क) डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 187
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशिलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 548
241 निशीथभाष्य, 4157
242 प्रशमरति, 148
243 स्थानांगसूत्र, 2/1/168, पृ. 46
244 उत्तराध्ययनसूत्र, 10/2
245 वही, 1/31
246 अनगारधर्मामृत, 7/9
247 मैत्राण्युपनिषद्, 4/11 (जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/482 से उद्धृत)
248 संस्कृतहिन्दीकोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 96
249 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/155
250 तत्त्वार्थसूत्र, पं.सुखलाल संघवी, पृ. 1
251 धर्मबिन्दु, 3/7–8
252 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/155
253 परमात्मप्रकाश, 2/3

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 2

जैन दर्शन एवं जैन आचार शास्त्र में जीवन-प्रबन्धन

ELEMENTS OF LIFE MANAGEMENT IN
JAIN PHILOSOPHICAL
AND ETHICAL SCRIPTURES

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 2

जैनदर्शन एवं जैनआचारशास्त्र में जीवन–प्रबन्धन

(Life Management in Jain Philosophical & Ethical Scriputures)

	Page No. Chap.	Cont.
2.1 जैनदर्शन एवं आचारशास्त्र का सह–सम्बन्ध	**1**	**91**
2.2 जैनआचारमीमांसा का उद्देश्य	**4**	**94**
2.3 जैन दर्शनमीमांसा, आचारमीमांसा एवं जीवन–प्रबन्धन का सह–सम्बन्ध	**6**	**96**
2.3.1 जैनआचारमीमांसा एवं जीवन–प्रबन्धन के सह–सम्बन्ध को सुनिश्चित करने वाले कतिपय बिन्दु	8	98
(1) साध्य एवं उसके साधन का निर्देश	8	98
(2) जीवन में उचित–अनुचित के प्रबन्धन का निर्देश	9	99
(3) जीवन–व्यवहार के सम्यक् मूल्यांकन एवं नैतिक प्रतिमानों (Ethical Standards) का निर्देश	9	99
(4) सामाजिक नियमों अथवा रीति–रिवाजों का निर्देश	9	99
(5) पद के अनुरूप अपने कर्त्तव्यों का पालन करने का निर्देश	10	100
(6) विभिन्न नैतिक मान्यताओं की सम्यक् समीक्षा करने का निर्देश	11	101
(7) जीवन के आध्यात्मिक विकास के उचित प्रबन्धन का निर्देश	11	101
2.4 जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के मुख्य तत्त्व	**12**	**102**
2.4.1 मानवीय जीवन की समस्याएँ	12	102
2.4.2 समस्याओं के समाधान के लिए एक उदाहरण	13	103
2.4.3 जैनआचारमीमांसा के मुख्य तत्त्व	15	105
(1) ज्ञानाचार	16	106
(2) दर्शनाचार	17	107
(3) चारित्राचार	18	108
(4) तपाचार	19	109
(5) वीर्याचार	20	110
2.5 निष्कर्ष	**21**	**111**
सन्दर्भसूची	23	113

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 2

जैनदर्शन एवं जैनआचारशास्त्र में जीवन–प्रबन्धन
(Life Management in Jain Philosophical & Ethical Scriputures)

2.1 जैनदर्शन एवं आचारशास्त्र का सह–सम्बन्ध

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में जैनदर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। इसमें वैश्विक सत्य को प्रकाशित करके जीवन के नैतिक विकास के बिन्दुओं का निर्देश दिया गया है। सम्पूर्ण जैन दर्शन–साहित्य के मूलतः तीन विभाग हैं[1] –

1) तत्त्वमीमांसा 2) ज्ञानमीमांसा 3) आचारमीमांसा

प्रस्तुत प्रसंग में भी 'दर्शनशास्त्र' शब्द का अर्थ अतिव्यापक है, जिसमें तत्त्वमीमांसा (Metaphysics), ज्ञानमीमांसा (Epistemology), आचारशास्त्र (नीतिशास्त्र/Ethics) तथा न्यायशास्त्र आदि सभी समाहित हैं।

दर्शनशास्त्र का विषय मूलतः सैद्धान्तिक ज्ञान से जुड़ा हुआ है। इसमें पदार्थों की वास्तविकता का बोध कराया जाता है। संसार क्या है? इसमें मनुष्य का क्या स्थान है? सुख–दुःख क्या हैं? इनके कारण क्या हैं? दुःखों से मुक्ति एवं परम तत्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान प्राप्त होते हैं।[2]

वस्तुतः विशिष्ट तात्त्विक सत्यों का युक्तियुक्त ज्ञान 'दर्शन' कहलाता है, जो किसी की मान्यता या श्रद्धा का विषय बनता है।[3] डॉ. सागरमल जैन के अनुसार, "विज्ञान की तुलना में दर्शन का अपना अलग वैशिष्ट्य होता है। किसी सीमित भाग के व्यवस्थित अध्ययन को विज्ञान (Science) कहते हैं, लेकिन जब अध्ययन की दृष्टि व्यापक होती है और मूल (Root) तक पहुँचती है, तब वह दर्शन कहलाती है।"[4]

जहाँ तक आचारशास्त्र का सवाल है, इसका विषय जीवन–व्यवहार से जुड़ा हुआ है।[5] यह आदर्श–मूलक है, क्योंकि यह जीवन के नैतिक आदर्शों का निर्धारण करता है एवं कर्त्तव्यों का बोध कराता है।[6] जीवन कैसे जीना चाहिए? हमारी जीवनशैली में क्या दोष हैं? कहीं नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन तो नहीं हो रहा है? इत्यादि प्रश्नों का निराकरण करना आचारशास्त्र का विषय है। इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार आचारशास्त्र का सम्बन्ध दैनिक जीवन–व्यवहार से है। वस्तुतः, यह दर्शनशास्त्र का ही प्रायोगिक (Practical) अंग होता है, जो उचित–अनुचित का बोध कराता है।

दर्शन एवं आचार का युगल ठीक उसी तरह है, जिस तरह कानून की भाषा में Law and Order, प्रबन्धन की भाषा में Planning and Implementation, विज्ञान की भाषा में Theory and Practical अथवा Principle and Practice हैं। जीवन के क्षेत्र में दर्शन एवं आचार – इन दोनों शब्दों का प्रयोग बहुलता से होता है। एक सामान्य व्यक्ति की भाषा में इन्हें 'विचार' एवं 'व्यवहार' यानि Thought and Behaviour भी कहा जा सकता है।

यह सोचना गलत होगा कि दर्शनशास्त्र एवं आचारशास्त्र का मनुष्य–जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः, मनुष्य एक विवेकशील प्राणी इसीलिए कहलाता है, क्योंकि वह अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में दर्शन (विचार) एवं आचार (व्यवहार) का प्रयोग करने में समर्थ है। पशुओं में इस योग्यता का अभाव होता है, जिसके कारण वे आहार, भय, मैथुन एवं निद्रा जैसी मूल–प्रवृत्तियों से ऊपर ही नहीं उठ पाते।[7]

दर्शन एवं आचार न केवल मनुष्य–जीवन से सम्बन्धित हैं, अपितु ये परस्पर भी सम्बन्धित हैं, यद्यपि नामकरण की दृष्टि से इनमें भिन्नता अवश्य है, तथापि विषय–वस्तु के आधार पर इनके बीच विभाजन–रेखा खींच पाना आसान नहीं है। वस्तुतः, ये दोनों परस्पर एक–दूसरे से गुँथे हुए हैं। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार – जब हम एक की गहराई में प्रवेश करते हैं, तो निश्चित ही सीमा का उल्लंघन करके दूसरे में हमें प्रवेश करना होता है। उनके अनुसार, जब तक हमें दर्शन के द्वारा सत् (वस्तु) के स्वरूप का बोध नहीं होता, तब तक हमें आचरण का सम्यक् मूल्यांकन भी नहीं हो पाता। जीवन के सम्यक् आचार का निर्धारण करने के पूर्व विश्व के यथार्थ स्वरूप का बोध होना आवश्यक है। यही वह बिन्दु है, जहाँ दर्शन एवं आचार परस्पर मिलते हैं। अतः कहा जा सकता है कि दर्शन एवं आचार को एक–दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ये दोनों एक–दूसरे से अतिनिकट हैं।[8]

जैनदर्शन एवं जैनआचारशास्त्र के सह–सम्बन्ध की व्याख्या के दो आधार हैं –

1) भेद दृष्टि 2) अभेद दृष्टि

भेद दृष्टि के अनुसार, दर्शन एवं आचारशास्त्रों का परस्पर आधार–आधेय सम्बन्ध है। दर्शन वस्तु–स्वरूप पर विचार करता है, तो आचार जीवन–व्यवहार के आदर्शों/मूल्यों का विचार करता है। दर्शन 'क्या है' को सूचित करता है, तो आचार 'क्या होना चाहिए' को प्रतिपादित करता है। इस प्रकार, आचारशास्त्र दर्शनशास्त्र पर अवलम्बित है। मूलतः दर्शनशास्त्र व्यापक है एवं आचारशास्त्र उसमें व्याप्य है। डॉ. राधाकृष्णन ने भी कहा है कि सभी आचारशास्त्र किसी न किसी दार्शनिक सिद्धान्त पर आश्रित अवश्य होते हैं।[9] जैनदृष्टि भी इस बात पर सहमत है कि सम्यग्दर्शन ही सम्यक्चारित्र का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आधार है। व्यक्ति के व्यक्तित्व की पहचान भले ही उसके आचार से होती हो, किन्तु उसके आचार का आधार उसका दृष्टिकोण या मान्यता होती है। वस्तुतः, जीवन और जगत् के प्रति यह दृष्टिकोण ही दर्शन कहलाता है। यदि दर्शन या दृष्टिकोण सही नहीं है, तो आचार भी सही नहीं हो सकता। कहा भी गया है[10] –

दंसणभट्ठा भट्ठा, दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियाभट्ठा, दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।।

अर्थात् जो आत्मा दर्शन से भ्रष्ट होती है, वह निश्चित रूप से भ्रष्ट है, उसका निर्वाण (मोक्ष) भी नहीं होता। भले ही, एक बार चारित्र से भ्रष्ट आत्मा सिद्धावस्था की प्राप्ति कर सकती है, किन्तु दर्शन से भ्रष्ट आत्मा कभी नहीं।

अभेद दृष्टि के आधार पर दर्शन एवं आचारशास्त्रों में तादात्म्य है, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह कहा जा सकता है कि दर्शन ही आचार है एवं आचार ही दर्शन है। दोनों एकरूप हैं, अलग–अलग नहीं। जैनदृष्टि का भी यही अभिमत है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार – "जैन दार्शनिकों ने दर्शन एवं आचार को अलग–अलग देखा अवश्य है, किन्तु अलग–अलग किया नहीं। कारण यह है कि ये एक–दूसरे से इतने अधिक एकमेक हैं कि इन्हें अलग किया ही नहीं जा सकता।"[11]

'सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र इसी बात की पुष्टि करता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की एकता (अभेदता) ही मोक्षमार्ग है।[12] यहाँ दर्शन एवं आचार की एकता का स्वर गूँजा है। आचारांगसूत्र में भी जब–जब **'सम्मत्तदंसी'**[13] शब्द का प्रयोग किया गया है, तब–तब वह ऐसे साधक की ओर इशारा करता है, जो सम्यग्दृष्टि से सम्पन्न सम्यग्दृष्टा है। यहाँ सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र का एकीकृत रूप ही 'सम्मत्तदंसी' का स्वरूप है। इस प्रकार, दर्शन एवं आचार का अभेद सम्बन्ध है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2.2 जैनआचारमीमांसा का उद्देश्य

जगत् में कोई भी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती है। कहा भी जाता है – **'प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते'** अर्थात् उद्देश्य के बिना सामान्य व्यक्ति भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।[14] अतः प्रश्न उठता है कि जैनआचारमीमांसा का उद्देश्य क्या है?

जैनआचारमीमांसा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को सम्यक् बनाना है अर्थात् व्यक्ति की जीवनशैली का सम्यक् प्रबन्धन करना है। ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा जीवन के सैद्धान्तिक–पक्षों का निर्देश देती है, जबकि आचारमीमांसा जीवन के प्रायोगिक–पक्षों को प्रतिपादित करती है। आचारमीमांसा व्यक्ति की जीवनशैली को आधार बनाकर जीवनोपयोगी आचरण का पथप्रदर्शन करती है। इससे जैनदर्शन में सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्षों का समन्वय एवं सन्तुलन हो जाता है।

मनुष्य के समक्ष अपने साध्य (Goal) एवं साधन (Means) के बारे में अस्पष्टता होती है, जिसे स्पष्ट करना जैनआचारमीमांसा का प्राथमिक उद्देश्य है। मनुष्य यह विचार करता है कि वह कौन है, कहाँ से आया है, उसके जीवन का उद्देश्य क्या है और उस उद्देश्य की प्राप्ति कैसे की जा सकती है।[15] वह यह चिन्तन भी करता है कि वह कैसे चले, कैसे खड़े रहे, कैसे बैठे, कैसे भोजन करे, कैसे बोले और कैसे सोए इत्यादि।[16] ये सभी प्रश्न व्यक्ति के जीवन–प्रबन्धन से सम्बन्धित हैं, जिनका समाधान देना जैनआचारमीमांसा का उद्देश्य है। उल्लेखनीय है कि ये समाधान ही व्यक्ति को उचित लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति के उचित मार्ग से जोड़ते हैं।

जैनआचारमीमांसा जीवन के अनन्तर (Short Term) एवं परम्पर (Long Term) दोनों प्रकार के साध्यों को निर्देशित करती है। जहाँ इसका उद्देश्य 'परम्पर–साध्य' के रूप में मोक्षदशा को प्राप्त कराना है, वहीं 'अनन्तर–साध्य' के रूप में वर्त्तमान जीवन को तनाव–मुक्त बनाकर सुख, शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति कराना है।[17]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक इकाई के रूप में वह समाज में रहता और जीता है, अतः उसके सामने यह प्रश्न उठता है कि उसका सामाजिक व्यवहार कैसा हो? इस प्रश्न का सम्यक् समाधान देना भी जैनआचारमीमांसा या जीवनप्रबन्धनशास्त्र का कार्य है। उसका उद्देश्य है कि जीवन जीने की ऐसी प्रणाली विकसित हो, जिसमें स्वार्थ, परार्थ एवं परमार्थ का सन्तुलन हो।[18] आशय यह है कि स्वहित एवं परहित एक–दूसरे के लिए बाधक न बनें।[19]

मनुष्य सामान्यतया बाह्य प्रवृत्तियों को ही आचार का मापदण्ड मानता है। अतएव सर्वत्र बाह्य व्यवहार को ही सुधारने की प्रेरणा दी जाती है, परन्तु जैनआचारमीमांसा आभ्यन्तर भावों एवं बाह्य व्यवहारों दोनों को परिष्कृत करने पर समान बल देती है। **इस प्रकार, व्यक्ति के आचरण को मूल से सुधारना जैनआचारमीमांसा या जैन जीवन–प्रबन्धन का प्रधान उद्देश्य है।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनआचारशास्त्र का लक्ष्य व्यक्ति के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक जीवन का सन्तुलित विकास करना है। जहाँ यह नैतिक आदर्शों/मूल्यों की सर्वोत्कृष्ट (परिपूर्ण) दशारूप मोक्ष को परिलक्षित करता है, वहीं यथार्थ के धरातल पर व्यक्ति के वर्त्तमान जीवन को सुव्यवस्थित करने का मार्गदर्शन भी देता है।

इस जगत् में प्रत्येक प्राणी की जीवनशैली अपने आप में विशिष्ट (Unique) होती है।[20] अतः सबकी रुचि, भावना, अनुभूति, अनुक्रिया, बुद्धि, वाणी, व्यवहार, कार्यशैली इत्यादि भी भिन्न–भिन्न होती हैं। इससे व्यक्ति का व्यक्तित्व बड़ा जटिल हो जाता है। ऐसी स्थिति में जैनआचारशास्त्र या जैन जीवन–प्रबन्धन का यह विशेष दायित्व बनता है कि वह भिन्न–भिन्न स्तर के व्यक्तियों के लिए भिन्न–भिन्न आचार–व्यवहार का सापेक्षिक प्रावधान करे। इसी कारण जैनआचारशास्त्र या जैन जीवनशैली में व्यक्ति को अपनी भूमिकानुसार प्रवृत्ति करने का निर्देश दिया गया है।

जीवन के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक विकास हेतु जैन जीवन–प्रबन्धन में अनेकानेक निर्देश/सूत्र दिए गए हैं, जो इस प्रकार हैं–

व्यावहारिक जीवन के सन्दर्भ में	आध्यात्मिक जीवन के सन्दर्भ में
★ [illegible]	★ [illegible]
★ प्रासंगिक एवं प्रामाणिक वाणी–संप्रेषण के सूत्र	★ इच्छा–मुक्ति से दुःख–विमुक्ति के सूत्र
★ [illegible]	★ [illegible]
★ मन की शान्ति, एकाग्रता एवं प्रसन्नता के सूत्र	★ शुभाशुभ भावों से ऊपर उठने के सूत्र
★ [illegible]	★ [illegible]
★ धर्म–व्यवहार (शुभभाव) के प्रति समर्पण के सूत्र	
★ [illegible]	
★ समरसतामय पारिवारिक जीवन के सूत्र	
★ [illegible]	
★ पर्यावरण–संरक्षण के सूत्र	
★ [illegible]	

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2.3 जैन दर्शनमीमांसा, आचारमीमांसा एवं जीवन–प्रबन्धन का सह–सम्बन्ध

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है, जो सदैव अपने हित–अहित के बारे में चिन्तन–मनन करता हुआ अनेक प्रयत्न करता रहता है। इन्हीं प्रयत्नों में जीवन–दर्शन, जीवन–आचार एवं जीवन–प्रबन्धन शामिल हैं, जिनका जीवन से अत्यन्त निकटवर्त्ती सम्बन्ध है।

जीवन का मूल उद्देश्य सुख, शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति करते हुए अन्ततः निराकुल वीतराग दशा को पाना है। इस हेतु जैनाचार्यों ने व्यापक एवं गहन दृष्टिकोण से परमतत्त्व का शोधन किया, जिसे हम **'दर्शन'** कहते हैं। दर्शन के आधार पर प्रायोगिक नीतियों का निर्माण भी किया, जिससे दर्शन का व्यावहारिक रूप प्रकट हुआ, इसे हम **'आचार'** कहते हैं। इसी प्रकार, दार्शनिक सिद्धान्तों को जानकर एवं उसकी प्रायोगिक–नीतियों का निर्माण कर, इनके क्रियान्वयन की प्रक्रिया का निर्धारण किया, जिसे हम **'प्रबन्धन'** कहते हैं।

इन्हें अपनाकर मनुष्य अपने जीवन को प्रबन्धित करता हुआ अपने उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि जीवन से दर्शन, आचार एवं प्रबन्धन का अत्यन्त करीबी सम्बन्ध है।

दर्शन, आचार एवं प्रबन्धन – ये तीनों परस्पर एक–दूसरे में गुँथे हुए हैं। यद्यपि इनके बीच में विभाजन–रेखा खींच पाना आसान नहीं है, फिर भी कार्यों के आधार पर इन्हें इस प्रकार से विभाजित किया जा सकता है –

1) दर्शनशास्त्र – यह जीवन–प्रबन्धन के सिद्धान्तों का शास्त्र है।
2) आचारशास्त्र – यह जीवन–प्रबन्धन की प्रायोगिक नीतियों का शास्त्र है।
3) प्रबन्धनशास्त्र – यह जीवन–प्रबन्धन के क्रियान्वयन के सूत्रों का शास्त्र है।

इससे स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र सैद्धान्तिक नीतियों का सर्जक है, आचारशास्त्र सैद्धान्तिक नीतियों पर आधारित प्रायोगिक नीतियों का निरूपक है और प्रबन्धनशास्त्र इन प्रायोगिक नीतियों के क्रियान्वयन का प्ररूपक है। इन तीनों को किसी संस्था के तीन वरिष्ठ अधिकारियों की उपमा दी जा सकती है –

	शास्त्र	उपमा	कार्य
1)	दर्शनशास्त्र	Chairman	नीति–निर्माता
2)	आचारशास्त्र	Executive Director	कार्य–निदेशक
3)	प्रबन्धनशास्त्र	Executive Officer	कार्य–पालक

दर्शनशास्त्र एवं आचारशास्त्र यद्यपि जीवन से जुड़े हुए पक्ष हैं, फिर भी प्रबन्धनशास्त्र जीवन के सर्वाधिक निकट है। प्रबन्धनशास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह दर्शनशास्त्र एवं आचारशास्त्र के द्वारा निर्देशित नीतियों को जीवन–व्यवहार में अर्थपूर्ण (Meaningful) बनाता है। इसके अभाव में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन–लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव है और तब दर्शनशास्त्र एवं आचारशास्त्र की नीतियाँ भी निरर्थक सिद्ध हो जाती हैं। इसे हम भाषा–व्याकरण की निम्न उपमा से भी समझ सकते हैं–

क्र.	शास्त्र	उपमा	उपमा का प्रयोग
1)	दर्शनशास्त्र	अक्षर के समान	इसका स्वतन्त्र उपयोग जीवन–व्यवहार में नहीं होता है।
2)	आचारशास्त्र	शब्द के समान	इनका उपयोग शब्दकोष में तो होता है, पर भावाभिव्यक्ति में नहीं।
3)	प्रबन्धनशास्त्र	वाक्य के समान	इनका प्रयोग प्रत्येक संप्रेषण में होता है।

★ आधार–आधेय सम्बन्ध

दर्शन, आचार एवं प्रबन्धन के कार्यों में एक क्रम होता है और इस क्रम के आधार पर ही इनका परस्पर सम्बन्ध बनता है। वस्तुतः, दर्शन आचार का आधार होता है और आचार प्रबन्धन का आधार होता है। यह प्रबन्धन ही अन्ततः जीवनलक्ष्य की प्राप्ति का आधारस्तम्भ बन जाता है।

यदि दर्शन एवं आचार रूपी आधार न हों, तो प्रबन्धन नहीं हो सकता और यदि प्रबन्धन न हो, तो दर्शन एवं आचार को सार्थकता नहीं मिल सकती। अतः जीवन–सफलता के लिए दर्शन, आचार एवं प्रबन्धन का क्रमिक आधार–आधेय सम्बन्ध होना आवश्यक है।

★ व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध

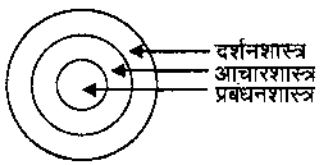

इन तीनों के बीच परस्पर व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध भी है, जहाँ आचारशास्त्र दर्शनशास्त्र का एक अंग है, वहीं प्रबन्धनशास्त्र आचारशास्त्र का एक विभाग है। इस अपेक्षा से दर्शनशास्त्र का कार्य क्षेत्र अतिविस्तृत है, जिसमें आचारशास्त्र एवं प्रबन्धनशास्त्र दोनों समाविष्ट हो जाते हैं। यद्यपि आचारशास्त्र का क्षेत्र दर्शनशास्त्र की तुलना में कम विस्तृत है, तथापि प्रबन्धनशास्त्र का समावेश इसमें हो जाता है।

★ सामान्य–विशेष सम्बन्ध

सामान्य (General) एवं विशेष (Specific) के आधार पर भी इन तीनों को समझा जा सकता है। जहाँ दर्शनशास्त्र पूर्णतया 'सामान्य' का विवेचन करता है, वहीं आचारशास्त्र एवं प्रबन्धनशास्त्र 'विशेष' को भी प्रकाशित करते हैं। यही कारण है कि आचारशास्त्र और प्रबन्धनशास्त्र में आचार्य, उपाध्याय, श्रमण–श्रमणी, श्रावक–श्राविका आदि व्यक्तिविशेष या पदविशेष के आधार पर भिन्न–भिन्न आचार नियमों का निर्देशन किया गया है। इन दोनों में भी प्रबन्धनशास्त्र अपेक्षाकृत अधिक 'विशेष' होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त चर्चा में इन तीनों शास्त्रों का विश्लेषणात्मक (भेद) सम्बन्ध प्रस्तुत किया गया है, परन्तु यदि संश्लेषणात्मक (अभेद) दृष्टि से इनके पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन किया जाए, तो एक नूतन निष्कर्ष प्राप्त होता है, वह यह है कि ये तीनों परस्पर एकरूप ही हैं। इनमें अटूट, अभिन्न एवं सार्वकालिक सम्बन्ध है। इस बात की पुष्टि तब होती है, जब हम गहराई से इनमें प्रवेश करते हैं। वास्तव में इनमें केवल समझने के लिए भेद किया जाता है, यथार्थ में ये तीनों अभेद ही हैं। इन तीनों की एकता ही जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति का मार्ग है। आशय यह है कि मूलतः दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र एवं प्रबन्धनशास्त्र तीनों में एकत्व है और इस एकत्व के द्वारा ही जीवन का सम्यक् प्रबन्धन सम्भव है।

2.3.1 जैनआचारमीमांसा एवं जीवन–प्रबन्धन के सह–सम्बन्ध को सुनिश्चित करने वाले कतिपय बिन्दु

जीवन–प्रबन्धन के अन्तर्गत जीवन के परमलक्ष्य एवं उसके मार्ग के निर्धारण को लेकर अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं, जिनका निराकरण जैनआचारमीमांसा के माध्यम से होता है। वस्तुतः, जैनआचारमीमांसा जीवन–प्रबन्धन के क्षेत्र में निम्नलिखित निर्देश देती है –

(1) साध्य एवं उसके साधन का निर्देश

जीवन–प्रबन्धन का मौलिक प्रश्न है कि जीवन का आदर्श या परमसाध्य क्या है तथा उसकी उपलब्धि का सम्यक् मार्ग क्या है? क्या जैसे–तैसे जीवन–निर्वाह करना ही जीवन–लक्ष्य है या जीवन का कोई महान् या व्यापक आदर्श भी है? यदि है, तो वह क्या है? इन समस्त प्रश्नों के उत्तर जाने बिना जीवन–प्रबन्धन की सम्यक् नींव नहीं डाली जा सकती। इनके सम्यक् निराकरण की प्राप्ति जैनआचारमीमांसा से होती है।[21] आचार्य वट्टकेर के अनुसार, 'जिनशासन में केवल दो ही बातें बताई गई हैं – मार्ग (साधना–पथ) एवं मार्ग का फल (साधना का आदर्श)।'[22] आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट कहा है कि लक्ष्य से विहीन साधक विकारों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् जीवन का सम्यक् प्रबन्धन नहीं कर सकता। ऐसे साधक की स्थिति उस अन्धे व्यक्ति के समान है, जो चाहे कितना भी बहादुर हो, परन्तु शत्रु सैन्य को पराजित नहीं कर सकता।[23] सर्वार्थसिद्धिकार ने भी टीका के प्रारम्भ में कहा है कि 'मैं मोक्षमार्ग के प्रणेता, कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाले तथा विश्व के तत्त्वों को जानने वाले अरिहन्त परमात्मा को, उनके समान गुणों की प्राप्ति के उद्देश्य से वन्दन करता हूँ।'[24] आशय स्पष्ट है कि पहले साध्य निर्धारित होना चाहिए, फिर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार, जैन विचारकों ने लक्ष्य एवं मार्ग के निर्धारण को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है, जो जीवन के सम्यक् प्रबन्धन के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) जीवन में उचित–अनुचित के प्रबन्धन का निर्देश

जीवन में प्रतिसमय कोई न कोई व्यवहार चलता ही रहता है। प्रत्येक प्राणी मन–वचन–काया की प्रवृत्तियों में निरन्तर संलग्न रहता है। परन्तु आचरण के सभी रूप उचित ही हों, यह जरुरी नहीं है। अक्सर व्यक्ति हित–अहित का विवेक खो देता है और बारम्बार गलत आचरण की पुनरावृत्ति करता रहता है। जैनदृष्टिकोण से देखें, तो जीवन–प्रबन्धन के लिए यह जीवन–व्यवहार बाधक है, अतः यह आवश्यक है कि साधक प्रत्येक प्रवृत्ति को उचितता एवं अनुचितता की कसौटी पर कसे और अपने गलत आचरण के अभ्यास को छोड़े। इस हेतु वह सद्ज्ञान एवं सद्–अभ्यास पर बल दे। दशवैकालिक में कहा गया है कि उचित (कल्याणकारी) एवं अनुचित (पापकारी) प्रवृत्तियों का सम्यक् विश्लेषण करके जो उचित हो, उसका अनुसरण करना चाहिए।[25] श्रमणसूत्र में भी अपने गुण–दोषों का सम्यक् विश्लेषण करके मुनि संकल्प करता है – 'मैं आराधना, संयम, ब्रह्मचर्य, कल्पनीय (आचार), ज्ञान, क्रिया, सम्यक्त्व एवं सन्मार्ग आदि शुभ प्रवृत्तियों को ग्रहण करता हूँ तथा विराधना, असंयम, अब्रह्मचर्य, अकल्पनीय (अनाचार), अज्ञान, अक्रिया, मिथ्यात्व एवं कुमार्ग आदि अशुभ प्रवृत्तियों का निषेध करता हूँ।'[26] इससे स्पष्ट है कि जैनआचारमीमांसा पुण्य–पाप, उचित–अनुचित या कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का विवेक सिखाती है[27] और यह बात जीवन–प्रबन्धन के लिए भी अतिमहत्त्वपूर्ण है।

(3) जीवन–व्यवहार के सम्यक् मूल्यांकन एवं नैतिक प्रतिमानों (Ethical Standards) का निर्देश

जीवन–प्रबन्धन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने कुत्सित विचारों को छोड़कर विवेकयुक्त उचित नैतिक आदर्शों को अपना मानदण्ड बनाए। साथ ही वह अपने आचरण को हर समय तौलता रहे। वह देखे कि उसका आचरण उसके जीवन के सम्यक् लक्ष्यों की दिशा में चल रहा है अथवा नहीं। इस हेतु जीवन–प्रबन्धक को जैनआचारदर्शन के सहयोग की अपेक्षा है। उत्तराध्ययनसूत्र में गणधर गौतम कहते हैं कि 'प्रज्ञा (बुद्धि) के द्वारा धर्म की समीक्षा करो, सुतर्क (युक्ति) के द्वारा तत्त्व का विश्लेषण करो और अन्त में धर्म–साधनों अर्थात् जीवन–व्यवहार (जीवन–प्रबन्धन) के मार्ग का निर्णय करो।'[28] अतः जैनआचारशास्त्रों के द्वारा व्यक्ति सम्यक् नैतिक निर्णय कर सकता है। कहा भी गया है **'पढमं नाणं तओ दया'** अर्थात् पहले ज्ञान, फिर दया (आचार)।[29]

(4) सामाजिक नियमों अथवा रीति–रिवाजों का निर्देश

जीवन–प्रबन्धन के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति सामाजिक–व्यवस्था एवं रीति–रिवाजों से भी अवगत रहे। देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार समाज में अनेक परिवर्त्तन भी आते रहते हैं, क्योंकि समाज एक गत्यात्मक संगठन (Dynamic Organisation) है। इनमें से कई परिवर्त्तन आगे चलकर अन्धविश्वास, अन्धरूढ़ि, आडम्बर आदि का रूप भी ले लेते हैं, जो समाज को और उसकी व्यवस्था को विकृत करते रहते हैं। जीवन–प्रबन्धन के लिए इस प्रकार की विकृतियों से दूर रहकर उचित एवं समयानुकूल सामाजिक व्यवस्थाओं को अपनाना आवश्यक है। इसी प्रकार, समाज में कई ऐसे व्यक्तित्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं, जो सामाजिक एकता तथा अखण्डता को जोड़ने का नहीं, वरन् तोड़ने का कार्य करते हैं। इन्हें हम समाज–उदासीन (Socially Neutral) एवं असामाजिक (Antisocial) तत्त्व कहते हैं। जीवन–प्रबन्धन के लिए इन तत्त्वों से दूर रहना भी आवश्यक है।

जैनधर्म की आचार व्यवस्था इस हेतु विशेष सहयोग देती है। इसकी दृष्टि सामाजिक भावनाओं से पराङ्मुख होने की नहीं, अपितु सामाजिक दायित्वों का उचित निर्वाह करने की है। इसमें विविध पर्व–परम्पराओं के माध्यम से सात्विक सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह को पापकारी प्रवृत्तियाँ बताया गया है, जो सामाजिक व्यवस्था को विकारी बनाती हैं। कुसंगति एवं सत्संगति का भेद स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'साधक को सदैव कल्याणकारी मित्र का ही साथ करना चाहिए।'[30] यह भी कहा है कि 'दुर्जन या अकल्याणकारी मित्र की संगति करने से सज्जन भी निश्चय ही अपने गुणों से रहित हो जाता है। यह ठीक उसी तरह होता है, जिस तरह अग्नि के संयोग से जल भी अपने शीतल स्वभाव को खो देता है।'[31] जैनआचारशास्त्र में वर्णित है कि मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ की भावनाएँ ही सामाजिक संगठन को मजबूती प्रदान करती हैं। कहा भी गया है[32] –

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।

(5) पद के अनुरूप अपने कर्त्तव्यों का पालन करने का निर्देश

व्यक्ति व्यक्ति भी होता है और समाज भी। उसे अपने जीवन में अनेक पदों को सम्भालना होता है, जैसे – वह कभी पुत्र की भूमिका में होता है, तो कभी पिता की, कभी कार्यकर्त्ता की भूमिका में होता है, तो कभी अतिथि की, कभी स्वामी की भूमिका में होता है, तो कभी सेवक की इत्यादि। जीवन–प्रबन्धन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी भूमिका या स्तर के अनुरूप अपने कर्त्तव्यों का उचित पालन करे। जीवन–प्रबन्धन के अन्तर्गत इसे भूमिका–प्रबन्धन (Role Management) कहा जाता है।

जैन–विचारकों ने आचारशास्त्रों के द्वारा भूमिका–प्रबन्धन के उचित निर्देश दिए हैं। जैन–परम्परा में आचार्य, उपाध्याय, साधु एवं श्रावक के न केवल भिन्न–भिन्न स्तर बताए गए हैं, अपितु इनके कार्यों में भी उचित विभाजन किया गया है। जैन–विचारकों ने उत्सर्ग एवं अपवाद की व्यवस्था भी इसी उद्देश्य से की है। किसी भूमिका में किसी अपवाद का सेवन करने की छूट दी है, तो किसी अन्य भूमिका में उसी अपवाद का निषेध भी किया है।[33] अतः कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने उचित समय एवं परिस्थिति में उचित भूमिका का निर्वाह करते हुए उचित कर्त्तव्यों को निभाने की चेतना जगाने का निर्देश दिया है। यह जीवन के सम्यक् प्रबन्धन के लिए आवश्यक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(6) विभिन्न नैतिक मान्यताओं की सम्यक् समीक्षा करने का निर्देश[34]

सामान्य व्यक्ति में ज्ञान की अपूर्णता होने से परमार्थ के उचित स्वरूप का निर्णय कर पाना अतिकठिन हो जाता है। इससे अनेक अनैतिक मान्यताओं की भी स्थापना हो जाती है। व्यक्ति के समक्ष यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि वह किसे सही कहे और किसे गलत। वह निर्णय नहीं कर पाता है कि कौन–सा जीवन–व्यवहार उचित है और कौन–सा अनुचित, वह किसे शुभ (नैतिक) कहे और किसे अशुभ (अनैतिक)? नीतिशास्त्र में नैतिक प्रतिमानों (Ethical Standards) के अनेक सिद्धान्त हैं। इनमें से कोई 'नियम' को, तो कोई 'सुख' को नैतिक प्रमापक कहता है। इसी प्रकार कोई 'आत्मपूर्णता' को, तो कोई 'मूल्य' को नैतिकता का बुनियादी मापदण्ड मानता है। जीवन–प्रबन्धन के लिए यह जरुरी है कि व्यक्ति आचारशास्त्र के द्वारा निर्दिष्ट विभिन्न नैतिक प्रतिमानों का व्यवस्थित अध्ययन करे एवं उनके गुण–दोषों की उचित समीक्षा करके सम्यक् निर्णय ले।

इस दिशा में जैन विचारकों की दृष्टि अतिव्यापक है। इन्होंने अनेकान्त–दृष्टि से जीवन–व्यवहारों की समीक्षा की है, सापेक्षवाद के आधार पर विविध जीवन–प्रबन्धन सम्बन्धी मान्यताओं को कसौटी पर कसा है एवं अपक्षपात–बुद्धि से देश, काल एवं परिस्थिति के अनुरूप नैतिक विवेक की चेतना को जाग्रत करने का दिग्दर्शन दिया है।

(7) जीवन के आध्यात्मिक विकास के उचित प्रबन्धन का निर्देश

जीवन–प्रबन्धन की मूलभूत आवश्यकता है कि व्यक्ति जीवन–यापन के साथ–साथ जीवन–निर्माण के उद्देश्य की पूर्त्ति भी करे। इस हेतु जैनआचारमीमांसा में उपयोगी निर्देश दिए गए हैं। जैन–विचारकों ने जीवन–यापन के प्रयत्नों को नकारा नहीं है, किन्तु उन्हें आवश्यकतानुसार ही करने का निर्देश दिया है। यही कारण है कि इन्होंने जीवन–व्यवहार में भोगों से निवृत्ति एवं अर्थ के अल्पीकरण की शिक्षा सदैव दी है। साथ ही दान, शील, तप एवं भावना रूप धर्म प्रयत्नों को बढ़ाते हुए परमपद मोक्ष को पाने की प्रेरणा भी दी है।[35] इसी प्रकार जीवन में आनन्द की निरन्तर वृद्धि हो, इस हेतु आवश्यकताओं (इच्छाओं) पर अंकुश लगाने की हित शिक्षा भी दी है। उत्तराध्ययनसूत्र में जीवन के आध्यात्मिक विकास के प्रबन्धन के उपाय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'साधक को जीवन में असत्प्रवृत्तियों से निवृत्त होते हुए सत्प्रवृत्तियों में संलीन होना चाहिए।'[36]

इस प्रकार, यह स्पष्ट होता है कि जैनआचारमीमांसा एवं जीवन–प्रबन्धन के मध्य गहरा सम्बन्ध है। व्यक्ति के जीवन–व्यवहार को प्रबन्धित करने के लिए जैनआचारमीमांसा अत्यन्त हितकारी है। इसे आधार बनाकर व्यक्ति जीवन–प्रबन्धन की सम्यक् दशा को जीवन में अवश्य प्राप्त कर सकता है। इसी से जैनआचारशास्त्र एवं जीवन–प्रबन्धन का सहसम्बन्ध सिद्ध होता है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2.4 जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के मुख्य तत्त्व

मानव–जीवन अनेकानेक समस्याओं से युक्त है। प्रत्येक मानव इन समस्याओं से मुक्त होना चाहता है, किन्तु जीवन के सम्यक् प्रबन्धन के अभाव में यह सम्भव नहीं हो पाता। जैनआचारशास्त्रों में ऐसे अनेक तत्त्व भरे हैं, जिनके आश्रय से मानव अपनी समस्याओं से मुक्ति पा सकता है। वह अपने जीवन को आनन्द एवं प्रसन्नता से सराबोर कर सकता है। इसे ही जीवन–प्रबन्धन की आदर्श स्थिति कही जा सकती है।

2.4.1 मानवीय जीवन की समस्याएँ

जीवन–प्रबन्धन–शास्त्र का लक्ष्य उस मार्ग का प्रतिपादन करना है, जिस पर चलकर जीवन के सभी संघर्षों का समाधान होकर समत्व की स्थापना हो जाए।[37] परन्तु मानवीय जीवन का अंतरंग एवं बाह्य परिवेश निरन्तर बदलता रहता है, जो जीवन को असन्तुलित और अस्त–व्यस्त कर देता है। एक ओर समाज, परिवार, शरीर, पर्यावरण आदि बाह्य परिवेश के तत्त्व हैं, जो समस्याएँ उत्पन्न करते हैं, तो दूसरी ओर दमित मनोभाव, उद्वेग, वासना, बुद्धि आदि अंतरंग परिवेश के घटक भी मानव को विचलित अर्थात् तनावग्रस्त करते रहते हैं। इससे मानव का जीवन द्वन्द्व एवं संघर्षों से घिरा रहता है, ये संघर्ष तीन प्रकार के होते हैं[38] –

1) **आन्तरिक मनोवृत्तियों का संघर्ष** – यह संघर्ष दो वासनाओं (Id या दमित–इच्छाओं) के मध्य, वासना और बुद्धि (Ego) के मध्य तथा वासना एवं बौद्धिक आदर्शों (Super Ego) के मध्य होता रहता है।
2) **आन्तरिक इच्छाओं एवं बाह्य परिस्थितियों का संघर्ष** – यह संघर्ष व्यक्ति का व्यक्ति के साथ अथवा समाज के साथ अथवा भौतिक–पर्यावरण के साथ होता रहता है और इससे व्यक्ति की जीवन–प्रणाली विकृत होती रहती है।
3) **बाह्य वातावरण में होने वाला संघर्ष** – यह संघर्ष विविध समाजों एवं राष्ट्रों के मध्य होता रहता है, जिससे शान्ति, सुरक्षा एवं मानव–अस्तित्व खतरे में पड़ जाते हैं।

व्यक्ति इन तीनों संघर्षों से निरन्तर दुःखी और सन्तप्त रहता है, जबकि जैनआचारशास्त्र परमशान्ति एवं आत्मपूर्णता की प्राप्ति का मार्ग दर्शाते हैं। किन्तु क्षणिक शान्ति भी जिसे प्राप्त नहीं हो रही हो, शाश्वत् एवं परिपूर्ण शान्ति की बात उसके गले कैसे उतर सकती है? व्यक्ति को जैन–विचारकों की ये बातें केवल काल्पनिक ही लगती हैं, वह इन्हें सुखद स्वप्न के समान मान लेता है। इस प्रकार, जीवन–संघर्षों से छटपटाता हुआ वह अशान्त एवं निराशामय जीवन बिताता रहता है।

भले ही व्यक्ति दुःखी होकर जीवन व्यतीत करता है, लेकिन उसे सुख–शान्ति की चाह सदैव बनी रहती है। दशवैकालिक में स्पष्ट कहा गया है कि 'सभी जीवों को सुख प्रिय है, वे दुःखों से दूर रहना चाहते हैं।'[39] वस्तुतः, जैन–विचारकों की दृष्टि बौद्धिक–विलास या कल्पना नहीं है, वरन् एक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुभूत सत्य है। व्यक्ति चाहे तो इनके द्वारा निर्दिष्ट जीवन–सूत्रों को सम्यक्तया अपनाकर अपनी जीवन–समस्याओं को हल कर सकता है। इसे हम एक उदाहरण के माध्यम से समझ सकते हैं –

2.4.2 समस्याओं के समाधान के लिए एक उदाहरण[40]

जब हम गणित के विषय का अध्ययन करते हैं, तब गणित की पुस्तक में मुख्यतया दो चीजें होती हैं – प्रश्न (Problem) एवं उत्तर (Result)।

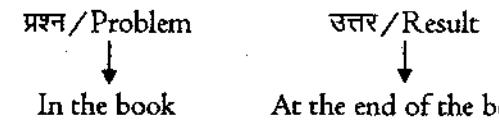

प्रत्येक विद्यार्थी का लक्ष्य होता है कि वह प्राप्त प्रश्न का उचित हल करे। इस हेतु उसे योग्य शिक्षक के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। शिक्षक उसे पुस्तक का आद्योपान्त अध्ययन कराते हैं और वह उचित ढंग से पढ़–समझकर अपने लक्ष्य को पा लेता है।

शिक्षक विद्यार्थी को पुस्तक में निम्न बातें समझाता है –

1) सूत्रों की सिद्धि (Derivation of Formula)
2) सूत्र (Formula)
3) सूत्र–प्रयोग सीखने हेतु उदाहरण (Solved Example to learn the approach)
4) प्रश्नमाला (Problem for practice)
5) उत्तरमाला (Result)

इन्हें समझकर विद्यार्थी उचित ढंग से हर समस्या का हल निकाल लेता है और क्रमशः एक दिन गणित विषय का विशेषज्ञ बन जाता है।

उपर्युक्त बिन्दुओं में, Derivation of Formula (सूत्र की सिद्धि) का अपना विशिष्ट महत्त्व है, यह प्रक्रिया विद्यार्थी में सूत्र की प्रामाणिकता के प्रति एक आत्मविश्वास जाग्रत करती है, अब वह सूत्र की उचितता के निर्धारण के लिए किसी पर निर्भर नहीं रहता है, अन्यथा दूसरों पर निर्भर रहकर विद्यार्थी भूलवश गलत सूत्र को भी सही मान सकता था।

इसी प्रकार, Formula (सूत्र) की अपनी उपयोगिता है। बिना सूत्र के किसी भी सवाल का जवाब खोजना असम्भव है। सूत्र का उचित प्रयोग सीखने के लिए Solved Example (उदाहरण) के महत्त्व को भी नकारा नहीं जा सकता। इसे समझने के पश्चात् विद्यार्थी में Unsolved Problems के समाधान भी खोज निकालने का आत्मविश्वास जाग्रत हो जाता है। शेष दोनों बिन्दु Problems & Results का महत्त्व सिर्फ विद्यालयीन परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए ही नहीं होता, वरन् जीवन में आने वाली प्रत्येक परीक्षा में इनकी उपयोगिता सिद्ध होती है। विद्यार्थी जितने अधिक Problems हल करता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, उतनी ही विशेषज्ञता (Specialization) भी प्राप्त करते जाता है। यही विशेषज्ञता उसकी जीवन–सफलता का आधार बन जाती है।

यही प्रक्रिया जीवन–संघर्षों की समस्याओं का समाधान पाने के लिए भी आवश्यक है। वस्तुतः, आत्मिक–शान्ति कोई असम्भव कार्य नहीं है, अपितु जीवन में उचित सूत्रों के उचित प्रयोग का परिणाम है। उपर्युक्त विद्यार्थी के समान जीवन–प्रबन्धक भी जैनआचारशास्त्रों के आधार पर जीवन के संघर्षों (Problems) को हल करके आनन्ददायी समाधानों (Solutions) की प्राप्ति कर सकता है।

इन समाधानों के लिए कैसी प्रक्रिया अपनाई जाए, इसे निम्न रेखाचित्र के माध्यम से समझा जा सकता है।[41]

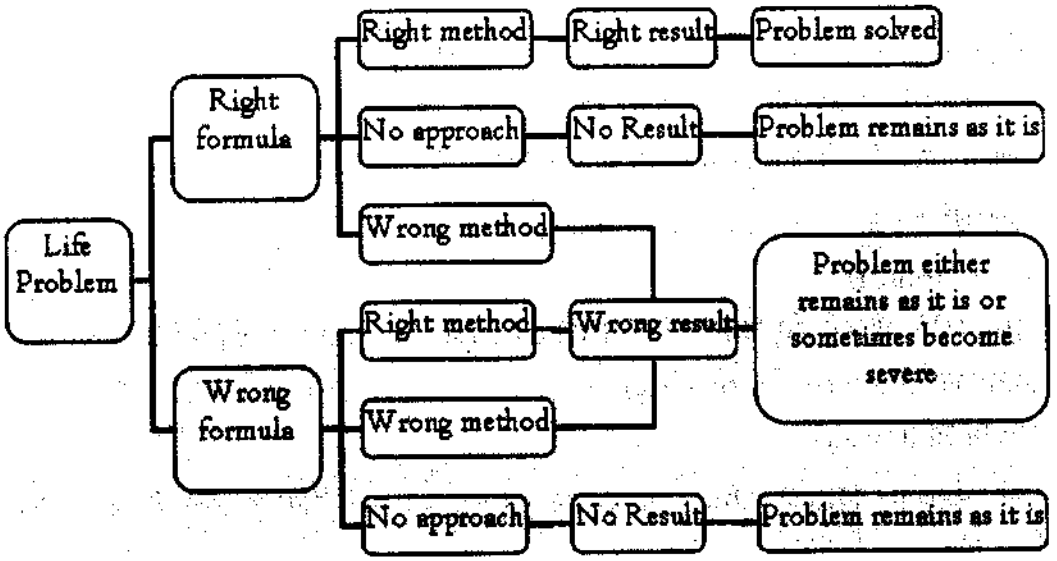

किसी भी सवाल को हल करने की प्रक्रिया में निम्नलिखित विकल्प (Options) हो सकते हैं –

1) न गलत सूत्र का प्रयोग करना और न सही सूत्र का।
2) गलत सूत्र का प्रयोग, गलत अथवा सही पद्धति से करना।
3) सही एवं विश्वसनीय सूत्र का प्रयोग, गलत पद्धति से करना।
4) सही एवं विश्वसनीय सूत्र का प्रयोग, सही पद्धति से करना।

समस्या का सम्यक् समाधान सिर्फ चौथे विकल्प से ही प्राप्त हो सकता है अर्थात् समाधान के लिए सही सूत्र (Derived Formula) एवं सही पद्धति (Right Method) – दोनों की आवश्यकता होती है। शेष तीनों विकल्पों से समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है, कभी–कभी तो इनसे नई समस्याओं की उत्पत्ति भी हो जाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ एक बात और विचारणीय है कि समाधान की प्राप्ति के लिए सिर्फ सूत्र ही पर्याप्त नहीं है, वरन् पद्धति का भी अपना महत्त्व है। सूत्र के बारे में कहा जा सकता है – It is necessary, but not sufficient।

कुल मिलाकर, **सम्यक् सूत्र के साथ सम्यक् पद्धति ही सम्यक् समाधान की जननी है।**

जीवन के सन्दर्भ में उपर्युक्त चर्चा का विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि यदि हम जैनआचारमीमांसा के सूत्रों या तत्त्वों का सम्यक्तया प्रयोग करें, तो जीवन में सही फल की प्राप्ति हो सकती है।

2.4.3 जैनआचारमीमांसा के मुख्य तत्त्व

जैनआचारमीमांसा प्राचीन एवं प्रामाणिक है, इसके सिद्धान्त व्यापक एवं जीवनस्पर्शी हैं, यह जटिल से जटिल विषयों का सूक्ष्मता के साथ विवेचन करती है। यह जीवन–प्रबन्धन के क्षेत्र में जीवन की प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति, परिणति, व्यवहार, भावना एवं गतिविधि का समीक्षण, संशोधन एवं उदात्तीकरण करती है।

मूलतया जैनाचार्यों की दृष्टि में 'आचार' शब्द अपने व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण मानवीय व्यवहारों (क्रियाकलापों) को प्रस्तुत करता है। इसमें निःशेष रूप से जीवन की सभी क्रियाएँ (Actions) समाहित हो जाती हैं। जीवन में ये क्रियाएँ सतत चलती रहती हैं और इसीलिए आचरण का क्रम सदैव बना रहता है। आचरण सदैव बने रहने के बावजूद भी प्रतिसमय परिवर्त्तित होता रहता है। इसका मूल कारण है कि परिवेश में निहित तत्त्व जीवन के सन्तुलन को निरन्तर भंग करते रहते हैं, जिसे पुनः स्थापित करने के लिए जीवन को क्रियाशील होना पड़ता है[42] और यह क्रियाशीलता ही आचार है। अतः मेरी दृष्टि में, **आचार का प्रबन्धन ही जीवन का प्रबन्धन है।** इस अपेक्षा से जीवन–प्रबन्धन और कुछ नहीं, बल्कि जीवनशैली को सन्तुलित करने की प्रक्रिया है।

जैन–आगमों का पर्यालोचन करने पर विविध दृष्टियों से आचार के भेद–प्रभेद प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार हैं –

1) आचार के दो प्रकार – श्रुत धर्म एवं चारित्र धर्म।[43]
2) आचार के तीन प्रकार – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र।[44]
3) आचार के चार प्रकार – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप।[45]
4) आचार के पाँच प्रकार – ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार।[46]

संख्या का भेद होने पर भी सैद्धान्तिक–दृष्टि से इनमें कुछ भी अन्तर नहीं है, केवल विभिन्न तरीकों से आचार को समझाने के लिए भेदों की कल्पना की गई है। इनमें से किसका किसमें समावेश होता है, इसका स्पष्टीकरण निम्न चार्ट के माध्यम से होता है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

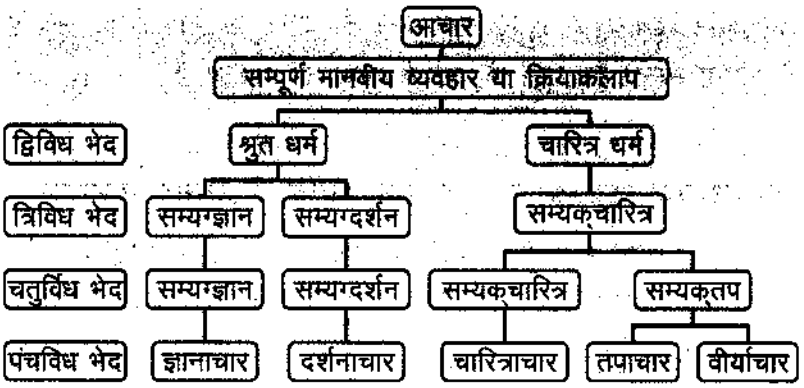

(1) ज्ञानाचार – आचार का सबसे प्रथम भेद ज्ञानाचार है। ज्ञानाचार का सम्बन्ध ज्ञान से है। जैनाचार्यों ने ज्ञान को आत्मा का सबसे प्रमुख गुण माना है, यह भी माना है कि इसी से चेतना (आत्मा) परिलक्षित होती है।[47] आम जीवन में भी मृतक की पहचान इसी आधार पर होती है कि उसमें ज्ञानशक्ति या संवेदन शक्ति है अथवा नहीं। ज्ञानशक्ति के अभाव में प्राणी को मृत घोषित कर दिया जाता है। जैनाचार्यों ने ज्ञान के अनेक धर्म (कार्य) बताए हैं – जानना, चिन्तन करना, मनन करना, निर्णय करना, स्मरण करना, विचार करना, हेय–ज्ञेय–उपादेय का विश्लेषण करना, उचित–अनुचित का विवेक होना इत्यादि। इन विविध प्रकार के ज्ञान की जीवन–प्रबन्धन में अहम भूमिका को जैनाचार्यों ने भी स्वीकार किया है और ज्ञान की प्राप्ति एवं उसके प्रयोग के बारे में अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए हैं,[48] जैसे –

1) उचित समय पर अध्ययन आदि करना।
2) मन, वचन एवं काया से ज्ञानदाता एवं ज्ञानोपकरण के प्रति विनम्र रहना।
3) अन्तर्मन से ज्ञान के प्रति अनुराग रखना एवं ज्ञानदाता आदि का सत्कार करना।
4) ज्ञानार्जन के समय विविध प्रकार के तपादि करना अर्थात् अनावश्यक कार्यों से निवृत्ति लेकर एकमात्र ज्ञानार्जन में ही तल्लीन रहना।
5) ज्ञानदाता गुरु एवं शास्त्र का नाम नहीं छिपाना अर्थात् प्राप्त ज्ञान का प्रयोग अपनी अहंपुष्टि के लिए नहीं करना।
6) ज्ञानार्जन के समय वर्ण, पद एवं वाक्यों का शुद्धिपूर्वक पठन करना।
7) ज्ञानदाता गुरु एवं शास्त्र के अभिप्राय को अनेकान्तदृष्टि से भलीभाँति समझना इत्यादि।

जीवन–प्रबन्धन के लिए साधक को न केवल ज्ञान की प्राप्ति करनी होती है, अपितु उसका प्रयोग भी जीवन–व्यवहार में करना होता है। इन दोनों प्रवृत्तियों का समावेश ज्ञानाचार में हो जाता है।

ज्ञानाचार के अन्तर्गत जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह सर्वप्रथम उस विषय का सम्यक् चयन करे, जिसका उसे ज्ञानार्जन करना है। इस हेतु वह योग्य गुरुजनों एवं शास्त्रों का आलम्बन ले। सत्समागम के पूर्व अपनी चारित्रिक अर्हता का भी विकास करे। आशय यह है कि वह ज्ञानार्जन प्रारम्भ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करने के पूर्व चारित्राचार सम्बन्धी प्राथमिक शुद्धि करे। जैनाचार्यों ने व्यसनमुक्त जीवन, भक्ष्य–अभक्ष्य विवेक, कल्प्य–अकल्प्य (उपयुक्त–अनुपयुक्त) विवेक, मन्दकषायीपना, आपसी व्यवहार में सामंजस्य आदि गुणों से युक्त साधक को ज्ञानार्जन के लिए योग्य पात्र माना है। कदाचित् ज्ञानार्जन के पूर्व ये सुधार न भी हों, तो भी ज्ञानार्जन करते हुए इन गुणों की प्राप्ति शीघ्रता से कर लेनी चाहिए। जीवन–प्रबन्धक को यह भी चाहिए कि वह ज्ञान देने वाले गुरुजनों एवं शास्त्रों के प्रति विनय एवं समर्पण रखे, विषय के अध्ययन में विवेक रखे, स्याद्वाद शैली (सापेक्ष दृष्टिकोण) से जीवन–सिद्धान्तों को समझे। वह एकान्त–पक्ष का ग्रहण न करे एवं जीवन–व्यवहारों का अनेकान्तस्वरूप से निर्णय करे। वह विषय का अध्ययन गहनता एवं व्यापकता के साथ करे। वह समझे कि अन्य व्यक्तियों की विषय के बारे में क्या अवधारणाएँ हैं? उसकी और अन्य व्यक्तियों की विचारधाराओं में क्या अन्तर है? इस अन्तर का कितना महत्त्व है? इस अन्तर से जीवन में कितनी नकारात्मकता है और कितनी सकारात्मकता? जीवन के नकारात्मक पक्षों को हटाने के लिए क्या समाधान है? जैनआचारशास्त्र की इनमें क्या उपयोगिता है और जैनआचार का जीवन में कैसे प्रयोग किया जा सकता है? इत्यादि प्रश्नों के निराकरण के लिए वह बारम्बार चिन्तन–मनन करे तथा आवश्यकतानुसार दूसरों से सहयोग ले। इस प्रक्रिया से प्राप्त निर्णय ही दर्शनाचार के लिए आधार बन जाता है। इस प्रकार ज्ञानाचार जीवन–प्रबन्धन के लिए अत्युपयोगी है।

(2) दर्शनाचार – आचार का द्वितीय भेद दर्शनाचार है। इसका सम्बन्ध दर्शन सम्बन्धी आचार–व्यवहार से है। दर्शन के व्यावहारिक दृष्टि से अनेक अर्थ होते हैं – दृष्टिकोण, सिद्धान्त, श्रद्धा, आस्था, प्रतीति, विश्वास, अभिप्राय आदि।[49] जैनाचार्यों के अनुसार, दर्शन आत्मा का कार्य है, न कि शरीर आदि का।

दर्शन जब सकारात्मक दृष्टि से युक्त होता है, तब यह जीवन–प्रबन्धन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। प्राथमिक स्तर पर यह दर्शन जीवन–प्रबन्धक के भीतर गुरुजनों आदि (सुदेव–सुगुरु–सद्धर्म) के प्रति श्रद्धा कराता है,[50] जिससे ज्ञानाचार आदि अन्य आचारों की प्राथमिक शुद्धि आसान हो जाती है। साधक अनुसरणात्मक पद्धति (Followership) से गुरुजनों की आज्ञा का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करता है। **'आणाए धम्मो'** अर्थात् गुरुजनों आदि की आज्ञा को अपना करणीय कर्त्तव्य मानता है।[51] इससे वह शीघ्र ही सत्समागम में रहकर अपनी प्रगति कर लेता है।

परिपक्व स्तर पर पहुँचने के पश्चात् जीवन–प्रबन्धक ज्ञानाचार से प्राप्त ज्ञान की अनुभूतिपूर्वक श्रद्धा करता है। वह सत्य के प्रति पूर्ण निष्ठावान् हो जाता है,[52] उसे अपने जीवनलक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति के मार्ग पर अटल आस्था हो जाती है, वह उचित–अनुचित का निर्धारण करने के लिए स्वयं समर्थ हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त दोनों स्तर के दर्शनों (आस्था) को उत्पन्न करने एवं जीवन–व्यवहार में चारित्रशुद्धि आदि के लिए उनका प्रयोग करने सम्बन्धी जो व्यवहार किया जाता है, वही दर्शनाचार है। जैनाचार्यों ने जीवन–व्यवहार के सम्यक् प्रबन्धन के लिए दर्शनाचार को नींव के पत्थर के समान माना है। जैसे नींव के बिना इमारत खड़ी नहीं हो सकती, वैसे ही दर्शन या दृष्टिकोण की शुद्धि के बिना जीवन–प्रबन्धन में प्रगति नहीं हो सकती। जैनाचार्यों ने दर्शनशुद्धि का मूल्यांकन करने के लिए उपयोगी निर्देश भी दिए हैं, जैसे[53] –

1) जीवन–प्रबन्धक को सिद्धान्तों के प्रति सन्देहरहित होना चाहिए।
2) उसमें नाम, प्रसिद्धि, सम्मान आदि की कामना नहीं होनी चाहिए।
3) अन्य जीवन–प्रबन्धकों के किसी अमहत्त्वपूर्ण दुर्बलपक्ष (जैसे – शारीरिक दुर्बलता आदि) को देखकर उसे अश्रद्धा नहीं होनी चाहिए।
4) जीवन–प्रबन्धन से वंचित अर्थात् असन्तुलित जीवन जीने वालों के किसी अमहत्त्वपूर्ण सबल पक्ष (जैसे – ऋद्धि–सिद्धि आदि) को देखकर अन्धश्रद्धा नहीं होनी चाहिए।
5) गुणीजनों के गुणों की प्रशंसा में उत्साहित रहना चाहिए, न कि उनके गुणों को छिपाने में।
6) जीवन–प्रबन्धन से पतित हो रहे जीवों को पुनः सन्मार्ग में स्थिर करना चाहिए।
7) अन्य जीवन–प्रबन्धकों के प्रति वात्सल्य भाव रखना चाहिए, उन्हें देखकर प्रमुदित होना चाहिए तथा उनका सम्मान करना चाहिए।
8) जो लोग जीवन–प्रबन्धन से वंचित हैं और अशांतिमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें जीवन–प्रबन्धन के मार्ग की ओर प्रेरित करना चाहिए।

उपर्युक्त गुणों से सुसज्जित जीवन–प्रबन्धक दर्शनाचार के माध्यम से एक ओर चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार का संवर्द्धन करता है, तो दूसरी ओर ज्ञानाचार से उपार्जित ज्ञान का संरक्षण भी करता है। वह अपनी दर्शनशुद्धि के बल पर जीवन–प्रबन्धन के लक्ष्य की ओर अटल आस्था के साथ बढ़ता चला जाता है।[54] इस प्रकार, दर्शनाचार जीवन–प्रबन्धन का अत्यावश्यक अंग है।

(3) चारित्राचार – आचार का तृतीय भेद चारित्राचार है। चारित्राचार का सम्बन्ध जीवन के आचरण–पक्ष से है। जैनाचार्यों के अनुसार, आत्मा में आचरण करने की एक विशिष्ट योग्यता होती है, जिसे चारित्र गुण कहते हैं। इसी गुण के बल पर शुभ (कर्म), अशुभ (विकर्म) एवं शुद्ध (अकर्म) भाव जीवों के द्वारा किए जाते हैं। जीवन–प्रबन्धन में सकारात्मक आचरण की अत्यधिक उपयोगिता है।

जीवन–प्रबन्धन के मार्ग में साधक ज्ञानाचार से उपार्जित ज्ञान एवं दर्शनाचार से प्राप्त दृष्टि या श्रद्धा के आधार पर चारित्राचार के प्रयत्नों को करता है। वह ज्ञान एवं दर्शन के आधार पर निर्धारित लक्ष्य एवं उसके मार्ग का अनुसरण करता है। वस्तुतः, जीवन–प्रबन्धन के लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाते हुए अपने आचरण की शुद्धि करना ही चारित्राचार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्राचार के अन्तर्गत वे सब प्रयत्न शामिल हैं, जिनसे उस साधक की जीवनशैली का सकारात्मक विकास होता है तथा पूर्व कमजोरियाँ क्रमशः संक्षिप्त एवं समाप्त होती हैं। जैनाचार्यों के अनुसार, साधक को बारम्बार आवश्यक एवं अनावश्यक का भेद करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर निर्णय करके प्रयोजनभूत कार्य करे एवं अप्रयोजनभूत कार्य का त्याग करे। इस प्रकार, सकारात्मक चारित्र की चेतना जगाना ही चारित्राचार है।

जैनाचार्यों ने भूमिकानुसार चारित्र का पालन करने का निर्देश देते हुए मूलतया चारित्र के दो भेद किए हैं – क) श्रावकाचार एवं ख) श्रमणाचार।[55] श्रावकाचार के अन्तर्गत अंतरंग भावशुद्धि के प्रयत्नों के साथ बाह्य में जीवन–प्रबन्धक निम्न कार्य क्रमशः करता है –

1) सप्तव्यसन का त्याग[56]
2) मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों का ग्रहण[57]
3) बारह अणुव्रतों का पालन[58]
4) ग्यारह प्रतिमाओं का वहन[59]

श्रमणाचार के अन्तर्गत भी अंतरंग भावशुद्धि के विशेष प्रयत्नों को करता हुआ परिपक्व जीवन–प्रबन्धक पंचमहाव्रतों,[60] बारह भिक्षुप्रतिमाओं,[61] अष्टप्रवचनमाता[62] आदि बाह्य आचारों का पालन करता है। वस्तुतः, श्रावक एवं श्रमण दशा में चारित्राचार के आधार पर ही भेद है, न कि ज्ञानाचार एवं दर्शनाचार के आधार पर। जो श्रावकरूप में चारित्राचार का पालन करता है, वह प्राथमिक जीवन–प्रबन्धक है तथा श्रमणरूप में चारित्राचार का पालन करने वाला परिपक्व जीवन–प्रबन्धक है।

चारित्राचार का जीवन–प्रबन्धन से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। जितना–जितना अंतरंग चारित्र शुद्ध होता है, उतनी–उतनी सुख–शान्ति की वृद्धि होती जाती है तथा जितना–जितना बाह्य संयम बढ़ता है, उतना–उतना व्यावहारिक जीवन सुव्यवस्थित होता जाता है, यही जीवन–प्रबन्धन का उद्देश्य है।

(4) तपाचार – आचार का चतुर्थ भेद तपाचार है। साध्य की प्राप्ति के लिए जीवन–प्रबन्धक के द्वारा जो विशिष्ट पुरूषार्थ किया जाता है, वही तपाचार है। जैन–साधना के अनुसार, केवल काय–क्लेश करना अथवा उपवास (लंघन) करना ही तप नहीं है, तप तो आत्मविश्वास के जागरण का सूचक है। जब सामान्य चारित्र में आगे बढ़ते हुए साधक में जीवन–प्रबन्धन के लिए विशेष मनोबल का विकास होता है, तब वह तपाचार को अपनाता है।

जैनाचार्यों ने तपाचार के अन्तर्गत तप के मुख्यतया दो भेद किए हैं – 1) बाह्य तप एवं 2) आभ्यन्तर तप। जो तप शरीर–आश्रित होता है तथा देहासक्ति के त्याग का प्रतीक होता है, वह बाह्यतप कहलाता है, जबकि वह तप, जो विशुद्ध रूप से आत्म–आश्रित होता है तथा अंतरंग ममत्व के विसर्जन का प्रतीक होता है, आभ्यन्तर तप कहलाता है।[63] इनके बारह भेद होते हैं[64] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन–प्रबन्धन के लिए तपाचार का महत्त्वपूर्ण योगदान है, यही वह तत्त्व है, जो जीवन–प्रबन्धन की प्रगति को विशेष गति प्रदान करता है।

(5) वीर्याचार – आचार का अन्तिम भेद वीर्याचार है। जीवन–प्रबन्धन के अन्तर्गत जब विशेष उत्साह एवं उल्लास के साथ विशेष–विशेष पुरूषार्थ किया जाता है, तब वह वीर्याचार कहलाता है।[65] जैनाचार्यों के अनुसार, 'वीर्य' शब्द शक्ति, उद्यम, पुरूषार्थ, पौरुष आदि का सूचक है। पुरूषार्थ हमेशा जीवन–प्रबन्धक की रुचि का अनुसरण करता है।[66] जिस कार्य के प्रति जितनी अधिक रुचि होती है, उतनी ही अधिक शक्ति या पौरुष उस कार्य को पूर्ण करने में लगता है। इसीलिए जैनाचार्यों ने शक्ति को बिना छिपाए जीवन–प्रबन्धन के कार्यों में तत्पर होने का निर्देश दिया है।[67] यह वीर्याचार ही है, जिसके द्वारा चारों प्रकार के आचारों में विशिष्ट चेतना का संचार होता है, इससे जीवन–प्रबन्धन के कार्यों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त होती है।

इस प्रकार, जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के मुख्य तत्त्वों के रूप में इन पंचाचारों का प्रतिपादन किया गया है। इन पंचाचारों के आधार पर जीवन–प्रबन्धन के सभी आयामों – शिक्षा, समय, काया, अभिव्यक्ति, मानसिक–विकार, पर्यावरण, समाज, अर्थ, भोगोपभोग, धार्मिक–व्यवहार एवं आध्यात्मिक–विकास का प्रबन्धन किया जा सकता है। ये पंचाचार मूलतः प्रबन्धन के दो मुख्य पक्षों – सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जहाँ ज्ञानाचार एवं दर्शनाचार का समावेश सैद्धान्तिक पक्ष में होता है, वहीं चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार का समावेश प्रायोगिक पक्ष में होता है। यह विशेष उल्लेखनीय है कि पंचाचार पृथक्–पृथक् होते हुए भी अन्योन्याश्रित हैं, साथ ही समझने के लिए वे भेद रूप होते हुए भी मूलतः अभेद रूप ही हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2.5 निष्कर्ष

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में जैन विचारधारा का अपना विशिष्ट स्थान है। इसमें वैश्विक सत्य को प्रकाशित करके जीवन का नैतिक–विकास करने वाले बिन्दुओं का सम्यक् निर्देश दिया गया है। इसमें उपदिष्ट साहित्य में से जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, उन्हें 'जैनदर्शनशास्त्र' कहते हैं तथा जो दर्शन के आधार पर जीवन–व्यवहार की नीतियों का मार्गदर्शन करते हैं, उन्हें 'जैनआचारशास्त्र' कहते हैं। इन दोनों का सीधा सम्बन्ध मानव–जीवन से है, क्योंकि जब तक 'दर्शन' के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं होता, तब तक 'आचार' का सम्यक् मूल्यांकन भी नहीं हो पाता है। ये दोनों शास्त्र एक–दूसरे में इतने गुँथे हुए हैं कि इनके बीच विभाजन–रेखा खींच पाना आसान नहीं है, इसीलिए जैन विचारधारा का अभिमत यही है कि दर्शन एवं आचार को अलग–अलग देखा तो जा सकता है, किन्तु अलग–अलग किया नहीं जा सकता।

जैनदर्शनशास्त्र का उद्देश्य जीवन के सैद्धान्तिक–पक्षों का निर्देशन करना है, तो जैनआचारशास्त्र का उद्देश्य जीवन के प्रायोगिक–पक्षों का प्रतिपादन करना है। जैनआचारमीमांसा इसीलिए मनुष्य के समक्ष उसके साध्य एवं साधनों को स्पष्ट करती है। इतना ही नहीं, वह जीवन के अनन्तर (Immediate) एवं परम्पर (Ultimate) दोनों साध्यों का समन्वय करते हुए जीने की कला भी सिखाती है। इसका आश्रय लेकर व्यक्ति अपने आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार के विकास की दिशा में अग्रसर हो सकता है।

जैनदर्शनशास्त्र एवं जैनआचारशास्त्र को आधार बनाकर जीवन जीने की कला के सम्यक् क्रियान्वयन की प्रक्रिया का मार्गदर्शन जिसके माध्यम से हो सकता है, उसे जैनप्रबन्धनशास्त्र कहा जा सकता है। जहाँ दर्शनशास्त्र सिद्धान्तों का शास्त्र है और आचारशास्त्र प्रायोगिक–नीतियों का शास्त्र है, वहीं प्रबन्धनशास्त्र जीवन–प्रबन्धन के क्रियान्वयन के सूत्रों का शास्त्र है। इन तीनों का अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्ध है। अभेद–दृष्टि से देखें, तो जो दर्शन है, वही आचार है और जो आचार है, वही प्रबन्धन है। भेद–दृष्टि से देखें, तो इन तीनों में क्रमशः आधार–आधेय, व्यापक–व्याप्य एवं सामान्य–विशेष सम्बन्ध है। विशेषता यह है कि दर्शन से आचार और आचार से प्रबन्धन का जीवन से क्रमशः निकटवर्ती सम्बन्ध है। इस जैनप्रबन्धनशास्त्र की रचना ही प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का अन्तिम उद्देश्य है।

जैनआचारमीमांसा जीवन–प्रबन्धन के क्षेत्र में अनेक निर्देश देती है, जैसे – साध्य और साधन सम्बन्धी, उचित और अनुचित कृत्यों सम्बन्धी, जीवन–व्यवहार का मूल्यांकन करने सम्बन्धी, सामाजिक नियमों अथवा रीति–रिवाजों सम्बन्धी इत्यादि। इससे जैनआचारशास्त्र एवं जीवन–प्रबन्धन का सह–सम्बन्ध स्पष्टतया द्योतित होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानव–जीवन अनेकानेक समस्याओं से युक्त है। ये समस्याएँ कभी अंतरंग और कभी बहिरंग परिवेश में उत्पन्न असन्तुलन के कारण होती हैं तथा जीवन में अनेक द्वंद्वों एवं संघर्षों को जन्म देती हैं, जैसे – आन्तरिक मनोवृत्तियों का संघर्ष, बाह्य वातावरण में होने वाला संघर्ष तथा आन्तरिक इच्छाओं एवं बाह्य परिस्थितियों के मध्य का संघर्ष। इन संघर्षों से व्यक्ति दुःखी और सन्तप्त होकर जीवन व्यतीत करता रहता है। समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए उसे सम्यक् सूत्र (Right Formula) एवं सम्यक् पद्धति (Right Approach) का उपयोग करना आवश्यक है और तभी जीवन सुख, शान्ति एवं आनन्दमय बन सकता है। जैनआचारमीमांसा में विद्यमान सूत्रों या तत्त्वों का सम्यक् उपयोग करके इस लक्ष्य की प्राप्ति आसानी से की जा सकती है और यही जीवन–प्रबन्धन की आदर्श स्थिति है।

जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन अर्थात् जीवन को सुख, शान्ति एवं आनन्दमय बनाने की प्रक्रिया के अन्तर्गत अनेक तत्त्व निर्दिष्ट हैं। इन्हें पंचाचार की अवधारणा के माध्यम से समझा और प्रयोग में लाया जा सकता है। ये पंचाचार हैं – ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार। इनमें से ज्ञानाचार एवं दर्शनाचार जीवन–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्ष को, तो चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार प्रायोगिक पक्ष को द्योतित करते हैं। इनका सम्यक् प्रयोग कर व्यक्ति जीवन–प्रबन्धन के शिक्षा, समय, शरीर, अभिव्यक्ति, तनाव एवं मनोविकार, पर्यावरण, समाज, अर्थ, भोगोपभोग, धार्मिक–व्यवहार एवं आध्यात्मिक–विकास आदि विविध आयामों का समुचित प्रबन्धन कर सकता है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 जैन एवं बौद्ध शिक्षादर्शन, डॉ.विजयकुमार, पृ. 15
2 जैनआचार, प्रस्तावना, देवेन्द्रमुनि, पृ. 31
3 भारतीयदर्शन, दत्त एवं चट्टोपाध्याय, पृ. 2
4 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/178
5 जैनआचार, प्रस्तावना, देवेन्द्रमुनि, पृ. 31
6 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/177
7 सागरजैन विद्याभारती, डॉ.सागरमलजैन 1/163
8 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 1/177
9 इण्डियन फिलॉसाफी, 2, पृ. 629, (जैन, बौद्ध और गीता, डॉ. सागरमलजैन, 1/177 से उद्धृत)
10 दर्शनप्राभृत, 3
11 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/179
12 तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
13 आचारांगसूत्र, 1/3/2/1
14 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 462
15 आचारांगसूत्र, 1/1/1/3
16 दशवैकालिकसूत्र, 4/30
17 (क) धर्मबिन्दु, 7/3–6
(ख) देखें, आनंदघन चौबीसी, 9/4
18 जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 110
19 देखें, जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/अ.10
20 व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, अरूणसिंह, पृ. 7
21 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/2
22 मूलाचार, 202
23 आचारांगनिर्युक्ति, 219
24 मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म–भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व–तत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।
– सर्वार्थसिद्धि, पृ. 1
25 दशवैकालिकसूत्र, 4/34
26 आनन्दस्वाध्यायसंग्रह, पृ. 104
27 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/3
28 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/25, 31
29 दशवैकालिकसूत्र, 4/33
30 कल्लाणमित्त ससग्गिं, सदा कुव्वेज पंडिए।
– ऋषिभाषितसूत्र, 33/17
31 दुज्जण संसग्गीए, पजहदि णियगं गुणं खु सुजणोवि।
सीयलभावं उदयं, जह पजहदि अग्गिजोएण।।
– भगवतीआराधना, 344
32 सामायिकपाठ, अमितगति, 1
33 निशीथचूर्णी, 91
34 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/5
35 शान्तसुधारस, 10/1
36 उत्तराध्ययनसूत्र, 31/2
37 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/407
38 वही, पृ. 407–408
39 समणसुत्तं, 150
40 प.पू. गुरूदेवश्री महेन्द्रसागरजी म.सा. से चर्चा के आधार पर
41 वही
42 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/405–406
43 सूत्रकृतांग, 1/12/11
44 स्थानांगसूत्र, 3/4/434
45 उत्तराध्ययनसूत्र, 28/2, 3, 35
46 स्थानांगसूत्र, 5/2/147
47 (क) तत्त्वार्थसूत्र, 2/8 (ख) आलापपद्धति, 9
48 काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तहा अनिण्हवणे।
वंजण–अत्थ–तदुभए, अट्ठविहो णाणमायारो।।
– दशवैकालिकनिर्युक्ति, 184
49 जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, 4/43
50 योगशास्त्र, 2/2
51 उपदेशपद, हरिभद्रसूरि (श्रीमद्राजचंद्र, पृ. 851 से उद्धृत)
52 जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 99
53 निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 28/31
54 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 1/2
55 स्थानांगसूत्र, 2/1/109
56 जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, 3/617
57 योगशास्त्र, 1/47–56
58 उपासकदशांगसूत्र, 1/13–43
59 उत्तराध्ययनसूत्र, 31/11
60 दशवैकालिकसूत्र, 4/48
61 उत्तराध्ययनसूत्र, 31/11
62 वही, 24/2
63 जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 102
64 (क) अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
काय किलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 30/8
(ख) पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो।।
– वही, 30/30
65 अभिधानचिंतामणि:, 2/214

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

66 श्रीमद्देवचन्द्र, वर्तमान चौबीसी, 9/6

67 अणिगूहियबल-विरियो, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजइ अ जहाथामं, नायव्वो वीरियायारो।।
– दशवैकालिकनिर्युक्ति, 187

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 3

शिक्षा प्रबन्धन

EDUCATION MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 3
शिक्षा–प्रबन्धन
(Education Management)

	Page No. Chap.	Cont.
3.1 शिक्षा का स्वरूप	**1**	**115**
3.2 शिक्षा की सार्वकालिक महत्ता	**4**	**118**
3.3 वर्त्तमान युग में शिक्षा का महत्त्व	**11**	**125**
3.4 वर्त्तमान युग में शिक्षाप्रणाली की विशेषताएँ (गुण–दोष)	**16**	**130**
3.5 वर्त्तमान युग में शिक्षाप्रणाली की मुख्य कमियाँ एवं दुष्परिणाम	**20**	**134**
3.6 जैनआचारमीमांसा के आधार पर शिक्षा–प्रबन्धन	**36**	**150**
3.6.1 शिक्षा का उद्देश्य	36	150
3.6.2 सर्वांगीण शिक्षा के प्रकार	37	151
3.6.3 शिक्षा के विविध आयाम	43	157
3.6.4 सन्तुलित शिक्षा : एक आवश्यकता	48	162
3.7 शिक्षा–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	**50**	**164**
3.7.1 शिक्षा की दो विधाएँ	50	164
3.7.2 शिक्षा के अंग	50	164
3.7.3 अनुप्रेक्षा से अनुभूति तक	51	165
3.7.4 यथार्थ बोध का क्रम	51	165
3.7.5 शब्द से भावार्थ तक	52	166
3.7.6 शिक्षा : जीवनभर चलने वाली सतत प्रक्रिया	53	167
3.7.7 शिक्षा–संस्कार की प्राचीन प्रक्रिया एवं वर्त्तमान में इसकी प्रासंगिकता	53	167
3.7.8 शिक्षा में अभिमान, सबसे बड़ी बाधा	55	169
3.7.9 विनीत एवं अविनीत शिक्षार्थी के लक्षण	56	170
3.7.10 शिक्षा–प्रबन्धन की कार्यविधि	58	172
3.8 निष्कर्ष	**62**	**176**
3.9 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	**64**	**178**
सन्दर्भसूची	65	179

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 3

शिक्षा–प्रबन्धन
(Education Management)

3.1 शिक्षा का स्वरूप

3.1.1 शिक्षा का सामान्य परिचय

शिक्षा मानवीय जीवन के प्रबन्धन का सर्वोत्तम साधन है। यह मानव में विवेक को जाग्रत और समृद्ध करती है। विवेकशील मानव ही जीवन की विविध परिस्थितियों से समायोजन कर उनसे उत्पन्न होने वाले दबावों से स्वयं को मुक्त कर सकता है। शिक्षा से जिस ज्ञान ज्योति की प्राप्ति होती है, उससे संशयों का उच्छेद होता है, समस्याएँ दूर करने की कला आती है और जीवन का वास्तविक महत्त्व समझ में आता है।[1] शिक्षा से प्राप्त ज्ञान ही मानव की सही समझ और सफलता का प्रमुख और प्राथमिक कारण सिद्ध होता है।

शिक्षा के लिए ज्ञान, विद्या, अवगम, सीखना आदि पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख भी मिलता है। शिक्षा के सन्दर्भ में कहा गया है – विद्या माता के समान हमारी रक्षा करती है, पिता के समान हितकार्यों में लगाती है, पत्नी की भाँति खेदों को दूर कर प्रसन्नता प्रदान करती है, वैभव का विस्तार करती है और सर्व दिशाओं में कीर्त्ति फैलाती है।[2] अतः सम्यक् शिक्षा के बिना जीवन–प्रबन्धन केवल एक कल्पना ही है।

आदिपुराण के अनुसार, विद्या ही मनुष्य को यश देने वाली है, विद्या ही आत्म–कल्याण करने वाली है, विद्या ही कामधेनु है, विद्या ही चिन्तामणि है और विद्या ही अर्थ, काम एवं धर्म से सिद्ध सम्पदाओं को प्रदान करने वाली है। इतना ही नहीं, विद्या ही बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करने वाली है, विद्या ही साथ–साथ जाने वाली सम्पदा है और विद्या ही समस्त प्रयोजनों को पूर्ण करने वाली है।[3] कहने का अभिप्राय यही है कि विद्या ही इहलोक और परलोक के पुरूषार्थों को सिद्ध करती है।[4] ऋषिभाषित में शिक्षा के सम्यक् स्वरूप को परिलक्षित किया गया है – 'वही विद्या महाविद्या है और वही विद्या समस्त विद्याओं में उत्तम है, जिसकी साधना करने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है। विद्या दुःखमोचनी है। जैन–आचार्यों ने उसी विद्या को उत्तम माना है, जिसके द्वारा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुःखों से मुक्ति हो और आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार हो।'[5] इस प्रकार सम्यक् शिक्षा वही है, जो मानवीय दुःखों और तनावों को समझे, उनके कारणों का विश्लेषण करे, उनके प्रबन्धन के उपायों को खोजे और उन उपायों का प्रयोग करके दुःखों से मुक्त कराए। अतः हमारा यह कर्त्तव्य है कि जीवन–प्रबन्धन के लिए जीवन में शिक्षा को पर्याप्त महत्त्व दें, उसे सुनियोजित करें और समुचित शिक्षा का प्रबन्धन करें।

3.1.2 शिक्षा का शाब्दिक अर्थ

'शिक्षा' शब्द संस्कृत की 'शिक्षि' (विद्या–उपादाने) धातु में 'अ' और 'टाप्' प्रत्यय लगने से बना है, जिसका अर्थ है – 'सीखना' (To learn)।[6]

'विद्या' शब्द 'शिक्षा' का पर्यायवाची है, जो 'विद्' धातु में 'क्यप्' और 'टाप्' प्रत्यय जुड़ने से बना है। विद् धातु के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे – 1) ज्ञान, 2) सत्ता, 3) लाभ, 4) विचार, 5) चेतना, अनुभूति, आख्यान, कथन और निवास।[7]

अंग्रेजी में शिक्षा के लिए 'एजुकेशन' (Education) शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह लैटिन भाषा के 'एडुकेटम' (Educatum) शब्द से बना है। इसकी उत्पत्ति 'एडुको' (Educo) से हुई है, जो 'ए' (E) और 'डुको' (Duco) से मिलकर बना है। इसका अर्थ है – 'अन्दर से निकालकर देना'। इस प्रकार आन्तरिक शक्तियों को बाहर अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया 'एजुकेशन' है। अन्य प्रकार से 'एजुकेशन' (Education) शब्द की उत्पत्ति 'एडुकेयर' (Educare) से हुई है, जिसका अर्थ है – 'पालन–पोषण या विकास करना'। इस प्रकार, 'पोषण या विकास करने की प्रक्रिया' को भी 'एजुकेशन' कहते हैं।[8]

निःसन्देह, शिक्षा के लिए प्रयुक्त शब्द भी शिक्षा की प्रबन्धकीय उपयोगिता को इंगित करते हैं।

3.1.3 शिक्षा की आवश्यकता क्यों?

जैनदर्शन के अनुसार, संसार का स्वरूप परिणामी–नित्य है,[9] क्योंकि शाश्वत् रहते हुए भी इसका प्रतिसमय अवस्थान्तरण होता रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि जीवन के आन्तरिक और बाह्य पक्षों का रूपान्तरण होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। जहाँ रूपान्तरण या गत्यात्मकता हो, वहाँ दो दिशाएँ हो सकती हैं – सकारात्मक और नकारात्मक। नकारात्मक–दिशा से उबरने तथा सकारात्मक–दिशा में गमन करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है, क्योंकि शिक्षा ही हमारा सही दिग्दर्शन कर सकती है।

नकारात्मक–गत्यात्मकता (Negative Dynamicity) अर्थात् कुप्रबन्धन के कारण जीवन का ह्रास होता है, आचार, विचार और व्यवहार में गिरावट आती है तथा कष्ट, निराशा और पीड़ा बढ़ती जाती है। सकारात्मक–गत्यात्मकता (Positive Dynamicity) अर्थात् सुप्रबन्धन से जीवन का यथार्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विकास होता है। जीवन के विविध पहलुओं में परस्पर समन्वय स्थापित होने से जीवन–ऊर्जा का सर्वाधिक सदुपयोग सम्भव होता है। कठिनाइयों को पार करने का सामर्थ्य विकसित होता है। धीरे–धीरे शान्ति, प्रसन्नता और आनन्दमय जीवन की प्राप्ति होती है। वस्तुतः, नकारात्मक गत्यात्मकता के बजाय सकारात्मक गत्यात्मकता की दिशा में अग्रसर होने से आदर्श–जीवन अर्थात् प्रबन्धित–जीवन की प्राप्ति होती है।

प्रत्येक प्राणी जीवन–प्रबन्धन की प्राप्ति के लिए योग्य नहीं होता। मेरी दृष्टि में, जीवन–प्रबन्धन का सम्यक् पात्र बनने के लिए व्यक्ति में निम्नलिखित चार तथ्यों का होना आवश्यक है –

★ उसे विकास की आवश्यकता महसूस होनी चाहिए।
★ उसमें विकास की क्षमता होनी चाहिए।
★ उसे विकास की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।
★ उसे विकास की रुचि होनी चाहिए।

आवश्यकता, योग्यता, स्वतन्त्रता और रुचि – ये चार तत्त्व व्यक्ति के जीवन–विकास के लिए आवश्यक हैं, लेकिन पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि जीवन के सम्यक् विकास के लिए 'विवेक' का होना भी अत्यावश्यक है। विवेकशील व्यक्ति ही करणीय–अकरणीय का भेद कर सकता है। विवेक की प्राप्ति के लिए जिस साधन या विधि का आश्रय लिया जाता है, उसे '**शिक्षा**' कहते हैं।

शिक्षा के अभाव में न विवेक होता है और न ही नकारात्मक–गत्यात्मकता पर नियन्त्रण भी। 'शिक्षा' के बिना व्यक्ति की दशा उस दृष्टिहीन व्यक्ति के समान होती है, जो भयानक अटवी से बाहर निकलना चाहता हो, लेकिन निकलने में असहाय हो। डॉ. सागरमल जैन का कहना है कि 'यदि दिशा सही होगी, तो दशा सही होगी और दिशा को सही करने के लिए दृष्टि को सही करना होगा।'[10] यह केवल शिक्षा के माध्यम से सम्भव है। शिक्षा से व्यक्ति की बुद्धि और विवेक का विकास होता है। कहा गया है कि ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे तत्त्वों के रहस्य को समझने में समर्थ बनाता है तथा सत्कार्यों में प्रवृत्त कराता है।[11] सार रूप में कहा जा सकता है कि शिक्षा जीवन में विवेक के समुचित विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है। अतः हमें शिक्षा–प्रबन्धन को उचित महत्त्व देना चाहिए।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3.2 शिक्षा की सार्वकालिक महत्ता

मानव प्राचीनकाल से ही जीवन के विकास के लिए प्रयत्नशील रहा है। चूँकि विकास की प्राप्ति शिक्षा पर निर्भर है, अतः मनुष्य ने शिक्षा को जीवन में प्रमुख और प्राथमिक स्थान दिया है। मनुष्य की सदैव यह मान्यता रही है कि शिक्षा एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करती है, जो जीवन का सर्वांगीण विकास कर सके। उसके अनुसार, जीवन के बिना शिक्षा अस्तित्वविहीन होती है और शिक्षा के बिना जीवन व्यक्तित्वविहीन होता है। इस प्रकार, विकास के लिए तत्पर मानव–जाति की दृष्टि में जीवन और शिक्षा का अन्योन्याश्रित/अभिन्न सम्बन्ध है।[12] यही तथ्य शिक्षा के सार्वकालिक महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त है। इसकी सम्पुष्टि के लिए आगे चर्चा की जा रही है।

प्रागैतिहासिककाल से ही शिक्षा के दो मुख्य पक्ष रहे हैं – लौकिक और आध्यात्मिक।[13] लौकिक–व्यवहार के परिपालन के लिए लौकिक–शिक्षा उपयोगी है, जबकि मानसिक–विकारों, आत्म–कलुषताओं और तनावों से विमुक्त होकर आत्मिक–आनन्द की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक–शिक्षा उपयोगी है।

विभिन्न युगों में प्रचलित शिक्षा–व्यवस्था और शिक्षण–पद्धतियाँ इस प्रकार हैं –

3.2.1 प्राचीन युग में शिक्षा का महत्त्व

प्रायः ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व तक प्राचीन युग का समय माना जाता है। इसमें भारतीय–संस्कृति की दो धाराएँ प्रचलित रहीं – वैदिक एवं श्रमण। श्रमण–परम्परा के अन्तर्गत भी दो शाखाएँ मुख्य रूप से प्रसिद्ध हुई – जैन एवं बौद्ध। जैन मान्यता जैन–आगमों पर, बौद्ध चिन्तन त्रिपिटकों पर और वैदिक विचार वेदों पर आधारित हैं। अतः भारतीय–संस्कृति में जीवन–प्रबन्धन सम्बन्धी जो मान्यताएँ हैं, उन सबका आधार ये तीनों स्रोत हैं।[14]

(1) जैनशिक्षा

जैन–परम्परा श्रमण संस्कृति का संवहन करती है। यह मूलतः आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करती है, लेकिन इसका भी लोक से सम्बन्ध तो रहा ही है। विशेषता यह है कि इसमें लौकिक शिक्षा भी इस प्रकार दी गई है कि वह आध्यात्मिक उपलब्धियों का साधन बन सके। जैन–शिक्षा में दुःखमुक्ति या तनावमुक्ति के जो प्रबन्धन–सूत्र प्ररुपित किए गए हैं, वे लौकिक और आध्यात्मिक दोनों ही जीवन में समानरूप से उपयोगी हैं। कहा जा सकता है कि जैन–परम्परा मुख्यता से निवृत्तिमार्गी जीवन की शिक्षा देती है, फिर भी उसमें प्रवृत्तिमार्गी जीवन के लिए उपयोगी दिशा–निर्देश भी विद्यमान हैं। इन दोनों का सम्यक् समन्वय जीवन–प्रबन्धन के लिए अपेक्षित है। इसकी प्रयोगात्मक चर्चा शिक्षा–प्रबन्धन के रूप में आगे विस्तार से की जाएगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्मदर्शन के अनुसार, इस युग (अवसर्पिणी काल) में चौबीस तीर्थंकर हुए, जिनमें प्रथम श्रीऋषभदेव एवं अन्तिम श्रीमहावीरस्वामी हैं। इनके उपदेश जैनशिक्षा के प्रमुख स्रोत हैं।

(क) ऋषभदेव – ये मानवीय सभ्यता या प्रबन्धन के आदिपुरूष हैं। इन्हें समाज–प्रबन्धन, राज्य–प्रबन्धन और धर्म–प्रबन्धन का पुरोधा माना जाता है। इन्होंने राजा के रूप में असि (सैन्यवृत्ति), मसि (लिपिविद्या), कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प की शिक्षाएँ दी। सैन्य–व्यवस्था को सुसंगठित किया, जिससे बाहरी शक्तियों की चुनौतियों का सामना किया जा सके, लिपि–विद्या सिखाकर शिक्षा की नींव डाली और भाषिक–संप्रेषण की व्यवस्था दी, कृषि आदि के माध्यम से सामाजिक–वृत्तियों का पोषण और लूटपाट, हत्या, चोरी आदि असामाजिक–प्रवृत्तियों का निषेध किया। अपनी प्रथम पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान कराया, तो द्वितीय पुत्री सुन्दरी को गणित का अध्ययन कराया। गणित के अन्तर्गत मान, उन्मान, अवमान, प्रतिमान आदि मापों से अवगत कराया। पुरूषों को बहत्तर (72) कलाएँ और स्त्रियों को चौसठ (64) कलाएँ सिखाई। लोगों को अग्नि जलाने, भोजन बनाने, बर्तन बनाने, वस्त्र बुनने आदि विधियों से परिचित कराया। हाथी, घोड़े, गाय आदि पशु–सम्पदा का सदुपयोग करना सिखाया। इस प्रकार, भले ही ये बातें आज के इस युग में बहुत सामान्य प्रतीत होती हों, लेकिन ऋषभदेव ने तात्कालिक मानव जाति को सुसंस्कृत और सभ्य बनाने के लिए अमूल्य शिक्षाएँ दी। वस्तुतः, ये शिक्षाएँ इस वर्त्तमान युग में भी लौकिक–जीवन के प्रबन्धन के लिए नींव का पत्थर सिद्ध हो रही हैं।[15] इनका उल्लेख न केवल जैन, बल्कि जैनेतर ग्रन्थों में भी मिलता है।

भगवान् ऋषभदेव के आध्यात्मिक उपदेशों से आत्म–कल्याण की शिक्षाएँ भी प्राप्त हुई। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप में चतुर्विध संघ की स्थापना हुई। इनकी शिक्षाओं से ही मोह, राग–द्वेष और कषायों का क्षय कर आत्म–उत्कर्ष को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस प्रकार, इनका जीवन–प्रबन्धन के क्षेत्र में अनन्य उपकार है।

(ख) महावीर – इनका जन्म 599 ई. पूर्व में हुआ था। वह समय धार्मिक और आध्यात्मिक आन्दोलनों का युग था, जिसमें प्रायः सभी संप्रदाय अपने–अपने मत और पन्थ को श्रेष्ठ बताकर दूसरों की निन्दा कर रहे थे। ऐसे समय महावीर ने पूर्व तीर्थंकरों का अनुकरण किया और सभी मतों का सम्यक् संश्लेषण (Right Synthesis) करके 'अनेकान्तवाद' की स्थापना की। इसके अनुसार, प्रत्येक वस्तु या पदार्थ अनन्तधर्मात्मक होता है, जिसमें परस्पर विरोधी धर्मों (गुण–पर्यायों) का सह–अस्तित्व होता है, जैसे – नित्य–अनित्य, शुद्ध–अशुद्ध, एक–अनेक आदि। महावीर का यह सिद्धान्त जीवन के हर क्षेत्र में समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाने की कला सिखाता है। इससे जीवन–प्रबन्धन के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक आदि समस्त क्षेत्रों में संघर्षों के बजाय समाधान की प्राप्ति होती है। भगवान् महावीर ने जीवन और जगत् के सन्दर्भ में जो वैज्ञानिक प्रतिपादन किया, वह आज भी प्रासंगिक है। वस्तुस्वरूप को समझने और समझाने के लिए इन्होंने निक्षेप, प्रमाण, नय, अनुयोग, समास, मार्गणा, स्वाध्याय आदि विधियों की शिक्षाएँ दी, जिनकी चर्चा आगे की जाएगी।[16]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर की प्रज्ञा इतनी तीक्ष्ण थी कि बाल–वय में ही इन्होंने व्याकरण–शास्त्र की रचना कर दी, जो बाद में पूज्यपाद देवनन्दी के द्वारा 'जैनेंद्र–व्याकरण' के नाम से सुप्रसिद्ध हुई। सामाजिक–दृष्टि से धार्मिक आडम्बर, अन्धविश्वास और अन्धरूढ़ियों को दूर करने की शिक्षा दी। वेद–विहित हिंसा के विरुद्ध अहिंसा का उपदेश दिया। स्त्री–शिक्षा और शूद्र–शिक्षा के द्वार खोल दिए। वस्तुतः, इन्होंने पूर्व तीर्थंकरों द्वारा प्रचलित विचार और आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों का देश–काल–सापेक्ष प्रतिपादन किया। इनके उपदेश लोक–भाषा में होने से आसानी से जनग्राह्य और जीवन–प्रबन्धन के लिए अत्यन्त उपयोगी थे। इन उपदेशों को गणधरों ने सूत्रबद्ध किया। प्रारम्भ में गुरु परम्परा के द्वारा चतुर्विध संघ को सूत्र और अर्थ के माध्यम से शिक्षित किया जाता था, आचार और विचार में समन्वयता के लिए उपधान, पौषध, तप, प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि प्रायोगिक विधियाँ समाविष्ट की जाती थी। शिक्षा की यह परम्परा आज भी जैनधर्म में प्रचलित है। शिक्षा–व्यवस्था से सम्बन्धित महावीर के उपदेशों का संकलन हमें अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होता है, जैसे – आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समावायांग, ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र, गच्छाचार, चंद्रवेध्यक आदि।[17] जैन–परम्परा का यह समृद्ध साहित्य जीवन–प्रबन्धन के लिए विशेष पठनीय है।

(2) बौद्ध शिक्षा

बौद्ध–परम्परा में भी आध्यात्मिक–शिक्षा के साथ–साथ लौकिक–शिक्षा पर यथोचित विचार किया गया है। बौद्ध–धर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध थे। इनका जन्म ईसा पूर्व छठी शताब्दी में हुआ। इन्होंने दुःख–मुक्ति के लिए अष्टांग–मार्ग का प्रतिपादन किया। इस मार्ग का एक सूत्र है – सम्यक् आजीविका। यह सूत्र व्यक्ति को अपनी आजीविका को सुप्रबन्धित ढंग से अर्जित करने की शिक्षा देता है। इसका सम्बन्ध लौकिकता और पारलौकिकता दोनों से है। औचित्यपूर्ण आजीविका ही सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने और पारलौकिकता के लिए सन्मार्ग निरुपित करने में सहायक है।[18]

आध्यात्मिक दृष्टि से बौद्धशिक्षा का उद्देश्य 'निर्वाण' है, जिसका अर्थ है – तृष्णा की अग्नि का बुझ जाना।[19] लौकिक दृष्टि से बौद्ध शिक्षा का उद्देश्य दुःखमुक्त जीवन के लिए देश–व्यवहार के ज्ञान को प्राप्त कराना है।[20] बौद्धकालीन लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत अन्य विषयों के साथ छियानवे (96) कलाओं और चौसठ (64) लिपियों की शिक्षा भी दी जाती थी।[21]

बौद्ध–परम्परा में विविध शिक्षण–पद्धतियों का उल्लेख मिलता है, जैसे – पाठ–विधि, शास्त्रार्थ–विधि, उपमा–विधि, प्रश्नोत्तर–विधि, उपदेश–विधि, प्रमाण–विधि, स्वाध्याय–विधि आदि।[22] ये विधियाँ प्रकारान्तर से जैन–परम्परा में भी प्रचलित रही हैं।[23] बौद्ध–परम्परा के मूल साहित्य 'विनयपिटक', 'सूत्तपिटक' और 'अभिधम्मपिटक' हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) वैदिक–शिक्षा

प्रागैतिहासिक काल में ही एक युग था – वैदिक युग। इस युग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – ऐसी चतुर्वर्णीय व्यवस्था थी। ब्राह्मण ही समाज का सबसे प्रभावशाली वर्ग एवं विद्यानिधि था, अतः यहाँ पर ब्राह्मणिक या वैदिक शिक्षा का प्रादुर्भाव हुआ। ब्राह्मणिक शिक्षा के अन्तर्गत अपने–अपने संप्रदाय के अनुसार वेदों का मौखिक अध्ययन किया जाता था। एक वेद का अध्ययन करने का अर्थ था – बारह वर्ष तक गुरु के यहाँ संन्यासी की भाँति रहना। समाज भी विद्यार्थी को प्रसन्नतापूर्वक भोजन और धन प्रदान करता था। विद्यार्थी जीवन केवल शिक्षा ग्रहण करने का ही नहीं, अपितु अनुशासन पालन करने का भी समय होता था। शिष्य अपने गुरु की सेवा करते और उनके लिए भिक्षा भी माँगकर लाते थे। वे शिष्य साधारण वस्त्र पहनते थे। उत्तरीय एवं अधोवस्त्र ही कुल पोशाक थी। उनके केश जटाओं के रूप में होते अथवा सिर मुण्डित होता था। गुरु और शिष्य दोनों नैतिक जीवन का एक उच्चादर्श पालन करते थे।[24]

प्रायः ईसा पूर्व दसवीं शताब्दी उपनिषदों का रचनाकाल माना जाता है। इन उपनिषदों में शिक्षा के आध्यात्मिक पक्ष की प्रधानता रही। कहा भी गया है – '**सा विद्या या विमुक्तये**' अर्थात् विद्या वही है, जो विमुक्ति के लिए हो। लोगों की दृढ़ मान्यता थी कि 'ज्ञान बिना मुक्ति कदापि सम्भव नहीं है।'

इस प्रकार, प्राचीन युग में शिक्षा को उचित महत्त्व दिया जाता था। भले ही उसमें वर्त्तमान वस्तुनिष्ठ शिक्षा–पद्धति का अभाव था, लेकिन वह शिक्षा भी लौकिक और आध्यात्मिक शिक्षा का सुन्दर समायोजन थी। यह शिक्षा ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता की नींव है। इस शैक्षिक विकास के बल पर ही भारत को 'जगद्गुरु' भी कहा जाता रहा है। सही अर्थों में, आज भी जीवन के प्रबन्धन के लिए इस शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है।

3.2.2 मध्य युग में शिक्षा का महत्त्व

इस युग का समय ईसा की पाँचवीं से सोलहवीं सदी के मध्य रहा है। जैसे–जैसे सामाजिक विकास होता गया, वैसे–वैसे शिक्षा व्यवस्था भी व्यापक होती गई। धीरे–धीरे विविध विद्याओं के विशेषज्ञों की आवश्यकता उत्पन्न होने लगी। साथ ही उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विद्या, अनुभव, ज्ञान एवं संस्कार की निधि को चिरजीवित रखने के लिए विशेष शिक्षासंस्थानों का जन्म हुआ, जो बाद में उच्च शिक्षा के विख्यात केंद्र बन गए। ये केंद्र आधुनिक विज्ञान सम्बन्धी पढ़ाई और शोध–कार्यों को छोड़कर, शेष बातों में आधुनिक विश्वविद्यालय के समान ही थे। इनमें से नालन्दा, तक्षशिला, प्रयाग, बनारस, कन्नौज, पाटलीपुत्र, धारानगरी, वल्लभीपुर, सारनाथ, विक्रमशिला आदि अतिप्रसिद्ध हुए। कुछ तो अन्तर्राष्ट्रीय विद्या केंद्र भी बन गए। इन शिक्षण–केंद्रों में विशिष्ट परम्परा थी कि शिक्षा के प्रारम्भ में उपनयन संस्कार और समापन पर समावर्त्तन संस्कार होता था। समापन के समय आचार्य द्वारा दीक्षान्त भाषण में छात्रों को सदाचार, समाज–सेवा आदि कर्त्तव्यों का स्मरण कराया जाता था। तत्पश्चात् छात्रों को अपने कर्त्तव्यपूर्त्ति में निरन्तर रत रहने के लिए सामूहिक शपथ भी दी जाती थी। सुदूर विदेशों से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी यहाँ विद्यार्थी आते थे, जैसे – चीन, तिब्बत, कोरिया, लंका आदि। इन संस्थाओं में प्रवेश के लिए भारी भीड़ होती थी, किन्तु भर्ती की संख्या नियत होने से उन्हें कठिन प्रवेश–परीक्षा से गुजरना पड़ता था। प्रायः दस में से दो–तीन का ही प्रवेश हो पाता था। सातवीं शताब्दी के मध्य में नालन्दा में प्रायः पाँच हजार विद्यार्थी अध्ययनरत थे।[25]

आठवीं शताब्दी के बाद मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हुई। तदुपरान्त मदरसों और मकतबों की स्थापना होने लगी। सन् 1200 के पश्चात् क्रमशः गुलामवंश, खिलजीवंश और तुगलकवंश आए। इन्होंनें शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए काफी धन व्यय किया। अकेले फिरोज तुगलक ने तीस विद्यालय बनवाए। तत्पश्चात् लोदीवंश (1414–1526) के राज्यकाल में 'बदायूं' शिक्षा का एक विशाल केंद्र बना। सन् 1526 के बाद क्रमशः बाबर, हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर का शासनकाल रहा। इसमें भी शिक्षा का प्रचार–प्रसार हुआ। हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों की विद्याओं को संरक्षण मिला। तत्पश्चात् शाहजहाँ के शासनकाल में शिक्षा पर कोई विशेष व्यय नहीं हुआ। उसका पुत्र औरंगजेब बड़ा कट्टरपन्थी मुसलमान था और उसने केवल अपने धर्म के अनुयायियों की शिक्षा को ही प्रोत्साहन दिया। यहाँ मुगल साम्राज्य का सूर्य अस्त हो गया।[26]

इस प्रकार, मध्ययुग विदेशी आक्रमणों और संस्कृति–परिवर्त्तनों के प्रयासों का समय रहा, फिर भी शिक्षा का महत्त्व यथावत् बना रहा। इसमें कला एवं शिल्प की उन्नति अन्य काल की तुलना में अधिक रही। इन कलाओं में मूर्तिकला, लेखनकला, नृत्यकला, संगीतकला, चित्रकला आदि से सम्बन्धित कलाएँ प्रमुख थी। इस युग में प्राचीन–साहित्य की व्याख्याएँ और नवीन साहित्य का सृजन हुआ। इतना ही नहीं, इतिहास का क्रमबद्ध लेखन होना भी इस युग की विशेषता रही। यह कटु सत्य है कि इस युग में आध्यात्मिक–शिक्षा में आंशिक न्यूनता अवश्य आई। फिर भी, यह कहना होगा की कई आक्रमणकारियों के द्वारा शिक्षा–व्यवस्था को नष्ट करने का भरपूर प्रयास करने के बावजूद भी शिक्षा का अस्तित्व बना ही रहा।

3.2.3 आधुनिक युग में शिक्षा का महत्त्व

आधुनिक युग प्रायः सोलहवीं शताब्दी के बाद से प्रारम्भ होता है। यह मुख्यतया यूरोपीय जातियों का जलमार्ग से आगमन का काल है। सर्वप्रथम पुर्त्तगाली नाविक 'वास्कोडिगामा' सन् 1498 ई. में अफ्रीका का चक्कर लगाकर भारत पहुँचा। व्यापारिक लाभ से आकर्षित होकर क्रमशः डच, डेन, फ्रांसीसी और ब्रिटिश भी भारत आए। इन्होंने मुगल साम्राज्य के शनैः–शनैः पतन और भारत की राजनीतिक दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाया। धीरे–धीरे इनके तीन उद्देश्य विकसित हो गए – क) व्यापारिक, ख) राजनीतिक और ग) ईसाई धर्म का प्रचार–प्रसार। इन्होंने शिक्षा का सहारा लेकर धर्मप्रचार की नीति अपनाई। जगह–जगह पर मिशन स्कूलों की स्थापना की और संचालन के लिए ईसाई पादरियों को भारत बुलाया। इन्हें अपने–अपने देश की सरकार तथा व्यापारिक संस्थाओं द्वारा आर्थिक सहायता मिलती रही।[27]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(1) पुर्त्तगालियों के शिक्षा–प्रयास – इन्होंने गोवा से लेकर लंका तक अनेक स्थानों पर प्राथमिक स्कूल खोले। इनमें रोमन कैथोलिक धर्म, पुर्त्तगालीभाषा, स्थानीयभाषा, गणित, कृषि, हस्तकला आदि की शिक्षाएँ दी गई। यहाँ ईसाई धर्म को स्वीकार करने वाले बच्चों तथा पुर्त्तगाली एवं यूरोपीय बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। साथ ही निर्धन बच्चों को पुस्तकें, भोजन तथा वस्त्र की भी सुविधा दी जाती थी। इन्होनें उच्च शिक्षा के लिए जैसुएट कॉलेज की स्थापना की। यहाँ ईसाईधर्म, तर्कशास्त्र, लैटिनभाषा तथा संगीत की शिक्षा प्रदान की जाती थी। सन् 1575 ई. में प्रथम जैसुएट कॉलेज गोवा में खोला गया, जिसमें 300 से अधिक विद्यार्थी थे। भारत के प्रथम मुद्रणालय की स्थापना का श्रेय भी पुर्त्तगालियों को ही है। पुर्त्तगाली पादरियों में से सेंट जेवियर और सेंट रॉबर्ट मुख्य थे, जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किए।[28]

(2) डचों के शिक्षा–प्रयास – सत्रहवीं शताब्दी में हॉलेण्डवासियों (डचों) ने भारत में अपने कारखाने खोले। ये चतुर राजनीतिज्ञ थे। इन्होंने धर्मशिक्षा को महत्त्व नहीं दिया, बल्कि कारखानों के कर्मचारियों के बालकों के लिए कुछ स्कूल खोले। इन स्कूलों में भारतीय बालकों को शिक्षा की स्वतन्त्रता थी। यहाँ डचभाषा, स्थानीयभाषा, भूगोल, गणित तथा कलाकौशल सिखाया जाता था।[29]

(3) फ्रांसीसियों के शिक्षा–प्रयास – इन्होंने भी धर्म–प्रचार के लिए विद्यालय खोले। विशेषता यह थी कि इनमें ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य थी। भारतीय शिक्षकों द्वारा स्थानीयभाषा की जानकारी दी जाती थी। प्रवेश के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं था। निर्धन छात्रों को भोजन, वस्त्र, पुस्तक आदि का प्रलोभन दिया जाता था।[30]

(4) डेनो के शिक्षा–प्रयास – डेनमार्कवासियों (डेनो) ने ट्रंकोबार, त्रिचनापल्ली, तंजौर, मद्रास आदि स्थानों पर अनेक प्राथमिक स्कूल प्रारम्भ किए। सन् 1713 ई. में ट्रंकोबार में भारत का सर्वप्रथम अध्यापक–प्रशिक्षण महाविद्यालय खोला। भारत में आधुनिक शिक्षा के विकास में डेन मिशनरियों का उल्लेखनीय योगदान रहा है।[31]

(5) अंग्रेजों के शिक्षा–प्रयास – राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजों का प्रभुत्व सर्वाधिक रहा। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने व्यापार के साथ–साथ धर्मप्रचार को भी महत्त्व दिया। कम्पनी के कर्मचारीगण धर्मप्रचार को अपना कर्त्तव्य मानते थे। वे प्रोटस्टेंट मत के ईसाई पादरियों को भारत भेजते थे, जिनका किराया और सारा शिक्षा–व्यय दोनों ही कम्पनी वहन करती थी।[32] एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरने पर कम्पनी का ईसाई मिशनरियों के साथ सम्बन्ध टूटने लगा। सन् 1800 के लगभग कम्पनी धर्म–परिवर्त्तन के प्रयासों की विरोधी बन गई, फिर भी अंतरंग सम्बन्धों के कारण से सन् 1853 तक मिशनरियों को कम्पनी से सहायता मिलती रही। सम्बन्ध टूटने के बाद भी कम्पनी और मिशनरी के द्वारा पृथक्–पृथक् रूप से शिक्षा का विकास जारी रहा। कम्पनी ने सन् 1800 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज और सन् 1818 में मद्रास में फोर्ट जार्ज कॉलेज खोला।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन् 1813 में मिशनरियों को भारत जाकर धर्म प्रचार की अधिक स्वतन्त्रता दे दी गई। इसी वर्ष ब्रिटिश संसद ने कम्पनी को भारत पर शासन करने सम्बन्धी आज्ञा पत्र का नवीनीकरण भी किया। प्रतिवर्ष एक लाख रूपए या अधिक का व्यय शिक्षा–क्षेत्र में करने का प्रावधान किया,[33] जिसे सन् 1833 में बढ़ाकर दस लाख कर दिया गया।[34] सन् 1835 में मैकाले ने अपना विवरण–पत्र पेश किया, जिसमें उसने पाश्चात्य शिक्षा पर जोर दिया। वह अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहता था। उसने कहा, "हम भारत में ऐसे व्यक्तियों का वर्ग बनाना चाहते हैं, जो रंग और रक्त में भले ही भारतीय हों, परन्तु खान–पान, रहन–सहन, आचार–विचार तथा बुद्धि में पूरे अंग्रेज हों।"[35] तत्कालीन गवर्नर लार्ड बैंटिक ने मैकाले का विवरण–पत्र स्वीकार कर लिया।

सन् 1830 से सन् 1857 तक का काल 'मिशन विद्यालय युग' कहलाया, क्योंकि इसमें मिशनरियों का शिक्षा प्रयास काफी बढ़ गया था। इस बीच बम्बई में विल्सन कॉलेज, मद्रास में क्रिश्चियन कॉलेज, मछलीपटनम में नोबल कॉलेज, नागपुर में क्रिश्चियन कॉलेज, आगरा में सेंट जांस कॉलेज आदि स्थापित हुए।[36] अब अंग्रेजी माध्यम वाले माध्यमिक विद्यालय और महाविद्यालय ज्यादा खोले जाने लगे, जिनमें बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। विद्यार्थियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई, क्योंकि लोगों में सरकारी नौकरियों के प्रति बेहद आकर्षण था।[37]

सन् 1857 का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम होने के बाद कम्पनी द्वारा भारत का शासन महारानी विक्टोरिया को सौंप दिया गया।[38] सन् 1882 के बाद का काल भारतीय शिक्षा के इतिहास में महत्त्वपूर्ण क्रान्ति और प्रगति का युग था। अब तक विदेशी शासकों द्वारा किया गया शिक्षा–सुधार, वस्तुतः राजनीतिक स्वार्थपूर्त्ति से अभिप्रेरित था, इसीलिए भारतीयों ने 'शिक्षा' को राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य अंग बना दिया।

इस प्रकार, आधुनिक युग में 'शिक्षा' का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का विकास नहीं, बल्कि राजनीतिक, व्यापारिक और धार्मिक प्रचार ही रह गया।

विस्तृत चर्चा के पश्चात् यह रहस्य उद्घाटित होता है कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक युग के आगमन तक शिक्षा और शिक्षण–पद्धति में व्यापक परिवर्त्तन जरूर आए, लेकिन शिक्षा को समाज ने हमेशा ही शीर्ष स्थान दिया। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और भौगोलिक बाधाओं के बावजूद भी शिक्षा के प्रति उसका पूर्ण झुकाव बना रहा। अतः कहा जा सकता है कि शिक्षा का मानव जीवन में सार्वकालिक महत्त्व रहा है।

फिर भी, यह मानना होगा की समय के प्रवाह में प्राच्य शिक्षा का ह्रास और पाश्चात्य शिक्षा का विकास हुआ। इससे आध्यात्मिक एवं नैतिक संस्कृति का पतन हुआ और भौतिक एवं स्वार्थपरक संस्कृति की प्रगति हुई। यह असन्तुलित शिक्षा जीवन की अव्यवस्था का कारण है और इसे सुधारना ही शिक्षा–प्रबन्धन का ध्येय है। इसकी चर्चा आगे विस्तार से की जाएगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3.3 वर्त्तमान युग में शिक्षा का महत्त्व

प्राचीनकाल से ही मानवीय–चेतना के विकास के साथ–साथ 'शिक्षा' का महत्त्व भी बढ़ता गया और आज यह अपने चरम उत्कर्ष पर है। किसी अपेक्षा से आज शिक्षा का महत्त्व अनुत्तर और अपूर्व है। अब 'शिक्षा' पर किसी वर्गविशेष का अधिकार भी नहीं रहा। जनसामान्य में शिक्षा के प्रति विशेष अभिरुचि और समर्पण पैदा हो गया है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि रोटी, कपड़ा और मकान के पश्चात् 'शिक्षा' जीवन की चौथी बुनियादी आवश्यकता बन चुकी है। अतएव यह युग ज्ञान के विस्फोट (Knowledge Blast) का युग भी कहलाता है, जो निम्नलिखित बिन्दुओं से परिलक्षित होता है –

(1) शिक्षा के संस्थानों (Institutes for Education) की वृद्धि

शिक्षा के विभिन्न संस्थानों की संख्यात्मक और गुणात्मक अभिवृद्धि भी शिक्षा के बढ़ते हुए महत्त्व को दर्शाती है। भारत में विश्वविद्यालयों की संख्या इस प्रकार रही है[39] –

ई.सन्	1887	1921	1950	2007
संख्या	5	12	30	306

इसी प्रकार, भारत में शैक्षिक महत्त्व की अभिवृद्धि को निम्नलिखित सारणी के माध्यम से समझा जा सकता है[40] –

शिक्षा के विभाग	1950–1951			1999–2000		
	विद्यालय	विद्यार्थी	शिक्षक–विद्यार्थी अनुपात	विद्यालय	विद्यार्थी	शिक्षक–विद्यार्थी अनुपात
प्राथमिक (कक्षा 1–5)	2,30,000	1.91 करोड़	1:24	6,42,000	11.36 करोड़	1:43
उच्च प्राथमिक (कक्षा 6–8)	13,600	32 लाख	1:20	1,98,000	4.20 करोड़	1:38
			शिक्षक संख्या			शिक्षक संख्या
माध्यमिक (कक्षा 9–10) उच्च माध्यमिक (कक्षा 11–12)	7,416	15 लाख	1.27 लाख	1,16,820	2.82 करोड़	17.20 लाख
महाविद्यालय	750	2.43 लाख	24,000	11,089	74.17 लाख	3.42 लाख
विश्वविद्यालय	30			238		

मध्य–युग में विद्यालयों के भवन आदि की स्थिति दयनीय होती थी, लेकिन आधुनिक युग की विद्याशालाएँ प्रायः नवीन उपकरणों एवं फर्नीचर से सुसज्जित होती हैं। छात्रावास, पुस्तकालय,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कम्प्यूटर लैब, इंटरनेट, क्रीड़ा–क्षेत्र, भोजनालय (मेस), केंटीन, परिवहन आदि सुविधाएँ प्रायः उपलब्ध रहती हैं। कुछ अतिआधुनिक विद्या–संस्थाओं में वातानुकूलिततन्त्र, स्वीमिंगपूल, नाट्यगृह (Auditorium) आदि की सुविधाएँ भी दी जा रही हैं। यद्यपि यह स्थिति सर्वत्र नहीं है, फिर भी सब मिलाकर कहा जा सकता है कि विद्याशालाओं की स्थिति में असाधारण सुधार आया है।

आजकल कोचिंग–इंस्टिट्यूट्स का प्रचलन भी बढ़ गया है। इनमें से सामान्य श्रेणी के इंस्टिट्यूट्स तो गली–गली में खुल गए हैं और विशेष स्तर के भी कम नहीं हैं। कुछ–कुछ शहरों, जैसे – मुम्बई, पुणे, बैंगलोर, दिल्ली, इन्दौर, कोटा, भिलाई आदि की प्रसिद्धि का एक कारण वहाँ के 'इंस्टिट्यूट्स' हैं।

(2) पाठ्यसामग्री की आसान उपलब्धता

वर्त्तमान युग में शुद्ध और त्वरित मुद्रण की सुविधा होने से पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन आसान हो गया है, जिससे पुस्तकें एवं अन्य पाठ्यसामग्रियाँ बाजार में आसानी से उपलब्ध हो रही हैं। कई सरकारी विद्यालयों में तो निःशुल्क शिक्षा के साथ–साथ पुस्तक आदि का वितरण भी निःशुल्क किया जा रहा है।

इसी प्रकार, इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों, जैसे – कम्प्यूटर, ई–मेल, इंटरनेट, इलेक्ट्रॉनिक डायरी, केल्क्युलेटर आदि से शिक्षा जगत् में क्रान्ति आ गई है।

(3) स्त्री–शिक्षा की विशेष अभिवृद्धि

एक समय था जब मुगलशासन में स्त्री–शिक्षा पर प्रतिबन्ध था, लेकिन पिछले डेढ़ सौ वर्षों में इस दिशा में असाधारण विकास हुआ है। सन् 1998 में किए गए एक सर्वे के अनुसार, विद्यार्जन के योग्य उम्र वाली बालिकाओं में से विद्यालय जाने वाली छात्राओं का प्रतिशत इस प्रकार है[41] –

विद्यालय	[illegible]	[illegible]	[illegible]
प्राथमिक	41.8	46.4	42.7
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
माध्यमिक	37.8	47.6	41.5
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

कई परीक्षाओं में छात्रों की अपेक्षा छात्राएँ आगे आ रही हैं, जो स्त्री–शिक्षा के बढ़ते हुए महत्त्व का ही परिणाम है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(4) विकलांग–शिक्षा की व्यवस्था

यूनीसेफ (UNICEF) संस्था के अनुसार, विश्व में प्रायः दस में से एक बच्चा विकलांग है।[42] विकलांग–शिक्षा के लिए राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किए जा रहे हैं। एक ओर चिकित्साविज्ञान के माध्यम से इनकी शारीरिक और मानसिक कमियों को आंशिक या पूर्णरुप से दूर करने का प्रयास हो रहा है, तो दूसरी ओर इन्हें व्यावहारिक जीवन के योग्य शिक्षाएँ भी दी जा रही हैं, ताकि वे आत्मनिर्भर बन सकें। सन् 1975 में विकलांगों के लिए स्थापित संस्थाओं और संगठनों की गणना का प्रयास किया गया, जिसका सार इस प्रकार है[43] –

मन्द–बुद्धि संस्थाएँ	विकृत–अंग संस्थाएँ	बधिर संस्थाएँ	अन्ध संस्थाएँ	कुल संस्थाएँ	कुल संगठन
117	150	152	195	614	216

(यह ज्ञातव्य है कि सन् 1975 के बाद इनमें और अधिक अभिवृद्धि हुई है।)

(5) पिछड़ी जाति के विकास की व्यवस्था

सामाजिक दृष्टि से, सभी वर्णों और जातियों के बच्चों के लिए शिक्षा के द्वार खुल गए हैं। पिछड़ी जाति के विद्यार्थियों को विद्यासंस्थानों में प्रवेश के लिए आरक्षण सुविधाएँ दी जा रही हैं। उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए छात्रवृत्ति (Scholarship), छात्रावास (Hostel), निःशुल्क शिक्षा एवं भोजन आदि व्यवस्थाएँ भी की गई हैं।

(6) अध्यापक–शिक्षा की परम्परा का विकास

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार, समाज में अध्यापक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को बौद्धिक–परम्पराएँ और तकनीकी–कौशल पहुँचाने का केंद्र है और सभ्यता के दीपक को प्रज्वलित रखने में सहायता देता है।[44] अध्यापक समाज के भविष्य का संरक्षक है, अतः आजकल अध्यापकों के प्रशिक्षण को भी अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इससे शिक्षक की अध्यापन–क्षमता का विकास होता है। अध्यापक–शिक्षा के दो प्रकार प्रचलित हैं –

(क) सेवापूर्व – इसके लिए स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रम बनाए गए हैं, जो क्रमशः 'बी.एड.' और 'एम.एड.' कहलाते हैं।[45]

(ख) सेवाकालीन – सेवाकाल में भी शिक्षक की क्षमता के विकास के लिए कई विधियाँ हैं,[46] जैसे –

1) अभिनव कार्यक्रम (Refresher Course)
2) कार्यशाला (Work Shop)
3) आंशिक प्रशिक्षण कार्यक्रम
4) संगोष्ठी (Seminar)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5) व्याख्यान
6) पारस्परिक परिचर्चा
7) अनुसन्धान कार्य
8) शैक्षिक फिल्म

(7) अभिकरण (Agencies)

आज शिक्षा विश्वस्तर की महत्त्वपूर्ण गतिविधि बन चुकी है। शिक्षा के प्रबन्धन के लिए अनेक अभिकरण (Agencies) अपनी–अपनी भूमिका निभा रहे हैं। भारत में ये अभिकरण राष्ट्रीय, प्रान्तीय और जिला स्तर पर बँटे हुए हैं। मुख्य अभिकरणों के नाम निम्नलिखित हैं[47] –

(क) शिक्षा के केंद्रीय अभिकरण

- ★ मानव–संसाधन–विकास–मंत्रालय
  (Ministry of Human Resource Development)
- ★ केंद्रीय–शिक्षा–सलाहकार–बोर्ड
  (Central Advisory Board of Education)
- ★ राष्ट्रीय शैक्षिक–अनुसन्धान और प्रशिक्षण–परिषद्
  (National Council of Education Research & Training – NCERT)
- ★ राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान
  (National Institute of Education Planning and Administration)
- ★ राष्ट्रीय अध्यापक–शिक्षा–परिषद्
  (National Council for Teacher's Education)
- ★ केंद्रीय–माध्यमिक–शिक्षा–केंद्र
  (Central Board of Secondary Education)

(ख) शिक्षा के राज्य एवं जिला स्तरीय अभिकरण

- ★ राज्य शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्
  (State Council of Education Research & Training)
- ★ माध्यमिक शिक्षा बोर्ड
  (Board of Secondary Education)
- ★ जिला शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थान
  (District Institute of Education & Training)
- ★ अध्यापक शिक्षण कॉलेज
  (Teachers' Training College)
- ★ उच्च शिक्षा अध्ययन संस्थान (Institute of Advanced Studies)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(8) अभिभावकों में शैक्षिक जागरुकता का विकास

बालक के व्यक्तित्व–निर्माण में माता, पिता और गुरू – ये तीन उत्तम शिक्षक हैं। इनमें भी गुरु से अधिक महत्त्व माता–पिता का है। आधुनिक युग में बालक–बालिका की शिक्षा में अभिभावकों की रुचि भी बढ़ रही है। हर अभिभावक अपने बच्चों पर अधिकाधिक व्यय करके भी श्रेष्ठ शिक्षा देने का प्रयास कर रहा है। बच्चों की शिक्षा के प्रति अभिभावकों की बढ़ती हुई गम्भीरता (Sincerity) और सजगता (Awareness) भी शिक्षा के महत्त्व को इंगित करती है।

(9) शिक्षा के विविध आयाम

वर्त्तमान युग शिक्षा के कई नए क्षेत्रों के उद्‌भव का युग है। वैज्ञानिक प्रगति ने कई अपरम्परागत शिक्षा–क्षेत्रों को जन्म दिया। साथ ही किसी भी क्षेत्र में विशेषज्ञ की आवश्यकता भी नए क्षेत्रों के विकास का कारण बनी। शिक्षा के मुख्य आयाम निम्नलिखित हैं, जो पुनः शिक्षा की महत्ता को प्रकाशित करते हैं –

- ★ अभियांत्रिकी शिक्षा (Engineering)
- ★ तकनीकी शिक्षा (Technical)
- ★ चिकित्सीय शिक्षा (Medical)
- ★ प्रबन्धन शिक्षा (Management)
- ★ वाणिज्य शिक्षा (Commerce)
- ★ कानूनी शिक्षा (Law)
- ★ कला शिक्षा (Art)
- ★ गृहविज्ञान शिक्षा (Home Science)
- ★ शारीरिक शिक्षा (Physical)

(10) विद्यार्थियों की बढ़ती अभिरुचि

शिक्षा के अनुकूल वातावरण में विद्यार्थियों का शिक्षा के प्रति समर्पण भी विचारणीय है। आखिर क्यों कोई बालक या बालिका अपने गाँव, नगर, जिला, प्रान्त या राष्ट्र को छोड़कर अध्ययन के लिए अपरिचित स्थानों पर भी जाने को सहर्ष तैयार हो जाता है? आखिर क्यों एक विद्यार्थी किसी प्रवेश–परीक्षा की जबरदस्त प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए युद्धस्तर पर तैयारी करता है? क्यों वह अपने जीवन के 20–25 वर्ष भी शिक्षा प्राप्ति के लिए व्यतीत कर देता है? ये सभी प्रश्न शिक्षा की बढ़ती लोकप्रियता को ही इंगित करते हैं।

इस प्रकार, यह निर्विवाद है कि वर्त्तमान युग में शिक्षा का महत्त्व निरन्तर तीव्र वेग से वृद्धिशील है। फिर भी यह विचारणीय है कि शिक्षा का महत्त्व बढ़ने पर भी क्या शिक्षा से जीवन–उद्देश्यों की प्राप्ति हो रही है। इस विचार की समीक्षा आगे की जाएगी और इसके आधार पर शिक्षा–प्रबन्धन की महती आवश्यकता प्रकट हो सकेगी, क्योंकि शिक्षा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण शिक्षा–प्रबन्धन है, जो हमें सम्यक् शिक्षा का मार्गदर्शन देता है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3.4 वर्त्तमान युग में शिक्षाप्रणाली की विशेषताएँ (गुण–दोष)

आधुनिक युग शैक्षणिक क्रान्ति का युग है। इसमें शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक परिवर्त्तन हुए हैं। जहाँ एक ओर इसकी नींव में प्राचीन भारतीय संस्कृति की पुनीत झलक है, वहीं दूसरी ओर पूर्व की विदेशी दासता एवं वर्त्तमान की पाश्यात्य–संस्कृति के आकर्षण का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। आशय यह है कि वर्त्तमान भारतीय शिक्षाप्रणाली अनेक संस्कृतियों का सम्मिश्रित परिणाम है, जिससे इसमें गुण–दोष दोनों विद्यमान हैं।

इस शिक्षाप्रणाली की मुख्य विशेषताएँ (गुण–दोष) इस प्रकार हैं –

(1) भौतिक–शिक्षा पर बल – आज भौतिक–शिक्षा के विकास के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयास किए गए हैं, जिससे विशेषज्ञ डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि की निष्पत्ति सम्भव हो सकी है, किन्तु एकपक्षीय प्रयास के परिणामस्वरूप शिक्षा का नैतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष गौण हो गया है।

(2) क्रमबद्ध शिक्षा (Graded Education) – शिक्षा को आसान बनाने के लिए उसे विभिन्न स्तरों में विभाजित किया गया है और इस पद्धति को वर्त्तमान में 10+2+3 शिक्षाप्रणाली भी कहते हैं। इसमें निम्न क्रम से विद्यार्थियों को अध्ययन कराया जाता है –

1) पूर्व–प्राथमिक या नर्सरी
2) प्राथमिक (कक्षा 1 से 5)
3) उच्च प्राथमिक (कक्षा 6 से 8)
4) माध्यमिक (कक्षा 9 से 10)
5) उच्च माध्यमिक (कक्षा 11 एवं 12)
6) स्नातक (Graduation)
7) स्नातकोत्तर (Post Graduation)
8) एम.फिल., पीएच.डी., डी.लिट् आदि अन्य विशेष अध्ययन

शिक्षा की यह क्रमिक व्यवस्था वस्तुनिष्ठ तो है, किन्तु इसमें व्यक्ति के मानसिक एवं भावात्मक विकास को कोई महत्त्व नहीं मिल रहा है।

(3) एकीकृत पाठ्यक्रम (Unified Syllabus) – राष्ट्रीय अथवा प्रान्तीय स्तर पर यह व्यवस्था की गई है कि समान शैक्षणिक स्तर वाले विद्यार्थियों का पाठ्यक्रम समान होना चाहिए, किन्तु इसमें वैयक्तिक और प्रादेशिक भिन्नताओं को दृष्टि से ओझल रखा गया।

(4) शिक्षास्थान के चयन की सुविधा – यह व्यवस्था है कि विद्यार्थी अपने घर से लेकर विश्व के किसी भी कोने में रहकर विद्यार्जन कर सकता है। इससे शिक्षा–क्षेत्र में एक व्यापकता तो आई, किन्तु शिक्षा अतिव्ययसाध्य बन गई।

(5) शिक्षापद्धति के चयन की सुविधा – शिक्षा को सर्वोपयोगी बनाने के लिए विविध शिक्षा पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जैसे – नियमित शिक्षा (Regular) और अनियमित शिक्षा (Private), आवासी (Residential), अनिवासी (Nonresidential), दूरस्थ शिक्षा (Distance Education), विविध भाषिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माध्यमों से शिक्षा, जैसे – हिन्दी, अंग्रेजी आदि। इस वैविध्य के कारण चयन के अनेक विकल्प सामने रहते हैं, किन्तु व्यक्ति को योग्य निर्णय लेने में योग्य मार्गदर्शन की अपेक्षा रखनी होती है।

(6) सामाजिक समानता पर आधारित शिक्षा – सामाजिक सद्भावना के विकास के लिए आधुनिक शिक्षा में यह व्यवस्था की जा रही है कि समाज का कोई भी घटक शिक्षा से वंचित न रह जाए। आशय यह है कि स्त्री–पुरूष, बालक–युवा–प्रौढ़, निर्धन–धनवान्, ग्रामीण–शहरी, उच्चकुलीन–निम्नकुलीन, व्यवसायी–सेवारत, स्वस्थ–विकलांग आदि सभी को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाए। यह एक योग्य निर्णय है, किन्तु इसके साथ वैयक्तिक एवं परिवेशीय भिन्नताओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

(7) शिक्षा में व्यापकता – आज शिक्षा को सर्वव्यापी बनाया जा रहा है। शिक्षा के विस्तार के लिए सरकारी और निजी संस्थाएँ अपना–अपना कर्त्तव्य बखूबी निभा रही हैं। प्रचार–प्रसार के लिए होर्डिंग्स, पेम्पलेट्स, अखबार, टी.वी., कम्प्यूटर आदि साधनों का प्रयोग किया जा रहा है। राजधानियों से लेकर छोटे–छोटे गाँवों में शिक्षा सुविधा दी जा रही है। किन्तु, इसका एक परिणाम यह हुआ है कि शिक्षा व्ययसाध्य होती जा रही है और यह सेवा का कार्य न रहकर, एक व्यवसाय बन गई है।

(8) शिक्षा के विविध विषय – जैसे–जैसे लौकिक या सूचनात्मक ज्ञान का विकास हुआ, वैसे–वैसे शिक्षा के विषयों (Subjects) की गहनता, व्यापकता और विविधता भी बढ़ती गई। इससे विश्वविद्यालयों में अनेकानेक विषयों की शिक्षा दी जाने लगी है। कई स्थानों पर सर्टिफिकेट कोर्सेस के माध्यम से अध्ययन कराने की परम्परा भी चल रही है, किन्तु इन सबके होने पर भी मूल्यात्मक एवं आध्यात्मिक शिक्षा उपेक्षित ही है।

(9) बहुमाध्यमवाली शिक्षा–पद्धति – आजकल 'मल्टीमीडिया' (बहुमाध्यम) शिक्षा का प्रचलन है, जिसमें दृश्य (Video) और श्रव्य (Audio) सामग्रियों का प्रयोग किया जाता है। यह एक उचित कदम है, किन्तु इसके साथ विद्यार्थी–वर्ग की रुचि की विविधता को ध्यान में रखना होगा।

(10) लचीली शिक्षानीति (Flexible Educational Policy) – शिक्षाप्रणाली देश–काल–सापेक्ष परिवर्त्तनीय है। इसमें शैक्षणिक–विकास की दृष्टि से यह व्यवस्था दी गई है कि आधुनिक अनुसन्धानों से प्राप्त तथ्यों को सहजतया स्वीकार कर लिया जाए और साथ ही प्रचलित शिक्षा–व्यवस्था का मूल्यांकन कर उनमें आवश्यक संशोधन और संवर्द्धन भी कर लिया जाए।

(11) शिक्षा का राष्ट्रीयकरण – शिक्षा व्यवस्था को संगठित करने के लिए राष्ट्रीयस्तर, प्रान्तीयस्तर और जिलास्तर पर विविध अभिकरणों (Agencies) की स्थापना की गई है।

(12) अन्धविश्वास और अन्धरूढ़िरहित शिक्षा – आज की शिक्षा व्यवस्था तर्कपरक और तथ्यपरक है, जिसमें अन्धविश्वास और अन्धरूढ़ियों के लिए कोई स्थान नहीं है। इसे ही वैज्ञानिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा–पद्धति भी कहा जाता है। यह आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का सर्वोत्तम पक्ष है, किन्तु इसका एक परिणाम यह हुआ है कि इससे आध्यात्मिक तथ्यों एवं मूल्यों के प्रति आस्था कमजोर हो गई है।

(13) अनिवार्य शिक्षा – सभी के लिए प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य रखा गया है। इसके परिपालन के लिए सरकार ने बाल–श्रमिकों की नियुक्ति, बाल–विवाह आदि को दण्डनीय अपराध माना है। सरकार द्वारा कई पिछड़े क्षेत्रों में विद्यार्थियों के लिए भोजन, वस्त्र और पाठ्यसामग्रियों का निःशुल्क वितरण किया जाता है।

(14) सहायता–अनुदान प्रणाली (Grant in Aid System) – शिक्षा–व्यवस्था के प्रोत्साहन के लिए आर्थिक अनुदान दिए जा रहे हैं, किन्तु इन अनुदानों की ओट में बढ़ रहे भ्रष्टाचार को रोकना भी अत्यावश्यक है।

(15) अध्यापक शिक्षा – शिक्षा का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटक है – अध्यापक। सुयोग्य अध्यापक ही शिक्षा–व्यवस्था को सार्थक बना सकता है। अतएव अध्यापक–शिक्षा देकर अध्यापक की क्षमता का संवर्द्धन किया जा रहा है, किन्तु नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों में आई गिरावट से इस शिक्षा को भी नौकरी अथवा पदोन्नति पाने के लिए एक औपचारिकतामात्र माना जाने लगा है।

(16) अध्यापकों की स्थिति में सुधार – अध्यापकों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए अन्य सुविधाओं के साथ–साथ उनके वेतनमान में भी विशेष वृद्धि की जाती रही है, जिससे वे निश्चिन्ततापूर्वक अपना कर्त्तव्य–निर्वाह कर सकें। किन्तु इसके साथ ही उनकी विलासिता एवं अनैतिकता को नियंत्रित करने के लिए भी ध्यान देना आवश्यक हो गया है।

जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक शिक्षाप्रणाली की समीक्षा

आधुनिक शिक्षाप्रणाली की उपर्युक्त विशेषताएँ भले ही नवीन महसूस हों, लेकिन इनमें से अधिकांश अंशतः या पूर्णतः प्राचीनयुग में भी विद्यमान थी, जैसे –

- ★ जैनदर्शन में भी लौकिक–शिक्षा पर बल दिया गया है, इसीलिए प्राचीन जैनग्रन्थों में षट्कर्म शिक्षा (असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प) का वर्णन मिलता है। फिर भी, इतना अन्तर अवश्य है कि जैन–शिक्षा–पद्धति में शिक्षा के लौकिक–पक्ष को जीवन का अन्तिम उद्देश्य (Ultimate Goal) नहीं माना गया है।
- ★ 'क्रमबद्ध शिक्षा' का बीज हमें प्राचीन शिक्षा–विधि में भी मिलता है। उसमें भी सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों प्रकार की शिक्षाओं का क्रम वर्णित है। उदाहरणस्वरूप, जैनशिक्षा में आगमग्रन्थों के अध्ययन का एक क्रम निर्धारित है। इसी प्रकार से 'व्रत–प्रतिमा व्यवस्था' के द्वारा चारित्रिक मूल्यों के क्रमिक विकास पर बल दिया गया है।[48] समाधिमरण के लिए भी क्रमिक तैयारी का निर्देश दिया गया है[49] इत्यादि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ जैन–संघ में समय–समय पर वाचनाओं के माध्यम से जैन–साहित्य का एकीकरण (Unification) एवं प्रमापीकरण (Standardisation) होता रहा, इससे न केवल जैनसाहित्य का संरक्षण होता रहा, बल्कि जैन–दार्शनिक तत्त्वों की एकता भी बनी रही, साथ ही उनमें विवेचन एवं व्याख्या की गहराई भी आई।[50]

★ शिक्षा–स्थान के चयन की आंशिक सुविधा का दर्शन हमें प्राचीनयुग की शिक्षाप्रणाली में होता है। तब व्यक्ति गुरुकुलवास या गुरुगृहवास भी करता था और नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला आदि में अध्ययन के लिए सुदूर विदेशों से भी आता था।

★ यह सार्वभौमिक नियम है कि जहाँ दृष्टि आध्यात्मिक होती है, वहाँ सामाजिक भेद–भाव वाली संकीर्ण बुद्धि के लिए कोई स्थान नहीं होता है। जैनदर्शन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सम्पन्न है। इसमें सामाजिक सद्भावना का सुन्दर समायोजन मिलता है। भगवान् महावीर के अनुयायी चारों वर्णों के थे, जैसे –

- राजा श्रेणिक आदि – क्षत्रिय
- सेठ सुदर्शन आदि – वैश्य
- इंद्रभूति गौतम आदि – ब्राह्मण
- हरिकेशी आदि – शूद्र

भगवान् महावीर की दृष्टि में सामान्य शिक्षा एवं आध्यात्मिक शिक्षा किसी वर्गविशेष के लिए नहीं, वरन् सभी के लिए सरलता से ग्राह्य थी। इन्होंने सभी वर्णों के स्त्री–पुरूषों को आध्यात्मिक विकास का समान रूप से अधिकारी माना था। जिस काल में स्त्री–शिक्षा को सबने त्याज्य ठहराया, उस समय में भगवान् महावीर ने इसे प्रारम्भ कर स्त्रियों के लिए शिक्षा के द्वार खोल दिए, जिससे स्त्री जाति में भी विकास की चेतना जाग्रत हुई। श्रीमद्राजचंद्र ने भी स्त्री–शिक्षा को प्रोत्साहित करते हुए कहा है कि स्त्रियों को शिक्षित करके स्त्री–जाति की दशा को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए – **मणावी गणावी वनिता सुधारो।**[51]

★ आज के समान कम्प्यूटर मल्टीमीडिया जैसी सुविधा उस युग में उपलब्ध नहीं होते हुए भी जैन–शिक्षा में दृश्य और श्रव्य सामग्रियों का प्रयोग तो होता ही था। जिन–प्रतिमा, चित्र, नाटक आदि प्रमुख दृश्य–सामग्रियाँ रहीं, जबकि वाचना आदि प्रमुख श्रव्य–सामग्रियाँ रही।

★ जैनधर्म में शिक्षा–व्यवस्था सदैव ही लोचपूर्ण रही। कई बार गीतार्थ आचार्यों, उपाध्यायों और मुनि–भगवन्तों ने देश, काल एवं परिस्थिति सापेक्ष परिवर्त्तन भी किए हैं। उत्सर्ग (सामान्य)–अपवाद की व्यवस्थाएँ भी इसकी परिचायक हैं।[52]

इस प्रकार, आधुनिक शिक्षाप्रणाली में जो सकारात्मक विशेषताएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, उसके अनेक तथ्य प्राचीन शिक्षाप्रणाली में भी मिलते हैं और शिक्षा–प्रबन्धन के लिए इन सिद्धान्तों की प्रासंगिकता से इंकार नहीं किया जा सकता है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3.5 वर्त्तमान युग में शिक्षाप्रणाली की मुख्य कमियाँ एवं दुष्परिणाम

आज शिक्षा का अत्यधिक महत्त्व है। प्रत्येक व्यक्ति में शिक्षा के प्रति एक विशिष्ट जागृति उत्पन्न हुई है। यह अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि अशिक्षित जीवन आज एक अभिशाप बन चुका है, जिसे तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। अतः प्रायः सभी शिक्षित होना चाहते हैं। लेकिन इतना ही सब कुछ नहीं है। शिक्षा–प्राप्ति से अधिक आवश्यक है, समीचीन शिक्षा की प्राप्ति। सिर्फ शिक्षा की प्रसिद्धि ही व्यक्ति और समाज को प्रगति और उत्थान के ऊँचे शिखर पर नहीं पहुँचा सकती। आशय यह है कि शिक्षा की बढ़ती हुई महत्ता ही शिक्षा की प्रामाणिकता, शुद्धता और उपयोगिता का मापदण्ड नहीं बन सकती। जीवन–प्रबन्धन शिक्षा को नहीं, वरन् सम्यक् शिक्षा को प्राथमिकता देता है।

आज व्यक्ति और समाज में बुराइयाँ अनवरत रूप से बढ़ रही हैं, जो मानव जाति के लिए एक खतरा है। यह चिन्तनीय है कि एक तरफ 'शिक्षा' की प्रसिद्धि बढ़ रही है, तो दूसरी ओर समाज का पतन हो रहा है। प्रत्येक बुद्धिजीवी एवं विचारशील व्यक्ति इस विरोधाभास से आश्चर्यचकित व शोकग्रस्त है और इस समस्या का शीघ्रातिशीघ्र समाधान चाहता है।

वस्तुतः, यह नियम है कि शिक्षा से व्यक्ति और व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है। यदि शिक्षा सम्यक् हो, तो स्वस्थ समाज की संरचना होती है, किन्तु जब शिक्षा में विसंगतियाँ घर कर जाती हैं, तो समाज में भी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वर्त्तमान परिवेश में सामाजिक जीवन–मूल्यों में तेजी से आ रही गिरावट आधुनिक शिक्षाप्रणाली की प्रामाणिकता के लिए एक प्रश्नचिह्न है।

इस प्रकरण में आधुनिक शिक्षाप्रणाली की मुख्य विसंगतियों पर चर्चा की गई है, जिससे शिक्षा–प्रबन्धन की प्रक्रिया द्वारा उनका निराकरण करके उनसे उत्पन्न हो रहे दुष्प्रभावों से बचा जा सके। शिक्षा–प्रबन्धन सम्यक् शिक्षा के संस्थापन और मिथ्या शिक्षा के उत्थापन की एक जीवनोपयोगी प्रक्रिया है।

यद्यपि शिक्षाप्रणाली की सम्पूर्ण विसंगतियों को दूर कर पाना आसान नहीं है, फिर भी उनसे परिचित होना आवश्यक है। इन्हें जानकर ही हमें वर्त्तमान–परिवेश में उपलब्ध उचित संसाधनों का सम्यक् चयन करते हुए सम्यक् शिक्षा–प्रबन्धन करने की आवश्यकता का बोध होगा। वस्तुतः, शिक्षा–प्रबन्धन भी यही प्रक्रिया है कि हम वर्त्तमान में उपलब्ध शैक्षिक वातावरण की कमियों और उनके दुष्परिणामों की सम्यक् समीक्षा करें तथा सम्यक् शिक्षा–प्राप्ति के संसाधनों का सदुपयोग करते हुए सम्यक् शिक्षा प्राप्त करें।

आधुनिक शिक्षाप्रणाली अनेक समस्याओं से ग्रस्त है। प्रायः इसके सभी घटक जैसे – शिक्षार्थी, शिक्षक, शासन, समाज, अभिभावक और शिक्षणपद्धति – इन समस्याओं के लिए जिम्मेदार हैं। ये समस्याएँ आधुनिक युग में शिक्षा के लिए किए जा रहे अथक परिश्रम को व्यर्थ बना रही हैं। इन समस्याओं से उभरकर व्यक्तित्व का समग्र विकास करना ही शिक्षा का सही तात्पर्य है और यही शिक्षा–प्रबन्धन का लक्ष्य है। आगे, आधुनिक शिक्षाप्रणाली की निम्नलिखित कमियों एवं उनके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुष्परिणामों की चर्चा की जा रही है –

- ★ शिक्षार्थी के उद्देश्य की अस्पष्टता
- ★ अभिभावकों की लक्ष्यविहीनता
- ★ शिक्षकों की कर्त्तव्यविमुखता
- ★ सामाजिक विसंगतियाँ
- ★ प्रशासनिक अव्यवस्था एवं अप्रामाणिकता
- ★ शिक्षण–पद्धति की समस्याएँ

3.5.1 शिक्षार्थी के उद्देश्य की अस्पष्टता

शिक्षा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है – शिक्षार्थी। आज शिक्षार्थियों की संख्या भले ही बढ़ रही है, लेकिन यह दुर्भाग्य है कि इनके समक्ष शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य स्पष्ट नहीं है। सामान्य रूप से आज शिक्षार्थी के सम्मुख निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं –

(1) आजीविका – आज की विडम्बना यह है कि शिक्षा को मात्र उदरपूर्त्ति का साधन बना दिया गया है। विद्यार्थी को बचपन से ही डॉक्टर, इंजीनियर, सी.ए., एम.बी.ए. आदि बनने की प्रेरणा मिलती रहती है, क्योंकि इससे अच्छी आजीविका उपलब्ध हो जाती है। कहा जा सकता है कि यह परम्परा ब्रिटिश शासन के समय से ही चली आ रही है। विद्यार्थी पढ़–लिखकर डिग्री प्राप्त करता है और नौकरी ढूँढता है। शिक्षार्जन के द्वारा उसका एकमात्र लक्ष्य आर्थिक लाभ प्राप्त करना होने से उसके जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की उपेक्षा हो जाती है।

ऐसे विद्यार्थी का जीवन प्रायः आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की मूल प्रवृत्तियों (Instincts) को सन्तुष्ट करने में ही बीत जाता है और जीवन पशुवत् रह जाता है। कहा भी गया है[53] –

आहार–निद्रा–भय–मैथुनं च, सामान्यमेतद् पशुभिः नराणाम्।
ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो, ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः।।

यही कारण है कि आज के शिक्षित व्यक्ति में स्वार्थ और संकीर्णता बढ़ती जा रही है। व्यावसायिक दृष्टिकोण होने से वह अर्थ (पैसे) को जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु मानता है। उसके सम्पूर्ण जीवन का साध्य अर्थ–प्राप्ति बन गया है। पहले वह शिक्षा के लिए अर्थ जुटाता है और बाद में अर्थ के लिए शिक्षा को साधन बनाता है। इससे उसके सम्पूर्ण जीवन के भावनात्मक और संवेदनात्मक पक्ष शुष्क और कठोर बन गए हैं। वह नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन–मूल्यों को भूल गया है। उसमें दया, सेवा, शान्ति, सहजता, क्षमा आदि सद्गुणों का अभाव हो गया है। यही नहीं, सम्पत्ति उपार्जन के लिए वह अनैतिक और भ्रष्ट आचरण भी करता है। अर्थ जीवन–निर्वाह का साधन है, किन्तु उसी को साध्य मान लेने से प्रायः बिना आध्यात्मिक विकास किए, आजीवन पैसा कमाने के लिए पसीना बहाता रहता है और अन्त में खाली हाथ इस जीवन से विदा हो जाता है।

(2) प्रलोभन – आज ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों में अधिकांश विद्यार्थी आवास, भोजन, छात्रवृत्ति आदि के प्रलोभन से आकर्षित होकर पढ़ रहे हैं। ऐसे छात्रों को शिक्षा–मूल्यों से कोई सरोकार नहीं होता, क्योंकि इनके विचारों में शिक्षा पाना मात्र औपचारिकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसका दुष्परिणाम यह होता है कि ये लोभी विद्यार्थी भविष्य में प्रमादी, भ्रष्टाचारी, रिश्वतखोर आदि बन जाते हैं। इनके व्यक्तित्व का सम्यक् विकास भी नहीं हो पाता। ये स्वावलम्बी नहीं, बल्कि समाज के लिए भाररूप हो जाते हैं।

(3) सामाजिक पहचान (Social Recognition) – कई लोग इसलिए भी शिक्षार्जन करते हैं कि समाज में उनकी एक पहचान बन सके। उन्हें भय होता है कि यदि वे अशिक्षित रहे, तो सामाजिक मान्यता नहीं मिलेगी और समाज उनका तिरस्कार करेगा।

आज समाज में ऐसे शिक्षित व्यक्तियों की भरमार है, जो प्रतिभापरक के बजाय प्रदर्शनपरक होते हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी बौद्धिक–शिक्षा के आधार पर समाज में अपना विशिष्ट स्थान तो बना लेते हैं, लेकिन ये सिर्फ बौद्धिक विचारों का ही लेन–देन करते हैं, क्योंकि इनमें विचारों के क्रियान्वयन की अभिरुचि का अभाव होता है। सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना ही इनका लक्ष्य होता है। आज समाज को प्रतिष्ठा प्राप्ति की चाह रखने वालों के बजाय ईमानदार कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है, जिससे समाज और व्यक्ति की सम्यक् प्रगति हो सके। उत्तराध्ययनसूत्र में कपिलकुमार का वर्णन मिलता है, जिन्होंने अपने परिवार की खोई हुई पद–प्रतिष्ठा पाने के लिए विद्यार्जन का उद्यम किया, लेकिन लक्ष्य गलत होने के कारण उनका चारित्रिक पतन हो गया। जब आत्म–समीक्षा करते हुए इसका भान हुआ, तब उन्होंने अपने लक्ष्य को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ दिया।[54]

(4) अहंकार का पोषण (Ego Satisfaction) – कई लोग उच्च शिक्षा की प्राप्ति का प्रयास इसलिए भी करते हैं कि यदि वे अव्वल नम्बर प्राप्त करेंगे, तो समाज उन्हें न केवल मान्यता देगा, अपितु उन्हें एक विशिष्ट सम्मान, आदर, यश और प्रसिद्धि भी देगा।

आज व्यक्ति को रोटी से भी ज्यादा भूख मान–सम्मान की होती है। आज लाखों शिक्षित व्यक्ति ऐसे भी हैं, जिन्हें बेरोजगार रहना तो स्वीकार है, लेकिन अपनी प्रतिष्ठा का व्यामोह होने से कम वेतन में कार्य करना स्वीकार नहीं हैं। इसी प्रकार से कई शिक्षित लोग पद और प्रतिष्ठा के लिए छल, कपट, विश्वासघात आदि अनैतिक आचरण भी कर रहे हैं। कई ऐसे भी हैं, जो शिक्षित होने के अहंकार में अपने से अल्पशिक्षितों का शोषण करते हुए भी देखे जाते हैं। इनमें अधिकार जताने की प्रवृत्ति अधिक होती है। शिक्षितों की यह अहंकारी मनोवृत्ति वस्तुतः उनकी नकारात्मक ऊर्जा को बढ़ाती है, जिससे उनकी प्रगति अवरूद्ध होती है। आज भले ही हम सामाजिक एकता की दुहाई देते हों, लेकिन यह मनोभाव हमारी सामाजिक विषमता को बहुत तेजी से बढ़ा रहा है, क्योंकि अहंकारी व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को कुछ समझते ही नहीं हैं।

जैनशास्त्रों में ऐसे अनेक प्रसंग वर्णित हैं, जिनमें से एक हरिभद्र भट्ट (हरिभद्रसूरि का पूर्व नाम) का है। ये हमेशा अपने साथ सीढ़ी, कुदाली और पट्टा रखते थे, जो सांकेतिक रूप से यह इंगित करते थे कि वादी कहीं भी छिपा हो, वे उस तक पहुँचकर उसे परास्त कर सकते हैं। किन्तु जैन साध्वी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

याकिनी महत्तरा द्वारा उच्चरित एक गाथा का अर्थ न समझ पाने से उनके अंहकार को ठेस पहुँची और अपनी असन्तुलित शिक्षा का भान हुआ, जिसे समग्र बनाने हेतु उन्होंने श्रीजिनभद्रसूरि के पास भागवती दीक्षा अंगीकार की और क्रमशः अपनी शिक्षा का सर्वांगीण विकास किया।[55]

(5) चालाकी (Cunningness) – एक मान्यता यह भी है कि जो कम पढ़े–लिखे होते हैं, वे भोले–भाले और सीधे–सादे होते हैं। अतः चतुराई और शठता सीखने के लिए भी व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करता है। वह इस बात की उपेक्षा कर देता है कि चालाकी, कुटिलता, ठगी, विश्वासघात आदि का व्यवहार उसके व्यक्तित्व के पतन का कारण है। शिक्षा के माध्यम से चालाकी सीखकर वह दूसरों का अहित करने एवं स्वयं के भौतिक हित को ही साधने में लगा रहता है।

परिणाम यह है कि मानव का मानव पर से विश्वास डगमगाने लगा है। आज भाई–भाई, पिता–पुत्र, माँ–बेटी, पति–पत्नी, गुरू–शिष्य आदि के पवित्र सम्बन्धों में भी दरारें आ गई हैं। जैनआचारशास्त्र कहते हैं कि वह अनैतिक तरीकों से भले ही सुख–सुविधा प्राप्त कर लेगा, लेकिन जीवन में शान्ति और सम्मान से वंचित रह जाएगा। वह अन्यों की सद्भावना, स्नेह और वात्सल्य के लिए हमेशा तरसता रहेगा।

(6) विवाह सम्बन्धों में आसानी – एक जनप्रचलित विचारधारा है कि शिक्षित व्यक्ति का विवाह–सम्बन्ध आसानी से हो जाता है, जबकि अशिक्षित व्यक्ति का नहीं। इस धारणा से भी व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करता है।

इसका परिणाम है कि ऐसे विद्यार्थी सिर्फ डिग्री प्राप्ति के लिए लालायित रहते हैं। इन्हें जीवन में शिक्षा की उपयोगिता समझ में नहीं आती। आज भी कई लड़कियाँ ऐसी हैं, जिनके जीवन में डिग्री का महत्त्व विवाह होने तक ही दिखाई देता है। विवाह के पश्चात् उनके जीवन में प्राप्त शिक्षा का कोई उपयोग दिखाई नहीं देता।

इस सन्दर्भ में जैनकथासाहित्य में इलायचीकुमार की कथा प्रसिद्ध है, जिन्होंने नटकन्या को पाने के लिए अपने जीवन को नटविद्या सीखने में लगा दिया और साथ ही कुल के गौरव को भी धूल–धुसरित कर दिया। इस अप्रबन्धित जीवनशैली का एहसास उन्हें एक निर्ग्रन्थ मुनि (जीवन–प्रबन्धक) को देखकर हुआ। तत्काल उन्होंने आत्मसाधना की ओर कदम बढ़ाया और क्षण में ही वे पूर्णत्व को प्राप्त हो गए।[56]

(7) लोकाचार का अन्धानुकरण – आज शिक्षा–प्राप्ति एक फैशन बन चुका है। व्यक्ति को यह नहीं पता होता है कि मुझे क्यों पढ़ना है? अथवा क्या पढ़ना है? इत्यादि। वह तो इसलिए पढ़ता है, क्योंकि सब पढ़ रहे हैं।

सामान्यतया ऐसे विद्यार्थी डिग्री प्राप्त कर सन्तुष्ट तो हो जाते हैं, पर शिक्षा का जीवन में सम्यक् प्रयोग नहीं कर पाते। यथोचित रुचि के अभाव में उनमें शिक्षा के प्रति आवश्यक गम्भीरता एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नियमितता नहीं आ पाती, क्योंकि शिक्षा उनके लिए सिर्फ एक लोकरूढ़ि का निर्वाह करना रह जाती है।

(8) विवशता – कई शिक्षार्थी स्वेच्छा से नहीं पढ़ते, अपितु अभिभावकों के द्वारा जबरदस्ती शिक्षालयों में भेज दिए जाते हैं।

ऐसे विद्यार्थी अक्सर अवांछनीय कार्यों, जैसे – हास्य, व्यंग्य, गप–शप, बार, शीशा (हुक्का) आदि में समय और धन का खर्च करते रहते हैं। स्वरुचि का अभाव होने से इनमें माता, पिता और गुरुजनों के प्रति उचित समर्पण भी नहीं रहता और उल्टा, भीतर ही भीतर उनके प्रति विद्वेष की भावना बढ़ती जाती है। कई बार ये विद्यार्थी इनकी आज्ञा और अनुशासन को भी भंग करने से नहीं हिचकिचाते।

(9) मौजमस्ती – आज शिक्षा–प्राप्ति का एक प्रयोजन है – परिजनों के अनुशासन से मुक्ति। हर व्यक्ति अपनी इच्छाओं से जीना तो चाहता है, लेकिन परिजनों और समाज के सामने विवश है। अतः शिक्षा–प्राप्ति के बहाने वह स्वच्छन्द और मौज–मस्तीपरक जिन्दगी जीने का अवसर पा लेता है। इसके परिणामस्वरूप किशोरों में शराब, सिगरेट, मांसाहार आदि का सेवन करने, होटलिंग करने, महिला–मित्र बनाने, अश्लील चर्चाएँ करने, अनैतिक यौन सम्बन्ध स्थापित करने, अन्य छात्रों की रेगिंग लेने, शिक्षकों का उपहास करने और इसी प्रकार किशोरियों में सजने–धजने, कॉस्मेटिक्सादि का प्रयोग करने, पुरुष–मित्र बनाने, आधुनिक शैली के वस्त्र पहनने आदि का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। यही कारण है कि अधिकांश विद्यार्थी बाहर शिक्षा प्राप्त करना अधिक पसन्द करते हैं। तथाकथित सम्पन्न देशों, जैसे – अमेरिका आदि में यह प्रवृति अधिक बलवती है। इससे विद्यार्थी के भीतर पारिवारिक और सामाजिक दृष्टिकोण का भी अभाव होता जा रहा है।

(10) आधुनिक बनने का शौक – आज हर व्यक्ति आधुनिक बनना चाहता है। वह यह नहीं सोचता है कि क्या सही है और क्या गलत। उसके मस्तिष्क में एक ही विचार रहता है कि मुझे मॉड (Mod) होना है और इसके लिए वह पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण करता है। इस अन्धानुकरण के लिए वह शिक्षा को एक जरिया बना लेता है। कई बड़े–बड़े नामी–गिरामी शिक्षालयों में महँगी फीस देकर भी वह पढ़ता है, क्योंकि उसे आधुनिक बनने या कहलाने का जुनून होता है।

आज यह सोच हमारी प्राचीन संस्कृति का सर्वनाश करने जा रही है। तेजी से हमारे आदर्शों और जीवन–मूल्यों का पतन हो रहा है। परिणाम यह है कि आज पाश्चात्य अर्थपरक शिक्षा को प्रोत्साहन मिल रहा है, जबकि प्राचीन आध्यात्मिक शिक्षा का विलोप हो रहा है।

ऐसी विचारधारा और शिक्षा का परिणाम है, कि हम शिक्षा की मूल प्रकृति से दूर होकर कृत्रिम जीवन जीने के लिए बाध्य हो गए हैं। हमारा खान–पान, पहनना–ओढ़ना, चाल–ढाल, सजना–धजना, बोल–चाल आदि में न नैतिकता है और न ही आध्यात्मिकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(11) भविष्य के भोगपरक स्वप्न – आज शिक्षार्थी साधनसम्पन्नता एवं भोगविलासिता से युक्त जीवन जीने के सपने संजोते रहता है। वह चाहता है कि उसके पास बंगला हो, गाड़ी हो, बीवी–बच्चे हों, नौकर–चाकर हों, फर्नीचर हो, आधुनिक उपकरण हो, बैंक–बैलेंस हो इत्यादि, जिनका वह खूब भोगोपभोग कर सके, लेकिन वह यह भी महसूस करता है कि शिक्षा के बिना यह सम्भव नहीं है। अतः वह शिक्षा–प्राप्ति का लक्ष्य बनाता है।

प्राचीनयुग में शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य धर्म अथवा मुक्ति बताते हुए कहा गया है[57] –

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मः ततः सुखम्।।

आज न केवल शिक्षा के मूल उद्देश्य में, अपितु शिक्षा के उप–उद्देश्यों में भी परिवर्त्तन आ गया है। आज विद्या विद्यार्थी को अहंकारी बना रही है, जिससे उसकी मानवोचित गुणों को बढ़ाने की पात्रता ही नष्ट हो रही है। वह अमानवीय तरीकों से धनार्जन करता है और इस धन से अमर्यादित भोग करता है। भले ही वह अनैतिक कृत्यों से सुख–सुविधा की प्राप्ति और उसका भोग करे, परन्तु वास्तव में इसका परिणाम वासनाजन्य तनाव, अवसाद, कुसंस्कार और दुःख ही निकलता है।

इस प्रकार, हम पाते हैं कि भले ही आजकल शिक्षार्थी की अध्ययन–रुचि में अभिवृद्धि हुई हो, लेकिन उसके समक्ष जीवन के समग्र विकास का कोई ठोस उद्देश्य नहीं है। उसमें व्यक्तित्व के आन्तरिक विकास की ललक ही नहीं है, क्योंकि उसकी दृष्टि में नैतिक मूल्यपरक जीवन की तुलना में धन, वैभव, यौवन आदि का मूल्य अधिक है।

3.5.2 अभिभावकों की लक्ष्यविहीनता

आज प्रायः सभी अभिभावक अपने बालकों को पढ़ाने के लिए अत्यधिक आतुर, चिन्तित एवं महत्त्वाकांक्षी है। भले ही वे स्वयं न पढ़ सके हों, लेकिन वे अपने बालकों को ऊँची से ऊँची पढ़ाई कराना चाहते हैं। यह भी एक विडम्बना है कि जीवन का अधिक अनुभव लेने पर भी उनके पास बालकों को पढ़ाने का कोई सही उद्देश्य नहीं है। प्रायः अभिभावकों के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं –

(1) प्रतिष्ठापरक दृष्टिकोण (Prestigeous Attitude) – माता–पिता का प्रायः यही चिन्तन होता है कि यदि उनके बच्चे नहीं पढ़ेंगे, तो समाज में उनके परिवार का उपहास होगा। अपनी प्रतिष्ठा को बचाने के लिए वे बालकों को अध्ययन कराते हैं।

इसका दुष्परिणाम यह होता है कि प्रायः माता–पिता बालकों को मूल्यात्मक और आध्यात्मिक शिक्षा दिलाने के प्रति विशेष रुचि नहीं रखते, क्योंकि इन शिक्षाओं से उनकी और बालकों की सामाजिक प्रतिष्ठा में कोई विशेष अभिवृद्धि नहीं होती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) व्यावसायिक दृष्टिकोण (Professional Attitude) – 'यदि हमारे बच्चे पढ़ेंगे, तो ही व्यापार को सँभाल सकेंगे, फैला सकेंगे और प्रतिस्पर्धाओं का सामना कर सकेंगे' – यह आकांक्षा एवं अपेक्षा भी माता–पिता को प्रेरित करती है कि वे बालकों को पढ़ाएँ।

आज ऐसे माता–पिता बालकों को आर्थिक उपलब्धियों और तज्जन्य सुखसुविधाओं का सपना दिखाकर उन्हें नैतिक और आध्यात्मिक विकास से विमुख कर रहे हैं। उनकी दृष्टि में शिक्षा का सार है – 'चलाओ चक्की, कमाओ धन'। वे बालकों की बौद्धिक क्षमता तो विकसित करना चाहते हैं, लेकिन उनकी नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यनिष्ठा को महत्त्वपूर्ण नहीं मान रहे हैं। इसका एक दुष्परिणाम यह है कि कई बालक अपने माता–पिता और परिजनों से भी अधिक महत्त्व अपने व्यवसायों और उद्योगों को देने लगे हैं।

(3) भारमुक्त जीवन की आस – कई अभिभावक विशेषतः माताएँ बालकों की अनुशासनहीनता, खेलकूद, गाना–बजाना आदि क्रियाकलापों से परेशान हो जाती हैं। वे इस चिन्ता और भार से मुक्त होने के लिए बच्चों को विद्यालय भेज देती हैं और अपना भार शिक्षक–शिक्षिकाओं पर डाल देती हैं। पुनः यही कार्य शिक्षक–शिक्षिकाएँ भी करते हैं, जो अपने दायित्व से मुक्त होने के लिए बालकों को गृहकार्य (Homework) आदि देकर बालक के माता–पिता या अभिभावकों पर बोझ डालने का प्रयास करते हैं।

इसका दुष्परिणाम यह आ रहा है कि बालकों के विकास के लिए दोनों में से कौन–सा तत्त्व जवाबदार है, यह निश्चित करना बहुत कठिन हो गया है। इससे बालकों की स्वच्छन्दता और अधिक बढ़ने लगी है। अंग्रेजी में कहावत भी है – Too many cooks spoil the food.

(4) स्वच्छन्द अथवा स्वतन्त्र जीवन की चाह – कई माता–पिता सामाजिक अथवा वैयक्तिक क्षेत्र के किसी विशेष कार्य से जुड़े होते हैं, जिसके लिए उन्हें स्वतन्त्रता चाहिए होती है अथवा उनकी भोगपरक आकांक्षाएँ होती हैं, जिसके लिए उन्हें प्रतिबन्धरहित जीवन की चाह होती है। कुल मिलाकर, उनके पास बालकों के लिए समय ही नहीं होता, अतः बालकों को पढ़ने के लिए दूर भेज देते हैं। अमेरिका (U.S.A.) आदि में यही हो रहा है।

इसका दुष्परिणाम यह आ रहा है कि माता–पिता के प्रति बालकों की निष्ठा और समर्पण समाप्त होते जा रहा है। प्राचीन शास्त्रों में बालकों की शिक्षा के विषय में यह बताया गया है कि शिक्षक से दस गुणा अधिक पिता और पिता से सौ गुणा अधिक महत्त्व माता का है, परन्तु आज माता–पिता बालकों के समक्ष नैतिक और आध्यात्मिक जीवन–आदर्श ही नहीं दे पा रहे हैं, जिसका अनुकरण कर वे अपना चारित्रिक विकास कर सकें।

(5) बुढ़ापे का सहारा – 'हमारा बच्चा पढ़–लिखकर बड़ा आदमी बनेगा और हमारे बुढ़ापे की लाठी बनेगा' – ऐसी स्वार्थबुद्धि से प्रेरित होकर भी अभिभावक बच्चों को पढ़ाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माता–पिता का यह स्वार्थी दृष्टिकोण, बालकों के आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक विकास में बाधक सिद्ध हो रहा है। माता–पिता यह चाहते हैं कि उनके बालक सिर्फ पारिवारिक दायित्वों का ही निर्वाह करे। उनका प्रयास हो रहा है कि बालक आत्महित, समाजहित, पर्यावरणहित या राष्ट्रहित को अधिक महत्त्व न दे और ना ही सृजनात्मक कार्यों में जुड़े। वह सिर्फ परिवार की परिधि में सिमट जाए और विशेष रूप से पारिवारिक आर्थिक हितों का ही ध्यान रखे।

(6) प्रलोभन – कई अभिभावक विशेषतः ग्रामीण अथवा पिछड़े क्षेत्रों के निवासी, इसलिए भी बालकों को विद्यालयों में भेजते हैं, जिससे सरकारी सहायता के रूप में वस्त्र, खाद्यसामग्री एवं छात्रवृत्ति आदि मिल सके। इस नीति से वे अपने बालकों को अप्रत्यक्षरूप से अकर्मण्य और परावलम्बी बना रहे हैं।

(7) लोकलज्जा – लोकपरम्परा का निर्वाह करने के लिए भी अभिभावक बच्चों को स्नातक या स्नातकोत्तर शिक्षा दिलाने की औपचारिकता पूरी करते हैं।

इसी कारण से आज कई युवक–युवतियाँ पंद्रह–बीस वर्ष शिक्षा लेने के बाद भी यह निर्णय नहीं कर पा रहे हैं कि हमारे जीवन का सम्यक् उद्देश्य क्या है, क्योंकि बाल्यकाल से लेकर युवावस्था तक उन्हें शिक्षा अवश्य दी गई, लेकिन उसका उद्देश्य उन्हें समझाया ही नहीं गया।

(8) शिक्षा की लौकिक उपयोगिता – ऐसा नहीं है कि अभिभावक सर्वथा लापरवाह, स्वार्थी, बालकों से त्रस्त और प्रलोभन की अपेक्षा रखने वाले होते हैं। कई ऐसे भी होते हैं, जो बालकों के सचमुच शुभचिन्तक या हितैषी होते हैं। वे शिक्षा को उपयोगी मानते हैं और इसीलिए बालकों को शिक्षा की प्रेरणा भी देते हैं, लेकिन उनकी दशा कूपमण्डुक जैसी होती है। उनका ज्ञान, अनुभव और रुचि केवल लौकिक क्षेत्र तक ही सीमित होती हैं। वे लौकिक–शिक्षा की प्राप्ति के लिए ही जोर देते हैं और उसके लिए अपना तन, मन एवं धन न्यौछावर कर देते हैं। उनके पास आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यपरक उद्देश्यों का ही अभाव होता है। जैन–परम्परा में प्रसिद्ध श्रीपालचरित्र में यह वर्णन मिलता है कि प्रजापाल राजा द्वारा शिक्षा की लौकिक उपयोगिता जानकर अपनी कन्या सुरसुन्दरी को विद्यार्जन हेतु पण्डित शिवभूति के पास भेजा, किन्तु लोकोत्तर शिक्षार्जन न करने के कारण उसे कई कठिनाइयों से गुजरना पड़ा।[58]

इस प्रकार, हम पाते हैं कि अधिकांश अभिभावकों के समक्ष बालकों के लिए सम्यक् और समग्र शिक्षा के दृष्टिकोण का अत्यधिक अभाव है।

3.5.3 शिक्षकों की कर्त्तव्यविमुखता

आज विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, विद्यालयों और कोचिंग–क्लासेस की संख्या और आकार में जिस तेजी से अभिवृद्धि हो रही है, उसी तेजी से शिक्षकों की संख्या भी बढ़ रही है। इतना ही नहीं, शिक्षक बनने के लिए आवश्यक अर्हताओं का होना भी जरुरी कर दिया गया है। प्रतिस्पर्धात्मक परीक्षाओं और साक्षात्कार में सफल होने पर ही व्यक्ति को शिक्षक का दायित्व दिया जाता है, फिर भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आज शिक्षकों के सम्मुख शिक्षा के सही उद्देश्य का अभाव ही दृष्टिगोचर हो रहा है। यह निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट है –

(1) अर्थप्रधान दृष्टिकोण – प्रायः शिक्षकों का उद्देश्य भी अर्थपरक हो गया है, जिससे अध्यापन के लिए आवश्यक स्वतःस्फुरित अभिरुचि में कमी आ गई है। उनकी रुचि अपनी प्रायवेट ट्यूशंस या कोचिंग क्लास में अधिक रहती है, क्योंकि उनमें उन्हें अतिरिक्त आय प्राप्त होती है।

प्राचीनकाल में गुरु की सर्वोपरिता को '**गुरुः साक्षात् परब्रह्म**' कहकर स्वीकार किया गया, लेकिन आज शिक्षकों की अर्थलोलुपता के परिणामस्वरूप शिक्षकों की प्रतिष्ठा और सम्मान धूमिल हो रहे हैं। आज विद्यार्थियों और अभिभावकों को शिक्षकों के प्रति न श्रद्धा है और न भक्ति। वे वेतनभोगी भृत्य ही मान लिए गए हैं। यह अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आज के ये अर्थ–लोलुपी शिक्षक वास्तव में गुरू–शिष्य के पवित्र और आत्मीय सम्बन्धों को भ्रष्ट और नष्ट करने में लगे हैं।

(2) पदोन्नति – प्रायः शिक्षकों का दूसरा प्रमुख उद्देश्य बन चुका है – पदोन्नति। इस हेतु शिक्षकों में प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता चलती रहती है, जिससे उनमें ईर्ष्या, संक्लेश, निन्दा, निराशा, कुण्ठा आदि बुराइयाँ बढ़ती जाती हैं। वे अपनी पदोन्नति के लिए कई बार अनैतिक और भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं और लम्बे समय तक राजनीतिक दाँवपेंच भी करते रहते हैं। इसका दुष्परिणाम यह है कि वे अपने पद के साथ न्याय नहीं कर पाते और छात्रों को सही शिक्षा एवं उसके साथ नैतिक–आध्यात्मिक मार्गदर्शन भी नहीं दे पाते।

(3) आरामपसन्दगी – कई लोग इसलिए भी शिक्षक बन जाते हैं, क्योंकि उन्हें आरामपरक जीवन पसन्द होता है। उनका दृष्टिकोण यह होता है कि एक बार स्कूल/कॉलेज में नौकरी लग जाए, तो प्रतिदिन दो–चार घण्टे ही काम करना पड़ेगा। उनकी दृष्टि में अध्यापक की जिन्दगी ऐसी है, जिसमें बिना पूंजी के अल्प–समय का निवेश करके अधिक आय और सम्मान मिल जाता है।

सदा से ही शिक्षक का व्यक्तित्व शिक्षार्थी को शिक्षा के लिए सजग करता आया है, लेकिन आज शिक्षक की आरामपसन्दगी या भौतिक जीवनदृष्टि शिक्षार्थी को आलसी और लापरवाह बना रही है।

(4) अन्य घरेलु कार्यों की प्रधानता – कई शिक्षकों की प्रायः यह रोज की ही प्रक्रिया होती है कि वे निजी कार्यों को शिक्षालयों में पूर्ण करते हैं, इसीलिए कई स्कूलों में शिक्षिकाएँ स्वेटर बुनते हुए दिखती हैं, तो शिक्षक बिजली, टेलीफोन का बिल भरने या व्यक्तिगत कार्यों हेतु शिक्षालयों से नदारद पाए जाते हैं, इत्यादि।

(5) अवकाशों की प्रचुरता – कई शिक्षक सिर्फ अवकाशों की गणना करते रहते हैं। साथ ही सरकार द्वारा निर्धारित आकस्मिक अवकाशों, मेडीकल अवकाशों आदि का पूरा उपयोग लेते हैं। उनकी दृष्टि में शिक्षा–दिवसों के बजाय अवकाश–दिवसों का महत्त्व अधिक होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार, आज अध्यापकों की इस तुच्छ और स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण विद्यार्थियों का अमूल्य समय और धन नष्ट हो रहा है। यह आसानी से सोचा जा सकता है कि यदि कोई अध्यापक 50 छात्रों वाली कक्षा में प्रतिदिन सिर्फ 5 मिनट भी प्रमाद करता है, तो 200 पिरीयड के वार्षिक सत्र में वह सब छात्रों के मिलाकर 50,000 मिनट नष्ट करता है।

3.5.4 समाज की विसंगतियाँ

प्रत्येक शिक्षार्थी को समाजसापेक्ष ही जीना होता है। एक ओर उसे समाज से सहयोग लेना होता है, तो दूसरी ओर समाज में सेवा देनी होती है। वस्तुतः, शिक्षार्थी और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। शिक्षार्थी का व्यक्तित्व समाज को प्रभावित करता है और समाज का व्यवहार शिक्षार्थी को। आज विडम्बना यह है कि समाज का व्यवहार शिक्षार्थी और शिक्षा के लिए व्यक्तित्व विकास का साधक बनने की अपेक्षा बाधक बन रहा है। इससे शिक्षार्थी को जो प्रेरणा और प्रोत्साहन अपेक्षित है, वह उसमें खरा नहीं उतर रहा है। समाज की मुख्य विसंगतियाँ निम्नलिखित हैं, जिनका सामना एक शिक्षार्थी को करना पड़ रहा है –

(1) समाज में व्याप्त असदाचार और अनैतिकता – समाज में प्रायः असदाचार और अनैतिकता का ही बोलबाला है। समाज में इन बुराइयों का आधिपत्य होने से सामान्य शिक्षार्थी अपनी नैतिकता और सुसंस्कारों को खो बैठता है और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का पतन हो जाता है।

(2) समाज में सांप्रदायिक विद्वेष – समाज में धर्म–संप्रदायों के माध्यम से नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श की सत्प्रेरणा प्राप्त हो सकती है, लेकिन समाज में ही कई अज्ञ और अन्धविश्वासी लोगों ने सांप्रदायिक कट्टरता और आडम्बरों से धर्म की छवि को बिगाड़ रखा है। इसी कारण से, शिक्षार्थी जब धर्म से जुड़ता है, तो कभी स्वयं सांप्रदायिक वैमनस्य और कट्टरता को स्वीकार कर लेता है और कभी धर्म को गलत मानकर धर्म से विमुख हो जाता है। दोनों ही स्थितियों में वह नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के अवसर को गँवा देता है। जैन–परम्परा में हमें सामाजिक सद्भावना का आदर्श रूप मिलता है। यहाँ आचार्यादि को वाचना लेने–देने हेतु अन्य गणों में जाने की स्वतन्त्रता दी गई है, जिसका विशेष वर्णन समवायांगसूत्र, छेदसूत्र आदि जैनग्रन्थों में मिलता है।[59]

(3) स्वावलम्बन व्यवस्था का अभाव – समाज में शिक्षित व्यक्तियों को स्वावलम्बी बनाने के लिए कोई ठोस व्यवस्था नहीं है। आज भी लाखों नवयुवक बेरोजगार घूम रहे हैं, जो अन्ततः निराशा, कुण्ठा, रोष अथवा आपराधिक मनोवृत्तियों से ग्रस्त हो जाते हैं। इनमें से कई लोग कालक्रम में समाज के लिए भारभूत हो जाते हैं।

(4) प्रोत्साहन और प्रेरणा का अभाव – समाज में शिक्षार्थी को प्रोत्साहन और प्रेरणा देने के लिए कोई सुदृढ़ व्यवस्था नहीं है। समाज के सदस्य सामान्यतया स्वहित की संकुचित भावनाओं से ग्रस्त रहते हैं। वह प्राचीन संस्कृति समाप्त हो गई, जिसमें शिक्षक और शिक्षार्थी के भोजन, वस्त्र आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को प्रदान करने की समस्त जवाबदारियाँ समाज की होती थी और वह इस दायित्व को प्रसन्नतापूर्वक पूरा करता था। वह प्रोत्साहित करने हेतु विविध कार्यक्रम एवं छात्रवृत्ति भी प्रदान करता रहता था। जैनकथानकों में कपिलकुमार की कथा प्रसिद्ध है, जब वे अध्ययन हेतु श्रावस्ती नगरी में गए, तब उनके आवास एवं भोजनादि की सम्पूर्ण व्यवस्था उसी नगर के शालिभद्र श्रेष्ठी ने की थी।[60]

3.5.5 प्रशासनिक अव्यवस्था एवं अप्रामाणिकता

शासन के अन्तर्गत न केवल सरकार, अपितु प्रशासन भी शामिल है। सरकार अपनी आय में से लगभग 3% धनव्यय शिक्षा–उत्थान के लिए करती है। सन् 2002 ई. में पारित संशोधन में 6–14 वर्ष के बालकों को शिक्षा प्राप्त करने का मौलिक अधिकार दिया गया है। शिक्षा को इतना महत्त्व मिला है कि शिक्षा–व्यवस्था के विकास के लिए एक स्वतन्त्र शिक्षा–मंत्रालय भी संचालित है।

इतना सब होने पर भी शासन में व्याप्त बुराइयाँ आज शिक्षाप्रणाली को प्रभावित कर रही हैं। ये कमियाँ या बुराइयाँ मुख्यतया निम्नलिखित हैं –

(1) भ्रष्टाचार और अराजकता – शासनतन्त्र इतना भ्रष्ट हो रहा है कि शासन के द्वारा शैक्षिक–विकास के लिए आवंटित या वितरित की गई राशि का अल्पांश ही सही अर्थों में प्रयोग हो पाता है। शेष राशि रिश्वत, धाँधली, घोटाले या गबन के रूप में सम्बन्धित नेता, अधिकारी या कर्मचारी ही खा जाते हैं।

इसका सीधा प्रभाव शिक्षा–व्यवस्था पर पड़ रहा है, जो दिनोंदिन महँगी होती जा रही है। इससे कई योग्य विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। इससे छात्रों में असन्तोष बढ़ रहा है और उनका व्यवहार भी आक्रामक होता जा रहा है।

(2) नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श का अभाव – आज शासनतन्त्र स्वयं ही शिक्षार्थी के समक्ष चारित्रिक आदर्श प्रस्तुत नहीं कर पा रहा है। ऐसे तन्त्र से उद्विग्न, असन्तुष्ट और रुष्ट शिक्षार्थी अनुशासनहीनता, उद्दण्डता और उच्छृंखलता के शिकार हो रहे हैं। छात्र–आन्दोलन और छात्र–हड़ताल शैक्षिक–विकास के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहा है, यह शासनतन्त्र की कमियों का परिणाम है।

(3) अशिक्षित नेता – यह भी एक विडम्बना है कि जहाँ देश में सर्वत्र सरकारी पद–प्राप्ति के लिए व्यक्ति का शिक्षित होना अनिवार्य है, वहीं सर्वाधिक गरिमामय पद को प्राप्त करने वाले मंत्री, सांसद, विधायक, पार्षद आदि के लिए शिक्षित होना अनिवार्य नहीं है। आज अधिकांश राजनीतिज्ञ अशिक्षित हैं और जो शिक्षित हैं, उनमें से भी अधिकतर अनैतिक साधनों का प्रयोग करके डिग्री प्राप्त किए हुए हैं। ऐसे नेता दूसरों को नैतिकता का पाठ कैसे सिखा पाएँगे, यह एक विचारणीय प्रश्न है। वस्तुतः, ये नेता अपने भ्रष्ट आचरण, अनैतिक–व्यवहार और अशिक्षा के कारण शिक्षार्थियों को सन्तुलित, समग्र और समन्वित विकास का सही मार्गदर्शन भी नहीं दे पाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3.5.6 शिक्षण–पद्धति की समस्याएँ

आज की शिक्षापद्धति को पूर्णतया दोषी नहीं ठहराया जा सकता, लेकिन इतना अवश्य है कि इसमें कुछ ऐसी मूलभूत कमियाँ हैं, जिनसे इंकार भी नहीं किया जा सकता।[61] ये कमियाँ व्यक्तित्व के समग्र विकास के लिए बाधक हैं, अतः इन विसंगतियों से अपने जीवन को बचाने की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति की है और यह शिक्षा–प्रबन्धन का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। यहाँ प्रमुख विसंगतियों का वर्णन किया जा रहा है –

(1) असन्तुलित शिक्षा (Imbalanced Education) – सन्तुलित शिक्षा वह होती है, जिससे व्यक्तित्व के विविध आयामों का सन्तुलित विकास हो सके। शिक्षाविदों ने शिक्षा के विविध आयामों का अन्वेषण किया है। इसी आधार पर मेरी दृष्टि में, सम्यक् शिक्षा के निम्नलिखित आयाम हैं –

1) शारीरिक विकास (Physical Development)
2) संप्रेषणात्मक विकास (Communication Skills Development)
3) बौद्धिक विकास (Intellectual Development)
4) मानसिक विकास (Mental Development)
5) भावात्मक विकास (Emotional Development)
6) आध्यात्मिक विकास (Spiritual Development)

इन आयामों पर विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी, लेकिन यहाँ इतना ज्ञातव्य है कि वर्त्तमान शिक्षा–पद्धति में जहाँ शारीरिक, संप्रेषणात्मक और बौद्धिक आयामों का अत्यधिक विकास हुआ है, वहीं मानसिक, भावात्मक और आध्यात्मिक विकास का बहुत कम। यह अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि भावात्मक और आध्यात्मिक विकास की पहल तो नगण्य है।

इसका दुष्परिणाम भी आज सर्वत्र स्पष्ट है, क्योंकि आज व्यक्ति ने शिक्षा के बल पर अभूतपूर्व भौतिक विकास तो कर लिया हैं, लेकिन वह अपनी मनोवृत्तियों को नियंत्रित नहीं कर पा रहा है। उसका आत्मविश्वास टूट रहा है और आत्मनियन्त्रण छूट रहा है। उसके भीतर काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या, कपट, घृणा, कुण्ठा, उन्माद और आलस्य की प्रचुरता है। कहा जा सकता है कि मानव ने सब पर विजय प्राप्त कर ली है, लेकिन वह अपने मन को नहीं जीत पा रहा है। आत्मकल्याण अर्थात् परमसुख की प्राप्ति के लिए आवश्यक पात्रता भी आज नदारद है। मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? मैं क्यों दुःखी हूँ? मैं कैसे सुखी हो सकता हूँ? आदि प्रश्नों का सम्यक् समाधान ही आत्मबोध का उपाय है, लेकिन आज ऐसे व्यक्तित्व विरल हैं, जो आत्मस्वरूप के शोध में रुचिवन्त भी हैं। स्पष्ट है, यह सब असन्तुलित शिक्षा का ही दुष्परिणाम है।

(2) असमग्र शिक्षा – इसका आशय है – शिक्षा की अपूर्णता। वर्त्तमान शिक्षा–पद्धति की यह भी एक प्रमुख कमजोरी है। जीवन का लगभग एक–तिहाई हिस्सा विविध विषयों की शिक्षा–प्राप्ति में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यतीत होने पर भी सामान्य शिक्षार्थी किसी विषयविशेष में पारंगत नहीं हो पाता (Jack of all, master of none)। 'कला' और 'वाणिज्य' के स्नातक और परास्नातक स्तर तक शिक्षित हुए अधिकांश शिक्षार्थियों को अपने विषयों की सामान्य समझ भी नहीं आ पाती है।

कहा भी जाता है – Half knowledge is dangerous। आज ऐसे कई शिक्षित व्यक्ति हैं, जिनके पास डिग्री है, लेकिन प्रायोगिक ज्ञान नहीं। ऐसे व्यक्ति योग्य कार्य को योग्य शैली में निष्पादित भी नहीं कर पाते, अतः शिक्षा की उचित उपयोगिता का उनके जीवन में अभाव बना रहता है।

(3) असमन्वित शिक्षा – इसका अर्थ है – शिक्षा के विविध पक्षों में समन्वय का अभाव होना। वर्त्तमान शिक्षा–पद्धति के निम्नलिखित पक्षों में समन्वय की कमी है –

1) प्रायः सैद्धान्तिक शिक्षाओं की बहुलता है और प्रायोगिक शिक्षाओं की उपेक्षा है।
2) प्रायः सूचनात्मक ज्ञान (Informative Knowledge) से शिक्षार्थी के मस्तिष्क को भर दिया जाता है और मूल्यपरक ज्ञान (Ethical Knowledge) का मार्गदर्शन नहीं दिया जाता है।
3) प्रायः शारीरिक–परिश्रम कम होता है और बौद्धिक–व्यायाम अधिक कराया जाता है।
4) प्रायः श्रम (प्रवृत्ति) और विश्राम (निवृत्ति) की समन्वयात्मक शिक्षा नहीं दी जाती है।
5) प्रायः शिक्षक, शिक्षार्थी, अभिभावक, शासन और समाज में समन्वय और सहयोग का अभाव ही रहता है।
6) प्रायः कभी अवकाश अधिक होते हैं और कभी पढ़ाई, गृहकार्य, परीक्षा–भार आदि अधिक होते हैं। दोनों में समन्वय का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

(4) शिक्षक–केंद्रित शिक्षा – वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली में शिक्षा का केंद्रबिन्दु शिक्षक होता है, जबकि शिक्षार्थी होना चाहिए। इसका आशय यह नहीं है कि शिक्षक का आदर और सम्मान नहीं होना चाहिए, बल्कि यह है कि शिक्षक रूपी माली के द्वारा शिक्षार्थी का एक पौधे के समान सम्यक् पोषण होना चाहिए। आज के परिवेश में शिक्षक सिर्फ दो–चार घण्टे शिक्षार्थियों के साथ बिताता है और अक्सर उसको शिक्षार्थी का सामान्य परिचय भी मालूम नहीं होता।

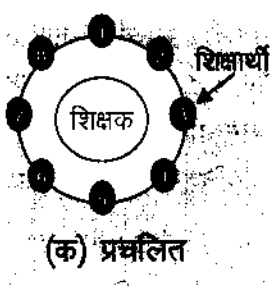

(क) प्रचलित

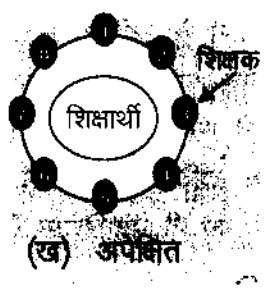

(ख) अपेक्षित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(5) शिक्षा का व्यावसायिकीकरण – आज शिक्षा सेवा या पारमार्थिक कार्य नहीं रहा, बल्कि एक व्यवसाय बन गया है। निजी क्षेत्र के शिक्षालयों के व्यवस्थापकों का एकमात्र लक्ष्य होता है – **'आर्थिक लाभ और ऊँची साख'**। इस हेतु ये होर्डिंग्स, पेम्पलेट्स, समाचारपत्र, टी.वी. आदि के माध्यम से विज्ञापन करते हैं, आकर्षक भवन, फर्नीचर्स, उपकरणों से शिक्षालयों को सुसज्जित करते हैं, अनैतिक तरीकों से पंजीयन, निरीक्षण, मूल्यांकन आदि कराते हैं और कई भौतिक आकर्षण, जैसे – स्वीमिंग, राइडिंग आदि सिखाने का लालच देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश शिक्षालयों में बाहरी दिखावा और भीतरी खोखलापन होता है।

ऐसे शिक्षा–संस्थानों में अध्ययनरत अयोग्य विद्यार्थियों को भी अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण कर दिया जाता है, क्योंकि इससे शिक्षा–संस्थानों की साख सुधरती है। आजकल अधिकांश निजी संस्थानों में खर्च बचाने के लिए शिक्षकों, भवन, भूमि, उपकरण, पुस्तकालय आदि से सम्बन्धित मानकों (Standards) का पालन सिर्फ कागज पर होता है, वास्तव में नहीं। यहाँ तक कि प्राचार्य, शिक्षकों और कर्मचारियों को निर्धारित मानक से कम वेतन दिया जाता है, जबकि कागज पर अधिक दिखाया जाता है। इन सभी विसंगतियों से शिक्षा, शिक्षार्थी एवं अध्यापकों की गुणवत्ता प्रभावित हो रही है।

(6) अर्थसाध्य शिक्षा – वर्त्तमान शिक्षा अत्यधिक महँगी होती जा रही है, जो मध्यमवर्गीय परिवार के बूते के बाहर है। उदाहरणस्वरूप – हैदराबाद के एक शिक्षण–संस्थान में इक्कीस माह के कोर्स के लिए ग्यारह लाख रूपए की फीस ली जाती है। इतना अर्थव्यय करने पर भी व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाना, यह एक सोचनीय विषय है।

इस अर्थसाध्य शिक्षाप्रणाली से आर्थिक असमानता बढ़ती जा रही है। धनाढ्य लोग अपने अल्प प्रतिभाशाली बालकों को ऊँचे–ऊँचे संस्थानों की महँगी शिक्षा दिलाकर बड़ी–बड़ी कम्पनियों में नौकरियाँ दिलाते हैं और इस प्रकार और अधिक धनाढ्य होते जाते हैं, जबकि निम्नवर्गीय लोग अपने उच्च प्रतिभाशाली बालकों को ऐसी शिक्षा नहीं दिला पाते और उनकी आर्थिक विपन्नता दिनोंदिन बढ़ती जाती है।

मध्यमवर्गीय परिवार के लिए भी शिक्षा रोटी, कपड़े और मकान सम्बन्धी खर्चों से अधिक महँगी हो गई है, जिसकी पूर्त्ति के लिए घर के मुखिया को अनैतिक तरीकों से पैसा कमाना पड़ रहा है, जबकि उनके बालक उच्च सुविधायुक्त महँगे शिक्षालयों में अध्ययन करके सुविधाभोगी होते जा रहे हैं। अनुकूलता में जीने की आदत बन जाने से प्रतिकूलताओं का सामना करने में उन्हें कठिनाई आती है। उल्टा, उनकी पार्टी, पिकनिक, क्लब, फिल्म्स, टी.वी., नृत्य, अभद्र पोशाक, मद्यपान आदि को देखकर अन्य बालकों पर इसका अनुचित प्रभाव पड़ रहा है।

(7) प्रारम्भिक जीवनपर्यन्त शिक्षा – शिक्षा को जीवन के प्रारम्भिक काल में की जाने वाली एक प्रक्रिया माना जाने लगा है, जबकि शिक्षा तो जीवनपर्यन्त चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है। इससे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन और शिक्षा का अभिन्न सम्बन्ध आहत हुआ है। एक उम्र के बीत जाने पर व्यक्ति यह मान लेता है कि उसे जो भी शिक्षा प्राप्त करनी थी, वह उसने कर ली है और अब उसको सिर्फ जीवन जीना है। अतः उसका शिक्षा के साथ नाता ही टूट जाता है। यही कारण है कि आज पीढ़ीगत अन्तर (Generation Gap) बढ़ते जा रहा है, जो पिता–पुत्र, सास–बहू, गुरु–शिष्य, अग्रज–अनुज, दादा–पोते जैसे संवेदनशील सम्बन्धों के मध्य मतभेद और मनभेद का कारण सिद्ध हो रहा है।

(8) शिक्षा का शहरीकरण – आज शिक्षण–संस्थान एकान्त स्थानों, वनों और प्राकृतिक स्थलों से दूर होते जा रहे हैं। सामान्यतया शिक्षासंस्थान शहरों के मध्य अथवा शहर के नजदीक किसी राजमार्ग पर होते हैं, जहाँ गाड़ियों और लोगों का निरन्तर आवागमन होने से वायु, ध्वनि आदि प्रदूषणों की समस्या बनी रहती है। इसका परिणाम यह है कि धीरे–धीरे हमारी संस्कृति ही नष्ट होती जा रही है। प्रकृति के बीच रहने, पलने और बड़े होने से शान्ति, सहिष्णुता, सहजता, सादगी, एकाग्रता आदि सद्गुणों का जन्म होता है, जबकि भोगपरक वातावरण में आतुरता, अशान्ति, असहिष्णुता आदि अवगुणों की अभिवृद्धि होती जा रही है। आज इसीलिए विद्यार्थी पाश्चात्य संस्कृति को तेजी से अपना रहा है।

(9) परीक्षा–प्रणाली – वर्त्तमान शिक्षा–व्यवस्था की परीक्षा–पद्धति भी पूर्णतया उपयुक्त नहीं है। परीक्षा शब्द 'परि' और 'ईक्षा' से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है 'चारों ओर से देखना या परखना'।[62] किन्तु वर्त्तमान परीक्षा–पद्धति व्यक्तित्व की समग्र जाँच करने में अक्षम है। शिक्षार्थी येन–केन–प्रकारेण गाइड, कुंजी, सम्भावित प्रश्नोत्तरी अथवा नकल का प्रयोग कर परीक्षा में सफल हो जाता है। वस्तुतः, इससे उसके व्यक्तित्व का ह्रास ही होता है।

(10) सदाचारिता और सद्व्यवहार की उपेक्षा – शिक्षार्थी जीवन में रहन–सहन, खान–पान, पहनावा, बोलना–सुनना आदि के विषय में नैतिक एवं मानवीय मर्यादाओं के दृढ़ परिपालन पर विशेष जोर नहीं दिया जाता, इसीलिए वर्त्तमान सन्दर्भ में शायर फिराक गोरखपुरी का यह कथन सटीक है –

सभी कुछ हो रहा है, इस तरक्की के जमाने में।
मगर क्या गजब है कि, आदमी इन्सां नहीं होता।

वर्त्तमान शिक्षा चाहे विद्यार्थी को डॉक्टर, इंजीनियर, वकील आदि सब कुछ बना रही है, किन्तु यह निश्चित है कि वह उसे इंसान नहीं बना पा रही।[63]

(11) अंग्रेजों का अनुवर्त्तन करने वाली शिक्षा – आज की शिक्षा–पद्धति लार्ड मेकाले (सन् 1835 ई.) के उस सपने को साकार कर रही है, जिसमें उसने अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा पर बल देते हुए कहा था कि "हम भारत में ऐसे व्यक्तियों का वर्ग बनाना चाहते हैं, जो रंग और रक्त में भले ही भारतीय हों, परन्तु खान–पान, रहन–सहन, आचार–विचार तथा बुद्धि में अंग्रेज हों।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(12) आरक्षण की असंगतता – आज की शिक्षा–पद्धति में जातीय आधार पर आरक्षण दिया जा रहा है, जिसके दूरगामी परिणाम जातीय वैमनस्य की अभिवृद्धि करेंगे। इसके बजाय आर्थिक विपन्नता को आरक्षण का आधार बनाया जाता, तो यह आर्थिक विषमता दूर करने के लिए ज्यादा उचित होता।

(13) सहशिक्षा और यौनशिक्षा की विसंगतियाँ – प्राच्य शिक्षासंस्थानों में जहाँ स्त्री–शिक्षा और पुरूष–शिक्षा की पृथक्–पृथक् व्यवस्था थी, वहीं आज सहशिक्षा (Co–education) की व्यवस्था है। इस पर भी, आजकल यौनशिक्षा की पहल की जा रही है। भले ही इन शिक्षाओं का उद्देश्य सकारात्मक हो, लेकिन व्यावहारिक–दृष्टि से, ये शिक्षाएँ व्यक्ति और समाज की अमर्यादित पाशविक वृत्तियों को उकसाने के लिए जिम्मेदार हैं। आज जब मर्यादा का स्तर इतना गिर चुका है कि शिक्षक और शिक्षार्थी के परस्पर पवित्र–सम्बन्ध पर भी आँच आ रही है, तब इस प्रकार की शिक्षाएँ आग को हवा देने जैसी है।

इस प्रकार, आज की शिक्षण–पद्धति में कई विसंगतियाँ विद्यमान हैं, जिनसे विद्यार्थी के व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पा रहा। चूँकि विद्यार्थी के बाह्य परिवेश के सभी घटक – अध्यापक, अभिभावक एवं समाज की कुछ न कुछ समस्याएँ हैं, अतः शिक्षार्थी को प्रबन्धन–प्रक्रिया अपनाने की नितान्त आवश्यकता है, जिससे वह शिक्षा रूपी जीवन–नींव की सम्यक् स्थापना कर सके।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3.6 जैनआचारमीमांसा के आधार पर शिक्षा–प्रबन्धन

शिक्षा के क्षेत्र में अनेकानेक समस्याएँ दिखाई दे रही हैं तथा इनके दुष्परिणाम भी सामने आ रहे हैं। ये समस्याएँ सिर्फ भारतीय ही नहीं, अपितु विश्वस्तर पर व्याप्त हो चुकी हैं। इनके बारे में कई शिक्षाविद् चिन्तन–मनन करते रहते हैं एवं समय–समय पर अपने सुझाव देते रहते हैं। अनेक विद्वानों का कहना है कि वर्त्तमान में प्रचलित शिक्षाप्रणाली ही गलत है, इसे बदलना चाहिए। वे शिक्षाप्रणाली में आमूलचूल परिवर्त्तन की बात कहते हैं, किन्तु जैन–अनेकान्तदृष्टि के अनुसार, आज की शिक्षाप्रणाली गलत नहीं, अपितु अपूर्ण व अपर्याप्त है। इस प्रणाली में जो असन्तुलन आ गया है, उसे सन्तुलित करने की आवश्यकता है। इस प्रकार अपूर्णता को दूर करने का प्रयत्न करना शिक्षा के सम्यक् प्रबन्धन की दिशा है।[64]

आगे, जैनआचारमीमांसा पर आधारित शिक्षा–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्षों की चर्चा की जा रही है –

3.6.1 शिक्षा का उद्देश्य (Object of Education)

शिक्षा–प्रबन्धन के लिए सर्वप्रथम यह निर्णय करना जरुरी है कि शिक्षा की आवश्यकता क्यों है? जब तक शिक्षा–प्राप्ति का सही लक्ष्य निर्धारित नहीं होगा, तब तक जीवन के सही विकास की दिशा भी नहीं मिलेगी एवं इस प्रकार 15–20 वर्ष या अधिक पढ़ने के बावजूद भी उसका कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। अतः सिर्फ युग के प्रवाह में बहकर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना कोई समझदारी या सकारात्मक सोच नहीं है। शिक्षा की आवश्यकता सम्बन्धी प्रश्न का सम्यक् निराकरण करके शिक्षा के उद्देश्य का सही निर्धारण करना चाहिए।

शिक्षा का लक्ष्य व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है। यद्यपि यह लक्ष्य ही शिक्षा–जगत् में सर्वमान्य है,[65] फिर भी सर्वांगीण विकास का मानदण्ड सबका अलग–अलग है। जिसका जैसा जीवन–दर्शन है, वैसी ही उसकी सर्वांगीण विकास की अवधारणा है और उसके अनुसार ही वह शिक्षा की प्राप्ति कर रहा है।[66] यही कारण है कि कोई रोजगार, कोई डिग्री और कोई विवाह आदि के लिए शिक्षा प्राप्त कर रहा है, जिसे हमने पूर्व प्रकरण में विस्तार से देखा है। इससे भी ऊपर उठकर देखें तो आज व्यक्ति भौतिकवादी जीवन–दर्शन से प्रभावित होकर केवल अर्थ एवं काम–भोग की ही शिक्षा प्राप्त कर रहा है और वह इस अर्थ एवं भोगमूलक शिक्षा को ही व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का आधार मान रहा है, जो एक भयावह भूल है।

जैन–विचारकों की दृष्टि में सच्ची शिक्षा वह है, जिससे अंतरंग एवं बहिरंग, दोनों प्रकार के जीवन का सन्तुलित विकास हो। दूसरे शब्दों में, शिक्षा ऐसी हो, जिसमें सभी मानवीय जीवन–मूल्यों का सम्यक् विकास हो।[67] वह जीवन के दुर्बल पक्षों का परिहार करे एवं सबल पक्षों का संवर्द्धन करे। धीरे–धीरे वह हमें आत्मतोष और आत्मशान्ति की ओर ले जाए। वह शिक्षा दुःखों से, राग–द्वेष से,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहंकार, आसक्ति एवं तृष्णा से, मोह से तथा अज्ञान से मुक्ति की उद्घोषिका बने। ऋषिभाषित में कहा गया है कि विद्या वही है, जो व्यक्ति को सभी दुःखों से मुक्त कर सके।[68] इस प्रकार जैन विचारकों का शिक्षा के प्रति एक समग्र, सन्तुलित एवं समन्वित दृष्टिकोण रहा है। इनके अनुसार, जो जीवन–निर्वाह के साथ–साथ जीवन–निर्माण में भी सहयोगी बने, वही सम्यक् शिक्षा है। शिक्षा–प्रबन्धन के लिए इसी शिक्षा को सर्वांगीण व्यक्तित्व–विकास की शिक्षा माननी चाहिए।

आचार्य तुलसीजी ने सम्यक् सर्वांगीण शिक्षा के द्वारा एक अच्छे नागरिक में निम्न योग्यताओं का होना आवश्यक बताया है[69] –

- ★ बौद्धिक एवं भावात्मक विकास का सन्तुलन।
- ★ विवेक एवं संवेग में सामंजस्य।
- ★ वैयक्तिकता एवं सामाजिकता में सामंजस्य।
- ★ नैतिक मूल्यों का विकास।
- ★ आत्मानुशासन की क्षमता का विकास।
- ★ मानवीय समस्या के प्रति संवेदनशीलता का विकास।

जीवन–प्रबन्धन का लक्ष्य परिस्थितिओं को पूर्णतः बदलना नहीं, अपितु प्राप्त परिस्थिति में उचित समाधान निकालना है। अतः शिक्षा–प्रबन्धन के लिए वर्त्तमान में प्रचलित शिक्षाप्रणाली में सुधार की अपेक्षा स्वीकार करते हुए भी हमें उपलब्ध शिक्षा–व्यवस्था में अपनी आवश्यकतानुसार स्वयं शिक्षा–साधनों को जुटाकर उचित शिक्षा–प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

3.6.2 सर्वांगीण शिक्षा के प्रकार

जैनाचार्यों ने जीवन के बहिरंग एवं अंतरंग विकास के लिए शिक्षा के क्रमशः दो विभाग किए हैं[70] –

(1) व्यावहारिक शिक्षा – व्यावहारिक शिक्षा वह है, जो व्यक्ति के जीवन–यापन से सम्बन्धित होती है और जीवन की शारीरिक, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक आवश्यकताओं की पूर्त्ति में सहायक होती है।

(2) आध्यात्मिक शिक्षा – आध्यात्मिक शिक्षा वह है, जो व्यक्ति के जीवन–निर्माण अर्थात् आध्यात्मिक–विकास से सम्बन्धित होती है और मानसिक शान्ति, स्थिरता, एकाग्रता, प्रसन्नता, आनन्द आदि की पूर्त्ति में सहायक होती है।

शिक्षा–प्रबन्धन के लिए हमें इन दोनों शिक्षाओं का जीवन में सम्यक् समन्वय करना होगा।

रायपसेणीसुत्त में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख है, जो इन शिक्षाओं को प्रदान करते थे[71] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1) कलाचार्य 2) शिल्पाचार्य 3) धर्माचार्य

कलाचार्य का कार्य जीवनोपयोगी कलाओं अर्थात् ज्ञान–विज्ञान और ललित कलाओं की शिक्षा देना था। भाषा, लिपि, गणित के साथ–साथ खगोल, भूगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, नृत्य आदि उनके मुख्य विषय थे। **शिल्पाचार्य** जीविकोपार्जन के लिए व्यावसायिक शिक्षा देते थे, जिसमें विविध प्रकार के शिल्पों का ज्ञान समाहित होता था। आध्यात्मिक शिक्षा की प्राप्ति के लिए जैन–परम्परा में **धर्माचार्य** की व्यवस्था थी। उनका कार्य व्यक्ति के चारित्रिक गुणों का विकास करना था। वे शील और सदाचार की शिक्षा देते थे।[72] वर्त्तमान परिवेश में भी विविध कला और शिल्प शिक्षा के लिए अनेक कॉलेज एवं कोचिंग इंस्टिट्यूट्स उपलब्ध हैं। धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति हेतु साधु–साध्वी, विद्वान्, पण्डित आदि उपलब्ध हैं, जिनका उपयोग कर व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है।

(1) व्यावहारिक शिक्षा (लौकिक शिक्षा)

जैन–परम्परा में जीवन–प्रबन्धक को आवश्यकतानुसार व्यावहारिक शिक्षा लेने का निर्देश दिया गया है। यद्यपि जैन विचारधारा आध्यात्मिक उन्नति को ही जीवन का मूल विकास मानती है, तथापि इसमें जीविकोपार्जन की योग्यता विकसित करने की व्यवस्था भी है। जैनधर्म के आदिप्रवर्त्तक ऋषभदेवजी ने स्वयं गृहस्थावस्था में लौकिक शिक्षा–पद्धति की स्थापना की थी। उन्होंने अपनी पुत्रियों को लिपि और गणित की शिक्षाएँ दी तथा पुरूषों के लिए बहत्तर एवं महिलाओं के लिए चौसठ कलाओं का अध्ययन भी प्रारम्भ किया था।

तालिका 01 – पुरूषों की बहत्तर कलाएँ[73]

1) लेखकला	13) अष्टापदकला	25) मधुसिक्थ
2) गणितकला	14) दकमृत्तिकाकला	26) आभरणविधि
3) रूपकला	15) अन्नविधिकला	27) तरुणीप्रतिकर्म
4) नाट्यकला	16) पानविधिकला	28) स्त्रीलक्षण
5) गीतकला	17) वस्त्रविधिकला	29) पुरूषलक्षण
6) वाद्यकला	18) सदनविधि	30) हयलक्षण
7) स्वरगतकला	19) आर्याविधि	31) गजलक्षण
8) पुष्करगतकला	20) प्रहेलिका	32) गोलक्षण
9) समतालकला	21) मागधिका	33) कुक्कुटलक्षण
10) द्यूतकला	22) गाथाकला	34) मेढलक्षण
11) जनवादकला	23) श्लोककला	35) चक्रलक्षण
12) आशुकविकला	24) गन्धयुतिकला	36) छत्रलक्षण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

37) दण्डलक्षण
38) असिलक्षण
39) मणिलक्षण
40) काकणीलक्षण
41) चर्मलक्षण
42) चंद्रचर्या
43) सूर्यचर्या
44) राहुचर्या
45) ग्रहचर्या
46) सौभाग्यकर
47) दौर्भाग्यकर
48) विद्यागत
49) मंत्रगत
50) रहस्यगत
51) सभास
52) चारकला
53) प्रतिचारकला
54) व्यूहकला
55) प्रतिव्यूहकला
56) स्कन्धावारमान
57) नगरमान
58) वास्तुमान
59) स्कन्धावारनिवेश
60) वस्तुनिवेश
61) नगरनिवेश
62) इष्वस्त्रकला
63) छरुप्रवादकला
64) अश्वशिक्षा
65) हस्तिशिक्षा
66) धनुर्वेद
67) हिरण्यपाकादि
68) युद्धकला
69) खेलकला
70) पत्र–कटकछेद्य कला
71) सजीव–निर्जीव
72) शकुनिरुत

तालिका 02 – स्त्रियों की चौसठ कलाएँ[74]

1) नृत्य
2) औचित्य
3) चित्र
4) वाजिंत्र
5) मंत्र
6) तन्त्र
7) ज्ञान
8) विज्ञान
9) दम्भ
10) जलस्तम्भ
11) गीतमान
12) तालमान
13) मेघवृष्टि
14) जलवृष्टि
15) आरामरोपण
16) आकारगोपन
17) धर्मविचार
18) शकुनविचार
19) क्रियाकल्प
20) संस्कृतजल्प
21) प्रासादनीति
22) धर्मनीति
23) वर्णिकावृद्धि
24) सुवर्णसिद्धि
25) सुरभितैलकरण
26) लीलासंचरण
27) हयगजपरीक्षण
28) पुरूष–स्त्रीलक्षण
29) हेमरत्नभेद
30) अष्टादालिपिपरिच्छेद
31) तत्कालबुद्धि
32) वास्तुसिद्धि
33) कामविक्रिया
34) वैद्यकक्रिया
35) कुम्भभ्रम
36) सारिश्रम
37) अंजनयोग
38) चूर्णयोग
39) हस्तलाघव
40) वचनपाटव
41) भोज्यविधि
42) वाणिज्यविधि
43) मुखमण्डन
44) शालिखण्डन
45) कथाकथन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

46) पुष्पग्रन्थन
47) वक्रोक्ति
48) काव्यशक्ति
49) स्फारविधिवेश
50) सर्वभाषा विशेष
51) अभिधान ज्ञान
52) भूषण–परिधान
53) भूत्योपचार
54) गृहोपचार
55) व्याकरण
56) परनिराकरण
57) रन्धन
58) केशबन्धन
59) वीणानाद
60) वितण्डावाद
61) अंकविचार
62) लोक–व्यवहार
63) अंत्याक्षरिका
64) प्रश्नप्रहेलिकादि

पण्डित हीरालाल जैन के अनुसार, 'जैनधर्म में गृहस्थधर्म की उन सभी प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है, जिनके द्वारा मनुष्य सभ्य एवं शिष्ट बनकर अपनी व अपने कुटुम्ब की तथा समाज एवं देश की सेवा करता हुआ उन्नत बन सके।'[75] जैनकथानक में भगवान् महावीर के बालजीवन का वर्णन मिलता है, जिसमें यह बताया गया है कि आठ वर्ष की उम्र होने पर उनके माता–पिता ने शिक्षा–प्राप्ति के लिए उन्हें एक अध्यापक के पास भेजा था।[76] अन्यत्र भी प्रसंग मिलता है कि राजा प्रजापाल ने अपनी पुत्री सुरसुन्दरी एवं मयणासुन्दरी को लौकिक एवं धार्मिक शिक्षा के लिए योग्य शिक्षकों के पास भेजा था, अस्तु।[77]

इसी तरह वर्त्तमान परिवेश में भी शिक्षा–प्रबन्धन के लिए 'लौकिक शिक्षा' का जीवन में समावेश करना अत्यावश्यक है, जिससे विद्यार्थी के व्यक्तित्व की योग्यताओं का उपयुक्त विकास हो सके। इस बात की पुष्टि उपर्युक्त जैन–उद्धरणों से भी होती है। आज जो गुणनिष्पन्न डॉक्टर, अभियन्ता, वकील, एम.बी.ए., सी.ए. आदि बन रहे हैं, यह उत्तम लौकिक शिक्षा का ही परिणाम है।[78] लौकिक शिक्षा से जीवन–व्यवहार में जो कुशलता एवं सामाजिकता दृष्टिगत होती है, उससे लौकिक शिक्षा का महत्त्व स्वयंसिद्ध हो जाता है। अतः शिक्षा के सम्यक् प्रबन्धन के अन्तर्गत उचित लौकिक शिक्षा प्राप्त करना एक अनिवार्य पहलू है, किन्तु आध्यात्मिक या व्यक्तित्व विकास की शिक्षा की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

(2) आध्यात्मिक शिक्षा (लोकोत्तर शिक्षा)

जीवन और अध्यात्म का गहरा सम्बन्ध है। जिस प्रकार रोटी, कपड़ा एवं मकान जीवन की बुनियादी आवश्यकता है, उसी प्रकार मानसिक शान्ति, प्रसन्नता आदि भी जीवन के अनिवार्य तत्त्व हैं। इनकी पूर्त्ति के लिए आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है।

जैनकथासाहित्य में आर्यरक्षितसूरि का प्रसंग दर्शाया गया है। वे गृहस्थावस्था में परदेश से विशेष अध्ययन करके अपने गृहनगर दशपुर लौटे, प्रजासहित राजा भी उनकी अगवानी करने आया और हाथी पर बिठाकर विशेष महोत्सवपूर्वक उन्हें घर तक पहुँचाया। उन्होंने आकर माताजी के चरणों में नमस्कार किया, किन्तु माता को हर्ष नहीं हुआ। जब पुत्र ने हर्षित न होने का कारण पूछा, तब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माता ने उत्तर दिया – "हे पुत्र! तुम जो विद्या लेकर आए हो, वह तो महत्त्वहीन है, यदि तुम मुझे खुश करना चाहते हो, तो आध्यात्मिक शिक्षा (दृष्टिवाद) का अध्ययन करो।"[79]

जैनसिद्धान्तसाहित्य में भी आध्यात्मिक शिक्षा की प्रेरणा सर्वत्र दी गई है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है – शिक्षा का प्रयोजन अज्ञान का नाश करके संक्लेशों (दुःखों) से मुक्त होना ही है।[80] दशवैकालिकसूत्र में भी आध्यात्मिक शिक्षा के चार प्रयोजन प्रतिपादित किए गए हैं[81] –

1) सम्यग्ज्ञान (श्रुतज्ञान) की प्राप्ति करना।
2) चित्त की एकाग्रता प्राप्त करना।
3) धर्म में स्थिर होना।
4) स्व–पर को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना।

अन्यत्र भी आध्यात्मिक शिक्षा के पाँच उद्देश्यों का निर्देश दिया गया है[82] –

1) अभिनव तत्त्वों की प्राप्ति।
2) श्रद्धा की पुष्टि।
3) आचार की शुद्धि।
4) दूसरों के मिथ्या दृष्टिकोण का परिहार।
5) यथार्थ भावों की अनुभूति।

अतः हमें शिक्षा के सम्यक् प्रबन्धन हेतु लौकिक–शिक्षा के साथ–साथ आध्यात्मिक–शिक्षा का समावेश भी करना चाहिए।

आध्यात्मिक शिक्षा का विशेष महत्त्व

जैनाचार्यों ने आध्यात्मिक शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व दिया है। यहाँ तक कि लौकिक शिक्षा की तुलना में भी आध्यात्मिक शिक्षा को श्रेयस्कर ही कहा है। उनके अनुसार, जीवन का मूल उद्देश्य आत्मा की चरम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करना है अर्थात् सत्य ज्ञान के द्वारा पूर्वकृत समस्त कर्मों का क्षय करना है। जैनाचार्य इसे ही मोक्षावस्था कहते हैं और उनकी दृष्टि में आध्यात्मिक शिक्षा के द्वारा ही इसकी प्राप्ति की जा सकती है।[83]

व्यावहारिक–जीवन की दृष्टि से भी जीवन–प्रबन्धक को आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि अमेरिका जैसे देश के व्यक्ति भौतिक सुख–सुविधा से सम्पन्न होकर भी तनाव एवं अवसाद से ग्रस्त हैं, तो इसका मूल कारण है – आध्यात्मिक शिक्षा की अत्यधिक कमी। हमें यह मानना होगा कि भले ही भौतिक सुख–सुविधाओं के द्वारा दैहिक कष्टों से छुटकारा मिल सकता है, किन्तु मानसिक उद्वेग एवं व्यथाओं से कदापि नहीं। मानसिक शान्ति एवं प्रसन्नता का सम्बन्ध अंतरंग व्यक्तित्व के निर्माण से है, जिसके लिए वासनाओं एवं कामनाओं पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है और जो केवल आध्यात्मिक शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है।

जीवन–प्रबन्धन के लिए आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता को अन्य प्रकार से भी जाना जा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकता है –

जीवन के तीन पक्ष होते हैं – सामाजिक, शारीरिक एवं मानसिक। सामान्यतया व्यक्ति समाज, परिवार एवं कुटुम्ब आदि के बीच रहता है, यह उसका **'सामाजिक पक्ष'** है। इसी प्रकार, शरीर, वाणी आदि के आधार पर जीवन जीना, यह उसका **'शारीरिक पक्ष'** है। इन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति सदैव प्रयत्न करता रहता है और इनके संरक्षण एवं विकास के लिए भी तत्पर रहता है। इनके लिए ही वह व्यावहारिक–शिक्षा प्राप्त करता है, परन्तु नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा से वंचित रह जाता है, जिसके दुष्प्रभाव भी व्यावहारिक जीवन में दिखते रहते हैं।

इसका कारण यह है कि वह भूल ही जाता है कि एक तीसरा पहलू **'मानसिक पक्ष'** है, जिसके साथ उसे जीना होता है। इस मानसिक पक्ष में अनेक इच्छाएँ, वासनाएँ, कामनाएँ, संवेग, आवेग आदि होते हैं, जो मन रूपी समुद्र में तरंगों के समान निरन्तर उछालें मारते रहते हैं। कभी–कभी तो वैचारिक तूफान भी उत्पन्न हो जाता है, जिससे न केवल अशान्ति पैदा होती है, अपितु अंतरंग व्यक्तित्व का पतन भी हो जाता है। इस मानसिक पक्ष की विकृत्तियों का प्रभाव कभी–कभी बाह्य व्यवहार में भी दिखाई देता है। पसीना आना, रोना–बिलखना, तीक्ष्णवाणी का प्रयोग होना, चेहरा उतर जाना, मनोदैहिक रोगों की उत्पत्ति होना आदि लक्षण दिखना एक आम बात है। जैनाचार्यों ने इन इच्छाओं आदि विपरीत मनोवृत्तियों का मूल कारण 'संज्ञाओं' को माना है, जिन्हें आधुनिक मनोविज्ञान में मूलप्रवृत्ति (Basic Instincts) कहा गया है।[84] यद्यपि ये संज्ञाएँ प्रत्यक्षतौर पर दिखाई नहीं देती, तथापि इच्छाओं आदि के रूप में अभिव्यक्त होती रहती हैं, जिनसे व्यक्ति दुःखी एवं सन्तप्त होता रहता है। अतः आध्यात्मिक शिक्षा नितान्त आवश्यक है, जो व्यक्ति के मानसिक पक्ष को परिष्कृत कर जीवन को आनन्द एवं प्रसन्नता से सराबोर कर दे।

जैनाचार्यों के अनुसार, ये संज्ञाएँ व्यक्ति के जीवन में हर समय विद्यमान रहती हैं। यद्यपि बचपन में मानसिक विकास की कमी होने से इनका प्रभाव नहीं दिखता, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि बचपन में इनका अस्तित्व नहीं होता है। इतना अवश्य है कि जैसे–जैसे शारीरिक विकास होता है, वैसे–वैसे ये प्रसुप्त संज्ञाएँ अभिव्यक्त होती जाती हैं। यह अवश्य है कि व्यक्ति इन्हें बाहर प्रकट नहीं करके कभी भीतर ही भीतर दबा देता है, तो कभी सन्तुष्ट भी कर देता है। जीवन–प्रबन्धन के लिए इन मनोवृत्तियों को समझना अत्यन्त जरुरी है, अन्यथा ये दीमक की भाँति व्यक्ति के व्यक्तित्व को खोखला कर देती हैं, जिससे उसका चित्त अस्थिर, असन्तुष्ट, अन्यमनस्क एवं असामंजस्यपूर्ण होता रहता है।

जैनाचार्यों ने इसके समाधान हेतु कहा है कि मनुष्य जीवन दुर्लभतम है।[85] इसका उपयोग सिर्फ खाने, पीने, सोने, भोगने, संग्रह आदि करने के बजाय मनोविकारों को समाप्त करने में करो, क्योंकि ये हमेशा दुःख देने वाले हैं। अतः शिक्षा–प्रबन्धन के अन्तर्गत आध्यात्मिक–शिक्षा की प्राप्ति करना अतिमहत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है, जिससे इन दुःखों से मुक्ति एवं परम सुख की प्राप्ति का मार्ग मिल सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा के विविध मूल्य – जैनाचार्यों की दृष्टि व्यापक है, उन्होंने लौकिक–शिक्षा के साथ आध्यात्मिक–शिक्षा का समन्वय करने का निर्देश दिया है, जिससे जीवन के सामाजिक, शारीरिक एवं मानसिक पहलुओं का सम्यक् विकास हो सके तथा जीवन निर्द्वंद्व एवं निराबाध बन सके। आचार्य महाप्रज्ञजी ने इसीलिए जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति को मूल्यपरक बनाने का निर्देश दिया है। उनके अनुसार, शिक्षा में निम्नलिखित सोलह मूल्यों का समावेश होना चाहिए[86] –

क्र.	सामान्य मूल्य	आचार्य महाप्रज्ञजी प्रणीत मूल्य	
1)	सामाजिक मूल्य	1) कर्त्तव्यनिष्ठा	2) स्वावलम्बन
2)	**बौद्धिक–आध्यात्मिक मूल्य**	**3) सत्य**	**4) समन्वय**
		5) संप्रदाय निरपेक्षता	**6) मानवीय एकता**
3)	मानसिक मूल्य	7) मानसिक सन्तुलन	8) धैर्य
4)	**नैतिक मूल्य**	**9) प्रामाणिकता**	**10) करुणा**
		11) सह–अस्तित्व	
5)	आध्यात्मिक मूल्य	12) अनासक्ति	13) सहिष्णुता
		14) मृदुता	15) अभय
		16) आत्मानुशासन	

3.6.3 शिक्षा के विविध आयाम

शिक्षा प्रत्येक विकास का आधार है, अतः शिक्षा सिर्फ शिक्षा के लिए नहीं होनी चाहिए, अपितु जीवन के सम्यक् परिमार्जन एवं विकास के लिए होनी चाहिए। महाविद्यालयों के प्रवेश द्वार पर लिखा हुआ यह वाक्य, 'Enter to learn and go out to serve', विद्यार्थी के नैतिक विकास के लक्ष्य का सूचक है। इसी तरह आर्य संस्कृति का मूल वाक्य, '**सा विद्या या विमुक्तये**', भी विद्या के विकासशील आध्यात्मिक प्रयोजन को इंगित करता है। जैनपरम्परा में भी कहा गया है, **'सा विज्जा दुक्खमोयणी'** अर्थात् जो दुःखों से मुक्त करे, वही शिक्षा है। उपर्युक्त सुभाषितों से स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक स्तर पर सभी अपना सर्वांगीण विकास चाहते हैं, लेकिन वर्त्तमान में प्रायोगिक स्तर पर उनकी शिक्षा एकपक्षीय ही रहती है, इससे विकास भी एकपक्षीय होता है और शिक्षा की सार्थकता भी पूर्ण नहीं हो पाती। शिक्षा सार्थक तभी हो सकती है, जब इसमें सर्वांगीणता हो। ज्ञान की विस्तृतता एवं गहनता के लिए जीवन–प्रबन्धक को शिक्षा के विविध आयामों को समझकर जीवन में प्रयोग करना चाहिए। ये आयाम इस प्रकार हैं –

(1) शारीरिक विकास (Bodily Development) – जीवनयात्रा में शरीर की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सामान्यतया स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का वास होता है, अतः बचपन से ही शरीर के प्रति विवेकपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। स्थानांगसूत्र में कहा गया है – **'पहला सुख निरोगी काया'**।[87]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु शरीर निरोगी तभी रह सकता है, जब उसके प्रति लापरवाही न हो। अतः शिक्षा के द्वारा जीवन–प्रबन्धक को ऐसी शैली अपनानी चाहिए, जिससे उसका उचित शारीरिक विकास हो सके। शारीरिक विकास के लिए जीवन–प्रबन्धक को स्वास्थ्य–चेतना को जाग्रत कराने वाली शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है, इससे वह शरीर रूपी तन्त्र को स्वस्थ रखकर सम्यक् दिशा में इसका प्रयोग कर सके। इस हेतु जैनआचारशास्त्र उचित दिग्दर्शन देते हैं। इसकी विस्तृत चर्चा पाँचवें अध्याय में की जाएगी।

(2) संप्रेषणात्मक विकास (Communication Skills Development) – वाणी व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण घटक है। मनुष्य का अधिकांश सामाजिक–व्यवहार वाणी के माध्यम से होता है, अतः वाणी–व्यवहार को संयमित करने सम्बन्धी शिक्षा भी जीवन–प्रबन्धक के लिए आवश्यक है। जैनआचारशास्त्रों में संप्रेषणात्मक विकास अर्थात् सम्यक् वाणी व्यवहार से सम्बन्धित अनेक निर्देश दिए गए हैं, जैसे – व्यक्ति को कैसे, कहाँ, कब एवं कितना बोलना चाहिए और बोलते समय किन शब्दों का प्रयोग करना चाहिए इत्यादि। इसकी विस्तृत चर्चा छठे अध्याय में की जाएगी।

(3) बौद्धिक विकास (Intellectual Development) – व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण घटक है – बुद्धि (मतिज्ञान)। यह व्यक्ति का ज्ञानात्मक पक्ष है। बौद्धिक विकास का तात्पर्य बुद्धिगत ज्ञान के विकास से है। अंतरंग एवं बहिरंग विषयों का ज्ञान प्राप्त करने हेतु विद्वानों अथवा पुस्तकों के द्वारा कथित ज्ञान को जानना, स्मरण करना एवं धारण करना बौद्धिक ज्ञान है। इसके सम्यक् विकास के लिए व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा के अनेक संस्थान (Institutes), पुस्तकें एवं शिक्षकादि उपलब्ध हैं, जिनका सहयोग लिया जा सकता है।

(4) मानसिक विकास (Mental Development) – व्यक्तित्व–निर्माण का एक अनिवार्य घटक है – मानसिक विकास। बौद्धिक ज्ञान अपने आप में तब तक अपर्याप्त होता है, जब तक कि उस पर उचित चिन्तन–मनन एवं निर्णय नहीं किया जाता है। जैन शिक्षा–पद्धति में 'अनुप्रेक्षा' को शिक्षा का एक अंग बताया गया है, जिसका अर्थ ही है – किसी विषय का बारम्बार चिन्तन करना।[88] अतः अनुप्रेक्षा के द्वारा मानसिक विकास किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैन कर्मशास्त्र, मार्गणा–सिद्धान्त, न्याय–सिद्धान्त आदि का अध्ययन भी मानसिक विकास के लिए उपयोगी हैं। मानसिक विकास को ही आधुनिक मनोविज्ञान में Intellectual Quotient (I.Q.) Development कहा जाता है। वैज्ञानिकों, विचारकों आदि में मानसिक विकास की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है।

मानसिक विकास का व्यापक अभिप्राय मन की योग्यताओं के सकारात्मक विकास से है, जिससे मनोबल, एकाग्रता, सहजता, संकल्पशक्ति आदि का विकास हो, विपरीत परिस्थितियों में भी तनाव, अवसाद न हो, समय पर ज्ञान की जागृति हो इत्यादि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(5) भावात्मक विकास (Emotional Development) – जीवन–यात्रा में अनेक भावों का अनुभव होता है, जैसे – क्रोध, भय, घृणा, प्रेम आदि। इन्हें ही आधुनिक मनोविज्ञान में 'संवेग' कहा जाता है।[89] ये संवेग या भाव मूलतया व्यक्तित्व पर पड़ने वाले परिस्थिति के प्रभावों को सूचित करते हैं। जैनाचार्यों की दृष्टि में इनका उत्पत्ति स्थान 'आत्मा' है, जो व्यक्तित्व का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यद्यपि आत्मा एवं उसके भाव दिखाई नहीं देते, तथापि ये व्यक्ति के व्यवहार के शक्तिशाली प्रेरक होते हैं। व्यक्ति का बुरा एवं अच्छा आचरण इन्हीं भावों से संचालित होता है।

इन भावों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है[90] –

1) विधेयात्मक (Positive), जैसे – विश्वास, श्रद्धा, विनम्रता, क्षमा, सामंजस्य इत्यादि।
2) निषेधात्मक (Negative), जैसे – भय, घृणा, ईर्ष्या, हीनता, छिद्रान्वेषण, आग्रह इत्यादि।

भावात्मक विकास का तात्पर्य निषेधात्मक भावों के परिहार एवं विधेयात्मक भावों की अभिवृद्धि से है। जितना–जितना भावात्मक विकास होता है, उतना–उतना व्यक्ति के जीवन–व्यवहार में सन्तुलन, सामंजस्य तथा समन्वय बढ़ता जाता है।

आधुनिक–मनोविज्ञान में इसे Emotional Quotient (E.Q.) Development कहा जाता है। ऐसा समझा जाता रहा है कि व्यक्ति की सफलता एवं उपलब्धियाँ I.Q. पर आधारित होती हैं, किन्तु आधुनिक शोधकर्त्ता गोलमैन (Goleman, 1996) ने यह सिद्ध किया कि व्यक्ति को जो भी सफलताएँ प्राप्त होती हैं, उसका मात्र 20% I.Q. के कारण होता है और 80% E.Q. के कारण।[91] जैन–शिक्षा–पद्धति की यह विशेषता है कि इसमें हमेशा E.Q. के विकास हेतु क्षमा, मृदुता, सरलता, सन्तोष आदि सद्गुणों को अपनाने की प्रेरणा दी गई है। कहा भी गया है[92] –

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे।।

अर्थात् क्रोध को क्षमा, मान को मृदुता, माया को सरलता और लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिए।

जैनाचार्यों ने भावात्मक विकास के लिए बारम्बार अप्रशस्त (निषेधात्मक) भावों से प्रशस्त (विधेयात्मक) भावों की ओर बढ़ने का निर्देश दिया है और इसके लिए स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा, प्रतिक्रमण, सामायिक आदि प्रयोगों का विधान किया है।

(6) आध्यात्मिक विकास (Spiritual Development) – भावात्मक विकास का सम्बन्ध बुरे आचरण से अच्छे आचरण, बुरे विचार से अच्छे विचार, अशुभ भावों से शुभ भावों में प्रवेश से है, जबकि आध्यात्मिक विकास का सम्बन्ध, प्रवृत्ति से निवृत्ति, विचार से निर्विचार एवं विभाव से स्वभाव की ओर गमन करने से है। अतः आध्यात्मिक विकास मूलतः भावात्मक विकास का उत्तरोत्तर सोपान है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसे आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में Spiritual Quotient (S.Q.) Development कहा जाता है।

आध्यात्मिक विकास का अर्थ आत्मा के विकास से है। जैनदर्शन आत्मवादी दर्शन है, जो आत्मपूर्णता को ही जीवन की सर्वोच्च अवस्था मानता है। इस आत्मपूर्णता की दिशा में किए जाने वाले विकास को ही आध्यात्मिक विकास मानना चाहिए। जैन–शिक्षा–पद्धति में जीवन के निम्न उद्देश्य बताए गए हैं, जो आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक हैं[93] –

★ शिक्षा का प्रथम प्रयोजन है – सम्यग्दर्शन (Right Belief) की प्राप्ति करना। जैनदर्शन के अनुसार, व्यक्ति की जीवन–दृष्टि सम्यक् हुए बिना उसका आध्यात्मिक विकास भी सम्भव नहीं होता, अतः शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन व्यक्ति की जीवन जीने की दृष्टि को सम्यक् बनाना है।

★ शिक्षा का द्वितीय प्रयोजन है – भूलों को सुधारने के लिए आत्म–सजगता की वृद्धि करना।

★ शिक्षा का तृतीय प्रयोजन है – अपनी आत्मशक्तियों को वासनाओं के पोषण से हटाकर संयम के क्षेत्र में नियोजित करना।

★ शिक्षा का चरम और अन्तिम प्रयोजन है – व्यक्ति की ज्ञानात्मक एवं विवेकात्मक शक्तियों का विकास करना। जिससे वह हेय–ज्ञेय–उपादेय का भेदकर अपने जीवन–व्यवहार को समीचीन बनाता हुआ आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति कर सके।

जीवन–प्रबन्धन के क्षेत्र में आध्यात्मिक विकास का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इस विकास से ही सभी प्रकार की प्राप्त परिस्थितियों में समता, समाधि एवं आनन्द के साथ जीने की कला आत्मा में प्रकट होती है। यही कला व्यक्ति को पराश्रित से स्वाश्रित (आत्माश्रित) बनाती है। इससे ही राग–द्वेष, मोह, अज्ञान एवं आसक्ति कम होती है तथा ज्ञाता–दृष्टा रूप साक्षी भाव विकसित होता है। सभी संक्लेश, उद्वेग, कष्ट, संवेग का पूर्ण क्षय करने का मार्ग भी यही है, अतः शिक्षा के इस अन्तिम आयाम तक पहुँचना प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक का लक्ष्य होना चाहिए।

जैनाचार्यों ने आत्म–विशुद्धि के सिद्धान्तों का प्रतिपादन आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य से ही किया है। उनका मूल वाक्य है – **ज्ञानस्य फलम् विरतिः**[94] अर्थात् शिक्षा वही सार्थक है, जो वासनाओं एवं कामनाओं से विरक्ति दिलाकर चारित्रिक एवं नैतिक प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करे। आध्यात्मिक विकास के सम्बन्ध में विशेष चर्चा अध्याय तेरह में की जाएगी।

इस प्रकार, यदि व्यक्ति उपर्युक्त षड्–आयामों को लक्ष्य में रखकर शिक्षार्जन करे, तो शिक्षा उसके सर्वांगीण विकास का आधार बन सकती है और वह क्रमशः शारीरिक, संप्रेषणात्मक, बौद्धिक, मानसिक एवं भावात्मक विकास की प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ अन्ततः आध्यात्मिक विकास की प्राप्ति कर सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1) शारीरिक विकास	1) स्वस्थता 2) स्फूर्त्ति 3) सौन्दर्य इत्यादि
2) [illegible]	1) [illegible] 2) [illegible] 3) [illegible] 4) [illegible]
3) बौद्धिक विकास	1) भाषायी ज्ञान, जैसे – हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत आदि 2) विश्व के ऐतिहासिक एवं आधुनिक तथ्यों का सामान्य ज्ञान (General Knowledge) 3) लौकिक शिक्षा – सी.ए., डॉक्टर, इंजीनियर आदि बनना 4) आध्यात्मिक शिक्षा – प्रथमानुयोग, गणितानुयोग, द्रव्यानुयोग, चरण–करणानुयोग का सामान्यज्ञान 5) स्मरण–शक्ति का विकास (Memory Power) 6) ग्राह्यक्षमता का विकास (Grasping Power) 7) लौकिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा का समयानुसार संशोधन एवं संवर्द्धन (Revision & Upgradation of Knowledge) इत्यादि
4) मानसिक विकास	1) बुद्धिमत्ता गुणांक (I.Q.) का विकास 2) मानसिक एकाग्रता का विकास 3) चिंतन–मनन–निर्णयन क्षमता का विकास 4) अकल्पित एवं अश्रुत विषयों को समझने की योग्यता का विकास 5) रचनात्मक एवं सृजनात्मक शक्तियों का विकास 6) बौद्धिक विकास की शिक्षाओं पर विशेषज्ञता की प्राप्ति 7) दूरदर्शिता 8) विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक शैली का विकास 9) मनोबल का विकास इत्यादि
5) भावात्मक विकास	1) भावनात्मक गुणांक (E.Q.) का विकास 2) व्यावहारिक जीवन जीने की कला का विकास 3) सामाजिक स्तर पर नैतिक–मूल्यों का विकास 4) दुःखद संवेगों पर नियन्त्रण करने की शक्ति का विकास 5) सदैव प्रसन्नचित्त रहने का अभ्यास 6) विधेयात्मक मनोभावों, जैसे – निर्भीकता, धैर्य, सहिष्णुता आदि का विकास 7) निषेधात्मक मनोभावों, जैसे – ईर्ष्या, संदेह, लोभ, माया, अहं आदि का ह्रास इत्यादि
6) आध्यात्मिक विकास	1) आध्यात्मिक गुणांक (S.Q.) का विकास 2) चारों अनुयोगों पर आधारित शिक्षाओं की भावात्मक अनुभूति का अभ्यास 3) आध्यात्मिक साधना में उन्नति 4) इच्छाओं का निरोध 5) साक्षीभाव में जीने का अभ्यास इत्यादि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3.6.4 सन्तुलित शिक्षा : एक आवश्यकता

शिक्षा के विविध आयाम ही जीवन–विकास के आधार हैं। इनमें से किसी भी आयाम की, चाहे वह शारीरिक हो या सूचनात्मक, बौद्धिक हो या मानसिक तथा भावात्मक हो या आध्यात्मिक, उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि किसी भी आयाम की उपेक्षा होती है, तो व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता।

वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली में यही कमी है कि इसमें व्यक्तित्व के सभी आयामों के सन्तुलित विकास पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है।[95] एक ओर शारीरिक, संप्रेषणात्मक एवं बौद्धिक आयामों का महत्त्व बढ़ रहा है, तो दूसरी ओर मानसिक, भावात्मक एवं आध्यात्मिक आयाम उपेक्षित हैं। इनमें भी शारीरिक विकास की प्रगति अपेक्षाकृत कम एवं बौद्धिक विकास की प्रगति अतितीव्र है। इसी प्रकार, मानसिक विकास की प्रगति बहुत कम तथा भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास तो नगण्य या विपरीत ही है।

जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह इस असन्तुलन को दूर करे। वह इस प्रकार से शिक्षा प्राप्त करे कि शिक्षा के सभी आयामों का सम्यक् एवं सन्तुलित विकास हो सके।

जैनकथानकों में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं, जिनमें शिक्षार्थी अनेक कष्टों को सहन करके भी शिक्षा प्राप्ति के लिए सुदूरवर्ती क्षेत्रों में गए। आर्य स्थूलिभद्रजी आगम–अध्ययन के लिए नेपाल गए, मुनिद्वय हंस एवं परमहंस बौद्धदर्शन के अध्ययन हेतु नालन्दा गए इत्यादि। इन प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सुविधाओं के अभाव में भी अथक परिश्रम के बल पर दुर्लभ शिक्षा–साधनों को जुटाया जा सकता है। ये प्रसंग जीवन–प्रबन्धक के लिए भी प्रेरक हैं।

भले ही आज के विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की शिक्षाप्रणाली में अन्तिम तीन आयाम उपेक्षित हैं, फिर भी जीवनोपयोगी शिक्षा के लिए प्रयत्न करके जीवन के अन्य पहलुओं से सम्बन्धित शिक्षा–व्यवस्था प्राप्त की जा सकती है। वस्तुतः, जीवन–प्रबन्धन हेतु एक सन्तुलित नीति अपनानी होगी। शारीरिक, संप्रेषणात्मक एवं बौद्धिक विकास के लिए व्यक्ति को लौकिक शिक्षालयों का लाभ उठाना होगा तथा मानसिक, भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए आध्यात्मिक एवं नैतिक संस्थानों का उपयोग करना होगा। फिर भी ऐसे संस्थानों की व्यवस्था मिलना आसान नहीं है, अतः उसे स्वयं ही जवाबदारी वहन करनी होगी। जैनशास्त्रों में दो प्रकार की शिक्षा–पद्धतियाँ वर्णित हैं – 1) निसर्गज एवं 2) अधिगमज।[96] निसर्गज स्वाश्रित शिक्षा–पद्धति है, तो अधिगमज परोपदेशपूर्वक प्राप्त की जाने वाली पराश्रित शिक्षा–पद्धति है। अतः जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि जब गुरुगम (सुदेव–सुगुरु–सुधर्म) प्राप्त हो, तो उनसे ज्ञानार्जन अवश्य करे, जब गुरु का समागम न हो सके, तो अन्य सक्षम जीवन–प्रबन्धकों की संगति करे, वे भी न मिलें, तो सत्शास्त्रों को आधार बनाए, कदाचित् वे भी उपलब्ध न हों, तो पूर्व में प्राप्त शिक्षा के आधार पर चिन्तन–मनन करके अपने जीवन विकास के लक्ष्य की पूर्त्ति करे। यही दृष्टि आध्यात्मिक साधक श्रीमद्राजचंद्र ने भी दर्शायी है।[97]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार, जैन–विचारकों की दृष्टि में शिक्षा के विविध आयामों का सन्तुलित विकास करना आवश्यक है, अतः प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक को सिर्फ बौद्धिक विकास अथवा शारीरिक विकास को ही महत्त्व देकर अन्य आयामों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, वरन् उपेक्षित रहे आध्यात्मिक एवं भावात्मकादि आयामों की ओर भी यथोचित ध्यान देना ही चाहिए।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3.7 शिक्षा–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष

पूर्व में शिक्षा–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक–पक्षों को समझने के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि एक सामान्य व्यक्ति के जीवन–व्यवहार में शिक्षा का प्रायोगिक स्वरूप क्या हो सकता है? इसका सम्यक् निराकरण जैनआचारमीमांसा के आधार पर किया जा रहा है।

3.7.1 शिक्षा की दो विधाएँ

शिक्षा का मूल अर्थ है – अभ्यासपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना। अभ्यास के बिना अध्ययन अधूरा होता है, अतः शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो सैद्धान्तिक के साथ–साथ व्यावहारिक भी हो अर्थात् प्रायोगिक भी हो।[98] जैनाचार्यों ने इसी दृष्टि को सामने रखकर शिक्षा के दो प्रकार बताए हैं[99] – 1 ग्रहणात्मक शिक्षा (Theoretical Education) एवं 2 आसेवनात्मक शिक्षा (Practical Education)। ग्रहणात्मक शिक्षा का सम्बन्ध शिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष से तथा आसेवनात्मक शिक्षा का सम्बन्ध जीवन–प्रयोगों से है। आशय यह है कि पहले ग्रहण करो (जानो) फिर उसका आसेवन (प्रयोग) करो, यही शिक्षा की पूरी प्रक्रिया है।

आज अभ्यासात्मक शिक्षा छूट गई है, ज्ञानात्मक शिक्षा बच गई है।[100] शिक्षा–प्रबन्धक के लिए यह आवश्यक है कि वह शारीरिक आदि षड्–आयामों से सम्बन्धित प्रत्येक शिक्षा को पहले सैद्धान्तिक तौर पर समझे और फिर उसका प्रयोग भी जीवन में अवश्य करे।

3.7.2 शिक्षा के अंग

शिक्षा का अर्थ सिर्फ सुन लेना या पढ़ लेना नहीं, अपितु सम्यक् प्रकार से विषय को धारण करना भी है। जैनाचार्यों ने इसीलिए शिक्षा (स्वाध्याय) के पाँच अंग प्रतिपादित किए हैं[101] –

1)	वाचना	किसी विषय का पठन अथवा श्रवण करना।
2)	पृच्छना	जिज्ञासा के समाधान के लिए प्रश्न पूछना।
3)	अनुप्रेक्षा	जाने हुए विषय का बारम्बार चिन्तन करना।
4)	परावर्त्तना	जाने हुए विषय का पुनरावर्त्तन (Revision) करना।
5)	धर्मकथा	जाने हुए विषय में दूसरों को सहभागी बनाना।

आज शिक्षा में वाचना, परावर्त्तना एवं धर्मकथा तो किसी हद तक हो रही है, किन्तु पृच्छना एवं अनुप्रेक्षा नदारद है। आशय यह है कि शिक्षा में शिक्षार्थी को शिक्षक से प्रश्न (जिज्ञासा) पूछना चाहिए और समाधान पाना चाहिए, इससे विषय की स्पष्टता हो सकती है, परन्तु आज ऐसा नहीं हो रहा है। इसी प्रकार, जाने हुए विषय का विशेष चिन्तन, मनन, निर्णय तथा अनुभूति होनी चाहिए, परन्तु आज शिक्षार्थी का समय विद्यालय, कोचिंग क्लास इत्यादि में ही पूरा हो जाता है और वह आवश्यक चिन्तन कर ही नहीं पाता। इससे वह विषय को हृदयगम्य नहीं कर पाता, जिससे शिक्षक का विषय शिक्षार्थी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का विषय नहीं बन पाता।

शिक्षा–प्रबन्धन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति एकाग्रचित्त एवं आग्रहरहित होकर वाचना ले (Listen attentively without bias), फिर जाने हुए विषय के अस्पष्ट पहलुओं का निराकरण करे, शान्तचित्त होकर जाने हुए विषय के अवचनीय पहलुओं (Unexpressable facts) को समझे, बारम्बार पुनरावर्त्तन कर उन्हें कण्ठस्थ करे तथा अन्यों से वार्तालाप के द्वारा ज्ञान को व्यापक बनाए।

यह स्वाध्याय–पद्धति शिक्षा–प्रबन्धन के क्षेत्र में जैनाचार्यों का अमूल्य अवदान है।

3.7.3 अनुप्रेक्षा से अनुभूति तक

जिस तरह से छाछ को मथकर मक्खन की प्राप्ति की जाती है, उसी प्रकार से जाने हुए विषय की अनुप्रेक्षा करके उसके सारभूत तत्त्वों की अनुभूति की जाती है और वह चिरकाल तक बनी रहती है। जैनाचार्यों ने इसीलिए अनुप्रेक्षा का विशेष महत्त्व बताया है। अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत चिन्तन, मनन, निर्णय, समझ का क्रमशः विकास किया जाता है और अन्ततः तत्त्वों की तलस्पर्शी अनुभूति तक पहुँचा जाता है। यह ज्ञान भावों की स्पर्शना करता है और मानसिक, भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास का माध्यम बनता है। जैनकथानकों में अनुप्रेक्षा से तत्त्वानुभूति तक पहुँचने के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं –

1) चिलातीपुत्र उपशम, विवेक एवं संवर – इन तीन शब्दों का अनुचिन्तन कर परमात्मा बने। 2) अतिमुक्तक मुनि ईर्यापथिक क्रिया (गमनागमन की आलोचना) की अनुप्रेक्षा करते–करते परमात्मा हुए। 3) शिवभूति (माषतुष) मुनि ज्ञान की अल्पता होने पर भी 'माषतुष' (मूल पद मारुस मातुस) पद का चिन्तन करते–करते परमात्मा बने इत्यादि।

अतः शिक्षा–प्रबन्धन के लिए अनुप्रेक्षा के महत्त्व को स्वीकारना होगा। वस्तुतः, सिर्फ बौद्धिक कसरत करके अच्छे अंक से परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु विषय की सच्ची समझ (Right Perception) विकसित करना भी जरुरी है। इससे ही मानसिक, भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास का द्वार उद्घाटित होगा।

3.7.4 यथार्थ बोध का क्रम

विषय की सच्ची अनुभूति के लिए शिक्षा (ज्ञान) प्राप्ति का उचित क्रम होना अत्यावश्यक है। शिक्षा–प्रबन्धन में इस क्रम का पालन करके ही शिक्षा को सार्थक बनाया जा सकता है। प्रश्न उठता है कि यह क्रम कैसा हो? जैनाचार्य हेमचंद्र ने सद्गृहस्थ को आठ प्रकार की बुद्धियों से युक्त होने का उपदेश दिया है। गृहस्थ यदि इन बुद्धियों से क्रमशः युक्त होकर शिक्षा अर्जन करे, तो वह विषय के मर्म को भलीभाँति समझ सकता है।[102]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1) शुश्रूषा (जिज्ञासा) विषय को जानने की अभिलाषा।

2) [illegible] [illegible]।

3) ग्रहण उपदिष्ट विषय के अर्थ को समझना।

4) [illegible] विषय को याद रखना।

5) विज्ञान ज्ञान को व्यवस्थित एवं सन्देहरहित करना।

6) [illegible] [illegible]

7) अपोह जाने हुए ज्ञान को निषेधात्मक युक्ति–तर्क आदि के द्वारा व्यापक बनाना, जैसे – किसी जीव की हिंसा करने से पाप लगता है, यह निर्णय करने के पश्चात् 'किसी जीव को दुःख देने से भी पाप लगता है', ऐसी युक्ति लगाना।

8) [illegible] [illegible]

शिक्षा–प्रबन्धक को चाहिए कि वह जिज्ञासा के साथ विषय का श्रवण करे तथा क्रमशः आगे बढ़ते हुए विषय से सम्बन्धित सही दृष्टिकोण बनाए। वस्तुतः, जब तक सही दृष्टिकोण नहीं बनता, तब तक सैद्धान्तिक शिक्षा को पूर्ण नहीं माना जा सकता। यह जैनाचार्यों का स्पष्ट निर्देश है तथा मानसिक, भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास की प्राप्ति का सही मार्ग भी। इस प्रकार, निर्णीत विषय का बारम्बार ध्यान करके अपने विधेयात्मक भावों की जागृति बनानी चाहिए, जिससे हर परिस्थिति में चित्त की समता एवं समाधि बनी रहे।

3.7.5 शब्द से भावार्थ तक

पुस्तक में पढ़े हुए अथवा कानों से सुने हुए शब्दों का सही अर्थबोध करना भी अत्यावश्यक है। यदि शब्द का प्रसंगानुरूप आशय समझ में न आए, तो न केवल शब्द निरर्थक हो जाता है, वरन् कभी–कभी अनर्थकारी भी हो जाता है, इसीलिए जैन–परम्परा में शब्द से अधिक महत्त्व अर्थ को दिया गया है। शब्द सिर्फ साधन है, साध्य नहीं, साध्य तो अर्थ ही है। शब्द तो केवल अर्थ को समझाने के लिए एक प्रतीक या संकेत के समान है, जिसके वाच्यता–सामर्थ्य की अपनी एक सीमा है। उदाहरणस्वरूप – गन्ना, आम, तरबूज, रसगुल्ला आदि पदार्थों की मिठास अलग–अलग होने के बावजूद भी इन सबको मीठा कहना पड़ता है, क्योंकि शब्द की अपनी सीमा है।[103] अतः शब्द से भी अधिक महत्त्व अर्थबोध का है।[104] यदि अर्थबोध सम्यक् होगा तो ही शिक्षा की सार्थकता होगी। प्रश्न उठता है कि व्यक्ति सम्यक् अर्थबोध कैसे करे?

सम्यक् अर्थबोध के लिए जैनाचार्यों ने पाँच प्रकार से वाक्य का अर्थ समझने की पद्धति प्रतिपादित की है, जो प्रत्येक शिक्षार्थी के लिए अनुकरणीय है[105] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1) शब्दार्थ कथन में प्रयुक्त शब्दों के आधार पर सामान्य अर्थ करना।

2) नयार्थ अलग-अलग दृष्टिकोणों के आधार पर एक ही कथन के भिन्न-भिन्न अर्थ करना, फिर प्रसंगानुसार सही अर्थ का चयन करना।

3) मतार्थ कथन के सन्दर्भ में विभिन्न-मत वालों की विचारधारा को समझकर सही अभिप्राय ग्रहण करना।

4) आगमार्थ सन्दर्भों (आगमों और अनुयोगों) के आधार पर कथन का अर्थ करना।

5) भावार्थ वाक्य के अभिप्राय अर्थात् सारभूत भावों को समझना।

उपर्युक्त पद्धति का प्रयोग जीवन की सभी शिक्षाओं (लौकिक एवं आध्यात्मिक) की प्राप्ति करते समय किया जाना चाहिए। इनका प्रयोग करके शिक्षार्थी शिक्षक के गूढ़ अभिप्राय की सम्यक् भावानुभूति कर सकता है। इससे मानसिक, भावात्मक एवं आध्यात्मिक आयामों में रही कमजोरियाँ दूर हो सकती हैं।

3.7.6 शिक्षा : जीवनभर चलने वाली सतत प्रक्रिया

सामान्यतया यह माना जाता है कि शिक्षा का सम्बन्ध जीवन के प्रारम्भिक काल में (किशोरावस्थापर्यन्त) अपनाई जाने वाली सीखने की प्रक्रियाओं से है, जो लगभग तीन वर्ष की उम्र से प्रारम्भ होकर लगभग पच्चीस वर्ष की उम्र तक चलती है। शिक्षा-प्रबन्धन के लिए यह मान्यता सही नहीं है। वस्तुतः, शिक्षा के लिए उम्र का कोई बन्धन नहीं होता, यह गर्भ-काल से प्रारम्भ होकर मृत्युपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। जैनाचार्यों के अनुसार, ज्ञान तो आत्मा का गुण है और इसीलिए जानने की क्रिया सतत चलती ही रहती है।[106] अतः शिक्षा-प्रबन्धन के लिए व्यक्ति को जीवन की किसी भी उम्र एवं प्रत्येक भूमिका में गुणग्राहिता का भाव रखते हुए जीवनोपयोगी तथ्यों को सीखना ही चाहिए।

जैनकथासाहित्य में अनेकानेक उदाहरण इस तथ्य के प्रमाण हैं, जैसे – कुमारपाल महाराजा ने पचास वर्ष की उम्र में संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया, वृद्धवादीसूरिजी ने वृद्धावस्था में विशेष साधना के बल पर ज्ञानार्जन किया और राजा के अहं का खण्डन किया इत्यादि।

3.7.7 शिक्षा-संस्कार की प्राचीन प्रक्रिया एवं वर्त्तमान में इसकी प्रासंगिकता

उपर्युक्त चर्चा सामान्य शिक्षा की दृष्टि से की गई है, किन्तु विशेष शिक्षा अर्थात् विधिवत् ली जाने वाली विद्यालयीन शिक्षा के बारे में जैनाचार्यों ने विशेष वर्णन किया है। आदिपुराण के अनुसार, पूर्व में पाँच वर्ष की उम्र से बालक की विधिवत् शिक्षा प्रारम्भ होती थी एवं इस हेतु निम्न चार प्रकार के संस्कार दिए जाते थे[107] –

1) **लिपि संस्कार** – पाँच वर्ष की आयु होने पर बालक का प्राथमिक अध्ययन प्रारम्भ हो जाता था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2) **उपनीत संस्कार** – आठवें वर्ष में बालक की उपनीति क्रिया होती थी। जैनकथानकों में भगवान् महावीर, महाबलकुमार, दृढ़प्रतिज्ञ आदि के शिक्षा–ग्रहण के समय उपनयन–उत्सव का वर्णन प्राप्त होता है। इस अवसर पर बालक को ज्ञानार्जन में बाधक प्रवृत्तियों, जैसे – ताम्बूल–सेवन, अंजन लगाना, उबटन लगाना, शृंगारपूर्वक स्नान करना, नाटकादि देखना, पलंग पर सोना आदि का त्याग करना होता था और इसी प्रकार से श्वेत और सादे वस्त्र धारण, शुद्ध अल्प जल से स्नान, अल्प–आहार, विद्या प्राप्ति के लिए श्रम, अल्पनिद्रा एवं ब्रह्मचर्य का पालन आदि प्रवृत्तियाँ करनी होती थी।

3) **व्रतचर्या संस्कार** – विद्या अध्ययन के समय कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का विवेक विकसित करने हेतु व्रतचर्या संस्कार के अन्तर्गत ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करना होता था।

4) **व्रतावतरण क्रिया या दीक्षान्त संस्कार** – अध्ययन कार्य के बारह अथवा सोलह वर्ष व्यतीत हो जाने पर व्रतावतरण क्रिया की जाती थी। इसके पश्चात् विद्यारम्भ के समय त्याग किए गए आभूषण, माला, वस्त्र आदि गुर्वाज्ञा से पुनः धारण कराए जाते थे, साथ ही स्थूल हिंसा आदि के त्याग रूप सदाचारमयी प्रवृत्तियाँ, जो पूर्व में अपनाई जाती थी, उनका पालन व्रतावतरण क्रिया के बाद में भी करना होता था।

वर्त्तमान में जैनपरम्परा एवं अन्य भारतीय परम्पराओं में यह शिक्षाप्रणाली लुप्त हो गई है, फिर भी शिक्षा के सम्यक् प्रबन्धन के लिए आंशिक परिवर्त्तन के साथ यह अनुकरणीय है। आज भी यदि व्रतों का पालन करते हुए सादगीपूर्ण तरीके से अध्ययन हो, तो बौद्धिक विकास के साथ–साथ भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास सहज ही हो सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक विशेषतः सर सिगमण्ड फ्रायड आदि के अनुसार, जीवन के प्रारम्भिक काल के संस्कार एवं व्यवहार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा जीवन–व्यवहार पर गहरा प्रभाव पड़ता है, अतः यदि शिक्षाकाल में बालक को उत्तम संस्कारों से सुसज्जित कर दिया जाए, तो विश्व में स्वस्थ व्यक्ति एवं स्वस्थ समाज की कल्पना साकार हो सकती है, इस प्रकार नई पीढ़ी का नवनिर्माण हो सकता है।

वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षार्थी को शिक्षार्जन के साथ–साथ निम्नलिखित कार्य करना चाहिए, जिससे उसके चरित्र की भी सम्यक् प्रकार से उन्नति हो सके –

1) हत्या, बलात्कार, दंगे आदि क्रूरतामय दृश्यों को प्रसारित करने वाले मनोरंजन के विविध साधनों, जैसे – टी.वी., चलचित्र आदि से नियमपूर्वक दूर रहना।
2) चरित्रहीन मित्रों से उचित दूरी रखना।
3) अश्लील अथवा फूहड़ पत्र–पत्रिकाओं का पठन नहीं करना।
4) समय एवं संस्कारों को नष्ट करने वाली प्रवृत्तियों, जैसे – घूमने–फिरने, सैर–सपाटे, होटलिंग करने आदि से दूर रहना।
5) तड़कीले–भड़कीले वस्त्रों की अपेक्षा संस्कृति के अनुरूप परिधान पहनना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6) मातृभक्ति, पितृभक्ति, गुरुभक्ति, धर्मभक्ति, देशभक्ति के कार्यों में उत्साहित रहना।
7) मानव ही नहीं, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम, करूणा, सहयोग की भावना रखना इत्यादि।

इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ उच्चचारित्र का निर्माण करने में विशेष सहयोगी हो सकती हैं।

शिक्षा का आरम्भ किस उम्र से करना चाहिए? यह भी विचारणीय है। आज तो दो–ढाई वर्ष की उम्र से ही बालक को विद्यालय भेजा जाता है, जो उचित प्रतीत नहीं होता। इससे बालक को अल्पवय में ही, जब उसका मस्तिष्क पूर्ण विकसित नहीं होता, विद्यालयीन शिक्षा का बोझ वहन करना पड़ता है। वह माता–पिता के द्वारा व्यक्तिगत ध्यान (Personal attention) देकर दिए जाने योग्य शिक्षण–प्रशिक्षण एवं प्रेम–स्नेह से भी वंचित रह जाता है। वह परिवार के आचार–विचार, रहन–सहन आदि से भी अपरिचित रह जाता है और उसकी परिवार के सदस्यों के साथ पूर्ण आत्मीयता भी नहीं बन पाती।

विद्यालय में सामूहिक शिक्षा व्यवस्था (Group Teaching System) होने से उसका प्रारम्भिक–विकास व्यक्तिगत ध्यान के अभाव में ढंग से नहीं हो पाता। वह बौद्धिक विकास में तो आगे बढ़ जाता है, लेकिन नैतिक एवं भावात्मक विकास में कमजोर रह जाता है। इस प्रकार, प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह देश, काल एवं परिस्थिति के अनुरूप अपने बालकों का अध्ययन आरम्भ करने की उम्र को विवेकपूर्वक सुनिश्चित करे।

इस प्रकार, शिक्षा–प्राप्ति को लेकर जैनाचार्यों द्वारा दिए निर्देशों में से कई बिन्दु जीवन–व्यवहार में अपनाए जा सकते हैं। इनसे व्यक्तित्व के सन्तुलित एवं सर्वांगीण विकास की प्राप्ति में उचित सहयोग मिल सकता है।

3.7.8 शिक्षा में अभिमान, सबसे बड़ी बाधा

आज विद्या से विनय की प्राप्ति दुर्लभ हो गई है, प्रायः हर शिक्षित व्यक्ति में अहंकार (Ego) की मात्रा बढ़ती जा रही है। इससे ही पति–पत्नी, पिता–पुत्र, माँ–बेटी आदि के पारिवारिक सम्बन्धों का विघटन हो रहा है। शिक्षा के सम्यक् प्रबन्धन के लिए यह एक चुनौती है।

जैनाचार्यों ने बहुत पहले ही आठ प्रकार के मदों (अभिमान) की व्याख्या की है – 1) ज्ञान, 2) तप, 3) कुल, 4) जाति, 5) रूप, 6) बल, 7) ऐश्वर्य एवं 8) लाभ।[108] इनमें से सबसे बड़ा मद है – ज्ञान का मद। किसी ने कहा है – सब मदों का निवारण ज्ञान के द्वारा हो सकता है, किन्तु यदि ज्ञान का ही मद हो जाए, तो उसका निवारण कौन कर सकता है? कोई नहीं।[109] वस्तुतः जो अभिमानी होता है, वह अज्ञानी ही होता है, उसे स्वयं को ज्ञानी मानने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए।

शिक्षा–प्रबन्धन में जैनाचार्यों के उपर्युक्त निर्देश का विशेष महत्त्व है। जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह योग्य शिक्षा तो प्राप्त करे, लेकिन उसका मद न करे। वह सदैव ध्यान रखे कि उसकी शिक्षा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का लक्ष्य चारित्रिक–निर्माण है, न कि पूजा, प्रतिष्ठा, सम्मानादि। यदि कोई आगे भी बढ़ता है, तो उससे ईर्ष्या न करे, न ही प्रतिद्वंद्विता रखे, बल्कि उसके प्रति प्रमोद–भाव (उल्लास–भाव) रखे। यदि कोई उससे पिछड़ जाता है तो उसे तुच्छ न माने, उसके साथ दुर्व्यव्यहार न करे, बल्कि उसे अपेक्षित सहयोग देने का प्रयत्न करे।[110] वह अपने आपको सामान्य अर्थात् सबके समान माने और मदरहित रहे।[111] इस प्रकार, मदरहित शिक्षा प्राप्त करने वाला जीवन–प्रबन्धक शिक्षा के क्षेत्र में लगातार प्रगति करता जाता है। साथ ही मदवश सबसे अलग–थलग (Reserve) भी नहीं रहता हुआ, सामाजिक चेतना का उचित विवेक विकसित कर लेता है। यह शिक्षा के सम्यक् प्रबन्धन के लिए अत्यावश्यक है।

3.7.9 विनीत एवं अविनीत शिक्षार्थी के लक्षण

शिक्षार्थी के लिए आवश्यक है कि ज्ञानदाता गुरुजनों के प्रति उसका व्यवहार विनयपूर्ण हो। यदि शिक्षार्जन के समय ही आवश्यक विनम्रता का अभाव रहेगा, तो शिक्षा के द्वारा एक सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास कैसे हो सकेगा? अतः जीवन–प्रबन्धक किसी भी उम्र, जाति या पद का क्यों न हो, उसका कर्त्तव्य है कि वह गुरुजनों के प्रति मन, वचन एवं काया से विनीत व्यवहार करे। उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र आदि में मुनि (शिष्य) को परिलक्षित करते हुए विनयोचित व्यवहार करने की शिक्षाएँ दी गई हैं। इनका प्रयोग शिक्षा–प्रबन्धन के अन्तर्गत सभी शिक्षार्थियों (गृहस्थ एवं साधु) को करना चाहिए, क्योंकि इन शिक्षाओं का सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन महत्त्व है।

किसी भी व्यक्ति के जीवन में अनेक शिक्षक हो सकते हैं, जैसे – आध्यात्मिक शिक्षागुरु, व्यावहारिक शिक्षागुरु, माता–पिता, कुटुम्ब के ज्येष्ठ, मित्र–परिजन आदि। संक्षेप में इन सभी को 'गुरु' शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है। एक जीवन–प्रबन्धक का अपने गुरु के प्रति कैसा व्यवहार हो और कैसा न हो, इसका निर्धारण निम्नलिखित उद्धरणों से किया जा सकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में **अविनीत शिष्य** को परिभाषित करते हुए कहा गया है[112] – जो गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता है, गुरु के सान्निध्य में नहीं रहता है, गुरु के प्रतिकूल आचरण करता है, अज्ञानी है (अतत्त्वज्ञ है), वह अविनीत कहलाता है। अविनीत शिक्षार्थी में चौदह प्रकार के दोष होते हैं[113] –

1) बारम्बार क्रोध करना
2) असम्बद्ध प्रलाप करना
3) क्रोध को लम्बे समय तक रखना
4) द्रोह करना
5) मित्रता को ठुकराना
6) अभिमान करना
7) ज्ञान का अहंकार करना
8) रस–लोलुप होना
9) भूल होने पर तिरस्कार करना
10) इंद्रियवश होना
11) मित्रों पर क्रोध करना
12) साथियों की सहायता न करना
13) प्रिय मित्रों की परोक्ष में शिकायत करना
14) दूसरों का अप्रिय करना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययनसूत्र में **विनीत शिष्य** के बारे में कहा गया है[114] – जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, गुरु के सान्निध्य में रहता है, गुरु के इंगित एवं आकार अर्थात् संकेत एवं मनोभावों को जानता है, वह विनीत होता है। विनीत शिक्षार्थी (शिष्य) के निम्नलिखित गुण होते हैं[115] –

1) नम्र होना
2) अचपल होना
3) छल–कपटरहित होना
4) अकौतुहली होना
5) निन्दा न करना
6) क्रोध को दीर्घकाल तक न रखना
7) मित्रों के प्रति कृतज्ञ होना
8) ज्ञान का अहंकार न करना
9) भूल होने पर तिरस्कार नहीं करना
10) मित्रों पर क्रोध न करना
11) वाक्कलह और हिंसादि नहीं करना
12) कुलीन होना
13) लज्जाशील होना
14) इंद्रिय–विषयों के प्रति अनासक्त होना
15) अप्रिय मित्र के लिए भी कल्याण–कामना करना

श्रीमद्राजचंद्र ने आत्मार्थी शिष्य की सद्गुरु के प्रति विनम्रता एवं कृतज्ञता का मार्मिक चित्रण करते हुए कहा है[116] –

अहो! अहो! श्री सद्गुरु, करुणा सिंधु अपार।
आ पामर पर प्रभु कर्यो, अहो अहो उपकार।।
शुं प्रभु चरण कने धरुं, आत्माथी सौ हीन।
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तु चरणाधीन।।
आ देहादि आजथी, वर्तो प्रभु आधीन।
दास, दास हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दीन।।

इस प्रकार, शिक्षा–प्रबन्धन के अन्तर्गत विनय का अर्थ व्यापक है, केवल तन को झुकाना ही विनय नहीं है, यह कार्य तो नृत्यांगना एवं नौकर भी कर लेते हैं।[117]

समवायांगसूत्र में गुरु के प्रति शिष्य की भूलों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है, इन्हें गुरु सम्बन्धी तैंतीस आशातना भी कहा जाता है।[118]जीवन–प्रबन्धक को इन दोषों से बचते हुए निम्नलिखित नियमों का पालन करना चाहिए –

1) गुरुजनों के ठीक आगे चलना, बैठना या खड़ा नहीं होना।
2) गुरुजनों के दोनों तरफ बराबरी से चलना, बैठना या खड़ा नहीं होना।
3) गुरुजनों के ठीक पीछे अकड़कर चलना, बैठना या खड़ा नहीं होना।
4) साथ में रहते हुए भी गुरु से पूर्व क्रिया नहीं करना।
5) गुरु के बुलाने पर भी अनसुना नहीं करना या 'क्या कह रहे हो?' इत्यादि अभद्र शब्दों का प्रयोग नहीं करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6) कुछ पूछे जाने पर न तो बैठे–बैठे सुनना और न ही बैठे–बैठे जवाब देना।
7) गुरु के प्रति 'तू' शब्द का प्रयोग नहीं करना।
8) आज्ञा को अस्वीकार करके उल्टा नहीं कहना कि 'आप ही कर लो'।
9) हितोपदेश देने पर ध्यान से सुनना, न कि टोकना।
10) गुरु के आसन से ऊँचे या समान आसन पर बैठना, खड़ा होना या सोना नहीं इत्यादि।

वर्त्तमान युग में भावात्मक विकास का तेजी से ह्रास होने से विनय, विवेक, धैर्य, सहिष्णुता आदि सद्गुण लुप्त होते जा रहे हैं। जैनाचार्यों ने इसे शिक्षा की सार्थकता के लिए सबसे बड़ी बाधा माना है। अतः शिक्षा–प्रबन्धन के लिए शिक्षार्थी को इन भूलों से बचना चाहिए और विनय, वैयावृत्य (सेवा) एवं सहिष्णुता के बल पर सम्यक् शिक्षा का उपार्जन करना चाहिए। यही जीवन–विकास का आधार है। कहा भी गया है **'धम्मस्स विणओ मूलं'** अर्थात् धर्म का मूल विनय है।[119]

3.7.10 शिक्षा–प्रबन्धन की कार्यविधि

सर्वप्रथम व्यक्ति को अपने जीवन–व्यवहारों के आधार पर अपनी शिक्षा का सम्यक् मूल्यांकन करना चाहिए, न कि डिग्री आदि के आधार पर। मूल्यांकन के अन्तर्गत उसे विचार करना चाहिए कि उसकी शिक्षा सम्पूर्ण है या अपूर्ण? अथवा सुव्यवस्थित है या अव्यवस्थित? इस प्रश्न का सम्यक् निर्णय करने के लिए उसे अपने जीवन–विकास के छह आयामों की सुव्यवस्थित समीक्षा करनी चाहिए। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि कौन–कौन से आयाम उपेक्षित हैं तथा किन–किन आयामों में अतिरेक है? जो आयाम उपेक्षित हैं, उनमें मूलतः व्यावहारिक शिक्षा की कमी कारणभूत है या आध्यात्मिक शिक्षा की? और इन कमियों में भी ग्रहणात्मक शिक्षा (सैद्धान्तिक शिक्षा) की कमी कारणभूत है या आसेवनात्मक शिक्षा (प्रायोगिक शिक्षा) की? इस प्रकार जीवन–प्रबन्धक को अपने व्यक्तित्व का समुचित निरीक्षण, परीक्षण एवं समीक्षण करना चाहिए।

यह सम्भव है कि स्वयं अपना सम्यक् मूल्यांकन न हो पाए, अतः अन्यों से उचित सुझाव भी लेना योग्य है। जैन–परम्परा में इसीलिए गुरु के समक्ष जाकर उनसे हितशिक्षाएँ लेने की पद्धति है। जैन श्रावक गुरु के समक्ष ही अपने दोषों की गर्हा (आत्मनिन्दा) भी करता है तथा अपने व्यवहार को सुधारने हेतु संकल्पित (प्रत्याख्यान से युक्त) भी होता है।

सर्वांग से समीक्षा करने के पश्चात् यदि व्यावहारिक शिक्षा में कमी महसूस हो, तो जीवन–प्रबन्धक को व्यावहारिक शिक्षासंस्थानों में जाकर इस कमी को दूर करना चाहिए। कारण, आज पूर्ववत् गुरुकुलों की व्यवस्था नहीं रही, यदि है भी, तो अत्यल्प है। यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि व्यावहारिक शिक्षा की प्राप्ति के साथ–साथ कुसंस्कारों की प्राप्ति न हो जाए। इस हेतु मुख्य जवाबदारी स्वयं शिक्षार्थी एवं उसके अभिभावकों की होनी चाहिए।

यदि मूल्यांकन के आधार पर आध्यात्मिक शिक्षा में कमी महसूस हो, तो जीवन–प्रबन्धक को आध्यात्मिक शिक्षा साधनों का उपयोग कर इस कमी को दूर करना चाहिए। यह सम्भव है कि वर्त्तमान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की सामाजिक एवं भौतिक संस्कृति के प्रभाव से अपने भावात्मक एवं आध्यात्मिक कमियों का सही आभास न हो सके, अतः व्यक्ति को विशेष रूप से अपने जीवन–व्यवहार के नैतिक पक्षों का पर्यालोचन करना चाहिए। उसे विश्लेषण करना चाहिए कि वह परिस्थिति के प्राप्त होने पर विचलित होता है अथवा शान्त रहता है, सहनशील रहता है अथवा असहनशील हो जाता है इत्यादि।

आधुनिक मनोविज्ञान में व्यक्ति के भाव, व्यक्तित्व एवं परिणाम का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। जीवन–प्रबन्धक अपने व्यक्तित्व–विश्लेषण के लिए इस तालिका का उपयोग कर सकता है।[120]

भाव	व्यक्तित्व (आचार/व्यवहार)	परिणाम
(अ) विधेयात्मक (Positive)		
अभय	आशावादी	समादर
सहिष्णुता	तनावमुक्त	आन्तरिक शान्ति
श्रद्धा	सहृदय	स्वस्थता
सामंजस्य	वीरतापूर्ण	विकास
(ब) निषेधात्मक (Negative)		
घृणा	दुर्बल	कुण्ठा
सन्देह	उद्दण्ड	लाचारी
माया	चिड़चिड़ा	दुःख
छिद्रान्वेषण	आलसी	रुग्णता
आग्रह	धोखेबाज	थकावट

उक्त तालिका के आधार पर यदि भावात्मक एवं आध्यात्मिक कमियाँ ज्ञात होती हैं, तो इसे चिन्तनीय विषय मानना चाहिए। कारण, जैनाचार्यों के अनुसार, व्यक्ति के संवेग (भाव) दो प्रकार के होते हैं – अगृहीत (जो पूर्वजन्मों से आते हैं) तथा गृहीत (जो इसी जन्म में उपार्जित किए जाते हैं)। ये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवेग अक्सर अतिगाढ़ होते हैं और प्रतिक्षण बढ़ते चले जाते हैं। यद्यपि ये अतिसूक्ष्म होते हैं, फिर भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को अस्त–व्यस्त कर देते हैं। इनसे न केवल आध्यात्मिक उन्नति बाधित होती है, अपितु शारीरिक, वाचिक, बौद्धिक एवं मानसिक पक्षों की भी अवनति होती है। आधुनिक चिकित्सा–विज्ञान के अनुसार, इनका दुष्प्रभाव शारीरिक स्नायुतन्त्र एवं मस्तिष्क पर भी पड़ता है।[121] अधिकांश शारीरिक व्याधियों (लगभग 75%) का मूलकारण भी ये संवेग ही होते हैं।[122] अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह इस विकराल समस्या के सम्यक् समाधान के लिए जागरूक रहे।

जैनाचार्यों के अनुसार, प्रत्येक मानव का एक सकारात्मक पक्ष है और वह है सुधार की योग्यता। यदि जीवन–प्रबन्धक का सम्यक् पुरूषार्थ जाग्रत हो जाए, तो वह अपने निषेधात्मक संवेगों को संक्षिप्त एवं समाप्त कर सकता है, वह सदा–सदा के लिए इनसे पूर्ण मुक्त भी हो सकता है।

अतएव जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास की रुचि उत्पन्न कर इस दिशा में उचित पुरूषार्थ करे। श्रीमद्राजचंद्र ने भी इसीलिए कहा है[123] –

काल दोष कलिथी थयो, नहीं मर्यादा धर्म।
तोय नहीं व्याकुलता, जुओ प्रभु मुज कर्म।।

आगे बढ़ने के मार्ग में वह योग्य सद्गुरु की तलाश करे, जिनके लक्षणों के बारे में जैनाचार्यों ने अनेक निर्देश दिए हैं,[124] साथ ही वह उनकी देशना एवं आज्ञा का मन–वचन–काया से पालन करे,[125] उनके उपदेशों का श्रवण करे तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट सत्शास्त्रों का अध्ययन करे। इस हेतु वह वाचनादि शिक्षा के पाँचों अंगों का उपयोग करे। साथ ही शब्दार्थादि पाँचों प्रकार से सद्गुरु के आशय को भलीभाँति समझे। इन सबके द्वारा वह राग–द्वेष, मोह एवं अज्ञान को जीतने वाले वीतरागी परमात्मा (सुदेव) को अपना परम आदर्श बनाए। इस प्रकार सुदेव, सुगुरु एवं सत्शास्त्र का आश्रय लेकर अपनी जीवन–दृष्टि को सुधारने के प्रयास में रत हो जाए।

जैन शिक्षा–पद्धति में साहित्य के चार विभाग किए गए हैं[126] – 1) धर्मकथानुयोग 2) गणितानुयोग 3) द्रव्यानुयोग 4) चरणकरणानुयोग। जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह इन चारों अनुयोगों का अनुशीलन करे। वह क्रोधादि भावों की अधिकता होने पर धर्मकथानुयोग, मन के जड़ होने पर गणितानुयोग, जीवन–सिद्धान्तों के प्रति शंका होने पर द्रव्यानुयोग तथा प्रमादग्रस्त होने पर चरणकरणानुयोग का आश्रय लेता हुआ आगे बढ़ता जाए। पुनः–पुनः षड् द्रव्य, नवतत्त्व, प्रमाण, नय, निक्षेप आदि जैन साहित्यिक–विषयों का अनुचिन्तन करे। इस आधार पर स्व और पर का भेद करे, ध्यान की विविध प्रक्रियाओं का प्रयोग करे। इस प्रकार, वह **ज्ञानाचार** का विशेष यत्न करता हुआ सिद्धान्तों का सम्यक् निर्णय करे।

अंतरंग में वैचारिक–शुद्धि के साथ–साथ बाह्य में आचरण–शुद्धि का प्रयत्न भी करता रहे एवं श्रावकाचार में वर्णित प्राथमिक आचारों (जैसे – सप्तव्यसन, बाईस अभक्ष्य आदि का त्याग) का पालन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करे और अपनी पात्रता विकसित करे।

इस प्रकार, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग एवं ध्यान के समन्वय से कषायों का शमन करता हुआ वह अपनी मान्यता अर्थात् दृष्टिकोण को सम्यक् करे। इस हेतु वह संसार के वास्तविक स्वरूप का अनुभूतिपूर्वक सम्यक् निर्णय करे। यह जैनआचारमीमांसा में निर्दिष्ट **दर्शनाचार** सम्बन्धी प्रयत्न है और भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास का आधार है।

सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दृष्टिकोण के आधार पर चारित्र–शुद्धि का विशेष प्रयत्न करे। इस प्रकार पूर्व में प्राप्त ग्रहणात्मक–शिक्षा को आधार बनाकर आसेवनात्मक–शिक्षा को मुख्यता दे। इसमें भी तप एवं वीर्य का विशेष प्रयोग करके सभी विकारों पर विजय प्राप्त करता जाए। यही **चारित्राचार, तपाचार** एवं **वीर्याचार** सम्बन्धी प्रयत्न है, जिनसे भावात्मक एवं आध्यात्मिक विकास सुदृढ़ होता चला जाता है।

इस प्रकार, जैनआचारशास्त्र में क्षमा, मृदुता, सरलता, सन्तोष, सहिष्णुता, निर्भयता आदि गुणों की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त शिक्षा–पद्धति निर्दिष्ट है। इस पर चलकर जीवन–प्रबन्धक बाह्य जीवन–व्यवहार को सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित करता हुआ आध्यात्मिक विकास की ऊँचाइयों पर पहुँच जाता है। मार्ग में आती हुई सभी बाधाओं को पार करता हुआ वह विकास के शिखर को छू लेता है। जैनाचार्यों ने शिक्षा का अन्तिम सार 'आचरण' बताया है। इस स्थिति तक पहुँचने के पूर्व जीवन–प्रबन्धक जितना–जितना मार्ग में आगे बढ़ता जाता है, उतनी–उतनी निषेधात्मक संवेगों की मन्दता होती चली जाती है और आनन्द तथा समरसता बढ़ती चली जाती है। संवेगों का पूर्ण अभाव होने पर पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है। लौकिक शिक्षाएँ एवं लौकिक आवश्यकताएँ अब निष्प्रयोजन हो जाती है, यही शिक्षा का आदर्श है। ऋषिभाषित में दुःखों से पूर्ण मुक्ति एवं स्थायी सुख की प्राप्ति को शिक्षा का मूल प्रयोजन बताया गया है, वह अब जीवन–प्रबन्धक के जीवन में फलीभूत हो जाता है।[127]

आतमगुण निर्मल निपजतां, ध्यानसमाधि स्वभावे।
पूर्णानंद सिद्धता साधी, देवचंद्र पद पावे रे।। [128]

=====◀●▶=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3.8 निष्कर्ष

मानवीय जीवन के प्रबन्धन का सर्वोत्तम साधन है – शिक्षा। यह मानव के विवेक को जाग्रत और समृद्ध कर उसे समस्त दुःखों से मुक्त करती है। शिक्षा के अभाव में विवेक नहीं होने से व्यक्ति की नकारात्मक–गत्यात्मकता (Negative Dynamicity) पर नियन्त्रण नहीं हो पाता। वस्तुतः, जीवन के बिना शिक्षा अस्तित्वविहीन होती है और शिक्षा के बिना जीवन व्यक्तित्वविहीन। शिक्षा का महत्त्व भूतकाल में था, वर्त्तमान में है और भविष्यकाल में भी रहेगा। प्राचीनकाल से ही श्रमण (जैन एवं बौद्ध) तथा वैदिक दोनों परम्पराओं में शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। मध्यकाल में विदेशी आक्रमणों और संस्कृति–परिवर्तनों के प्रयासों के बाद भी शिक्षा का महत्त्व बना रहा। आधुनिक युग में तो शिक्षा का महत्त्व कम होने के बजाय शीर्ष तक पहुँच गया। फिर भी, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि समय के प्रवाह में आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा का ह्रास हुआ तथा भौतिक और स्वार्थपरक शिक्षा की वृद्धि हुई। इससे वर्त्तमान युग में व्याप्त असन्तुलित शिक्षा का वातावरण सुस्पष्ट होता है। इसमें सुधार करना ही शिक्षा–प्रबन्धन का ध्येय है।

वर्त्तमान युग में लोकोत्तर–शिक्षा की उपेक्षा कर लौकिक–शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है। परिणामस्वरूप शिक्षा–संस्थानों की संख्या में तीव्र गति से वृद्धि हुई है, पाठ्यसामग्रियों की उपलब्धता आसान हुई है, स्त्री–शिक्षा, विकलांग–शिक्षा, पिछड़े वर्गों की शिक्षा, अध्यापक–शिक्षा आदि पर जोर दिया जा रहा है, शिक्षा के राष्ट्रीय, प्रान्तीय और जिलास्तरीय अभिकरणों (Agencies) की वृद्धि हो रही है इत्यादि। यह सत्य है कि शिक्षा का महत्त्व निरन्तर बढ़ रहा है, फिर भी, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि वर्त्तमान में शिक्षा के सही उद्देश्य का ही अभाव है और इसीलिए आज शिक्षा–प्रबन्धन की नितान्त आवश्यकता है।

वर्त्तमान युग में विद्यमान शिक्षाप्रणाली की अनेक विशेषताएँ हैं, जैसे – क्रमबद्ध शिक्षा की व्यवस्था, एकीकृत पाठ्यक्रम की व्यवस्था, शिक्षा–संस्थान एवं शिक्षा–पद्धति के चयन की सुविधा, विविध विषयों की शिक्षा–प्राप्ति की व्यवस्था, बहुमाध्यम (Multimedia) वाली शिक्षा की व्यवस्था इत्यादि। आधुनिक शिक्षाप्रणाली में जो सकारात्मक विशेषताएँ हैं, उनमें से अनेक तथ्य प्राचीन और विशेष रूप से जैन शिक्षाप्रणाली में आंशिक या पूर्ण रूप से दृष्टिगोचर होते हैं तथा शिक्षा–प्रबन्धन में इनकी प्रासंगिकता से इंकार भी नहीं किया जा सकता।

वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली में विशेषताओं के साथ–साथ अनेक कमियाँ भी हैं। शिक्षाप्रणाली का प्रत्येक घटक, जैसे – शिक्षार्थी, अभिभावक, शिक्षक, शासन, समाज, प्रशासन और शिक्षण–पद्धति इन कमियों के लिए उत्तरदायी है। दुष्परिणाम यह है कि अथक प्रयास करने के बाद भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पा रहा है और इसीलिए प्रबन्धन–प्रक्रिया अपनाने की नितान्त आवश्यकता है, जिससे व्यक्ति शिक्षा रूपी नींव को मजबूत बना सके।

जैनआचारमीमांसा के आधार पर शिक्षा–प्रबन्धन करने के लिए सर्वप्रथम यह मानना होगा कि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली गलत नहीं, अपितु अपूर्ण है। इस अपूर्णता को दूर करने के लिए शिक्षा का सम्यक् उद्देश्य बनाना आवश्यक है। जैनदृष्टि के आधार पर देखें, तो व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा का उचित सामंजस्य करते हुए सर्वांगीण–शिक्षा प्राप्त करना ही शिक्षा का सम्यक् उद्देश्य होना चाहिए। इस पर भी आध्यात्मिक–शिक्षा को लौकिक–शिक्षा की तुलना में श्रेयस्कर मानना उचित हैं, क्योंकि जीवन का मूल उद्देश्य चरम आत्म–विशुद्धि (मोक्ष) की प्राप्ति करना है। शिक्षा सार्थक तभी हो सकती है, जब इसमें सर्वांगीणता हो, अतः जीवन–प्रबन्धक को जीवन के विविध आयामों की समुचित शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है। ये आयाम हैं – शारीरिक–विकास, सम्प्रेषणात्मक–विकास, बौद्धिक–विकास, मानसिक–विकास, भावात्मक–विकास एवं आध्यात्मिक–विकास। इन षड्आयामों को लक्ष्य में रखकर शिक्षार्जन किया जाए, तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास सम्भव है।

शिक्षा–प्रबन्धन के सिद्धान्तों को जीवन–प्रयोग में लाने के लिए कतिपय विशेष बिन्दुओं को ध्यान में रखकर व्यक्ति को शिक्षार्जन करना चाहिए, जैसे – ग्रहणात्मक–शिक्षा (Theory) के साथ–साथ आसेवनात्मक–शिक्षा (Practical) का समन्वय करना, शिक्षा–प्राप्ति की प्रक्रिया में वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परावर्तना एवं धर्मकथा – इन पाँचों अंगों का समावेश करना, अनुप्रेक्षा के माध्यम से विषय की अनुभूति करना, शिक्षार्जन के समय शुश्रूषा (जिज्ञासा), श्रवण, ग्रहण, धारणा, विज्ञान, ऊह, अपोह एवं तत्त्वाभिनिवेश – इन आठ प्रकार की बुद्धियों से क्रमशः युक्त होकर ज्ञान प्राप्त करना, कथन का सम्यक् तात्पर्य समझने के लिए शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ – इन पाँचों का उपयोग करना इत्यादि।

इस प्रकार, जीवन में सम्यक् शिक्षा द्वारा दुःखों से मुक्त होकर स्थायी सुख की प्राप्ति सम्भव है और यही जैनआचारमीमांसा पर आधारित शिक्षा–प्रबन्धन की सार्थकता है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3.9 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ.क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	क्या आप शिक्षा के स्वरूप को जानते हैं?		1
2)	क्या आप जीवन में शिक्षा को महत्त्व देते हैं?		4
3)	क्या आप आधुनिक शिक्षाप्रणाली की विशेषताओं को जानते हैं?		16
4)	क्या आप आधुनिक शिक्षाप्रणाली की विसंगतियों को जानते हैं?		20
5)	क्या आपके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हुआ है?		36
6)	क्या आपने आध्यात्मिक–शिक्षा ग्रहण की है?		40
7)	क्या आपने शिक्षा के विविध आयामों का विकास किया है?		43
	विकल्प– नहीं→⑤ हाँ→⓪		
8)	क्या आप आजीविका के लिए शिक्षा ग्रहण करते हैं?		21
9)	क्या आप प्रलोभन के कारण शिक्षा ग्रहण करते हैं?		21
10)	क्या आप सामाजिक पहचान के लिए शिक्षा ग्रहण करते हैं?		22
11)	क्या आप अहंकार के पोषण के लिए शिक्षा ग्रहण करते हैं?		22
12)	क्या आप अनुकूल विवाह के लिए शिक्षा ग्रहण करते हैं?		23
13)	क्या आप विवाह सम्बन्ध में आसानी के लिए शिक्षा ग्रहण करते हैं?		23
14)	क्या आप स्वतन्त्रता के कारण शिक्षा ग्रहण करते हैं?		24
15)	क्या आप दूसरों के दबाव के कारण शिक्षा ग्रहण करते हैं?		24
16)	क्या आप नौकरी–पत्नी के लिए शिक्षा ग्रहण करते हैं?		24
17)	क्या आप आधुनिक बनने के शौक से शिक्षा ग्रहण करते हैं?		24
18)	क्या परिवार के नेतागिरक स्वप्नों को पूरा करने के लिए शिक्षा ग्रहण करते हैं?		25
	विकल्प– नहीं→⓪ हाँ→⑤		
19)	क्या आपकी शिक्षा सर्वांगीण है?		31
20)	क्या आपकी शिक्षा असमग्र है?		31
21)	क्या आपकी शिक्षा अनुभूतिपरक है?		42
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
22)	क्या आप व्यवहार, पुस्तक आदि द्वारा शिक्षा ग्रहण करते हैं?		50
23)	क्या आपकी शिक्षा अनुभूति तक पहुँचती है?		51
24)	क्या आप अभिवादनपूर्वक व्यवहार शिक्षा–ग्रहण करते हैं?		56
25)	क्या आप शिक्षकों का विनय करते हैं?		56

कुल	0–25	26–50	51–75	76–100	101–125
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
शिक्षा में प्रबन्धन का आवश्यक स्तर					

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 जैन एवं बौद्ध शिक्षादर्शन, डॉ.विजयकुमार, पृ. 1

2 मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते,
कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मी तनोति वितनोति च दिक्षुकीर्त्तिं,
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।।
सुभाषितरत्नभण्डार, वासुदेव शर्मा, 31/2/14
(वही, पृ. 1 से उद्धृत)

3 विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता।
सम्यगाराधिता विद्या देवता कामदायिनी।।
विद्याः कामदुहा धेनुर्विद्या चिन्तामणिर्नृणाम्।
त्रिवर्ग फलितां सूते विद्या सम्पत्–परम्पराम्।।
विद्या बन्धुश्च मित्रं च विद्या कल्याण कारकम्।
सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थ साधनी।।
– आदिपुराण, 16/99–101

4 विद्या तु वैदुष्यमुपार्जयन्ति जगर्त्ति लोकद्वयसाधनाय।। –
प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, अल्तेकर, पृ. 4
(जैन एवं बौद्ध शिक्षादर्शन, डॉ.विजयकुमार, पृ. 2 से उद्धृत)

5 इमा विज्जा महाविज्जा.....सा विज्जा दुक्ख मोयणी।।
– ऋषिभाषितसूत्र, 17/1–2

6 संस्कृतहिन्दीकोश, पृ. 1015

7 धातुपाठ, महर्षिपाणिनी

8 जैन एवं बौद्ध शिक्षादर्शन, डॉ.विजयकुमार, पृ. 2

9 तत्त्वार्थसूत्र, 5/29

10 व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर

11 जैन एवं बौद्ध शिक्षादर्शन, डॉ.विजयकुमार, पृ. 1

12 वही, पृ. 7

13 वही, पृ. 60

14 वही, पृ. 3

15 वही, पृ. 24–26

16 वही, पृ. 105

17 वही, पृ. 39

18 वही, पृ. 18

19 वही, पृ. 79

20 वही, पृ. 80

21 वही, पृ. 95–96

22 वही, पृ. 120

23 वही, पृ. 115

24 शिक्षा का विकास एवं समस्या, पी.नारंग, पृ. 8–9

25 वही, पृ. 12–15

26 वही, पृ. 15–17

27 वही, पृ. 23–24

28 वही, पृ. 35–36

29 वही, पृ. 37

30 वही, पृ. 38

31 वही, पृ. 39

32 वही, पृ. 40

33 आधुनिकभारतीय शिक्षाः समस्याएँ और समाधान, रवीन्द्र अग्निहोत्री, पृ. 23–24

34 भारत में शैक्षिक प्रणाली का विकास, ए.बी.भटनागर, पृ. 68

35 .....a class of persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions in morals & in intellect Macaulay. (आधुनिकभारतीय शिक्षाः समस्याएँ और समाधान, रवीन्द्र अग्निहोत्री, पृ. 25 से उद्धृत)

36 वही, पृ. 21–22

37 शिक्षा का विकास एवं समस्या, पी.नारंग, पृ. 69

38 आधुनिकभारतीय शिक्षाः समस्याएँ और समाधान, रवीन्द्र अग्निहोत्री, पृ. 27

39 (क) वही, पृ. 63
(ख) शिक्षा का विकास एवं समस्याएँ, पी.नारंग, पृ. 69–70

40 आधुनिकभारतीय शिक्षाः समस्याएँ और समाधान, रवीन्द्र अग्निहोत्री, पृ. 62

41 वही, पृ. 246–247

42 वही, पृ. 260

43 वही, पृ. 270

44 The teacher's place in society is of vital importance. He acts as the pivot for the transmission of intellectual traditions and technical skills from generation and helps to keep the lamp of civilization burning.
–Dr.S.Radhakrishanan (वही, पृ. 184 से उद्धृत)

45 वही, पृ. 200

46 वही, पृ. 210

47 वही, अध्याय 10

48 त्रीणिछेदसूत्राणि (दशाश्रुतस्कंध), छठी दशा, पृ. 40

49 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/437

50 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 6

51 जीवनकला, श्रीमद्राजचंद्र, पृ. 29

52 निशीथभाष्य, 5249

53 सागरजैन विद्याभारती, डॉ.सागरमलजैन, 1/163

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

54 उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययनसार, पृ. 124–125
55 जिनशासन के चमके हीरे, वरजीवनदास वाडीलाल शाह, 56, पृ. 131
56 वही, 38, पृ. 78
57 पुष्पपराग, मुनिजयानंदविजय, 1083
58 श्रीपालचरित्र, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 3
59 (क) समवायांगसूत्र, 12/78
(ख) त्रीणिछेदसूत्राणि (बृहत्कल्पसूत्र) 4/26–28
60 जिनशासन के चमके हीरे, वरजीवनदास वाडीलाल शाह, 6, पृ. 9
61 जीवनविज्ञानः शिक्षा का नया आयाम, आ. महाप्रज्ञ पृ. 3–4
62 आधुनिकभारतीय शिक्षाः समस्याएँ और समाधान, रवीन्द्र अग्निहोत्री, पृ. 134
63 जैन एवं बौद्ध शिक्षादर्शन, डॉ.विजयकुमार, पृ. 219
64 जीवनविज्ञानः स्वस्थ समाज–रचना का संकल्प, भूमिका, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 9
65 जीवनविज्ञानः मूल्यपरक शिक्षा का एक अभिनव प्रयोग, गणाधिपति तुलसी, पृ. 6
66 जीवनविज्ञान और मूल्यपरक शिक्षा (एम.ए.पुस्तक), पृ. 49
67 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 463
68 ऋषिभाषित, 17/1–2
69 जीवनविज्ञानः स्वस्थ समाज–रचना का संकल्प, भूमिका, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 6
70 जैन एवं बौद्ध शिक्षादर्शन, डॉ.विजयकुमार, पृ. 60
71 रायपसेनीयसुत्त, घासीलालजी म., सूत्र 956, पृ. 338–341
(डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 196 से उद्धृत)
72 वही, सूत्र 956 (वही, पृ. 196 से उद्धृत)
73 समवायांगसूत्र, 72/356
74 जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, 2, पृ. 136 (जैन एवं बौद्ध शिक्षादर्शन, डॉ.विजयकुमार, पृ. 76 से उद्धृत)
75 भारतीयसस्कृति में जैनधर्म का योगदान, डॉ. हीरालाल जैन, पृ. 284
76 कल्पसूत्र, आनन्दसागरसूरिजी, पाँचवीं वाँचना, पृ. 208–209
77 श्रीपालचरित्र, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 3
78 जीवनविज्ञान : शिक्षा का नया आयाम, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 4
79 कल्पसूत्र, आनन्दसागरसूरिजी, आठवीं वाँचना, पृ. 457
80 उत्तराध्ययनसूत्र, 29/25
81 दशवैकालिकसूत्र, 9/4/7
82 जैनभारती (पत्रिका), सितम्बर, 2001, पृ. 31
83 तत्त्वार्थसूत्र, पं.सुखलाल संघवी, 10/3
84 व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, अरुणसिंह, पृ. 191
85 उत्तराध्ययनसूत्र, 3/1–7
86 जीवनविज्ञानः स्वस्थ समाज–रचना का संकल्प, आ. महाप्रज्ञ, पृ. 26
87 स्थानांगसूत्र, 10/83
88 तत्त्वार्थसूत्र, 9/25
89 भारतीयमनोविज्ञान, लक्ष्मी शुक्ला, पृ. 108
90 जीवनविज्ञान की रूपरेखा, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 433
91 उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, अरुणसिंह, पृ. 895
92 दशवैकालिकसूत्र, 8/38
93 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 464
94 प्रशमरति, 72
95 जीवनविज्ञान शिक्षा का नया आयाम, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 4
96 तत्त्वार्थसूत्र, 1/3
97 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि 13–14, पृ. 542
98 जीवनविज्ञान की रूपरेखा, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 437
99 उत्तराध्ययनसूत्र, 11/3
100 जीवनविज्ञान की रूपरेखा, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 420
101 तत्त्वार्थसूत्र, 9/25
102 धर्मबिन्दु, 1/58
103 जैनभाषादर्शन, पृ. 80–82
104 व्यवहारभाष्य, 1828
105 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 1/33
106 आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्
– समयसार, आत्मख्याति, 62
107 आदिपुराण, 2, 38/102–104, पृ. 248
108 उत्तराध्ययनसूत्र, 31/10
109 प.पू गुरुदेवश्री महेन्द्रसागरजी म.सा. से चर्चा के आधार पर
110 तत्त्वार्थसूत्र, 7/6
111 स्थानांगसूत्र, 1/2
112 उत्तराध्ययनसूत्र, 1/3
113 वही, 11/6–9
114 वही, 1/2
115 वही, 11/10–13

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

116 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि 124–126, पृ. 563–564

117 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 476

118 समवायांगसूत्र, 33/215

119 दशवैकालिकसूत्र, 9/2/2

120 जीवनविज्ञान की रूपरेखा, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 434

121 वही, पृ. 434

122 आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, अरुणसिंह, अ. 7, पृ. 243

123 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 264, सद्गुरुभक्तिरहस्य 9, पृ. 298

124 योगशास्त्र, 2/8

125 आवश्यकनिर्युक्ति, 22

126 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 25, पृ. 167

127 ऋषिभाषित, 17/1–2

128 श्रीमद्देवचंद्र, विहरमान बीसी, 1/9

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 4

समय प्रबन्धन

TIME MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 4

समय–प्रबन्धन

(Time Management)

	Page No. Chap.	Cont.
4.1 जैनदर्शन में समय का स्वरूप एवं समय की मौलिक विशेषताएँ	1	183
4.2 समय की सार्वकालिक महत्ता	6	188
4.3 वर्त्तमान युग में समय का महत्त्व	7	189
4.4 समय का अप्रबन्धन और उसके दुष्परिणाम	8	190
4.5 जैनआचारमीमांसा के आधार पर समय–प्रबन्धन	9	191
4.5.1 समय–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक–पक्ष	9	191
(1) समय–प्रबन्धन, आखिर क्यों?	9	191
(2) समय–प्रबन्धन की अवधारणा	9	191
(3) समय–प्रबन्धन क्या है?	10	192
4.6 जैनदृष्टि पर आधारित समय–प्रबन्धन का प्रायोगिक–पक्ष	13	195
4.6.1 सही उद्देश्य–निर्माण करना (Making an objective)	13	195
4.6.2 सही लक्ष्यों एवं नीतियों का निर्माण करना (Right Goals & Policies)	14	196
4.6.3 सही कार्य–सूची बनाना (Right To–do List)	16	198
4.6.4 सही समय–सारणी बनाना (Right Time Table)	19	201
4.6.5 उचित व्यक्ति को उचित कार्य सौंपना (Right Delegation of Work)	23	205
4.6.6 कार्य का सही क्रियान्वयन करना (Right Implementation of Work)	26	208
4.6.7 समय की बर्बादी से बचना (Avoid Time Wastage)	29	211
4.6.8 सम्यक् नियन्त्रण या संयम की वृत्ति होना (Right control)	36	218
4.7 निष्कर्ष	38	220
4.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	40	222
सन्दर्भसूची	41	223

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 4

समय–प्रबन्धन
(Time Management)

4.1 जैनदर्शन में समय का स्वरूप एवं समय की मौलिक विशेषताएँ

4.1.1 समय प्रबन्धन : सामान्य परिचय

जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है – समय का सही प्रबन्धन करना, क्योंकि कार्य की निष्पत्ति और सफलता की प्राप्ति समय–सापेक्ष होती है। जो व्यक्ति अपने समय का प्रबन्धन करने में कुशल होते हैं, वे भले ही सामान्य परिस्थितियों और साधारण क्षमताओं वाले हों, फिर भी जीवन के हर क्षेत्र में सफल होते हैं। भगवान् महावीर, आइंस्टीन, महात्मा गाँधी आदि की अप्रमत्तता (समय के प्रति सजगता), इसके प्रमाण हैं। यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें अध्याय में भगवान् महावीर अपने प्रधान शिष्य गौतम को बार–बार कहते हैं – **समयं गोयम! मा पमायए** अर्थात् हे गौतम! समय मात्र का प्रमाद मत करो।

व्यक्ति की प्रगति में समय–प्रबन्धन का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।[1] भगवान् महावीर के अनुसार, प्रत्येक कार्य की सफलता चार कारकों के समुच्चय पर निर्भर करती है। ये हैं – द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव। अन्य सभी कारक मिल जाएँ, किन्तु काल अर्थात् समय का सम्यक् प्रबन्धन न हो, तो उचित समय पर वांछित परिणाम की प्राप्ति नहीं हो सकती।[2] जैनदर्शन के 'पंचकारक समवाय' सिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक घटना के पीछे 'काल' का भी महत्त्वपूर्ण अवदान होता है।

आज का युग न्यूनतम समय में अधिकतम कार्य करने में विश्वास रखने वाला युग है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अभूतपूर्व सफलता पाना चाहता है, फिर भी वर्त्तमान युग में व्यक्ति की समय–सापेक्ष कई समस्याएँ हैं, जैसे –

- ★ मेरे पास समय (टाइम) नहीं है।
- ★ मैं अत्यधिक व्यस्त हूँ।
- ★ मैं सुबह से लगा हूँ, लेकिन काम पूरा नहीं हो सका।
- ★ मैं ऑफिस का काम घर पर पूरा करता हूँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ मुझे तो श्वास लेने की भी फुरसत नहीं है।
★ समय की कमी से मेरा तो खाना–पीना ही छूट गया है।
★ जल्दी–जल्दी में मि. जैन सीढ़ियों से फिसल गए और पैर की हड्डी टूट गई।
★ गाड़ी का भीषण एक्सीडेंट हुआ, चालक सौ कि.मी. प्रति घण्टे से भी तेज ड्राइव कर रहा था।
★ मैंने रात–रात भर जागकर परीक्षा की तैयारी की।
★ मेरे पास कुछ काम ही नहीं है, मैं समय कैसे बिताऊँ?
★ धर्म–साधना करते हुए मेरा समय काटना मुश्किल हो जाता है।
★ आज सुबह से कोई परिचित नहीं आया, इसलिए दिन बहुत लम्बा लग रहा है, इत्यादि।

ऐसे अनेकानेक कथन यह प्रदर्शित करते हैं कि हर व्यक्ति की दो प्रकार की शिकायतें हैं, कभी तो वह समय की कमी महसूस करता है और कभी येन–केन–प्रकारेण बड़ी कठिनाई से समय गुजारता है।[3] परन्तु ये कथन इस तथ्य को सिद्ध करने में सक्षम हैं कि हम समय का सम्यक् प्रबन्धन नहीं कर पा रहे हैं। इस प्रकार की जीवनशैली से कई बार हम आवश्यक कार्यों को नहीं कर पाते और जीवन–विकास के स्वर्णिम अवसर हाथ से छूट जाते हैं। अधिकांशतः यह देखने में आता है कि व्यक्ति की जीवनलीला समाप्त हो जाती है और उसके सपने अधूरे ही रह जाते हैं। कुल मिलाकर, जीवन निरर्थक हो जाता है, क्योंकि जीवनभर तनाव और अशान्ति में जीने के बाद भी कोई सार्थक उपलब्धि प्राप्त नहीं होती।

4.1.2 जैनदर्शन में समय का स्वरूप

भगवान् महावीर कहते हैं कि मनुष्य–जीवन बहुत ही अल्प है और अन्तसहित है।[4] जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते समय आने पर पीले पड़कर झड़ जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी आयु के पूर्ण होने पर समाप्त हो जाता है।[5] अतः, इस ससीम जीवन को सफल बनाने के लिए व्यक्ति को सभी जरुरी कार्य समय रहते कर लेने चाहिए। उसे जीवन के प्रत्येक क्षण को कीमती जानकर समय नष्ट करने वाले कारकों से दूर रहना और समय बचाने वाले कारकों का प्रयोग करना चाहिए।

'समय' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अय् गतौ' धातु से 'अच्' प्रत्यय जुड़ने से बना है।[6] इसका शाब्दिक अर्थ है – 'सभी ओर से गमन करने वाला'। जैनदर्शन में 'समय' शब्द निम्न अर्थों में प्रयोग किया गया है।

★ अखिल विश्व, जिसमें 'लोक' और 'अलोक' दोनों का समावेश हो जाता है।[7]
★ आत्मा अर्थात् चेतन–द्रव्य।[8]
★ सूक्ष्मतम कालखण्ड, जिसका पुनर्विभाजन न किया जा सके। इसकी सूक्ष्मता का परिमाण यह है कि एक बार पलक झपकने में असंख्यात 'समय' बीत जाते हैं।[9]
★ जीवादि षड्द्रव्यों में से एक द्रव्य, जिसका दूसरा नाम 'निश्चय–काल' है, जो काल–अणु के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप में आकाश–प्रदेश पर अवस्थित है।[10]

★ सिद्धान्त अर्थात् दार्शनिक मत।

★ व्यवहार–काल, जिसका प्रयोग दिन, सप्ताह, माह, ऋतु, वर्ष के रूप में रोजमर्रा के जीवन में किया जाता है।[11]

प्रस्तुत अध्याय में इस अन्तिम अर्थ में ही 'समय' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इसका लोक–व्यवहार में अत्यधिक महत्त्व है, जैसे – मेरा मन्दिर जाने का समय 6 बजे है, आप कितने समय से राकेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं, वह किस समय घर पहुँचेगा, मेरा तो दो वर्ष का समय बेकार चला गया इत्यादि।

4.1.3 जैनदर्शन में समय की मौलिक विशेषताएँ

जीवन में हर व्यक्ति को अनगिनत चीजें उपलब्ध होती हैं, जैसे – मिट्टी, हवा, प्रकाश, पानी, वनस्पति आदि। इसी प्रकार उसे 'समय' भी उपलब्ध है, जो सबसे विशिष्ट तत्त्व है। इसकी विलक्षणता के कई कारण हैं।

★ सामान्यतया प्रकृति की समस्त वस्तुओं को प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से देखा जा सकता है, लेकिन 'समय' एक ऐसा विशेष तत्त्व है, जिसे देखा नहीं जा सकता। हाँ, हम चाहें तो दिन, सप्ताह, महीना, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, शताब्दी आदि के रूप में इसका अनुभव कर सकते हैं।[12] जैनाचार्यों ने इसकी परिगणना इस प्रकार की है[13] –

आवलिका	असंख्य समय
श्वासोच्छ्वास	17½ क्षुल्लक भव
लव	7 स्तोक
अहोरात्र	30 मुहूर्त्त
मास	2 पक्ष (कृष्ण व शुक्ल)
अयन	3 ऋतु
युग	5 वर्ष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पल्योपम	असंख्यात काल
सागरोपम	10 कोटाकोटी पल्योपम
कालचक्र	20 कोटाकोटी सागरोपम
पुद्गल परावर्त्तन	अनन्तकाल

★ अन्य सामग्रियाँ, जैसे – पैसा, परिवार, पद, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि आदि मिले और न भी मिले, लेकिन 'समय' सबको मिलता है। स्पेनिश दार्शनिक बाल्टेसर ग्रेशियन Baltasar Gracian (1601–1658) ने इसकी पुष्टि इस प्रकार की है – **Nothing really belongs to us but time, which even he has, who has nothing else अर्थात् हमारा कुछ भी नहीं है, किन्तु समय है, जो उसके पास भी है, जिसके पास कुछ भी नहीं है।**[14] भगवान् महावीर ने कर्म सिद्धान्त के माध्यम से हजारों वर्ष पूर्व ही इस तथ्य को प्रतिपादित कर दिया था कि प्रत्येक प्राणी को पूर्व जीवन में बाँधे हुए (संचित) आयु–कर्म के अनुसार नियत समयावधि के लिए जीवन मिलता है। चाहे प्राणी को अन्य कर्मों के आधार पर जीवन में बाह्य सामग्रियाँ न मिलें अथवा प्रतिकूल मिलें, परन्तु आयु कर्म के निमित्त से 'समय' तो मिलता ही है।

★ समय किसी का पक्षपाती नहीं है, क्योंकि वह न दयालु है और न निर्दयी।[15] जब हमारे साथ कोई अनचाही घटना होती है, तब हम दोषारोपण समय पर करते हैं, लेकिन भगवान् महावीर के अनुसार, वास्तव में इसके लिए हम स्वयं जिम्मेदार होते हैं। अतीत में हमारे द्वारा जैसा कर्म किया जाता है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है।[16] शुभ कर्मों का फल शुभ और अशुभ कर्मों का फल अशुभ मिलता है, अतः हमें मानना चाहिए कि समय प्रतिकूल नहीं होता, बल्कि हम ही कहीं न कहीं समय के प्रतिकूल हो जाते हैं।

★ समय नदी के समान अविरल गति से बहता रहता है,[17] जिसे कोई इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी रोक नहीं सकते। आचारांग में कहा भी गया है कि आयु व यौवन प्रतिक्षण बीता जा रहा है।[18]

★ भले ही हवा को सिलेण्डर में, ऊर्जा को बैटरी में और पानी को जलाशयों में संग्रह करके रखा जा सकता है, लेकिन समय के साथ ऐसा व्यवहार तनिक भी सम्भव नहीं है। समय के अविच्छिन्न प्रवाह को न तो कोई रोक सकता है और न संचित कर सकता है। किसी हिन्दी कवि का कहना है[19] –

है समय नदी की धार जिसमें, सब बह जाया करते हैं,
है समय प्रबल पर्वत जिसके आगे, सब झुक जाया करते हैं।
अक्सर लोग समय के चक्कर में, चक्कर खाया करते हैं,
लेकिन कुछ ही ऐसे होते हैं, जो इतिहास बनाया करते हैं।।

★ रोकना तो दूर, समय की गति को लेशमात्र भी कम–ज्यादा नहीं किया जा सकता है। यह तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मदमस्त हाथी के समान एक ही गति से आगे बढ़ता जाता है, न कभी तेज और न कभी धीरे।[20] अंग्रेजी में कहावत है –

Time & tide wait for none.

★ भगवान् महावीर समय के महत्त्व को समझाते हुए कहते हैं कि जैसे बीती रातें लौटकर नहीं आती, वैसे ही मनुष्य का गुजरा हुआ जीवन फिर हाथ नहीं आता।[21]

आज तक कोई भी समय को वशीभूत नहीं कर सका, क्योंकि समय किसी का दास नहीं है, फिर भी इतना सुनिश्चित है कि व्यक्ति अपने सम्यक् पुरूषार्थ से समय को अपने अनुकूल बना सकता है अर्थात् समय के सम्यक् उपयोग के परिणामस्वरूप समय स्वयमेव हमारे अनुकूल बन जाता है।[22] आचारांगसूत्र के अनुसार, जिस तरह अग्नि पुराने सूखे काष्ठ को शीघ्र ही भस्म कर डालती है, उसी तरह आत्म–समाहित निःस्पृह साधक कर्मों को कुछ ही क्षणों में क्षय कर देता है।[23] वास्तव में ऐसा साधक कर्मों की प्रतिकूल परिस्थिति में भी स्वयं की समता को बढ़ाकर शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है और इस प्रकार समय उसके अनुकूल बन जाता है, जैसे – गजसुकुमाल मुनि।

★ जैनदर्शन के अनुसार, आत्मा और समय का अविनाभावी (परस्पर साथ–साथ रहने वाला) सम्बन्ध है, जो जन्म के पूर्व भी था और मृत्यु के पश्चात् भी रहेगा। इस आधार पर समय के तीन भेद हैं – 1) अतीत काल 2) वर्त्तमान काल 3) भविष्य काल।

इसमें से वर्त्तमान काल एक समयमात्र है, अतीत का अनन्तकाल बीत चुका है और भविष्य का अनन्तकाल अभी अनागत है। भूत और भविष्य हमारे हाथ में नहीं हैं, फिर भी वर्त्तमान में जीकर हम अपने 'भूत' और 'भविष्य' के निर्माता होते हैं। व्यक्ति के हाथ में क्षणजीवी 'वर्त्तमान' ही होता है, किन्तु उसी के आधार पर कभी उसका 'भूत' बना था और कभी 'भविष्य' बनेगा, अतः भारतीय चिन्तन और विशेषरूप से जैनदर्शन का मानना यही है कि जो वर्त्तमान क्षण (समय) हमारे हाथ में है, हम उसका सम्यक् प्रबन्धन करें। वर्त्तमान क्षण का सम्यक् उपयोग करना ही समय–प्रबन्धन है।

★ जीवन का प्रत्येक परिवर्त्तन समय–सापेक्ष होता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, किसी भी अवस्था का उद्भव, परिवर्त्तन, नए–पुराने रूप व्यवहार, ज्येष्ठ–कनिष्ठरूप व्यवहार आदि सभी समय के आधार पर ही होते हैं।[24] गर्भ, जन्म, बाल, युवा, प्रौढ़, अधेड़, वृद्ध, मृत्यु आदि सभी जीवन अवस्थाओं के केंद्र में समय ही मुख्य तत्त्व है।

इस प्रकार, जीवन और समय की अभिन्नता के आधार पर यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि **समय ही जीवन है।**[25]

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4.2 समय की सार्वकालिक महत्ता

समय की महिमा को सदा ही स्वीकारा गया है। जहाँ एक ओर समय का उल्लेख किए बिना लोक–व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता, वहीं दूसरी ओर समय का सम्यक् मूल्यांकन किए बिना जीवन–लक्ष्यों की समयोचित प्राप्ति भी सम्भव नहीं है। भगवान् महावीर ने कहा है – 'हे आत्मविद् साधक! जो बीत गया सो बीत गया, शेष रहे जीवन को ही लक्ष्य में रखते हुए प्राप्त अवसर को परख अर्थात् समय का मूल्य समझ।'[26] उत्तराध्ययनसूत्र में गौतमस्वामी को सम्बोधित करते हुए और उपलक्षण से जीवमात्र को जाग्रत होने का सन्देश देते हुए बारम्बार उपदेश दिया गया है और कहा गया है – 'जैसे हिलती हुई कुश–घास की नोंक पर ओस की बूँद बहुत थोड़े समय के लिए टिक पाती है, वैसे ही मानव का जीवन भी क्षणभंगुर है, अतः हे गौतम! क्षणभर के लिए भी प्रमाद न कर।'[27]

अतीतकाल में कई महापुरूष हुए, जिन्हें जीवन में विकट परिस्थितियाँ प्राप्त हुई और जीवन भी अल्प मिला, लेकिन उनका व्यक्तित्व और कृतित्व अविस्मरणीय बन गया। भगवान् महावीर, श्रीगौतमस्वामी, श्रीसुधर्मास्वामी, श्रीजम्बूस्वामी, श्रीस्थूलिभद्र, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीउमास्वाति, श्रीसिद्धसेनदिवाकर, श्रीहरिभद्रसूरि, श्रीअभयदेवसूरि, श्रीजिनदत्तसूरि, मणिधारीश्रीजिनचंद्रसूरि, श्रीजिनकुशलसूरि, अकबरप्रतिबोधक श्रीजिनचंद्रसूरि, श्रीआनन्दघनजी, श्रीयशोविजयजी, श्रीदेवचंद्रजी, श्रीराजचंद्रजी आदि महापुरूषों ने समय के एक–एक क्षण का महत्त्व स्वीकार कर जीवन को सम्यक् लक्ष्य की ओर गतिशील किया था और समय–प्रबन्धन के माध्यम से ही उन्होंने अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त किया था।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4.3 वर्त्तमान युग में समय का महत्त्व

वर्त्तमान युग वैज्ञानिक प्रगति और औद्योगिक क्रान्ति का युग है। आजकल हर क्षेत्र का व्यावसायिकीकरण हो रहा है। प्रतिस्पर्धा की दौड़ में जीतने के लिए समय के विषय में सिर्फ वैयक्तिक चेतना नहीं, अपितु युगीन चेतना का विकास हो रहा है। फ्रेडरिक डब्ल्यू. टेलर ने प्रबन्धन के लिए 'Time and motion study' पर अत्यधिक जोर देते हुए कार्य को न्यूनतम समय में सम्पन्न करने के लाभों को स्पष्ट किया है।[28] आज औद्योगिक जगत् में ही नहीं, बल्कि सर्वत्र यही नीति है कि किस प्रकार कम से कम समय में अधिक से अधिक कार्य किया जाए। कम्प्यूटर और अन्य इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का आविष्कार होने से एक सेकण्ड के सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिस्से का महत्त्व भी प्रकट हो रहा है। समय के हर क्षण का महत्त्व समझने के लिए जे. मेसन (J. Mason) ने कहा भी है –

"As every thread of gold is valuable, so is every moment of time."

आशय यह है कि **जिस प्रकार स्वर्ण का प्रत्येक कण कीमती होता है, उसी प्रकार समय का प्रत्येक क्षण भी कीमती है।**[29]

जो लोग सुख–सुविधाओं में ही जीवन नष्ट कर देते हैं, उन्हें शेक्सपीयर (Shakespere, 1564–1616) की यह पंक्ति हमेशा ही याद रखनी चाहिए[30] –

"I wasted time & now doth time waste me."
(मैंने समय को नष्ट किया और अब समय मुझे नष्ट कर रहा है)

इतना सब कुछ जान लेने पर भी विडम्बना यह है कि आज व्यक्ति समय का सम्यक् नियोजन नहीं कर पा रहा है। वह अधिक से अधिक नाम और धन कमाने की चाहत में अपनी व्यस्तता बढ़ा लेता है और समय की कमी का बहाना बनाता रहता है। आज समय की कमी के बहाने व्यक्ति ने सामान्य शिष्टाचार और सामाजिक कर्त्तव्यों से भी मुँह फेर लिया है। समय की कमी के कारण उसकी मानवता को गहरा आघात पहुँचा है और अनैतिक आचरण को बढ़ावा मिला है। व्यक्ति ने चंचलता, अधीरता और जल्दबाजी को ही 'समय–प्रबन्धन' का आवश्यक अंग मानने का एक भ्रम पाल लिया है, अतः यह कहना उचित होगा कि व्यक्ति ने समय के महत्त्व को तो जान लिया है, लेकिन उसे समय का सम्यक् प्रबन्धन सीखना, अभी शेष है। विचारक एच.डी. थोरो (H.D. Thoreau, 1817–1862) ने व्यक्ति की बुद्धिमत्ता की कसौटी को इन शब्दों में स्पष्ट किया है –

'A man is wise with the wisdom of his time only & ignorant with its ignorance' अर्थात् **वह बुद्धिमान् है, जिसे समय का ज्ञान है, किन्तु वह अज्ञ है, जो समय से अनभिज्ञ है।**[31]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4.4 समय का अप्रबन्धन और उसके दुष्परिणाम

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि वर्त्तमान युग में जहाँ एक ओर मनुष्य ने समय को अत्यधिक प्रधानता दी है, वहीं दूसरी ओर उसके जीवन में समय की अव्यवस्था का भी अतिरेक हुआ है। समय का सम्यक् नियोजन ही मनुष्य के सन्तुलित, सुव्यवस्थित और समग्र विकास का महत्त्वपूर्ण कारक है, जिसके अभाव में मनुष्य–जीवन में कई विसंगतियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

- ★ कार्यभार बढ़ रहा है, जिससे व्यक्ति कम समय में ही स्वयं को कमजोर और तनावग्रस्त महसूस करता है। इसका नकारात्मक प्रभाव उसके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर भी पड़ता है।
- ★ जीवन में अनावश्यक और अकरणीय कार्यों में समय नष्ट हो जाता है और अत्यावश्यक अथवा आवश्यक कार्यों के लिए समय नहीं मिल पाता है।
- ★ जीवनशैली असन्तुलित बनने से व्यक्ति किसी क्षेत्रविशेष में अत्यधिक समय देकर अन्य क्षेत्रों को अनदेखा कर देता है। उदा. – यदि कोई व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में 12 घण्टे देता है, तो उसे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों की उपेक्षा करनी पड़ती है। इससे उसका जीवन असन्तुलित हो जाता है। दुष्परिणाम यह आता है कि वह एक क्षेत्र में सफलता अर्जित कर भी लेता है, तो भी अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में विफलता का अनुभव करता है।
- ★ समय की अव्यवस्था से मन की चंचलता, अस्थिरता, उत्तेजना, निराशा, तनाव आदि दोषों में अभिवृद्धि होती है, जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का पतन हो जाता है।
- ★ समयपरक जीवनशैली के अभाव में व्यक्ति कभी प्रमादी और कभी जल्दबाजी करने वाला हो जाता है।
- ★ समयोचित कार्य नहीं कर पाने पर व्यक्ति को पछतावा भी खूब होता है, जिससे वह अक्सर अतीत की स्मृतियों में ही खोया रहता है। युवावस्था में बचपन की और वृद्धावस्था में यौवन की कमियों को सोच–सोचकर दुःखी होता रहता है। उसे सोचना चाहिए – **'का वर्षा जब कृषि सुखाने, समय चूकि पुनि का पछताने'**।[32]
- ★ अपेक्षित सफलता न मिलने पर दूसरों के प्रति व्यवहार में असन्तोष, रोष, शिकायतें, डाँट–फटकार, छल–कपट, ईर्ष्या आदि बुराइयाँ प्रकट होती हैं। इससे परस्पर प्रेम और आत्मीयता घटने लगती है तथा वैर एवं वैमनस्य बढ़ने लगते हैं।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि समय की अव्यवस्था के परिणामस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व का पतन होता है, जिससे समयोचित सफलता नहीं मिल पाती और जीवन अशान्तिमय एवं तनावमय हो जाता है। अतएव भगवान् महावीर का निर्देश रहा है कि जिस समय का जो कार्य है, उसे उसी समय में करो।[33]

=====◄●►=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4.5 जैनआचारमीमांसा के आधार पर समय–प्रबन्धन

जैनआचारमीमांसा में समय–प्रबन्धन के दो पक्ष हैं – सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक। वस्तुतः, समय–प्रबन्धन के लिए केवल सैद्धान्तिक–पक्ष अथवा केवल प्रायोगिक–पक्ष ही पर्याप्त नहीं है, अपितु इनका समन्वय ही समय–प्रबन्धन की समग्रता का आधार है। कहा भी गया है – क्रियाविहीन ज्ञान अथवा ज्ञानविहीन क्रिया दोनों व्यर्थ हैं, परन्तु दोनों का संयोग हो जाने पर फल की प्राप्ति हो जाती है। यह तथ्य वैसा ही है, जैसे वन में आग लगने पर पंगु और अन्धा क्रमशः देखते हुए और दौड़ते हुए भी जल जाते हैं, किन्तु यदि ये दोनों मिल जाएँ, तो पारस्परिक सहयोग से गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं।[34]

4.5.1 समय–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक पक्ष

जीवन में समय के सम्यक् प्रबन्धन के लिए जिन सिद्धान्तों की आवश्यकता है, वे इस प्रकार हैं –

(1) समय–प्रबन्धन, आखिर क्यों?

भगवान् महावीर कहते हैं, 'तू महासमुद्र को तैर चुका है, अब किनारे आकर क्यों बैठ गया, उस पार पहुँचने की शीघ्रता कर। हे गौतम! क्षण भर के लिए भी प्रमाद उचित नहीं है।'[35] कहने का आशय यही है कि मानव–जीवन सर्वश्रेष्ठ और अतिदुर्लभ है। ऐसे मानव–जीवन को पाकर भी इसके सीमित समय का सम्यक् उपयोग कर सुव्यवस्थित जीवनशैली और आत्मिक–शान्ति प्राप्त नहीं की, तो यह महासमुद्र को तैरकर किनारे पर डूब जाने जैसा है। अतएव प्रत्येक विवेकशील मानव को चाहिए कि वह ऐसी तकनीक खोजे, जिससे प्राप्त समय का सर्वोत्तम सदुपयोग हो जाए, यही समय–प्रबन्धन है।

(2) समय–प्रबन्धन की अवधारणा

समय–प्रबन्धन दो शब्दों से मिलकर बना है – 'समय' और 'प्रबन्धन'। अतः कहा जा सकता है कि समय का सुव्यवस्थित रूप से उपयोग करने की प्रक्रिया ही 'समय–प्रबन्धन' है। प्रश्न उठता है कि क्या समय अव्यवस्थित एवं अप्रबन्धित है। भगवान् महावीर कि दृष्टि में समय नहीं, अपितु व्यक्ति स्वयं अव्यवस्थित एवं अप्रबन्धित होता है। आचारांग में स्पष्ट कहा है – 'हे पुरूष! तू ही तेरा मित्र है, अतः तू स्वयं अपने आपको वश में कर।'[36] अन्यत्र भी कहा है कि स्वयं के साथ युद्ध करो, दूसरों के साथ युद्ध करने से क्या लाभ?[37] स्टीफन कोवे (Stephen Covey) ने भी कहा है कि वस्तुतः समय–प्रबन्धन समय का प्रबन्धन नहीं हैं, बल्कि स्वयं का प्रबन्धन है।[38] आशय स्पष्ट है कि सुधारना समय को नहीं, बल्कि स्वयं को है, अतः जीवन में समयानुकूल आचरण की प्रक्रिया ही समय–प्रबन्धन है। दूसरे शब्दों में, जिस समय का जो कार्य है, उसे उसी समय में सम्यक् रूप से पूर्ण करना समय–प्रबन्धन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) समय–प्रबन्धन क्या है?

(क) उचित समय पर उचित कार्य करना (Right work at the Right time)

भगवान् महावीर ने श्रमण–श्रमणियों को माध्यम बनाकर एक सार्वभौमिक सिद्धान्त दिया कि उचित समय पर उचित कार्य करना चाहिए,[39] इसे ही समय–प्रबन्धन कहते हैं।

जीवन में समय एवं कार्य दो समानान्तर रेखाओं के समान हैं, जिनमें समन्वय होना अत्यावश्यक है। इनकी उचितता एवं अनुचितता के सन्दर्भ में चार विकल्प होते हैं, जो निम्नानुसार हैं –

इनमें से प्रथम तीन विकल्प अनुचित हैं तथा अन्तिम विकल्प उचित एवं आचरणीय है, जो निम्न उदाहरणों (पौराणिक एवं व्यावहारिक) में सरलतया परिलक्षित हो रहा है –

★ **अनुचित समय पर अनुचित कार्य करना** – जैसे –

1) रथनेमि – श्रमणावस्था में रथनेमि ने साध्वी राजीमती से विषयभोगों की प्रार्थना की, कहना होगा कि न यह कार्य उचित था और न ही समय।[40]
2) कोई वृद्ध व्यक्ति पत्नी की मृत्यु के पश्चात् पुनर्विवाह करता है।

★ **उचित कार्य, लेकिन अनुचित समय पर करना** – जैसे –

1) बाहुबली – ये आदिनाथ प्रभु के दर्शन के लिए प्रातः महोत्सवपूर्वक जाने का विचार कर सन्ध्या में दर्शन करने नहीं गए, किन्तु जब अगले दिन सुबह पहुँचे, तो प्रभु को वहाँ नहीं पाया, जोर–जोर से 'बाबा आदम–बाबा आदम' की पुकार लगाई, परन्तु तब तक प्रभु अन्यत्र विहार कर चुके थे।[41]
2) समय के सम्यक् नियोजन के अभाव में राहुल ट्रेन छूटने के 5 मि. बाद रेल्वे स्टेशन पहुँचता है।

★ **उचित समय पर अनुचित कार्य करना** – जैसे –

1) गोशालक – इन्हें संसार–समुद्र से पार करने वाले प्रभु महावीर का सान्निध्य मिला, परन्तु अहंकारवश इन्होंने उनसे ही दूरी बना ली।[42]
2) कोई व्यक्ति आत्मकल्याणार्थ उपदेश श्रवण करने के लिए नियत समय पर तो पहुँच गया, लेकिन प्रमादवश निद्रा लेने लगा।

★ **उचित समय पर उचित कार्य करना** – जैसे –

1) श्रीइंद्रभूति गौतम – इन्होंने प्रभु महावीर का उपदेश सुनते ही उसी क्षण संयम अंगीकार कर लिया। वस्तुतः, यही समय–प्रबन्धन का श्रेष्ठ रूप है।[43]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2) किसी परिवार के आबालवृद्ध सभी सदस्य प्रतिदिन जल्दी उठकर सामुहिक सत्संग एवं भक्ति करते हुए दिन का शुभारम्भ करते हैं।

इस सिद्धान्त के दो पहलू हैं –

i) उचित समय पर कार्य प्रारम्भ करना और
ii) उचित समय पर कार्य पूर्ण करना।

यदि हम कोई भी कार्य समय–सीमा में पूरा नहीं करते हैं, तो हमारे समक्ष दो विकल्प (Option) बचते हैं, जिनमें से एक हमें चुनना होता है –

i) पहले वाले कार्य को अधूरा छोड़ें और अगले निर्धारित कार्य को प्रारम्भ करें अथवा
ii) नए कार्य को छोड़ें और उससे होने वाले लाभ से वंचित रहें।

तात्पर्य यह है कि समयोचित कार्यशैली के अभाव में व्यक्ति को नुकसान तो उठाना ही पड़ता है। अतः जिन्हें अपना जीवन सफल बनाना है, उन्हें उचित समयावधि में उचित कार्य कर लेना चाहिए, इसे ही समय–प्रबन्धन कहते हैं।[44]

(ख) न्यूनतम समय में अधिकतम लाभ प्राप्त करना (Maximum Profit in Minimum Time)

वह प्रक्रिया, जिसके माध्यम से न्यूनतम समय में अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके, समय–प्रबन्धन कहलाती है।

आचार्य कुन्दकुन्द इस बात की पुष्टि करते हुए कहते हैं – 'अज्ञानी साधक बालतप के द्वारा लाखों–करोड़ों जन्मों में जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म मन, वचन, काया को संयमित रखने वाला ज्ञानी साधक एक श्वासमात्र में खपा देता है।'[45]

सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है – 'एक ही झपाटे में जैसे बाज बटेर को मार डालता है, वैसे ही मृत्यु भी आयु क्षीण होने पर जीवन को हर लेती है।'[46] ऐसे क्षणभंगुर जीवन का एक–एक क्षण कीमती है, अतः चिन्तनशील मानव यह प्रयत्न करता है कि इस अल्पकालीन, लेकिन अमूल्य जीवन में जीवन–यापन के साथ–साथ व्यक्तित्व–निर्माण यानि आत्म–विकास भी हो सके। इस दोहरे लाभ की प्राप्ति हेतु कम से कम समय में अधिकतम कार्य करना समय–प्रबन्धन है।

(ग) वर्त्तमान क्षण का सर्वोत्तम सदुपयोग करना (Optimum Utilization of Present Moment)

वर्त्तमान क्षण का सर्वोत्तम सदुपयोग करना भी समय–प्रबन्धन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

सूत्रकृतांगसूत्र के अनुसार, 'जो क्षण वर्त्तमान में उपस्थित है, वही महत्त्वपूर्ण है, अतः उसे सफल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बनाना चाहिए।'[47] अन्यत्र भी कहा है – अतीत का शोक और भविष्य की चिन्ता छोड़कर केवल वर्त्तमान में जीने वाले ही विचक्षण होते हैं।[48] आशय यह है कि अतीत बीत चुका है और भविष्य अनागत एवं अज्ञात है, सिर्फ वर्त्तमान ही व्यक्ति के पास है। व्यक्ति की सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह वर्त्तमान क्षण का उपयोग किस प्रकार करता है। अधिकांश लोग अतीत की स्मृतियों और भविष्य के सपनों में अपने समय को बिताते हैं। एक सामान्य आदमी लगभग 25% समय ही वर्त्तमान में जीता है,[49] अतः जो वर्त्तमान में जीने की कला में दक्ष होकर वर्त्तमान समय का सर्वोत्तम सदुपयोग कर सके, वही सही समय–प्रबन्धक बन सकता है। हमेशा याद रखना चाहिए कि भले ही 'वर्त्तमान' एक समयमात्र है और अगले ही समय अतीत बन जाता है, फिर भी 'वर्त्तमान' में वह विशिष्ट सामर्थ्य है, जिसके बल पर 'अतीत' की कमियों को सुधार कर सुनहरे 'भविष्य' की नींव तैयार की जा सकती है।[50] अतः प्राप्त समय का सर्वोत्तम सम्भव सदुपयोग करना समय–प्रबन्धन है।

सार रूप में, समय–प्रबन्धन को निम्न तालिका के माध्यम से समझा जा सकता है[51] –

T Technology to save time and get more things done in less time.

I Improve your efficiency–Personal & working.

M Manage your life's habits that speed you up.

E Eliminate your time–wasters & make every second count.

M Meet deadlines and commitments.

A Act as if you have only one life to live.

N Never believe in procrastination.

A Achieve balance between spiritual and practical life.

G Go for 'priority' management.

E Everything from effective planning.

M Morning time is prime time for important work done with speed and accuracy.

E Enhance your performance through delegation.

N Never overlook the time for self management.

T Time table is a must everyday.

इस प्रकार, समय–प्रबन्धन एक विज्ञान है, जो जीवन के बहुमूल्य क्षण के अपव्यय को रोककर उसके प्रत्येक क्षण का विधिपूर्वक सदुपयोग कराता है, जिससे मानव ध्येय की पूर्त्ति हो अर्थात् आत्मिक शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4.6 जैनदृष्टि पर आधारित समय–प्रबन्धन का प्रायोगिक–पक्ष

समय के सम्यक् प्रबन्धन के लिए हमें सैद्धान्तिक पक्षों को जीवन–व्यवहार में लाना होगा। कहा गया है – जान लेने मात्र से कार्य की निष्पत्ति अर्थात् सिद्धि नहीं हो पाती।[52] आशय यह है कि जीवन की उतार–चढ़ाव भरी परिस्थितियों में सिद्धान्तों का उचित प्रयोग कर हम समय–प्रबन्धन की सफलता प्राप्त कर सकते हैं। इस हेतु हमें निम्न कार्य करने होंगे –

4.6.1 सही उद्देश्य–निर्माण करना (Making an objective)

सर्वप्रथम यह चेतना जाग्रत करनी होगी कि हमें समय–प्रबन्धन का उद्देश्य निर्धारित कर उसकी प्राप्ति करनी ही है। जैसे – व्यवसाय–प्रबन्धन, कार्यालय–प्रबन्धन, धर्म–प्रबन्धन आदि की सफलता के लिए उद्देश्य बनाकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही समय–प्रबन्धन की सफलता के लिए भी सम्यक् उद्देश्य बनाकर उसके प्रति पूर्ण समर्पित एवं प्रतिबद्ध होना आवश्यक है।

उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान् महावीर ने बारम्बार कहा है – **'समयं गोयम! मा पमायए'** अर्थात् हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।[53] वस्तुतः यह उद्देश्य के प्रति पूर्ण संकल्पित होने की ही प्रक्रिया है। इसी लक्ष्य को चेतना के स्तर पर बारम्बार दोहराने की प्रक्रिया को 'परावर्त्तना' और बारम्बार विशेष–विशेष चिन्तन करने की प्रक्रिया को **'अनुप्रेक्षा'** कहते हैं।[54]

आधुनिक प्रबन्धन तकनीक में भी उद्देश्य–निर्धारण को प्रबन्धन का मूल आधार माना गया है। पीटर ड्रकर ने उद्देश्य पर आधारित प्रबन्धन को **Management By Objective (M.B.O.)**[55] कहा है। यह प्रश्न उठता है कि समय–प्रबन्धन का उद्देश्य क्या हो? यदि जैनदृष्टि से देखें, तो समय–प्रबन्धन वस्तुतः जीवन–प्रबन्धन का अभिन्न अंग है, क्योंकि जीवन–प्रबन्धन का लक्ष्य है – जीवन के लौकिक एवं आध्यात्मिक विकास को समन्वित करते हुए जीवन को सुख–शान्ति एवं आनन्दमय बनाना और समय–प्रबन्धन ही वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से जीवन–प्रबन्धन के लक्ष्य की समयानुकूल प्राप्ति की जा सकती है। यदि समय–प्रबन्धन न हो, तो जीवन–प्रबन्धन का कोई मूल्य नहीं रह जाता। वस्तुतः, यह न्याय है कि उद्देश्य–सापेक्ष समय और समय–सापेक्ष उद्देश्य ही शोभनीय है। यदि किसी कार्य में उद्देश्य और समय की सम्यक् युति न हो, तो उस कार्य की असफलता निश्चित है। इस न्याय के आधार पर हम कह सकते हैं कि समय–प्रबन्धन का मूल प्रयोजन जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया से जुड़कर उसके उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग देना है। दूसरे शब्दों में, जीवन–प्रबन्धन के उद्देश्य की समयानुकूल प्राप्ति में सहयोग प्रदान करना ही समय–प्रबन्धन का मूल उद्देश्य है।

इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए हमें तीन उप–उद्देश्यों को जीवन में अपनाना होगा –

1) उचित समय पर उचित कार्य करना।
2) न्यूनतम समय में अधिकतम लाभ प्राप्त करना।
3) वर्त्तमान क्षण का सर्वोत्तम सदुपयोग करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4.6.2 सही लक्ष्यों एवं नीतियों का निर्माण करना (Right Goals & Policies)

समय–प्रबन्धन करने हेतु मूल उद्देश्य–निर्धारण के पश्चात् सबसे बड़ा कार्य है – 'जीवन के विविध लक्ष्यों (Goals) का निर्धारण करना'। यही समय–प्रबन्धन की सफलता का द्वार है। जो बिना लक्ष्य के चलेगा, वह कहीं नहीं पहुँच सकेगा। प्रस्तुत प्रसंग में उद्देश्य–निर्धारण और लक्ष्य–निर्धारण में अन्तर करना आवश्यक है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार, उद्देश्य व्यापक होता है और लक्ष्य सीमित होता है। व्यावहारिक क्षेत्र में 'धनार्जन' उद्देश्य हो सकता है और उसके लिए उत्पादन की मात्रा का निर्धारण लक्ष्य हो सकता है। साधना के क्षेत्र में उद्देश्य मोक्ष–प्राप्ति हो सकता है एवं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना की मात्रा लक्ष्य हो सकती है। यहाँ लक्ष्य शब्द 'Goal' का सूचक है।[56] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है, 'जैसे धागे में पिरोई हुई सुई गिर जाने पर भी गुम नहीं होती है, वैसे ही ज्ञानरूपी धागे से युक्त आत्मा न संसार में भटकती है और न ही विनाश को प्राप्त होती है।'[57] आशय यह है कि जिसने सही विचारपूर्वक समीचीन लक्ष्य का निर्धारण कर लिया है, वह भटक नहीं सकता।

समय–प्रबन्धन की सफलता के लिए हमारी योजनाओं में निम्न मानदण्ड होना आवश्यक हैं –

★ **विविध लक्ष्यों का सम्यक् समायोजन** – समय–प्रबन्धन के अनेक छोटे–छोटे लक्ष्य (Goals) होते हैं, जैसे – शिक्षा–प्रबन्धन, वाणी–प्रबन्धन, शरीर–प्रबन्धन आदि। इन सब जीवन–लक्ष्यों का सम्यक् समायोजन करना, समय–प्रबन्धन की समग्रता का आधार होगा। हमें इस प्रकार से इन लक्ष्यों की प्राप्ति की योजना बनानी होगी कि इन सभी की समयोचित प्राप्ति हो सके, ऐसा न हो कि किसी पक्षविशेष में समय का अतिरिक्त निवेश हो और किसी की उपेक्षा हो जाए।

★ **उच्च–चरित्र की स्वीकृति** – इतिहास में ऐसे अनेक महापुरूष हुए हैं, जिन्होंने उच्च–चरित्र का परिपालन करते हुए विकट परिस्थितियों और अल्प जीवन में विशाल उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं और जो समय–प्रबन्धन सीखने के लिए एक आदर्श है। उदाहरण – मणिधारी दादाजिनचंद्रसूरि (26 वर्ष), श्रीमद्राजचंद्र (33 वर्ष), स्वामी विवेकानन्द (39 वर्ष), रानी लक्ष्मीबाई (22 वर्ष), भगतसिंह (24 वर्ष), चंद्रशेखर आजाद (26 वर्ष), सुभाषचंद्र बोस (48 वर्ष) इत्यादि।[58]

★ **दीर्घकालीन, मध्यकालीन और अल्पकालीन लक्ष्यों का समन्वय** – हम सिर्फ अल्पकालीन और तात्कालिक लक्ष्यों में उलझ न जाएँ। जैन–परम्परा एवं आधुनिक–परम्परा की जीवन–दृष्टि में मूलभूत अन्तर यही है कि आधुनिक–परम्परा केवल वर्त्तमान जीवन के सापेक्ष ही योजना बनाती है, जबकि जैन–परम्परा वर्त्तमान के साथ–साथ भावी–जीवन (पारलौकिक जीवन) के सापेक्ष भी उचित योजना प्रदान करती है।

यह जैनदृष्टि हमारे अल्पकालीन एवं मध्यकालीन योजनाओं को इस प्रकार संचालित करती है कि ये दोनों हमारी दीर्घकालीन योजनाओं (ऐहलौकिक एवं पारलौकिक) की पूर्त्ति में सहयोगी बन सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ **आध्यात्मिक–विकास की व्यवस्था** – हमारी योजना में सिर्फ जीवन–यापन की व्यवस्था जुटाने को ही महत्त्व न मिले, बल्कि ऐसी नीति हो, जिसमें जीवन–निर्माण या चरित्र–निर्माण के लिए भी समुचित समय दिया जा सके, क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र में निम्न चार परम दुर्लभ वस्तुएँ बताई गई हैं[59] –

- मनुष्य जन्म
- धर्म–श्रवण
- सत्य पर सही निष्ठा
- संयम में पुरुषार्थ

★ **उत्साहवर्धक लक्ष्य** – हमारे लक्ष्य की कुछ ऐसी विशेषताएँ हों, जिससे कार्य के क्रियान्वयन में हमारे उत्साह और रुचि की अभिवृद्धि होती रहे। ये विशेषताएँ हैं –

Specificness	स्पष्टता
[illegible]	[illegible]
Achievability	प्राप्ति की योग्यता
[illegible]	[illegible]
Time boundedness	समयबद्धता

इन्हीं को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार कह सकते हैं –

Our goal should be SMART[60]

समय–प्रबन्धन के सन्दर्भ में प्लानिंग करते समय निम्न नीतियों का पालन करना चाहिए[61] –

★ समय के अपव्यय को रोकना।

★ कम समय में ज्यादा काम करना।

★ कुछ समय किसी विशेष जीवनोपयोगी कार्य में लगाना।

★ जीवन अल्प है और कार्य अनेक,[62] अतः समय का वहीं निवेश करना, जहाँ अधिकतम लाभ हो, जैसा कि हम व्यापार–जगत् में करते हैं।

★ जीवन के विभिन्न पक्षों को सन्तुलित महत्त्व देना, जैसे – आत्मा, स्वास्थ्य, दायित्व, साधना, सहयोगीगण आदि।

★ योजनाएँ पूर्वानुमान पर आधारित होती हैं, अतः उनमें लचीलापन रखना, क्योंकि यह भी सम्भव है कि जैसा हम सोचते हैं, वैसा न हो। ऐसी स्थिति में हम न निराश हों और न उत्तेजित, बल्कि देश, काल, शक्ति और परिस्थिति के आधार पर आवश्यक समन्वय करते हुए निर्धारित लक्ष्य की ओर शान्तिपूर्वक बढ़ते रहें। कहा भी गया है – '**देशकालबलं ज्ञात्वा सर्वकार्याणि साधयेत्**'।[63]

★ लक्ष्य और क्षमता का समन्वय होना भी आवश्यक है। जैनआचारमीमांसा में प्रत्येक साधक को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपनी क्षमतानुसार जीवन–लक्ष्य निर्धारित करने की प्रेरणा दी गई है। इसी कारण से मुनि और श्रावक के आचार में अन्तर है। इतना ही नहीं, 'मुनि' और 'श्रावक' के भी कई स्तर बताए गए हैं।

हमारी क्षमता और लक्ष्य का सम्बन्ध कैसा हो, इसे हम निम्न चित्रों द्वारा समझ सकते हैं[64] –

क्र.	चित्र	विवरण	परिणाम	✓/✗
1)		क्षमता कम और लक्ष्य अतिबृहद्	निश्चित असफलता एवं समय की बर्बादी।	✗
2)		**लक्ष्य छोटा और क्षमता अधिक**	**सफलता अवश्य मिलेगी, लेकिन क्षमता का पूरा उपयोग एवं विकास नहीं हो सकेगा।**	✗
3)	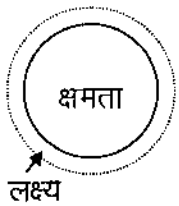	क्षमता कम और लक्ष्य थोड़ा ऊँचा (10–20% अधिक)	प्रयत्न करने पर अन्तःप्रेरणा जाग्रत होगी, क्षमता का विकास होगा और सफलता मिलेगी।	✓

चित्र (3) में निर्दिष्ट नीति के आधार पर लक्ष्य और क्षमता का समन्वय होना ही श्रेष्ठ समय–प्रबन्धन है और यह जैनआचारमीमांसा के निर्देशों के अनुरूप है, क्योंकि इनमें साधक के लिए जो व्रत, तप, क्रिया, ज्ञानार्जन, प्रतिमा–वहन आदि की क्रमिक विकास–व्यवस्थाएँ बताई गई हैं, वे वास्तव में क्षमता के आधार पर लक्ष्य निर्धारण करने के लिए बताई गई हैं। जैनाचार्यों का स्पष्ट कहना है कि हमें न अपनी शक्ति को छिपाना चाहिए और न ही शक्ति का उल्लंघन करना चाहिए, बल्कि सदैव शक्ति के अनुसार कार्य करना चाहिए।[65]

4.6.3 सही कार्य–सूची बनाना (Right To–do List)

जैनदर्शन के अनुसार, प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञानशक्ति–सम्पन्न है। इस ज्ञानशक्ति के बल पर वह प्रतिसमय जानने का कार्य कर रही है। मानव–अवस्था में उसकी जानने की शक्ति अधिक तीक्ष्ण, गहरी और व्यापक होती है। एक सामान्य मानव अन्य पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि की तुलना में सोचने, विचारने, समझने आदि की विशेष शक्ति रखता है। इसी ज्ञान–क्षमता के बल पर हम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन–मनन के माध्यम से कई बार ऊँचे, अच्छे और उपयोगी विचार करते हैं और भविष्य की योजना भी बना लेते हैं। विडम्बना यह है कि प्रतिसमय उत्पन्न हो रहे नूतन विचारों के प्रवाह में कई बार उचित विचार और योजनाएँ बिना क्रियान्वयन किए ही विस्मृत हो जाती हैं। अक्सर यह देखा जाता है कि नकारात्मक विचार तो लम्बे समय तक स्मृति में रहते हैं, जबकि सकारात्मक विचार बहुत जल्दी विस्मृत हो जाते हैं, अतः हमें चाहिए कि चिन्तित और निर्णीत सद्विचारों एवं सद्योजनाओं को सूचीबद्ध करें, जिससे उचित समय पर उचित कार्य **(काले कालं समायरे)** किया जा सके।

भगवान् महावीर कहते हैं – "एक जाग्रत साधक प्रतिदिन सुबह एवं शाम सम्यक् प्रकार से आत्म–निरीक्षण करे कि मैंने क्या किया है और क्या नहीं किया है तथा कौन–सा कार्य करना शेष है, जिसे मैं समर्थ होने पर भी नहीं कर पा रहा हूँ।"[66]

जैनशास्त्रों में उपदिष्ट समयावधियों के आधार पर कार्य–सूची के कई प्रकार सम्भव हैं –

क्र.	कार्य–सूची का प्रकार	समयावधि	क्र.	कार्य–सूची का प्रकार	समयावधि
1)	रात्रिक	एक रात्रि	4)	चातुर्मासिक	चार माह
2)	दैवसिक	एक दिन	5)	वार्षिक	एक वर्ष
3)	पाक्षिक	पंद्रह दिन	6)	अन्य	कोई नियत अवधि

कार्य–सूची को किस तरह बनाया जाए, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जैनाचार में इसके लिए करणीय और अकरणीय कार्यों में भेद करने पर बल दिया गया है। मुनि और गृहस्थ को अपनी–अपनी भूमिकानुसार निर्णय करना चाहिए कि वह क्या करे और क्या न करे। करने योग्य कार्यों में भी वह अनेकान्त–दृष्टि द्वारा देश, काल, स्व–शक्ति और परिस्थिति के आधार पर अपनी प्राथमिकताओं का निर्णय करे। कहा भी गया है – जाग्रत वही है, जो सत् और असत् में भली प्रकार से भेद कर सकता है।[67] जो कार्य अधिक प्रभावी और कल्याणकारी (Highly effective and beneficial) हैं, उन्हें प्राथमिकता देनी चाहिए। इस प्रकार कार्यों को उनकी प्राथमिकता के आधार पर अनुक्रम से सूचीबद्ध करना चाहिए। इसे ही आधुनिक प्रबन्धन में 'प्राथमिक कार्य पहले' (First Thing First) का सिद्धान्त कहते हैं।

जैनकथासाहित्य में भी अत्यावश्यक, आवश्यक और अनावश्यक कार्यों में चयन की सम्यक् पद्धति के कई प्रसंग मिलते हैं, जैसे – भरत महाराजा को जब प्रभु के केवलज्ञान और चक्ररत्न की बधाई एक ही साथ प्राप्त हुई, तब उन्होंने दोनों बधाई–दाताओं को पुरस्कृत किया और विचार किया कि पहले किसका महोत्सव करना चाहिए? शीघ्र ही इस विचार पर पहुँचे कि **'धर्मार्थे सकलं त्यजेत्'** अर्थात् धर्म के लिए सब छोड़ देना चाहिए और इस न्याय के आधार पर पहले ज्ञान का महोत्सव किया, तत्पश्चात् चक्ररत्न की पूजा की।[68]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राथमिक कार्य पहले करना (First Thing First)[69]

इसका अर्थ है – सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य सबसे पहले करना। इस आधार पर हम काम को निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। इसे जैनदर्शन में 'आवश्यक' (अवश्यकरणीय) की प्राथमिकता के द्वारा समझाया गया है।

★ **तत्काल कार्य** – ये कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, इन्हें सबसे पहले करना चाहिए। ऐसे कार्य अत्यावश्यक या अपरिहार्य भी कहलाते हैं। कभी–कभी ये बहुत कम महत्त्वपूर्ण दिखाई देते हैं, फिर भी इन्हें अत्यावश्यक कहा जाता है, क्योंकि यहाँ महत्त्व का सम्बन्ध कार्य के परिणामों (Consequences) से है।

★ **महत्त्वपूर्ण कार्य** – ये कार्य आवश्यक तो हैं, किन्तु अत्यावश्यक नहीं हैं। इन्हें अत्यावश्यक कार्यों के बाद किया जाना चाहिए। इन्हें जैनदर्शन में आवश्यक कहा गया है। ये कार्य सामान्य व्यक्ति के उच्चतर जीवन–मूल्यों (आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक) के सम्पादन में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। जैनदर्शन में जैनाचार्यों के द्वारा व्यावहारिक आवश्यक कार्यों के साथ धार्मिक और आध्यात्मिक विकास हेतु आवश्यक षट्कर्त्तव्य – देव–पूजा, गुरु–उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान एवं षडावश्यक – सामायिक, चतुर्विंशति–स्तवन, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान भी निर्देशित किए गए हैं, इन्हें जीवन के आवश्यक कर्त्तव्य मानकर समय–सारणी में अवश्य स्थान देना चाहिए। गृहस्थ एवं साधु – दोनों को षडावश्यक प्रतिदिन दो बार करने योग्य है।

1)	सामायिक	आत्म–सजगता एवं समत्वभाव की साधना है।
	[illegible]	[illegible]
3)	वन्दना	गुरु एवं धर्म के प्रति विनय एवं आस्था की वृद्धि करना है।
	[illegible]	[illegible]
5)	कायोत्सर्ग	अहंकार और ममकार (ममत्व) का विसर्जन है।
	[illegible]	[illegible]

★ **अनावश्यक कार्य** – ये कार्य गैर–महत्त्वपूर्ण हैं और नहीं करने योग्य हैं। इन्हें ही जैनआचारशास्त्रों में **'अनर्थदण्ड'** कहा गया है। साधारणतया ये कार्य व्यक्ति के कमजोर मनोनुशासन के परिणाम हैं, जिन्हें नहीं करके व्यक्ति समय का सुन्दर समायोजन कर सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका अलग–अलग होने से इन तीनों विभागों के अन्तर्गत किए जाने वाले कार्यों का स्पष्ट विभेद करना शक्य नहीं है, फिर भी किसी सामान्य व्यक्ति के लिए इनका प्रारूप इस प्रकार हो सकता है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महत्त्वपूर्ण (आवश्यक) कार्य	रचनात्मक या सृजनात्मक कार्य, जीवन–मूल्यों के विकास में सहायक–कार्य, व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध बनाना अथवा विच्छेद करना इत्यादि।

विशेष – अक्सर होने वाली भूलें –

★ कुछ व्यक्ति 'तात्कालिक' कार्य में ही पूरा समय निकाल देते हैं। प्रतिदिन के संकटों से न उबर पाने से उनका व्यक्तित्व समस्यावादी बन जाता है।

★ कुछ व्यक्ति 'तात्कालिक' कार्य को पूरा करके शेष समय 'अनावश्यक' कार्यों में व्यतीत कर देते हैं।

★ कुछ व्यक्ति 'तात्कालिक' कार्य और 'आवश्यक' कार्य दोनों को छोड़कर सिर्फ 'अनावश्यक' कार्य में ही समय नष्ट कर देते हैं।

यह विचारणीय है कि तात्कालिक कार्य करणीय अवश्य हैं, किन्तु ऐसा न हो कि हम उनमें उलझकर अपने व्यक्तित्व के विकास की उपेक्षा कर दें।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है – 'हर कहीं और हर वस्तु में मन को मत लगा बैठिए।'[70] यदि मन बारम्बार भटकता और ललचाता रहेगा, तो किसी भी कार्य में एकाग्रता नहीं आएगी, अतः प्राथमिकता पर आधारित कार्य–सूची बनानी चाहिए, जिससे अपेक्षित सफलता की प्राप्ति हो सके।

4.6.4 सही समय–सारणी बनाना (Right Time Table)[71]

अंग्रेजी में समय–सारणी (टाइम–टेबल) को इस प्रकार परिभाषित किया गया है – 'A list of events arranged according to the time when they take place'.

टाइम–टेबल में तीन मुख्य तत्त्वों को होना अनिवार्य है –

★ काम, जो करना है।

★ समयावधि, जिसमें कार्य सम्पन्न करना है।

★ समय, जिस पर वह काम करना है।

'समय–सारणी' (टाइम टेबल) वस्तुतः 'कार्य' और 'समय' का परस्पर अनुबन्ध है।

कभी–कभी यह भ्रम होता है कि समय–सारणी बनाना आधुनिक तकनीक है, परन्तु यदि अतीत के जैनग्रन्थों को देखें, तो सर्वत्र ही समय–प्रबद्ध कार्यशैली के दर्शन होते हैं। जैन–परम्परा में इसे 'कालग्रहण' कहा जाता है। 'आचार दिनकर' नामक जैनग्रन्थ में इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया बताई गई है।

जैनआचारशास्त्रों ने **साधु–साध्वियों** को अपने आचार पालन के लिए स्पष्ट कहा है कि जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कार्य जिस समय पर करने योग्य है, वह कार्य उसी समय पर करना चाहिए। उठना, बैठना, सोना, आहार करना, मल–मूत्र निःसरण करना इत्यादि शारीरिक–क्रियाएँ और स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि धार्मिक–क्रियाएँ समय पर करनी चाहिए। असमय कार्य करने से बहुत हानि होती है और कभी–कभी तो पछताना भी पड़ता है।[72]

उत्तराध्ययनसूत्र में स्थूलरूप से जैन साधु–साध्वी के लिए समय का सामान्य विभाग इस प्रकार किया गया है[73] –

1)	दिन का प्रथम प्रहर	स्वाध्याय	5)	रात्रि का प्रथम प्रहर	स्वाध्याय
3)	दिन का तृतीय प्रहर	भिक्षाचर्या	7)	रात्रि का तृतीय प्रहर	निद्रा

सूक्ष्मरूप से जैन साधु–साध्वी के आचार का निरूपण हमें उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, मूलाचार आदि अनेक आगमों और उनकी टीकाओं में मिलता है। विस्तारभय से यहाँ उसकी चर्चा नहीं की गई है। इनकी टीकाओं में प्रत्येक कालखण्ड – घड़ी (24 मिनिट) या मुहूर्त्त (48 मिनिट) के कार्यों का भी उल्लेख मिलता है।

जिस प्रकार साधुओं को उचित समय पर उचित कार्य करना चाहिए, उसी प्रकार **गृहस्थों** को भी करना चाहिए। आचार्य हेमचंद्र के योगशास्त्र और उसकी टीका में तथा कुछ श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। प्रत्येक मनुष्य की जीवनचर्या का समय के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, जो लोग अपने जीवन में सम्यक् प्रकार से कार्य–विभाजन करते हैं, उनका जीवन सुखी और सुव्यवस्थित होने के साथ–साथ दूसरों के लिए आदर्श भी होता है।[74] ध्यान रहे कि समय का विभाजन और कार्यों की प्राथमिकताओं को निर्धारित किए बिना कोई भी कार्य सुचारु रूप से पूर्ण नहीं हो सकता, इसीलिए प्रत्येक गृहस्थ, चाहे वह विद्यार्थी हो, व्यवसायी हो एवं प्रत्येक गृहिणी, चाहे वह कामकाजी महिला हो, सामाजिक कार्यकर्त्ता हो या अन्य कोई भी क्यों न हो, सभी को कार्यों की प्राथमिकताओं को तय करके समय का सम्यक् विभाजन करना चाहिए। समय–सारणी में सिर्फ अर्थोपार्जन और भोग के लिए ही समय का सम्पूर्ण निवेश न होकर 'धर्म' और 'मोक्ष' पुरूषार्थ के लिए भी सम्यक् व्यवस्था होनी चाहिए। जैनदर्शन के अनुसार, मोह और क्षोभ से रहित मोक्षावस्था ही प्रत्येक आत्मा का परम ध्येय है।[75] यह मोक्षावस्था ही परम आत्मिक शान्ति और आनन्द का आधार है, अतः इस दुर्लभ मनुष्य जीवन में प्रमाद का त्याग करते हुए आत्मानन्द की प्राप्ति का पराक्रम ही गृहस्थ और साधु दोनों का कर्त्तव्य है। वस्तुतः, मोक्ष का पुरूषार्थ ही एकमात्र साध्य है, जिसके लिए धर्म, अर्थ और काम साधन हैं।[76] इसी दृष्टि से व्यक्ति को आवश्यकता और अनावश्यकता का भेद करते हुए धर्म,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ, काम और मोक्ष के पुरूषार्थ में समय का सही विभाजन करना चाहिए।

समय–सारणी बनाने हेतु आवश्यक निर्देश

1) समय–सारणी बनाते हुए निर्धारित मुख्य–लक्ष्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। यदि हम अपने लक्ष्य को ही भूल जाएँगे, तो इच्छित परिणाम की प्राप्ति की सम्भावना बहुत कम हो जाएगी।
2) सूर्योदय से पूर्व उठने की आदत डालें और यहीं से समय–प्रबन्धन की प्रक्रिया शुरु करें। भारतीय धर्मशास्त्र एकमत से कहते हैं कि ब्रह्ममुहूर्त्त में उठने से जीवन में नई स्फूर्त्ति एवं उत्साह का संचार होता है और आलस्य से छुटकारा मिलता है।[77] आज वैज्ञानिकों ने भी इसे प्रमाणित कर दिया है। जो प्रातःकाल चार बजे के आसपास जाग जाते हैं, उनके शरीर में 'सेराटोनिन' नामक रसायन का विशेष स्राव होता है, जो मानसिक प्रसन्नता एवं शान्ति का निमित्त है। जो देर तक सोते हैं, उन्हें 'सेराटोनिन' का उचित स्राव न होने से बेचैनी, चिड़चिड़ाहट, आलस्य, उदासीनतादि महसूस होते हैं।[78]
3) 'समय–सारणी' में दो कार्यों के बीच कुछ मिनटों का अवकाश होना चाहिए, जिससे कार्य शुरु करने में बाधा नहीं आती है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि 'भिक्षा के लिए गया हुआ साधु आहार लाने के बाद स्वाध्याय प्रारम्भ करे, तत्पश्चात् क्षण भर का विश्राम ले। विश्राम करते हुए गृहीत आहार का दूसरे मुनियों के लिए संविभाग करने का शुभ चिन्तन करे।'[79] यदि कोई व्यक्ति दो कार्यों के बीच विश्राम या अवकाश ले और उस समय कोई शुभ चिन्तन करे, तो शारीरिक एवं मानसिक रूप से तनावमुक्त (Stress Free) होता है, साथ ही कार्य करने की ऊर्जा में वृद्धि होती है, जिससे अगले कार्य की अच्छी शुरुआत हो सकती है।
4) 'समय–सारणी' में सन्ध्याकालीन भोजन अल्प और सूर्यास्त के पूर्व होना चाहिए। जैनआचारशास्त्रों में रात्रिभोजन के निषेध का विधान है। रात्रिभोजन–निषेध के अनेक वैज्ञानिक कारण हैं, उनमें से 'समय की अनावश्यक बर्बादी' भी एक मुख्य कारण है। जो लोग रात्रि में व्यवसायादि से निवृत्त होकर भोजन करते हैं, उन्हें अक्सर टहलने के लिए जाना पड़ता है अथवा आहार को पचाने के लिए टी.वी. आदि मनोरंजन एवं गपशप का सहारा लेना पड़ता है, परन्तु जो व्यक्ति सूर्यास्त के पूर्व भोजन कर लेता है, उसकी पाचन–प्रक्रिया निद्रा के समय के पूर्व स्वयमेव समाप्त हो जाती है। किसी ने आहार और शयन की प्रक्रिया को सुधारने के लिए सलाह दी है – 'पाँच बजे उठना एवं दस बजे खाना, फिर पाँच बजे खाना एवं दस बजे सोना'। इससे न केवल पुरूषों का, बल्कि गृहिणियों का समय भी बचेगा, जिसका उपयोग रात्रि में सत्संग, भक्ति आदि में किया जा सकता है।
5) 'समय–सारणी' को बनाने के लिए हम जीवन से सम्बन्धित विविध पक्षों को इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्र.	विभाग	कार्य
1)	आध्यात्मिक पक्ष	देव–पूजा, गुरु–उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, प्रतिक्रमण, आत्म–चिन्तन, तत्त्वाभ्यास, आत्म–ध्यानादि।
2)	पारिवारिक एवं सामाजिक पक्ष	बच्चों एवं बुजुर्गों की व्यवस्था, सभा–आयोजन, मित्र, आगन्तुक, व्यावसायिक एवं कौटुम्बिक समारोह सम्बन्धी आदि।
3)	शारीरिक पक्ष	दन्तधावन, शौच, स्नान, वस्त्र, भोजन, निद्रा इत्यादि।
4)	व्यावसायिक पक्ष	व्यवसाय एवं गृह सम्बन्धी।
5)	मनोरंजन पक्ष	टी.वी., पेपर, गपशप आदि।

उपर्युक्त पक्षों से सम्बन्धित नीतियाँ हर व्यक्ति की भिन्न–भिन्न हो सकती हैं, क्योंकि सबके पूर्व संस्कार, वर्त्तमान रुचि, भविष्य के उद्देश्य, उम्र, कर्त्तव्य, पद, परिस्थितियाँ आदि अलग–अलग होती हैं, फिर भी जैनआचारशास्त्रों के अनुसार, सामान्य रूप से हमें चाहिए कि आध्यात्मिक पक्ष को मूल लक्ष्य बनाते हुए साधन रूप में शारीरिक, व्यावसायिक, पारिवारिक और सामाजिक पक्षों का प्रयोग करें, परन्तु मनोरंजन या अन्य पक्षों की आवश्यकता से धीरे–धीरे स्वयं को मुक्त करें।

विभाग	विभागों का महत्त्व
आध्यात्मिक पक्ष	साध्य
शारीरिक, व्यावसायिक, पारिवारिक और सामाजिक पक्ष	साधन
मनोरंजन एवं अन्य पक्ष	अनावश्यक एवं बाधक

6) हमें साधन को साध्य के समान महत्त्व देकर साध्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अन्यथा हमारे स्वभाव में असन्तोष, क्रोध, मान, ईर्ष्या, चिड़चिड़ाहट, अधीरता, भय, रोष, शोक, तनाव, दबाव आदि मनोविकारों को विकसित होने का मौका मिल जाता है और हम आत्मशान्ति के उपायों से वंचित रह जाते हैं। फलतः कार्य की गुणवत्ता एवं समयोचित पूर्णता प्रभावित होती है।

हमें साधनों की पूर्त्ति के लिए समय उतना ही देना चाहिए, जितनी वास्तविक आवश्यकता है, अन्यथा निम्न विसंगतियाँ दिखाई देती हैं –

★ अर्थोपार्जन करने में ही व्यक्ति पूरी जिन्दगी बीता देता है।
★ 'होम मैनेजमेंट' अर्थात् घर को व्यवस्थित रखने में महिलाएँ दिन–भर लगी रहती हैं।
★ विद्यार्थी सिर्फ शिक्षा प्राप्त करने के लिए 20–25 वर्ष बीता देता है।
★ मनोरंजन के नाम पर क्रिकेट मैच आदि देखने के लिए शौकीन व्यक्ति सुबह से शाम तक टी. वी. के सामने बैठा रहता है, इत्यादि।

7) आध्यात्मिक साधक श्रीमद्राजचंद्र (1867–1900) ने अपनी बालवय में निम्नलिखित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय–विभाजन किया था, जो उनकी आत्म–सजगता का परिचायक है[80] –

- ★ 1 प्रहर – भक्तिकर्त्तव्य।
- ★ 1 प्रहर – धर्मकर्त्तव्य।
- ★ 1 प्रहर – आहार–प्रयोजन।
- ★ 1 प्रहर – विद्या–प्रयोजन।
- ★ 2 प्रहर – निद्रा।
- ★ 2 प्रहर – संसार–प्रयोजन।

4.6.5 उचित व्यक्ति को उचित कार्य सौंपना (Right Delegation of Work)

अनेक बार नियत कार्य को नियत समय–सीमा में पूरा करने के लिए दूसरों का सहयोग अपेक्षित होता है। इस हेतु उचित व्यक्ति को कार्य सौंपना भी आवश्यक होता है।

जहाँ तक आध्यात्मिक साधना का प्रश्न है, इसका परम ध्येय है – पराधीनता से मुक्ति। यह तो निज शुद्धात्मस्वरूप का आश्रय करके एकमात्र स्वात्मा में रमण करने की साधना है। यही एकमात्र करने योग्य साधना है। जैनदर्शन में स्पष्ट कहा है – मैं एक हूँ, संसार में मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ।[81] वस्तुतः यही संसार का परम सत्य है, लेकिन आध्यात्मिक साधना की उचित पात्रता के अभाव में साधक को व्यावहारिक साधना के स्तर पर जीना पड़ता है। यदि वह व्यावहारिक साधना को भी नहीं अपनाता है, तो सम्भव है कि वह इतना पथभ्रष्ट हो जाए कि पुनः पथ पर आरूढ़ होना ही अशक्य हो जाए। मूल में व्यावहारिक साधना आध्यात्मिक साधना का साधन है। इसमें अर्थ, काम और धर्म सम्बन्धी व्यावहारिक प्रवृत्तियाँ होते हुए भी अध्यात्म का लक्ष्य बना रहता है।

जहाँ तक जीवन की व्यावहारिक साधना का प्रश्न है, इसमें आवश्यकतानुसार सहयोग देने एवं सहयोग लेने की जीवनशैली होनी चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र में इसी दृष्टि से कहा गया है कि जीवन एक–दूसरे के सहयोग पर आधारित होता है – **परस्परोपग्रहो जीवानाम्**।[82]

अक्सर, जिन कारणों से व्यक्ति दूसरों को कार्य सौंपने से हिचकिचाता है, उनमें से मुख्य हैं –

- ★ व्यक्ति 'नाम' और 'यश' (Name and Fame) की प्राप्ति के प्रसंग में किसी को भी सहभागी नहीं बनाना चाहता है।
- ★ वह चाहता है कि कार्य के परिणाम या उत्पादन का अधिकतम लाभ उसे ही मिले, अन्य को नहीं।
- ★ वह दूसरे की क्षमताओं का सही मूल्यांकन नहीं कर पाता है।
- ★ उसे अपना महत्त्व और अधिकार कम होने का डर सताता है।
- ★ उसे लगता है कि दूसरों का सहयोग लेने से वह कार्य–विहीन और निष्क्रिय हो जाएगा।

वस्तुतः, इस स्थिति में सकारात्मक दृष्टि की आवश्यकता है, जो हमें जैनदर्शन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्राप्त होती है। जैनदर्शन के अनुसार, हमें क्रोध, मान, माया और लोभ के भावों से ग्रस्त होकर उचित समय पर प्राप्त उचित वस्तु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।[83] वस्तु का अर्थ है – संसाधन, जो दो प्रकार के होते हैं – मानव और भौतिक। हमें आवश्यकतानुसार सही उद्देश्यपूर्वक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनका संप्रयोग करना चाहिए। जैनदर्शन कहता है कि 'नाम' और 'धन' तो गँवाने के बाद भी मिल सकते हैं, लेकिन मनुष्य जीवन का समय तो महादुर्लभ है, अतः हमें यह सोचना होगा कि यदि कार्य सौंपने के दायित्व–बोध से समय–प्रबन्धन हो सकता है, तो यह सकारात्मक दृष्टि है। स्वयं प्रभु आदिनाथजी ने उचित समय जानकर भरतसहित अपने सौ पुत्रों को राज्य सौंपकर आत्मकल्याण के निमित्त संयम अंगीकार कर लिया था।[84]

दूसरों को कार्य का दायित्व देने का आशय दूसरों का शोषण करना कतई नहीं होना चाहिए। भगवान् महावीर का सूत्र है – **आयतुले पयासु**। इसका आशय है – सब जीवों को अपनी आत्मतुल्य देखो। बृहत्कल्पभाष्यकार के अनुसार, जो हम अपने लिए चाहते हैं, वही दूसरों के लिए भी चाहें और जो अपने लिए नहीं चाहते हैं, उसे दूसरों के लिए भी न चाहें।[85] महर्षि व्यास का भी सूत्र है – **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्** अर्थात् जो काम हमें अपने लिए प्रतिकूल है, वह हम दूसरों के लिए न करें। यदि हम किसी की रोटी छीनते हैं, तो चिन्तन करें कि वह हमारी रोटी छीनेगा, तो कैसा लगेगा। श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने स्वार्थवृत्ति के आधार पर दो संस्कृतियों की तुलना बहुत सुन्दर ढंग से की है। उन्होंने कहा – 'अमेरिका के लिए सारी दुनिया एक बाजार है और हमारे लिए सारी दुनिया एक कुटुम्ब है।'[86] आशय यह है कि हमारा व्यवहार स्वार्थपरक नहीं होकर आत्मीयतापरक होना चाहिए, इसीलिए भगवान् महावीर को कहना पड़ा कि किसी की आजीविका मत छीनो।[87]

जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने गृहस्थ जीवन के योग्य जिन प्राथमिक गुणों का उल्लेख किया है, उन्हें 'मार्गानुसारी गुण' कहा जाता है। इनमें निम्नलिखित गुण प्रस्तुत प्रसंग में उपयुक्त हैं[88] –

- ★ न्यायनीतिपूर्वक आजीविकोपार्जन करना
- ★ सत्पुरूषों की संगति करना
- ★ सदाचारी पुरूषों को उचित सम्मान देना
- ★ अपने आश्रितों का पालन–पोषण करना
- ★ अपने उपकारी के उपकार का विस्मरण नहीं करना
- ★ काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर आदि आन्तरिक शत्रुओं से बचने का प्रयत्न करना इत्यादि।

कभी–कभी दूसरों को कार्य सौंपने का अर्थ जीवन की पराश्रितता मान लिया जाता है, परन्तु यह सत्य नहीं है। वस्तुतः, जैनदर्शन पराश्रित जीवन के बजाय परस्पराश्रित जीवन (Interdependent Life) की पहल करता है। दूसरों को कार्य सौंपने का अर्थ यह नहीं है कि हम निष्क्रिय हो जाएँ अथवा भोगों में तल्लीन हो जाएँ, बल्कि यह है कि हम कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति से उचित सहयोग लेकर अल्पसमय में कार्य को सम्पन्न कर सकें।

जैन साधु–साध्वियों में भी परस्पर–आश्रितता का सिद्धान्त मान्य है। गुरू–शिष्य के सम्बन्ध के साथ–साथ गण, कुल, शाखा, गच्छ आदि की व्यवस्थाएँ इसकी द्योतक हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमद्राजचंद्र ने कहा है – मान आदि महाशत्रुओं से उत्पीड़ित शिष्य स्वप्रयासों से अनन्तकाल में भी मुक्त नहीं हो सकता, किन्तु मात्र सद्गुरु की शरण में जाने पर अल्पसमय एवं अल्पप्रयत्नों से ही मुक्त हो जाता है।[89] यह सद्गुरु के सहयोग (निमित्त) से प्राप्त ज्ञान का परिणाम है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि शिष्य का गुरु के प्रति कोई दायित्व नहीं है। शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरुजनों की उचित वैयावृत्य (सेवा–शुश्रूषा) करे। शिष्य के बारे में कहा गया है – 'वह सूर्योदय होने पर हाथ जोड़कर गुरुजनों से पूछे कि हे भन्ते! इस समय मैं क्या करूँ? हे भदन्त! मैं चाहता हूँ कि अपनी आत्मा को आपकी वैयावृत्य में अथवा स्वाध्याय में नियुक्त करूँ।'[90] इस प्रकार शिष्य में सहयोग देने और सहयोग लेने की उत्तम नीति होनी चाहिए। यह परस्पराश्रितता का व्यावहारिक रूप है।

भगवान् महावीर और उनके पूर्व भी प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल में विविध कार्यों के लिए सकल साधुसंघ को अलग–अलग 'गणों' में विभाजित करने की परम्परा रही है। इन गणों के कार्यों का सम्यक् संचालन करने हेतु असाधारण प्रतिभाशाली श्रेष्ठ मुनिराजों को दायित्व सौंपते हुए उन्हें 'गणधर' पद से विभूषित किया जाता था। आज भी जैनसंघ को अनुशासित करने हेतु आचार्य, उपाध्याय, पंन्यास, गणि आदि पद एवं तत्सम्बन्धी कार्य सौंपने की परम्परा है। वस्तुतः, यह प्रक्रिया सिर्फ साधुसंघ के लिए ही नहीं, बल्कि मनुष्यमात्र को समयोचित कर्त्तव्य निभाने के लिए सर्वत्र आवश्यक है और यही सामूहिकता की भावना अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य की सफलता का राज है।

दायित्व–विभाजन की जैन पौराणिक–कथा[91]

राजगृह नगरी में धन सार्थवाह रहता था। घर–परिवार का उत्तरदायित्व सौंपने हेतु उसने अपनी चारों पुत्रवधुओं को योग्यता–परीक्षणार्थ पाँच–पाँच दाने शालीकण (चावल) के दिए और माँगने पर लौटाने को कहा।

पहली पुत्रवधू 'उज्झिता' ने निरर्थक जानकर उन्हें फेंक दिया, दूसरी पुत्रवधू 'भोगवती' ने फेंका तो नहीं, लेकिन खा लिया, तीसरी पुत्रवधू 'रक्षिता' ने पिताजी की बात को सम्मान देकर उन्हें सम्भालकर रख लिया और चौथी पुत्रवधू 'रोहिणी' ने अपने पीहर भेजकर कृषि द्वारा संवर्द्धित करने का निर्देश दिया।

पाँच वर्ष बीत जाने पर सेठ ने चारों पुत्रवधुओं से दाने वापस माँगे। सच्चाई जानने पर पहली पुत्रवधू को घर की सफाई आदि का कार्य सौंपा, दूसरी को रसोई आदि की व्यवस्था में नियुक्त किया, तीसरी पुत्रवधू को घर–भण्डार की सुरक्षा का दायित्व दिया।

चौथी पुत्रवधू से पूछने पर उसने कहा कि दाने वापस करने हेतु उसे कई गाड़ियों की आवश्यकता है, सेठ आश्चर्य–चकित हो गया। उसके पूछने पर 'रोहिणी' ने सारा वृत्तान्त सुनाया। सेठ ने प्रसन्न होकर उसे घर का मुखिया बना दिया। इस प्रकार, उचित व्यक्ति को उचित कार्य सौंपने का यह एक आदर्श उदाहरण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4.6.6 कार्य का सही क्रियान्वयन करना (Right Implementation of Work)

कार्य के सफल सामयिक क्रियान्वयन का अद्भूत माहात्म्य है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व, उत्साह, आत्मविश्वास और प्रभाव में चार चाँद लगा देता है। इससे व्यक्ति परिवार में प्रतिष्ठा और समाज में मान्यता प्राप्त करता है। वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी विजेता के समान उभरता है। हर व्यक्ति ऐसी दशा प्राप्त तो करना चाहता है, लेकिन प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि कार्य का सही क्रियान्वयन नहीं कर पाता, अतः सफलता के लिए दायित्व (कार्य) का सम्यक् क्रियान्वयन आवश्यक है।

(क) मन की एकाग्रता – मानव की सबसे बड़ी शक्ति भी मन है और सबसे बड़ी समस्या भी। जैसे बन्दर क्षण भर भी शान्त नहीं बैठ सकता, वैसे ही मन भी संकल्प–विकल्प से क्षण भर के लिए शान्त नहीं होता।[92] जो कार्य एक घण्टे में पूरा होना चाहिए, मन की एकाग्रता के अभाव में उसमें चार घण्टे भी लग सकते हैं और यदि मन की एकाग्रता बन जाए, तो उसी कार्य को आधे घण्टे में भी पूरा किया जा सकता है।[93] अतः कार्य के सम्यक् क्रियान्वयन के लिए मन की अचपलता, स्थिरता, शान्ति और एकाग्रता अत्यन्त आवश्यक है।

(ख) सतत जागरुकता – कार्य के सही क्रियान्वयन के लिए सतत जागरुकता (अप्रमत्तता) बहुत जरुरी है। आचारांगसूत्र के अनुसार, बुद्धिमान साधक को अपनी साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए।[94] इसमें स्पष्ट कहा है कि जो सोता है, वह असाधक (अमुनि) है और जो जागता है, वह साधक (मुनि) है। बार–बार उपदेश देते हुए कहा है कि 'तू देख! तू देख!' (पास! पास!) अर्थात् प्रमाद को छोड़कर अप्रमत्त अवस्था (द्रष्टाभाव) को प्राप्त हो।[95] उत्तराध्ययनसूत्र में भी समयमात्र का प्रमाद नहीं करने को कहा गया है। भगवान् महावीर कहते हैं – समय बड़ा भयंकर है और इधर प्रतिक्षण जीर्ण–शीर्ण होता हुआ शरीर है, अतः साधक को भारण्ड पक्षी की तरह सदा अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिए।[96] वस्तुतः समय–प्रबन्धक (Time Manager) भी एक साधक ही है, जो अपनी जीवनशैली को साधने का प्रयत्न कर रहा है, अतः प्रयत्न में जागरुकता होनी ही चाहिए।

(ग) कार्य के प्रति रुचि – जैनदर्शन में कहा गया है – **'रूचि अनुयायी वीर्य'** अर्थात् किसी कार्य में होने वाली रुचि का अनुकरण करके हमारा पुरूषार्थ (वीर्य/उद्यम) स्फूटित होता है।[97] जब किसी कार्य में पुरूषार्थ अधिक होता है, तो सफलता की सम्भावना अधिक हो जाती है, अतः हमें चाहिए कि हम अनमने ढंग से या बोझ समझकर कार्य को नहीं करते हुए पूरे उत्साह और आनन्दपूर्वक जीवन का प्रत्येक कार्य करें, क्योंकि अनमने ढंग से कार्य करने का अर्थ है – अपने बहुमूल्य समय, श्रम एवं धन का अपव्यय करना।[98]

(घ) समयप्रबद्धता (Punctuality) – भगवान् महावीर कहते हैं कि असमय का त्यागकर समयोचित कर्त्तव्य करें। जैनसाधु के लिए कहा गया है कि प्रत्येक कार्य का अपना समय है, जिसमें उसे कार्य को निष्पन्न करना चाहिए।[99] सूत्रकृतांगसूत्र का कथन है – **अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, लेणं**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेणकाले, सयणं सयणकाले। यदि कोई स्वाध्याय काल में प्रतिलेखन करे अथवा प्रतिलेखन काल में स्वाध्याय करे तो यह दोष है। यहाँ तक भी कह दिया है कि नियत समय पर स्वाध्याय नहीं करना और अनियत समय पर स्वाध्याय करना दोनों ही दोषपूर्ण हैं।[100]

ऐसा नहीं है कि समय–प्रबद्धता सिर्फ साधु वर्ग के लिए ही आवश्यक है। श्रावक (गृहस्थ) वर्ग के लिए भी इसका समान महत्त्व है। श्रावक वर्ग को चाहिए कि सुबह से लेकर रात्रि तक अपनी निर्धारित समय–सारणी का अनुकरण करे और अपने मूल लक्ष्य (मोक्ष पुरुषार्थ) के प्रति सजग रहे।

(ङ) अवकाश के क्षणों का उपयोग करने की कला – यहाँ तक कि हमें यह कला भी विकसित करनी चाहिए कि हम अवकाश के क्षणों का भी यथासम्भव सर्वोत्तम सदुपयोग कर सकें। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

- ★ **महात्मा गाँधी (1869–1948)** – फुरसत के समय में ये सूत कातते थे। इन्होंने जेल में रहते हुए गीता का गहन अध्ययन किया।
- ★ **पं. जवाहरलाल नेहरु (1879–1964)** – जेल में रहते हुए इन्होंने 'भारत : एक खोज' (Discovery of India) की रचना की।
- ★ **हेरियट बीचर स्टोव (1811–1896)** – इन्होंने अपनी बेस्ट सेलिंग नॉवेल 'अंकल टाम्स केबिन' (1852) को घर–गृहस्थी की झंझटों के बीच ही लिखा था। भोजन की प्रतीक्षा करने में जो समय बीतता था, उसी समय में उन्होंने फ्राउन की रचना 'इंग्लैण्ड' को पढ़ा था।[101]
- ★ **महान् सन्त मानतुंगाचार्य (लगभग 618 ई.)** – 'भक्तामर' जैसी भक्तिरस से ओतप्रोत और अमर कृति की रचना जेल की सलाखों में की।
- ★ **जैन साधु–साध्वी** – सामान्यतया अपने हाथ में माला रखते हैं। जैसे ही उन्हें फुरसत मिलती है, वैसे ही माला के माध्यम से परमात्मा का आलम्बन लेकर जप–साधना में लग जाते हैं।
- ★ **मंत्रीश्वर पेथड़शाह** – इन्होंने प्रतिदिन पालकी में बैठकर राजमहल जाते हुए मार्ग में ही 'उपदेशमाला ग्रन्थ' कण्ठस्थ कर लिया था।[102]

फुरसत के समय का सदुपयोग करने के लिए ही डॉ. एन. होवे कहते हैं –

Leisure is the time for doing something useful.[103]

जो लोग दुनिया में आगे बढ़े हैं, उन्होंने फुरसत का समय कभी व्यर्थ नहीं जाने दिया, अतः व्यक्ति को चाहिए कि फुरसत का समय किसी सार्थक चिन्तन अथवा उपयोगी काम में लगाए। महर्षि वेदव्यासजी ने लिखा है – 'यदि तुम्हें एक क्षण का भी अवकाश मिले, तो उसे सत्कर्म में लगाओ, क्योंकि कालचक्र क्रूर व मन उपद्रवी है।'[104] पश्चिम में एक कहावत है – **'Empty mind is Devil's workshop'** अर्थात् खाली दिमाग शैतान का घर।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(च) नियत वस्तु के लिए नियत स्थान – जो वस्तु जहाँ रखने की है, उसे वहीं पर रखने से वस्तु को ढूँढना नहीं पड़ता एवं कार्य के क्रियान्वयन में सफलता मिलती है।

जैनदर्शन में इस हेतु उत्थापन–प्रतिस्थापन (आदान–निक्षेपण) नामक 'समिति' का उल्लेख है, जिसका तात्पर्य है – वस्तु को उसके सम्यक् स्थान पर ही प्रतिस्थापित करना। अतः समय–प्रबन्धक को वस्तुओं को उठाने और रखने में सावधानी भी रखनी चाहिए।

(छ) अल्प आवश्यकताओं में जीना – जिसके पास जितनी अधिक सामग्रियाँ होगी, उसका उतना अधिक समय उनके रख–रखाव में बीतेगा, इसीलिए जैनदर्शन में 'परिग्रह' पर अंकुश लगाने के लिए जोर दिया गया है।[105] परिग्रह दो प्रकार का होता है – अंतरंग एवं बहिरंग। ये दोनों ही परिग्रह कार्य के सामयिक क्रियान्वयन में बाधक हैं, अतः इनकी उचित सीमा होना नितान्त आवश्यक है। जैनदर्शन का कहना है – इच्छाएँ असीम हैं, उन सभी की पूर्त्ति सम्भव नहीं है, अतः अपनी इच्छाओं को सीमित करें।[106] (विशेष : देखें अध्याय 10 एवं 11)

(ज) मनुष्य–जीवन की दुर्लभता का चिन्तन – मनुष्य–जीवन की दुर्लभता को समझकर आत्महित के लिए इसे एक अपूर्व अवसर के रूप में स्वीकारना चाहिए। सूत्रकृतांगसूत्र में भगवान् महावीर कहते हैं – 'जीवन की दुर्लभता को, क्यों नहीं समझ रहे हो? मरने के बाद परलोक में सम्बोधि का मिलना कठिन है। जैसे बीती हुई रातें फिर लौटकर नहीं आती, उसी प्रकार मनुष्य का गुजरा हुआ जीवन फिर हाथ नहीं आता।'[107] इस प्रकार का चिन्तन करने से समय का सर्वोत्तम सदुपयोग करने की अभिप्रेरणा अन्तस् में जाग्रत होती है, जो कार्य के कुशल क्रियान्वयन में सहयोगी बनती है।

(झ) धैर्य – कार्य के सम्यक् क्रियान्वयन के लिए जागरुकता, एकाग्रता, दृढ़ता एवं स्फूर्त्ति होनी चाहिए, लेकिन उसमें जल्दबाजी बिल्कुल नहीं करनी चाहिए। भगवान् महावीर ने कहा है – **दवदवस्स न गच्छेज्जा** अर्थात् मार्ग में जल्दी–जल्दी, ताबड़–तोड़ नहीं चलना चाहिए।[108] जल्दबाजी करने से कई बार एकाग्रता भंग हो जाती है, सन्तुलन बिगड़ जाता है और काम में गड़बड़ी का अन्देशा रहता है। साथ ही आत्म–जागृति खो जाती है एवं हिंसा, झूठ, कपट, लालच आदि असात्विक वृत्तियाँ बहुत शीघ्रता से बढ़ती हैं। इन सब कारणों से अधिकांशतः समय का अपव्यय अधिक होता है, इसीलिए John Heywood (1497–1580) ने कार्य के सफल सामयिक क्रियान्वयन के लिए सावधान करते हुए कहा है – **'Haste maketh waste'** अर्थात् जल्दबाजी से बर्बादी होती है।[109]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4.6.7 समय की बर्बादी से बचना (Avoid Time Wastage)

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए।[110] आशय यह है कि हमें सदैव यह भान होना चाहिए कि हमें क्या करना है और क्या नहीं करना है। इस सही और गलत का भेद करने में समर्थ बुद्धि ही विवेक कहलाती है। लक्ष्य–प्राप्ति में बाधक तत्त्वों और उनकी आसक्ति का परित्याग करना 'असंयम से निवृत्ति' है तथा लक्ष्य–प्राप्ति में साधक तत्त्वों का संप्रयोग करना 'संयम में प्रवृत्ति' है। इससे समय की बचत होती है और उचित लक्ष्य की प्राप्ति उचित समय पर की जा सकती है।

फिर भी, न चाहते हुए व्यक्ति समय नष्ट करने वाले कारकों के भँवर में कुछ इस प्रकार से फँस जाता है कि उसका अमूल्य समय यूँ ही नष्ट हो जाता है।[111]

समय नष्ट करने वाले कारक (Time wasters)[112]

समय नष्ट करने वाले कारकों को हम चार श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं –

(क) स्वयं से जुड़े कारक (Time wasters related to self)

(ख) पारिवारिक एवं सामाजिक कारक (Time wasters related to family and society)

(ग) व्यवसाय सम्बन्धी कारक (Time wasters related to occupation)

(घ) अन्य कारक (Other time wasters)

(क) स्वयं से जुड़े कारक

समय बर्बाद करने वाले कुछ कारक ऐसे हैं, जिनके लिए पूर्णतया व्यक्ति ही जिम्मेदार होता है। जीवन जीते हुए हमारे व्यक्तित्व में कुछ ऐसी विसंगतियाँ घर कर लेती हैं, जिससे हमारे जीवन का अमूल्य समय व्यर्थ चला जाता है, जैसे –

1) नकारात्मक मनःस्थिति – जब मनःस्थिति सकारात्मक होती है, तब व्यक्ति अल्पसमय में ही अपना कार्य सम्पन्न कर लेता है, किन्तु नकारात्मक मनःस्थिति वाला व्यक्ति सामान्य कार्य में भी अनावश्यक समय खर्च कर देता है। मन की अधीरता, अस्थिरता, चंचलता, असन्तोषता, विचलितता, विकलता, व्याकुलता एवं बेचैनी किसी भी कार्य को उचित ढंग से एवं उचित समय पर पूरा नहीं होने देती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नकारात्मक मनःस्थिति के कतिपय उदाहरण

1) स्मृति अतीत के अनावश्यक विषयों के स्मरण में डूब जाना।
2) कल्पना भविष्य की आधारहीन कल्पना में खो जाना।
3) चिन्ता अनचाही घटना कहीं घटित न हो जाए, ऐसी अनावश्यक चिन्ता करना।
4) भय भविष्य के सम्भावित नुकसान और असुरक्षा से डरना।
5) निराशा समस्या से जूझने का उत्साह समाप्त हो जाना।
6) शोक अनचाही घटना के घटित होने पर 'यह नहीं होनी थी', ऐसे चिन्तन से दुःखी होना।
7) ईर्ष्या किसी के आगे बढ़ने पर उससे द्वेष करना।
8) आसक्ति इंद्रियों के विषयों के प्रति मुग्ध हो जाना।
9) द्वंद्व आत्मविश्वास की कमी से निर्णय नहीं कर पाना।
10) मिथ्यात्व संसार के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ होने से जो सत्य है, उसे असत्य मानना और जो असत्य है, उसे सत्य मानना, ऐसी वैभाविक आत्मदशा का होना।
11) क्रोध अपेक्षा की उपेक्षा होने पर उत्तेजित होना।
12) अधीरता समयोचित फल की प्राप्ति न होने पर बेचैन होना।

नकारात्मक मनःस्थिति के उपर्युक्त लक्षणों से बचने के लिए सकारात्मक सोच का अभ्यास करना चाहिए। जैनदर्शन में इस अंतरंग–शुद्धि की प्रक्रिया को 'तप' कहा गया है। सकारात्मक सोच के माध्यम से व्यक्ति के अंतरंग व्यक्तित्व का विकास होता है और वह बड़ी से बड़ी समस्याओं में भी विचलित हुए बिना शान्तिपूर्ण एवं त्वरित समाधान खोज लेता है। (विशेष : देखें अध्याय 7)

2) आरामपसन्द या आलसी प्रकृति – व्यक्ति का सामान्य स्वभाव होता है कि उसमें गलत प्रवृत्तियों को समय से पूर्व ही करने की रुचि रहती है, जबकि सम्यक् प्रवृत्तियों को उचित समय पर भी करने की मानसिकता नहीं बन पाती। वह अच्छे कार्यों को आज के बजाय कल पर टालने का प्रयास करता है, किन्तु हमें याद रखना चाहिए कि जैनदर्शन के अनुसार, मनुष्य की यह प्रवृत्ति उचित नहीं है। हमें गलत प्रवृत्तियों को तत्काल क्रियान्वित करने से बचने का और सम्यक् प्रवृत्तियों को तत्काल करने का प्रयत्न करना चाहिए।

Procrastination is the thief of time

(प्रमाद समय का हरण करने वाला तत्त्व है।)

आलसी प्रवृत्ति वाले लोग 'आज और अभी करो' वाले कार्य को 'कल या कभी भी कर लेंगे' के लिए टाल कर भले ही कुछ समय के लिए तनाव–मुक्ति के भ्रम में रह लें, परन्तु वास्तव में वे अपना तनाव का स्तर बढ़ाते ही हैं। भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा है कि 'वर्त्तमान में जो क्षण उपस्थित है, वही महत्त्वपूर्ण है, अतः उसे सफल बनाना चाहिए।'[113]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रमादी प्राणी पर कटाक्ष करते हुए कहा गया है कि जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, जो उससे कहीं भाग कर बच सकता हो अथवा जो यह जानता हो कि वह कभी मरेगा ही नहीं, वही कल पर भरोसा कर सकता है।[114] इसी प्रकार करुणा दृष्टि से कहा गया है – 'जो कर्त्तव्य कल करना है, वह आज ही कर लेना अच्छा है। मृत्यु अत्यन्त निर्दयी है, यह कब आ जाए, मालूम नहीं।'[115] पुनश्च आलस्य घर न कर जाए, इसके लिए सावचेत करते हुए कहते हैं – 'आलसी की संगति छोड़ देनी चाहिए।'[116] जिसे अल्प जीवन में अधिकतम लाभ प्राप्त करना है, उसे आलस्य रूपी महारोग को दूर करना आवश्यक है। याद रखने योग्य कहावत है –

One today worth two tomorrows

(आज नहीं किया, तो कल दुगुना समय लगेगा।)

3) अस्वस्थता (Ill–health) – अस्वस्थ व्यक्ति किसी भी कार्य को करने में अनावश्यक समय खर्च करता है। अस्वस्थता के कारण से उसके सभी क्रियाकलाप बार–बार अवरुद्ध होते हैं। उसका उठना, बैठना, चलना, खाना, पीना, सोचना, विचारना, सोना आदि सभी प्रभावित होते हैं।

जैनदर्शन में स्वस्थ शरीर के लिए आहार–विवेक को अतिमहत्त्वपूर्ण माना गया है। निशीथभाष्य में कहा भी गया है – 'मोक्ष के साधन ज्ञानादि हैं, ज्ञानादि का साधन देह है, देह का साधन आहार है, अतः साधक को समयानुकूल आहार करना चाहिए।'[117] देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर आहार की शुद्धता, पौष्टिकता, सन्तुलितता, भक्ष्यता, बारम्बारता आदि का विचार करना चाहिए और इसके बाद ही आहार ग्रहण करना चाहिए। स्पष्ट कहा गया है कि व्यक्ति को निश्चित समय पर सन्तोष के साथ भोजन करना चाहिए **(काले भोक्ता च साम्यतः)**। किन्तु यदि अजीर्णादि हो जाए, तो उनकी बाधा दूर होने पर ही भोजन करना चाहिए **(अजीर्णे भोजन–त्यागी)**।[118] साथ ही रात्रिभोजन का सर्वथा त्याग करना चाहिए। ज्ञातव्य है कि जैनाचार्यों के आहार सम्बन्धी सभी निर्देश केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आचरणीय है। इनका पालन कर व्यक्ति स्वस्थ रहकर अपने कार्यों को समय पर सम्पादित कर सकता है और समय की बर्बादी से बच सकता है। (विशेष : देखें अध्याय 5)

4) आदतें (Habits) – कई बार व्यक्ति अकारण ही अपनी गलत आदतों से अपने अमूल्य समय को नष्ट करता रहता है, जिन्हें जैनदर्शन में **'अनर्थ–दण्ड'** क्रियाएँ कहा जाता है। 'अनर्थ–दण्ड' कहने का प्रयोजन यह है कि ये क्रियाएँ न केवल निरर्थक होती हैं, बल्कि वर्त्तमान अथवा भविष्य में हमें नुकसानदायी (दण्डरूप) सिद्ध होती हैं।[119] जैनकथानकों में इलायची कुमार का उल्लेख मिलता है, जो गृहस्थावस्था में सेठ के पुत्र होने के बावजूद अपनी विषय–सुख की आसक्तिवशात् रूपाली नटकन्या के मोहपाश में फँस गए और अपना काफी समय बर्बाद कर दिया।[120] कहा भी गया है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वकृतेषु विलम्बन्ते विषयासक्त चेतसः।
क्षिप्रमक्रियमाणेषु, तेषु तेषां न तत्फलम्।।

अर्थात् विषयों में आसक्त पुरूष अपने आवश्यक कार्यों में विलम्ब कर देते हैं, जिससे उन्हें कार्य का उपयुक्त फल प्राप्त नहीं होता।[121]

गलत आदतों के कतिपय उदाहरण

1) अकारण सुबह देरी से उठना।
2) स्नान के लिए प्रतिदिन 10–15 मि. गर्म पानी का इन्तजार करना।
3) बाथ–टब अथवा शॉवर में नहाना, जिसमें समय और जल का अपव्यय अधिक होता है।
4) जो स्नान 5–7 मि. में हो सकता है, उसमें साबुन, शैम्पू, पानी का अधिक प्रयोग करते हुए 20–25 मि. खर्च करना।
5) सुबह उठने के बाद 'बेड टी' पीने की आदत होना, जिसके कारण उठने के बाद पलंग छोड़ने में लगभग आधा घण्टा खर्च हो जाता है।
6) शौचालय जाने के लिए उपयुक्त हाजत (दबाव, Pressure) की तैयारी करने के लिए कई प्रयोग करना, जैसे – तम्बाकू, सिगरेट, चाय, दूध, नस (तपकीर) आदि। धीरे–धीरे इनकी आदत पड़ जाने पर प्रतिदिन 15–20 मि. नष्ट हो जाते हैं।
7) सुबह–सुबह क्लब में खेलना, जिम्नेशियम में कसरत करना, पार्क में टहलना, योग–केंद्र में योगा करना इत्यादि। ये कार्य शरीर की फिटनेस के लिए आवश्यक हो सकते हैं, परन्तु यदि देवदर्शन, सत्संग, प्रतिक्रमण, दान आदि के लिए पैदल जाया जाए, तो एक ही समय में आत्मा और शरीर दोनों का हित साधा जा सकता है।
8) सुबह–सुबह मित्रों के जन्मदिन, विवाह की वर्षगाँठ आदि की बधाई देने में समय का फिजूल खर्च करना, जबकि ये कार्य तो दिनभर में प्राप्त फुरसत के क्षणों में भी सम्भव हैं।
9) ब्रश या शेविंग करते हुए गीत गुनगुनाना, दर्पण में स्वयं को निहारते रहना और इस प्रकार जिस कार्य में केवल 5–7 मि. लगने चाहिए, उसमें 15–20 मि. खर्च करना।
10) अन्य अनुपयोगी कार्यों में समय का अनावश्यक खर्च करना।
11) हर चीज की मेचिंग करने का भूतसवार होना, जिसमें काफी समय नष्ट होता है, जैसे – कपड़े, बेल्ट, रुमाल, मोजे, जूते, ब्रीफकेस, कार आदि।
12) स्नान के पश्चात् काँच, तेल, कंघी के अतिरिक्त कई प्रकार के समयनाशक कॉस्मेटिक्स, जैसे – परफ्यूम्स, पाउडर, लिपस्टिक, नेलपॉलिश आदि का प्रयोग करना।
13) पेपर आदि पढ़ने में अधिक समय नष्ट करना।
14) वस्तुविशेष को रखकर भूल जाना और आवश्यकता पड़ने पर ढूँढते रहना।
15) पानी, पार्किंग, कचरा आदि की समस्या को लेकर पड़ौसी आदि से आए दिन झगड़ना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

16) सब्जीवाले, रिक्षेवाले, सफाई कर्मचारी, राशनवाले आदि से छोटी–छोटी रकम के लिए खूब लम्बे समय तक भाव–ताव (Bargaining) करना।

17) नाश्ते और भोजन के मेनू (Menu) बनाने के विचार–विमर्श में समय नष्ट करना।

18) आहार में प्रतिदिन सामग्रियों की अत्यधिक विविधता की चाह होना।

19) बच्चों और पति को बार–बार उठाने का प्रयास करना, फिर भी उनका न उठना।

20) परिवार में प्रतिदिन क्लेश और कलह करना।

21) किसी तीसरे व्यक्ति की आलोचना, निन्दा अथवा चुगली करना, जिसमें स्वयं और सामने मौजूद व्यक्ति दोनों के समय की बर्बादी हो।

22) कई कार्य एक साथ करना, लेकिन किसी भी कार्य को पूरा नहीं करना।

23) मोबाईल अथवा दूरभाष का दुरुपयोग करना, जैसे – अनावश्यक फोटो खींचना, SMS भेजना, गेम्स खेलना, गाने सुनना, अतिवार्ता करना आदि।

24) कम्प्यूटर का दुरुपयोग करना, जैसे – इंटरनेट पर गेम्स खेलना, चेटिंग करना, म्युजिक सुनना, रिंग–टोन ढूँढना, स्क्रीन–सेवर ढूँढना, अश्लील चित्र देखना आदि।

25) छोटी–छोटी बातों को बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत करना।

26) अपने सहवर्त्तियों, अनुवर्त्तियों, अधिकारियों, ग्राहकों अथवा नौकरों के साथ असभ्य, अशिष्ट और अपशब्दयुक्त वाणी का प्रयोग करना, जिससे छोटी–छोटी बातों पर भी लम्बी–लम्बी बहस हो।

27) बात–बात में हास्य करना, जिससे मनोरंजन अधिक और काम कम हो।

28) समाचारपत्र, उपन्यास, पत्रिकाएँ आदि का अनावश्यक प्रयोग करना।

29) मनोरंजन के निमित्त अधिक यात्राएँ करना एवं इन यात्राओं में यूँ ही गपशप आदि में समय बिताना।

30) बार–बार खरीददारी करना एवं उसमें डिजाइन आदि के चुनाव में व्यर्थ समय नष्ट करना।

31) बार–बार घर की सफाई करना।

32) हर कार्य में सजावट (Decoration) के लिए अधिक समय देना।

33) बार–बार होटलों में जाना।

34) वैवाहिक एवं अन्य व्यावहारिक कार्यक्रमों में अनिवार्य रूप से जाना और उनमें पूरे समय अपनी उपस्थिति देना।

35) शाम को देरी से भोजन करना और फिर टहलना।

36) दूरदर्शन का दुरुपयोग करना।

37) सप्त व्यसन की आदत पड़ना, जो इस प्रकार हैं–

1) शिकार 2) जुआ 3) चोरी 4) मांसभक्षण 5) मद्यपान 6) वेश्यागमन 7) परस्त्रीगमन

38) शाम को भोजन करके चौराहे अथवा चौपाल पर गपशप करना।

39) ग्राहकों को रिझाने के लिए उनसे देश और राजनीति की अनावश्यक चर्चा करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

40) अतीत की घटनाओं को बार–बार याद करना और लोगों को सुनाना।

41) रोज समाचारपत्र अथवा टी.वी. में भविष्यफल आदि देखना।

42) क्रिकेट मैच आदि देखने में घण्टों बिताना।

43) मेहमानों की खूब अच्छी खातिरदारी हो, इस विचार में व्यर्थ समय नष्ट करना।

44) काम के बीच–बीच में चाय, सिगरेट आदि पीना।

45) शाम को बाजार में घूमने–फिरने जाना, विभिन्न प्रकार के चाट आदि खाना इत्यादि।

(ख) पारिवारिक एवं सामाजिक कारक[122]

1) आगन्तुक (Visitors) – परिवार में कोई ऐसे मेहमान आते हैं, जो बिना किसी पूर्व सूचना के एवं बिना किसी ठोस उद्देश्य के अनिश्चित काल के लिए किसी भी समय आ जाते हैं। प्रायः ये अर्थहीन वार्ता करने में अपना एवं दूसरों का समय नष्ट करते हैं, अतः समझदार समय–प्रबन्धक को चाहिए कि वह इनकी निरर्थक बातों में रुचि न दिखाकर उन्हें शीघ्रता से विदा कर दे।

2) मित्रगण (Friends) – कुछ मित्र ऐसे होते हैं, जो निरर्थक बातों एवं अनावश्यक कार्यों में स्वयं का और दूसरों का समय नष्ट करते हैं, अतः समय–प्रबन्धक को चाहिए कि ऐसे मित्रों एवं इनके साथ बातचीत करने में सतर्क एवं सावधान रहे।

3) अनुशासनहीनता (Indiscipline) – परिवार एवं समाज में अक्सर अनुशासनात्मक व्यवहार की कमी होती है, जिससे कोई भी कार्य न निर्धारित समय पर प्रारम्भ हो पाता है और न निर्धारित समय पर समाप्त। इससे समय की अतिरिक्त बर्बादी होती है, अतः हमें चाहिए कि समय का दुरुपयोग रोकने के लिए उपाय खोजें।

4) अव्यवस्थाएँ (Disorder) – परिवार और समाज में कई प्रकार के रीति–रिवाज चल रहे हैं, जो अन्धविश्वास एवं अन्धरूढ़ियों पर आधारित हैं। इनका कोई वैज्ञानिक या तात्त्विक आधार नहीं है। कहा जा सकता है कि बिना प्रयोजन वाले आयोजनों की बाढ़–सी आ गई है। इन अव्यवस्थाओं में बहुत–सा समय खर्च हो जाता है, अतः इनसे बचने के उपाय खोजने चाहिए।

5) निरर्थक गोष्ठियाँ – कई बार छोटी–छोटी बातों को लेकर गोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं, लेकिन उनमें भी एक–दूसरे का अहं टकराता है। वैचारिक–संघर्ष विवाद का रूप ले लेता है। समाधान के अभाव में तनाव और कलह बढ़ते हैं, साथ ही पारिवारिक एवं सामाजिक प्रगति का उद्देश्य भी नष्ट हो जाता है।

6) अनावश्यक आलोचनात्मक बैठकें – परिवार और समाज में सबसे बड़ी समस्या है – एक–दूसरे पर कटाक्ष करना। अधिकांश लोग सृजनात्मक एवं रचनात्मक कार्यों में अपने समय का सदुपयोग करने के बजाय दूसरों की बुराइयाँ करने और उन्हें नीचा दिखाने में ही अपना समय नष्ट करते हैं। हमें चाहिए कि ऐसी बातों से दूर रहें, जिससे समय को बचाया जा सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ग) व्यावसायिक कारक[123]

1) अनावश्यक बैठकें (Unnecessary Meetings) – व्यावसायिक क्षेत्रों में एक ही प्रकरण को लेकर कई बार अनावश्यक बैठकें होती हैं और चाय–पानी, नाश्ते एवं गप्पे मारने में ही सम्पन्न हो जाती हैं। कई बैठकें तो मात्र दिखाने के लिए और खानापूर्ति के लिए होती हैं।

2) दूरभाष यन्त्रों एवं कम्प्यूटर का दुरुपयोग (Misuse of Telephone & Computer Instruments) – आजकल दूरभाष, मोबाईल, कम्प्यूटर–चेटिंग, ई–मेल, इंटरनेट, फैक्स आदि का दुरुपयोग बढ़ता जा रहा है। छोटी–छोटी और निरर्थक बातों के लिए भी इनका उपयोग किया जा रहा है। सस्ती संचार सेवा से उपभोक्ता–वर्ग भले ही धन बचा रहा हो, लेकिन अपना अमूल्य समय नष्ट कर रहा है। महात्मा गाँधी का कहना है कि आदमी अगर निकम्मी बात छोड़े और काम की बात थोड़े से थोड़े शब्दों में कहें, तो वह अपना एवं दूसरों का बहुत समय बचा सकता है।[124]

3) अस्पष्ट संप्रेषण (Unclear Communication) – व्यवसाय में आदेश, निर्देश, परामर्श, विमर्श आदि करने की बारम्बार आवश्यकता पड़ती है। इनमें स्पष्टता नहीं होने से सामने वाले को ठीक ढंग से बात समझ में नहीं आती। इस प्रकार के अस्पष्ट संप्रेषण में अनावश्यक रूप से समय नष्ट होता रहता है।

4) 'ना' कहने में अक्षमता (Unable to say 'No') – कई बार व्यक्ति शिष्टाचारवश या संकोचवश उन कार्यों के लिए भी 'ना' नहीं कह पाते, जिनको करने में वे अक्षम होते हैं। इससे समय भी अधिक खर्च करना पड़ता है और फिर भी कई बार कार्य पूरा नहीं हो पाता।

5) सहकर्मी (Co–workers) – कार्यालयों में कई बार सहकर्मी भी समय बचाने के बजाय समय गँवाने में सहायक हो जाते हैं। कार्य समय में भी गप्पे मारना, हँसी–ठिठोली करना, अनावश्यक बातें करना, बार–बार चाय–पानी करना आदि समय बर्बादी के मुख्य कारण बन जाते हैं। कई कर्मचारी स्वंय भी अप्रबन्धित होते हैं और दूसरों को भी सुचारु रूप से कार्य नहीं करने देते हैं।

6) कार्यदशाएँ (Working Conditions) – कार्यालय में सही कार्यदशाओं के अभाव में भी समय यूँ ही नष्ट हो जाता है, जैसे – प्रकाश की समुचित व्यवस्था न होना, तापमान सही नहीं होना, सही उपकरणों का अभाव होना, बैठने–चलने, खाने–पीने आदि की सही व्यवस्था नहीं होना इत्यादि।

(घ) अन्य कारक (Other Time Wasters)[125]

1) यातायात साधनों का सही नहीं होना – परिवहन साधनों के बार–बार खराब होने, यातायात सेवाओं में चालक आदि के द्वारा लापरवाही बरतने आदि से भी समय नष्ट होता है।

2) बुनियादी आवश्यकताओं की अव्यवस्था – बिजली, पानी, सड़क आदि की अव्यवस्था से भी बहुत–सा समय नष्ट हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3) प्रतीक्षा करना – कई बार लोग मिलने का समय देकर भी समय निकाल नहीं पाते हैं, इससे प्रतीक्षारत व्यक्ति का बहुत समय नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार, जैनदर्शन की दृष्टि में, समय बर्बाद करने वाले चार प्रकार के कारकों से हर व्यक्ति प्रभावित होता रहता है, किन्तु जो व्यक्ति आत्मिक–शान्ति और आत्मिक–आनन्द की प्राप्ति के लिए अप्रमत्त या सजग रहता है, वह इन सब अनावश्यक कारकों से स्वयं को बचाता जाता है और अपने जीवन को 'धर्म' और 'अध्यात्म' की ओर मोड़ता जाता है। वह इस युग में भी भक्ति, स्वाध्याय, ध्यान आदि के लिए अपनी भूमिकानुसार उचित समय निकाल ही लेता है।

4.6.8 सम्यक् नियन्त्रण या संयम की वृत्ति होना (Right Control)

समय–प्रबन्धन का अन्तिम, लेकिन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है – कार्य पर उचित नियन्त्रण हो, जिससे कम से कम समय में अधिकतम कार्य किया जा सके। जैसे गाड़ी में ब्रेक का महत्त्व है, वैसे ही जीवन में नियन्त्रण की आवश्यकता है। इस सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध जीवन के अनुभवों का उपयोग करने से है। प्रत्येक कार्य को करने में हमें चाहिए कि हम समय के सापेक्ष स्वयं का निरीक्षण और परीक्षण करें। हम देखें कि कार्य को पूर्ण करने में समय का अपव्यय कहाँ–कहाँ हुआ है। हम पक्षपातरहित होकर स्वयं की कमजोरियों का विश्लेषण करें, उन्हें स्वीकार करें और उनमें सुधार करें। इसे हम निम्न उदाहरण से समझ सकते हैं –

कल्पना करें कि दिल्ली शहर में राहुल नाम का एक किशोर बारहवीं कक्षा में पढ़ता है। मध्यमवर्गीय परिवार में पला–बढ़ा राहुल सामान्य प्रतिभा का धनी है और प्रतिवर्ष औसतन 65–70 प्रतिशत अंक ही ला पाता है। इकलौता पुत्र होने से माता–पिता को उससे खूब उम्मीदें हैं, लेकिन उन्हें मालूम है कि राहुल की टी.वी. पर क्रिकेट मैच, फिल्म्स, गाने, सीरियल्स आदि देखने की आदतें हैं। इधर राहुल को महसूस ही नहीं होता कि टी.वी. देखने में उसका समय नष्ट होता है, बल्कि वह यह मानता है – "यह तो मनोरंजन के साधन हैं, जिनका उपयोग पूरी दुनिया करती है, फिर मैं क्यों न करूँ?"

आइए, हम इसके परिणाम का निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण करें –

कल्पना करें कि राहुल के पास प्रतिदिन बारह कार्य–घण्टे (Working hours) हैं, जिनमें से वह औसतन एक घण्टा टी.वी. देखता है –

1 दिन में समय की बर्बादी = 1 घण्टा,

1 माह में समय की बर्बादी = 30 घण्टे,

1 वर्ष में समय की बर्बादी = 360 घण्टे (लगभग)

चूँकि एक दिन में बारह घण्टे ही कार्य के लिए हैं, अतः 12 घण्टे = 1 कार्य–दिन (Working day)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1 घण्टा = 1/12 कार्य–दिन,

360 घण्टे = 1/12 x 360 = 30 कार्य–दिन,

30 कार्य–दिन = 1 माह

यदि जीवन में 60 वर्ष तक वह टी.वी. देखता है, तो कुल नुकसान 1 x 60 = 60 माह = 5 वर्ष

विश्लेषण करने पर हमारे सामने परिणाम आता है कि सिर्फ 1 घण्टे का सस्ता मनोरंजन भी राहुल के जीवन के 5 महत्त्वपूर्ण वर्षों का लम्बा समय बर्बाद कर देता है। इतना ही नहीं, इस मनोरंजन से उसके संस्कार बिगड़ते हैं, जिसका प्रभाव उसके स्वयं के व्यक्तित्व पर पड़ता है और साथ ही उसके परिवार पर भी। इसके अतिरिक्त उसकी मस्तिष्कीय शक्ति का अपव्यय भी होता है, उसकी स्मरण शक्ति, सृजनात्मक शक्ति आदि निष्क्रिय होती हैं इत्यादि। यदि वह इस एक घण्टे का प्रयोग 'सत्संग' और 'ध्यान' के लिए करे, तो निम्न लाभ प्राप्त होंगे –

★ मानसिक विश्राम (Mental relaxation)
★ एकाग्रता (Concentration)
★ सकारात्मक सोच (Positive attitude)
★ नैतिक जीवन–मूल्यों का विकास (Development of ethical values of life)
★ जीवन–मुक्ति का मार्ग (The way of salvation)

जब राहुल ने इस प्रकार का विश्लेषण किया, कमजोरी को स्वीकार किया और आत्म–सुधार का संकल्प किया, तब सचमुच सफलता उसके कदम चूमने लगी। बारहवीं कक्षा में एकाग्रता आदि मानसिक ऊर्जा में अभिवृद्धि होने से उसका परिणाम बहुत अच्छा रहा। इतना ही नहीं, लौकिक और आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में उसका सन्तुलित विकास होता रहा और वह जीवन में एक अच्छा साधक बन गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4.7 निष्कर्ष

व्यक्ति की प्रगति में समय–प्रबन्धन का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि कार्य की निष्पत्ति और सफलता की प्राप्ति समय–सापेक्ष ही होती है। वर्त्तमान युग में प्रत्येक व्यक्ति सफलता तो चाहता है, किन्तु समय का सम्यक् नियोजन न कर पाने से उसका जीवन निरर्थक हो जाता है, अतः वर्त्तमान युग की ज्वलन्त आवश्यकता है – समय–प्रबन्धन।

जैनदर्शन में 'समय' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है, जैसे – आत्मा, विश्व, काल, काल की सूक्ष्मतम इकाई, दार्शनिक मत एवं व्यवहार–काल (दैनंदिन जीवन में सेकण्ड, मिनिट, घण्टा, दिन, सप्ताह आदि के रूप में प्रयुक्त समय)। प्रस्तुत अध्याय में 'व्यवहार–काल' के रूप में 'समय' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'समय' को देखा तो नहीं जा सकता, किन्तु इसका अनुभव सभी करते हैं। यह पूर्व–जीवन में बाँधे हुए (संचित) आयुकर्म के अनुसार नियत अवधि के लिए सभी को मिलता है। इसके अविरल प्रवाह को लेशमात्र भी कम–ज्यादा नहीं किया जा सकता। यहाँ तक की जीवन का जो समय बीत जाता है, उसे पुनः लौटाया भी नहीं जा सकता। समय तो सभी को मिलता है, किन्तु कोई इसका प्रयोग सकारात्मक कार्यों में करता है, तो कोई नकारात्मक कार्यों में। वस्तुतः, समय–प्रबन्धन का लक्ष्य यही है कि व्यक्ति समय की इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर समयानुकूल जीने का प्रयत्न करे।

समय की महत्ता भूतकाल में थी, वर्त्तमान में है और भविष्य में भी रहेगी। भगवान् महावीर ने इसीलिए समयमात्र का भी प्रमाद नहीं करने का निर्देश दिया है। उन्होंने स्वयं साढ़े बारह वर्ष तक आत्म–साधना कर आत्म–विकास की चरम–अवस्था की प्राप्ति की। उनके अनुयायी अनेक महापुरूषों ने भी समय के महत्त्व को समझकर जीवन का सदुपयोग किया।

वर्त्तमान युग में भी एक आम आदमी न्यूनतम समय में अधिकतम कार्य पूर्ण करने में विश्वास रखता है और इसीलिए मानव ने विज्ञान और तकनीकी विकास द्वारा त्वरित गति से कार्य करने वाले अनेक उपकरणों का आविष्कार किया है, जो एक पल के अतिसूक्ष्म अंश में कार्य करने में भी सक्षम है।

यद्यपि मानव समय से भी अधिक तेज गति से दौड़ना चाहता है, फिर भी सम्यक् समय–प्रबन्धन की कला न जान पाने से वह चंचलता, अधीरता और जल्दबाजी को ही समय–प्रबन्धन का आवश्यक अंग मान बैठा है।

अधिकांश लोगों के जीवन में समय के सम्यक् नियोजन का अभाव है। इससे एक ओर उनका कार्यभार बढ़ रहा है, तो दूसरी ओर शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ रहा है। समयोचित कार्य न कर पाने से उनके जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों की उपेक्षा हो रही है, जिसके कारण उन्हें पछताना भी पड़ रहा है। अतः भगवान् महावीर का यह निर्देश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि जो कार्य जिस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय पर करने योग्य है, उसे उसी समय पर करना चाहिए – **काले कालं समायरे**। इसे ही समय–प्रबन्धन कहते हैं।

जैनआचारमीमांसा में समय–प्रबन्धन के दो पक्ष बताए गए हैं – सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक। सैद्धान्तिक पक्ष के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि समय–प्रबन्धन की आवश्यकता क्यों है? वस्तुतः, जैनाचार्यों की दृष्टि में, मानव–जीवन सर्वश्रेष्ठ और अतिदुर्लभ है। इसके सीमित समय का सम्यक् उपयोग नहीं किया, तो यह महासमुद्र को तैरकर किनारे पर डूबने जैसा है। सैद्धान्तिक पक्ष के माध्यम से यह मार्गदर्शन भी मिलता है कि समय–प्रबन्धन के आशय को भिन्न–भिन्न तरीकों से समझा जा सकता है, जैसे – उचित समय पर उचित कार्य करना, न्यूनतम समय में अधिकतम लाभ प्राप्त करना एवं वर्त्तमान क्षण का सर्वोत्तम उपयोग करना।

समय–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्ष को जीवन–प्रयोग में लाना भी नितान्त आवश्यक है। इस हेतु व्यक्ति को विविध कार्य करना चाहिए, जैसे – सही उद्देश्य का निर्माण, सही लक्ष्यों एवं नीतियों का निर्माण, सही कार्यसूची बनाना, सही समय–सारणी बनाना, उचित व्यक्ति को उचित कार्य सौंपना, कार्य का सही क्रियान्वयन करना, समय की बर्बादी से बचना एवं कार्यों पर सम्यक् नियन्त्रण करना। इस प्रकार, जैनआचारमीमांसा पर आधारित समय–प्रबन्धन के सिद्धान्तों का प्रयोग कर व्यक्ति मानव–जीवन के ध्येय की प्राप्ति करने में सफल हो सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ. क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	क्या आप समय के स्वरूप को जानते हैं?		1
2)	क्या आप जीवन में समय को महत्त्व देते हैं?		6
3)	क्या आप समय–अप्रबन्धन के दुष्परिणामों को जानते हैं?		8
4)	क्या आपने अपने अल्पजीवन में कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं?		14
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
5)	क्या आप उचित समय पर उचित कार्य करते हैं?		10
6)	क्या आप न्यूनतम समय में अधिकतम लाभ प्राप्त करते हैं?		11
7)	क्या आप वर्त्तमान क्षण का सर्वोत्तम सदुपयोग करते हैं?		11
8)	क्या आप उद्देश्य–निर्माण करते हैं?		13
9)	क्या आपको लक्ष्य की स्पष्टता रहती है?		14
10)	क्या आपको लक्ष्य–प्राप्ति में समयबद्धता रहती है?		15
11)	क्या आप क्षमता और लक्ष्य का सन्तुलन रखते हैं?		16
12)	क्या आप नियोजन करते हैं?		18
13)	क्या आप महत्त्वपूर्ण कार्यों को प्राथमिकता देते हैं?		18
14)	क्या आप सूर्योदय से पूर्व उठते हैं?		21
15)	क्या आप समय–सारणी के अनुसार चलते हैं?		19
16)	क्या आप लक्ष्य–प्राप्ति एवं आवश्यकता–पूर्ति के लिए उचित समय–विभाजन करते हैं?		22
17)	क्या आप उचित व्यक्ति को उचित कार्य सौंपते हैं?		23
18)	क्या आप योजना से कार्य करते हैं?		26
19)	क्या आप समय–प्रबद्ध (Punctual) हैं?		26
20)	क्या आप वस्तु को नियत स्थान पर रखते हैं?		28
21)	क्या आप जल्दबाजी के बजाय धैर्य रखते हैं?		28
22)	क्या आप नकारात्मक मनःस्थिति से होने वाली समय की बर्बादी से बचते हैं?		29
23)	क्या आप आरामपसन्द या गलत आदतों से होने वाली समय बर्बादी से बचते हैं?		30
24)	क्या आप अस्वस्थता से होने वाली समय–बर्बादी से बचते हैं?		31
25)	क्या अनावश्यक वार्ता एवं प्रतीक्षा करने से होने वाली समय–बर्बादी से बचते हैं?		35
		कुल	

कुल	0–25	26–50	51–75	76–100	101–125
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
भविष्य में अपेक्षित प्रबन्धन	अत्यधिक	अधिक	अल्प	अल्पतर	अल्पतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 स्व–प्रबन्धन में जीवनविज्ञान (एम.ए.पुस्तक), पृ. 145
2 नयामानव नयाविश्व, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 83
3 स्व–प्रबन्धन में जीवनविज्ञान (एम.ए.पुस्तक), पृ. 151
4 पलियंतं मणुआण जीवियं
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/2/1/10
5 दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 10/1
6 नंदि–ग्रहि–पचादिभ्यो मुणिन्यचः
– अष्टाध्यायी, महर्षिपाणिनी, 3/1/134
7 पंचास्तिकाय, 3
8 समयसार, पृ. 2
9 तिलोयपण्णत्ति, 4/288
10 वही, 4/285
11 वही, 4/287
12 समय आपकी मुट्ठी में, डॉ.विजय अग्रवाल, पृ. 19
13 जैनधर्म जीवनधर्म, कर्नल दलपत सिंह बया, पृ. 213
14 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल,
खं. 1, पृ. 5
15 वही, खं. 1, पृ. 9
16 जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/5/2/23
17 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल,
खं. 1, पृ. 10
18 वओ अच्चेति जोव्वणं च
– आचारांगसूत्र, 1/2/1/4
19 जीवनपाथेय, साध्वीयुगलनिधीकृपा, पृ. 111 से उद्धृत
20 समय आपकी मुट्ठी में, डॉ.विजय अग्रवाल, पृ. 20
21 णो हूवणमंति राइयो, नो सुलभं पुणरावि जीवियं
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/2/1/1
22 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल,
खं. 1, पृ. 8
23 जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ। एवं अत्तसमाहिए
अणिहे। – आचारांगसूत्र, 1/4/3/2
24 वर्त्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य
– तत्त्वार्थसूत्र, 5/22
25 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल,
खं. 1, पृ. 5
26 अणभिक्कंतं च वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए।
– आचारांगसूत्र, 1/2/1/8, 9
27 कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 10/2
28 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल,
खं. 2, पृ. 36
29 वही, खं. 1, पृ. 11
30 वही, पृ. 7
31 वही, पृ. 5
32 जीवन की मुस्कान (द्वितीय महापुष्प), डॉ.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 30
33 उत्तराध्ययनसूत्र, 1/31
34 प्रेक्षाध्यान (पत्रिका), जनवरी, 2007, पृ. 4
35 तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ?
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम! मा पमायए।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 10/34
36 आचारांगसूत्र, 1/3/3/6
37 उत्तराध्ययनसूत्र, 9/35
38 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल,
खं. 2, पृ. 33
39 काले कालं समायरे – उत्तराध्ययनसूत्र, 1/31
40 कल्पसूत्र, आ.आनंदसागरजी म.सा., छठी वाँचना,
पृ. 347–348
41 वही, सातवीं वाँचना, पृ. 397
42 वही, पाँचवीं वाँचना, पृ. 242
43 वही, पाँचवीं वाँचना, पृ. 257–258
44 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल,
खं. 2, पृ. 31
45 जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसय सहस्स–कोडीहिं।
तं वाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्साय मेत्तेणं।।
– प्रवचनसार, 238
46 सेणे जह वट्टय हरे, एवं आउखयम्मि तुट्टती।
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/2/1/2
47 इणमेव खणं वियाणिया।
– वही, 1/2/3/19
48 जीवन की मुस्कान (द्वितीय महापुष्प),
डॉ.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 29
49 समय आपकी मुट्ठी में, डॉ विजय अग्रवाल, पृ. 200
50 वीरप्रभु के वचन, रमणलाल ची. शाह, 1/1/1
51 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल,
खं. 2, पृ. 77
52 आवश्यकनिर्युक्ति, 1156
53 उत्तराध्ययनसूत्र, 10/1

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

54 वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः
– तत्त्वार्थसूत्र, 9/25

55 Management : Task, Responsibilities & Practices, Peter F. Drucker, p.114

56 व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर

57 जहा सूई ससुत्ता पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 29/60

58 (क) स्वामी विवेकानन्द, विनोद, पृ. 40
(ख) वीर पुत्रियाँ, प्राणनाथ वानप्रस्थी, पृ. 29
(ग) सरदार भगतसिंह, प्राणनाथ वानप्रस्थी, पृ. 11
(घ) चन्द्रशेखर आजाद, प्राणनाथ वानप्रस्थी, पृ. 9
(ड़) सुभाषचंद्र बोस, प्राणनाथ वानप्रस्थी, पृ. 4
(च) श्रीमद्राजचन्द्र, अनुवादक का नम्रनिवेदन, पृ. 19

59 चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 3/1

60 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल, खं. 4, पृ. 167

61 वही, पृ. 143

62 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 2, पृ. 6

63 अमोलसूक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, 28/2

64 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल, खं.4, पृ. 165

65 धर्मबिन्दु, 1/52

66 जो पुव्वरत्तावरत्त काले, संपेहए अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं, किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि? – दशवैकालिकचूलिका, 2/12

67 जागर्त्ति को वा? सदसद्विवेकी
– अमोलसूक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, 20/3

68 कल्पसूत्र, आ.आनन्दसागरजी म. सा., सातवीं वाँचना, पृ. 400–401

69 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल, खं.4, पृ. 151

70 न सव्व सव्वत्थमिरोयएज्जा
– उत्तराध्ययनसूत्र, 21/15

71 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल खं. 3, पृ. 117

72 वीरप्रभु के वचन, 1, रमणलाल ची. शाह, अ. 1, पृ. 1

73 पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं।।
पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 26/12, 18

74 वही, आत्मारामजी महाराज, 1/31

75 प्रवचनसार, 1/7

76 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/163

77 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल, खं, 3, पृ. 119

78 नयामानव नयाविश्व, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 88

79 दशवैकालिकसूत्र, 5/1/124, 125

80 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 2, पृ. 4

81 एगे अहमंसि; न मे अत्थि कोइ, न याहमवि कस्स वि –
आचारांगसूत्र, 1/8/6/1

82 परस्परोपग्रहो जीवानाम् – तत्त्वार्थसूत्र, 5/21

83 उप्पन्नं नाइहीलेज्जा – दशवैकालिकसूत्र, 5/1/130

84 कल्पसूत्र, आनन्दसागरसूरिजी, सातवीं वाचना, पृ. 386

85 बृहत्कल्पभाष्य, 4584

86 नयामानव नयाविश्व, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 99

87 वही, पृ. 98

88 धर्मबिन्दु, 1/4–58

89 मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय।
जाता सद्गुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय।।
– श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि 18, पृ. 542

90 उत्तराध्ययनसूत्र, 26/9

91 ज्ञाताधर्मकथा, अ. 7

92 जह मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अच्छिउं न सक्केइ।
तह खणमवि मज्झत्थो, विसएहिं विणा न होइ मणो।।
– भक्तपरिज्ञा, 84

93 नयामानव नयाविश्व, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 176

94 अलं कुसलस्स पमाएणं – आचारांगसूत्र, 1/2/4/3

95 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 63

96 घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्तो
– उत्तराध्ययनसूत्र, 4/6

97 श्रीमद्देवचंद्र, वर्त्तमान चौबीसी, 9/6

98 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल, खं. 4, पृ. 201

99 उत्तराध्ययनसूत्र, 1/31

100 दशवैकालिकसूत्र, मुनि नथमल, 5/2/4/8–9

101 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल, खं. 3, पृ. 110

102 मुक्तिवैभव, त्रिशलादेवी कोठारी, पृ. 252

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

103 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल, पृ. 113

104 वही, पृ. 114

105 हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्
– तत्त्वार्थसूत्र, 7/1

106 उत्तराध्ययनसूत्र, 9/48

107 संबुज्झह, किं न बुज्झहऽसंबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइयो, णो सुलभं पुणरावि जीवियं।।
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/2/1/1

108 दवदवस्स न गच्छेज्जा
– दशवैकालिकसूत्र, 5/1/14

109 साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट, राधारमण अग्रवाल, खं. 3, पृ. 67

110 असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 31/2

111 स्व–प्रबन्धन में जीवनविज्ञान (एम.ए.पुस्तक) अ. 10, पृ. 146

112 वही, पृ. 146

113 इणमेव खणं वियाणिया।
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/2/3/19

114 जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 14/27

115 जं कल्लं कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं।
मच्चू अकलुणहिअ ओ, न हु दीसइ आवयंतो वि।।
– बृहद्भाष्य, 4674

116 अलस अणुबद्धवेरं, सच्छंदमती पयहियव्वो।
– व्यवहारभाष्य, 249

117 मोक्खपसाहण हेतू, णाणादि तप्पसाहणो देहो।
देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो।।
– निशीथभाष्य, 4159

118 योगशास्त्र, 1/52

119 तत्त्वार्थसूत्र, 7/16

120 जिनशासन के चमके हीरे, वरजीवनदास वाडीलाल शाह, 38, पृ. 78

121 नीतिवाक्यामृत, पृ. 53

122 स्व–प्रबन्धन में जीवनविज्ञान (एम.ए.पुस्तक) अ. 10, पृ. 147

123 वही, पृ. 148

124 बापू के आशीर्वाद, पृ. 214 (हिन्दीसूक्ति–सन्दर्भकोश, महो. चन्द्रप्रभसागर, पृ. 299 से उद्धृत)

125 स्व–प्रबन्धन में जीवनविज्ञान (एम.ए.पुस्तक) अ. 10, पृ. 149

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 5

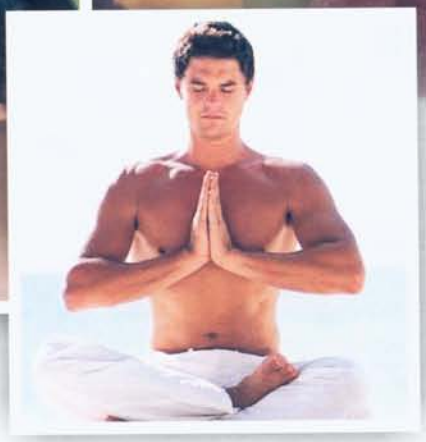

शरीर प्रबन्धन

BODY MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 5
शरीर–प्रबन्धन
(Body Management)

	Page No. Chap.	Cont.
5.1 शरीर का स्वरूप	1	227
5.2 शरीर का महत्त्व	16	242
5.3 शरीर सम्बन्धी अप्रबन्धन या कुप्रबन्धन के दुष्परिणाम	20	246
5.3.1 आहार सम्बन्धी विसंगतियाँ	20	246
5.3.2 जल सम्बन्धी विसंगतियाँ	23	249
5.3.3 प्राणवायु सम्बन्धी विसंगतियाँ	25	251
5.3.4 श्रम–विश्राम सम्बन्धी विसंगतियाँ	27	253
5.3.5 निद्रा सम्बन्धी विसंगतियाँ	28	254
5.3.6 स्वच्छता सम्बन्धी विसंगतियाँ	29	255
5.3.7 शृंगार (साज–सज्जा) सम्बन्धी विसंगतियाँ	29	255
5.3.8 ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विसंगतियाँ	30	256
5.3.9 मनोदैहिक विसंगतियाँ	31	257
5.3.10 अन्यकारक सम्बन्धी विसंगतियाँ	32	258
5.4 जैनआचारमीमांसा के आधार पर शरीर–प्रबन्धन	33	259
5.4.1 शरीर के प्रति सही दृष्टिकोण का विकास	33	259
5.4.2 शरीर–प्रबन्धन का उद्देश्य	34	260
5.4.3 प्रबन्धित जीवनशैली के मुख्य आयाम	35	261
(1) आहार–प्रबन्धन	36	262
(2) जल–प्रबन्धन	54	280
(3) प्राणवायु–प्रबन्धन	57	283
(4) श्रम–विश्राम–प्रबन्धन	59	285
(5) निद्रा–प्रबन्धन	61	287
(6) स्वच्छता–प्रबन्धन	63	289
(7) शृंगार (साज–सज्जा)–प्रबन्धन	64	290
(8) ब्रह्मचर्य–प्रबन्धन	65	291
(9) मनोदैहिक–प्रबन्धन	66	292
(10) अन्यकारक–प्रबन्धन	67	293
5.5 शरीर–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	68	294
5.6 निष्कर्ष	73	299
5.7 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	74	300
सन्दर्भसूची	75	301

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 5

शरीर–प्रबन्धन
(Body Management)

5.1 शरीर का स्वरूप

शरीर जीवन का आधार है, जिसके बिना किसी भी संसारी प्राणी का अस्तित्व ही नहीं होता। अतः व्यक्तित्व के इस महत्त्वपूर्ण घटक के सम्यक् स्वरूप को समझने की जिज्ञासा सदाकाल से ही मनुष्य में रही है। प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों परम्पराओं में इसीलिए शरीर–विज्ञान की विविध शाखाओं और उनसे सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना कालक्रम से होती रही है। प्रस्तुत प्रसंग में हम जैन विचारधारा सह आधुनिक शरीर–विज्ञान की चर्चा करेंगे।

'शरीर' शब्द सामान्यरूप से बहुप्रचलित है, फिर भी स्पष्टता की दृष्टि से इसके पर्यायवाची शब्दों को समझना भी जरुरी है। शरीर के समानार्थी शब्द हैं – इन्द्रियायतन, अंगविग्रह, क्षेत्र, गात्र, तनु, भूघन, तन, मूर्त्तिमान्, करण, काय, मूर्त्ति, वेर, देह, संचर, घन, बन्ध, पुर, पिण्ड, वपु, पुद्गल, वर्ष्म, कलेवर आदि।[1]

5.1.1 जैन शरीर–विज्ञान

जैनाचार्यों के अनुसार, किसी भी प्राणी (जीव या आत्मा) की पहचान उसके शरीर की रचना के आधार पर होती है। शरीर के अनेक रूप होते हैं, जिन्हें जैनशास्त्रों में जीवों के 563 भेदों के रूप में दर्शाया गया है।[2] जीवों का वर्गीकरण करने के लिए इन शास्त्रों में उन्हें प्राप्त गतियाँ, इन्द्रियाँ, पर्याप्तियाँ, प्रजातियाँ आदि अनेक पहलुओं को आधारभूत माना गया है। ये सभी आधार मूलतः शरीर की ही विविध विशेषताएँ हैं। अतः कहा जा सकता है कि जीवन की सूक्ष्म विवेचना के लिए किसी भी प्राणी की शारीरिक–संरचना को जानना अत्यावश्यक है, क्योंकि जैनधर्म में शारीरिक–संरचना का साधना से निकटतम सम्बन्ध माना गया है।

प्रत्येक प्राणी की शारीरिक–संरचना भिन्न–भिन्न होती है। जैनदर्शन में शरीर के पाँच प्रकार माने गए हैं[3] –

★ औदारिक ★ वैक्रिय ★ आहारक ★ तैजस ★ कार्मण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

औदारिक–शरीर स्थूल परमाणुओं से बनता है, जिसमें हाड, मांस, रक्तादि होते हैं। यह मनुष्य एवं तिर्यंच (पशु–पक्षी आदि) को प्राप्त होता है। उदार या स्थूल परमाणुओं से बना होने से इसे औदारिक कहा जाता है। **वैक्रिय–शरीर** औदारिक की अपेक्षा सूक्ष्म होता है, इसमें हाड, मांसादि का अभाव होता है। यह छोटा–बड़ा, एक–अनेक, विविध एवं विचित्र रूप बनाने की योग्यता रखता है और इन विशेष क्रियाओं को करने में समर्थ होने के कारण ही इसे वैक्रिय कहा जाता है। यह शरीर सामान्यतया देव एवं नारकी जीवों को प्राप्त होता है। **आहारक–शरीर** अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म होता है, इसका परिमाण एक हाथ जितना होता है। यह शरीर किसी–किसी विशेषज्ञानी एवं ऋद्धिधारी मुनिराज को ही प्राप्त होता है, परन्तु वर्त्तमान में इस भरतक्षेत्र में इसका अभाव है। **तैजस–शरीर** सूक्ष्मतर परमाणुओं से निर्मित शरीर है, इसका कार्य आहार को पचाना, शरीर के निर्माण एवं विकास में सहयोग देना आदि है। यह अतिसूक्ष्म होने से इन्द्रियगोचर नहीं होता है। पाँचवा शरीर **कार्मण–शरीर** है, जो सूक्ष्मतम होता है और कर्मवर्गणा के पुद्गलों से बनता है। वस्तुतः, यह जैनदर्शन में निर्दिष्ट आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों का समूह होता है। यही वह शरीर है, जो अन्य चारों शरीरों का मूल आधार है। इसके प्रभाव से जीव को अन्य शरीरों की प्राप्ति होती रहती है।

'शरीर–प्रबन्धन', इस विषय का सम्बन्ध मानव–जीवन से है, अतः इस अध्याय की मुख्य विषयवस्तु औदारिक मानवीय शरीर का प्रबन्धन करना है तथा गौणरूप से तैजस एवं कार्मण शरीर भी इससे सम्बद्ध है।

(1) शरीर का संयोग – क्यों और कैसे?

जैनाचार्यों के अनुसार, जीवन के दो मुख्य रूप हैं[4] – संसारी एवं मुक्त। शरीरसहित जीवनरूप को संसारी एवं शरीररहित जीवनरूप को मुक्त जीवन कहते हैं।

संसारी आत्माएँ सतत परिभ्रमण करती रहती हैं और एक शरीर का त्याग करते ही दूसरे शरीर को धारण कर लेती हैं। यदि शरीर की प्राप्ति न हो, तो सभी आत्माएँ मुक्त दशा को प्राप्त कर लें, परन्तु ऐसा नहीं हो पाने का मूल कारण है – आत्मा के शुभाशुभ भावों से अर्जित कार्मण–शरीर।

संसारी आत्माएँ प्रतिक्षण राग, द्वेष एवं मोह भावों से ग्रसित होती रहती हैं, जिससे इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इन इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए वे मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति करती हैं, जिन्हें जैनशास्त्रों में 'योग' कहा जाता है।[5] इन योगों से ही शुभ–अशुभ कर्मों का बन्धन होता रहता है,[6] जो कालक्रम से फल देकर झड़ जाते हैं, इन्हीं कर्मों के फलस्वरूप आत्मा का शरीर से संयोग होता है।

कर्मग्रन्थ के अनुसार, ये कर्म आठ प्रकार के होते हैं[7] – ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं वेदनीय। इनमें से अन्तिम चार का सम्बन्ध शरीर आदि बाह्य संयोगों की प्राप्ति से है। आयुष्य–कर्म से एक निश्चित अवधि तक शरीर एवं आत्मा का नीर–क्षीरवत् सम्बन्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बना रहता है, नाम–कर्म से शरीर एवं उसके विविध अवयवों की रचना होती है, गोत्र–कर्म से जगत् में शरीर के साथ ऊँच–नीच रूप व्यवहार किया जाता है तथा वेदनीय–कर्म से शरीर रोगी अथवा निरोगी दशा को प्राप्त होता है।[8] इस प्रकार, शरीर की रचना का मूल आधार आत्मा के शुभाशुभ भावों से प्राप्त शुभाशुभ कर्म हैं।

जैनदर्शन के अनुसार, जब अशुभ–कर्मों की कमी एवं शुभ–कर्मों की वृद्धि होती है, तब मानव–जीवन की प्राप्ति होती है तथा इस मानव–जीवन में ही शरीर–प्रबन्धन सम्भव है।

(2) मानव–शरीर की गर्भावस्था

मानव–शरीर के विकास का क्रम गर्भावस्था से प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम माता–पिता के रजोवीर्य से आत्मा का सम्बन्ध होता है। तत्पश्चात् आत्मा प्राप्त परमाणुओं से आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के निर्माण–योग्य सामग्रियों की प्राप्ति करती है और इस प्रकार शरीर–निर्माण की व्यवस्थित प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

तन्दूलवैचारिक नामक प्रकीर्णकग्रन्थ में कहा गया है[9] कि सामान्यतया शरीर–निर्माण की प्रक्रिया पूरी होने में दो सौ साढ़े सतहत्तर (277½) दिन लगते हैं। इस गर्भकाल में शरीर–विकास का माध्यम माता से प्राप्त आहार होता है, जिसे 'ओजाहार' कहा जाता है। जैन–परम्परा के अनुसार, गर्भस्थ जीव के तीन तत्त्व – मांस, रक्त एवं मस्तक 'मातृज' होते हैं तथा तीन तत्त्व – हड्डी, मज्जा तथा केश, रोम एवं नख 'पितृज' होते हैं। ज्ञातव्य है कि आयुर्वेद में भी इसी प्रकार से मातृज एवं पितृज अंगों का वर्णन किया गया है।[10] किन्तु, आधुनिक शरीर–विज्ञान की मान्यता इससे भिन्न है।

जब तक गर्भकाल पूरा नहीं हो जाता, तब तक जीव (शिशु) को गर्भस्थान में रहना पड़ता है, अंगोपांग को सिकोड़कर एक झिल्ली के भीतर वह विकसित होता है तथा उसकी प्रत्येक क्रिया माता से जुड़ी रहती है।

इस महा–अपवित्र एवं दुर्गन्धमय स्थान में पलता हुआ तथा अनेक कष्ट सहता हुआ जीव अपने शरीर का विकास करता है। जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसे शरीर पर क्या गर्व करना, जो बाहर में एवं भीतर में मलिन पदार्थों से घिरा पड़ा है।[11] वे यह भी कहते हैं कि अपवित्र, मूत्र, श्लेष्म, पित्त, रुधिरादि से युक्त घृणित गर्भ में बसा हुआ, मांस–झिल्ली से ढँका हुआ तथा माता के कफ द्वारा पलता हुआ, यह जीव महादुर्गन्धमय रस को पीता है।[12] अन्यत्र भी कहते हैं – हे जीव! तू ऐसे महामलिन उदर में नौ–दस माह तक रहा है।

इस प्रकार, जैनाचार्य शरीर के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण रखते हैं। वस्तुतः, उनका उद्देश्य शरीर के प्रति द्वेष भाव को विकसित करना नहीं, अपितु राग भाव को सीमित करने के लिए जाग्रत करना है। यह दृष्टि शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) भ्रूण का विकास–क्रम

जैनग्रन्थों के अनुसार, रुधिर एवं वीर्य का मिला हुआ रूप, जिसे भ्रूण कहते हैं, दस रात्रि तक अस्थिर रहता है, फिर दस रात्रि तक कलल होकर ठहरता है, तत्पश्चात् दस दिन में स्थिर होता है। दूसरे महीने लचीला होकर तीसरे महीने में कुछ कठोर हो जाता है। तत्पश्चात् चौथे माह में मांस की डलीरूप हो जाता है। पाँचवे माह में उसमें अंग–प्रत्यंग का निर्माण प्रारम्भ होता है, पाँच पुलक निकलते हैं – पहला मस्तक का, दूसरा और तीसरा हाथों का तथा चौथा और पाँचवां पैरों का आकार धारण करता है। छठे मास में अंग–उपांग स्पष्ट होने लगते हैं, सातवें मास में चमड़ी, नाखून, रोमादि की उत्पत्ति होती है, आठवें मास में गर्भ हलन–चलन करने लगता है एवं अन्ततः नवमें या दसवें मास में गर्भ से निकलकर शिशुरूप में जन्म लेता है।[13]

(4) शरीर की दस अवस्थाएँ : जन्म से मृत्यु तक[14]

जैनाचार्यों ने मानव के शारीरिक–विकास की क्रम से दस अवस्थाएँ बताई हैं –

(क) बाला (0–10 वर्ष) – जन्म के पश्चात् की यह प्रथम अवस्था है। इसमें मानसिक–विकास की अपूर्णता होने से बालक, 'यह सुख है, यह दुःख है, यह भूख है' ऐसा जान नहीं पाता।

(ख) क्रीड़ा (11–20 वर्ष) – वह नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करता है, किन्तु उसमें काम–भोगों की वासनाएँ अतितीव्ररूप से उत्पन्न नहीं होती हैं, पन्द्रहवें वर्ष से इनका विकास होने लगता है (यद्यपि फ्रायड नामक मनोवैज्ञानिक की मान्यता इससे भिन्न है)।

(ग) मन्दा (21–30 वर्ष) – वह विषय–भोगों को भोगने के लिए समर्थ हो जाता है।

(घ) बला (31–40 वर्ष) – वह किसी रोगादि बाधाविशेष के उपस्थित न होने पर अपने बल–प्रदर्शन में समर्थ हो जाता है।

(ङ) प्रज्ञा (41–50 वर्ष) – वह धन की चिन्ता करने के लिए समर्थ होता है एवं परिवार का पोषण करता है।

(च) हायनी (51–60 वर्ष) – इन्द्रियों में शिथिलता आने से काम–भोगों के प्रति उसे विरक्ति होने लगती है।

(छ) प्रपंचा (61–70 वर्ष) – मुख से स्निग्ध लार एवं कफ गिराने लगता है और बार–बार खाँसता रहता है।

(ज) प्रग्भारा (71–80 वर्ष) – वह बूढ़ा हो जाता है एवं उसकी चमड़ी पर झुर्रियाँ आ जाती हैं।

(झ) मुन्मुखी (81–90 वर्ष) – उसका शरीर वृद्धावस्था से पीड़ित हो जाता है, उसकी काम–वासना समाप्तप्रायः हो जाती है।

(ञ) शायनी (91–100 वर्ष) – उसकी वाणी क्षीण एवं स्वर भिन्न हो जाता है, वह भ्रान्तचित्त, दुर्बल एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुःखद अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार, जैनाचार्यों ने शरीर की अनित्यता का मार्मिक चित्रण किया है। जीवन का पूर्वार्द्ध वृद्धिशील होता है, तो उत्तरार्द्ध ह्रासमय। जीवन के उत्तरार्द्ध में क्रमशः आँखों की दृष्टि, बाहुबल, कामभोगों का सामर्थ्य एवं आत्मचेतना क्षीण होने लगती हैं और अन्ततः शरीर झुकने लगता है और इस प्रकार जीवन समाप्त हो जाता है। सुभाषित के द्वारा कहा भी गया है[15] –

अंगं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुंचत्याशा–पिण्डम्।।

शरीर में उपर्युक्त सामान्य दुःखों का अवस्थानुसार आगमन तो होता ही है, साथ ही अनेक रोगादि बाधाएँ भी समय–असमय उपस्थित होती रहती हैं, जो जीवन को अतिदुःखमय बना देती हैं।[16] जैनाचार्य स्पष्टरूप से कहते हैं कि भले ही किसी को अपना शरीर प्रिय, कान्त एवं मनोज्ञ क्यों न लगे, परन्तु शरीर अध्रुव (अस्थिर), अनित्य, अशाश्वत् एवं विनाशशील है। अतः पहले या बाद में इसका परित्याग तो करना ही पड़ता है।[17] सर्वार्थसिद्धि में भी कहा गया है – **'शीर्यन्त इति शरीराणि'**[18] अर्थात् शरीर का विनाश तो अपरिहार्य है, अतः इसके सम्यक् प्रबन्धन के द्वारा सम्यक् जीवन जिया जा सके, यह प्रयत्न प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक को करना चाहिए।

(5) जैनदर्शन में शरीर की संरचना (Jain Anatomy)

जैनाचार्यों ने शरीर की न केवल परिवर्त्तनशील अवस्थाओं को बताया है, अपितु शरीर के अंतरंग स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है।

जैनाचार्यों के अनुसार, शरीर मौलिक रूप से पुद्गल (जड़) पदार्थ से निर्मित है। यह पुद्गल अचेतन पदार्थ है, जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि से युक्त होता है तथा प्रतिसमय उसकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। पुद्गल की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि वह पूरण (पुद्) एवं गलन (गल) की क्रिया करता रहता है, जिससे उसमें सड़न–गलनादि प्रक्रियाएँ होती रहती हैं।[19]

पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई 'परमाणु' है तथा इन परमाणुओं का एक समूह–विशेष 'वर्गणा' कहलाता है। वर्गणाएँ कई प्रकार की होती हैं, जो विश्व में सभी ओर व्याप्त हैं। इन्हीं में से एक 'औदारिक वर्गणा' है।

कर्मग्रन्थ के अनुसार, औदारिक वर्गणाएँ ही एकत्रित एवं संगठित होकर मानव–शरीर की रचना करती हैं। जैनाचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि मानव–शरीर के प्रत्येक अवयव – ठोस, तरल (द्रव) अथवा वायु, सभी का मूल औदारिक वर्गणा ही है। मूलतः जीव के पूर्वकृत कर्मों के आधार पर औदारिक वर्गणाओं से शरीर के मस्तिष्क, मुख, फेफड़े, गुर्दा, हृदय, उदर, हाथ–पैर, अस्थि, मांस आदि अवयवों की रचना होती है। कहा जा सकता है कि आधुनिक चिकित्सा–शास्त्र (Medical Science) ने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसे शरीर की प्रथम इकाई को कोशिका (Cell) कहा है, वैसे ही जैनाचार्यों ने शरीर की मौलिक इकाई को औदारिक वर्गणा कहा है। स्पष्ट है कि इन्होंने शरीर को एक अखण्ड इकाई नहीं, अपितु अनेकानेक पुद्गलों का पिण्ड माना है। इससे ही जैनशास्त्रों में शरीर को 'काया' भी कहा जाता है। कहा भी गया है – **चिनोतीति कायः** अर्थात् जो एकत्र होने से बनती है, वह काया है।

कर्मग्रन्थकार ने सम्पूर्ण शरीर के तीन विभाग–उपविभाग किए हैं – अंग, उपांग एवं अंगोपांग। इनमें से 'अंगों' के आठ भेद हैं – दो हाथ, दो पैर, एक पीठ, एक सिर, एक छाती और एक पेट। अंगों के नाक, कान, अंगुलियाँ आदि छोटे–छोटे अवयव उपांग हैं तथा अंगुलियों के पर्व आदि अंगोपांग हैं।[20]

शरीर में बाह्य संवेदनों को ग्रहण करने वाली पाँच इन्द्रियाँ होती हैं – त्वचा, जीभ, नासिका, आँख एवं कान। प्रत्येक इन्द्रिय अपने–अपने विषय को ग्रहण करती है। अनुक्रम से इनके विषय हैं – स्पर्श, रस, गन्ध, दृश्य एवं शब्द। इन्द्रियों की जो नेत्रादि रूप बाह्य आकृति दिखती है, उसे 'निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय' कहा जाता है, यह इन्द्रियरक्षक एवं इन्द्रिय–सहयोगी अंग है। इन्द्रियों के जो कार्यकारी या संवेदक अंग हैं, वे 'उपकरण द्रव्येन्द्रिय' कहलाते हैं, जैसे – नेत्रादि में श्वेत–कृष्ण मण्डल अथवा पलकादि। इसी प्रकार, देखने आदि की शक्ति होना 'लब्धि भावेन्द्रिय' और चेतना का ज्ञान–संवेदनों से जुड़ना 'उपयोग भावेन्द्रिय' है।[21] इन इन्द्रियों का लौकिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। ये इन्द्रियाँ उम्र के साथ–साथ क्षीण होती जाती हैं, इसीलिए शरीर–प्रबन्धन के अन्तर्गत उन साधनों के सन्तुलित प्रयोग का महत्त्व है, जिनसे इन्द्रियों की उचित देखभाल एवं उपयोग हो सके।

शरीर में अंतरंग रूप से अनेकानेक अवयव होते हैं। प्रस्तुत अनुच्छेद में एक सामान्य मनुष्य की दृष्टि से वर्णन किया जा रहा है। शरीर के ऊपरी भाग को शिरोभाग कहते हैं, यह हड्डियों के चार खण्डों से युक्त होता है। आयुर्विज्ञान में पहले को Frontal part, दूसरे को Parietal part, तीसरे को Temporal part एवं चौथे को Occipital part कहा जाता है। चेहरे पर दो आँखे होती हैं, प्रत्येक का परिमाण (माप) दो पल होता है, मुँह में बत्तीस दाँत तथा एक जीभ होती है। जीभ का परिमाण चार पल तथा लम्बाई सात अंगुल होती है। चेहरे के नीचे गर्दन होती है, जिसकी लम्बाई चार अंगुल होती है।

गर्दन से नीचे दो हाथ, दो पैर एवं सिर से जुड़ा हुआ धड़ होता है, इसमें हृदय, कलेजा, फेफड़ा, गुर्दा, प्लीहा, आँतें, पित्ताशय आदि मांस–पिण्ड होते हैं। हृदय का परिमाण साढ़े तीन पल एवं कलेजे का पच्चीस पल होता है। पेट की लम्बाई एक बालिश्त (बारह अंगुल) होती है।

शरीर में दो आँतें होती हैं – 'स्थूल आँत' (Large Intestine) मल (Solid Stool) निःसरित करती है एवं 'छोटी आँत' (Small Intestine) द्रवमिश्रित मल (Semisolid Stool/प्रस्रवण) निःसरित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करती है। इसी प्रकार, शरीर में दो पार्श्व (काँख के नीचे का हिस्सा) होते हैं – बायाँ एवं दायाँ। बायाँ पार्श्व सुखपूर्वक तथा दायाँ पार्श्व दुःखपूर्वक अन्न पचाता है, इसीलिए जैनाचार्यों ने बाईं करवट लेकर सोने का निर्देश दिया है।[22]

इनके अतिरिक्त शरीर में सात धातुएँ भी होती हैं – रस, रक्त, मांस, चर्बी (मेद), हड्डी, मज्जा एवं वीर्य। इनमें भी रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से वीर्य बनता है एवं वीर्य से सन्तान होती है। शरीर में सात उपधातुएँ भी होती हैं – वात, पित्त, कफ (श्लेष्म), सिरा (Vein), स्नायु (Nerve), चर्म एवं जठराग्नि। इनमें से कोई भी उपधातु बिगड़ जाए, तो रोग पैदा हो जाता है।[23]

यह शरीर अनेक हड्डियों एवं उनकी सन्धियों का जाल है। हड्डियों के ढाँचे पर अनेक रक्तवाहिनी शिराएँ (Veins) तथा ज्ञानवाही स्नायु होते हैं, जो मांस एवं चमड़ी से आच्छादित होते हैं।[24]

शरीर में मल, मूत्र, पसीना आदि अनेक मलिन पदार्थ भी होते हैं। इनके निःसरण के लिए पुरूषों में नौ एवं स्त्रियों में ग्यारह छिद्र या द्वार होते हैं। ये नौ द्वार हैं – दो कर्ण–छिद्र, दो आँख, दो नासिका–छिद्र, एक मुख, एक लिंग व एक गुदा। इन छिद्रों के अलावा भी लगभग साढ़े तीन करोड़ छोटे–छोटे रोम–छिद्र इस शरीर में होते हैं।[25]

शरीर निरन्तर सड़न–गलन की प्रक्रिया से युक्त होता है, इसमें नए पुद्गलों का आगमन तथा पुराने पुद्गलों का निगमन (झड़ना) प्रतिक्षण चलता ही रहता है। यह मानना भूल है कि शरीर स्थिर होता है, क्योंकि बचपन, यौवन, प्रौढ़ावस्था, बुढ़ापा आदि क्रम से आने वाली अवस्थाएँ हैं।[26]

इस प्रकार, आध्यात्मिक होने पर भी जैनदर्शन में शरीर की सूक्ष्म एवं गहन व्याख्या की गई है, जो शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए उपयोगी दिशा प्रदान करती है।

5.1.2 आधुनिक शरीर–विज्ञान

आधुनिक शरीर–विज्ञान के अनुसार, मानव–शरीर की सूक्ष्मतम इकाई कोशिका (Cell) है, यह शरीर का मूलभूत आधार है। ये कोशिकाएँ विशिष्टरूप से विकसित होकर ऊतक (Tissue) बनाती हैं। ये ऊतक एक साथ मिलकर अंग (Organ) बनाते हैं। विभिन्न अंग एक साथ मिलकर तन्त्र (System) का निर्माण करते हैं और विभिन्न तन्त्रों का समूह ही मानव–शरीर कहलाता है। इस प्रकार, मानव–शरीर अनगिनत कोशिकाओं का समूह है।[27]

(1) शरीर की संरचना

बाह्यरूप से यह शरीर एक अखण्ड इकाई के रूप में दिखाई देता है, किन्तु संरचना के आधार पर इसे निम्नलिखित छः भागों में विभाजित किया जा सकता है[28] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(क) सिर (Head) (ग) छाती (Chest) (ङ) हाथ (Upper Limb)
(ख) ग्रीवा (Neck) (घ) पेट (Abdomen) (च) पैर (Lower Limb)

(क) सिर (Head) – इसके दो विभाग हैं – खोपड़ी (Skull) और चेहरा (Face)।

खोपड़ी अनेक छोटी–छोटी अस्थियों का समूह है तथा एक गोलाकार डिब्बे के समान है। इसका अंतरंग भाग खोखला होता है, जिसमें मस्तिष्क (Brain) सुरक्षित रहता है। सिर के निचले हिस्से पर चेहरा होता है, जिसके कोटरों (Sockets/खोखले स्थानों) में आँख, नाक, कान तथा जबड़े बने होते हैं।

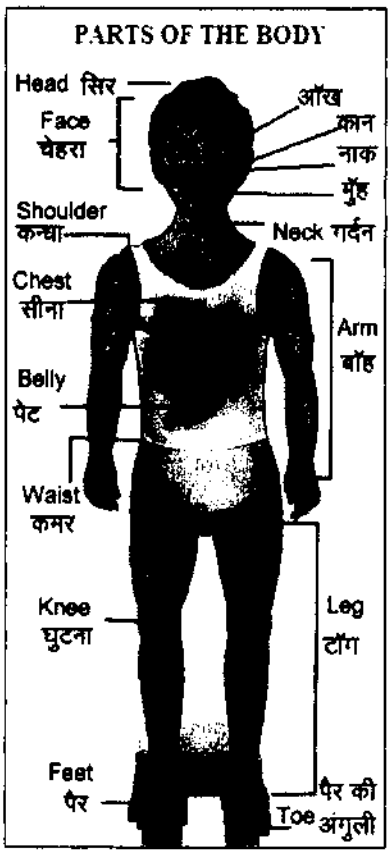

(ख) ग्रीवा (गर्दन/Neck) – यह छोटी–छोटी अस्थियों एवं मांसपेशियों से बनी एक लोचपूर्ण (Flexible) संरचना है, इसमें से होकर श्वासनली तथा ग्रासनली गुजरती है, आगे के हिस्से में श्वासनली तथा पीछे की तरफ ग्रासनली होती है। गर्दन के सबसे पिछले भाग में कशेरुकदण्ड (Vertebral Column) होता है, जो गर्दन से प्रारम्भ होकर गुदा–द्वार तक जाता है। इसी कशेरुकदण्ड के भीतर सुषुम्ना नाड़ी (Spinal cord) होती है।

(ग) छाती (Chest) – यह पिछले भाग में मेरुदण्ड से तथा अगले भाग में पसलियों (Ribs), उरोस्थि (Sternum) एवं अंशमेखला (Pectoral Girdle) से घिरी रहती है तथा इस तरह सुरक्षित भी रहती है। ये सारी हड्डियाँ मिलकर एक पिंजरे का रूप ले लेती हैं, इसी पिंजरे में फेफड़े, हृदय आदि अंग स्थित रहते हैं।

(घ) पेट (Abdomen) – इसमें सामने के भाग में हड्डियाँ नहीं होने से यह ऊपर से मुलायम दिखाई देता है। इसके ऊपर मांसपेशियों (Muscles) का पट्टा होता है तथा भीतर यकृत (Liver), अग्न्याशय (Pancreas), गुर्दा (Kidney) एवं आँतें (Large & Small Intestine) होती हैं। पेट के सबसे निचले हिस्से में मूत्राशय (Bladder) तथा जननांग (Testes/Ovary etc.) होते हैं।

(ङ) हाथ (Upper Limb) – यह छाती से निकलकर नीचे की ओर लटकता है, इसके कई विभाग होते हैं, जैसे – भुजा (Arm), कोहनी (Elbow), कलाई (Wrist) एवं अंगुलियाँ (Fingers & Thumb) आदि। प्रत्येक हाथ में पाँच अंगुलियाँ होती हैं, जिनके अग्रभाग में नाखून होते हैं। ये कोहनी, कलाई आदि सभी अंग विशिष्ट अस्थियों एवं सन्धियों (Bones & Joints) से युक्त होते हैं, जो शरीर की विभिन्न क्रियाओं, जैसे – पकड़ना, उठाना, रखना आदि में सहायक होती हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(च) पैर (Lower Limb) – पेट के निचले हिस्से से दो शाखाएँ निकलती हैं, जिन्हें दायाँ एवं बायाँ पैर कहते हैं। दोनों पैर पेट की हड्डी श्रोणिमेखला (Pelvis) से जुड़े होते हैं। प्रत्येक पैर को जांघ (Thigh), घुटना (Knee), पाँव (Foot) तथा तलवा (Sole) – इनमें विभाजित किया जाता है। दोनों पैरों में पाँच–पाँच अंगुलियाँ होती हैं, जिनके अग्रभाग में नाखून होते हैं।

शरीर के प्रत्येक विभाग के प्रत्येक अंग का अपना विशिष्ट महत्त्व होता है। फिर भी तीन अंग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनके बिना जीवन का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। आधुनिक शरीर–विज्ञान में इन्हे Vital Organs कहा जाता है। ये अंग हैं – हृदय (Heart), फेफड़े (Lungs) एवं मस्तिष्क (Brain)। इनमें से हृदय एवं फेफड़े छाती में होते हैं, जबकि मस्तिष्क सिर में होता है।

(2) शरीर के विविध अंग–तन्त्र

शरीर में अनेक तन्त्र होते हैं। प्रत्येक तन्त्र में अनेक अंग होते हैं। ये सभी अंग संगठित होकर कार्यविशेष में अपना–अपना योगदान देते हैं।[29]

(क) रक्तपरिवहन–तन्त्र (Cardiovascular System) – इस तन्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग हृदय होता है, जो छाती के बाएँ हिस्से में स्थित होता है। यह शुद्ध रक्त (ऑक्सीजन एवं विविध शरीरोपयोगी पोषक–तत्त्वों से युक्त रक्त) को महाधमनी (Aorta) के माध्यम से अन्य छोटी–छोटी धमनियों (Arteries) तक पहुँचाता है। ये धमनियाँ शरीर के प्रत्येक छोटे–बड़े अवयवों तक रक्त को प्रेषित करती हैं। अवयवों में स्थित कोशिकाएँ रक्त में से ऑक्सीजन आदि अवशोषित करके शिराओं (Veins) के माध्यम से अशुद्ध रक्त को पुनः हृदय तक पहुँचाती हैं। यह अशुद्ध रक्त हृदय के दाएँ हिस्से से शुद्धीकरण हेतु फेफड़ों तक जाता है, वहाँ से शुद्ध होकर हृदय के बाएँ हिस्से में आता है। इस प्रकार यह शरीर का रक्तपरिवहन–तन्त्र है।

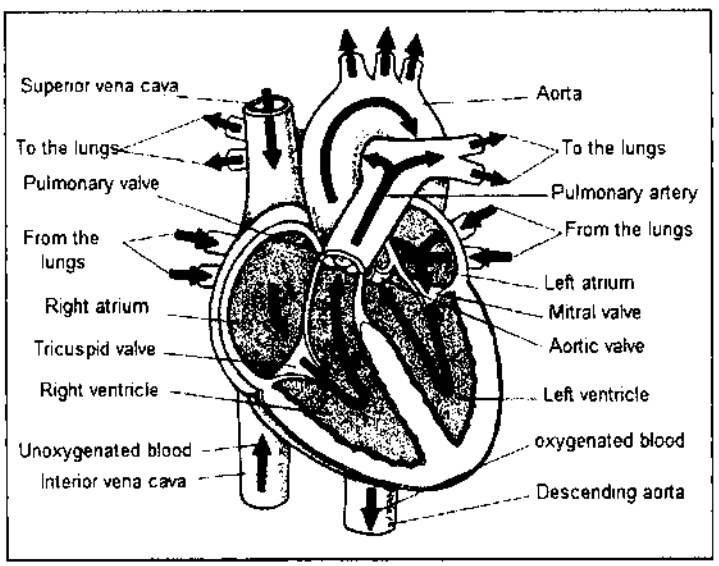

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ख) श्वसन–तन्त्र (Respiratory System) – यह तन्त्र शरीर एवं बाह्य वातावरण के मध्य वायु का आदान–प्रदान करता है, इस तन्त्र के माध्यम से ऑक्सीजन का ग्रहण तथा कार्बन–डाई–ऑक्साइड का उत्सर्जन निरन्तर होता रहता है। सर्वप्रथम नाकछिद्र के माध्यम से वातावरण की वायु ($O_2 \approx 21\%$, $N_2 \approx 78\%$ एवं शेष वायु $\approx 1\%$) शरीर के भीतर प्रवेश करती है, फिर श्वासनली के माध्यम से दोनों फेफड़ों तक पहुँचती है। ये फेफड़े शुद्ध–वायु को ग्रहण करके अशुद्ध–वायु का इसी मार्ग से उत्सर्जन करते हैं। शरीर–प्रबन्धन के लिए शुद्ध–वायु का विशिष्ट महत्त्व है।

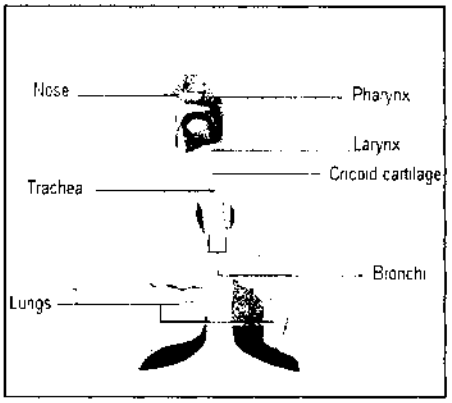

(ग) पाचन–तन्त्र (Digestive System) – यह तन्त्र भोजन के पाचन एवं शोषण (Digestion & Absorption) तथा अवशिष्ट पदार्थों के उत्सर्जन (Excretion) से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत सबसे पहले मुँह के माध्यम से भोजन–ग्रहण होता है। वह भोजन दाँतों से चबकर, लार से सम्मिश्रित होकर ग्रासनली (Pharynx & Oesophagus) से होता हुआ आमाशय (Stomach) तक पहुँचता है। आमाशय में मौजूद गैस्ट्रिक रस (Water, Mineral salt, Mucus, HCl, Pepsinogen & Rennin etc.) के माध्यम से पचता है। फिर छोटी आँत में उपयोगी पोषक–तत्त्वों का शोषण होकर पतली विष्टा का निर्माण हो जाता है। बड़ी आँत में पहुँचने पर पानी तथा आवश्यक लवणों का अवशोषण होकर यह ठोस विष्टा में परिवर्तित हो जाता है। यह विष्टा मलाशय (Rectum) में एकत्र होती है, जो समय–समय पर गुदा–द्वार (Anal Orifice) के द्वारा बाहर निकाल दी जाती है। इसी तन्त्र के तीन सहायक अंग हैं – यकृत, जो चय–अपचय (Metabolism) करता है, पित्ताशय (Gall bladder), जो पाचन–योग्य पित्त का निर्माण करता है एवं अग्न्याशय (Pancreas), जो आवश्यक इन्सुलीन (Insulin) हार्मोन तथा ग्लुकागोन (Glucagon) हार्मोन का निर्माण करता है।

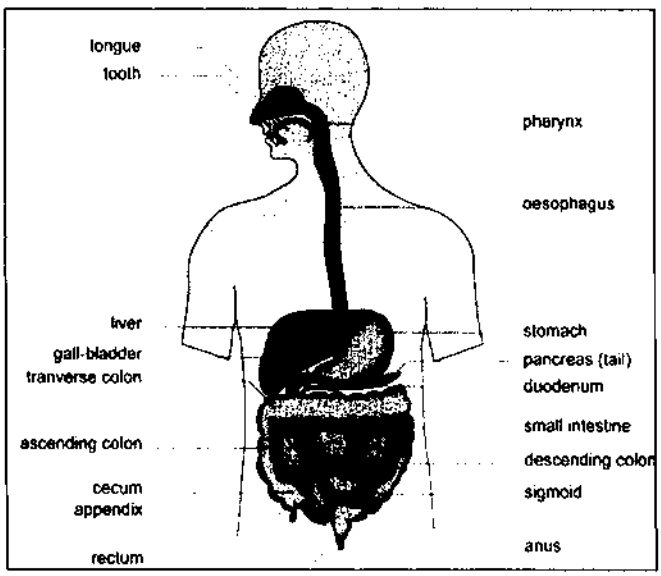

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(घ) उत्सर्जन–तन्त्र (Excretory System) – इसका सम्बन्ध मूत्र के उत्सर्जन से है। इसमें सर्वप्रथम धमनियों से प्राप्त शुद्ध–रक्त में से यूरिया (Urea), क्रिएटीनीन (Creatinine) आदि पदार्थों का अवशोषण होता है। यह कार्य गुर्दों में स्थित ग्लोमेरुलस (Glomerulus) तथा नेफ्रान (Nephron) तत्त्वों के माध्यम से होता है। जो अतिरिक्त यूरिया, क्रिएटीनीन आदि होते हैं, वे मूत्र के रूप में मूत्रवाहिनी नली से प्रवाहित होकर मूत्राशय में पहुँचते हैं, जो समय–समय पर मूत्रद्वार नली के द्वारा बाहर निकाल दिए जाते हैं।

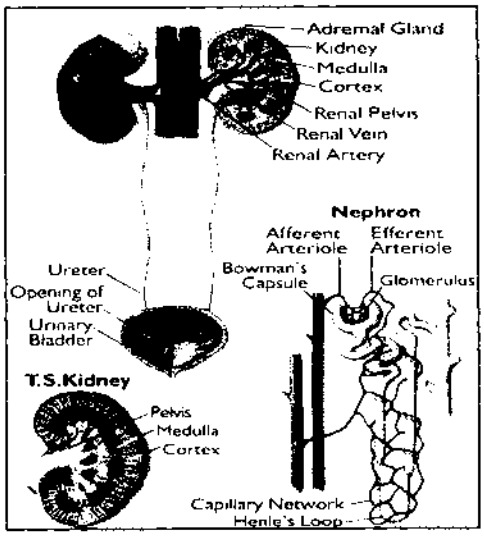

(ङ) अन्तःस्रावीग्रन्थि–तन्त्र (Endocrine Gland System)[30] – यह तन्त्र विशिष्ट प्रकार के रसायन (हॉर्मोन्स/Hormones) बनाने वाली ग्रन्थियों से बनता है। शरीर में होने वाली जैविक एवं चयापचय क्रियाओं के साथ–साथ शारीरिक–वृद्धि एवं विकास का नियंत्रण भी इसी तन्त्र के द्वारा किया जाता है।

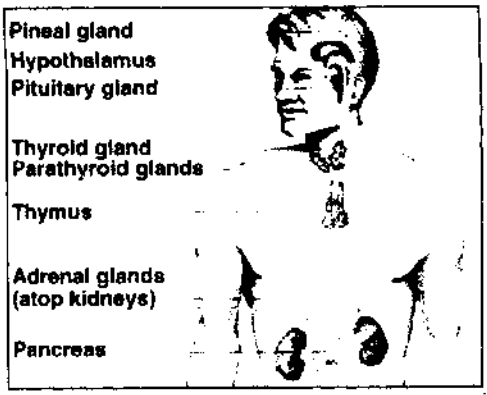

शरीर की प्रमुख अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ हैं –

- ★ पीनियल
- ★ पेराथायरॉइड
- ★ पिट्युटरी
- ★ थायमस
- ★ थायरॉइड
- ★ एड्रीनल

चूँकि इन ग्रन्थियों में बनने वाले हॉर्मोन्स बिना किसी नलिका के सीधे ही रक्त के माध्यम से निर्धारित अंग तक पहुँचते हैं, अतः इन्हें नलिकाविहीन ग्रन्थियाँ (Ductless Glands) भी कहा जाता है।

मूलतः स्नायु–तन्त्र एवं अन्तःस्रावी ग्रन्थि–तन्त्र दोनों मिलकर ही नियंत्रण और समन्वय का कार्य करते हुए शरीर में समावस्था (Homeostasis) बनाए रखते हैं। शरीर–प्रबन्धन के लिए इस समावस्था का बना रहना अनिवार्य पहलू है।[31]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(च) स्नायु–तन्त्र (Nervous System)[32] – यह तन्त्र विविध उद्दीपकों (Stimuli) को जानने तथा उनके बारे में सोचने, समझने एवं याद रखने का कार्य करता है। यह शरीर के अन्य अंगों के कार्यों में उचित सामंजस्य तथा सन्तुलन बनाता हुआ उन सभी पर उचित नियंत्रण भी रखता है। इस प्रकार, यह शरीर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तन्त्र है।

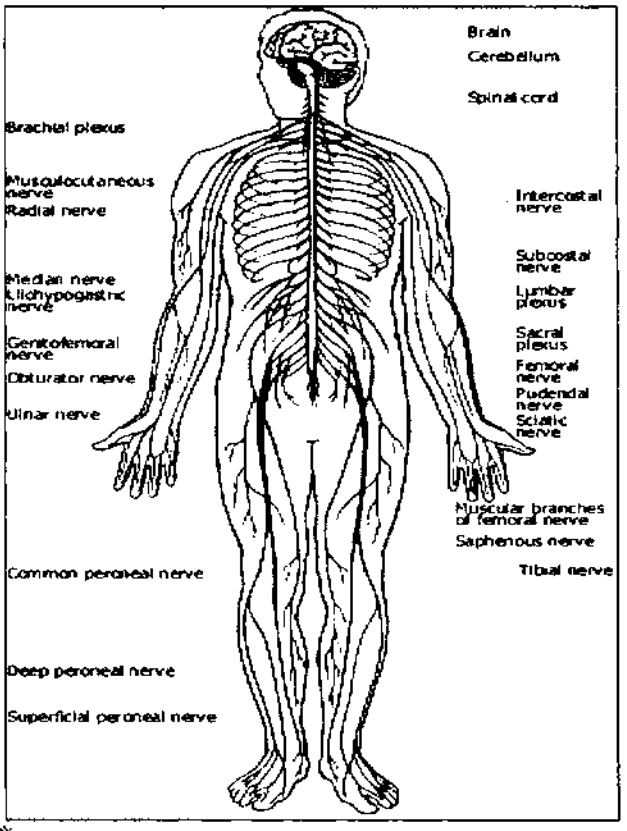

यह तन्त्र मस्तिष्क, सुषुम्ना–नाड़ी, तंत्रिका–कोशिका (Neurons) एवं विविध स्नायुओं से मिलकर बना होता है। इसमें मुख्यतया दो प्रकार की तंत्रिका–कोशिकाएँ होती हैं – संवेदी या ज्ञानवाही (Recepter Neurons) एवं प्रेरक या आज्ञावाही (Motor Neurons)। इनमें से संवेदी–तंत्रिकाएँ अंगों से सन्देश मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं और प्रेरक तंत्रिकाएँ मस्तिष्क से सन्देश अंगों तक पहुँचाती हैं।

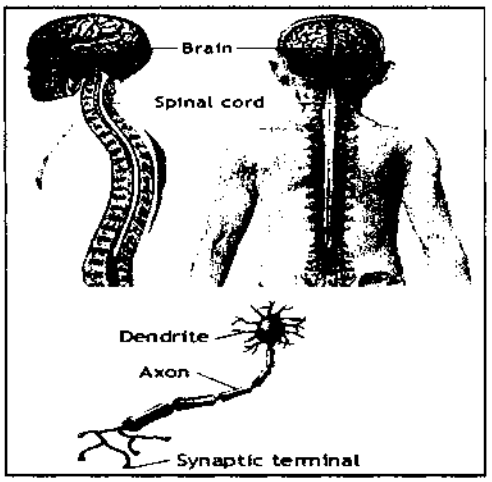

इसकी कार्यप्रणाली इस प्रकार है – जब शरीर के बाहर या भीतर कोई उद्दीपन (Stimulation) होता है, तो ज्ञानेन्द्रियाँ इससे प्रभावित होकर संवेदी–तंत्रिकाओं के माध्यम से मस्तिष्क या सुषुम्ना–नाड़ी को सूचना भेजती हैं। तत्पश्चात् मस्तिष्क या सुषुम्ना–नाड़ी प्रेरक–तंत्रिकाओं के माध्यम से उचित आदेश प्रसारित करती हैं, जो सम्बन्धित अंगों तक पहुँचता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(छ) प्रजनन तन्त्र (Reproductive System) – यह तन्त्र सन्तानोत्पत्ति की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। स्त्री–पुरूष के सम्भोग करने पर यह तन्त्र क्रियाशील होता है। सर्वप्रथम पुरूष के वृषण (Testis) में उत्पन्न शुक्राणु (Sperms) वाहिकाविशेष (Vasdeferensd) के द्वारा मूत्रद्वार नली (Urethra) में पहुँचते हैं। ये शुक्राणु बाद में शिश्न (Penis) अर्थात् छिद्रयुक्त नलाकार अंग के द्वारा स्त्री के प्रजनन अंग तक पहुँचते हैं। स्त्रियों में योनि (Vagina) से होते हुए तथा गर्भाशयिक ग्रीवा (Cervix) से गुजरते हुए गर्भाशयिक नलियों (Fallopian tube) में पहुँचकर वहाँ ठहर जाते हैं। इन शुक्राणुओं की प्रारम्भिक संख्या अनुमानतः तीस करोड़ होती है, किन्तु गर्भाशयिक नलियों तक कुछ ही पहुँच पाते हैं। जब स्त्री की डिम्बग्रन्थि (Ovary) से डिम्ब (Ovum) निःसृत होता है, तब उसका सम्मिश्रण किसी एक शुक्राणु के साथ होता है। सम्मिश्रण के पश्चात् निषेचित डिम्ब (Fertilized Ovum) तैयार हो जाता है, जो अन्ततः गर्भाशय (Uterus) में पहुँचकर जीवन–विकास प्रारम्भ करता है और लगभग नौ माह के पश्चात् शिशु रूप में जन्म लेता है।

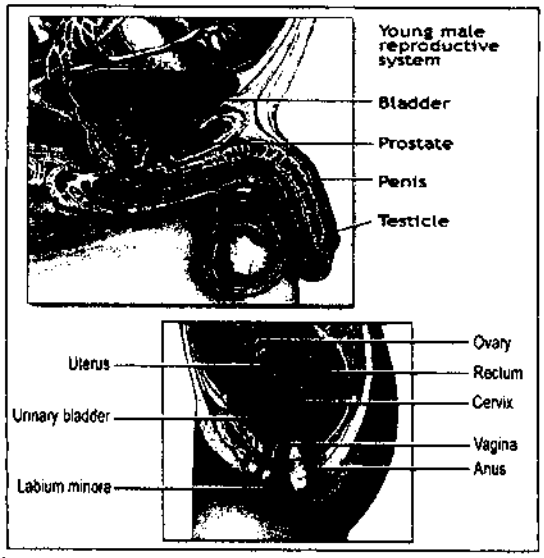

(ज) आवरण–तन्त्र (Integumentary System) – इस तन्त्र का मुख्य सम्बन्ध त्वचा से है, जो पूरे शरीर के अवयवों को ढँक कर रखती है। इसके मुख्य अवयव हैं – त्वचा, रोम, नख, पसीना एवं तैल–ग्रन्थियाँ (Sweat Glands)। इस तन्त्र के मुख्य कार्य हैं – शरीर के ताप का नियंत्रण करने (Temperature Control) में सहयोग देना, पसीने के रूप में त्याज्य–पदार्थों का उत्सर्जन करना, विटामिन डी का उत्पादन करना तथा बाह्य स्पर्श, दर्द आदि के प्रति संवेदनशील होना इत्यादि

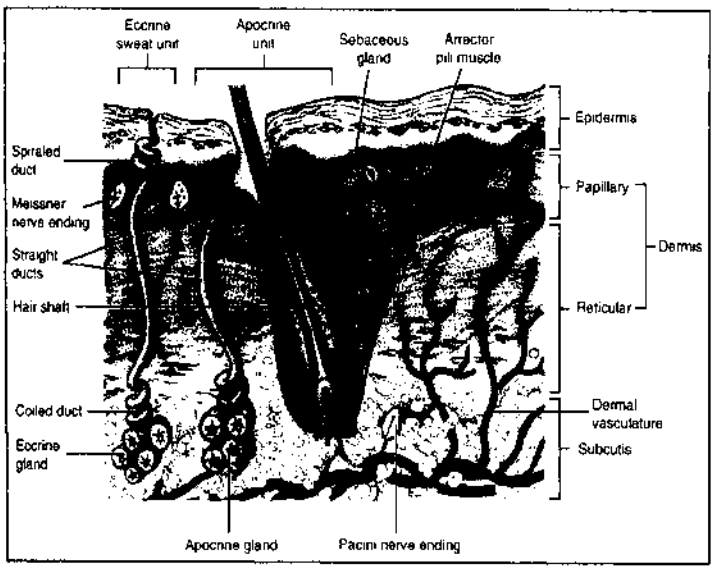

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(झ) अस्थि–तन्त्र (Skeletal System) – इसका सम्बन्ध शरीर में विद्यमान विविध हड्डियों एवं उनकी सन्धियों से है। यह तन्त्र सख्त, किन्तु गतिशील ढाँचा बनाता है। इसमें हड्डियाँ स्थिर होती हैं और सन्धियों (जोड़ों) के माध्यम से शरीर गतिशील होता है। यह ढाँचा शरीर के कोमल अंगों की सुरक्षा भी करता है। कुछ विशेष हड्डियों की मज्जा (Matrix Marrow) में रक्त की विविध कोशिकाओं का निर्माण भी होता है।

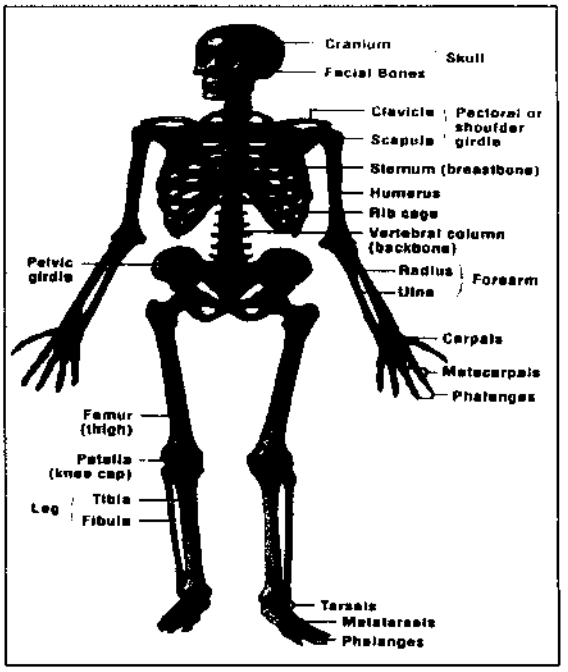

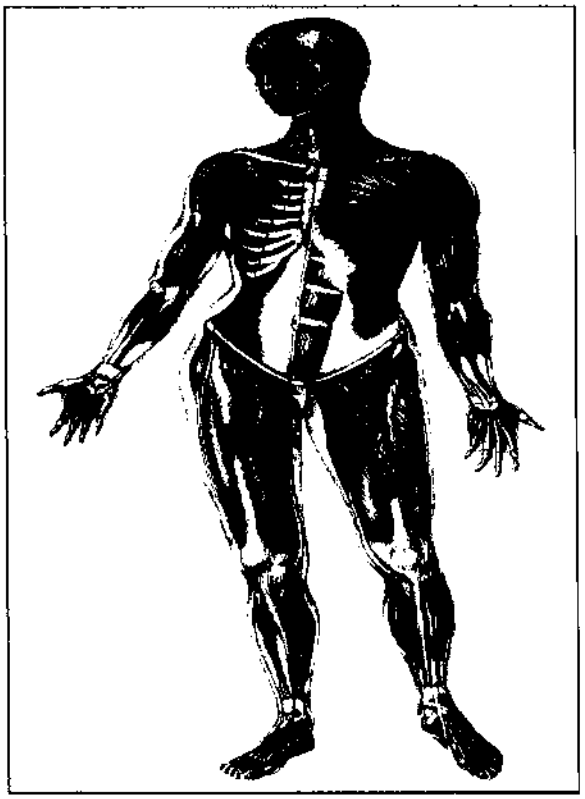

(ञ) पेशीय–तन्त्र (Muscular System) – यह तन्त्र शरीर का मांसल भाग बनाता है। इसमें सैकड़ों छोटी–बड़ी पेशियाँ (Muscles) होती हैं, जो अस्थियों से जुड़ी रहती हैं। ये पेशियाँ शरीर की सभी प्रकार की गतिविधियों एवं मुद्राओं को नियंत्रित करती हैं, साथ ही उष्मा (Heat) का उत्पादन भी करती हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ट) लसिका–तन्त्र (Lymphatic System) – इसका सम्बन्ध मुख्यता से प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) से है, इसके मुख्य अवयव लसिका–द्रव, लसिका–वाहिनी एवं लसिका–ऊतक हैं। यह तन्त्र शरीर के आन्तरिक द्रव को छानने, श्वेत–रक्त–कणिकाओं (WBC) का संरक्षण करने तथा रोगों से सुरक्षादि करने का कार्य करता है।

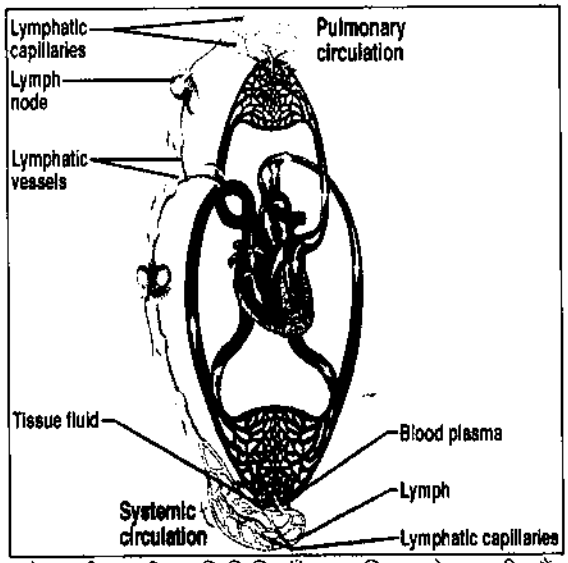

भले ही कार्य के आधार पर सभी तन्त्र अलग–अलग होते हैं, फिर भी ये सभी तन्त्र एक–दूसरे के आश्रित रहते हैं और इनके बीच के समन्वय, सन्तुलन तथा सहयोग के कारण ही शरीर एक इकाई के रूप में अपना कार्य करता रहता है। शरीर–प्रबन्धन के लिए यह जानना आवश्यक है कि यदि एक अंग या एक तन्त्र भी बीमार पड़ जाए, तो पूरे शरीर की गतिविधियाँ प्रभावित हो जाती हैं, अतः यदि व्यक्ति को स्वस्थ रहना है, तो उसे प्रत्येक तन्त्र के अनुकूल आहार–विहार, रहन–सहन और अन्य व्यवहार करना चाहिए। यह जागृति शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए जरुरी है।[33]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5.2 शरीर का महत्त्व

उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर के बारे में कहा गया है[34] –

सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो।।

अर्थात् शरीर एक नौका है, जिसमें जीव रूपी नाविक बैठकर संसार रूपी समुद्र को पार कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि जैनदृष्टि में शरीर जीवन का अन्तिम साध्य तो नहीं है, किन्तु एक ऐसा महत्त्वपूर्ण साधन अवश्य है, जिसके बिना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती,[35] अतः जैनदृष्टि में शरीर (साधन) का महत्त्व स्वतः ही सिद्ध है।

यह सत्य है कि जीवन–प्रबन्धक के लिए शरीर एक उपयोगी साधन है, फिर भी इसके मोहजाल में फँसकर वह अपने जीवन–लक्ष्य से भटक सकता है। अतः शरीर के अनित्य, अपवित्र आदि नकारात्मक पक्षों का उल्लेख भी जैनशास्त्रों में किया गया है। द्वादशानुप्रेक्षा के अनुसार,[36] यह शरीर अशुचि है, दुर्गन्धमय है, घृणित है, जड़ है तथा इसका स्वभाव ही सड़ना और गलना है। भावप्राभृत के अनुसार,[37] यह मानव–शरीर अनेकानेक रोगों का आश्रय है, इसके एक–एक अंगुलस्थान में छियानवे–छियानवे रोग होते हैं। मूलाचार में कहा गया है[38] – हाड, मांस, कफ, चर्बी, रुधिर, चमड़ा, पित्त, आँतें, मूत्र, पीप आदि से युक्त यह शरीर है, जो अपवित्र है, साथ ही अनेक दुःखों और रोगों का स्थान है। शान्तसुधारस के अनुसार,[39] जिस छिद्रयुक्त घड़े में से शराब गिरती हो, वैसे अस्वच्छ गन्दे घड़े को मिट्टी से साफकर गंगाजल से धोया जाए, तो भी वह अपवित्र ही रहता है, वैसे ही बीभत्स हड्डी, मल–मूत्र, रजादि से भरा यह शरीर भी विभिन्न प्रयत्नों से शुद्ध नहीं होता।

वस्तुतः, जैनदर्शन अनेकान्तमूलक है, इसमें शरीर के सन्दर्भ में एक सन्तुलित एवं यथार्थ दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया गया है। किसी एक पक्ष को ही महत्त्व न देकर, शरीर के सकारात्मक एवं नकारात्मक – दोनों पक्षों का समन्वय किया गया है। यदि शरीर को सम्पूर्ण अनर्थ का घर कहा गया है,[40] तो इसे ही देवालय भी कहा गया है।[41] यदि इसे दुःखों का मूल कहा गया है, तो इसे ही सुख का प्राथमिक साधन भी कहा गया है। यदि यह रोगों का आश्रयस्थल है, तो यही आरोग्य–बोधि की प्राप्ति का सही माध्यम भी है। यदि इसे अपवित्र कहा गया है, तो इसे उदार अर्थात् उत्तम भी कहा गया है। अतः, यह जरुरी है कि शरीर–प्रबन्धक शरीर के प्रति सापेक्ष एवं यथार्थ दृष्टिकोण का विकास करे।

इसी दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए उपाध्याय विनयविजयजी ने भी कहा है[42] –

केवलमलमयपुद्गलनिचये, अशुचिकृतशुचिभोजन सिचये।
वपुषि विचिन्तय परमिहसारं, शिवसाधनसामर्थ्यमुदारं।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् यह मान लेना ही पर्याप्त नहीं है कि शरीर मलयुक्त है और भोजन एवं वस्त्रों को अपवित्र बनाने वाला है, क्योंकि यह सर्वदुःखों से मुक्तिरूप परमकल्याणकारी मोक्ष लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाला श्रेष्ठ साधन है।

मानव–शरीर की प्रमुख विशेषताएँ

मानव–शरीर की ऐसी अनेक विशिष्टताएँ हैं, जो इसके महत्त्व को और अधिक स्पष्ट करती हैं –

(1) दुर्लभता – 'दुल्लहे खलु माणुसे भवे' अर्थात् संसार में मानव–जीवन की प्राप्ति निश्चय ही अतिदुर्लभ है।[43] इसकी दुर्लभता ही इसके महत्त्व को कई गुणा बढ़ा देती है। कहा गया है कि जीवन का सबसे निकृष्ट एवं अविकसित रूप 'निगोद' का होता है, जिसमें अनन्त काल तक जीव बारम्बार जन्म–मरण करता रहता है। यह जीवन इतना अल्प होता है कि एक श्वासोच्छ्वास में साढ़े सत्रह बार जन्म–मरण हो जाता है। इस निगोद अवस्था से निकल जाने पर भी जीव की स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवनरूपों में सुदीर्घकाल तक जन्म–मरण करना पड़ सकता है, उसके लिए त्रस होना दुर्लभ है। त्रस होने पर भी पंचेन्द्रिय अवस्था की प्राप्ति होना, पंचेन्द्रिय होने पर भी विकास योग्य पर्याप्तियों से पूर्ण होना, पर्याप्तियाँ पूर्ण होने पर भी मनसहित होना और मनसहित होने पर भी दीर्घायुषी मनुष्य–जीवन मिलना अतिदुर्लभ है।[44] इस प्रकार, अनेकानेक योनियों में परिभ्रमण करने के बाद भी मनुष्य–जीवन की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

कदाचित् पूर्वजन्मों के सुसंस्कारों, कषायों की मन्दता, प्रकृति की भद्रता और विनम्रता, दयालुता और सहृदयता तथा मत्सर–भाव (पर–गुण असहिष्णुता) न रखने से मनुष्य–जीवन की प्राप्ति होती है।[45] उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है कि जीवों के लिए चार दुर्लभताएँ हैं और इनमें सर्वप्रथम है – मनुष्यत्व की प्राप्ति।[46]

भारतीय संस्कृति के महान् कवियों ने भी अनेक प्रकार से मानव–जन्म की दुर्लभता को दर्शाया है, जैसे –

बेर–बेर नहीं आवे, अवसर बेर–बेर नहीं आवे।
ज्युं जाणे त्युं करले भलाई, जन्म–जन्म सुख पावे।।

– अध्यात्मयोगी आनन्दघनजी[47]

मनीषा जनम दुर्लभ है, देह न बारम्बार।
तरवर थें फल झड़ि पड्या, बहुरि न लागें डार।।

– कबीर[48]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बड़े भाग मानुष तनु पावा, सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा, पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।

– रामचरित मानस[49]

बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मळ्यो।
तोये अरे भवचक्रनो आंटो नहि एके टळ्यो।।

– श्रीमद्राजचन्द्र[50]

(2) योग्यता – जैनदर्शन के अनुसार, मानव–शरीर में जीवनलक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अतिविकसित तन्त्र हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य वातावरण का ज्ञान कराती हैं। मन जटिल से जटिल विषयों पर भी चिन्तन, मनन, निर्णय, स्मरण आदि करके ज्ञान को व्यापक बनाता है तथा भावनाओं एवं संवेगों को प्रसारित करने में भी प्रमुख सहयोगी सिद्ध होता है। आज मनुष्य की भौतिक प्रगति का मूल भी मन ही है। हाथ–पैर, वाणी आदि शारीरिक अंग भी जीवन की क्रियाशीलता के परिचायक हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक भी मनुष्य–जीवन की योग्यता को विशेष प्रकार से प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार, संसार के समस्त जीवों में मनुष्य सबसे अधिक विकसित प्राणी है, क्योंकि यह बहुकोशिकीय (Multicellular) संरचना वाला और अतिविकसित स्नायुतन्त्र, अन्तःस्रावीग्रन्थितन्त्र, पाचनतन्त्र, श्वसनतन्त्र आदि से युक्त है। डार्विन की विकासवादी मान्यता के अनुसार, अमीबा से क्रमशः स्पंज, हाइड्रा और फिर विभिन्न बाधाओं को पार करता हुआ मछली, मेंढक, साँप, छिपकली, चिड़िया, हाथी, बन्दर आदि जीवन रूप विकसित होते–होते अन्त में मनुष्य बना। स्पष्ट है कि मानव–शरीर सर्वोच्च जीवनरूप है।[51]

(3) उपयोगिता – मानव–जीवन की महत्ता का तीसरा पहलू है – इस जीवन की उपयोगिता। सामान्य सिद्धान्त है कि वस्तु की उपयोगिता ही उसके महत्त्व को द्योतित करती है। मानव–शरीर की यह विशिष्टता है कि उसमें जीवन–विकास या जीवन–प्रबन्धन की अद्भुत क्षमताएँ विद्यमान हैं। कहा गया है – **'धर्मार्थकाममोक्षाणाम् मूलमुक्तं कलेवरं'**[52] अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति का मूल साधन शरीर ही है। जीवन का लक्ष्य व्यावहारिक हो या आध्यात्मिक, मानव–शरीर के बिना समुचित ढंग से लक्ष्यपूर्ति नहीं की जा सकती।

अर्थ और काम में मानव–शरीर का उपयोग करना तो सामान्य बात है, परन्तु जैनाचार्यों ने धर्म और मोक्ष के लिए भी मानव–शरीर की महत्त्वपूर्ण भूमिका को प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार, मनुष्य–जीवन की सार्थकता तभी है, जब व्यक्ति इस शरीर में रहते हुए सांसारिक प्रपंचों से विरक्त होकर आत्मश्रेय के मार्ग में लग जाए एवं अन्ततः सत्कार्यपूर्वक (शुद्धभावपूर्वक) शरीर का त्याग करे।[53] वे कहते हैं कि आहारादि प्रवृत्तियाँ तो हर शरीर में सुलभ है, परन्तु सद्धर्म का श्रवण, उस धर्म पर यथार्थ श्रद्धा तथा आत्म–संयम में पराक्रम का होना मनुष्य–शरीर में रहते हुए ही सम्भव है।[54] यह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य शरीर ही है, जिसमें तप होता है, महाव्रतों का पालन होता है, आत्म–ध्यान होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है।[55] जैनाचार्यों की यह दृष्टि जीवन–प्रबन्धक के लिए उपयोगी है, क्योंकि इससे ही शरीर के सम्यक् उपयोग का बोध प्राप्त होता है। उसे चाहिए कि वह अर्थ एवं काम–भोग में ही शरीर को नष्ट करने के बजाय नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए भी शरीर का सहयोग ले। वह जैनाचार्यों के इस कथन को जीवनमंत्र बनाए – **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं'** अर्थात् शरीर निश्चय ही धर्म–साधना का प्राथमिक साधन है।[56]

आयुर्वेद में इसीलिए कहा गया है कि धर्मादि चारों पुरूषार्थों का प्रधान कारण आरोग्य है, अतः मनुष्य को रोगों से शरीर की रक्षा करनी चाहिए।[57] यहाँ तक कि सभी कार्य छोड़कर भी सर्वप्रथम शरीर की रक्षा करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि यदि शरीर ही सुरक्षित नहीं रहेगा, तो कोई भी कार्य नहीं हो सकेगा। जिस प्रकार सारथी अपने रथ की रक्षा करने में सावधान रहता है, उसी प्रकार प्राणी को अपने शरीर की रक्षा करने में सतर्क रहना चाहिए।[58] स्थानांगसूत्र में भी कहा गया है – 'पहला सुख निरोगी काया'।[59]

देह रक्षा योग्य है, निज इष्ट साधन के लिए।
है असम्भव कार्य सब, तन की बिना रक्षा किए।।

इस प्रकार, जैनाचार्यों ने शरीर के साथ शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण न अपनाते हुए मित्रतापूर्ण दृष्टिकोण रखने का उपदेश दिया है, क्योंकि यह जीवन–अस्तित्व एवं जीवन–विकास का अमूल्य साधन है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि धर्म के साधनभूत इस शरीर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।[60] शयन–जागरण, भोजन–पान आदि के द्वारा इसे स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिए।[61] इस देह का प्रयोग विदेही बनने में करना ही जीवन–प्रबन्धन का सर्वोच्च लक्ष्य है।

शरीर से पुण्य परोपकार, शरीर ही है गुण आगार।
शरीर ही है सुरलोक–द्वार, शरीर ही से सुविचार सार।।
शरीर ही से पुरूषार्थ चार, शरीर की है महिमा अपार।
शरीर रक्षा पर ध्यान दीजे, शरीर सेवा सब छोड़ कीजे।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5.3 शरीर सम्बन्धी अप्रबन्धन या कुप्रबन्धन के दुष्परिणाम

भगवान् महावीर ने प्रबन्धन अर्थात् संयम को साधना का प्रधान तत्त्व बतलाया है। उनके अनुसार अप्रबन्धित जीवन शस्त्र के समान होता है,[62] जिसका परिणाम आसक्ति, मोह, मृत्यु तथा नरक है।[63] जिस प्रकार छिद्रों वाली नौका में बैठकर नाविक सागर पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार से अप्रबन्धित जीवनशैली वाला मानव जीवन–लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता।[64] अतः मानव को अपनी जीवनशैली प्रबन्धित करनी चाहिए।

आज मानव की जीवनचर्या अप्रबन्धित है, जिसका मूल कारण है – भोगवाद का अन्धानुकरण। इसके दुष्परिणाम भी तीव्रता से उभर रहे हैं। अनेक प्रकार के घातक रोग इस दोषपूर्ण जीवनशैली के प्रत्यक्ष परिणाम हैं, जैसे – हार्ट–अटैक, कैन्सर, एड्स, हिपेटाइटिस (पीलिया), मधुमेह, उच्च–निम्न रक्तचाप, गुर्दा रोग आदि। स्थानांगसूत्र में भी निम्नलिखित अप्रबन्धित जीवनशैली को रोगोत्पत्ति का कारण ठहराया गया है[65] –

- ★ अत्यधिक आहार
- ★ अहितकर आहार
- ★ प्रकृति के प्रतिकूल आहार
- ★ अतिजागरण
- ★ अतिनिद्रा
- ★ मल–वेग को रोकना
- ★ मूत्र–वेग को रोकना
- ★ अत्यधिक चलना
- ★ इन्द्रिय भोगों में रमण

वर्त्तमान युग में व्यक्ति अपनी जीवनशैली को सुधारने के लिए उत्सुक तो है, किन्तु संयम या प्रबन्धन की सम्यक् साधना न करने से इच्छित फल की प्राप्ति नहीं कर पाता। वह चाहता कुछ और है, सोचता कुछ और है, कहता कुछ और है एवं करता कुछ और ही है। उसकी इन्द्रिय–विषयों के प्रति आसक्ति दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, परिणामतः जीवन असंतुलित, अमर्यादित एवं अनियन्त्रित होता जा रहा है, जिससे शरीर की उचित देखभाल भी नहीं हो पा रही। इस अप्रबन्धित–जीवनशैली को निम्न कारकों के माध्यम से समझा जा सकता है –

(1) आहार सम्बन्धी विसंगतियाँ
(2) जल सम्बन्धी विसंगतियाँ
(3) प्राणवायु सम्बन्धी विसंगतियाँ
(4) श्रम–विश्राम सम्बन्धी विसंगतियाँ
(5) निद्रा सम्बन्धी विसंगतियाँ
(6) स्वच्छता सम्बन्धी विसंगतियाँ
(7) शृंगार (साज–सज्जा) सम्बन्धी विसंगतियाँ
(8) ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विसंगतियाँ
(9) मनोदैहिक विसंगतियाँ
(10) अन्यकारक सम्बन्धी विसंगतियाँ

5.3.1 आहार सम्बन्धी विसंगतियाँ

व्यक्ति दिनभर में जो भी खाता–पीता है, आहार कहलाता है। आहार एवं स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आहार से शारीरिक–विकास एवं अन्य गतिविधियों के लिए आवश्यक ऊर्जा प्राप्त होती है। फिर भी, अधिकांश लोग यह नहीं जानते कि उन्हें आहार सम्बन्धी किन–किन विसंगतियों से बचना चाहिए, परिणामतः अनेक छोटे–बड़े, साध्य–असाध्य रोग घर कर जाते हैं। ये विसंगतियाँ निम्न हैं –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(1) आहार क्यों? – आज व्यक्ति को यह नहीं पता कि आहार का सही प्रयोजन क्या है। कई लोग जीवन के लिए नहीं, अपितु जीभ के लिए आहार करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में स्वास्थ्य से अधिक महत्त्व स्वाद का है। कई महिलाएँ शरीर को सुन्दर बनाने के लिए, तो कई पुरूष शरीर को सुडौल बनाने के लिए आहार करते हैं, क्योंकि वे शरीर को प्रदर्शन का माध्यम ही मानते हैं। सौन्दर्य एवं सौष्ठव प्रतिस्पर्धाओं के प्रति बढ़ती हुई लोकप्रियता भी इस बात की पुष्टि करती है। यह दिग्मूढ़ता शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए सबसे बड़ी बाधा है, इसीलिए निशीथ–भाष्य में आहार के सही प्रयोजन के बारे में संकेत देते हुए कहा गया है[66] – मोक्ष के साधन ज्ञान आदि हैं, ज्ञान आदि की प्राप्ति का साधन शरीर है तथा शरीर के संरक्षण का साधन आहार है। इस बात की पुष्टि काका कालेलकर ने भी की है कि जब आहार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास को छोड़कर केवल इन्द्रिय–तृप्ति और विलास का साधन बन जाता है, तब वह खाने वाले को ही खा जाता है।[67]

(2) आहार कैसा हो? – आज व्यक्ति को नहीं पता कि उसके शरीर को किन–किन तत्त्वों की आवश्यकता है और वह उन्हें किन–किन स्रोतों से प्राप्त कर सकता है। अतः व्यक्ति स्वादेन्द्रिय के वशीभूत होकर असेवनीय पदार्थों का बेहिचक भक्षण कर रहा है। आहार में अभक्ष्य, अपौष्टिक, असन्तुलित, अपाच्य, असात्विक, अशुद्ध एवं अहितकर सामग्रियों की मात्रा बढ़ती जा रही है। कई लोग फास्ट फुड, टीण्ड फुड, प्रोसेस्ड फुड, जंक फुड आदि का अत्यधिक सेवन करते हैं। कई लोग बाजार के तैयार आटे, बेसन, थूली (दलिया), मैदा आदि अशुद्ध पदार्थों का नियमित उपयोग करते हैं। कई लोग शरीर के लिए घातक पदार्थ, जैसे – शराब, मांस, तम्बाकू, गुटखा, सिगरेट वगैरह के आदी (Addict) हो जाते हैं।

पेट को कचरापेटी के समान भरने वाले ये लोग अनेक रोगों के शिकार हो जाते हैं। जैनाचार्यों ने इसीलिए शरीर के प्रबन्धन को बिगाड़ने वाले कुभोजन अर्थात् अभक्ष्य, अपेय और अपथ्य भोजन का निषेध किया है,[68] इसीलिए सम्यक् शरीर–प्रबन्धन हेतु इनका त्याग करना चाहिए।

(3) आहार कब? – उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, जीवन का प्रत्येक कार्य उचित समय पर करना चाहिए।[69] किन्तु, आज की भाग–दौड़ भरी जिन्दगी में व्यक्ति के आहार का समय बिगड़ गया है। अधिकांश घरों में रसोई का कार्य सुबह से शुरु होकर देर रात तक चलता ही रहता है। हर सदस्य के भोजन का समय अलग–अलग होता है। किसी को सुबह उठते ही बेड–टी चाहिए, तो किसी को सोने के पूर्व भोजन चाहिए। कई लोग दिन और रात तम्बाकू, गुटखा आदि ही चबाते रहते हैं। कई लोगों को खाली मुँह रहना ही नहीं सुहाता, उन्हें थोड़ी–थोड़ी देर में खाने–पीने के लिए अवश्य चाहिए।

इस पशुतुल्य चर्या का परिणाम शारीरिक रोग के रूप में उभरता है, इसीलिए जैनाचार्यों ने जब–तब भोजन करने के बजाय समयानुकूल भोजन करने का निर्देश दिया है, जो शरीर–प्रबन्धन की अपेक्षा से अत्युपयोगी है।[70]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(4) आहार कहाँ हो? – आज अधिकांश लोग घर में भोजन करना कम पसन्द करते हैं और होटलों में ज्यादा। वे सोच ही नहीं पाते कि होटलों में न तो शुद्धि का ख्याल रखा जाता है और न ही पौष्टिकता का, वहाँ तो आर्थिक लाभ ही मुख्य होता है। इसी प्रकार, कई लोग पान, चाय, चाट, कचौरी आदि के ठेलों पर ही खाते हुए दिखाई देते हैं। अवकाश के दिन तो घरों में प्रायः भोजन ही नहीं बनता, बल्कि किसी न किसी रेस्त्रां, मॉल या पार्टी आदि में जाने का कार्यक्रम पूर्वनियोजित रहता है। शहरों में व्यक्ति दूर–दूर तक सिर्फ इन शौकों को पूरा करने के लिए जाता है।

जहाँ सामूहिक भोज होता है, वहाँ अक्सर शुद्धि–अशुद्धि एवं हिंसा–अहिंसा का विवेक रख पाना सम्भव नहीं होता, अतः जैन–परम्परा में व्रतियों को इन स्थानों पर भोजन करना निषिद्ध है। जैनआचार में प्रतिपादित यह पद्धति शरीर–प्रबन्धन के लिए अनिवार्यरूप से आचरणीय है।

(5) आहार कितना हो? – सम्यक् शरीर–प्रबन्धन के लिए आहार की मात्रा मर्यादित होना जरुरी है, किन्तु आज लोगों में इसकी सही समझ ही नहीं है। वे शारीरिक–ऊर्जा की आवश्यकता के आधार पर भोजन नहीं करते, बल्कि तब तक खाते रहते हैं, जब तक पेट भर नहीं जाता। ऐसे लोग पेट को पेटी के समान ठूँस–ठूँस कर भरते जाते हैं।

किशोरावस्था से वृद्धावस्था में आने पर भी लोगों की आहार सम्बन्धी आवश्यकता कम होने के बजाय यथावत् बनी रहती है। अधिकांश लोगों की यह भ्राँति है कि जितना अधिक खाएंगे, शरीर उतना ही अधिक हृष्ट–पुष्ट होगा, कई स्वादलोलुपी इसीलिए राजसिक एवं तामसिक आहार का अति सेवन कर शरीर के प्रबन्धन को बिगाड़ लेते हैं। निश्चित रूप से यह शरीर–प्रबन्धन की सही प्रक्रिया नहीं है।

इन लोगों के लिए जैनाचार्यों ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि स्निग्ध, गरिष्ठ एवं अतिमात्रा में आहार प्राणघातक विष के समान है, अतः मर्यादित आहार करके शरीर का सम्यक् प्रबन्धन करना चाहिए।[71]

इसी प्रकार, आहार सम्बन्धी अनेक विकृतियाँ आज देखी जाती हैं – खड़े–खड़े खाना, बिना चबाए खाना, मसालेदार खाना, मानसिक उद्वेग के साथ खाना, टी.वी. देखते हुए खाना, बातचीत करते हुए खाना इत्यादि। ये विसंगतियाँ भी शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रतिकूल ही हैं।

आगे, जैन विचारकों के आधार पर इन सभी आहार सम्बन्धी विकृतियों से मुक्त होने के उपायों की चर्चा की जाएगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5.3.2 जल सम्बन्धी विसंगतियाँ

जल है तो जीवन है। मानव–शरीर का दो–तिहाई भाग जल ही है। यह जल शरीर की विविध यान्त्रिक एवं जैव–रासायनिक (Biochemical) क्रियाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह स्वयं भी एक पोषक–तत्त्व है और शरीरोपयोगी अन्य पोषक–तत्त्वों का संवाहक भी है। मानव–शरीर में विद्यमान रक्त का 55% अंश जल ही है, जो रक्त–परिसंचरण के द्वारा पोषक–तत्त्वों को प्रत्येक कोशिका (Cell) तक पहुँचाता है। यही जल शरीर में उत्पन्न त्याज्य पदार्थों के उत्सर्जन में भी अहम भूमिका निभाता है।[72]

विडम्बना यह है कि मानव भविष्य की कपोल कल्पनाओं में इतना अस्त–व्यस्त है कि जल की शुद्धि का भी विवेक नहीं रख पाता। बहुत कम लोग हैं, जो शुद्ध जल का ही सेवन करते हैं। अधिकांश लोग तो जब, जहाँ, जैसा पानी मिलता है, उसे पी लेते हैं और अपनी तृषा शान्त कर लेते हैं, किन्तु घर का शुद्ध जल साथ में ले जाना पसन्द नहीं करते। पान खाने या चाय पीने के पूर्व वे अक्सर होटल–रेस्त्रां आदि की गंदी ग्लासों के अनछने पानी को पीते हुए देखे जाते हैं। कई बार तो घर में भी बाजार का बर्फ लाकर ठण्डाई आदि बनाते हैं। सार्वजनिक स्थानों, जैसे – बस–स्थानक, रेलवे–स्टेशन, अस्पताल, विद्यालय आदि की टंकियों में कई दिनों से भरा हुआ पानी सैकड़ों–हजारों लोग रोज पीते हैं। यहाँ तक कि धर्मशालाओं एवं मांगलिक भवनों के तथाकथित शुद्ध पानी का उपयोग भी बेझिझक करते हैं।

प्रदूषित जल पीने से मानव के स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार, विकासशील देशों में पचहत्तर प्रतिशत मृत्युओं का मूल कारण जल–प्रदूषण ही होता है। पेट के रोगों में से अस्सी प्रतिशत रोग भी प्रदूषित जल से ही होते हैं। वस्तुतः, प्रदूषित जल पीने से अनेक प्रकार के जलवाहित रोग (Waterborne Diseases) होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

जल के द्वारा फैलने वाले सूक्ष्म जीवाणु एवं उनसे जनित रोग[73]

क्र.	जीवाणु एवं परजीवी	उनसे फैलने वाले सम्भावित रोग
1)	वायरस	वाइरल बुखार, हिपेटाइटिस (पीलिया), पोलियो आदि
2)	बैक्टीरिया	हैजा, टाईफाइड, पैराटाईफाइड, पेचिस (डिसेन्ट्री) गैस्ट्रोएंट्राइटिस, डायरिया
3)	प्रोटोजोआ	अमीबियोसिस, अतिसार, जिआरडियासिस, थ्रोम्बोइसिस
4)	हेल्मिन्थिक (कृमि)	राउंडवर्म, हुकवर्म, थ्रेडवर्म आदि कृमियों से सम्बन्धित रोग, जैसे – नारु, रक्त की कमी (Anemia), भूख न लगना, पेट–दर्द, चर्मरोग आदि
5)	स्नेल	सिस्टोसामियासिस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार प्रदूषित जल में विद्यमान अवांछित रासायनिक पदार्थों से भी अनेक प्रकार के रोग होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।[74]

जल–प्रदूषण से उत्पन्न होने वाले रोग[75]

क्र.	जल–मिश्रित रासायनिक पदार्थ	सम्भावित रोग एवं विकार
1)	मलजल में मिले कार्बनिक/अकार्बनिक पदार्थ	पाचन तन्त्र के रोग
2)	कैल्शियम एवं मैग्नीशियम सल्फेट	आँतों में जलन एवं मांसपेशियों में ऐंठन (खिंचाव)
3)	सोडियम एवं पोटेशियम	आयनिक असंतुलन
4)	फ्लोराइड	दाँतों का रोग
5)	सल्फाइड	श्वास के रोग
6)	क्लोराइड	हृदय, गुर्दों एवं पाचन–तन्त्र के रोग
7)	अमोनिया	श्वास के रोग
8)	यूरिया	हृदय एवं गुर्दों के रोग
9)	क्लोरीन	श्वास के रोग
10)	फीनोल	श्वास के रोग
11)	तेल एवं चिकनाई (ग्रीस)	पाचन–तन्त्र के रोग
12)	सायनाइड	जहरीला प्रभाव
13)	पारा	गुर्दों, हृदय एवं तंत्रिका–तन्त्र के रोग
14)	जस्ता	गुर्दों के रोग
15)	क्रोमियम	आँतों के घाव (अल्सर)
16)	सीसा	गुर्दों एवं हृदय का रोग तथा जोड़ों का दर्द
17)	रंग तथा रंगयुक्त रंजक	चर्मरोग, अनिद्रा तथा सिरदर्द
18)	टेनिल	चर्मरोग
19)	कीटनाशक दवाई	चर्मरोग, सिरदर्द, अनिद्रा एवं फेफड़ों तथा गुर्दों के रोग

यद्यपि अनेक प्रकार के रासायनिक पदार्थ अल्प मात्रा में प्राकृतिक रूप से जल में विद्यमान होते हैं, परन्तु जब इनकी मात्रा सामान्य से अधिक हो जाती है, तब ये शारीरिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं, जैसे – फ्लोराइड की मात्रा एक मिलीग्राम/लीटर से अधिक हो जाने पर दाँतों में खुरदुरापन, पीलापन एवं छेद हो जाते हैं। अतः शरीर–प्रबन्धन के लिए ऐसे जल का त्याग करना चाहिए।

पीने के अतिरिक्त भी मानव प्रदूषित जल के सम्पर्क में आता है। नदी, तालाब, बावड़ी, नहर, झरने आदि में नहाना मानवीय शौक है, परन्तु इसमें भी अनेक प्रकार के परजीवी जन्तु (Parasitic)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं, जो नहाने, वस्त्र–धोने तथा अन्य कार्यवश आए मनुष्यों की चमड़ी को भेदकर उनके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। इससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, जैसे – नारु (Schistosomiasis), एनकायलोस्टोमियासिस (Ankylostomiasis), स्ट्रान्जिलोडियासिस (Strongylodiasis), लेप्टोस्पाइरोसिस (Leptospirosis) आदि।[76]

इस प्रकार, जैन–परम्परा में पेय एवं अपेय जल के बारे में सात्विक व्यवस्था है। यहाँ सामान्य से सामान्य गृहस्थ को भी छना हुआ तथा मुनि को पूर्णतः उबला हुआ पानी पीने का निर्देश दिया गया है। कहा भी जाता है – 'पानी पीना छानकर, गुरु बनाना जानकर'। जीवन–प्रबन्धन हेतु कौन सा जल पीना, क्यों पीना, कितना पीना, कब पीना, कहाँ पीना इत्यादि का विवेक रखना अत्यावश्यक है, जिससे शरीर की देखभाल एवं सदुपयोग हो सके। जैनदृष्टि के आधार पर इसकी चर्चा आगे की जाएगी।

5.3.3 प्राणवायु सम्बन्धी विसंगतियाँ

प्राणवायु का जीवन–अस्तित्त्व से गहरा सम्बन्ध है। भोजन और जल के बिना तो व्यक्ति कुछ दिन जी सकता है, लेकिन प्राणवायु के बिना कुछ पल भी नहीं। एक स्वस्थ व्यक्ति सामान्यतया प्रतिदिन इक्कीस हजार बार श्वास लेता है, इस दरम्यान लगभग बीस किलोग्राम वायु अन्दर जाती है।[77] इस वायु का कार्य फेफड़ों को बल प्रदान करना, रक्त की शुद्धि करना एवं दीर्घायु प्रदान करना है। वायु के बारे में इसीलिए कहा गया है – **'कायानगरमध्ये तु मारुतः क्षितिपालकः'** अर्थात् इस कायानगरी में प्राणवायु ही भूपति है।[78]

फिर भी आज व्यक्ति प्राणवायु के महत्त्व को अनदेखा कर रहा है। बढ़ता हुआ शहरीकरण, स्वाभाविक हवा, पानी एवं प्रकाश से रहित भवनों का निर्माण, वनस्पति का अतिदोहन, वाहन आदि का अतिप्रयोग – ये सभी कार्य उपर्युक्त तथ्य के साक्षात् प्रमाण हैं। अधिकांश लोगों की दिनचर्या इस प्रकार है कि जब वातावरण अधिक प्रदूषित रहता है, तब तो वे बाजारादि में रहते हैं और जब सुबह–सुबह प्रदूषणमुक्त एवं ताजगीपूर्ण वातावरण रहता है, तब घर की चारदीवारी में बन्द होकर मुँह ढँककर सोते रहते हैं। अवकाश के दिनों में व्यक्ति मनोरंजन के लिए सिनेमा हॉल, क्लब आदि ऐसे स्थानों पर जाना पसन्द करते हैं, जहाँ कभी–कभी तो अतिभीड़ के कारण घुटन भी महसूस होती है। इस प्रकार व्यक्ति पाश्चात्य संस्कृति का अनुसरण कर प्रकृति से विमुख होता जा रहा है, जिससे उसे शुद्धवायु की प्राप्ति दुर्लभ हो गई है।

तनाव एवं चिन्ताओं के बढ़ने से व्यक्ति की श्वास–प्रक्रिया भी प्रभावित हो रही है, आज अधिकांश लोग उथली श्वास लेते हैं, जिससे फेफड़ों के लगभग एक–चौथाई भाग का ही उपयोग होता है, शेष तीन–चौथाई भाग निष्क्रिय पड़ा रहता है। इसके प्रभाव स्वरूप फेफड़ों में मौजूद लगभग सात करोड़ तीस लाख कोष्ठकों में से करीब दो करोड़ कोष्ठकों में ही प्राणवायु का संचार हो पाता है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शेष में नहीं।[79]

शुद्धवायु एवं पूर्णवायु की आपूर्त्ति न होने से अनेक प्रकार के रोगों के होने की सम्भावना रहती है – दमा, खाँसी, गले में जलन एवं दर्द, निमोनिया, ब्रोंकाइटिस तथा कभी–कभी फेफड़ों का कैंसर भी हो जाता है[80]।

वायुप्रदूषण से होने वाले सम्भावित रोग[81]

प्रदूषक	स्रोत	प्रभाव
कार्बन–मोनो–ऑक्साइड	अपूर्ण दहन की क्रियाएँ, पेट्रोल का प्रज्वलन	शरीर में ऑक्सीजन की कमी से होने वाले घातक रोग
सल्फर–डाई–ऑक्साइड	डीजल एवं कोयले से चलने वाली मोटर गाड़ियों, कारखानों, तेलशोधक इकाइयों से निकलने वाला धुआँ	श्वास के अनेक खतरनाक रोग, कफयुक्त खाँसी
नाइट्रोजन के ऑक्साइड	ऊर्जा संयंत्रों एवं वाहनों में प्रयुक्त ईन्धन के प्रज्वलन तथा जंगल की आग	श्वास के रोग, सिरदर्द, आँख एवं त्वचा में जलन
अन्य पदार्थों के ठोस कण	भारी उद्योग, कल–कारखानें, सीमेन्ट के कारखानें, ताप विद्युत्घर तथा कोयला एवं पत्थर की खदानें	शरीर के आन्तरिक अंगों पर विषैला प्रभाव, श्वसन सम्बन्धी रोग एवं त्वचा पर जहरीला असर

आज व्यक्ति की अप्रबन्धित या अनियन्त्रित जीवनशैली का सबसे प्रबल उदाहरण है – धूम्रपान। यह न केवल फेफड़ों के कैंसर, अपितु स्वर–यंत्र (Larynx), मुख–गुहा (Mouth Cavity) तथा अन्ननली के कैंसर का भी प्रमुख कारण होता है, साथ ही मूत्राशय, अग्न्याशय और गुर्दे के कैंसर में भी सहयोगी कारण बनता है।[82] किसी ने कहा भी है –

Think about Smoking

Would you stroll into a convenience store and buy an item with a label warning you that its use could kill you ? Although most of us would probably answer no, millions make such a purchase everyday : a pack of cigarettes, futhermore, they do this despite clear well–publicized evidence that smoking is linked to cancer, heart attacks, strokes bronchitis, emphysema and a host of other serious illnesses. Smoking is the greatest preventable cause of death in the United States. Worldwide, 3 million people die prematurely each year due to the effects of smoking (Heishman, Kozlowki & Henningfield, 1997; Kawachi et al, 1997; Noble, 1999).[83]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन–परम्परा में ऐसे अनेक मार्गदर्शन दिए गए हैं, जिन्हें दैनिक जीवन में आत्मसात् कर व्यक्ति शुद्ध वायु का सेवन कर सकता है और इस तरह शरीर–प्रबन्धन भी कर सकता है, जैसे – प्रातःकाल देवालय गमन, समय–समय पर प्राकृतिक स्थलों पर निर्मित तीर्थों की यात्रा, साधु–साध्वी की निश्रा में पदविहार इत्यादि।

इस प्रकार, शरीर–प्रबन्धन के अन्तर्गत शुद्ध वायु की प्राप्ति कब की जाए, कहाँ की जाए, किस प्रकार से श्वास नियमित एवं पूर्णरूप से ली जाए आदि प्रश्नों का सम्यक् समाधान अपेक्षित है। जैनदृष्टि से इनका उपयुक्त समाधान आगे किया जाएगा।

5.3.4 श्रम–विश्राम सम्बन्धी विसंगतियाँ

जीवन में श्रम और विश्राम का सन्तुलन अत्यावश्यक है। शरीर एक यंत्र के समान है, इसके अवयवों को सक्रिय रखने के लिए श्रम जरुरी है, परन्तु जब ये अवयव थक जाते हैं, तो इन्हें उचित विश्राम देना भी जरुरी है।

सम्यक् शरीर–प्रबन्धन के ज्ञान के अभाव में आज कई लोग शारीरिक श्रम से जी चुराते हैं, कई लोग शारीरिक श्रम को अपने से निम्न स्तर के लोगों का कर्त्तव्य मानते हैं और कई लोग सुविधा एवं विलासिता के साधनों को छोड़ना नहीं चाहते। इस आलस्य और प्रमाद के कारण अनेक रोग उत्पन्न हो रहे हैं, जैसे – मोटापा, हृदयरोग, मधुमेह, मांसपेशियाँ सख्त होना, बवासीर, वातरोग इत्यादि।

इसी प्रकार, कई लोग विश्राम को अपने जीवन की प्रगति में बाधक मानते हैं। महत्त्वाकांक्षाओं के चलते वे जीवन की प्रतिस्पर्धाओं में पिछड़ना नहीं चाहते, अतः दिन–रात परिश्रम करते रहते हैं, परन्तु यह भी उचित नहीं है। इससे शरीर की कार्यकुशलता कमजोर हो जाती है, शक्ति क्षीण हो जाती है, स्नायुतन्त्र शिथिल हो जाता है तथा कई प्रकार के रोगों से शरीर आक्रान्त हो जाता है, जैसे – रक्त की कमी, प्रतिरोधक क्षमता की कमी, इन्द्रियों की शिथिलता, पाचनतन्त्र की कमजोरी इत्यादि।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो श्रम एवं विश्राम दोनों करते हैं, लेकिन व्यवस्थित ढंग से नहीं करते। प्रायः देखने में आता है कि जो लोग सुबह–सुबह अपने घरों की छत पर या उद्यानों में टहलते हुए दिखाई देते हैं, वे भी कार्यवश थोड़ी दूर जाने के लिए वाहन को जरुरी समझते हैं। जो लोग घर में या जिम्नेशियम में शरीर को चुस्त रखने के लिए व्यायाम करते हैं, वे ही लोग दिनभर छोटे–छोटे कामों के लिए भी नौकर–चाकर पर आश्रित होकर जीते हैं। शरीर–प्रबन्धन की अपेक्षा से यह जीवन–व्यवहार भी उचित नहीं है।

जीवन में श्रम–विश्राम का सन्तुलन कैसे हो? इसकी चर्चा जैनदृष्टि के आधार पर आगे की जाएगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5.3.5 निद्रा सम्बन्धी विसंगतियाँ

यह जीवन का एक महत्त्वपूर्ण व्यवहार है। यद्यपि विशिष्ट योगीजन तो निद्रा पर पूर्ण विजय भी प्राप्त कर लेते हैं, तथापि सामान्य व्यक्ति के लिए निद्रा एक अनिवार्य क्रिया है। वस्तुतः, मस्तिष्क में मौजूद ज्ञानवाही और आज्ञावाही स्नायु जब थक जाते हैं, तो उनकी गतिविधियाँ मन्दप्रायः हो जाती हैं, इसे ही निद्रा कहते हैं। थकान दूर होने पर ये स्नायु पुनः सक्रिय हो उठते हैं, जिसे जागरण कहते हैं।

आज व्यक्ति की जीवनशैली अप्रबन्धित होने से निद्रा एवं जागरण की प्रक्रिया भी प्रभावित हुई है। अधिकांश लोग देर रात्रि तक जागते रहते हैं और फिर सुबह देर तक सोते रहते हैं। कई लोग बिस्तर पर लेट तो जाते हैं, किन्तु चिन्ता, तनाव आदि से नींद जल्दी नहीं आती, अतः करवटें ही बदलते रहते हैं। इतना ही नहीं, कई लोगों को तो नींद की दवाई लेने की आदत भी पड़ जाती है, उसके बिना नींद ही नहीं आती। कई लोगों को दिन का भोजन करते ही घण्टे–दो घण्टे सोने की आदत पड़ जाती है।

बच्चों की अक्सर यह शिकायत होती है कि उनकी पिताजी से मुलाकात सिर्फ रविवार को ही हो पाती है, क्योंकि बाकी दिनों में जब पिताजी रात्रि में घर लौटते हैं, तब तक बच्चे सो चुके होते हैं और जब पिताजी जागते हैं, तब तक बच्चे स्कूल जा चुके होते हैं। यह विडम्बना सिर्फ पुरूषों के साथ ही नहीं, अपितु महिलाओं के साथ भी है। कितनी ही महिलाएँ ऐसी हैं, जो रात्रि में देर तक टी.वी. देखती रहती हैं और सुबह तभी उठती हैं, जब 'हॉकर' आकर घण्टी बजाता है। माता–पिता की इस अप्रबन्धित जीवनशैली का असर शनैः–शनैः बच्चों पर भी पड़ता है और इस प्रकार पूरा परिवार ही जीवन–प्रबन्धन से वंचित रह जाता है।

इतना ही नहीं, शयन की सही विधि भी आजकल लुप्त होती जा रही है। व्यक्ति डनलप के गद्दे पर मुँह ढँककर एवं खिड़की–दरवाजे बन्द कर ऐसा सोता है कि उसे पता ही नहीं चलता कि कब सूर्योदय होता है, कब चिड़िया चहचहाती है और कब बच्चे स्कूल के लिए रवाना हो जाते हैं। वस्तुतः, यहाँ जैनाचार की उपेक्षा स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि यहाँ न ब्रह्मचर्य का विवेक होता है और न ही अरिहंत परमात्मा के दर्शन आदि की भावना। व्यक्ति को पता ही नहीं होता कि उसे सोने के पूर्व क्या करना चाहिए, किस करवट से सोना चाहिए, कब सोना चाहिए, कब जागना चाहिए, जागने के पश्चात् क्या करना चाहिए इत्यादि।

इन सब विसंगतियों का प्रभाव जीवन के अन्य कार्यों पर तो पड़ता ही है, परन्तु प्रमुख रूप से शरीर पर भी पड़ता है। स्वास्थ्य बिगड़ने के तीन मुख्य कारण हैं – अतिनिद्रा, अनिद्रा एवं असमय निद्रा। ये तीनों विसंगतियाँ भी अनेक शारीरिक रोगों का कारण बन जाती हैं, जैसे – मोटापा, मधुमेह, हृदयरोग, कब्ज, अजीर्ण, अम्लरोग इत्यादि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय–संस्कृति में निद्रा के सन्दर्भ में अनेक उपयोगी निर्देश दिए गए हैं। जैनाचार्यों के अनुसार, व्यक्ति को रात्रि के प्रथम प्रहर के पश्चात् ही सोना चाहिए और अन्तिम प्रहर से पूर्व जाग जाना चाहिए तथा दिन में तो सोना ही नहीं चाहिए।[84] महाभारत, आयुर्वेद आदि ग्रन्थों में भी यही उपदेश निर्दिष्ट है।[85] इस सम्बन्धी उपयोगी चर्चा आगे की जाएगी।

5.3.6 स्वच्छता सम्बन्धी विसंगतियाँ

स्वच्छता जीवन का एक आवश्यक कर्त्तव्य है, क्योंकि स्वच्छता ही स्वस्थता का आधार है। यह स्वच्छता तीन प्रकार की है – आत्मिक, शारीरिक एवं पर्यावरणीय। जैनदर्शन में सापेक्ष–दृष्टि से इन तीनों का महत्त्व बताया गया है। यहाँ प्रसंगतः शारीरिक एवं पर्यावरणीय स्वच्छता की मुख्यता से कथन किया जा रहा है।

यद्यपि शरीर एवं आसपास के वातावरण की स्वच्छता का जीवन में अनिवार्य महत्त्व है, तथापि आज व्यक्ति इस ओर उचित ध्यान नहीं दे रहा है। व्यक्ति की स्वच्छता का मापदण्ड संकीर्ण हो गया है। कुछ लोग अपने घर को ही स्वच्छ रखना पसन्द करते हैं और घर के बाहर अपशिष्ट पदार्थों को फेंकते रहते हैं। यही कचरा सड़कर अनेक कीटाणुओं को जन्म देता है। इससे आस–पास के लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है और मलेरिया, टाईफाइड, पीलिया, हैजा, दस्त आदि अनेक प्रकार की बीमारियाँ फैल जाती हैं।

कई लोग तो प्रमाद एवं आलस्य के कारण घर एवं शरीर की स्वच्छता का भी ध्यान नहीं रख पाते। दीवारों पर लगे मकड़ी आदि के जाले, रात्रि के जूठे बर्तन, बढ़े हुए नाखून, बिना हाथ धोए खाने की आदत, सूतक धर्म की उपेक्षा, मासिक धर्म के नियमों का उल्लंघन, बासी एवं फ्रीज के भोजन की आदत आदि उपर्युक्त बातों की पुष्टि करते हैं। इनसे भी स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ता है।

जैनदर्शन में इसीलिए प्रत्येक कार्य करते हुए आत्मिक–शुद्धता के साथ–साथ शारीरिक एवं पर्यावरणीय शुद्धता का उपदेश भी दिया गया है। यहाँ निर्दिष्ट बाह्य शुद्धियाँ, जैसे – शरीर–शुद्धि, वस्त्र–शुद्धि, भूमि–शुद्धि, द्रव्य–शुद्धि आदि शरीर–प्रबन्धन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसकी भी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।

5.3.7 शृंगार (साज–सज्जा) सम्बन्धी विसंगतियाँ

व्यक्ति हर उम्र में अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करना चाहता है। आज इस क्षेत्र में उसने कई नई–नई खोजें कर ली हैं। कई लोग बालों में अलग–अलग प्रकार के रासायनिक रंगों (Dyes) का उपयोग करते हैं, स्नान के लिए अनेक प्रकार के रासायनिक अथवा जैविक शैम्पू, साबुन आदि प्रसाधनों का प्रयोग करते हैं। शरीर पर अनेक प्रकार के उबटन, साबुन आदि लगाते हैं। अनेक प्रकार के तेल, पावडर, क्रीम, परफ्यूम आदि का उपयोग करते हैं, जिनसे रोमछिद्र बन्द हो जाते हैं। शरीर पर तड़कीले, भड़कीले, सिन्थेटिक और चुस्त कपड़े आदि पहनते हैं। विशेषतः महिलाएँ लिपस्टिक,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नेलपॉलिश, आइब्रो, ब्लीच, क्रीम आदि का प्रयोग बारम्बार करती हैं। कई महिलाएँ तो नाखून बढ़ाने को फैशन भी मानती हैं, पर कभी–कभी बढ़े नाखूनों के अनायास टूट जाने से उन्हें दीर्घकालीन पीड़ा भी सताती रहती है। कई लोग चेहरे को सुन्दर बनाने के लिए प्लास्टिक सर्जरी जैसे अनावश्यक एवं महँगे उपचार भी करवाते हैं। इस प्रकार, पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण तेजी से बढ़ रहा है।

इन सबका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति को अनावश्यक फोड़े–फुंसी हो जाते हैं, रोमछिद्र ढँक जाने से शरीर का मैल उत्सर्जित नहीं हो पाता, त्वचा की एलर्जी हो जाती है, कभी–कभी तो त्वचा के कैंसर होने की सम्भावना भी बन जाती है। नाखून एवं होंठों के माध्यम से अवांछनीय तत्त्व शरीर के भीतर पहुँचकर नुकसान करते रहते हैं।

जैनाचार्यों ने सामान्यतया शृंगार का निषेध ही किया है, फिर भी यदि आवश्यकता महसूस हो, तो मर्यादित एवं अहिंसक साधनों का प्रयोग करने की छूट दी है। आचारांग में वृद्धजनों के लिए तो स्पष्ट संकेत है कि वे क्रीड़ा, हास्य, रति एवं शरीर की शोभा–विभूषा आदि बिल्कुल न करें।[86]

शरीर–प्रबन्धन के लिए यह जानना आवश्यक होगा कि शृंगार–सम्बन्धी सम्यक् व्यवहार कैसा हो? इसका स्पष्टीकरण आगे किया जाएगा।

5.3.8 ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विसंगतियाँ

वर्त्तमान में प्रचलित भौतिकवादी संस्कृति से अब्रह्मचर्य को भी बढ़ावा मिल रहा है। इसमें संचार–साधनों, जैसे – टी.वी., सिनेमा, मोबाईल, पोर्न, इन्टरनेट एवं अश्लील पत्र–पत्रिकाओं की अहम भूमिका है। स्त्री–पुरूष को एक साथ घूमने–फिरने की स्वतन्त्रता मिलना आज की सामाजिक संस्कृति बन गई है। पाश्चात्य–संस्कृति को पसन्द कर 'वेलेण्टाइन डे' और 'लिव इन रिलेशनशीप' जैसी परम्पराओं की नकल निःसंकोच हो रही है,[87] जो सुप्त कामनाओं को उद्दीप्त करती हैं। विवाह की भूमिका 'वेलेण्टाइन डे' से शुरु हो जाती है और 'कोर्ट मैरिज' पर समाप्त हो जाती है।[88] जिस उम्र में ब्रह्मचर्य आश्रम की साधना की जानी चाहिए, उस उम्र में रासलीला होने लगी है। 'नाईट क्लब' के नाम पर कई युवतियाँ देह व्यापार में लिप्त होती हैं, जिसमें आकर्षित होकर कई संस्कारी व्यक्ति भी पतित हो जाते हैं।[89]

व्यक्ति अनेक प्रकार से काम–क्रीड़ा करता है, कभी अंगक्रीड़ा, तो कभी अनंगक्रीड़ा। गुदा मैथुन, मुख मैथुन, हस्त मैथुन आदि अतिविकृत परम्पराएँ भी चल रही हैं। व्यक्ति की इन उद्दीप्त वासनाओं की जब पूर्त्ति नहीं होती, तब वह निराशा, हताशा एवं कुण्ठा से ग्रस्त हो जाता है। हृदय की कोमल–वृत्ति समाप्त हो जाती है और आत्महत्या, बलात्कार, परहत्या आदि अपराधों का जन्म होता है।[90]

अब्रह्मचर्य सेवन के अनेक शारीरिक दुष्परिणाम भी हैं, इससे वीर्य–शक्ति का अत्यधिक नुकसान होता है, एड्स जैसी भयंकर बीमारी भी उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, जिसका मृत्यु के अलावा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोई ईलाज नहीं है। निशीथभाष्य में ऐसे शक्तिहीन व्यक्तियों के बारे में कहा गया है कि वे ज्ञानादि की सम्यक् साधना भी नहीं कर पाते।[91]

शरीर–प्रबन्धन के लिए जीवन की पवित्रता, सात्विकता एवं ब्रह्मचारिता अतीव आवश्यक है और यह यौन–सम्बन्धों के सम्यक् प्रबन्धन के द्वारा ही सम्भव है। इस पद्धति से किया गया शरीर–प्रबन्धन ही आत्मिक उन्नति का माध्यम भी है।

यौन–सम्बन्धों का सम्यक् प्रबन्धन कैसे हो, इसकी चर्चा आगे की जाएगी।

5.3.9 मनोदैहिक विसंगतियाँ

मानव का मन एक दुष्ट अश्व के समान अनियंत्रित है, इससे मानव सदैव चिन्तित रहता है।[92] मन में निरन्तर कुछ न कुछ विचार एवं वासनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, काम, क्रोध, मोह, लोभ, अभिमान आदि इनके विषय होते हैं। विडम्बना यह है कि न तो कभी इनकी पूर्त्ति होती है और न ही कभी इनसे तृप्ति मिलती है। विश्राम की आशा दुराशा मात्र होती है। एक वासना से छुटकारा मिलता नहीं कि मन दूसरी वासना का शिकार हो जाता है, फिर तीसरी का, यही क्रम मनुष्य के मरते दम तक चलता रहता है।[93] कहा भी गया है – "जैसे बन्दर क्षणमात्र के लिए भी शान्त नहीं बैठ सकता, वैसे ही मन क्षणमात्र के लिए भी संकल्प–विकल्प से मुक्त नहीं होता।"[94] आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी स्वीकारते हैं कि औसतन पैंसठ हजार विचार एवं भाव स्थूल रूप से प्रतिदिन मन में आते हैं। विशेषावश्यकभाष्य में भी कहा गया है कि असंख्य विचार या भाव (अध्यवसाय) मन में प्रतिदिन आते रहते हैं, जो इतने सूक्ष्म होते हैं कि इनमें से अधिकांश विचारों को जाग्रत अवस्था में भी पहचाना नहीं जा सकता।[95] मन के इस असंयमित व्यवहार से व्यक्ति का शरीर भी प्रभावित होता है, क्योंकि मन और तन दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अनेक प्रकार के मानसिक रोग, जैसे – तनाव, अवसाद, स्मृतिभ्रंश, दुर्भीति (Phobia), O.C.D. (मनोग्रस्तता बाध्यता विकृति/Obsessive Compulsive Disorder) आदि होते हैं, तो साथ ही शारीरिक रोग, जैसे – हृदयरोग, आमाशयरोग, दमा, खुजलाहट, गर्भपात, पीठ के दर्द आदि भी होते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इन्हें मनोदैहिक रोग (Psychosomatic Diseases) कहा जाता है।[96]

इस प्रकार, मन का कुप्रबन्धन व्यक्ति की मानसिक निराशा एवं शारीरिक अस्वस्थता का कारण सिद्ध होता है, परन्तु यदि मन का सम्यक् प्रबन्धन किया जाए, तो न केवल मन, अपितु तन भी निरोगी रह सकता है। व्यवहारभाष्य में कहा गया है कि इन्द्रिय–विषयों की समान प्राप्ति होने पर भी एक व्यक्ति उनमें आसक्त हो सकता है, तो दूसरा विरक्त भी।[97] अतः इन्द्रियों के विषय प्रधान नहीं हैं, प्रधान है – अध्यात्म। इस जैनदृष्टि को अपनाकर यदि व्यक्ति आध्यात्मिक व्यक्तित्व का सृजन करे, तो शरीर–प्रबन्धन के साथ–साथ जीवन–प्रबन्धन भी सहजता से हो सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5.3.10 अन्यकारक सम्बन्धी विसंगतियाँ

उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त भी जीवन में अनेक कारक होते हैं, जो शारीरिक स्वास्थ्य को प्रभावित किए बिना नहीं रहते। ये भी शरीर–प्रबन्धन के लिए बाधक हैं –

वाणी की वाचालता	**जोर–जोर से बोलना, उग्रता से बोलना, लगातार बोलना आदि।**
अर्थ की अत्यधिक लोलुपता	तन से अधिक धन को महत्त्व देना, अधिक देर तक बैठकर कार्य करना (Sedentary), भोजन करते हुए आर्थिक चिन्ताओं से ग्रस्त रहना आदि।
अतिसामाजिकता	**मित्र, परिजन, पड़ोसी आदि के साथ ज्यादा समय व्यतीत करना, बार–बार शादी–ब्याह, जन्म–मरण के कार्यक्रमों में जाना, खाना, पीना आदि।**
इन्द्रिय–विषयों का अतिभोग	मनोरंजन के साधनों, जैसे – टी.वी. आदि को अत्यधिक देखना, ध्वनि विस्तारक यंत्रों का अत्यधिक प्रयोग करना, मोबाईल पर घण्टों बातें करना, सुविधा एवं विलासिता के साधनों का अतिप्रयोग करना आदि।
पर्यावरण का अतिशोषण	**प्राकृतिक वातावरण को बिगाड़ना, धूल–धुसरित स्थानों पर रहना, धुआँ देने वाले संसाधनों, जैसे – भट्टी, जनरेटर, वाहन आदि का अतिप्रयोग करना आदि।**
अज्ञानपूर्वक साधना	शरीर कृश करने को ही साधना मानना, शक्ति न होने पर भी अज्ञानपूर्ण तप–त्याग करना आदि।
अध्ययन में अतिश्रम	**सामर्थ्य न होने पर भी पढ़ने, लिखने, याद करने आदि में अत्यधिक श्रम करना इत्यादि।**
अतिसमयप्रबद्धता	प्रत्येक कार्य में जल्दबाजी करना, सदैव अधीर रहना इत्यादि।

इस प्रकार, अप्रबन्धित या असंयमित जीवनशैली को उपर्युक्त कारकों से समझा जा सकता है तथा इनसे होने वाले शारीरिक रोगों को भी पहचाना जा सकता है। वस्तुतः, ये सभी कारक शारीरिक रोगों की उत्पत्ति तो करते ही हैं, साथ ही परोक्ष रूप से अनेक समस्याओं को भी बढ़ाते हैं। जब व्यक्ति रोगी होता है, तो सामान्यतया उसके मानसिक एवं वाचिक व्यवहार में भी गिरावट आ जाती है, जिससे उसकी पारिवारिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवनचर्या भी बिगड़ जाती है।

अतः जीवन–प्रबन्धन के लिए शरीर का सम्यक् प्रबन्धन करना अत्यावश्यक है, जिससे जीवनशैली में समुचित सुधार करके स्वास्थ्य का उचित संरक्षण किया जा सके।

देखने को छोटा–सा देह, भरी है पर इसमें शक्ति अपार।
सूर्य से बढ़कर इसमें तेज, धरा से बढ़कर इसमें सार।।
अगर यह दक्षिण को मुड़ जाय, सजा दे यही स्वर्ण का साज।
पकड़ ले कहीं वामपन्थ किन्तु, विश्व का कर दे उपसंहार।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5.4 जैनआचारमीमांसा के आधार पर शरीर–प्रबन्धन

जैनदर्शन मौलिकरूप से स्वास्थ्य और चिकित्सा का दर्शन नहीं है, यह तो आत्मा से आत्मा का दर्शन है। परन्तु जैनदर्शन एक अनेकान्तदर्शन भी है, जिसमें ज्ञान की दो शाखाओं के बीच में लक्ष्मण–रेखा नहीं खींची जा सकती। अतः, सापेक्षदृष्टि से देखें, तो जैनदर्शन में आत्मदर्शन के साथ–साथ स्वास्थ्य–दर्शन भी समाहित हो जाता है।

जैनदर्शन के अनुसार, जब तक आत्मा मुक्त नहीं हो जाती, तब तक आत्मा शरीर के बिना नहीं रह सकती और शरीर की उपेक्षा कर आत्मशुद्धि हेतु साधना भी नहीं की जा सकती। जैनाचार्यों की दृष्टि में शरीर का महत्त्व आत्मसाधना के लिए है, इन्द्रियों के विषय–भोगों के लिए नहीं। इनका चिन्तन मुख्यतया आत्मा को केन्द्र में रखकर हुआ है, परन्तु इन्होंने शरीर के निर्वाह के लिए सम्यक् जीवनशैली का जो कथन किया, वह स्वतः मानवजाति के स्वास्थ्य का मौलिकशास्त्र बन गया। यही शास्त्र शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए आधारभूत है।[98]

जैनदृष्टि के आधार पर शरीर का सम्यक् प्रबन्धन करने के लिए हमें इस प्रक्रिया को दो पक्षों में विभक्त करना होगा – सैद्धान्तिक पक्ष एवं प्रायोगिक पक्ष। इन दोनों पक्षों का अपना–अपना महत्त्व है, फिर भी प्राथमिकता की दृष्टि से सैद्धान्तिक पक्ष का महत्त्व अधिक है और इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में सैद्धान्तिक पक्ष का वर्णन पहले किया जा रहा है।

5.4.1 शरीर के प्रति सही दृष्टिकोण का विकास

शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए इस बात का विशेष महत्त्व है कि व्यक्ति शरीर को किस दृष्टिकोण से देखता है। यही भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति के बीच की भेदरेखा भी है। पाश्चात्य–संस्कृति में शरीर को ही सर्वस्व माना गया है, जबकि भारतीय–संस्कृति में शरीर को एक यंत्र (Machine) के रूप में स्वीकारा गया है। आयुर्वेद में कहा गया है – शरीर रथ के समान है।[99] जैनदर्शन में भी कहा गया है – शरीर नौका के समान है।[100] एतरेय आरण्यक में भी कहा गया है – यह शरीर दैवीय वीणा के समान है।[101] कबीर के अनुसार भी शरीर वाद्य–यंत्र के समान है।[102] चाहे रथ कहें या नौका, वीणा कहें या अन्य कुछ, आशय इतना ही है कि शरीर मूलतः यंत्र के समान है। शरीर–प्रबन्धन के लिए शरीर को यंत्र के समान अनुभूत करना एक अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि इससे शरीर–प्रबन्धन करना अतिआसान हो जाता है और मेरी दृष्टि में, जीवन–प्रबन्धन हेतु निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं –

- ★ यंत्र के प्रबन्धन के समान ही शरीर का प्रबन्धन भी करना चाहिए।
- ★ जैसे यंत्र से यंत्री भिन्न होता है, वैसे ही शरीर से आत्मा (स्व) को भिन्न मानना चाहिए।
- ★ यंत्र के समान ही शरीर को क्रियाशील बनाए रखने के लिए आहार, पानी, प्राणवायु आदि आवश्यक तत्त्व (ईन्धन) उपलब्ध कराना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ यंत्र के समान ही शरीर को नुकसानकारी अर्थात् अनावश्यक तत्त्वों से बचाना चाहिए।
★ यंत्र के समान ही शरीर का रख–रखाव इस प्रकार करना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर वह तुरन्त काम आ सके।
★ यंत्र के समान ही शरीर की कार्यकुशलता (Efficiency) का विकास करना चाहिए, जिससे न्यूनतम ईन्धनों (आहारादि साधनों) से अधिकतम कार्य लिया जा सके।
★ यंत्र के समान ही शरीर का प्रयोग अनावश्यक कार्यों में नहीं, अपितु आवश्यक कार्यों में करना चाहिए।
★ यंत्र के समान ही बिगड़ जाने पर (अस्वस्थ होने पर) शरीर को दुरुस्त करना चाहिए।
★ यंत्र के समान ही शरीर के आदि एवं अन्त दोनों होते हैं।
★ यंत्र के समान ही अनुपयोगी बनने के पूर्व शरीर का सदुपयोग कर लेना चाहिए।

इस प्रकार, शरीर को एक यंत्र के समान मानकर उसके प्रति सन्तुलित दृष्टिकोण रखना चाहिए। इससे शरीर व्यक्ति के जीवन–लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उचित साधन बन सके। जैनदर्शन में इस दृष्टिकोण के विकास के लिए अनेकों निर्देश दिए गए हैं।

5.4.2 शरीर–प्रबन्धन का उद्देश्य

शरीर–प्रबन्धन का मुख्य उद्देश्य है – शारीरिक–विकास। शारीरिक–विकास से यहाँ तात्पर्य शरीर की क्षमताओं के विकास से है। जब तक शरीर की क्षमताओं का सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित विकास नहीं होगा, तब तक वह जीवन के किसी भी लक्ष्य की पूर्त्ति का साधन नहीं बन सकेगा। अतः, शारीरिक–विकास की जरुरत प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक को है।

शरीर–प्रबन्धन में शारीरिक–विकास का अर्थ यह नहीं है कि शरीर खूब स्थूल हो, ऊँची कद–काठी का हो इत्यादि। इसका अर्थ तो इतना ही है कि शरीर बहिरंग एवं अंतरंग दोनों प्रकार से स्वस्थ एवं चुस्त बने, जिससे वह उचित साध्य की प्राप्ति में सहयोगी बन सके।

मेरी दृष्टि में, शारीरिक–विकास के तीन पहलू हो सकते हैं –

1) स्वस्थता 2) स्फूर्त्ति 3) सौन्दर्य

(1) स्वस्थता – यहाँ स्वस्थता का सम्बन्ध शारीरिक स्वस्थता से है, जैनाचार्यों ने इस हेतु 'आरोग्य' शब्द का प्रयोग किया है।[103] उनके अनुसार, रोग–शून्यता या रोग का अभाव ही आरोग्य है **(अरोगस्य भावः इति आरोग्यम्)**। कल्याणकारक एवं आयुर्वेद ग्रन्थों में कहा गया है कि स्वस्थता के पाँच आधार हैं[104] –

★ वात, पित्त एवं कफ में साम्यता
★ पाचन–तन्त्र की कुशलता
★ सप्त धातुओं की उचित मात्रा
★ मलोत्सर्जन की नियमितता
★ आत्मा, मन और इन्द्रियों की प्रसन्नता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक शरीर–विज्ञान के अनुसार, शरीर की सभी कोशिकाओं, ऊतकों, अंगों एवं तन्त्रों का व्यवस्थित रूप से कार्य करते रहना ही स्वस्थता है।[105] प्राचीन संस्कृति के अनुसार, अस्थि–संस्थान का अच्छा होना ही स्वस्थता है। कहा भी गया है – **'सुष्ठु अस्थि अस्ति यस्य सः स्वस्थः'** अर्थात् जिसकी अस्थियाँ मजबूत और शक्तिशाली होती हैं, वह स्वस्थ है तथा जिसकी पृष्ठ–रज्जु मुड़ी हुई है, तिरछी है, वह अस्वस्थ है[106] और भी, **'स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः'** अर्थात् जो शरीर अपने स्वाभाविक रूप में स्थित है यानि विकाररहित है, वह स्वस्थ है।

उपर्युक्त सभी सन्दर्भों का सार यही है कि शरीर के सभी अंगों का रोगरहित होना और अपने–अपने कार्यों का निर्वाह करने में समर्थ होना ही स्वस्थता है। इस स्थिति में शारीरिक रसायनों का विकास सन्तुलित होता है।

(2) स्फूर्त्ति – यहाँ स्फूर्त्ति का अर्थ शारीरिक चुस्ती अर्थात् कार्य के प्रति तत्परता एवं सजगता से है। स्फूर्त्तिवान् व्यक्ति की यह विशेषता होती है कि वह किसी भी कार्य को उचित ढंग से सम्पन्न करने के साथ–साथ अल्प समय में ही पूर्ण कर लेता है। स्वस्थता के साथ–साथ स्फूर्त्ति होना भी शारीरिक–विकास का अनिवार्य पहलू है। जैनकथानकों में गौतम स्वामी का उदाहरण प्रसिद्ध है, जो अष्टापद पर्वत के उच्च शिखर पर अल्पसमय में ही चढ़ गए।

(3) सौन्दर्य (लावण्य) – जीवन–प्रबन्धन में शारीरिक–विकास का यह तीसरा पहलू है, जिसका सम्बन्ध शरीर के बाह्य अंगों की आकृति एवं कान्ति से है।[107] यद्यपि जीवन के अन्य विकास का इससे कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, तथापि दुनिया के अधिकांश लोगों की दृष्टि में अपने शरीर का सौन्दर्य ही सर्वोपरि है, अतः लोक–व्यवहार की दृष्टि से इसे शारीरिक विकास के अन्तर्गत ग्रहण करना आवश्यक है।

इस प्रकार, स्वस्थता, स्फूर्त्ति एवं सौन्दर्य – इन तीनों पहलुओं पर आधारित शारीरिक–विकास ही शरीर–प्रबन्धन का उद्देश्य है।

जैनाचार्यों ने लापरवाहीवश बीमार पड़ने एवं उपचार कराने की अपेक्षा प्रबन्धित जीवनशैली अपनाकर स्वस्थ रहने को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस व्यक्ति की जीवनशैली में हिताहार, मिताहार एवं अल्पाहार जैसे गुण विद्यमान हों, उसे किसी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वे स्वयं ही स्वयं के चिकित्सक होते हैं।[108] अतः आगे, जैनदर्शन के आधार पर सम्यक् जीवनशैली से सम्बन्धित सिद्धान्तों की चर्चा की जा रही है।

5.4.3 प्रबन्धित जीवनशैली के मुख्य आयाम

मेरी दृष्टि में, सम्यक् शरीर–प्रबन्धन के लिए निम्नलिखित आयाम अपेक्षित हैं। पूर्व में इन सभी आयामों में फैली विसंगतियों की चर्चा की गई थी, अतः प्रस्तुत प्रकरण में जैनदृष्टि के आधार पर इनके सुसंगत समाधानों की चर्चा की जा रही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1) आहार–प्रबन्धन
2) जल–प्रबन्धन
3) प्राणवायु–प्रबन्धन
4) श्रम–विश्राम–प्रबन्धन
5) निद्रा–प्रबन्धन
6) स्वच्छता–प्रबन्धन
7) शृंगार (साज–सज्जा)–प्रबन्धन
8) ब्रह्मचर्य–प्रबन्धन
9) मनोदैहिक–प्रबन्धन
10) अन्य कारक–प्रबन्धन

(1) आहार–प्रबन्धन

आहार जीवन की सबसे प्राथमिक आवश्यकताओं में से एक है। यह हमारे स्वास्थ्य सहित सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। निशीथभाष्य में आहार के बारे में कहा गया है कि यह शरीर–संचालन का साधन है।[109] व्यवहारभाष्य में भी कहा गया है कि आहार से उत्तम रत्न लोक में दूसरा नहीं, क्योंकि यह समस्त सुखों का उत्पादक है, जीवन का सार है तथा जीवन व्यवहार का आधार है।[110] वैद्य–रसराज–समुच्चय में भी आहार को एक अद्वितीय, अनुपम एवं अनुत्तर रत्न की उपमा दी गई है।[111] यद्यपि जैनाचार्यों ने आत्मा को अनाहारी स्वभाववाला बताया है, तथापि सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा से आहार के महत्त्व को नकारा भी नहीं है।

जीवन में आहार जितना आवश्यक है, उससे भी अधिक आवश्यक है – आहार का विवेक। जो लोग आहार क्यों करना, कैसा करना, कब करना, कहाँ करना, कितना करना, कितनी बार करना, कैसे करना इत्यादि बिन्दुओं का चिन्तन नहीं करते, वे खाद्य एवं अखाद्य का विवेक नहीं रख पाते। यह अविवेक कभी उनका स्वास्थ्य छीनता है, तो कभी जीवन भी।[112] अतः शरीर–प्रबन्धन के लिए निम्नोक्त बिन्दुओं को समझना अत्यावश्यक है –

(क) आहार क्यों करना – जैनाचार्यों के अनुसार, आहार करने का प्रमुख प्रयोजन जीवन–अस्तित्व की सुरक्षा एवं जीवन–यापन की व्यवस्था करते हुए मोक्षमार्ग की साधना करना है।[113] इसी आधार पर मुनि को परिलक्षित करके आहार करने और नहीं करने के प्रयोजन को उत्तराध्ययनसूत्र, स्थानांगसूत्र, ओघनिर्युक्तिभाष्य एवं मूलाचार में बताया गया है[114] –

आहार करने के प्रयोजन	आहार नहीं करने के प्रयोजन
1) भूख की पीड़ा शान्त करने हेतु	1) ज्वरादि अत्यन्त पीड़ाकारक रोग होने पर
2) वैयावृत्य (सेवा–शुश्रूषा) करने हेतु	**2) उपसर्ग (तीव्र संकट) आने पर**
3) आवश्यक कर्त्तव्य (समिति) पालन हेतु	3) ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु
4) संयम के सम्यक् निर्वाह हेतु	**4) जीवदया हेतु**
5) प्राणों की रक्षा हेतु	5) तपस्या करने हेतु
6) उचित धर्मध्यान करने हेतु	**6) समाधिमरण हेतु**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार में यह भी कहा गया है कि मुनि बल, आयु, स्वाद, शारीरिक–पुष्टि और तेजस्विता के लिए आहार न करे, वरन् ज्ञान, संयम एवं ध्यान के लिए ही करे।[115]

शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए उपर्युक्त निर्देश अतिमहत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि ये मुनियों को लक्षित करके दिए गए हैं, तथापि सभी जीवन–प्रबन्धकों के लिए यथाशक्ति (अंशतः या पूर्णतः) परिपालनीय हैं। गृहस्थ जीवन के धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप साध्य होते हैं, इसीलिए गृहस्थ को चाहिए कि वह इस प्रकार अपनी उदरपूर्त्ति करे कि इन साध्यों में उचित सन्तुलन स्थापित हो सके।

(ख) आहार कैसा करना – जैनाचार्यों की दृष्टि इस विषय में अतिव्यापक रही है। उन्होंने अनेक आयामों के मध्य समन्वय स्थापित किया है, जैसे –

- ★ शारीरिक स्वास्थ्य की वृद्धि।
- ★ मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि।
- ★ आध्यात्मिक विकास की पूर्त्ति।
- ★ अहिंसा का अधिकाधिक पालन।
- ★ ब्रह्मचर्य की अधिकाधिक निर्मलता।
- ★ पर्यावरणीय तत्त्वों का संरक्षण।

आहार के प्रमुख प्रकार

प्राचीनकाल में आहार के मुख्य रूप से तीन प्रकार बताए गए हैं[116] –

★ सात्विक आहार ★ राजसिक आहार ★ तामसिक आहार

जैनाचार्यों ने तामसिक आहार का पूर्ण निषेध किया है, राजसिक आहार को आवश्यकतानुसार सीमित मात्रा में ग्रहण करने का विधान किया है तथा सात्विक आहार को मुख्य आहार के रूप में मान्य किया है। इसी आधार पर आगे वर्णन किया जा रहा है –

1) जैनाचार्यों द्वारा निषिद्ध तामसिक आहार

जैन–आहार–संहिता का यह सबसे प्राथमिक बिन्दु है। यदि व्यक्ति तामसिक आहार ग्रहण करता है, तो उसकी तामसिक वृत्तियाँ उभरने लगती हैं, वह पशुओं के समान व्यवहार करने लगता है। उसमें अज्ञान, प्रमाद, क्रूरता आदि अवगुणों की वृद्धि होने लगती है। तामसिक आहार के अन्तर्गत मांसाहार, मद्यपान आदि का समावेश होता है।[117]

क) मांसाहार – जैनाचार्यों ने मांस को सर्वथा त्याज्य बताया है। मांसाहार से क्षुब्धता एवं उन्माद बढ़ता है, जिससे व्यक्ति में शराब पीने एवं जुआ खेलने की वासनाएँ जागती हैं और वह सर्व दोषों से युक्त हो जाता है,[118] इसीलिए जैनाचार्यों ने मांसाहार को सप्त व्यसनों में शामिल कर उसकी अपवित्रता को दर्शाया है।[119] आचार्य वसुनन्दी ने तो मांस को विष्टा के समान गन्दा, छोटे–छोटे कीड़ों से युक्त और दुर्गंधवाला माना है।[120] महाभारत, मनुस्मृति, आयुर्वेद तथा आधुनिक शरीर–शास्त्रों में भी मांस की घोर भर्त्सना करके शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से इसे अनुपसेव्य बताया है।

वैज्ञानिक आँकड़े भी यह बताते हैं कि मांसाहार की तुलना में शाकाहार अधिक पौष्टिक एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आरोग्यदायक है। भारत सरकार की स्वास्थ्य बुलेटिन नं. 23 के अनुसार –

तुलनात्मक चार्ट (प्रति 100 ग्राम)[121]

नाम	प्रोटीन (ग्राम)	कार्बोहाइड्रेट (ग्राम)	खनिज लवण (ग्राम)	कैलोरी
		शाकाहारी खाद्य पदार्थ		
मूंग	24.00	56.60	3.60	334
सोयाबीन	43.20	20.90	4.60	432
मूंगफली	31.50	19.30	2.30	549
स्प्रेटा दूध पाउडर	38.30	51.00	6.80	357
		मांसाहारी खाद्य पदार्थ		
अण्डा	13.30	0	1.00	173
मछली	22.60	0	0.80	91
बकरे का मांस	18.50	0	1.30	194
गाय का मांस	22.60	0	1.00	114

जैनाचार्यों के द्वारा निषिद्ध मांसाहार अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोगों का जनक है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O) के बुलेटिन नं. 637 में 160 असाध्य संक्रामक रोगों की सूची प्रकाशित हुई है, जिनका प्रमुख कारण मांसाहार है। इनमें से प्रमुख रोग हैं[122] –

- ★ हृदय रोग एवं उच्च रक्तचाप
- ★ मिर्गी
- ★ आँतों का अल्सर एवं कैंसर
- ★ एपेंडिसाइटिस
- ★ गुर्दे की बीमारी
- ★ कैंसर
- ★ सन्धिवात, गठिया एवं वायुरोग
- ★ रक्त धमनियों का मोटापन
- ★ आँतें सड़ना व आमाशय की कमजोरी
- ★ विष प्रतिरोधक शक्ति का नाश
- ★ एक्जिमा, मुँहासे आदि त्वचा रोग
- ★ माइग्रेन, इंफेक्शन, मासिकधर्म सम्बन्धी रोग इत्यादि

इस प्रकार, शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए मांसाहार एवं अण्डाहार का सर्वथा त्याग करना आवश्यक कर्त्तव्य है।

ख) मद्यपान – शराब एवं नशीले पदार्थों के सेवन से भी स्वास्थ्य की अत्यधिक हानि होती है। यह प्रमाद का हेतु भी है। जैनाचार्यों ने एकान्त में भी किए गए मद्यपान को महादोष बताया है। आचार्य हरिभद्र ने मद्यपान करने वाले व्यक्ति में निम्न विसंगतियों का होना दर्शाया है[123] –

★ शरीर की विद्रुपता ★ विविध शारीरिक रोग ★ स्नायुओं की शिथिलता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ स्मृतिलोप	★ समयबद्धता की कमी	★ धर्म का नाश
★ बुद्धि–भ्रष्टता	★ कुलहीनता	★ अर्थ का नाश
★ शक्तिह्रास	★ दुर्जनों की संगति	★ काम का नाश
★ अन्तर्मानस में द्वेषोत्पत्ति	★ सज्जनों की असंगति	
★ वाणी में कठोरता	★ परिवार से तिरस्कार	

आधुनिक शरीरशास्त्रियों ने भी मद्यपान के अनेकानेक दुष्परिणाम बताए हैं,[124] जैसे – कुपोषण, एनीमिया, शारीरिक–दुर्बलता, डायरिया, डिप्रेशन आदि। मद्यपान से विविध शारीरिक–तन्त्र भी प्रभावित होते हैं और इससे अनेक रोगों की सम्भावनाएँ बनती हैं–

शारीरिक–तन्त्र	सम्भावित रोग
पाचन–तन्त्र	अन्ननली में सूजन, जलन, कैंसर आदि लीवर में हिपेटाइटिस, सिरोसिस अल्कोहलिक फेटी लीवर, शर्करा की कमी आदि।
रक्त–परिसंचरण–तन्त्र	**हृदय रोग एवं उच्च रक्तचाप आदि।**
श्वसन–तन्त्र	निमोनिया, क्षयरोग (टी.बी.), फेफड़ों में एब्सेस, मुँह तथा गले के कैंसर की सम्भावना आदि।
स्नायु–तन्त्र	**स्मृतिलोप, सायकोसिस, हेलुसीनेशन (विभ्रम), मिर्गी आदि।**
जनन–तन्त्र	टेस्टोस्टीरोन हार्मोन की कमी, प्रजनन क्षमता का ह्रास आदि।

इस प्रकार, शराब तथा मादकता उत्पन्न करने वाले सभी पदार्थों, जैसे – बीयर, व्हिस्की, रम, चरस, भांग, अफीम, हेरोइन, ब्राउनशुगर इत्यादि का त्याग करना अत्यावश्यक है।

ग) शहद (मधु) – जैनाचार्यों की दृष्टि में शहद एक अशुचि पदार्थ है, जिसमें अनेक प्रकार के रसज जीवों की उत्पत्ति होती है, अतः शहद भी त्यागने योग्य पदार्थ है। यह मधुमक्खियों की लार एवं वमन से तैयार होता है, इसमें लाखों जन्तुओं अर्थात् अशक्त मधुमक्खियों एवं उनके अण्डों को नष्ट किया जाता है। अतः बुद्धिमान् पुरूषों को इसका सेवन नहीं करना चाहिए।[125]

घ) मक्खन – जैनाचार्यों की दृष्टि में, मक्खन वह पदार्थ है, जिसमें छाछ का सम्पर्क छूटने के तत्काल बाद अत्यधिक सूक्ष्म और अदृश्य त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। शरीर–शास्त्रियों के अनुसार, कोलेस्ट्रॉल के सर्वाधिक प्रमुख स्रोतों में से मक्खन भी एक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि घी में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा मक्खन से कम होती है।[126] वस्तुतः मक्खन में सेचुरेटेड फेटी ऐसिड की मात्रा अत्यधिक होती है और इसीलिए मक्खन हृदय रोग का कारण बन सकता है।[127] इसके अतिरिक्त यह एक विकारवर्धक पदार्थ भी है, अतः सर्वथा त्याज्य है।

जैन–परम्परा में मांस, मदिरा, मधु और मक्खन – इन चारों को महाविगई (महाविकृति) कहा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गया है, क्योंकि इनमें अपने ही वर्ण वाले असंख्य अदृश्य त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, जो विकारवर्धक तथा आत्मगुणों के घातक होते हैं।[128] अतः शरीर–प्रबन्धन हेतु इनका उपयोग बिल्कुल नहीं करना चाहिए।

ङ) अन्य पदार्थ – जैन–परम्परा में उपर्युक्त चार महाविगइयों के अतिरिक्त तामसिक प्रकृति वाले अन्य पदार्थों का उल्लेख भी मिलता है, जैसे – बैंगन, चलितरस आदि। बैंगन अधिक निद्राकारक एवं कामोद्दीपक होने से त्याज्य है।[129] इसमें अत्यधिक बीज होते हैं, टोप में सूक्ष्म त्रस जीव होते हैं तथा यह पथरी एवं पित्तादिक रोगों का कारण भी बनता है। पुराणादि अन्य शास्त्रों में भी इसका निषेध किया गया है तथा इसे खाने वाले को मूर्ख कहा गया है।[130]

जिस खाद्यवस्तु का स्वाभाविक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श बिगड़ जाता है, उसे चलितरस कहा जाता है। यह भी त्यागने योग्य है, क्योंकि इसमें सड़न–गलन की प्रक्रिया (Fermentation) घटित होने से अनेक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, इससे तामसिक वृत्तियाँ उद्दीप्त होती हैं, कभी–कभी तो यह प्राणनाशक विष (Food Poison) के समान कार्य करता है। जैनाचार्यों ने प्रत्येक पदार्थ की समय–मर्यादा का उल्लेख भी किया है, जिसके पश्चात् भक्ष्य पदार्थ चलितरस बन जाता है। कुछ चीजें, जैसे – रोटी, पराठा, सब्जी, भजिया, कचौरी, खीर, बंगाली मिठाई आदि एक रात बीतने पर ही चलितरस बन जाती हैं। कुछ चीजें, जैसे – आटा, खाखरा, चिवड़ा, सेव, मोतीचूर के लड्डु आदि कुछ दिनों (श्वेताम्बर मान्यतानुसार – ग्रीष्म में 20 दिन, शीत में 30 दिन, वर्षा में 15 दिन अधिकतम) के पश्चात् अभक्ष्य हो जाती हैं तथा अन्य कुछ चीजें, जैसे – पापड़, बड़ी आदि कुछ महीनों के पश्चात् चलितरस बन जाती है।[131] शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए निर्धारित समय–सीमा के पश्चात् इनका उपयोग नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार, वे सभी तामसिक वस्तुएँ जो व्यक्ति को उदासीन, प्रमादी एवं कामी बनाने में सहायक होती हैं, उन्हें जैनाचार्यों ने आध्यात्मिक एवं शारीरिक दृष्टि से त्यागने योग्य कहा है। यह शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए आवश्यक है।

2) जैनाचार्यों के द्वारा सीमित मात्रा में अनुमत राजसिक आहार

जैन आहार संहिता का यह दूसरा बिन्दु है। जिस आहार के सेवन से व्यक्ति की गतिशीलता एवं क्रियात्मकता की अभिवृद्धि होती है, उसे राजसिक आहार कहते हैं। यह आहार सीमित मात्रा में सेवन किया जाए, तो जीवन–यात्रा के लिए आवश्यक बल प्रदान करता है, किन्तु यदि आवश्यकता से अधिक मात्रा में सेवन किया जाए, तो यह अनावश्यक उत्तेजनाओं एवं व्याधियों का कारण भी बनता है। सामान्यतया यह दुष्पाच्य होता है, इसे पचाने में अधिक समय (लगभग पाँच घण्टे) लग जाते हैं।[132] यह दिखने में सुन्दर और खाने में स्वादिष्ट होता है, इसलिए प्रायः अतिमात्रा में इसका सेवन हो जाया करता है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के तेज मिर्च–मसालेदार, खट्टे–मीठे, चटपटे, नमकीन,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिठाई एवं अन्य गरिष्ठ व्यंजन आ जाते हैं।[133]

चूँकि राजसिक भोजन का अतिमात्रा में सेवन करने से काम–क्रोधादि चित्तवृत्तियाँ उत्तेजित होती हैं तथा हृदयरोग, मधुमेह, मोटापा आदि शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः जैनाचार्यों ने सीमित मात्रा में इस आहार का सेवन करने का निर्देश दिया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है – "रसदार व्यंजनों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इनसे धातुएँ उद्दीप्त हो जाती हैं और व्यक्ति को कामनाएँ एवं वासनाएँ उसी तरह सताती हैं, जिस तरह फलदार वृक्ष को पक्षी सताते हैं।"[134] जैन–परम्परा में इसीलिए छः प्रकार की विगई अर्थात् विकृतिकारक पदार्थों का उल्लेख किया गया है, प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक को विवेकपूर्वक इनका त्याग अवश्य करना चाहिए। प्राचीनकाल में श्रावकवर्ग भी प्रतिदिन एक विगई का त्याग करते हुए सातवें दिन (अष्टमी, चतुर्दशी) को सर्व विगई के त्यागरूप आयम्बिल, उपवासादि करते थे। ये छह विगई हैं[135] –

1) दूध
2) दही
3) घी
4) तेल
5) गुड़ एवं शक्कर
6) तली हुई वस्तुएँ

3) जैनाचार्यों के द्वारा अनुमत सात्विक आहार

जैन–आहार–संहिता का यह तीसरा बिन्दु है। जिस आहार में पोषक–तत्त्व तो हों, किन्तु मिर्च–मसाले और गरिष्ठता अतिमात्रा में न हो, उसे सात्विक आहार कहते हैं। इस प्रकार के आहार से चित्त में विकार पैदा नहीं होते, प्रत्युत पवित्र एवं सात्विक भावनाएँ उभरती हैं। इसके अन्तर्गत धान्य, हरी सब्जियाँ, फल आदि आते हैं।[136]

शरीर–प्रबन्धन के लिए सात्विक आहार के मापदण्ड

★ **पौष्टिक आहार** – जैनाचार्यों ने सदैव पोषक–तत्त्वों से युक्त आहार करने की ही अनुमति दी है, न कि तुच्छ या असार आहार की। उन्होंने बर्फ, ओले, मिट्टी, अल्प गुदे वाले तुच्छ फलों (बेर आदि) को सर्वथा अभक्ष्य बताया है।[137] कहा भी है – **"भक्षितेनापि किं तेन येन तृप्तिः न जायते"**[138] अर्थात् उन खाद्य पदार्थों को खाने से क्या लाभ, जिनको खाने से तृप्ति न मिले।

★ **हिताहार** – शरीर–प्रबन्धन के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति जीवन–यात्रा को सुखपूर्वक चलाने के लिए आहार करे,[139] न कि जीवन–यात्रा समाप्त करने के लिए। जैनाचार्यों ने इसीलिए गुटखा, तम्बाकू, भांग, अफीम, विष एवं अन्य अवांछित पदार्थों (Slow Poison) के सेवन का स्पष्ट निषेध किया है।

★ **ज्ञात–आहार** – जैनाचार्यों ने सदा उसी आहार को सेवन करने योग्य माना है, जिसके नाम तथा गुण–दोषों का सम्यक् परिचय हो। उन्होंने अनजाने फलादि को इसीलिए अभक्ष्य बताया है। शरीर–प्रबन्धन की दृष्टि से भी यह निषेध उचित ही है, क्योंकि इससे अनेक रोग तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कदाचित् प्राणघात होने की सम्भावना भी होती है। आहार ग्रहण करने के पूर्व उसके गुण–दोषों की यथोचित जानकारी लेने को जैनाचार्यों ने मुनि का एक आवश्यक कर्त्तव्य (एषणा–समिति) कहा है।[140]

★ **असंयोजित आहार** – जैनाचार्यों ने मुनि के लिए संयोजनरहित आहार अर्थात् दो या दो से अधिक वस्तुओं को नहीं मिलाते हुए आहार करने का विधान किया है।[141] गृहस्थ के लिए भी वृत्ति–परिसंख्यान तप के द्वारा सीमित विविधताओं वाला भोजन करने का ही निर्देश दिया है। विशेषरूप से मूंग, उड़द, तुअर, चना आदि द्विदल (कठोल/दाल) के साथ कच्चे गोरस (दूध, दही एवं छाछ) के आहार का स्पष्ट निषेध किया है, जैसे – दही–बड़ा, कढ़ी, दही–पापड़ आदि। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कुछ लोगों को इससे गैस्ट्रिक रोग, गठियावात आदि की शिकायत होती है।

★ **अहिंसक आहार** – जैनदर्शन का मूल अहिंसा है। जिस व्यक्ति के जीवन में सूक्ष्म–स्थूल जीवों के प्रति दया, प्रेम और स्नेह नहीं होता, उसके जीवन में नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास भी नहीं हो सकता। जैनाचार्यों ने इसीलिए आत्मतुल्य दृष्टि से अहिंसक आहार की ही प्रेरणा दी है। यह अहिंसक आहार शारीरिक अनिष्टता से बचाता है तथा आध्यात्मिक प्रगति में भी सहायक होता है। इसी आधार पर, जैनाचार्यों ने बाईस प्रकार के अभक्ष्य पदार्थों का निषेध किया है,[142] जिनमें से अधिकांश अभक्ष्य शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा से भी हानिकारक है। 'अहिंसक आहार' के बारे में किसी ने कहा भी है –

अ **अमृतमयी आहार हो**
हिं हिंसारहित आहार हो
स **सन्तुलित आहार हो**
क कल्याणकारी आहार हो
आ आनन्दकारी आहार हो
हा हाजमाकारी (सुपाच्य) आहार हो
र **रोगरहित आहार हो**

★ **सुपथ्य आहार** – उत्तराध्ययनसूत्र में यह दृष्टि मिलती है कि व्यक्ति को रसलोलपुता छोड़कर सदैव सुपथ्य आहार का सेवन करना चाहिए। एक कथानक के अनुसार, एक वैद्य ने एक रोगी राजा को आम खाना कुपथ्यकारक बताया, परन्तु वनविहार में राजा का मन ललचा गया, वैद्य के सुझाव की अवगणना कर मंत्री के मना करने पर भी उसने आम खा लिया। आम खाते ही राजा की मृत्यु हो गई।[143] इससे सुपथ्य आहार का महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ **मौसम अनुकूल आहार** – जैनाचार्यों ने सदैव प्रकृति प्रदत्त फल–सब्जियों को ही खाद्य के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार, प्रकृति के प्रतिकूल आहार करना रोग का कारण बन सकता है। यही कारण है कि जैन–परम्परा में हरी पत्ती, भाजी, तिल्ली, सूखे मेवे आदि को शीत ऋतु में ही सेवनीय कहा गया है। चलितरस (जिसमें सड़न उत्पन्न हो रही हो) का वर्जन भी इसी अभिप्राय से है कि व्यक्ति ऋतु अनुसार अपनी आहार व्यवस्था कर ले, खाद्य पदार्थों का अनावश्यक संग्रह न करे, अन्यथा इनसे स्वास्थ्य हानि भी हो सकती है और जीवोत्पत्ति के कारण से हिंसा भी।

★ **सन्तुलित आहार** – जीवन के विविध कार्यों को करने के लिए शरीर को ऊर्जा की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति भोजन से होती है। भोजन के कुछ पोषक–तत्त्व शरीर को निरोगी बनाए रखते हैं, तो कुछ शरीर की वृद्धि और संचालन में सहायता करते हैं। जैनाचार के अनुकूल भोजन के प्रमुख पोषक–तत्त्व इस प्रकार हैं –

(अ) भोजन के कुछ प्रमुख घटक (जैनाचार के आधार पर)[144]

क्र.	भोजन के घटक	प्राप्ति के स्रोत	कार्य
1)	प्रोटीन	दूध, दालें, सोयाबीन आदि	शारीरिक–वृद्धि करना तथा कोशिकाओं की मरम्मत करना
2)	वसा	घी, तेल आदि	शरीर को ऊर्जा एवं मांसपेशियों को शक्ति प्रदान करना
3)	कार्बोहाइड्रेट्स	अनाज, शक्कर आदि	शरीर को ऊर्जा प्रदान करना
4)	विटामिन	हरी पत्तेदार सब्जी, फल आदि	रोगों से शरीर की रक्षा करना
5)	खनिज लवण	दूध, फल, सब्जियाँ आदि	शरीर को स्वस्थ रखना तथा रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाना
6)	जल	प्रकृति	शारीरिक तापक्रम स्थिर रखना और उत्सर्जन, पाचन आदि क्रियाओं में सहायक होना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ब) शरीर–उपयोगी कुछ महत्त्वपूर्ण खनिज (जैनाचार के आधार पर)[145]

खनिज	खाद्य–स्त्रोत	दैनिक खपत	कार्य	कमी का परिणाम
कैल्शियम	दूध, पत्ती वाली सब्जियाँ	1 ग्राम	अस्थि तथा दाँतों का निर्माण, खून का थक्का जमाना, मांसपेशियों में आकुंचन, स्नायुओं का संवहन	सूखा (रिकेट्स), अस्थियों में खनिजों का अल्पीकरण
फॉस्फोरस	दूध, पनीर	1.5 ग्राम	अस्थि तथा दाँतों का निर्माण, ऊर्जा चयापचय, स्नायु एवं मांसपेशियों की क्रियाएँ	अस्थियों में खनिजों का अल्पीकरण, चयापचयिक क्रियाओं में गड़बड़ी
पोटेशियम	अधिकांश प्रकार के खाद्य पदार्थ	1 से 2 ग्राम	स्नायु एवं मांसपेशियों की क्रियाएँ	हृदय की क्रियाओं में गड़बड़ी, स्नायु की गड़बड़ी
सोडियम	अधिकांश प्रकार के खाद्य पदार्थ, नमक	2.5 ग्राम	अम्ल–प्रत्यम्ल–सन्तुलन, तरलांश–सन्तुलन	दुर्बलता, ऐंठन, अतिसार, जल का अल्पीकरण
लोहा	अखण्डित गेहूँ, सेम, मटर	18 मिलीग्राम	हिमोग्लोबीन, मायोग्लोबीन और किण्वकों का अभिन्न हिस्सा	रक्ताल्पता, पाचन–तन्त्रीय गड़बड़ी
मैग्नेशियम	हरी सब्जियाँ	400 मिलीग्राम	स्नायु–मांसपेशीय सन्देशवाहन, ग्लुकोज और ए.टी.पी. के चयापचय का एक अनिवार्य अंग	अतिउत्तेजनशीलता, रक्त–वाहिनियों का विस्तारीकरण (अधिकता होने पर स्नायुओं में वहन विरोध)
ताँबा	अधिकांश खाद्यपदार्थ	2 मिलीग्राम	हिमोग्लोबीन का संश्लेषण	रक्ताल्पता
मैगनीज	सामान्य भोजन	अज्ञात	किण्वकों को सक्रिय करता है	वन्ध्यीकरण, मासिक स्राव में अनियमितता
जस्ता	अधिकांश खाद्यपदार्थ	1.5 ग्राम	किण्वकों का एक हिस्सा, कार्बन–डाई–ऑक्साइड के संवाहन एवं पाचन–क्रिया में योगदान	विकास एवं लैंगिक परिपक्वता में मन्दता, चर्मरोग
कोबाल्ट	अधिकांश खाद्यपदार्थ, नल का पानी	1 मिलीग्राम	विटामिन बी–2 का अनिवार्य अंग	रक्ताल्पता
क्लोरीन	अधिकांश खाद्यपदार्थ, नमक	335 मिलीग्राम	हाइड्रोक्लोरिक एसिड का क्लोराइड अंश	तरलांश–सन्तुलन में गड़बड़ी
आयोडीन	आयोडाइज्ड नमक	25 मिलीग्राम	थायराइड के हार्मोनों का निर्माण	थायराइड की क्रिया में कमी, गलगण्ड
फ्लोरीन	पेयजल	अज्ञात	दाँतो और अस्थियों को मजबूत बनाना है।	दाँतों का रोग, कमजोर अस्थियाँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(स) शरीर–उपयोगी कुछ महत्त्वपूर्ण विटामिन (जैनाचार के आधार पर)

विटामिन	खाद्य–स्रोत	दैनिक खपत	कमी का परिणाम
ए (रेटिनोल)	फल, साग–सब्जियाँ	5000 आई.यू. = 3 मिलीग्राम	रतौन्धीपन
बी–1 (थियामिन)	**अखण्डित धान्य (चोकर या छिलके सहित) दूध, फलीदार शिम्ब, गिरिदार फल**	1.5 मिलीग्राम	**भूख में कमी, अपच, बेरी–बेरी नामक रोग**
बी–2	दूध, पत्ती वाली सब्जियाँ	1.7 मिलीग्राम	चर्मरोग, त्वचा–शोथ, जिह्वा– शोथ, मुँह के कोनों का फटना
नियासिन	**फलीदार शिम्ब, दूध, मूँगफली**	**20 मिलीग्राम**	**पागलपन, अतिसार, चर्मरोग**
बी–6	दूध	2 मिलीग्राम	रक्ताल्पता, चर्मरोग, मूर्च्छा, कीटाणुओं द्वारा उत्पन्न रोगों की सम्भावना
बायोरिन	**दूध, शाक–सब्जी, गिरीदार फल, धान्य**	**0.3 मिलीग्राम**	**चर्मरोग, मांसपेशियों में दर्द**
फोलिक एसिड (सायएनो कोबाल्मिन)	वनस्पति, पूरे दाने वाले धान्य, केला	4 मिलीग्राम	रक्ताल्पता, विकास में मन्दता
बी–12	**दूध**	**6 माइक्रोग्राम**	**खतरनाक रक्ताल्पता**
सी (एस्कोर्बिकएसिड)	नींबूवंशीय फल, टमाटर, आँवला, सन्तरा, अंगूर, पत्ती वाली सब्जियाँ	60 मिलीग्राम	स्कर्वी, वजन में कमी, दुर्बलता, दाँतों का गिरना, अस्थि–भंगुरता, जोड़ों में दर्द
डी–2	**दूध, सूर्य का प्रकाश**	**40 आई.यू.**	**सूखा (रिकेट्स), अस्थियों में खोखलापन (Osteoporosis) और भंगुरता आदि**
डी–3	दूध, सूर्य का प्रकाश	20 माइक्रोग्राम	अधिक मात्रा के परिणाम – गुर्दे में पथरी, कोमलता, तन्तुओं में कैल्शियम का जमाव आदि
ई	**गेहूँ, तेल, दूध**	**30 आई.यू.**	**मांसपेशियों में खिंचाव, प्रजनन–क्षमता में कमी आदि**
के	पत्ती वाली सब्जियाँ, टमाटर, दूध	अज्ञात	रक्त का थक्का जमने में देरी, हेमरेज (रक्त–वाहिनी का फटना)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार, भोजन कैसा हो, इस प्रश्न पर विचार करने पर तीन विकल्प सामने आते हैं[146] –

★ कुछ लोग स्वाद के लिए भोजन करते हैं।
★ कुछ लोग स्वास्थ्य के लिए भोजन करते हैं।
★ कुछ लोग साधना के लिए भोजन करते हैं।

उपर्युक्त में से पहला विकल्प निकृष्ट है, दूसरा मध्यम है एवं तीसरा उत्कृष्ट है और शरीर–प्रबन्धन हेतु अनुकरणीय है। जैनदृष्टि के आधार पर शरीर–प्रबन्धन करते हुए आहार ऐसा लेना चाहिए, जिससे स्वस्थ शरीर के साथ स्वस्थ आत्मा की प्राप्ति की साधना भी उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाए। कहा भी है – 'शरीर के लिए आहार मोक्षमार्ग की साधना का हेतु होना चाहिए।'[147]

(ग) आहार कितनी बार करना – जैनआचारशास्त्रों में उत्सर्ग यानि सामान्य रूप से प्रतिदिन एक बार ही भोजन करने (एकासणा) का निर्देश दिया गया है।[148] यह नियम केवल मुनि की अपेक्षा से ही नहीं, अपितु गृहस्थ साधकों के लिए भी निर्दिष्ट है।[149] स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे भोजन को पचने के लिए समुचित समय मिल जाता है।

अपवाद से जैनआचारशास्त्रों में बियासणा अर्थात् दो बार भोजन करने का निर्देश दिया गया है, आयुर्वेद में शतायु जीवन जीने के लिए कुछ मर्यादाओं का उल्लेख है, जिनमें से एक प्रमुख है – प्रतिदिन दो बार ही भोजन करना।[150] विशेष परिस्थिति में दो बार से अधिक भोजन की छूट भी जैन–परम्परा में दी जाती है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति दिन भर खाता ही रहे। जैनशास्त्रों में संयमित या प्रबन्धित आहार–शैली को अपनाने के लिए विविध तपस्याओं का वर्णन मिलता है, जैसे –

1) दिवस सम्बन्धी तप
   - नवकारसी – सूर्योदय से 2 घड़ी (48 मिनिट) बाद तक नहीं खाना।
   - पोरिसी – सूर्योदय से एक प्रहर (लगभग 3 घण्टे) बाद तक नहीं खाना।
   - साड्ढपोरिसी – सूर्योदय से डेढ़ प्रहर (लगभग 4.30 घण्टे) बाद तक नहीं खाना।
   - पुरिमड्ढ – सूर्योदय से दो प्रहर (लगभग 6 घण्टे) बाद तक नहीं खाना।
   - अवड्ढ – सूर्योदय से तीन प्रहर (लगभग 9 घण्टे) बाद तक नहीं खाना।
   - बियासणा – दिन में दो बार भोजन करना, पीने में उबाल कर ठंडे किए हुए जल का उपयोग करना।
   - एकासणा – दिन में एक बार भोजन करना, पीने में उबाल कर ठंडे किए हुए जल का उपयोग करना।
   - आयम्बिल – षड्विगई के त्यागपूर्वक एकासणा करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

- उपवास (तिविहार) – सिर्फ उष्ण जल पीना।
- उपवास (चौविहार) – आहार–पानी का पूर्ण त्याग करना।

2) रात्रि सम्बन्धी तप

- दुविहार/तिविहार – सूर्यास्त के पश्चात् सिर्फ पानी का प्रयोग करना (रात्रि के प्रथम प्रहर की समाप्ति के पूर्व तक)।
- चौविहार – सूर्यास्त के पश्चात् आहार पानी का पूर्ण त्याग करना।
- पाणाहार – दिन में तपस्या करने पर सूर्यास्त के पश्चात् पानी का भी पूर्ण त्याग करना।

इन प्रत्याख्यानों का परिपालन कर व्यक्ति अपने जीवन को प्रबन्धित कर लेते हैं, परन्तु जो इनका पालन नहीं करते, उन्हें जैन–परम्परा में स्वेच्छाचारी माना जाता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार, जो लोग दिन–रात खाते ही रहते हैं, वे सींग और पूँछ रहित पशु के समान हैं।[151]

(घ) आहार कब करना – जैनाचार्यों के अनुसार, असमय में किया गया महान् कार्य भी निरर्थक हो जाता है, अतः शरीर–प्रबन्धन के लिए आहार के उचित काल का विवेक भी एक अनिवार्य आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित बिन्दु विचारणीय हैं –

★ भूख लगने पर ही खाना।[152]
★ प्रतिदिन नियत समय पर भोजन करना।[153]
★ सुपात्रदान देने के पश्चात् ही खाना।[154]
★ अजीर्ण होने पर नहीं खाना।[155]
★ मन शान्त हो, तभी खाना।[156]
★ नींद से उठकर तुरन्त नहीं खाना।[157]
★ शरीर में हल्कापन महसूस हो, तब खाना।[158]
★ मल–मूत्र का वेग रोककर कभी नहीं खाना।[159]
★ बाहर से आने के बाद (कुछ समय) विश्राम करके भोजन करना।[160]

1) भोजन करने का उचित समय

उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा गया है कि मुनि दिन के तीसरे प्रहर में आहार ग्रहण करे।[161] श्राद्धविधि प्रकरण में श्रावक के विषय में कहा गया है कि वह मध्याह्न में जिन–पूजा, सुपात्रदानादि करके ही भोजन करे।[162]

यद्यपि मध्याह्न में भोजन करने का निर्देश दिया गया है, तथापि उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर भोजन के उचित समय का निर्धारण करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2) आयुर्वेद का अभिमत

जैन–परम्परा में निर्दिष्ट आहार–व्यवस्था स्वास्थ्य की दृष्टि से कितनी उचित है, यह तथ्य आयुर्वेदिक अभिमत से भी सिद्ध हो जाता है। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि मध्याह्न काल (लगभग 12 से 2 बजे तक) पित्तवृद्धि का समय है और यदि इसमें भोजन किया जाए, तो भोजन शीघ्र व अधिक अंश में पचता है, परिणामतः शरीर अधिक पुष्ट होता है।[163]

3) आपवादिक परिस्थितियाँ

श्रावक को सदैव एकासणा करना योग्य है, परन्तु यदि प्रतिदिन एकासणा न हो सके, तो भी कम से कम निम्नलिखित बिन्दुओं का पालन करना ही चाहिए –

★ सूर्योदय के दो घड़ी (48 मिनिट) के बाद ही आहार का ग्रहण।
★ सूर्यास्त में दो घड़ी (48 मिनिट) शेष रहते आहार का त्याग।
★ रात्रि में असह्य होने पर भी कम से कम दुविहार/तिविहार का प्रत्याख्यान।

4) रात्रिभोजन–निषेध

जैनआचारमीमांसा में रात्रिभोजन के निषेध को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। रात्रिभोजन न केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से, अपितु विज्ञान एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी त्याज्य है।

★ धार्मिक दृष्टि से –

- दशवैकालिकसूत्रानुसार[164] – 'रात्रिभोजन मुनि के लिए तिरपन अनाचीर्णों में से एक है अर्थात् यह अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार ही नहीं, किन्तु अनाचार है।'
- विशेषावश्यकभाष्यानुसार[165] – 'रात्रिभोजन का त्याग करने से अहिंसा महाव्रत का संरक्षण होता है।'
- दशवैकालिकसूत्रानुसार[166] – 'अहिंसादि पाँच महाव्रतों के साथ ही रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए और इस व्रत को महाव्रतों की तरह ही दृढ़ता से पालना चाहिए।'
- योगशास्त्रानुसार[167] – 'जो लोग दिन के बदले रात को ही खाते हैं, वे मूर्ख मनुष्य सचमुच हीरे को छोड़कर काँच को ग्रहण करते हैं।'
- महाभारतग्रन्थानुसार – 'जो लोग मद्यपान, मांसाहार, रात्रिभोजन एवं जमीकन्द का भक्षण करते हैं, उनकी तीर्थयात्रा, जप–तप आदि अनुष्ठान निष्फल हो जाते हैं।'
- यजुर्वेदानुसार[168] – 'देव हमेशा दिन के प्रथम प्रहर में, ऋषि–मुनि दिन के दूसरे प्रहर में, पितृजन दिन के तीसरे प्रहर में तथा दैत्य, दानव, यक्ष एवं राक्षस सन्ध्या के समय भोजन करते हैं।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ आध्यात्मिक दृष्टि से[169] –

- जो लोग रात्रिभोजन नहीं करते, उनमें अप्रमत्तता एवं सक्रियता का विकास होता है, साथ ही आत्मा पुष्ट बनती है। ऐसे लोग सायंकालीन प्रतिक्रमण, ध्यान, भक्ति आदि में भी मन लगा सकते हैं।

★ वैज्ञानिक दृष्टि से –

- रात्रि में प्राणवायु की मात्रा कम हो जाती है और कार्बन–डाई–ऑक्साइड (CO_2) की मात्रा बढ़ जाती है।
- सूर्य की किरणों में इन्फ्रारेड (Infrared) तथा अल्ट्रा–वायलेट (Ultra–violet) किरणें होती हैं, जो कृत्रिम प्रकाश स्रोतों में नहीं होती। इनमें से इन्फ्रारेड किरणें वातावरण में सूक्ष्मजीवों की उत्पत्ति नहीं होने देती।[170]
- सोने के कम से कम तीन घण्टे पूर्व तक भोजन अवश्य कर लेना चाहिए, जिससे पाचन क्रिया व्यवस्थित हो सके।
- सूर्य से न केवल प्रकाश मिलता है, अपितु विटामिन–डी आदि जीवनदायिनी शक्तियाँ भी मिलती हैं।

★ आयुर्वेदानुसार – 'शरीर में दो मुख्य कमल होते हैं – हृदय–कमल एवं नाभि–कमल। इन दोनों का संचालन सूर्य से जुड़ा है, सूर्यास्त होने पर जैसे कमलदल सिकुड़ जाते हैं, वैसे ही ये दोनों कमल भी शिथिल (संकुचित) हो जाते हैं अर्थात् इनकी गति मन्द पड़ जाती है, अतः रात्रिभोजन करने से अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है।'[171]

यह शोध का विषय है कि चिकित्सा–विज्ञान में नाभि–स्थान के तन्तुओं को 'Solar Plexus' क्यों कहा जाता है? सम्भवतया Solar शब्द नाभि–स्थान के अवयवों की सूर्य के साथ सम्बद्धता अर्थात् क्रियाशीलता का सूचक है।[172]

इस प्रकार, यह निष्कर्ष निकलता है कि शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए रात्रिभोजन का त्याग करना एक आवश्यक कर्त्तव्य है।[173]

जैनदृष्टि से रात्रिभोजन किसे कहें?[174]

क्र.	भोजन के विकल्प	रात्रिभोजन 'है' या 'नहीं'
1)	दिन में बनाना, रात में खाना	है
2)	**रात में बनाना, दिन में खाना**	**है**
3)	रात में बनाना, रात में खाना	है
4)	**दिन में बनाना, दिन में खाना**	**नहीं**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ङ) आहार कहाँ करना – जैनाचार्यों की दृष्टि में जीवन–प्रबन्धक को केवल उन्हीं स्थानों पर आहार करना चाहिए, जहाँ आहार–शुद्धि का विशेष ध्यान रखा जाता हो। उपासक–अध्ययन में भी कहा गया है कि भावों की विशुद्धि के लिए भोजन की शुद्धि होना अनिवार्य है, यदि भोजन शुद्ध नहीं हो, तो हजारों उपचार करके भी भावों की विशुद्धता को प्राप्त नहीं किया जा सकता।[175] सागारधर्मामृत में स्पष्ट कहा गया है कि योग्य गृहस्थ को उद्यान में भोजन नहीं करना चाहिए।[176] यह भी कहा गया है कि आपवादिक रूप से यदि व्यवहार–निर्वाह की मजबूरी हो, तो बिना दोष लगाए साधर्मिक भाइयों के घर में अथवा विवाहादिक में भोजन किया जा सकता है।[177]

उपर्युक्त तथ्य के आधार पर निम्नलिखित स्थानों पर भोजन नहीं करना चाहिए –

★ होटल, रेस्त्रां एवं ढाबा
★ सिनेमाघर एवं अन्य सार्वजनिक स्थान
★ चाय, कॉफी, कचौरी, आईसक्रीम, पान आदि के स्टॉल
★ उद्यान (Garden and Picnic resorts)
★ सहभोज एवं प्रीतिभोज

उपर्युक्त स्थानों पर भोजन इसीलिए नहीं करना चाहिए, क्योंकि वहाँ शुद्धि–अशुद्धि पौष्टिकता–अपौष्टिकता, सात्विकता–तामसिकता, अहिंसा–हिंसा आदि का विवेक न तो रखा जाता है और न ही रखने का उद्देश्य होता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि घर का भोजन सर्वथा स्वीकार्य है। यदि गेहूँ, दाल, चावल, आटा, बेसन आदि बिना छाने, बिना बीने प्रयुक्त किए जाते हैं, गाने सुनते–सुनते सब्जी सुधारी जाती है, बातचीत करते–करते भोजन बनाया जाता है, क्लेश–कलह करते–करते भोजन परोसा जाता है, चिन्ता एवं तनाव के साथ आहार किया जाता है, टी.वी. देखते–देखते आहार किया जाता है, तो ऐसा आहार भी अनुपयुक्त है। इस स्थिति में घर का बना आहार भी मानसिक एवं शारीरिक विसंगतियों का कारण बन सकता है। इसीलिए बुद्धिमान् लोगों ने ऋतभुक् अर्थात् शुद्ध भोजन वाले स्थानों पर ही भोजन करने की प्रेरणा दी है।[178]

(च) आहार कितना करना – शरीर–प्रबन्धन के लिए आहार की मात्रा का विवेक होना भी अत्यावश्यक है। आज चिकित्सालयों में प्रवेश पाने वाले लगभग 87% रोगियों के रोग का मूल कारण अजीर्ण से सम्बन्धित होता है, जो इस बात का द्योतक है कि अधिकांश लोग प्रमाण से अधिक आहार सेवन करते हैं।[179]

जैनाचार्यों के अनुसार, एक स्वस्थ पुरूष का आहार बत्तीस कवल, स्त्री का अट्ठावीस कवल और नपुंसक का चौबीस कवल होता है।[180] मूलआराधना में कवल का परिमाण 1000 चावल के दानों जितना,[181] भगवती में व्यक्ति (पुरूष) की खुराक का बत्तीसवां भाग जितना[182] और व्यवहारभाष्य में बड़े आँवले अर्थात् मुख प्रमाण जितना परिमाण माना गया है। यह प्रतीत होता है कि ये परिमाण स्थूल रूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से बताए गए हैं।[183] व्यवहारभाष्य में आहार के अनुपात का ऋतुवार वर्णन प्राप्त होता है[184] –

	ग्रीष्म	वर्षा	शीत
आहार	2 भाग	4 भाग	3 भाग
जल	3 भाग	1 भाग	2 भाग
वायु	1 भाग	1 भाग	1 भाग

जैनदर्शन में तप को उत्कृष्ट धर्म के रूप में माना गया है। इनमें से जो बाह्यतप हैं, उनमें चार तप का शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए विशेष महत्त्व है –

तप	अभिप्राय
1) अनशन	आहार का त्याग करना।
2) ऊनोदरी	**भूख से कम खाना।**
3) वृत्तिसंक्षेप	आहार के प्रकारों का सीमाकरण करना।
4) रस–परित्याग	**स्वाद का आग्रह छोड़ना।**

इन चारों प्रकार के तपों का मूल ध्येय है – आहार की मात्रा पर अंकुश लगाना और आरोग्य का संरक्षण करना।

1) अनशन – इसका अर्थ सिर्फ उपवास (लंघन) ही नहीं है, अनशन तो स्वयं एक चिकित्सा है। डॉ. सेल्टन के अनुसार, उपवास का पहला लाभ है – शरीर के विजातीय पदार्थों का निष्कासित होना। आहार से शरीर में विष जमा हो जाता है और यदि इस विष (दूषित सामग्रियों) को शरीर से बाहर नहीं निकाला जाए, तो स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। उपवास का ही दूसरा लाभ है – पाचन–तन्त्र को विश्राम मिलना। जीवन का आधार ही पाचन–तन्त्र है और अतिमात्रा में आहार करने से इस पर दबाव आता है, जिससे शरीर के अन्य तन्त्र भी प्रभावित एवं रोगग्रस्त हो जाते हैं। उपवास के माध्यम से पाचन–तन्त्र को विश्राम मिलता है, जिससे उसकी पाचन क्षमता में भी सुधार आता है।[185]

2) ऊनोदरी – इसका अर्थ है – प्रमाणोपेत आहार से कम आहार करना। यह जैनदर्शन का अद्वितीय तप है और दीर्घायु होने का मूल कारण भी। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि व्यक्ति को ठूँस–ठूँस कर आहार नहीं करना चाहिए।[186] वहीं निशीथभाष्य में कहा गया है कि अल्पमात्रा में लिया गया आहार गुणकारी सिद्ध होता है।[187] यह भी कहा गया है कि जिनका आहार अल्प है, उन्हें देवता भी प्रणाम करते हैं।[188] ओघनिर्युक्ति में तो यहाँ तक कहा गया है कि अल्पाहारी अर्थात् सीमित मात्रा में आहार करने वाले को किसी चिकित्सक की आवश्यकता ही नहीं होती।[189] इस प्रकार, जैनदर्शन में सदा ही आहार की मात्रा को संयमित करने का निर्देश दिया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार जगत् में जीवन–प्रबन्धक यदि अपने पेट को पूरा नहीं भरता है, तो उसे ऊनोदरी तप माना जा सकता है। इससे अनेक लाभ दिखाई देते हैं, जैसे[190] –

★ आलस्य में कमी
★ स्वास्थ्य की सुरक्षा
★ बुद्धि का विकास
★ आत्मोन्नति की पात्रता

3) वृत्तिसंक्षेप – यह तप पेट को अनावश्यक विविधताओं वाले आहार से बचाता है। आज व्यक्ति प्रीतिभोजादि में रस–लोलुपता से ग्रस्त होकर अतिमात्रा में आहार करता है। वह प्रत्येक स्टॉल में रखी सामग्रियों का आनन्द लेना चाहता है, लेकिन परिणाम में पीड़ा ही पाता है। वृत्तिसंक्षेप तप के द्वारा वह इस प्रकार की अतिवृत्ति से बच सकता है। किसी ने कहा भी है – खावे बकरी की तरह, सूखे लकड़ी की तरह।[191]

4) रसपरित्याग – यह तप घी, तेल, दूध, दही आदि रसों के सेवन का वर्जन करता है। स्वास्थ्यशास्त्रियों का कहना है कि रसों का सेवन प्रतिदिन नहीं करना चाहिए, कभी करना और कभी छोड़ना चाहिए।[192] जैन–परम्परा में रस–सन्तुलन के लिए रसपरित्याग की विधि है, जिसके अन्तर्गत नीवि, आयम्बिल, विगई–त्याग आदि व्यवस्थाएँ हैं। इस तप के अनेक लाभ हैं, जैसे[193] –

★ कोलेस्ट्रॉल की मात्रा में वृद्धि पर रोक
★ हृदय रोग एवं उच्च रक्तचाप से बचाव
★ मोटापे पर नियंत्रण
★ मधुमेह से रक्षा इत्यादि

अतएव बिना हठाग्रह के उपर्युक्त तपों का सेवन करने से स्वास्थ्य की अभिवृद्धि होती है और यदि आध्यात्मिक साधना के साथ इन तपों का सेवन किया जाए, तो आत्म–स्वास्थ्य की अभिवृद्धि भी होती है। जैनधर्म में मूलतः तप का अन्तिम ध्येय आत्मविजय ही है।

(छ) आहार कैसे करना – जैनदर्शन में श्रमण एवं श्रावक दोनों के लिए एक व्यवस्थित आहार–विधि बताई गई है, जिसका सेवन प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक को अपनी–अपनी भूमिकानुसार करना चाहिए।

दशवैकालिकसूत्र में मुनि की आहार–विधि का सुव्यवस्थित चित्रण किया गया है, किन्तु विस्तारभय से इसे यहाँ नहीं दर्शाया जा रहा है।[194] श्राद्धधर्म, कल्याणकारक आदि ग्रन्थों में श्रावक की आहार–विधि का जो वर्णन मिलता है, उसके आधार पर आगे वर्णन किया जा रहा है –

★ अन्य सदस्यों को भोजन कराकर भोजन करना।
★ स्वच्छ आसन पर स्थिर चित्त से बैठकर आहार करना।
★ जूते–चप्पल पहनकर अथवा पलंग पर बैठकर भोजन नहीं करना।
★ इष्टदेव के नामस्मरणपूर्वक भोजन प्रारम्भ करना।
★ खुले में, धूप में, अन्धकार में अथवा वृक्ष के नीचे बैठकर भोजन नहीं करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ अपवित्र शरीर से भोजन नहीं करना।

★ रजस्वला स्त्री के संसर्ग से दूर रहकर भोजन करना।

★ आहार समय पर करना, जिससे उसे पुनः गरम न करना पड़े।

★ न अधिक धीरे और न अधिक जल्दी आहार करना।[195]

★ भोजन करते समय अन्न की निन्दा नहीं करना।

★ दोनों हाथ जूठे नहीं करना।

★ अतिशय रसलोलुपता के साथ भोजन नहीं करना।

★ जूठा खाना नहीं, जूठे मुँह बोलना नहीं एवं जूठा छोड़ना नहीं।

★ शरीर टेढ़ा–मेढ़ा करते हुए भोजन नहीं करना।

★ भोजन करते हुए सर–सर, चब–चब आदि शब्द नहीं करना।

★ भोजन करते हुए नीचे नहीं गिराना।

★ भोजन को अतिशय गर्म, ठण्डा, खारा, मीठा, तीखा, कड़वा, खट्टा आदि करके नहीं खाना।

★ हँसते–हँसते या बोलते–बोलते नहीं खाना, यदि खाना श्वासनली में चले जाए, तो प्राण–घातक भी हो सकता है।[196]

★ प्रत्येक कवल को बत्तीस बार चबा–चबा कर खाना, जिससे आँतों पर दबाव न आए।[197]

★ भोज्य सामग्रियों को मिलाकर नहीं खाना, जिससे राग का पोषण न हो एवं उन्हें पूरी तरह चबाया जा सके।[198]

★ भोजन के पश्चात् दिवसचरिम अथवा सीमित समय के लिए भोजन का त्याग करना।

★ भोजन के पश्चात् इष्ट देव का स्मरण करके उठना और चैत्यवन्दन करना।

★ भोजन करने के ठीक बाद शरीर का मर्दन, मलमूत्र का त्याग, भारवहन, नहाना आदि कार्य नहीं करना।

★ भोजन करने के पश्चात् सोना नहीं, सोना ही पड़े तो कम से कम सौ कदम अवश्य चलना।

★ भोजन के पश्चात् वाचनादि पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना।[199]

★ भोजन के पूर्व पानी नहीं पीना, अन्यथा शरीर कृश होता है।

★ भोजन के मध्य में पानी पीने से शरीर न ही कृश होता है और न मोटा।

★ भोजन के अन्त में (थोड़ी देर के बाद) पानी पीने से शरीर हृष्ट–पुष्ट होता है।[200]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) जल–प्रबन्धन

जल और स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि जल दूषित होता है, तो कई प्रकार के रोगों का कारण बन जाता है। अतः शरीर–प्रबन्धन के लिए जैनाचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट शुद्ध जल का प्रयोग करना आवश्यक है।

आज व्यक्ति के समक्ष जल के निम्नलिखित विकल्प हैं –

1) ओला
2) पहाड़ का बर्फ
3) फैक्टरी का बर्फ
4) फ्रीज का बर्फ
5) तालाब, नदी, कुएँ आदि का अनछना जल
6) सार्वजनिक स्थानों की टंकियों का जल
7) नल, बोरिंग आदि का अनछना जल
8) मिनरल वॉटर
9) एक्वागार्ड का जल
10) आर. ओ. (R.O.) का जल
11) छना हुआ जल
12) धोवन पानी
13) उष्ण जल (उबालकर ठंडा किया जल)
14) डिस्टिल्ड वॉटर

1) ओला[201] – जैनशास्त्रों में इसका स्पष्ट निषेध है, बाईस प्रकार के अभक्ष्य पदार्थों में इसे स्थान दिया गया है। इसके अनेक दोष हैं, जैसे –

- ★ यह असंख्य अप्काय–जीवों का पिण्ड है।
- ★ इसमें त्रस जीवों की विद्यमानता भी है।
- ★ पेय जल के रहते इसकी कोई उपयोगिता भी नहीं है।
- ★ वायु–प्रदूषण से जहाँ कार्बन–मोनो–ऑक्साइड आदि विषैली गैसों की मात्रा बढ़ रही है और अम्लवर्षा (Acid Rain) भी हो रही है, वहीं सिर्फ शौक के लिए ओला खाना कतई समझदारी नहीं है, क्योंकि यह विषरूप भी हो सकता है।
- ★ इससे जठराग्नि मन्द पड़ती है, अजीर्ण आदि की सम्भावना भी बढ़ती है।

2) पहाड़ का बर्फ – इसे भी ओले के समान ही दोषपूर्ण और त्याज्य जानना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3) फैक्टरी का बर्फ – बर्फ की सर्वाधिक खपत ग्रीष्म ऋतु में ही होती है। चूँकि इस ऋतु में पानी की उपलब्धता कम होती है, अतः अधिकांश फैक्टरियों में लम्बे समय तक पानी का संग्रह करके रखा जाता है, जिसमें कई जीवाणुओं की उत्पत्ति हो जाया करती है। इसके अतिरिक्त कभी–कभी तो गन्दे नाले, दूषित कुए आदि के पानी का भी प्रयोग किया जाता है। इससे टाईफाइड, पीलिया, डायरिया आदि रोगों के होने की सम्भावना भी बढ़ जाती है।

इनके अतिरिक्त इस बर्फ में प्रायः वे सभी दोष होते हैं, जो ओले से सम्बन्धित हैं, अतः जैनाचार्यों ने इसे भी त्याज्य बताया है।

4) फ्रीज का बर्फ – इसे भी ओले के समान ही दोषपूर्ण एवं त्याज्य मानना चाहिए।

5) कुएँ, तालाब, नदी आदि का अनछना जल – इस जल को भी पेय नहीं माना जा सकता, इसमें अनेक अस्वास्थ्यप्रद तत्त्व मौजूद होते हैं। इसमें न केवल कचरा, गन्दगी, पॉलिथीन आदि प्रवाहित किए जाते हैं, अपितु जैव अवशेष भी विसर्जित किए जाते हैं। अतः, वैज्ञानिक–दृष्टि से यह जल अनेक रोगों का कारण हो सकता है।

जैनाचार्यों ने भी हिंसादि अनेक कारणों से इस जल के सेवन का निषेध किया है। आचारांग में तो मुनिचर्या को दर्शाते हुए कहा गया है कि तालाबादि के जल को ग्रहण करना चौर्यकर्म है।[202]

6) सार्वजनिक स्थानों की टंकियों का जल – बहुत दिनों तक सफाई न होने से तथा छानने की व्यवस्था भी नहीं होने से जैनाचार्यों ने इस जल के सेवन का भी निषेध किया है।

7) नल, बोरिंग आदि का अनछना जल – जैनाचार्यों के अनुसार, अनछना जल भी असेव्य है, क्योंकि इसमें असंख्यात अप्कायिक जीवों के साथ–साथ अनेक त्रस जीव भी होते हैं।[203] केप्टन स्कोर्सबी ने भी सूक्ष्म–दर्शक यंत्र के द्वारा एक बूँद जल में 36,450 त्रस जीवों को दिखाकर इस तथ्य की पुष्टि की है।[204]

8) मिनरल वॉटर – यद्यपि शुद्धरीति से बना हुआ मिनरल वॉटर किसी हद तक पेय हो सकता है, फिर भी इसमें प्रयुक्त मिनरल कौन–कौन से हैं, किस प्रक्रिया से इस पानी को बनाया जाता है तथा बनने के कितने काल के पश्चात् इसका सेवन किया जाता है, आदि संदिग्धताओं के कारण से इसे भी पेय नहीं मानना चाहिए।

9) एक्वागार्ड का जल – यह एक आधुनिक तकनीक से प्राप्त जल है, इसीलिए प्राचीन जैनशास्त्रों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि इसमें बैक्टेरिया का अभाव होता है, तथापि इसकी तकनीक से उपभोक्ता अनभिज्ञ होता है। अतः, यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें सूक्ष्म अप्कायिक तथा त्रस जीवों का पूर्ण अभाव होता ही है। जैनाचार्यों ने इसीलिए तीन बार उबाल आए हुए जल के सेवन की प्रमुखता दी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10) आर. ओ. (R.O.) का जल – इसे भी एक्वागार्ड के जल की तरह समझना चाहिए।

11) छना हुआ जल – यह जल भारतीय–संस्कृति में सर्वमान्य है, जैनाचार्यों ने भी उपर्युक्त स्रोतों से प्राप्त अनछने जल एवं बर्फादि की अपेक्षा इसे उत्तम कहा है। गृहस्थ जीवन के योग्य शारीरिक कार्यों, जैसे – स्नान, शौच, वस्त्र–प्रक्षालन आदि का निर्वाह इस छने हुए जल के द्वारा किया जा सकता है।[205]

जैनआचारशास्त्रों में जल को छानने के लिए मोटे (गाढ़) वस्त्र को दुहरा करके उपयोग करने का निर्देश दिया गया है।[206] वस्त्र की मोटाई इतनी होनी चाहिए कि सूर्य की किरणें आरपार न हो सके।

यह ज्ञातव्य है कि छने हुए पानी में त्रस जीवों का तो पूर्ण अभाव होता है, परन्तु अप्कायिक जीवों की विद्यमानता बनी रहती है, इसलिए जैनाचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि में बाह्य कार्यों के लिए तो छना पानी उपयोग किया जा सकता है, किन्तु पीने के लिए उष्ण अथवा धोवन पानी का प्रयोग ही करना चाहिए।

12) धोवन पानी – जैनशास्त्रों में स्वास्थ्य के लिए हितकर एवं पूर्णतया जीवाणुरहित इक्कीस प्रकार के धोवन पानी का उल्लेख मिलता है, जिनका प्रयोग पेयजल के रूप में किया जा सकता है,[207] जैसे – दाल, चावल आदि का धोवन पानी।

13) उष्ण जल – जैन–परम्परा में तीन उबाले वाला जल (ठंडा करके) पीने योग्य माना जाता है। यह जल हल्का होता है, कीटाणुमुक्त होता है और इसे आधुनिक चिकित्सा–विज्ञान तथा भारतीय आयुर्वेद में भी सर्वोत्तम जल कहा गया है।[208] यह आसानी से उपलब्ध या तैयार हो सकता है और अपेक्षाकृत सस्ता पड़ता है।

14) डिस्टिल्ड वॉटर – जल का वाष्पीकृत रूप ही डिस्टिल्ड वॉटर है। यद्यपि यह अतिशुद्ध होता है, तथापि इसका दैनिक–व्यवहार में प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह महँगा पड़ता है। इसमें आवश्यक खनिजों (Minerals) का अभाव होने से चिकित्सक भी इसे अपेय मानते हैं।

इस प्रकार, जल के सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने जो निर्देश दिए हैं, उनका पालन करके शरीर का सम्यक् प्रबन्धन किया जा सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) प्राणवायु–प्रबन्धन

जैनदर्शन में प्राणवायु (श्वास) का महत्त्व बहुत अधिक है, इसमें प्राणवायु को जीवनधारिणी प्राणशक्ति के रूप में प्रतिपादित किया गया है।[209] एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों के जीवन–अस्तित्व का मुख्य घटक है – प्राणवायु। जैनाचार्यों ने सूक्ष्म दृष्टि से यह भी बताया है कि जीवन के प्रारम्भ में श्वास योग्य सामर्थ्य जब तक विकसित नहीं होता, तब तक जीवन–विकास की सम्भावना ही नहीं बनती और श्वास–प्रक्रिया (श्वास–प्राण) जब समाप्त हो जाती है, तब जीवन भी समाप्त हो जाता है।

मेरी दृष्टि में, इस महत्त्वपूर्ण प्राणवायु के सम्यक् प्रबन्धन के लिए व्यक्ति की आवश्यकताएँ इस प्रकार हैं –

★ **श्वास कैसी लेना? शुद्ध**
★ कितनी लेना? पूर्ण
★ **कब लेना? नियमित**
★ कैसे लेना? सहज/अत्वरित

उपर्युक्त चारों मापदण्डों की पूर्त्ति के लिए जैनआचारशास्त्रों में अनेक सूत्र निर्दिष्ट हैं। यद्यपि जैनाचार्यों की मूल दृष्टि आध्यात्मिक है, तथापि उनके द्वारा आत्मोन्नति के लिए निर्देशित सूत्र प्राणवायु–प्रबन्धन के लिए भी उपयोगी हैं। इनमें से प्रमुख सूत्र हैं –

★ ब्रह्ममुहूर्त्त में उठना, जिससे शुद्ध वायु मिल सके।
★ सामायिक अर्थात् समता भाव में जीने की साधना करना, जिससे चित्तवृत्ति शान्त हो, उद्वेग समाप्त हो और मन प्रसन्न हो। इससे श्वास की गति भी सहज और नियमित बन जाती है।
★ प्रातः एवं सायं प्रतिक्रमण करना, जिसमें कायोत्सर्ग की साधना भी स्वतः हो जाती है। कायोत्सर्ग और श्वास का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जैसे–जैसे कायोत्सर्ग के द्वारा ममत्व भावों का विसर्जन होता है, वैसे–वैसे श्वास की उथल–पुथल शान्त होने लगती है, श्वास गहरी, लम्बी और लयबद्ध होती जाती है। जैनाचार्यों ने कायोत्सर्ग की साधना में समय के निर्धारण के लिए श्वासोच्छ्वास (प्राणापान) की एक सामान्य गणना भी बताई है।[210]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण	श्वास की संख्या
रात्रिक	50
दैवसिक	100
पाक्षिक	300
चातुर्मासिक	500
सांवत्सरिक	1008

★ ध्यान की साधना नासाग्र दृष्टि से करना, जिससे पहले श्वास सन्तुलित होती है और तत्पश्चात् घ्राण मस्तिष्क। जब घ्राण मस्तिष्क सन्तुलित होता है, तब भय, क्रोध आदि संवेग भी शान्त होने लगते हैं। जब भयादि संवेग शान्त होते हैं, तो श्वास–प्रक्रिया का और अधिक परिष्कार होता है। इस प्रकार, ध्यान के काल में श्वास से भाव और भाव से श्वास का सम्बन्ध बनता है।[211]

★ प्रातःकाल नंगे पैर मन्दिर जाना, जिससे भूमि के शीतल स्पर्श के साथ–साथ शुद्ध–वायु का सेवन भी हो सके।

★ भोजन के समय पेट का एक निश्चित भाग (1/6 भाग) खाली रखना, जिससे वायु का आवागमन यथोचित मात्रा में होता रहे।

★ यथावसर तीर्थयात्रा अथवा साधु–साध्वियों के समागम में पदविहार करना, जिससे शहर के प्रदूषित वातावरण से दूर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में रहने का अवसर मिल सके।

★ उद्‌गार (डकार), छींक, जम्भाई, अपान वायु के वेग को कभी भी नहीं रोकना, जिससे प्राणवायु का संचरण चलता रहे और रोगोत्पत्ति न हो।[212]

★ आवश्यकता हो तो प्राणायाम करना, लेकिन उसका लक्ष्य आत्मध्यान की पात्रता (भूमिका) का विकास करना हो। इससे मन और तन दोनों के आरोग्य की प्राप्ति हो सकती है।[213]

★ मन्दिर में धूप, चन्दन, दीपादि पूजा करना, घण्टनाद करना, जिससे आसपास का वातावरण कीटाणुमुक्त रहे और शुद्ध वायु का सेवन भी होता रहे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(4) श्रम–विश्राम–प्रबन्धन

जैनाचार्यों के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रवृत्ति (श्रम) और निवृत्ति (विश्राम) का सन्तुलन अपेक्षित है। जब यह सन्तुलन बिगड़ता है, तब बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। अतिप्रवृत्ति पागलपन की ओर ले जाती है, तो अतिनिवृत्ति निकम्मेपन की ओर।[214]

जीवन में इसीलिए श्रम एवं विश्राम के सन्दर्भ में औचित्य–अनौचित्य का विवेक जाग्रत होना जरुरी है, जिससे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक आरोग्य की प्राप्ति हो सके।

(क) श्रम – आरोग्य का सबसे बड़ा सूत्र है – श्रम। प्रत्येक अवयव को स्वस्थ रखने के लिए उचित श्रम की आवश्यकता होती है। श्रम करने से रक्त का संचार ठीक ढंग से होता है और कीटाणुओं के आक्रमण का प्रतिकार करने की क्षमता का विकास होता है।[215] जैनदर्शन में निम्नलिखित बिन्दुओं के द्वारा श्रमशीलता की प्रेरणा प्राप्त होती है –

- ★ जैन श्रमण एवं श्रमणियों के स्वावलम्बी जीवन का अनुकरण करना, जिनका प्रत्येक क्रियाकलाप स्वाश्रित होता है, जैसे – उपधि–प्रतिलेखन, उपधि–वहन, केश–लुंचन, पद–विहार, वसति–प्रमार्जन आदि।
- ★ वैयावृत्य अर्थात् सेवा–शुश्रूषा में रुचि रखना, जैसे – भोजन में परोसगारी करके खाना, वृद्ध, ग्लान आदि के हाथ–पैर दबाना (विश्रामणा करना)। कहा भी गया है – **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'**[216] अर्थात् जीवन में परस्पर सहयोग करते हुए जीना।

  लिखी हो भाल पर जो भाग्य रेखा,
  उसे क्षण–क्षण मिटाकर फिर बनाओ।
  हिमालय और गंगा से शपथ ले,
  बहो ऐसे कि सबके काम आओ।।[217]

- ★ बिना आलस्य किए शुभ अनुष्ठानों को सविधि करना, जैसे – प्रतिक्रमण, सामायिक, देवदर्शन, देवपूजन, देववन्दन, गुरुवन्दन, प्रदक्षिणा, खमासमण आदि क्रियाएँ।
- ★ सुविधा एवं विलासिता की मर्यादा करना, जैसे – वाहन, नौकर–चाकर आदि का परिमाण।[218]
- ★ नकारात्मक सोच से बचना अर्थात् निराशावादी होकर व्यसनों एवं निषिद्ध औषधियों (Sleeping Pills etc.) का सेवन नहीं करना, जिससे शरीर के स्नायुतन्त्र की सक्रियता बनी रहे।
- ★ वीर्याचार का पालन करना, जिससे जीवन–योग्य कार्यों में उत्साह, उमंग एवं उल्लास बना रहे, यह भावनात्मक सक्रियता ही शारीरिक क्रियाशीलता का रूप धारण कर लेती है। कहा भी गया है – **'रूचि अनुयायी वीर्य'**।[219]
- ★ अधिकारों की प्राप्ति को भाग्य पर छोड़ देना एवं कर्त्तव्यों के निर्वाह को पुरूषार्थ से जोड़ लेना।
- ★ अधिकाधिक स्वाश्रित होकर जीना एवं परावलम्बन का त्याग करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ख) विश्राम – शरीर रूपी यंत्र को उचित मात्रा में विश्राम देना भी आवश्यक है। जैनाचार्यों ने श्रावकोचित जीवनशैली में विश्राम सम्बन्धी अनेक निर्देश दिए हैं, जिनका पालन शरीर–प्रबन्धन के लिए अत्युपयोगी है, जैसे –

- ★ कायोत्सर्ग, ध्यान, सामायिक, माला आदि शुभ–अनुष्ठानों में चित्त को लगाना।
- ★ सांसारिक आरम्भ–समारम्भ को सीमित करना।
- ★ दिशा का परिमाण करना, जिससे जीवन में अधिक भाग–दौड़ न करनी पड़े।
- ★ अष्टमी, चतुर्दशी एवं अन्य पर्व–तिथियों में पौषध–देसावगासिक आदि करना।
- ★ अनर्थदण्ड अर्थात् निरर्थक और हानिकारक कार्यों से बचना, जैसे – सैर–सपाटे, परविवाह, पार्टी आयोजन, निन्दा आदि।
- ★ भोगोपभोग के साधनों से दूर रहना, जिनसे पहले तो आनन्द का आभास होता है और बाद में अरुचि, थकान और रोग की प्राप्ति होती है।
- ★ पर्युषण, नवपद ओली आदि पर्वों में व्यापार एवं गृह–आरम्भों का आंशिक या पूर्ण अवकाश रखना।
- ★ मानसिक विश्राम के लिए भक्ति एवं प्रार्थना करना।
- ★ वैचारिक संघर्षों अथवा उलझनों से बचने के लिए स्वाध्याय, सत्संग आदि करना।

व्यवहारभाष्य में श्रम–विश्राम के सन्तुलन का उत्तम उदाहरण मिलता है – जब आचार्य या गुरु यात्रा करने, वाचना देने अथवा निरन्तर बैठे रहने से परिक्लान्त हो जाते हैं, थक जाते हैं, तब शिष्य को चाहिए कि वह सिर से प्रारम्भ कर पैर तक उनके अंगों को मृदुता से दबाए, ऐसी विश्रामणा से गुरु के चलायमान वात, पित्त और कफ आदि दोष साम्यावस्था में आ जाते हैं, उनकी थकान दूर हो जाती है और शरीर सुदृढ़ एवं बलवान् हो जाता है तथा अर्श (बवासीर) आदि रोग भी नहीं होते।[220]

शरीर–प्रबन्धक को चाहिए कि उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वह अपनी जीवनशैली को सम्यक्तया प्रबन्धित करता जाए और असमय एवं अकारण होने वाली व्याधियों से बचे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(5) निद्रा–प्रबन्धन

जैनदर्शन में निद्रा के सन्दर्भ में दो निर्देश प्राप्त होते हैं –

	निद्रा–अवधि	निद्रा–समय
मुनि[221]	एक प्रहर	रात्रि का तृतीय प्रहर
गृहस्थ[222]	दो प्रहर	रात्रि का द्वितीय एवं तृतीय प्रहर

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैनाचार्यों ने व्यक्ति को मानसिक–शारीरिक श्रम एवं अन्य कारकों के आधार पर निद्रा की अवधि का निर्धारण करने का निर्देश दिया है। उनकी दृष्टि में, व्यक्ति को विवेकपूर्वक उचित निद्रा ही लेनी चाहिए, न आवश्यकता से अधिक और न अल्प। निद्रा का हेतु केवल श्रम–निवारण है, परन्तु वही जब शौक बन जाए, तो संयम में हानि पहुँचती है।[223]

यदि व्यक्ति अधिक निद्रा लेता है, तो उसके यह जन्म और परजन्म दोनों नष्ट हो जाते हैं। चोर, वैरी, दुर्जन, धूर्त आदि भी उस पर हमला कर सकते हैं।[224] श्रीमद्राजचन्द्र ने भी कहा है कि गृहस्थ को दो प्रहर ही निद्रा लेनी चाहिए[225] और यदि दिन में भी नींद आती है, तो प्रथमतः भक्ति आदि के अभ्यास के द्वारा उसे टालना चाहिए।[226] नीतिवाक्यामृत में भी निद्रा के सन्दर्भ में कहा गया है कि व्यक्ति को सूर्यास्त और सूर्योदय के समय नहीं सोना चाहिए,[227] जो व्यक्ति स्वस्थ रहने का इच्छुक है, उसे नियत समय ही नींद लेनी चाहिए।[228] जैनाचार्यों ने यह भी कहा है कि जो व्यक्ति अल्पनिद्रा लेते हैं, उन्हें देवता भी प्रणाम करते हैं।[229] नीतिवाक्यामृत में भी यथोचित निद्रा का लाभ बताते हुए कहा गया है कि इससे खाए हुए भोजन का पाचन सुव्यवस्थित ढंग से हो जाता है और प्रसन्नता रहती है, साथ ही शरीर भी अपने कर्त्तव्य पालन के लिए समर्थ रहता है।[230]

जिस प्रकार अधिक सोना नहीं चाहिए, उसी प्रकार अल्प निद्रा (आवश्यकता से कम) भी नहीं लेनी चाहिए। कल्याणकारक में कहा गया है – आवश्यक निद्रा आरोग्य का कारण है तथा निद्रा–भंग होने से वातादि दोषों का उद्रेक होता है।[231] व्यवहारभाष्य में भी कहा गया है कि निद्रा के अभाव में अजीर्ण रोग हो सकता है।[232]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निद्रा सम्बन्धी कतिपय नियम[233]

★ रात्रि में एक प्रहर बीतने के पश्चात् शारीरिक शिथिलता आने पर शयन के स्थान पर जाना।

★ शयन के पूर्व चैत्यवन्दन आदि करना, चौविहार आदि प्रत्याख्यान उच्चरना, पूर्वगृहीत व्रतों के परिमाण को संक्षिप्त करते हुए देसावगासिक व्रत (14 नियम) लेना।

★ चार शरण स्वीकार करना, सभी जीवराशियों को खमाना, अठारह पाप–स्थानकों का त्याग करना, सुकृत की अनुमोदना एवं दुष्कृत की गर्हा करना।

★ नवकार पाठ करके निम्न पद का तीन बार उच्चारण करते हुए सागारी अनशन ग्रहण करना।

आहार शरीर उपधि पचखुँ पाप अढार।
मर जाऊँ तो वोसिरे, जीऊँ तो आगार।।

अथवा

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्स इमाइ रयणीए।
आहार–मुवहि देहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं।।

अर्थात् रात्रि में यदि देह का त्याग हो जावे, तो देह, आहार और अन्य उपधि – इन सबका मन, वचन, काया से मैं परित्याग करता हूँ।

★ सात भयों से मुक्ति के अभिप्राय से सात बार नवकार का चिन्तन करना।

★ ब्रह्मचर्य का अधिकाधिक पालन करते हुए बाईं करवट से शयन करना।

★ विवेकपूर्वक अल्पनिद्रा लेना और उठकर सात/आठ नवकार गिनना (अष्टकर्म निवारणार्थ)।[234]

★ मन में स्त्री के शरीर की अशुचिता का चिन्तन करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(6) स्वच्छता–प्रबन्धन

जैनदर्शन में अंतरंग स्वच्छता अर्थात् चित्त की निर्मलता एवं पवित्रता हेतु बाह्य स्वच्छता के निर्देश भी दिए गए हैं, जो शरीर–प्रबन्धन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह इन निर्देशों का अपनी भूमिकानुसार पालन करे। वह इन्हें ऐन्द्रिक कामभोगों का विषय न बनाए, अपितु शरीर रूपी यंत्र की उचित देखभाल हेतु इनका उपयोग करे, जिससे यह शरीर जीवन–साध्य की पूर्त्ति का साधन बन सके। ये निर्देश इस प्रकार हैं –

- ★ जहाँ महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि एवं कीट–पतंगे आदि जीवों की उत्पत्ति अधिक होती हो, ऐसे स्थानों पर निवास नहीं करना।[235]
- ★ जहाँ शुद्ध हवा और प्रकाश मिल सके, ऐसे स्थानों पर निवास करना।[236]
- ★ मल–मूत्र आदि का उचित विसर्जन करना, जिससे सम्मूर्च्छिम जीवों एवं अन्य कीटाणुओं की उत्पत्ति न हो।[237]
- ★ श्रमणों के समान अपनी वस्तुओं को व्यवस्थित रखना, न कि अस्त–व्यस्त।[238]
- ★ जीवों की रक्षा के लिए उचित समय पर उचित प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि करते रहना।
- ★ गुटखा, पान, तम्बाकू आदि व्यसनों का सर्वथा त्याग करना।
- ★ लौकिक त्यौहारों में मर्यादित व्यवहार करना, जैसे – दीपावली में पटाखों का त्याग, होली में रंग–खेलने का त्याग आदि।
- ★ भोजन में जूठा नहीं डालना, प्रत्युत थाली धोकर पीना एवं पोंछकर रखना।
- ★ भोजन के कण नीचे नहीं गिराना।
- ★ देव–दर्शन में सात प्रकार की शुद्धियाँ रखना – काय–शुद्धि, वस्त्र–शुद्धि, द्रव्य–शुद्धि, उपकरण–शुद्धि, मुख–शुद्धि, भूमि–शुद्धि एवं मनः–शुद्धि।
- ★ अन्य जीवन व्यवहारों में भी उपर्युक्त शुद्धियों का यथोचित पालन करना।
- ★ अपशिष्ट पदार्थों को यत्र–तत्र नहीं फेंकना, अपितु निरवद्य (निर्दोष) स्थान पर जाकर विवेकपूर्वक परठना।
- ★ रासायनिक पदार्थों का विवेकपूर्वक उपयोग करना तथा यथासम्भव टालने का प्रयास करना, जैसे – कृषि में कीटनाशक का प्रयोग आदि।
- ★ परिग्रह एवं भोग की मात्रा का अल्पीकरण करना, जिससे साफ–सफाई आदि की आवश्यकता भी अल्प हो जाए।
- ★ कफ (बलगम), पित्त, वमन, लार आदि को उचित स्थान पर परठकर, उस पर राख आदि डालना, जिससे सम्मूर्च्छिम जीवों एवं अन्य कीटाणुओं की उत्पत्ति न हो।[239]
- ★ लोकप्रसिद्ध नियमों, जैसे – दातुन करना, जीभ की सफाई करना, कुल्ला करना, सर्व–स्नान एवं देश–स्नान करना आदि का यतनापूर्वक पालन करना।[240]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(7) शृंगार (साज–सज्जा)–प्रबन्धन

जैनाचार्यों ने बाह्य शृंगार की अपेक्षा अंतरंग शृंगार को ही महत्त्वपूर्ण माना है। बृहत्कल्पभाष्य में अंतरंग शृंगार के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि नारी का वास्तविक आभूषण तो उसका शील और लज्जा है, न कि बाह्य आभूषण।[241] श्रीमद्राजचन्द्र ने भी बीस वर्ष की किशोरावस्था में शृंगार एवं साज–सज्जा सम्बन्धी मर्यादाएँ निर्देशित की, जैसे – शृंगार साहित्य नहीं पढ़ूँ, सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग नहीं करूँ, उच्छृंखल वस्त्र नहीं पहनूँ, तंग वस्त्र नहीं पहनूँ, अपवित्र वस्त्र नहीं पहनूँ, वस्त्र का अभिमान नहीं करूँ, सुवासिनी साज नहीं सजूँ आदि।[242] मुनि–मर्यादा को बतलाते हुए कहा गया है कि मुनि के लिए शरीर की शोभा–विभूषा आदि करना पूर्ण निषिद्ध व अकल्पनीय है।[243]

फिर भी, यदि गृहस्थावस्था में लोक–व्यवहार के निर्वाह के लिए साज–सज्जा की आवश्यकता पड़ती हो, तो जैनाचार्यों ने मर्यादित एवं उचित वस्त्र, आभूषण, विलेपन आदि की छूट दी है, जो निम्न निर्देशों से स्पष्ट है –

- ★ साज–सज्जा में सादगी होना।
- ★ सीमित प्रसाधनों (Cosmetics) का प्रयोग करना।[244]
- ★ ब्रह्मचर्य के पालन के लिए बाधक शृंगार सामग्रियों का प्रयोग बिल्कुल नहीं करना।
- ★ देश, काल, जाति, आय एवं संस्कृति के अनुरूप साज–सज्जा करना।[245]
- ★ हिंसा से निर्मित प्रसाधनों का प्रयोग कदापि नहीं करना।
- ★ शरीर–आसक्ति बढ़े, ऐसा शृंगार नहीं करना।
- ★ शरीर की अशुचिता का सदैव चिन्तन करना।[246]

इस प्रकार, जैनाचार्यों ने कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा स्वाभाविक सौन्दर्य को ही उचित ठहराया है। मेरी दृष्टि में, शरीर–प्रबन्धक को चाहिए कि वह अपने आपको सुन्दर, सुडौल एवं चिरयुवा दिखाने के बजाए सादगीपूर्ण रीति से शरीर की शोभा–विभूषा करे। वह यह माने कि जो शरीर प्राप्त हुआ है, वह स्वयं अपने आप में अद्वितीय (Unique) है, क्योंकि किन्हीं भी दो प्राणियों का शरीर शत–प्रतिशत एक जैसा नहीं होता। अतः वह इस स्वाभाविक अद्वितीयता को ही सौन्दर्य का मापदण्ड मानकर सन्तुष्ट और प्रसन्न रहे। वह सूअर आदि पशुओं की हिंसा से निर्मित अपवित्र प्रसाधनों का उपयोग करके इस स्वाभाविक सौन्दर्य को विकृत न करे और न ही दूसरों (अभिनेता आदि) के समान दिखने की चेष्टा करे। इस प्रकार त्वचा आदि की एलर्जी, फोड़े–फुँसी आदि से बचकर अपने समय का सदुपयोग अंतरंग सद्गुणों के शृंगार में करे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(8) ब्रह्मचर्य–प्रबन्धन

जैनाचार्यों के अनुसार, आत्मा के द्वारा आत्मा (ब्रह्म) में रमण करना (चर्या) ही ब्रह्मचर्य है और यह आत्मा का मूल स्वभाव है अर्थात् करणीय कर्त्तव्य है।[247] इससे स्पष्ट है कि जैनाचार्यों की दृष्टि में मैथुनादि कामभोग असेव्य हैं। वस्तुतः, इन्द्रिय–विषयों के सेवन को आवश्यक नहीं माना जा सकता, किसी हद तक पूर्व–संस्कारों का दबाव असहनीय होने से इन्हें विवशतावश स्वीकारा जा सकता है। इसी दृष्टि से अब्रह्मचर्य की वासनाओं को सीमित करने के लिए जैनाचार्यों ने निम्नलिखित निर्देश दिए हैं –

★ पराई स्त्री यानि दूसरे की पत्नी, वाग्दत्ता, विधवा आदि के साथ अनैतिक सम्बन्धों का निषेध।[248]

★ वेश्या, कॉलगर्ल आदि कालविशेष के लिए गृहीत स्त्री के साथ भी यौन–सम्बन्धों का निषेध।[249]

★ ब्रह्मचर्य व्रत का आंशिक या पूर्ण ग्रहण।

★ ब्रह्मचर्य की नववाडों (गुप्तियों) का पालन करना[250] –

- स्त्री, पशु एवं नपुंसक के संसर्ग वाले स्थान का सेवन नहीं करना।
- स्त्री–कथा नहीं करना।
- स्त्रियों के उठने–बैठने के स्थान का सेवन नहीं करना।
- स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को नहीं देखना।
- स्निग्ध, रसदार, घी–तेल बहुल भोजन नहीं करना।
- अतिमात्रा में आहार नहीं करना।
- पूर्वकाल में किए भोगों और काम–क्रीड़ाओं का स्मरण नहीं करना।
- दीवारादि की आड़ में स्त्रियों के शब्द, गीत, रूप आदि न देखना–सुनना।
- शरीर की शोभा–विभूषादि नहीं करना।

★ बाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था में विवाह नहीं करना।

★ अन्य कुल वालों के साथ विवाह नहीं करना।

★ स्वदारा–सन्तोष करना एवं बहुविवाह से बचना। कहा भी जाता है – 'एक नारी सदा ब्रह्मचारी'।

★ पर्वतिथियों एवं तीर्थयात्रादि में ब्रह्मचर्य का पूर्णतः पालन करना।

★ मासिक–धर्म का पालन करना, उस काल में अब्रह्मचर्य सेवन नहीं करना।

★ यथायोग्य समय पर यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्णतया स्वीकारना।
(उपर्युक्त बिन्दुओं को महिलाओं के लिए भी यथायोग्य ग्रहण करना चाहिए।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(9) मनोदैहिक–प्रबन्धन

मन की वृत्तियों का स्वास्थ्य पर गहरा असर पड़ता है, इस बात की स्वीकृति आज आधुनिक शरीरशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक भी कर रहे हैं। प्राचीन शास्त्रों में कहा गया है – 'चित्त के अधीन यह धातुयुक्त शरीर होता है, चित्त की अस्वस्थता से ये धातुएँ विनाश को प्राप्त होती हैं, अतः चित्त का यत्नपूर्वक रक्षण करना चाहिए।'[251] अन्यत्र भी कहा है कि अन्दर की विशुद्धि से बाहर की शुद्धि होती है और अन्दर की अशुद्धि से बाहर में दोष उत्पन्न होते हैं।[252]

जैनाचार्यों ने सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा उन तत्त्वों को खोजा है, जिनके द्वारा चित्त की स्वस्थता की प्राप्ति की जा सकती है और परिणामतः इस अशुद्ध चित्त से उत्पन्न होने वाले मनोदैहिक रोगों से बचा जा सकता है। जैन–परम्परा में इन रोगों से बचने के लिए भक्ति, पूजा, सामायिक, कायोत्सर्ग, ध्यान आदि नानाविध अनुष्ठानों का प्रावधान है। व्यक्ति इनका यथायोग्य सेवन करके अपने क्रोध, भय, ईर्ष्या, मात्सर्य, असहिष्णुता, अधीरता आदि विकृत मनोभावों को परिष्कृत कर सकता है तथा ऐसा करता हुआ इन भावों से शरीर पर पड़ रहे कुप्रभावों से भी बच सकता है।

वस्तुतः, आहारादि से भी अधिक आवश्यक है – मन की स्वस्थता। यदि मन स्वस्थ है, तो रूखा–सूखा खाने वाला व्यक्ति भी निरामय रह सकता है। भगवान् महावीर का जीवन इस सिद्धान्त का ज्वलन्त उदाहरण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(10) अन्यकारक–प्रबन्धन

जैनाचार्यों ने स्वास्थ्य के लिए हानिकारक अन्य कारकों के निवारणार्थ भी उचित निर्देश दिए हैं, जैसे – व्यक्ति को अनावश्यक वाचाल नहीं होना, धन–सम्पत्ति और भोगसामग्री का मर्यादित सेवन करना, ज्ञानपूर्वक तप–साधना करना, समय–प्रबद्धता के साथ–साथ सहनशीलता का गुण विकसित करना, सामाजिक चेतना के साथ–साथ आध्यात्मिक चेतना का समन्वय करना इत्यादि। इससे जीवन–व्यवहार इतना प्रबन्धित हो सकता है कि अकारण रोगों को आमंत्रण न मिले।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शरीर–प्रबन्धन की असली कसौटी तो यह है कि व्यक्ति शनैः–शनैः शरीर को इस प्रकार से ढाले कि विपरीत परिस्थितियों में भी शरीर के सभी अवयव एवं तन्त्र सन्तुलित रूप से कार्य कर सकें। जैनाचार्यों ने काय–क्लेश तप के माध्यम से इसी बात को इंगित किया है। दशवैकालिकसूत्र में साधक की साधना की पराकाष्ठा को दर्शाते हुए कहा गया है[253]–

आयावयन्ति गिम्हेसु, हेमन्तेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया।।

जो साधक सुसमाधिष्ठ हो जाते हैं, वे ग्रीष्मऋतु के प्रचण्ड ताप में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्तऋतु की कड़कड़ाती ठण्ड में खुले बदन हो जाते हैं और वर्षाऋतु के रमणीय वातावरण में इन्द्रियों को संयमित करते हुए प्रतिसंलीन तप करते हैं।

इस अवस्था की ओर बढ़ने के लिए निम्नलिखित निर्देश उपयोगी हैं –

- ★ सुख–सुविधा एवं विलासिता के साधनों का अल्पातिअल्प प्रयोग करना।
- ★ व्यसनों का त्याग करना एवं किसी भी वस्तु का आदी नहीं होना।
- ★ आवश्यकताओं को शनैः–शनैः कम करते जाना।
- ★ विविध तपस्याओं का क्रमिक विकास करना।
- ★ दूसरों के दुःख को कम करने अथवा उनके सुख की वृद्धि के लिए अपने सुखों को तिलांजलि देने में सदैव तत्पर रहना।
- ★ अणुव्रतों का क्रमशः विकास करते हुए महाव्रतों तक पहुँचने का लक्ष्य रखना।
- ★ समाधिमरण के लिए मानसिक एवं शारीरिक तैयारी रखना।
- ★ अनुकूलताओं के बजाय प्रतिकूलताओं में जीने का अभ्यास करना।

=====❮❁❯=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5.5 शरीर–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष

शरीर–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्ष को जानना ही पर्याप्त नहीं है, जीवन में इसका प्रयोग करने पर ही शरीर रूपी यंत्र को उपयोगी बनाए रखा जा सकता है। चूँकि शरीर का सम्यक् प्रबन्धन करने हेतु अंतरंग में दृढ़ इच्छा–शक्ति एवं बाह्य में साधनों की अनुकूलता आवश्यक है और इन दोनों की अपनी सीमाएँ भी हैं, अतः यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही प्रयास में अपनी जीवनशैली में शत–प्रतिशत सुधार कर ले, यानि वह शरीर–प्रबन्धन के सभी आयामों पर एक साथ कार्य करे। अतः हम शरीर–प्रबन्धन के सिद्धान्तों के आधार पर पाँच स्तरों में विभाजित एक 'मॉडल' (नमूना) प्रस्तुत कर रहे हैं। जीवन–प्रबन्धक अपनी क्षमता एवं परिस्थिति का स्वयं आकलन कर इस मॉडल को आधार बनाकर उचित स्तर से प्रबन्धन–प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकता है और उत्तरोत्तर विकास करता हुआ आगे के स्तर तक पहुँच सकता है। इतना ही नहीं, वह आवश्यकतानुसार भिन्न–भिन्न आयामों (नीचे दिए गए सतरह) में भी भिन्न–भिन्न स्तरों का चुनाव करता हुआ शरीर–प्रबन्धन की प्रक्रिया को क्रियान्वित कर सकता है। यह 'मॉडल' इस प्रकार है –

(1) आहार करने का उद्देश्य

1) शरीर स्वस्थ रखने के लिए आहार करना।
2) गृहस्थोचित कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए आहार करना।
3) सामान्य धर्म–ध्यान का निर्वाह करने के लिए आहार करना।
4) विशेष धर्म–ध्यान का निर्वाह करने के लिए आहार करना।
5) अनासक्तिपूर्वक सहज आहार करना।

(2) आहार कैसा करना

1) मांसाहार, मद्यपान आदि अधिक तामसिक आहार नहीं करना।
2) अभक्ष्य आहार नहीं करना।
3) राजसिक आहार का मर्यादित प्रयोग करना।
4) सन्तुलित एवं सुपाच्य आहार करना।
5) विगइरहित सात्विक आहार करना।

(3) आहार कितनी बार करना

1) स्वविवेकपूर्वक सीमित बार आहार करना।
2) संकल्पपूर्वक सीमित बार आहार करना।
3) दिन में अधिकतम तीन बार आहार कर रात्रि में दुविहार/तिविहार के प्रत्याख्यान लेना।
4) बियासना करना।
5) एकासना या उपवास करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(4) आहार–ग्रहण कब करना (समय के आधार पर)

1) नवकारसी से आहार करना।
2) पोरिसी से आहार करना।
3) साड्ढपोरिसी से आहार करना।
4) पुरिमड्ढ से आहार करना।
5) अवड्ढ से आहार करना।

(5) आहार–त्याग कब करना (समय के आधार पर)

1) रात्रि में प्रथम प्रहर के बाद आहार का त्याग करना।
2) सूर्यास्त के पश्चात् अशन (अनाज आदि से निर्मित एवं भूख शान्त करने वाले) आहार का त्याग करना।
3) पानी को छोड़कर सभी आहार का त्याग करना।
4) रात्रि में चौविहार का प्रत्याख्यान करना।
5) रात्रि में पाणाहार का प्रत्याख्यान करना।

(6) आहार ग्रहण कब करना (परिस्थिति के आधार पर)

1) भूख लगने पर ही आहार करना।
2) उपर्युक्त के साथ–साथ दिन में नियत समय पर ही आहार करना।
3) उपर्युक्त के साथ–साथ बाहर से आने पर कुछ समय रुककर आहार करना।
4) उपर्युक्त के साथ–साथ शरीर में अजीर्ण न हो, तब आहार करना।
5) उपर्युक्त के साथ–साथ तनाव या अस्थिर मन की अवस्था से रहित होकर शान्त मन से आहार करना।

(7) आहार कहाँ करना

1) अनुचित सार्वजनिक स्थान पर आहार नहीं करना।
2) बिना छतवाले स्थान पर आहार नहीं करना।
3) घर में ही आहार करना।
4) भोजनकक्ष में बैठकर आहार करना।
5) भोजनकक्ष में भी जयणापूर्वक जीवरहित स्वच्छ स्थान पर बैठकर ही आहार करना।

(8) आहार कितना करना

1) भूख से अधिक आहार नहीं करना।
2) भूख से कम आहार करना।
3) उपर्युक्त का विवेक रखते हुए वृत्ति–संक्षेप (आहार के प्रकारों का सीमाकरण) पूर्वक आहार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करना।

4) उपर्युक्त का विवेक रखते हुए रस (आसक्तिवर्धक आहार) का परित्याग करना।
5) अनशन (उपवास) करना।

(9) आहार कैसे करना

1) जूते–चप्पल पहनकर, पलंग पर बैठकर, टी.वी. देखते–देखते, अन्धकारमय स्थान पर, अधिक हँसते–हँसते एवं बोलते–बोलते आहार नहीं करना।
2) अन्य सदस्यों को भोजन कराकर भोजन करना।
3) न अधिक धीरे और न अधिक जल्दी, किन्तु शान्त चित्त से स्वच्छ आसन पर बैठकर भोजन करना।
4) अति रसलोलुपता या आसक्ति बढ़े, इस प्रकार से भोजन नहीं करना।
5) भोजन करने के पश्चात् सोना न पड़े, किन्तु स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन आदि हो सके, इस प्रकार आहार करना।

(10) जल–प्रबन्धन

पीने में प्रयोग हेतु	अन्य प्रयोग हेतु
1) छना हुआ शुद्ध जल पीना।	छने हुए पानी का प्रयोग करना।
2) वैज्ञानिक तरीके से प्रमाणित जीवरहित एवं छना हुआ शुद्ध जल पीना।	छने हुए पानी का प्रयोग करना।
3) जैनाचार में निर्दिष्ट जीवरहित (प्रासुक) जल पीना।	जैनाचार में निर्दिष्ट जीवरहित (प्रासुक) जल का प्रयोग करना।
4) उबला हुआ जल ठंडा करके पीना।	उबले हुए पानी का प्रयोग करना।
5) दिन में एक बार भोजन करना और उसी समय पानी भी पीना (ठाम चौविहार करना)।	उबले हुए पानी का प्रयोग करना।

(11) प्राणवायु–प्रबन्धन

1) पूर्ण प्राणवायु लेना।
2) पूर्ण एवं शुद्ध प्राणवायु लेना।
3) पूर्ण, शुद्ध तथा नियमित (धीरे–धीरे एवं लम्बी) प्राणवायु लेना।
4) शुद्ध प्राणवायु के साथ विविध प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास करना।
5) पूर्ण, शुद्ध, नियमित एवं सहजतया प्राणवायु लेना।

(12) श्रम–प्रबन्धन

1) व्यसन एवं नकारात्मक सोच से बचते हुए सुविधा/विलासिता की मर्यादा करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2) अतिश्रम एवं अतिआलस्य से बचना।
3) शुभ अनुष्ठानों, जैसे – सेवा–शुश्रूषा, देवदर्शन, देवपूजन, प्रतिक्रमण आदि से जुड़ना।
4) स्वाश्रित होकर जीने का प्रयत्न करना।
5) पराश्रितता का परित्याग कर पूर्ण स्वावलम्बी जीवन जीना।

(13) विश्राम–प्रबन्धन

1) भोगोपभोग के साधनों को अल्प करना।
2) न बहुत कम और न बहुत अधिक, किन्तु आवश्यक शारीरिक/मानसिक विश्राम करना।
3) निरर्थक कार्यों (अनर्थदंड) से बचना।
4) विश्रामदायी शुभ अनुष्ठान (भक्ति, सामायिक आदि) नियमित करना।
5) स्वाध्याय, कायोत्सर्ग एवं ध्यान का निरन्तर प्रयोग करना।

(14) निद्रा–प्रबन्धन

1) न बहुत कम और न बहुत अधिक, किन्तु आवश्यक (सामान्यतया छह–सात घण्टे) निद्रा लेना।
2) दिन में निद्रा नहीं लेना।
3) रात्रि में दस बजे के आसपास सोना और सुबह चार बजे के आसपास उठना।
4) सोने के पूर्व धार्मिक आराधना करना एवं ब्रह्मचर्य का अभ्यास करना।
5) सोने के पूर्व भावों को शुद्ध करना एवं पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना।

(15) स्वच्छता–प्रबन्धन

1) गुटखा, पान, तम्बाकू आदि गन्दगी बढ़ाने वाले अनावश्यक पदार्थों का त्याग करना।
2) शारीरिक–शुद्धि रखना।
3) उपयोगी उपकरण, वस्तुएँ, निवास एवं कार्य–स्थल को व्यवस्थित एवं स्वच्छ रखना।
4) उचित स्थान (निरवद्य भूमि) पर अपशिष्ट पदार्थ (Waste Material) का विसर्जन करना।
5) जीव–रक्षा के लिए उचित प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि करते रहना।

(16) शृंगार (साज–सज्जा)–प्रबन्धन

1) हिंसा से निर्मित प्रसाधनों का प्रयोग नहीं करना।
2) शृंगार में सादगी रखना, संस्कृति के अनुकूल वस्त्र एवं आभूषण पहनना।
3) प्रसाधनों का सीमित उपयोग करना।
4) शरीर की अशुचिता का चिन्तन करना, इससे आसक्ति तोड़ने का प्रयत्न करना और विवेकपूर्वक शृंगार का त्याग करना।
5) शृंगार का पूर्ण त्याग करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(17) ब्रह्मचर्य–प्रबन्धन

1) वेश्या, कॉलगर्ल, पराई–स्त्री के साथ अनैतिक सम्बन्धों का पूर्ण निषेध करना।
2) अश्लील चित्र, चलचित्र, साहित्य, कुसंगति आदि का त्याग करना।
3) स्वदारासन्तोष करना एवं नववाड़ों का पालन करना।
4) पर्व तिथि में, तीर्थयात्रा आदि धार्मिक कार्यों में एवं मासिक–धर्म के समय ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना।
5) पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना।

इस प्रकार, उपर्युक्त मॉडल को आधार बनाकर शरीर–प्रबन्धन की प्रक्रिया को चरण–दर–चरण आगे बढ़ाया जा सकता है। इससे जीवन–लक्ष्य की प्राप्ति हेतु शरीर एक उपयोगी साधन सिद्ध हो सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5.6 निष्कर्ष

जैनदर्शन अनेकान्तमूलक है। इसमें शरीर के सम्यक् प्रबन्धन के लिए अनेकानेक निर्देश दिए गए हैं, जिनमें से शरीर सम्बन्धी दस कारकों की यहाँ चर्चा की गई है। यदि व्यक्ति इन कारकों के आधार पर अपनी जीवनशैली को अनियमितताओं से मुक्त कर सुप्रबन्धित कर ले, तो यह शरीर रूपी यंत्र अधिक कार्यकुशलता के साथ (स्वस्थ रहते हुए) अपना कार्य सम्पादित कर सकता है।

जैनाचार्यों का लक्ष्य केवल शरीर को स्वस्थ रखना ही नहीं है, अपितु शरीर रूपी नौका के द्वारा मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास करते हुए मोक्ष रूपी तट तक पहुँचना भी है। आशय यह है कि शरीर–प्रबन्धन की सार्थकता तभी है, जब शरीर की स्वस्थता रहे और शरीर का उचित प्रयोग जीवन में हो सके।

इस हेतु जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह ऐसा कोई कार्य न करे, जिससे शरीर असन्तुलित होकर अस्वस्थ बने, फिर भी शरीर यदि असन्तुलित या रुग्ण हो जाए, तो उसे कर्मादि अदृश्य शक्तियों का परिणाम मानकर समता भाव से जीने का अभ्यास करे। साथ ही जब तक शरीर कार्यशील रहे, तब तक परमकल्याण के पथ पर अग्रसर होता रहे। यह नीति ही सम्यक् जीवन–प्रबन्धन की सम्यक् दिशा है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5.7 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ. क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	क्या आप शरीर के स्वरूप को जानते हैं?		1
2)	क्या आप जीवन में शरीर को महत्त्व देते हैं?		16
3)	क्या आप शारीरिक बीमारियों एवं उनके कारणों को जानते हैं?		20
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
4)	क्या आप सात्विक आहार ही करते हैं?		37
5)	क्या आप नियत समय पर भोजन करते हैं?		47
6)	क्या आप दिन में ही भोजन–प्रक्रिया पूर्ण कर लेते हैं?		48
7)	क्या आप उचित स्थान पर भोजन करते हैं?		50
8)	क्या आप उचित मात्रा में आहार करते हैं?		50
9)	क्या आप उचित विधि से आहार करते हैं?		52
10)	क्या आप शुद्ध हवा को ग्रहण करने के लिए सुबह उठकर कुछ करते हैं?		57
11)	क्या आप श्रम–विश्राम का सन्तुलन रखते हैं?		59
12)	क्या आप उचित नींद लेते हैं?		61
13)	क्या आप मानसिक रूप से स्वस्थ रहते हैं?		66
14)	क्या आप पौष्टिक–आहार करते हैं?		41
15)	क्या आप हिताहार करते हैं?		41
16)	क्या आप ज्ञात वस्तु को ही खाते हैं?		41
17)	क्या आप असंयोजित आहार (एक से अधिक वस्तुओं को नहीं मिलाना) करते हैं?		42
18)	क्या आप अहिंसक आहार (हिंसक वृत्ति से नहीं बना हुआ) करते हैं?		42
19)	क्या आप सन्तुलित आहार करते हैं?		42
20)	क्या आप सुपथ्य आहार करते हैं?		42
21)	क्या आप मौसम–अनुकूल आहार करते हैं?		43
22)	क्या आप शरीर, नाखून एवं दाँतों को स्वच्छ रखते हैं?		63
23)	क्या आप वस्त्र को स्वच्छ रखते हैं?		63
24)	क्या आप स्थान को स्वच्छ रखते हैं?		63
25)	क्या आप ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन जीते हैं?		65
		कुल	

कुल	**0–25**	**26–50**	**51–75**	**76–100**	**101–125**
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
भविष्य में अपेक्षित प्रबन्धन	अत्यधिक	अधिक	अल्प	अल्पतर	अल्पतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 अभिधानचिन्तामणि:, 3/227–228.

2 जीवविचारप्रकरण, पृ. 95

3 कर्मग्रंथ, 1/33

4 तत्त्वार्थसूत्र, 2/10

5 वही, 6/1

6 वही, 6/2

7 कर्मग्रंथ, 1/3

8 वही, 1/23, पृ. 89–90

9 तन्दुलवैचारिकप्रकीर्णक, डॉ.सुभाष कोठारी, भूमिका, पृ. 9.

10 दृष्टार्थशारीरम्, आयुर्वेदाचार्य वैद्य प.ग आठवले, पृ. 12

11 तन्दुलवैचारिकप्रकीर्णक, डॉ.सुभाष कोठारी., पृ. 44

12 असुइ विलिविले गब्भे वसमाणो वत्थिपउलपच्छण्णो। मादू इसिभ लालाइयं तु तिव्वा सुहं पिबदि।। – मूलाचार, 72

13 भगवतीआराधना, 1001–1004

14 तंदुलवैचारिकप्रकीर्णक, डॉ.सुभाष कोठारी, पृ. 45–55

15 पुष्पपराग, मुनिजयानंदविजय, 88

16 तंदुलवैचारिकप्रकीर्णक, 64

17 वही, 108

18 सर्वार्थसिद्धि, 2/36, पृ. 139

19 पूरण गलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः – तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5/1/24, पृ. 434

20 कर्मग्रंथ, 1/34

21 तत्त्वार्थसूत्र, 2/17–18

22 अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वाम–पासेण। – ओघनिर्युक्ति, 205

23 वातं पित्तं तथा श्लेष्मा शिरा स्नायुश्च चर्म च। जठराग्नि रिति प्राज्ञैः प्रोक्ताः सप्तोपधातवः।। – गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), 1/31

24 तंदुलवैचारिकप्रकीर्णक, 143

25 वही, 109

26 सहजसुखसाधन, ब्र.सीतलप्रसाद, पृ. 43

27 शरीरसंबंधीज्ञान, केथरिन आर्मस्ट्रॉग, पृ. 39

28 अनुप्रायोगिक मानव–शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान (एम.ए. पुस्तक), पृ. 4

29 (क) शरीरसंबंधीज्ञान, केथरिन आर्मस्ट्रॉग, पृ. 39–44
(ख) अनुप्रायोगिक मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान (एम. ए.पुस्तक), पृ. 2
(ग) डॉ. रणजीत मालू एव डॉ. मनोहर भण्डारी से चर्चा के आधार पर

30 शरीरसंबंधीज्ञान, केथरिन आर्मस्ट्रॉग, पृ. 138–140

31 वही, पृ. 188

32 जीवविज्ञान (कक्षा 12), पृ. 157

33 डॉ.एम.भण्डारी से चर्चा के आधार पर

34 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/73

35 श्रीमद्देवचंद्र, वर्त्तमान चौबीसी, 8/10

36 सहजसुखसाधन, ब्र.सीतलदास, पृ. 51

37 भावप्राभृत, 37

38 मूलाचार, 33

39 शांतसुधारस, 6/1

40 ज्ञानार्णव:, 2/6/10

41 नरो वै देवानां ग्रामः – ताण्ड्य महाब्राह्मण – 6/9/2 (सूक्तित्रिवेणी, उपा.अमरमुनि, पृ. 156 से उद्धृत)

42 शांतसुधारस, 6/गेयाष्टक/7

43 दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं। – उत्तराध्ययनसूत्र, 10/4

44 भावनास्रोत, सा.सुलक्षणाश्री, 2/143

45 स्थानांगसूत्र, 4/630

46 उत्तराध्ययनसूत्र, 3/1

47 आनन्दघनपदसंग्रह, 432

48 हिन्दीसूक्ति–सन्दर्भकोश, महो.चन्द्रप्रभसागर, पृ 98

49 वही, पृ. 98

50 श्रीमद्राजचन्द्र, शिक्षापाठ 67, अमूल्यतत्वविचार 1, पृ. 109

51 मनुष्य में देवत्व का उदय, पं.श्रीरामशर्मा, पृ. 5.8

52 अमोलसूक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, 69/1

53 ज्ञानार्णव:, 2/6/9

54 उत्तराध्ययनसूत्र, 3/1

55 जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, 4/273

56 अनगारधर्मामृत, 7/9

57 स्वस्थवृत्त समुच्चयः, स्व. राजेश्वरदत्त शास्त्री, पृ. 1

58 वही, पृ. 2

59 स्थानांगसूत्र, 10/83.

60 जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, पृ. 8

61 वही, पृ. 8

62 किंची सकाय सत्थं किंची परकाया तदुभयं किंचि। एयं तु दव्व सत्थं भावे अ असंजमो सत्थ।। – आचारांगनिर्युक्ति, 96

63 आचारांगसूत्र, 1/1/7/4

64 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/71

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

65 स्थानांगसूत्र, 9/13
66 निशीथभाष्य, 4159
67 हिन्दीसूक्ति–संदर्भकोश, महो.चन्द्रप्रभसागर, पृ. 91
68 वज्जालग्गं, 8/9 (प्राकृतसूक्तिकोश, महो.चन्द्रप्रभसागर, पृ. 68 से उद्धृत)
69 काले कालं समायरे – उत्तराध्ययनसूत्र 1/31
70 निशीथभाष्य, 4159
71 उत्तराध्ययनसूत्र, 16/12–13
72 जीवनविज्ञान और स्वास्थ्य (एम.ए.पुस्तक), 1/2/9
73 वही, 1/2/13
74 वही, 1/2/11
75 वही, 1/2/12
76 वही, 1/2/13
77 वही, 1/2/14
78 आरोग्यअंक, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. 123–125
79 वही, पृ. 125
80 जीवनविज्ञान और स्वास्थ्य (एम.ए.पुस्तक), 1/2/15
81 वही, 1/2/17
82 वही, 3/12/1
83 Understanding Psychology, Robert S. Feldman, p. 457
84 श्राद्धविधिप्रकरण, 1/5, 2/10
85 महाभारत, 12/243/6
86 आचारांगसूत्र, 1/2/1/3
87 कल्याण (जीवनचर्याअंक), 2010, पृ. 419
88 वही, पृ. 420
89 वही, पृ. 415
90 वही, पृ. 415
91 निशीथभाष्य, 48
92 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/56
93 जीवनविज्ञान और स्वास्थ्य (एम.ए.पुस्तक), 5/18/3
94 भक्तपरिज्ञा, 84
95 विशेषावश्यकभाष्य, 199
96 आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, अरुणसिंह, पृ. 338
97 व्यवहारभाष्य, 1028
98 जैनधर्म में विज्ञान, डॉ. नारायणलाल कच्छारा, पृ. 121
99 स्वस्थहस्त समुच्चय, स्व. राजेश्वरदत्त शास्त्री, पृ. 2
100 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/71
101 अथ खल्वियं दैवि वीणा भवति – ऐतरेय आरण्यक, 3/2/5
(सूक्तित्रिवेणी, उपा.अमरमुनि, पृ. 188 से उद्धृत)
102 कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चलै बजावणहार।।
– कबीर ग्रंथावली, डॉ.भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ. 185
103 उत्तराध्ययनसूत्र, अ. 27
(अभिधानराजेन्द्रकोष, 2/416 से उद्धृत)
104 (क) कल्याणकारक, श्रीउग्रादित्याचार्य, 2/4
(ख) आयुर्वेद द्वारा संपूर्ण स्वास्थ्य, डॉ.गोविन्द प्रसाद उपाध्याय, पृ. 22
105 नयामानव नयाविश्व, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 104
106 वही, पृ. 104
107 व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 14/5, पृ. 388
108 ओघनिर्युक्ति, 578
109 निशीथभाष्य, 4159
110 व्यवहारभाष्य, 4356
111 अमोलसूक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, 64/14
112 प्रेक्षाध्यान (पत्रिका), जनवरी, 2007, पृ. 5
113 (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 35/17
(ख) दशवैकालिकसूत्र, 5/205
114 (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 26/33, 35
(ख) स्थानांगसूत्र, 6/41, 42
(ग) ओघनिर्युक्तिभाष्य, 290–291
(घ) मूलाचार, 478–480
115 मूलाचार, 481
116 श्रीमद्भगवद्गीता, 17/7
117 प्रेक्षाध्यान (पत्रिका), जनवरी, 2007, पृ. 29
118 वसुनन्दिश्रावकाचार, 86
119 वही, 59
120 मंसं अभेज्झ सरिसं किमिकुलभरियं दुगंधबीभत्थं।
पाएण छिवेउं जं ण तीरए तं कह भोत्तुं।।
– वही, 85
121 कल्याण, आरोग्यअंक, पृ. 404
122 शाकाहार या मांसाहार फैसला आप स्वयं करें, गोपीनाथ अग्रवाल, पृ. 34–35
123 अष्टकप्रकरणम्, 14–16
(जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 276 से उद्धृत)
124 शराब से मुक्त समाज की ओर, मे फ्लॉवर, पृ. 26–30
125 उपदेशप्रासाद, पृ. 221
126 शाकाहार या मांसाहार फैसला आप स्वयं करें, गोपीनाथ अग्रवाल, पृ. 34
127 सुश्री शिखा डांगी (डायटिशियन) से चर्चा के आधार पर
128 उपदेशप्रासाद, 2/8, पृ. 222

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

129 प्रवचनसारोद्धार, 1, पृ. 107
130 अभक्ष्य अनंतकाय विचार, प्राणलाल मेहता, पृ. 51 से उद्धृत
131 रिसर्च ऑफ डायनिंग टेबल, आ.हेमरत्नसूरि, पृ. 37–39
132 प्रेक्षाध्यान (पत्रिका), जनवरी, 2007, पृ. 22
133 वही, पृ. 22
134 उत्तराध्ययनसूत्र, 32/10
135 प्रवचनसारोद्धार, 1, पृ. 101
136 प्रेक्षाध्यान (पत्रिका), जनवरी 2007, पृ. 22
137 पंचुंबरि चउविगई हिम–विस–करगे अ सव्व–मट्टि अ।
राइ–भोयणगं चिय बहुं–बीअ अणंत–संधाणा।।
घोलवडा वायंगण अमुणिअ–नामाइं पुप्फ–फलाइं।
तुच्छ–फलं चलिअ–रस वज्जे वज्जाणि बावीसं।।
– अभक्ष्य अनंतकाय विचार, प्राणलालमेहता, पृ. 3
138 अमोलसूक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, 64/4
139 दशवैकालिकसूत्र, 9/3/4
140 प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/1/116
141 दशवैकालिकसूत्र, 5/1/129–130
142 अभक्ष्य अनंतकाय विचार, प्राणलाल मेहता, पृ. 3
143 उत्तराध्ययनसूत्र, 17/11
144 विज्ञान (कक्षा 9), पृ. 203
145 युवादृष्टि (पत्रिका), जनवरी, 2010, पृ. 32–33
146 साधना के सूत्र, मधुकरमुनि, पृ. 220
147 दशवैकालिकसूत्र, 5/1/123
148 वही, 6/22
149 श्राद्धविधिप्रकरण, पृ. 237
150 कल्याण, आरोग्यअंक, पृ. 137
151 योगशास्त्र, 3/62
152 बुभुक्षाकालो भोजनकालः – नीतिवाक्यामृत, 25/29
153 योगशास्त्र, 1/52
154 नीतिवाक्यामृत, 27/13
155 योगशास्त्र, 1/52
156 वही, 1/52
157 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 19, पृ. 148
158 कल्याणकारक, श्रीउग्रादित्याचार्य, 4/16
159 स्थानांगसूत्र, 9/13
160 दशवैकालिकसूत्र, 5/1/124
161 उत्तराध्ययनसूत्र, 26/12
162 श्राद्धविधिप्रकरण, 1/8
163 आयुर्वेदसिद्धांतरहस्य, आ.बालकृष्ण, पृ. 139
164 दशवैकालिकसूत्र, 3/2
165 विशेषावश्यकभाष्य, 1244–1245
166 दशवैकालिकसूत्र, 4/16
167 योगशास्त्र, 3/65
168 यजुर्वेद आह्निक, 24/19 (रात्रिभोजनत्याग आवश्यक क्यों?, सा. स्थितप्रज्ञा, पृ. 14 से उद्धृत)
169 रात्रिभोजनत्याग आवश्यक क्यों?, सा.स्थितप्रज्ञा, पृ. 16
170 जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 872–873
171 योगशास्त्र, 3/60
172 डॉ.एम.भण्डारी से चर्चा के आधार पर
173 सागारधर्मामृत, आशाधर, 4/24
174 रात्रिभोजनत्याग आवश्यक क्यों?, सा.स्थितप्रज्ञा, पृ. 7
175 उपासकाध्ययन, आ.ज्ञानभूषण, 9/28–29
176 सागारधर्मामृत, आशाधर, 6/20
177 वही, 6/20
178 आहार और अध्यात्म, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 15–16
179 प्रेक्षाध्यान (पत्रिका), जनवरी, 2007, पृ. 27
180 प्रवचनसारोद्धार, 1, पृ. 405
181 मूलाराधनादर्पण, पृ. 427 (वही, पृ. 545 से उद्धृत)
182 व्याख्याप्रज्ञप्ति, 7/1 (जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 545 से उद्धृत)
183 व्यवहारभाष्य, 3682 एवं 3684
184 वही, 3701–3702
185 महावीर का स्वास्थ्यशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 81–82
186 उत्तराध्ययनसूत्र, 32/11
187 निशीथभाष्य, 2951
188 थोवो हारो थोव भणिओ जो होई थोव निद्दोय।
थोवो वही उवगणणो तस्सहु देवावि पणमंति।।
– निशीथभाष्य (जैनधर्म में विज्ञान, डॉ.नारायणलाल कच्छारा, पृ. 140 से उद्धृत)
189 ओघनिर्युक्ति, 578
190 जैनधर्म में विज्ञान, डॉ.नारायणलाल कच्छारा, पृ. 141
191 गुडबॉय, प. वैराग्यरत्नविजय, पृ. 57
192 महावीर का स्वास्थ्यशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 83
193 जैनधर्म में विज्ञान, डॉ.नारायणलाल कच्छारा, पृ. 141
194 दशवैकालिकसूत्र, 5/1/118–130
195 कल्याणकारक, श्रीउग्रादित्याचार्य, 4/17
196 अष्टांगसंग्रहः, डॉ.रविदत्त त्रिपाठी, 10/26
197 आहार और अध्यात्म, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 39
198 वही, पृ. 39
199 श्राद्धविधिप्रकरण, पृ. 234–237
200 कल्याणकारक, श्रीउग्रादित्याचार्य, 4/19

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

201 अभक्ष्य अनंतकाय विचार, प्राणलाल मेहता, पृ. 25
202 आचारांगसूत्र, 1/1/3/9
203 दशवैकालिकसूत्र, 6/30
204 अभक्ष्य अनंतकाय विचार, प्राणलाल मेहता, पृ. 20
205 चलो जिनालय चले, पं. हेमरत्नविजय, पृ. 26
206 क्रियाकोष, कवि किशनसिंह, 798–800
207 कल्पसूत्र, आ.आनंदसागरसूरिजी म. सा., नौवीं वाँचना, पृ. 484
208 आयुर्वेद सिद्धांत रहस्य, आ.बालकृष्ण, पृ. 148–149
209 प्रबोधटीका, 1/115
210 प्रवचनसारोद्धार, 3/183–185
211 महावीर का स्वास्थ्यशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 71
212 प्रबोधटीका, 1/111
213 नयामानव नयाविश्व, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 111
214 जीवनविज्ञान : शिक्षा का नया आयाम, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 23
215 कैसे सोचें?, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 58
216 तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
217 हिन्दीसूक्ति–संदर्भकोश, महो.चन्द्रप्रभसागर, पृ. 19
218 बृहत्कल्पभाष्य, 825
219 श्रीमद्देवचन्द्र, वर्तमान चौबीसी, 9/6
220 व्यवहारभाष्य, 91–93
221 उत्तराध्ययनसूत्र, 26/18
222 श्राद्धविधिप्रकरण, पृ. 248
223 दशवैकालिकसूत्र, संत बालजी, पृ. 112 (दशवैकालिकसूत्र, मुनिमिश्रीमलजी, पृ. 317 से उद्धृत)
224 श्राद्धविधिप्रकरण, पृ. 249
225 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 2, पृ. 4
226 वही, पृ. 6
227 नीतिवाक्यामृत, 25/3
228 वही, 25/3
229 श्राद्धविधिप्रकरण, पृ. 249
230 नीतिवाक्यामृत, 25/21–22
231 कल्याणकारक, श्रीउग्रादित्याचार्य, 6/24
232 व्यवहारभाष्य, 3412
233 श्राद्धविधिप्रकरण, पृ. 248–253
234 वही, पृ. 31
235 योगशास्त्र, 1/50
236 वही, 1/49
(जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 235 से उद्धृत)
237 श्राद्धविधिप्रकरण, पृ. 58
238 जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 244–245
239 श्राद्धविधिप्रकरण, पृ. 60
240 वही, पृ. 57
241 बृहत्कल्पभाष्य, 4118
242 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्राक 19, पृ. 139–143
243 दशवैकालिकसूत्र, 6/63–66
244 तत्त्वार्थसूत्र, 7/16
245 योगशास्त्र, 1/48, 51
246 तत्त्वार्थसूत्र, 9/7
247 भगवतीआराधना, 872
248 बृहत्कल्पभाष्य, 940
249 वही, 940
250 स्थानांगसूत्र, 9/13
251 पुष्पपराग, मुनिजयानंदविजय, 383 से उद्धृत
252 महावीर का स्वास्थ्यशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 30
253 दशवैकालिकसूत्र, 3/12

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 6

अभिव्यक्ति प्रबन्धन

COMMUNICATION MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 6

अभिव्यक्ति–प्रबन्धन

(Communication Management)

	Page No. Chap.	Cont.
6.1 अभिव्यक्ति का स्वरूप – सांकेतिक और भाषिक अभिव्यक्ति	**1**	**305**
6.2 अभिव्यक्ति का महत्त्व	**5**	**309**
6.3 भाषिक (वाचिक) अभिव्यक्ति का विशिष्ट महत्त्व	**7**	**311**
6.4 भाषिक–अभिव्यक्ति का दुरुपयोग	**9**	**313**
6.5 असंयमित भाषिक–अभिव्यक्ति के दुष्परिणाम	**13**	**317**
6.6 जैनआचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में भाषिक–अभिव्यक्ति का प्रबन्धन	**16**	**320**
6.6.1 अभिव्यक्ति में स्याद्वाद (सापेक्षता)	16	320
6.6.2 वाणी के साथ विचारों का सम्यक् संयम	17	321
6.6.3 भाषा समिति	17	321
(1) प्रिय वचन	18	322
(2) हित वचन	20	324
(3) मित वचन	24	328
(4) निरवद्य (निर्दोष) वचन	27	331
6.6.4 जीवन में वाणी का सम्यक् प्रयोग	33	337
6.6.5 भाषा–समिति का पालन न हो पाने के अंतरंग कारण	35	339
6.6.6 वचन–गुप्ति (मौन)	38	342
6.6.7 वक्तृत्व के साथ श्रवण कला का सम्यक् समन्वय	43	347
6.7 भाषिक–अभिव्यक्ति–प्रबन्धन : प्रायोगिक–अध्ययन	**49**	**353**
6.8 निष्कर्ष	**53**	**357**
6.9 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	**54**	**358**
सन्दर्भसूची	55	359

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 6

अभिव्यक्ति–प्रबन्धन
(Communication Management)

6.1 अभिव्यक्ति का स्वरूप – सांकेतिक और भाषिक अभिव्यक्ति

6.1.1 अभिव्यक्ति का स्वरूप

प्रत्येक प्राणी अपने विचारों, सूचनाओं, भावनाओं एवं अनुभूतियों को दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करता है और इस प्रकार दूसरों को अपने ज्ञान एवं अनुभूति में सहभागी बनाता है।[1] यह पारस्परिक सहभागिता की प्रक्रिया ही अभिव्यक्ति या संप्रेषण कहलाती है। किसी भी समुदाय या समूह को एक सूत्र में पिरोने के लिए सम्प्रेषण–व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[2]

अभिव्यक्ति या संप्रेषण शब्द अंग्रेजी के Communication (कम्युनिकेशन) शब्द का हिन्दी पर्याय है। यह लेटिन शब्द 'कम्युनिस' (Communis) से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है – समान। अतः हेन एवं हेन (1978) की दृष्टि में, संप्रेषण वह प्रक्रिया है, जिसमें दो या अधिक व्यक्ति विचारों का इस प्रकार आदान–प्रदान करते हैं कि वे प्राप्त सन्देशों का अर्थ, आशय एवं उपयोगिता को समान रूप से ग्रहण कर सकें। इस प्रकार, सफल अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि सूचना देने वाला और सूचना पाने वाला विषय–वस्तु का एक–सा अर्थ बोध प्राप्त कर सके।[3]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भगवान् महावीर ने अपना उपदेश तत्कालीन जनभोग्य लोकभाषा प्राकृत में दिया, जिससे जनसामान्य को अर्थबोध सुगमता से हो सके। इसके पश्चात् जैनाचार्यों ने भी जीवों की योग्यता को आधार बनाकर उपदेश देने के विविध प्रकारों का निर्देश दिया, जैसे – संक्षिप्त–रुचि वाले जीवों के लिए संक्षिप्त उपदेश एवं विस्तार–रुचि वाले जीवों के लिए विस्तृत उपदेश देने की प्रणाली, चार अनुयोगों की प्रणाली, नय–निक्षेप पद्धति इत्यादि। इससे सहज ही जैनदर्शन में सम्प्रेषण–प्रक्रिया के प्रति जागरुकता का बोध होता है।

आधुनिक युग में अनेक विचारकों ने संप्रेषण को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है, जैसे –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ **कीथ डेविस (Keith Devis)** के अनुसार, 'सम्प्रेषण वह प्रक्रिया है, जिसमें सन्देश और समझ को एक से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाया जाता है।'[4]

★ **न्यूमेन एवं समर (Newman & Summer)** के अनुसार, 'सम्प्रेषण दो या अधिक व्यक्तियों के मध्य तथ्यों, विचारों, सम्मतियों एवं भावनाओं का विनिमय है।'[5]

★ **लुईस ए. एलन (Louis A. Allen)** के अनुसार, 'सम्प्रेषण में वे सभी चीजें शामिल हैं, जिनके माध्यम से एक व्यक्ति अपनी बात को दूसरे व्यक्ति के मन तक पहुँचाता है। वस्तुतः, यह सम्प्रेषण दो व्यक्तियों के बीच अर्थबोध करने के लिए सेतु के समान है। इसके अन्तर्गत कहने, सुनने और समझने की सतत एवं व्यवस्थित प्रक्रियाएँ सम्मिलित होती हैं।'[6]

उपर्युक्त चिन्तन से यह स्पष्ट होता है कि संप्रेषण एक सतत प्रक्रिया है, जिसमें दो या अधिक व्यक्ति अपने सन्देशों, भावनाओं, विचारों, सम्मतियों तथा तर्कों का पारस्परिक विनिमय (Exchange) करते हैं। इस प्रकार अभिव्यक्ति एक युक्ति या कला है, जिससे सूचनाओं का आदान–प्रदान होता है।[7] अब प्रश्न यह उठता है कि व्यक्ति अपनी अभिव्यक्तियों का संप्रेषण किस–किस प्रकार से करता है?

6.1.2 अभिव्यक्ति के प्रकार

विश्व के सभी प्राणी आत्माभिव्यक्ति दो प्रकार से करते हैं[8] –

(1) सांकेतिक या शारीरिक अभिव्यक्ति

(2) शाब्दिक या वाचिक (ध्वन्यात्मक) अभिव्यक्ति

(1) शारीरिक या सांकेतिक अभिव्यक्ति

यह अभिव्यक्ति शब्द या ध्वनि के बगैर शारीरिक–अवयवों, जैसे – हाथ, पैर, आँख, मुख–मुद्रा आदि की क्रियाओं का प्रयोग करके की जाती है। इसके अन्तर्गत बाह्य संकेतों, जैसे – झण्डी, डण्डा, पदक, पुरस्कार, उपहार आदि का प्रयोग भी शामिल है। अपने बच्चे को चूमती हुई माँ, खिलौने की ओर उँगली–निर्देश करता हुआ बालक, रेलवे चौकी पर लाल/हरी झण्डी बताता हुआ कर्मचारी इत्यादि सांकेतिक–अभिव्यक्ति के ही विविध रूप हैं। जैनआचारशास्त्रों में निर्दिष्ट विविध विधि–विधानों में शाब्दिक के साथ–साथ सांकेतिक–अभिव्यक्तियों के सम्यक् प्रयोग को भी बहुत महत्त्व दिया गया है, जैसे – चैत्यवन्दन, गुरुवन्दन, प्रतिक्रमण, पूजा इत्यादि की क्रियाओं में विभिन्न मुद्राओं का उपयोग। जैनाचार के अन्तर्गत समता भाव के अभ्यास के लिए निर्दिष्ट सामायिक, देशावगासिक एवं पौषधादि की क्रियाएँ प्रमुख हैं। इनमें शारीरिक शिष्टाचार को भी महत्त्व दिया गया है। सामायिक क्रिया में मन एवं वचन सम्बन्धी दस–दस दोषों के अतिरिक्त, काया के बारह दोषों के लिए भी उपासक को दोषी माना गया है, जैसे – पैर लम्बे रख कर बैठना, दीवार से पीठ टिका कर बैठना इत्यादि, क्योंकि ये उपासक की अजागरुकता, अन्यमनस्कता, अरुचि एवं अविनय को इंगित करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) शाब्दिक या वाचिक (ध्वन्यात्मक) अभिव्यक्ति

यह अभिव्यक्ति अधिक सुस्पष्ट एवं विकसित है, जो शब्द या ध्वनि का प्रयोग करके की जाती है। जैनदर्शन के अनुसार, एकेन्द्रिय जीव अभाषक होते हैं, अतः इनमें ध्वनि–संकेतों के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति असम्भव है, शेष सभी प्राणी भाषक होते हैं, वे ध्वनि संकेतों से अपनी अभिव्यक्ति करते हैं।[9] जहाँ एक ओर शारीरिक अभिव्यक्तियाँ अश्रवणीय होती हैं, वहीं दूसरी ओर ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियाँ सुनी जा सकती हैं।

ध्वनि भी दो प्रकार की होती है – भाषात्मक एवं अभाषात्मक। भाषात्मक ध्वनि मुख से उत्पन्न होती है, जबकि अभाषात्मक ध्वनि कोई भी दो वस्तुओं के आघात से उत्पन्न होती है। अभाषात्मक ध्वनि के अन्तर्गत मेघगर्जना, बाँसुरी–वादन, शंखनाद, घण्टी बजाना आदि आते हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये जड़–निमित्तक होने से 'वैस्रसज'/'स्वभावज' (Natural) भी होते हैं एवं मनुष्य–निमित्तक होने से 'प्रयोगज' (Manual) भी होते हैं। उदाहरणस्वरूप, मेघगर्जना वैस्रसज है, जबकि घण्टी का बजना प्रयोगज है।[10]

जहाँ तक ध्वनि का प्रश्न है, यह भले ही वैस्रसज और प्रयोगज – दोनों प्रकारों की होती हो, लेकिन जहाँ तक ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति का सवाल है, यह तो हमेशा प्रयोगज ही होती है। वैस्रसज ध्वनियाँ इस अध्याय की विषय–वस्तु से परे हैं।

प्रयोगज ध्वनियों में से भी अभाषात्मक की अपेक्षा भाषात्मक ध्वनि अधिक सहज एवं स्वभाविक होती है। इस भाषात्मक ध्वनि को ही हम वाणी या वचन भी कह सकते हैं और इसके प्रबन्धन–सूत्रों का प्रतिपादन करना ही इस अध्याय का प्रमुख प्रतिपाद्य है।

यह भाषात्मक ध्वनि पुनः दो प्रकार की होती है – क) अक्षरात्मक भाषा और ख) अनक्षरात्मक भाषा।[11]

अक्षरात्मक भाषा का प्रयोग अक्षर, पद एवं वाक्य के रूप में होता है और यह अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन है, परन्तु यह योग्यता भी हर प्राणी में नहीं होती। जैनाचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि भले ही एकेन्द्रिय के अतिरिक्त सभी प्राणियों में भाषाभिव्यक्ति की योग्यता होती है, लेकिन अक्षरात्मक–भाषाभिव्यक्ति की क्षमता तो सिर्फ मनुष्यों में ही होती है।

यहाँ तक कि कितने ही संज्ञी (समनस्क) पशु–पक्षियों में चिन्तन–मनन–विचार की शक्ति तो होती है, लेकिन अक्षरात्मक–भाषाभिव्यक्ति की नहीं के बराबर। वस्तुतः, किसी भी पशु–पक्षी को क्यों न लिया जाए, उसकी भाषा के शब्द बहुत सीमित हैं। वैज्ञानिकों ने परीक्षण के बाद यह पाया है कि बंदरों की भाषा में छह या सात शब्द ही होते हैं। किसी पक्षी की भाषा में तीन शब्द हैं, तो किसी की भाषा में पाँच। इसका अर्थ यह है कि पशु–पक्षियों का कोई शब्दकोश ही नहीं होता। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसने समर्थ शब्दकोश का निर्माण किया है।[12] अभिव्यक्ति की इसी शक्ति के आधार पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य ने विविध भाषाओं एवं बोलियों का विकास किया है। अतः यह सुनिश्चित है कि मनुष्य में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने की अद्वितीय, अनुपम और अतुलनीय क्षमता है। इसी से मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध होती है। अभिव्यक्ति की इस अतिविकसित क्षमता का सम्यक् दिशा में नियोजन किस प्रकार से किया जाए, इसकी चर्चा जैनाचार के आधार पर आगे की जाएगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.2 अभिव्यक्ति का महत्त्व

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सम्यक् अभिव्यक्ति ही उसके सुसंगत एवं सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन की आधारशिला है। वह समाज में जन्म लेता है, बड़ा होता है और जीवनपर्यन्त समाज में ही जीता है। अपने जीवनकाल में वह हजारों व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है और अभिव्यक्ति के माध्यम से ही वह विचारों और भावों का आदान–प्रदान कर पाता है।[13]

वर्त्तमान में सामुदायिक जीवन मुख्यतया सफल संप्रेषण–कौशल (Communication Skill) पर ही निर्भर होता जा रहा है। अपने बच्चे को चूमती हुई माँ, मोबाईल पर बातचीत करता हुआ नवयुवक, गले मिलते हुए दोस्त, हाथ फैलाता हुआ भिखारी, कक्षा में पढ़ाता हुआ अध्यापक, हाथ जोड़ता हुआ नेता, निर्देश देता हुआ अधिकारी आदि अनेकानेक प्रसंग जीवन में सम्प्रेषण की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं।[14]

डॉ. सागरमल जैन ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि किसी साधारण व्यक्ति को ऐसे स्थान पर बन्दी बना दिया जाए, जहाँ पर उसे जीवन जीने की सारी सुविधाएँ उपलब्ध हों, किन्तु वह अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति न कर सके, तो निश्चय ही उसे जीवन निःसार लगने लगेगा, सम्भव है वह कुछ समय के पश्चात् पागल होकर आत्महत्या भी कर ले।[15] इससे हम समझ सकते हैं कि हमारे जीवन में सम्प्रेषण का कितना महत्त्व है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु पशु–पक्षी भी बिना अभिव्यक्ति के नहीं जी सकते। वास्तव में दूसरों को अपनी आत्माभिव्यक्ति में सहभागी बनाना और दूसरों की आत्माभिव्यक्ति में सहभागी बनना, यह प्राणी की सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति है।[16] इस पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति को ही तत्त्वार्थसूत्र में जैनाचार्य उमास्वाति ने **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** के द्वारा स्पष्ट किया है।[17]

प्राणी–जीवन में संप्रेषण की आवश्यकता अनिवार्य है। संप्रेषण ही एकमात्र ऐसा माध्यम है, जिससे प्राणी एक–दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर सकता है। घर, दुकान, रेस्त्रां, बस–स्थानक, रेल–स्थानक, विद्यालय, अस्पताल, सब्जी बाजार आदि कोई भी स्थान क्यों न हो, हमारी आवश्यकताओं की पूर्त्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक हम अपनी सम्यक् भावाभिव्यक्ति नहीं करेंगे।[18] रोटी, कपड़ा और मकान के पश्चात् सम्यक् संप्रेषण करना जीवन की एक अतिमहत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

हमेशा से ही व्यक्ति, समाज और विश्व का अस्तित्व एवं विकास केवल स्वस्थ संप्रेषण पर ही आधारित रहा है। जिस समुदाय की संप्रेषण–प्रणाली जितनी अधिक विकसित होती है, उसकी प्रगति की गति भी उतनी ही तीव्र होती है। इसी महत्ता को समझकर आधुनिक युग में संचार–क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई है। इससे ही इस युग को '3G स्पेक्ट्रम' की संज्ञा भी दी जाती है। टेलीफोन, मोबाईल, फैक्स, ई–मेल, इंटरनेट आदि कई प्रकार के संचार–साधनों के आविष्कारों ने विश्व–सम्प्रेषण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को अतिआसान बना दिया है। वास्तव में जेट के समान तीव्र गति से दौड़ते हुए इस विश्व की भौतिक उन्नति में संचार–क्रान्ति का अहम योगदान रहा है।

यह मानना गलत होगा कि सिर्फ आधुनिक युग में ही संप्रेषण के महत्त्व को स्वीकारा गया है, क्योंकि प्राचीन जैनआचारशास्त्रों में भी संप्रेषण–संयम या संप्रेषण–विवेक पर अत्यधिक जोर दिया गया है। न केवल आध्यात्मिक जीवन, अपितु व्यावहारिक जीवन में भी इनमें निर्दिष्ट सिद्धान्तों को प्रयोग करना एक अनिवार्य कर्त्तव्य है। सम्प्रेषण–संयम हेतु जैनशास्त्रों, जैसे – आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रश्न–व्याकरण, प्रज्ञापना, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि में पर्याप्त निर्देश हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.3 भाषिक (वाचिक) अभिव्यक्ति का विशिष्ट महत्त्व

यहाँ पर यह कहना युक्तिसंगत होगा कि आज आत्माभिव्यक्ति के लिए मनुष्य के पास अनेकानेक साधन उपलब्ध हैं, फिर भी वाचिक–अभिव्यक्ति का महत्त्व विशिष्ट है। ध्वनि–संकेतों का सर्वाधिक विकसित रूप है – बोलियाँ एवं भाषाएँ। उदाहरणार्थ, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रुसी आदि भाषाएँ हैं, जबकि मालवी, छत्तीसगढ़ी, बुंदेलखण्डी, मारवाड़ी आदि बोलियाँ हैं। यद्यपि भाषा का अस्तित्व कब से है, इसका कोई स्पष्ट उत्तर तो नहीं मिलता, फिर भी इतना अवश्य है कि भाषा और बोली का विकास मानव की अतिविशिष्ट उपलब्धि है।

भाषा और बोली का विकास होने से मनुष्य जितनी स्वाभाविकता, स्पष्टता एवं सहजता से अपनी अभिव्यक्ति कर पाता है, उतनी दूसरे प्राणी नहीं कर पाते। उदाहरणस्वरूप, अन्य अनक्षरात्मक ध्वनि–संकेतों अथवा शारीरिक संकेतों से किसी वस्तु की स्वादानुभूति उतनी स्पष्टता से व्यक्त नहीं की जा सकती, जितनी शब्दप्रधान भाषा के माध्यम से।[19] अतः आचार्य दण्डी का यह कथन सार्थक है कि यदि वाणी रूपी प्रकाश संसार को प्रकाशित नहीं करता, तो तीनों लोक अंधकार में ही डूबे रहते।[20]

यह शब्दप्रधान भाषा ही है, जिसे ऑडियो उपकरणों, जैसे – कैसेट, सी.डी., हार्ड–डिस्क, पेन–ड्राइव आदि में संगृहीत करके प्रसंगानुसार प्रसारित किया जा सकता है। लिपि का आविष्कार होने से इन भाषायी अभिव्यक्तियों को लेखनीबद्ध करके सुरक्षित भी रखा जा सकता है, जो अभिव्यक्तियों के अन्य माध्यमों में सम्भव नहीं है। ज्ञातव्य है कि भगवान् ऋषभदेवजी ने लिपि–व्यवस्था का आविष्कार करके अभिव्यक्ति के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

मूलतः मनुष्य ने नियत व्यक्तियों, वस्तुओं, सूचनाओं, तथ्यों, घटनाओं, भावनाओं एवं अनुभूतियों के लिए नियत शब्द–प्रतीक अर्थात् नाम निर्धारित किए हैं। उदाहरणस्वरूप, 'पलंग' शब्द वस्तुविशेष का, 'करुणा' शब्द भावनाविशेष का, 'मीठा' शब्द स्वादविशेष का और 'दिल्ली' शब्द स्थानविशेष का बोध कराता है। इन्हीं शब्द–प्रतीकों को व्याकरण के आधार पर संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, क्रियाविशेषण आदि अंगों (Parts of Speech) में विभक्त किया गया है। इन्हीं शब्द–प्रतीकों की नियमबद्ध व्यवस्था को भाषा (Language) कहा जाता है, जो श्रोता को वक्ता के द्वारा संप्रेषणीय भावों का ज्ञान कराती है।

यद्यपि शब्दों के माध्यम से की जाने वाली यह भाषिक–अभिव्यक्ति सिर्फ सांकेतिक (Symbolic) ही होती है, फिर भी अभिव्यक्ति का इससे अधिक सुस्पष्ट, सहज, स्वाभाविक, सशक्त और सुव्यवस्थित अन्य कोई माध्यम न तो अब तक खोजा जा सका है और न खोजे जाने की कोई सम्भावना प्रतीत होती है।[21]

कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि भाषिक–अभिव्यक्ति सभी अभिव्यक्तियों का प्राण है।[22] यह व्यक्ति के व्यक्तित्व का दर्पण है। यह हमारी संस्कृति और सभ्यता की स्पष्ट परिचायक है। यूरिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लुधोविक ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'वाचिक–विकास और मानसिक–विकास एक–दूसरे पर निर्भर हैं तथा वाणी की औपचारिक शिक्षा (Formal Education) व्यक्ति की मानसिक क्षमताओं का असाधारण विकास करती है।'[23] वस्तुतः भाव और भाषा का, विचार और वाणी का एवं संकल्प और शब्द का अत्यधिक गहन सम्बन्ध है।[24]

वाणी प्राचीनकाल से ही मनुष्य की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन रही है। यह वह माध्यम है, जिससे कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों एवं समाज से सम्पर्क एवं घनिष्ठता स्थापित करने में सफल हो पाता है।[25] आचार्य विनोबा भावे के शब्दों में, 'वाणी तो संयोजक शक्ति है। वह तो अन्दर की दुनिया और बाहर की दुनिया को, आत्मज्ञान एवं विज्ञान को जोड़ने वाली कड़ी है।'[26] इसके अतिरिक्त भाषा का अपना एक लचीलापन भी होता है, क्योंकि इसमें एक ही भाव को अभिव्यक्त करने के लिए कई पर्यायवाची शब्दों का उपयोग करने की सुविधा होती है। इन शब्दों में अर्थ की दृष्टि से आंशिक समानता होने के साथ–साथ आंशिक भिन्नता भी होती है, जिससे भावाभिव्यक्ति को और अधिक सटीक, स्पष्ट एवं सुगम बनाया जा सकता है। यह भी भाषिक–अभिव्यक्ति का अपना वैशिष्ट्य है।

इस प्रकार, भाषिक–अभिव्यक्ति मनुष्य की आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक उन्नति का मूल है। इसके विशिष्ट महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही जैनआचारशास्त्रो में संयमित वचन–व्यवहार के लिए अनेक निर्देश दिए गए हैं, जिनका पालन करके व्यक्ति अपने व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक जीवन का उत्थान कर सकता है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.4 भाषिक–अभिव्यक्ति का दुरुपयोग

सामान्यतौर पर मनुष्य तीन तरह से अपनी आत्माभिव्यक्ति कर सकता है –

★ शारीरिक संकेतों के माध्यम से
★ भाषिक संकेतों के माध्यम से
★ शारीरिक एवं भाषिक दोनों संकेतों के माध्यम से

यद्यपि शारीरिक–संकेतों की तुलना में भाषिक–संकेतों का प्रभाव बहुत अधिक होता है, फिर भी यह विचारणीय है कि जिस साधन की प्रभावशीलता जितनी अधिक होती है, उसके प्रयोग में उतनी ही अधिक सावधानी रखना भी अपेक्षित है। अतीत से लेकर वर्त्तमान तक ऐसी कई घटनाएँ हुई हैं, जिनमें भाषिक–अभिव्यक्ति के थोड़े से अनुचित प्रयोग ने भी अतिविकराल दुष्परिणाम प्रकट किए हैं। उदाहरणार्थ, वचन ने ही कैकेयी के निमित्त से राम को वनवास दिलाया, तो द्रौपदी के निमित्त से महाभारत का युद्ध भी कराया।

भाषा की नकारात्मक प्रभावशीलता (Effectiveness) के आधार पर ही किसी ने कहा है[27] –

छुरी कैंची तलवार का, घाव लगा सो भरा।
लगा जख्म जबां का, वो रहता है हरा।।

वाणी की इस शक्ति को देखते हुए प्रत्येक मनुष्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अभिव्यक्ति के दुष्प्रयोगों को समझे और इनसे होने वाले दुष्परिणामों से बचे। जैनाचार्यों ने अनेक स्थानों पर वाणी के दुरुपयोग या असंयम को स्पष्ट करते हुए उनसे सावधान रहने की शिक्षा दी है।

वर्त्तमान युग में प्रचलित असंयमित वाणी–व्यवहार इस प्रकार हैं –

(1) विकथा

प्रायः यह देखने में आता है कि व्यक्ति का अधिक समय अप्रासंगिक, अनुपयोगी एवं उद्देश्यविहीन वार्ताओं में ही व्यतीत हो जाता है। कभी राजनीति की, कभी देश–विदेश की, कभी भोजन की और कभी विपरीत लिंग वाले स्त्री या पुरूष की अनावश्यक चर्चाओं में व्यक्ति अपने अमूल्य समय का अपव्यय करता रहता है। इसे ही जैनाचार्यों ने विकथा अर्थात् विपरीत वार्ता कहा है और इसका निषेध भी किया है।[28]

(2) आत्म–प्रशंसा

आज प्रायः एक अन्य वृत्ति बहुत तेजी से फैल रही है और वह है आत्म–प्रशंसा की। व्यक्ति अपने सम्मान की चाह में सर्वत्र अपने ही गुणगान करता रहता है। इसे ही जैनाचार्यों ने मान–कषाय की वृत्ति कहा है और आजकल इसे Egocentric Expression कहते हैं। जहाँ आत्म–प्रशंसा है, वहाँ परनिन्दा होती ही है। जैनाचार्यों ने इस वृत्ति का निषेध करते हुए इसे निम्नस्तरीय कर्म माना है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि उनके अनुसार, इससे नीच–गोत्र–कर्म का बन्धन होता है।[29]

(3) हास्य

कई चौराहों और चौपालों पर अथवा घरों, दुकानों एवं सामाजिक कार्यक्रमों में हँसी–मजाक होना आम बात है। यह वृत्ति दिनोंदिन बढ़ रही है। अधिकांशतया ऐसी चर्चाएँ केवल दूसरों का उपहास करने, व्यंग्य कसने, नीचा दिखाने, तिरस्कार करने, झूठा प्रेम जताने, अश्लील भावनाओं को भड़काने, दूसरों को रिझाने इत्यादि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही होती हैं। इनका स्तर कई बार अत्यन्त निम्न भी हो जाता है। फिल्मों और टी.वी. सीरियलों में सुने गए कई फूहड़ संवाद, किस्से–कहानियाँ आदि व्यक्ति याद कर लेता है और आएदिन अन्यों को सुनाता रहता है। जैनाचार्यों ने इस वृत्ति को भी असंयमित वाणी प्रयोग के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। जैनदर्शन में श्रावक के लिए इसे **'अनर्थदण्ड'** का दोष बताया गया है। अन्यत्र भी इसे **'हास्य–कषाय'** नामक दोष माना गया है।[30] यह वृत्ति व्यक्ति की गम्भीरता, सभ्यता, शिष्टता, शालीनता और मितभाषिता की विरोधी है।

(4) पाप–कथन

इसी प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व में व्याप्त भाषिक–अभिव्यक्ति के दोषों की झलक हमें उसके क्रियाकलापों में भी दृष्टिगोचर होती है। बात–बात में झूठ बोलना (मृषावाद), चिल्ला–चिल्लाकर वाचिक–विवाद करना (कलह), एक–दूसरे पर झूठा दोषारोपण करना (अभ्याख्यान), दूसरों की गोपनीय बातों को प्रकट करना अर्थात् चुगलखोरी करना (पैशुन्य), निन्दा करना (पर–परिवाद), अन्यों को ठगने की इच्छा से झूठ बोलना (माया–मृषावाद) आदि ऐसे कार्य हैं, जिनमें वाणी का दुरुपयोग होता है और जिन्हें जैनाचार्यों ने अठारह पापस्थानकों में स्थान दिया है।[31] वस्तुतः ये दोष हमारे व्यक्तित्व की ही विसंगतियाँ हैं। इनसे लोक–व्यवहार और व्यावसायिक क्रियाकलाप भी बाधित होते हैं, अतः यह अभिव्यक्ति की अकुशलता या कुप्रबन्धन है।

(5) मुखरता

भाषिक–अभिव्यक्ति के दुरुपयोग का ही एक रूप है – 'मुखरता' या 'वाचालता'। आज व्यक्ति 'खूब बोलना' अपनी एक खूबी मानता है। कहा भी गया है – बुद्धिमान् पुरुष तो सन्देह में रहता है कि कहाँ से बोलना आरम्भ करे, किन्तु मूर्ख यह नहीं जानता कि कहाँ बोलना समाप्त करे।[32] साथ ही अनादरपूर्वक, अशिष्टतापूर्वक और अहंकारपूर्वक बोलना व्यक्ति की आदत बनती जा रही है। भगवान् महावीर का यह कथन वर्त्तमान परिवेश में विशेष रूप से विचारणीय है कि **'मोहरिते सच्चवयणस्स पलिमंथू'** अर्थात् मुखरता से सत्य–वचनों का विनाश होता है।[33] वस्तुतः वाचालता, बहुत अधिक बोलना, बड़–बड़ करना, शोर–गुल करना, हल्ला–गुल्ला करना आदि समझदारी नहीं, वरन् हमारे व्यक्तित्व की बहुत बड़ी कमजोरी है। जैनाचार्यों का कथन है कि हास्यवश, लोभवश, क्रोधवश बोला गया सत्य भी असत्य ही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(6) मृषावाद

आज झूठ बोलने की वृत्ति धुन्ध के समान तीव्र गति से समाज में फैल रही है। भाई–भाई, पति–पत्नी, पिता–पुत्र, माँ–बेटी, मित्र–मित्र, गुरु–शिष्य आदि कोई भी पवित्र रिश्ता क्यों न हो, इससे अछूता नहीं है। हर व्यक्ति की प्रामाणिकता और विश्वसनीयता पर प्रश्न–चिह्न लग रहे हैं। बड़े–बड़े राजपुरूषों, अफसरों, व्यापारियों, खिलाड़ियों, विद्वानों, वैज्ञानिकों एवं विद्यार्थियों के काले–कारनामों के राज आएदिन प्रकट हो रहे हैं। इससे मानसिक शान्ति भंग होती है, सामाजिक स्थिति कमजोर होती है और जीवन कलंकित हो जाता है। अतः दशवैकालिक में सरल–सत्य जीवनशैली की सराहना करते हुए कहा गया है – **'मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहुहिं गरहिओ'** अर्थात् मृषावाद ऐसा दुष्कृत है, जिससे संसार में समस्त सज्जनों के द्वारा तिरस्कार प्राप्त होता है।[34] अतः वर्त्तमानकालीन एवं भविष्यकालीन दुष्परिणामों का विचार कर हमें झूठे वचनों के प्रयोग का दृढ़ता से खण्डन कर सत्य पर आधारित जीवनशैली अपनानी चाहिए।

कई बार हमें एक मानसिक भ्रम होता है कि असत्य अथवा असत्यमिश्रित सत्य भाषा का प्रयोग किए बिना जीवन–यात्रा आगे नहीं बढ़ सकती। कई लोगों का तो व्यवसाय ही झूठ बोलने पर निर्भर होता है। झूठ बोलना कइयों की आदत में शामिल हो जाता है। ऐसे लोग अकारण ही झूठ बोलते हैं, जैसे – आए थे किसी और काम से, किन्तु कहते हैं – 'हम तो आपसे ही मिलने आए हैं' आदि। कइयों के मुँह से झूठ अनायास ही निकल जाता है। आज झूठ का प्रचलन अत्यधिक बढ़ रहा है, फिर भी जैनाचार्यों ने सदैव सत्य का ही अनुमोदन किया है। वे दृढ़ता से कहते हैं – जीवन–यात्रा में मिलने वाली सुख–समृद्धि एवं सुविधाएँ व्यक्ति के पूर्वकृत पुण्य–पाप कर्मों का फल है, न कि चतुराई युक्त झूठे वचनों का। जब एक मूक मानव और पशु–पक्षी भी बिना झूठ बोले अपना जीवन–यापन कर सकते हैं, तो हम क्यों नहीं? जैन मुनि संयम जीवन अंगीकार करने के साथ ही सूक्ष्म से सूक्ष्म असत्य का भी आजीवन त्याग कर देते हैं, तो गृहस्थ क्यों नहीं कर सकते? प्रश्न–व्याकरण में तो सावचेत करते हुए कहा गया है कि असत्य वचन बोलने से बदनामी होती है, परस्पर वैर बढ़ता है तथा मन में संक्लेशभावों की अभिवृद्धि होती है।[35] अतः मन से कभी बुरा सोचना नहीं और वचन से कभी बुरा बोलना नहीं चाहिए।[36]

(7) अवक्तव्य वचन

मृषावाद ही कभी–कभी सत्य का रूप बनाकर भी प्रस्तुत होता है, किन्तु व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि सत्य वही सार्थक है, जो स्व–पर जीवन–उत्कर्ष के लिए हो, न कि जीवन–अपकर्ष के लिए, इसीलिए भाषा हमेशा आराधक होनी चाहिए, न कि विराधक। जो वचन कर्णकर्कश, कर्णशूल एवं हृदयविदारक हैं, मानसिक पीड़ाकारक हैं, व्यर्थ–बकवास रूप हैं, आगम–विरुद्ध हैं, प्राणियों के लिए वध–बन्धकारी, वैर–कलह–उत्पादक हैं, गुरुजनों के अवज्ञाकारक हैं, वे सर्ववचन असत्य ही हैं। प्रज्ञापनासूत्र में एक स्थान पर कहा गया है – उपयोग अर्थात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विचारपूर्वक बोली जाएँ, तो चारों प्रकार की भाषाएँ आराधक हैं और विवेकरहित होकर बोली जाएँ, तो चारों ही भाषाएँ विराधक हैं, क्योंकि इनमें प्रमाद है।[37] हमारी वाणी ऐसी होनी चाहिए, जिसमें स्व और पर दोनों का अपकर्ष न हो। आचारांग में इसीलिए एक उपयोगी निर्देश दिया गया है – **'न अत्ताणं आसाएज्जा, नो परं आसाएज्जा'** अर्थात् न अपनी अवहेलना करो, न अन्यों की। यह सिद्धान्त जीवन के प्रत्येक पहलू, विशेषतः वाणी के क्षेत्र में भी पूर्ण प्रयोज्य है।[38]

(8) माया–मृषावाद

मृषावाद का ही एक अन्य रूप **'माया–मृषावाद'** है, जो वर्त्तमान में अत्यन्त मुखर होता जा रहा है। व्यक्ति के विचार, वाणी और व्यवहार में एकरूपता नहीं दिखाई देती। 'मुख में राम, बगल में छूरी' – यह कहावत अधिकांश लोगों के जीवन में चरितार्थ होती है। चाहे नेताओं का आश्वासन हो, व्यापारी की ग्राहक के प्रति आत्मीयता की अभिव्यक्ति हो, भ्रष्ट अफसर की अन्यों के प्रति की गई शुभकामनाएँ हों अथवा चापलूस नौकर की चाटुकारितामय वाणी ही क्यों न हो, ये सब झूठ के ही रूप हैं, क्योंकि इनकी कथनी और करनी में अन्तर होता है। निशीथचूर्णिकार भी कहते हैं – **'अन्नं भासइ, अन्नं करेइ त्ति मुसावाओ'** अर्थात् 'कहना कुछ और करना कुछ', यही मृषावाद है।[39]

इस प्रकार, हम भिन्न–भिन्न तरह से अपनी अभिव्यक्ति की शक्ति का नकारात्मक प्रयोग करते हैं, लेकिन हमें यह सोचना आवश्यक है कि जो अभिव्यक्ति हम कर रहे हैं, उसका परिणाम क्या मिलेगा?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.5 असंयमित भाषिक–अभिव्यक्ति के दुष्परिणाम

अभिव्यक्ति और विशेष रूप से वाचिक–अभिव्यक्ति (वाणी) की सबसे अहम विशेषता है कि वह धनुष से छूटे हुए बाण के समान होती है, जो मुख रूपी कमान में लौटाई नहीं जा सकती। वक्ता चाहे सायास कहे अथवा अनायास, मुख से जो शब्द निकल जाते हैं, वे तो अपना प्रभाव दिखाते ही हैं। अतः किसी ने कहा भी है[40] –

बिना विचारे जो करे, सो पीछे पछताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हसाय।।

अभिव्यक्ति के मिथ्या प्रयोगों से उत्पन्न नकारात्मक प्रभाव इस प्रकार हैं –

(1) शारीरिक शक्ति का ह्रास

अधिक बोलना, बारम्बार बोलना, जोर–जोर से बोलना, चिल्ला–चिल्लाकर बोलना, बड़–बड़ करना इत्यादि ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनसे शारीरिक ऊर्जा का अत्यधिक ह्रास होता है।

(2) मानसिक क्षोभ

विचार और वाणी, भाव और भाषा एवं संकल्प और शब्द का परस्पर गहन सम्बन्ध है। यदि व्यक्ति की वाणी में कर्कशता, कठोरता, तीखापन आदि तत्त्व होते हैं, तो वे अभिव्यक्ति के पूर्व में भी और पश्चात् भी उसकी मानसिक प्रसन्नता को भंग करते हैं। उसकी सरलता, सहजता, समता, शान्ति और आनन्द के भावों को आघात लगता है। निश्चित ही वह अल्प या अधिक मात्रा में निराशा, कुण्ठा, तनाव, अवसाद (डिप्रेशन), उद्वेग और असहजता का शिकार हो जाता है, इसीलिए सन्त कबीर को भी कहना पड़ा[41] –

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय।।

(3) प्राणशक्ति का अधिक व्यय

कलहकारी अथवा विवादजनक वाणी बोलता हुआ व्यक्ति अल्प या अधिक रूप से मानसिक असन्तुलन का शिकार हुए बिना नहीं रह पाता। इससे उसके श्वास की गति असामान्य और अनियमित हो जाती है, जिसका दुष्प्रभाव उसे स्वयं ही भुगतना पड़ता है।

(4) शारीरिक रोगों को आमन्त्रण

कलह, विवाद आदि से घिरा व्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से अनेक शारीरिक रोगों को आमन्त्रित करता रहता है। अक्सर शारीरिक ऊर्जा का अपव्यय अधिक होने से उसे शारीरिक थकान (Physical Fatigue) महसूस होती रहती है। उसकी प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) कम हो जाती है। रक्तचाप एवं हृदय गति असामान्य हो जाती है। असंयमित वाणी व्यवहार के परिणामस्वरूप विविध अन्तःस्रावी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थियों से अवांछित रसायनों का उत्सर्जन (Unwanted Chemical Secretion from various glands) होता है और रक्त–कणिकाओं (Blood cells) पर कुप्रभाव भी पड़ता है।

(5) भावात्मक कमजोरियों की अभिवृद्धि

अतिवाचालता से व्यक्ति की चिन्ताएँ अनावश्यक रूप से बढ़ जाती हैं, साथ ही इससे उसकी अनेकानेक भीतरी शक्तियाँ निष्क्रिय होने लगती हैं। व्यक्ति की एकाग्रता (Concentration), विचार एवं चिन्तन–मनन की क्षमता (Indepth Contemplation), निर्णय–क्षमता (Decisiveness), स्मरण–शक्ति (Memory), आत्मविश्वास (Self confidence), निर्भीकता (Fearlessness) इत्यादि शक्तियों का कमजोर होना वाचिक क्षमता के अनावश्यक प्रयोग का ही दुष्परिणाम है।

(6) पारस्परिक सम्बन्धों को आघात

जहाँ एक ओर वाणी का सम्यक् प्रयोग व्यक्ति को सबका प्रीतिपात्र बना सकता है एवं निराश मन को उमंग और उल्लास से भर सकता है, वहीं दूसरी ओर वाणी का मिथ्या प्रयोग पारस्परिक सम्बन्धों को आघात भी पहुँचा सकता है।[42]

वाणी के दुष्प्रयोग से ही सामाजिक विघटन बढ़ता है। पारिवारिक कलह की मूल जड़ भी यही है। पति–पत्नी, भाई–बहन, पिता–पुत्र, भाई–भाई, माँ–बेटी, सास–बहू आदि कोई भी रिश्ते–नाते क्यों न हो, वाणी–व्यवहार के गिरते स्तर से इन घनिष्ठ और पवित्र सम्बन्धों में दूरियाँ बढ़ती जाती हैं। बरसों से स्थापित सम्बन्धों की इमारतें कुछ क्षणों के वाचिक आदान–प्रदान से ही ढह जाती हैं। कभी–कभी सुनने वाले को कुछ शब्द इतने तीक्ष्ण महसूस होते हैं कि वह सभी आत्मीय सम्बन्धों को भूल कर परस्पर विद्वेष के नवीन सम्बन्धों का निर्माण कर लेता है। यह विद्वेष की गाँठ जीवनपर्यन्त मन में बनी रहती है। इस प्रकार, बुजुर्ग, युवा और बालकों के बीच मधुर–संवाद का अभाव हो जाता है, परस्पर असंवाद (Communication gap) की खाई गहराती जाती है और इससे परिवार में असमन्वय की स्थिति उभरती है।

कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि सामाजिक–विघटन, संयुक्त–परिवारों का बिखराव एवं एकाकी परिवारों में द्वन्द्व का मूल कारण सम्यक् संप्रेषण का अभाव ही है।

(7) धार्मिक एवं नैतिक संस्कारों के स्तर में गिरावट

वाणी व्यक्ति के व्यक्तित्व से जुड़ा हुआ तत्त्व है। प्रायः जैसा वह सोचता है, वैसा बोलता है और जैसा बारम्बार बोलता है, वैसी ही उसकी सोच बन जाती है। यदि उसकी वाणी में अशिष्ट और असभ्य शब्दों का प्रयोग अधिक होता है, तो इसका प्रभाव कहीं न कहीं उसके संस्कारों के पतन का कारण बनता है। धीरे–धीरे उसका मेल–जोल, उठना–बैठना, खाना–पीना आदि भी अपने समान स्तर वाले लोगों के साथ बढ़ता जाता है। वह अच्छे विचारकों, बुद्धिजीवियों व सत्पुरूषों की संगति से दूर हो जाता है। यहाँ तक कि सज्जन भी ऐसे व्यक्ति से दूरी बनाए रखने में अपनी भलाई समझते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(8) एकाकीपन के कारण निराशापूर्ण स्थिति

जिन व्यक्तियों में वाग्विवेक नहीं होता, वे अक्सर सामाजिक जीवन के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ होते हैं अथवा उन सिद्धान्तों को जानकर भी अनदेखा कर देते हैं। फलतः वे अपने गलत वाग्व्यवहार के कारण पारस्परिक–सम्बन्धों को छिन्न–भिन्न कर एकाकीपन से घुटते रहते हैं।

(9) कर्मबन्धन का हेतु

जैनदर्शन के अनुसार, मन, वाणी और देह – इन तीनों की प्रवृत्ति के कारण आत्मा कर्मों के बन्धन में बन्ध जाती है। अतः वाणी का दुष्प्रयोग सिर्फ ऐहलौकिक जीवन ही नहीं, अपितु पारलौकिक जीवन का भी विनाश करता है। असंयमित वाग्व्यवहार से पाप–कर्मों का संचय होता है, जिनका अशुभ–फल कालान्तर में प्राप्त होता है। जैन–पुराणों में ऐसे कई जीवन–चरित्र वर्णित हैं, जिनमें अशुभ भावों से प्रेरित असंयमित वाणी व्यवहार के परिणामस्वरूप व्यक्ति को भीषण कर्मफल का भुगतान करना पड़ा। जैसे – श्रीपाल महाराजा ने पूर्वजन्म में एक मुनि को उपहासपूर्वक 'कोढ़ी' कहकर पुकारा था, जिससे अगले जन्म में उन्हें कोढ़ी बनना पड़ा,[43] भगवान् महावीर ने पूर्व के एक जीवन में अपने कुल का मद किया, परिणामस्वरूप अन्तिम जन्म में उन्हें सामान्य कुल में गर्भावतरण करना पड़ा इत्यादि।[44]

(10) ध्वनि–प्रदूषण (Noise Pollution)

आज सम्प्रेषण–उपकरणों, जैसे – लाउड स्पीकर, टी.वी., रेडियो, मोबाईल आदि का अतिप्रयोग होने से ध्वनि–प्रदूषण की समस्या तीव्र गति से बढ़ती ही जा रही है। इससे कई प्रकार की बीमारियाँ, जैसे – रक्तचाप, श्रवणदोष आदि घर कर रही हैं, साथ ही अंतरंग में उत्तेजना, रोष, चिड़चिड़ाहट एवं भय आदि से नकारात्मक भावों की भी अभिवृद्धि हो रही है।

वाणी के दुरुपयोगों और तज्जन्य दुष्परिणामों की उपर्युक्त चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि वाणी व्यक्ति के व्यक्तित्व का अतिसंवेदनशील पहलू है। जहाँ एक ओर यह जीवन को सजाने, सँवारने और समुन्नत बनाने में समर्थ है, वहीं दूसरी ओर जीवन को अवनति के गर्त्त में पहुँचाने में भी पूर्ण सक्षम है। इतिहास साक्षी है कि केवल एक अनुचित शब्द के कारण अनेक लोगों का रक्त बहा है। कभी–कभी प्रभावी वक्ता का एक शब्द भी पूरे समाज को झकझोर देता है। जो वाणी जीवन–यात्रा में प्रगति करने का साधन बनती है, वही जीवन–यात्रा में अवनति का कारण भी बन जाती है।[45]

अब यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन में अभिव्यक्ति–कौशल का विकास करें, जिससे अभिव्यक्ति के नकारात्मक प्रयोगों से बचाव और सकारात्मक प्रयोगों की अभिवृद्धि हो सके। यही वाणी–प्रबन्धन है और इसकी चर्चा जैनआचारशास्त्रों के आधार पर आगे की जा रही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.6 जैनआचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में भाषिक–अभिव्यक्ति का प्रबन्धन

भाषिक–अभिव्यक्ति की विशिष्ट क्षमता को प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि इस क्षमता का सन्तुलित, समन्वित और सुव्यवस्थित प्रयोग करे। वह जहाँ तक हो सके वाणी का सकारात्मक प्रयोग करे, नकारात्मक नहीं। वाणी के सम्यक् प्रयोग करने की इस कला को ही हम वाणी–कौशल अथवा वाणी–प्रबन्धन अथवा अभिव्यक्ति–प्रबन्धन कह सकते हैं।

आधुनिक युग में इस विषय की उपादेयता एवं लोकप्रियता में निरन्तर वृद्धि हो रही है, किन्तु इसमें आध्यात्मिक सूत्रों का पूर्ण अभाव है। इसीलिए अभिव्यक्ति–प्रबन्धन की जो व्याख्याएँ आज जगत् में की जा रही हैं, उनका उद्देश्य केवल बाहरी जगत् में सूचनात्मक–ज्ञान (Informative Knowledge) का आदान–प्रदान करने की कला अथवा वक्तृत्व–कला के माध्यम से श्रोताओं (Audiance) को रिझाना है। इसे ही आज व्यक्तित्व–विकास का मापदण्ड भी माना जा रहा है, जो एक बड़ी भूल है।

आध्यात्मिक–दर्शनों विशेषतया जैनदर्शन में वाणी–प्रबन्धन का उद्देश्य वाणी–विवेक का विकास करना है। इससे व्यक्ति के भीतर यह विवेक विकसित हो जाता है कि 'मैं क्या बोलूँ, किससे बोलूँ, कितना बोलूँ, क्यों बोलूँ, कब बोलूँ, किस तरह से बोलूँ' इत्यादि। वह यह विशेष ध्यान रखता है कि **'मैं अपनी भावाभिव्यक्ति इस प्रकार से करुँ कि मैं भी दुःखी न रहूँ और दूसरों को भी दुःख न पहुँचे।'** सत्यता और स्याद्वाद पर आधारित यह वाणी–प्रबन्धन वाणी का एक विशिष्ट प्रयोग है, जिससे हमारा जीवन–निर्वाह एवं जीवन–निर्माण दोनों हो सकता है।

6.6.1 अभिव्यक्ति में स्याद्वादता (सापेक्षता)

भगवान् महावीर एकान्तवाद (Onesidedness) या आग्रह बुद्धि के पक्ष में कभी नहीं रहे। उन्होंने न 'मौन' का पक्ष लिया और न ही 'अतिवाचालता' का। उन्होंने हमेशा देश, काल और परिस्थिति के आधार पर विचार करके वाग्निर्णय करने के लिए कहा है। उनका कहना है कि व्यक्ति जो कुछ बोले, पहले विचारे फिर बोले।[46] प्रत्येक साधक के लिए जीवन में दो कर्त्तव्य होते हैं – सम्पर्क (प्रवृत्ति) और साधना (निवृत्ति)। सम्पर्क के लिए भाषा का प्रयोग करना होता है, जबकि साधना के लिए भाषा का निरोध।[47] उसे अपनी भूमिकानुसार इन दोनों पक्षों का समन्वय करना आवश्यक है। हठाग्रही होकर न मौन धारण करना और न व्यर्थ बक–बक करना। वास्तव में वाणी का संयम वह है, जिसमें वाणी का सम्यक् प्रयोग हो, न कि मिथ्या प्रयोग। इस प्रकार, हमारी वाणी में सापेक्षता अवश्य होनी चाहिए और यही अभिव्यक्ति–प्रबन्धन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.6.2 वाणी के साथ विचारों का सम्यक् संयम

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट आराधना का त्रिकोण है – मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। इस त्रिकोण में से किसी को भी छोड़ा नहीं जा सकता। इनमें से एक को भी नहीं साधा, तो आराधना सफल नहीं हो सकती। यदि कोई वचन–संयम अथवा काय–संयम रखना चाहे, लेकिन मनः–संयम न रखे, तो उक्त दोनों प्रकार का संयम भी सम्भव नहीं होगा।[48]

वाणी का आधार भाव है और भाव का आधार विचार है, अतः वाणी–प्रबन्धन के लिए व्यक्ति को अपने विचारों और भावनाओं को सन्तुलित और संयमित रखना अनिवार्य है। जब तक वह अपने आवेगों और आवेशों को नियन्त्रित नहीं करेगा, तब तक भीतर के नकारात्मक विचारों का प्रवाह उसकी वाचिक एवं कायिक अभिव्यक्तियों को सम्यक् दिशा में आरूढ़ नहीं होने देगा। अतः वाणी–प्रबन्धन के लिए विचार–प्रबन्धन (Thought Management) आवश्यक है। प्रज्ञापनासूत्र में इसीलिए क्रोध, मान, माया आदि नकारात्मक भावों से उत्प्रेरित या निःसृत भाषिक–अभिव्यक्तियों का निषेध किया गया है।[49] व्यवहारभाष्य में उचित ही कहा है – पहले बुद्धि से परख कर, फिर बोलना चाहिए। अंधा व्यक्ति जिस प्रकार पथ–प्रदर्शक की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार वाणी भी बुद्धि अर्थात् सम्यक् विचारों की अपेक्षा रखती है।[50]

6.6.3 भाषा–समिति

जीवन के अनेकानेक प्रसंगों में मात्र मौन रह जाने से ही समाधान नहीं निकलता, वहाँ पर बोलना भी आवश्यक हो जाता है, किन्तु जहाँ बोलना आवश्यक लगे, वहाँ भी किस प्रकार से अभिव्यक्ति करना, इस बात को समझना भी आवश्यक है। इसे जैनदर्शन में **'भाषा–समिति'** के माध्यम से समझाया गया है। भाषा–समिति का आशय हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र के द्वारा स्पष्ट होता है[51] –

अवद्यत्यागतः सार्वजनीनं मित–भाषणम्।
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते।।

अर्थात् 'दोषों से रहित, सभी जीवों के लिए हितकारी, प्रियकारी और प्रमाणोपेत बोलना ही भाषा–समिति कहलाती है।' दूसरे शब्दों में, हित, मित, प्रिय एवं निरवद्य (निर्दोष) वचनों का प्रयोग करना ही भाषा–समिति है। संक्षेप में भाषा–समिति का अर्थ है – 'सीमा या मर्यादा में बोलना'।

इस प्रकार, आवश्यक बातें बोलना और अनावश्यक बातें नहीं बोलना ही भाषा–समिति का उद्देश्य है। यह हमें अभाषक नहीं, अल्पभाषक बनने की प्रेरणा देती है।

इससे ज्ञात होता है कि बोलने की भी अपनी सीमा होनी चाहिए, जिसका उल्लंघन करने से वाणी के दुष्परिणाम प्रकट होने लगते हैं।

आगे, जैनआचारशास्त्रों के अनुसार हित–मित–प्रिय एवं निरवद्य वचनों की चर्चा की जा रही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(1) प्रिय वचन

मधुर वचन एक प्रकार का वशीकरण मंत्र है। जो मधुर बोलता है, वह सहज ही सबका प्रिय बन जाता है। किसी कवि ने कहा भी है[52] –

प्रिय–वाक्य–प्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति मानवाः।
तस्मात् तदेव वक्तव्यं, वचने का दरिद्रता?

अर्थात् सभी मनुष्य प्रिय वचन से सन्तुष्ट रहते हैं, तो फिर मधुर वचन बोलने में दरिद्रता क्यों की जाए? प्रसिद्ध उक्ति है[53] –

काग काको धन हरे, कोयल काको देय।
मीठी वाणी बोल के, जग अपनो कर लेय।

अर्थात् न कौआ किसी का धन हरता है और न कोयल किसी को धन देती है, फिर भी कोयल मधुर बोलकर सबको अपनी ओर आकर्षित करती है और सबकी प्यारी बन जाती है, किन्तु रंग–रूप में समान होने पर भी कौआ काँव–काँव करके तिरस्कृत होता है। इस प्रकार यदि हम आकृति से सुन्दर न भी हैं, तो भी हम अपनी वाणी की मिठास से सुन्दर बन सकते हैं।

'बोलो' शब्द का किसी ने अर्थ किया है – बो + लो यानि 'बो' कर 'लो' (Sow and Reap)। यदि हम श्रेष्ठ और मीठे फल प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें सदा मीठे वचनों के ही बीज बोने चाहिए। कटु वचनों का प्रयोग करने पर कटु फल ही मिलेंगे, मीठे फल नहीं।

लौकिक कहावत भी है कि 'गुड़ न दो तो चलेगा, लेकिन गुड़ जैसा मीठा अवश्य बोलो'। किन्तु कई बार हमारे शब्द तलवार की धार से भी अधिक तीक्ष्ण होते हैं। दशवैकालिकसूत्र में साधक को सावचेत करते हुए कहा गया है – **'वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबन्धीणी महब्भयाणि'** अर्थात् वाणी के द्वारा कहे गए दुष्ट और कठोर वचन दीर्घकाल के लिए वैर और भय के कारण बन जाते हैं।[54] अतः वाणी का प्रयोग सम्यक्तया विचारकर ही करना चाहिए। आचारांगसूत्र में भी इसी बात की पुष्टि करते हुए कहा गया है – **'नो वयणं फरुसं वइज्जा'** अर्थात् कटुवचनों का प्रयोग कदापि न करो।[55] सूत्रकृतांग में इसके भयावह परिणामों के बारे में कहा गया – **'जो परिभवइ परं जणं, संसारे परिभमइ महं'** अर्थात् जो बात–बात में दूसरों को कटु सुनाते हैं, तिरस्कृत करते हैं एवं शोषित करते हैं, वे कर्मबन्धन के फलस्वरूप दीर्घकाल तक इस संसार अटवी में भटकते ही रहते हैं।[56] अतः हमें कटुक, कठोर एवं कर्कश वाणी का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

दुनिया में अलग–अलग तरह के लोग हैं। कोई मीठा बोलते हैं, तो कोई कड़वा। कोई कड़वा सच कहकर स्पष्टवादी होने का दम्भ भरते हैं, किन्तु यह उनका झूठा अहंकार ही होता है,[57] जबकि वास्तविकता में –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्म सनातनः।।

अर्थात् व्यक्ति को सिर्फ सत्य ही नहीं बोलना चाहिए, बल्कि ऐसा सत्य बोलना चाहिए, जो प्रियकारी भी हो।[58]

अधिकांश समस्याओं की शुरुआत वाणी की अशिष्टता और अभद्रता से ही होती है। व्यक्ति जितना करके नहीं बिगाड़ता है, उससे ज्यादा बोलकर बिगाड़ता है। वृंदसतसई में कहा भी है[59] –

बात कहन की रीति में, है अन्तर अधिकाय।
एक वचन तै रीस बड़े, एक वचन तै जाय।।

अर्थात् किसी एक तरीके से कहे गए वचन से जहाँ आत्मीयता और प्रेम बढ़ता है, वहीं किसी अन्य तरीके से कहे गए वचन से परस्पर रोष एवं दूरियाँ बढ़ती हैं।

जैनाचार्यों ने इसीलिए ओछे, अभद्र, असभ्य, अभिशप्त एवं अशिष्ट शब्दों के प्रयोग का दृढ़ता से निषेध किया है। सूत्रकृतांग में कहा भी गया है – **'तुमं तुमन्ति अमणुन्नं, सव्वसो तं न वत्तए'** अर्थात् तू–तू जैसे अभद्र शब्द कभी नहीं कहना चाहिए।[60]

शिष्ट व्यक्ति और शिष्ट समाज की भाषा में वाणी का विवेक होता है। उसमें अपशब्दों की बौछार नहीं होती। कुछ व्यक्ति जब आक्रोश में रहते हैं, तो गालियों की बौछार कर देते हैं। गालियों का एक छोटा सा शब्दकोश बन जाता है। इससे विपरीत कुछ लोग मीठी और भद्र भाषा का ही प्रयोग करते हैं। आ. महाप्रज्ञजी ने इसीलिए कहा है – 'कषाय की छलनी से छनकर जो भाषा बोली जाती है, वह नहीं बोलनी चाहिए, कषायमुक्त भाषा ही बोलनी चाहिए।'[61]

यह ज्ञातव्य है कि सभी भाषाओं में आदरसूचक शिष्ट शब्दों का प्रयोग करने की सुविधा होती है, अतः हमें तिरस्कार रूप अनादरसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

विपरीत एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वाणी की मधुरता, कोमलता एवं सौम्यता प्रतिरोधी के समक्ष विशिष्ट प्रभाव छोड़ती है। अतः कहा गया है[62] –

अति वा दांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैवं कुर्वीत केनचित्।।

किसी के द्वारा कही गई कटु–कठोर वाणी को सहन करना चाहिए, किसी का अपमान नहीं करना चाहिए और इस शरीर से किसी के साथ शत्रुता नहीं करनी चाहिए। यहाँ तक कि क्रुद्ध व्यक्ति के प्रति भी क्रोध नहीं करना चाहिए तथा निन्दित होने पर भी निन्दक के प्रति मधुरवाणी का ही प्रयोग करना चाहिए।[63]

अच्छी मधुर भाषा तो व्यक्तित्व की विशिष्टता की ही परिचायक है। प्रसिद्ध कहावत भी है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बोल्या के लाध्या। व्यक्ति कैसा है, यह जानने के लिए बहुत गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं है, उससे पाँच मिनट बात करने पर सहज ही पता चल जाता है।[64]

यहाँ पर मधुर वाणी का प्रयोग चापलूसी, ठगी, मायाचारी आदि दुष्कार्यों के लिए करना भी उचित नहीं है। स्थानांगसूत्र में गलत अभिप्राय वाले लोगों के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है कि जिनका हृदय तो कलुषित और दम्भयुक्त है, किन्तु वाणी से मीठा बोलते हैं, वे मनुष्य विष के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान हैं।[65] आज अधिकांश लोग, जिनकी वाणी में सरलता, सरसता और सुमधुरता का प्रदर्शन है, मौकापरस्त और स्वार्थी हैं। इनके विचार, वाणी और व्यवहार में एकरूपता नहीं होती है।

वस्तुतः, हमारी जीवनशैली मधु के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान होनी चाहिए। हमारा अन्तर्हृदय निष्पाप एवं निर्मल हो और वाणी में मधुरता हो, यही जैनाचार्यों को अभीष्ट है।[66] सूत्रकृतांगसूत्र में इसीलिए कहा गया है – साधक न तो किसी का तिरस्कार करते हुए तुच्छ और हल्की भाषा का प्रयोग करे और न ही किसी की झूठी प्रशंसा करे।[67] आशय यह है कि न तो कटु शब्द कहे और न ही दिखावटी मधुरता जताए।

भले ही व्यक्ति प्रकाण्ड विद्वान् ही क्यों न हो अथवा किसी विषय का कितना ही मर्मज्ञ भी क्यों न हो, लेकिन उसकी वाणी में अल्पज्ञों और मूर्खों के प्रति भी उपहास, व्यंग्य और कटुता की अभिव्यक्ति नहीं होनी चाहिए। बृहद्कल्पभाष्य में स्पष्ट कहा गया है, "जिस प्रकार जहरीले काँटों वाली लता से लिपटा होने पर अमृत–वृक्ष का कोई आश्रय नहीं लेता, उसी प्रकार दूसरों का तिरस्कार करने एवं दुर्वचन कहने वाले विद्वानों को भी कोई सम्मान नहीं देता।"[68]

सार रूप में कहा जा सकता है कि मधुर वाणी व्यक्ति के व्यक्तित्व का आभूषण है। यह जीवन के सौन्दर्य को निखार देती है। इससे व्यक्तित्व की कई प्रकार की कमियाँ स्वतः ढँक जाती हैं। यह जख्मी दिलों के लिए मरहम–पट्टी का कार्य करती है।[69] जिसकी वाणी में दूसरों के लिए आदर है, प्रशंसा है और नम्रता है, वह सहज ही दूसरों के दिलों पर राज करता है। ऋषिभाषित में भी कहा गया है – जो सदा सुवचन बोलता है, वह समय पर बरसने वाले मेघ की तरह सदा प्रशंसनीय और जनप्रिय होता है।[70]

(2) हित वचन

प्रिय वचनों के साथ–साथ हित वचनों का समावेश करना भी अत्यावश्यक है। कोई वचन प्रिय तो है, किन्तु हितकर नहीं है, तो उन प्रिय वचनों से भी कोई लाभ नहीं है। दशवैकालिकसूत्र में इसीलिए कहा गया है कि बुद्धिमानों को ऐसी भाषा ही बोलनी चाहिए, जो प्रियकारी भी हो और हितकारी भी।[71]

आज विडम्बना यह है कि व्यक्ति के वचनों में मौकापरस्ती, चापलूसी, स्वार्थपरकता और शठता के भाव विद्यमान हैं और यह एक सामान्य सामाजिक व्यवहार बनता जा रहा है। कई लोगों के बारे में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा जाता है – **'मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे, हृदये तु हलाहलम्'**[72] अर्थात् उनकी जीभ पर तो शहद होता है, किन्तु मन में जहर। आशय यह है कि वे मीठा बोलकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं। किन्तु जैनाचार्यों ने इस वृत्ति का पूर्ण निषेध किया है। व्यक्ति की अभिव्यक्ति ऐसी होनी चाहिए, जिससे सबका हित सधे। उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा है कि हमें सदैव हितकारी वचन ही बोलना चाहिए।[73]

वाणी में **हिंसक शब्दों का प्रयोग** होना इस बात को इंगित करता है कि हमारी वाणी दूसरों के लिए हितकर नहीं है। जैन–परम्परा में वाणी की अहिंसकता पर विशेष बल दिया है। आज भी जैन उपासक फलादि के लिए 'काटो', 'छिलो' या 'विदारण करो' जैसे अहितकर शब्दों का प्रयोग नहीं करते हुए 'सुधारो' शब्द का प्रयोग ही करते हैं। 'हे बहु! आप सब्जी सुधार लो', जैसे वाक्य दूसरे प्राणियों की हिंसा के प्रति हमारे हृदय की कोमलता और सहानुभूति के परिचायक हैं। इसी प्रकार 'सफाई करो', 'पौंछा लगा दो' आदि के स्थान पर 'प्रमार्जन कर दो', जैसे वाक्यांशों का प्रयोग किया जाता है, जो पुनः अन्य जीवनरूपों के प्रति हितकारी भावों की अभिव्यक्ति का एक रूप है। यह ज्ञातव्य है कि बंगाली नारियाँ भी आंगन की सफाई के लिए कहती है – **'आमि पोरिष्कृत करबे'**। इसी प्रकार जैन–संस्कृति में 'उपयोग रखो', 'जयणा करो' आदि वाक्यांश भी हितकर भाषा के उदाहरण हैं। यदि पिता कहते हैं – 'हे पुत्र ! खिड़की की जयणा करो', तो इसका अर्थ यह हुआ कि 'हे पुत्र ! किसी जीव की हिंसा न हो, इस प्रकार से विवेकपूर्वक खिड़की बन्द कर दो।' इतना अर्थ–गाम्भीर्य 'हे पुत्र ! खिड़की बन्द कर दो', जैसे वाक्य में नहीं झलकता। अतः कहना होगा कि जैनाचार्यों ने हितकर वचनों के प्रयोग पर विशेष जोर दिया है। इनका जीवन में अनुपालन करना प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक का अनिवार्य कर्त्तव्य है।

शिष्ट, सौम्य एवं प्रसन्नचित्त रहना तो उचित है, किन्तु **हास्य, व्यंग्य एवं मजाक उड़ाना** घोर अनुचित कार्य है। इससे शत्रु तो मित्र नहीं बनते, किन्तु मित्र को शत्रु बनते देर नहीं लगती। 'सेंस ऑफ ह्यूमर' होना (प्रसंगानुकूल सभ्य विनोद करना अथवा किसी के विनोद को समझना) अलग बात है और किसी की हँसी उड़ाना अलग बात है।[74] द्रौपदी के ये वचन कि 'अन्धे के पुत्र अन्धे ही होते हैं', महाभारत के युद्ध का प्रमुख कारण बना। अतः ऐसी अहितकर वाणी का प्रयोग भी क्यों करना? विटगिन्सटाइन कहते हैं – "There are remarks that sow and remarks that reap" अर्थात् 'टिप्पणियाँ ही बोती हैं अर्थात् जोड़ती हैं और टिप्पणियाँ ही काटती हैं।'[75] सूत्रकृतांग में इसीलिए सावचेत किया गया है – **'णातिवेलं हसे'** अर्थात् असमय में नहीं हँसना चाहिए।[76] यह बुद्धिमान् पुरूषों की विशिष्ट पहचान होती है कि वे किसी का भी उपहास नहीं करते।[77] जैनाचार्यों के अनुसार तो हास्य करना, मनोरंजन करना, मखौल उड़ाना, गप्पेबाजी करना, चुटकुले सुनाना आदि ऐसे कार्य हैं, जो दूसरों को निराश करते हैं और स्वयं के कर्मबन्धन के कारण भी होते हैं। अतः इन्हें काषायिक वृत्ति एवं स्व–पर अहितकारी कार्य जानकर नहीं करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निन्दा करना, झूठा दोषारोपण करना, कान भरना, कलह करना आदि वचनों के प्रयोग भी स्व और पर के लिए अहितकर हैं, इनका भी जैनाचार्यों ने स्पष्ट निषेध किया है। **निन्दा (पर–परिवाद)** करने से समय और सामर्थ्य का दुरुपयोग तो होता ही है, साथ ही हम विचारों के जाल में फँसते चले जाते हैं। हमारे निषेधात्मक भावों, जैसे – क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि और अधिक गाढ़ हो जाते हैं। इनसे हमारा चित्त अशान्त, अस्थिर और अधीर हो उठता है। इतना ही नहीं, वर्त्तमान में अशान्ति के साथ–साथ हम भविष्य के लिए दुःखदायी पाप कर्मों का संचय भी कर बैठते हैं। जिसकी निन्दा की जाती है, उसका कार्य भले ही निन्दनीय हो, लेकिन निन्दा करना स्वयमेव निन्दनीय कृत्य है। यह हमारी दुर्बलता एवं हीनभावना का परिचायक है। इसमें कहीं न कहीं आत्म–प्रशंसा के भाव भी निहित होते हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र में निन्दा को असत्य के समकक्ष बताया गया है।[78] सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्ट कहा है कि 'हे जीव! दूसरों की निन्दा करना किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं है।'[79] कहा भी गया है – 'जो दूसरों की निन्दा करके अपने को गुणवान् स्थापित करना चाहता है, वह व्यक्ति दूसरों को कड़वी औषधि पिलाकर स्वयं निरोगी होने की इच्छा रखता है, जो असम्भव है।'[80] सार रूप में कहना होगा कि निन्दा करना अहितकर है, दुष्कृत्य है, अतः निन्दा नहीं करनी चाहिए।

अभ्याख्यान अर्थात् झूठा दोषारोपण करना भी अहितकर भाषा का ही एक रूप है। इसमें अपने दोषों को छिपाने के भाव और दूसरों के अपलाभ एवं अपमान करने के भावों की प्रधानता होती है। जब भावों में कठोरता और कुटिलता होती है, तब अभिव्यक्ति में शिकायत और दोषारोपण की वृत्ति प्रखर हो उठती है। जैनाचार्यों ने इसे 'अभ्याख्यान' कहा है और इसको अधर्म एवं अकरणीय कार्यों के अन्तर्गत शामिल किया है। उत्तराध्ययनसूत्र में सभ्य, शिष्ट और सुशिक्षितों के लिए कहा गया है कि वे किसी पर दोषारोपण नहीं करते। यहाँ तक कि मतभेद होने पर भी परोक्ष रूप से दूसरों की भलाई की ही बात करते हैं।[81] वस्तुतः यही सकारात्मक पद्धति है, इससे मतभिन्नता भी मतैकता में बदल जाती है और चित्त में व्यग्रता के स्थान पर शान्ति छा जाती है।

जैनाचार्यों ने **पैशुन्य** अर्थात् चुगलखोरी करने की वृत्ति को भी अहितकर एवं अनुचित कहा है। सूत्रकृतांग में कहा गया है – **'जं छन्नं तं न वत्तव्वं'** अर्थात् किसी की भी गुप्त बात को प्रकट नहीं करना चाहिए।[82] आजकल दूसरों की गुप्त अर्थात् रहस्यमय बातों को उजागर करने की वृत्ति बढ़ती जा रही है। साथ ही श्रोता को भी ऐसी बातें सुनने में रस आता है। व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति को निन्दा, आलोचना और अपयश का भय रहता है, इससे बचने के लिए वह अपनी गुप्त बातें छिपाकर रखने का प्रयास करता है। यह जरुरी नहीं कि ये गुप्त बातें हमेशा बड़े दुराचारों की ही द्योतक हों, अपितु कई बार यह खाने–पीने, सोने–उठने या घूमने–फिरने आदि की किसी विचित्र आदत से सम्बन्धित भी होती हैं। चूँकि व्यक्ति अपनी छवि खराब नहीं करना चाहता, अतः वह अपनी या अपने परिवार की या अपने कुटुम्ब की कितनी ही बातों को छिपाता है। परन्तु एक का छिपाया हुआ सत्य, दूसरा जान ही न सके, ऐसा सम्भव नहीं है। जाने–अनजाने में दूसरों की नजर उस पर पड़ ही जाती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है और भेद खुल जाता है। कई बार तो व्यक्ति के हाव–भाव एवं व्यवहार से भी यह प्रकट हो जाता है। बहुत–सी बार दूसरों से सहानुभूति या मदद प्राप्त करने के लिए भी व्यक्ति अपनी गुप्त बातें दूसरों के समक्ष प्रकट करता है। ऐसी दशा में भगवान् महावीर का स्पष्ट निर्देश है कि ऐसी गोपनीय बातें दूसरों को कहकर सुज्ञ व्यक्तियों को कान भरने का पाप नहीं करना चाहिए।[83] दशवैकालिकसूत्र में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि पीठ पीछे किसी की बुराई करना पीठ का मांस नोंचने के समान है।[84] अन्यत्र भी समझाते हुए कहा गया है कि 'कानों से बहुत–सी बातें सुनने को और आँखों से बहुत–सी बातें देखने को मिलती हैं, किन्तु देखी–सुनी सभी बातें लोगों को कहना कतई उचित नहीं है।'[85]

आज **पारस्परिक–कलह** की वृत्ति भी एक चिन्तनीय विषय है। दो या अधिक व्यक्तियों की मतभिन्नता जब अपनी सीमा का उल्लंघन कर देती है, तो परस्पर अशिष्ट, असभ्य एवं अभिशप्त वचनों का आदान–प्रदान प्रारम्भ हो जाता है। यह वाचिक आदान–प्रदान ही 'कलह' कहलाता है। आज परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में सर्वत्र ही कलह का वातावरण छाया रहता है। प्रायः देखा जाता है कि थोड़े समय का कलह भी लम्बे समय तक व्यक्ति, परिवार और समाज के भावात्मक वायुमण्डल को विषाक्त बना देता है। इससे व्यक्ति कभी–कभी मानसिक और शारीरिक रोगों से ग्रस्त भी हो जाता है। सम्बन्धों का विच्छेद और संगठनों का विघटन होना, इन्हीं कलहों का दुष्परिणाम है। आज परिवार बिखर रहा है, समाज टूट रहा है और देश विभक्त हो रहा है – इसका प्रारम्भिक बिन्दु पारस्परिक कलह ही है। किन्तु जैनदृष्टि से यह कलहकारी प्रवृत्ति भी निषिद्ध है। जैनाचार्यों ने इसे स्व–पर दोनों के लिए अहितकर माना है।

जैनाचार्यों ने इसका सरल, सटीक और समुचित समाधान भी दिया है और यह है – मताग्रही, कदाग्रही और दुराग्रही वृत्ति का त्याग करना। 'मेरा मत ही सच्चा है, शेष सब मिथ्या है' – यह अहंकारयुक्त सोच कलहोत्पादक है, त्याज्य है। सूत्रकृतांग में स्पष्ट कहा है – 'जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरों के मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं, वे दुराग्रही संसार में भटकते रहते हैं।'[86] यदि व्यक्ति स्याद्वाद का आश्रय लेकर परस्पर बोले, तो कलह उत्पन्न ही नहीं होगा। वहाँ विवाद नहीं, बल्कि स्वस्थ संवाद होगा, कलह नहीं, बल्कि अतुलनीय प्रेम होगा एवं खिन्नता नहीं, बल्कि अपूर्व प्रसन्नता छा जाएगी। इसके लिए आवश्यक है कि हम एक–दूसरे के दृष्टिकोण को समझें और सदा स्याद्वाद से युक्त वचनों का ही प्रयोग करें।[87] सूत्रकृतांग में बुद्धिमान् व्यक्ति की विशिष्टता दर्शाते हुए कहा गया है कि 'वह कभी किसी से कलह नहीं करता, क्योंकि कलह से बहुत हानि होती है।'[88] अतः वाचिक–विवाद से बचना चाहिए। आचारांग में कहा गया है कि 'कुछ लोग मामूली कहा–सुनी होने पर क्षुब्ध हो जाते हैं',[89] परन्तु यह उचित नहीं है। वस्तुतः, यह शक्य नहीं है कि हम कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने ही नहीं, अतः हमें चाहिए कि हम शब्दों का नहीं, अपितु शब्दों के प्रतिकार या प्रतिशोध रुप में जन्म लेने वाले राग–द्वेष का त्याग कर दें।[90] दुर्वचन सुनने पर भी हम न जलें अर्थात् क्रोध न करें।[91] हमें ध्यान रखना चाहिए कि हम विग्रह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ाने वाली बातें नहीं करें।[92] आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं – 'सज्जन पुरूष, दुर्जनों के निष्ठुर और कठोर वचनों को भी समभावपूर्वक सहन कर लेते हैं। यही कलह रूपी अग्नि को बुझाने का एकमात्र उपाय है।'[93]

सार रूप में कहा जा सकता है कि व्यक्ति को स्व–पर हितकारी वचनों का ही प्रयोग करना चाहिए।

(3) मित वचन

जो बोलने की कला नहीं जानता, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। बोलने की कला का ही एक महत्त्वपूर्ण पहलू है – मित वचन अर्थात् कम बोलना। जो योग्य व्यक्ति होते हैं, वे प्रायः कम, लेकिन समुचित बोलते हैं, जबकि अज्ञ और मूर्खजन अधिक और अर्थहीन बोलते हैं। कहा भी गया है – **'विद्याविहीनाः बहुभाषकाः स्युः।'**[94]

व्यक्ति के पास सुनने के लिए दो कान और बोलने के लिए एक ही जीभ है। इसका संकेत यही है कि सुनो ज्यादा और बोलो कम।[95] वस्तुतः, मुखरता आदमी को छोटा बना देती है। यह उसकी समझदारी की नहीं, अपितु नासमझी की परिचायक है। स्थानांगसूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि **'मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमन्थू'** अर्थात् मुखरता से सत्य का ही विनाश हो जाता है।[96] सूत्रकृतांगसूत्र में इसीलिए कहा गया है – **'निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा'** अर्थात् थोड़े में कही जाने योग्य बात को व्यर्थ ही लम्बी न करें।[97]

मित भाषण मानव का महान् गुण है। जब काम की बात कम शब्दों में ही कही जा सकती है, तो बहुमूल्य शब्द–सम्पदा को व्यर्थ की बातों में खोने से क्या फायदा? मेडीकल परीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि बोलने की क्रिया में शारीरिक ऊर्जा का बड़ी मात्रा में व्यय हो जाता है। आवश्यकता से अधिक बोलने से बौद्धिक ऊर्जा का भी ह्रास होता है। कहा भी गया है – जिस प्रकार घनी पत्तियों वाले पेड़ में फल कम लगते हैं, उसी प्रकार अधिक बकवास करने वाले में बुद्धि का अभाव हो जाता है।[98] अतः सूत्रकृतांग का यह कथन सार्थक सिद्ध होता है कि व्यक्ति को मर्यादा से अधिक नहीं बोलना चाहिए।[99]

मितभाषिता एक महान् कला है, क्योंकि अधिक बोलना महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, महत्त्वपूर्ण है – सारगर्भित बोलना। अब्राहम लिंकन का एक प्रसंग प्रसिद्ध है। किसी ने उनसे पूछा – "आप इतना अच्छा भाषण देते हैं, इसके लिए कितनी तैयारी करते हैं?" लिंकन ने कहा – "यह भाषण पर निर्भर है। यदि पंद्रह मिनट बोलना है, तो दो दिन चाहिए और यदि पाँच मिनट बोलना है, तो उसके लिए लम्बी तैयारी चाहिए। यदि दो घण्टे बोलना हो, तो अभी बोल सकता हूँ, उसके लिए कोई तैयारी नहीं चाहिए।" कम बोलने अर्थात् सारभूत और तथ्यपरक बोलने के लिए गहरी विचारणा अपेक्षित है। सूत्रकृतांग में इसीलिए सारगर्भित निर्देश दिया गया है[100] – '**अणुवियि वियागरे**' अर्थात् जो कुछ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बोलें, पहले विचारें, फिर बोलें (Think before you speak)। वस्तुतः, सारभूत बात को संक्षेप में कहने के लिए सारे कचरे हटाकर हीरा चुनना होता है।[101]

मितभाषी होने से व्यक्ति उचित समय पर उचित कार्य का निष्पादन कर सकता है, किन्तु जो व्यक्ति बहुत बातूनी होते हैं, वे हर समय, हर जगह और हर प्रसंग में भाषा के पुद्गलों को बिखेरते ही रहते हैं। सार्थक–निरर्थक का उन्हें भान तक नहीं रहता और इससे उनका कोई भी कार्य समयानुसार सम्पादित नहीं हो पाता। आचार्य तुलसी ने संस्कार बोध में कहा भी है[102] –

व्यर्थ बात में क्यों कभी, करें समय बरबाद।
बातेरी की बिगड़ती, रखें सूत्र यह याद।।

वाचाल व्यक्ति प्रारम्भ में अच्छे संगी–साथी एकत्र तो कर लेता है और जहाँ–तहाँ खूब प्रशंसा भी प्राप्त कर लेता है, लेकिन समय के साथ–साथ उसके संगी–साथी उसे समझ जाते हैं, तब वे जरुरत और स्वार्थ की पूर्त्ति हेतु उसके साथ रहते हैं और फिर दूर चले जाते हैं। वाचाल व्यक्तियों की समाज में दशा का व्यंग्यात्मक चित्रण करते हुए एक चीनी लेखक चुआंगत्से ने कहा है कि "A dog is not considered a good dog, because he is a good barker" अर्थात् एक कुत्ते को इसीलिए अच्छा नहीं माना जाता, क्योंकि वह बहुत अच्छा भौंकता है।[103] कभी–कभी तो व्यक्ति को अपनी वाचालता स्वयं पर ही भारी पड़ती है। उत्तराध्ययन में वाचालता के दयनीय परिणाम के लिए स्पष्ट कहा है – "जिस प्रकार सड़े हुए कानों वाली कुतिया जहाँ भी जाती है, दुत्कार दी जाती है, उसी प्रकार शीलरहित, शरारती और वाचाल व्यक्ति भी सर्वत्र धक्के देकर निकाल दिया जाता है।"[104]

जैनागमों की भाषा सरल–सरस होते हुए भी परिमित है। इनमें अनावश्यक शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। यह जैनाचार्यों के मितभाषी गुण का उत्कृष्ट प्रतिमान है। प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति में सूत्रबद्ध रचनाओं की परम्परा रही है। सूत्र का लक्षण बताते हुए आचार्यों ने कहा है[105] –

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं, सारवत् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभ–मनवद्यं च, सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

अर्थात् जो कम से कम अक्षर वाले हों, स्पष्ट हों, सारभूत हों, सार्वभौमिक सत्य हों, निर्विवाद हों और अनिन्दनीय हों, उन्हें ही ज्ञानी 'सूत्र' कहते हैं। संस्कृत वैयाकरणों के लिए प्रसिद्ध है कि वे अपनी रचनाओं में से एक भी अनावश्यक अक्षर को निकालने में सफल होते, तो पुत्रजन्मोत्सव जैसे आनन्दित होते थे। आज भी इसी शैली की आवश्यकता है, किन्तु इसके लिए हमें फालतू शब्दों के प्रयोगों से बचना होगा। इस हेतु आगे कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं[106] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अशुद्ध प्रयोग	शुद्ध प्रयोग(मित भाषा)	स्पष्टीकरण
जैसे कि मान लो...	'जैसे' या 'मान' लो...	दोनों में से किसी एक का प्रयोग पर्याप्त है।
वापस से...	वापस...	'से' व्यर्थ है।
आँखों से आँसू बह निकले	... आँसू बह निकले	आँसू सदैव आँखों से ही निकलते हैं।
last corner	corner	'कार्नर' हमेशा 'लास्ट' में ही होता है।
आखिरी end	आखिरी या end	दोनों का अर्थ एक ही है।

उत्तराध्ययन में इसीलिए संक्षेप में हित शिक्षा दी गई है कि **'बहुयं मा य आलवे'** अर्थात् जितनी आवश्यकता हो उतना ही बोलना चाहिए, अधिक नहीं।[107]

मितभाषिता के लिए सबसे बड़ी बाधा है – विकथा। अक्सर जब हम किसी से मिलते हैं, तो कुछ औपचारिक बातें करने के पश्चात् किसी अनावश्यक विषय की चर्चा छेड़ देते हैं। फिर तो पता ही नहीं चलता कि समय कहाँ निकल गया। इन विषयों को जैनाचार्यों ने 'विकथा' कहा है। इनमें अनुरक्त होना 'प्रमाद' है। साधक इनसे विरक्त होने का प्रयास करता है। आ. भद्रबाहु ने तो यहाँ तक कहा है कि जो संयमी होते हुए भी प्रमादी है, वह जो भी कथा करता है, उसे 'विकथा' ही माननी चाहिए।[108]

व्यक्ति को इन विकथाओं को बोलने एवं सुनने में अपने कीमती समय एवं शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए। जैनाचार्यों के अनुसार, 'यदि हमें वार्ता करनी ही है, तो धर्मकथा ही करनी चाहिए, क्योंकि ये धर्मकथाएँ हमारे जीवन–प्रबन्धन का पाथेय होती हैं।' ओघनिर्युक्तिभाष्य में स्पष्ट कहा गया है – 'सद्गुणों की प्राप्ति के लिए धर्मकथा की जाती है।'[109] धर्मकथाओं के माध्यम से होने वाली स्व–पर जीवनोपयोगी चर्चाएँ आत्मिक शान्ति और आनन्द की अभिवृद्धि करती हैं।

मितभाषिता का अर्थ अस्पष्टभाषिता बिल्कुल नहीं है। संप्रेषण अर्थपूर्ण एवं सुस्पष्ट होना चाहिए। वस्तुतः, वचन की फलश्रुति है – अर्थज्ञान। जिस वचन को बोलने पर अर्थ का ही ज्ञान न हो सके, तो उस वचन से भला क्या लाभ?[110] विशेषावश्यकभाष्य में गुरु–शिष्य के उदाहरण के माध्यम से परस्पर अस्पष्ट–संप्रेषण की व्यर्थता पर कटाक्ष करते हुए कहा गया है – "वह गुरु, गुरू नहीं, अपितु बधिर के समान है, जिससे पूछा कुछ और जाए तथा वह बताए कुछ और। इसी प्रकार वह शिष्य भी शिष्य नहीं है, जो सुने कुछ और तथा कहे कुछ और।"[111] दशवैकालिक में सन्तुलित संप्रेषण पर जोर दिया गया है। सामान्यतः 'कहने–सुनने' की क्रिया को समाज से पूरी तरह हटाया नहीं जा सकता। इसका अपना औचित्य एवं उपयोगिता है।[112] लेकिन इसमें 'कितने' का विवेक व्यक्ति की सजगता की कसौटी है, बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह न अति बोले और न अल्प।

दशवैकालिकसूत्र में ठीक ही कहा गया है – 'व्यक्ति स्वानुभूत, परिमित, असन्दिग्ध, परिपूर्ण और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे, किन्तु यह भी ध्यान रखे कि यह वाणी वाचालता से रहित और दूसरों को उद्विग्न करने वाली न हो।'[113]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पारस्परिक मनमुटाव से पनपी संवादहीनता मितभाषिता नहीं है। आज समाज इसी समस्या से गुजर रहा है। घर में अपने लोगों के बीच बैठकर भी कई बार अपनेपन की भावना नही रह पाती। कुछ भी कहने से पहले सौ बार सोचना जरुरी लगने लगता है कि कहीं कोई बात बढ़ न जाए और काम बिगड़ न जाए।[114] ऐसी स्थिति में परस्पर मौन (असंवाद) अथवा दो टूक बातें होना भी सम्यक् मितभाषिता नहीं है। यहाँ पर आवश्यकता है कि हम बातचीत के लिए स्वस्थ वातावरण निर्मित करें, परस्पर एक–दूसरे के मन्तव्य समझें, अपनी गलतफहमियाँ दूर करें, अपने मानादि काषायिक भावों को उपशम करें और परिमित, लेकिन स्वस्थ–संवाद करें। यही उचित समाधान है और यह अनेकान्त दृष्टिकोण से ही सम्भव है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा भी है – जो व्यक्ति अभिव्यक्ति–कौशल में अकुशल है और अभिव्यक्ति की मर्यादाओं से अनभिज्ञ है, वह कुछ नहीं बोलकर भी मौन नहीं रहता, जबकि अभिव्यक्ति में दक्ष और अपनी मर्यादाओं में प्रसंगानुसार उचित बोलने वाला मौन ही है, भले ही वह बोले। इस अनेकान्तमयी विचारधारा को विचारवान् विवेकी व्यक्ति ही समझ सकते हैं।[115]

जहाँ स्वार्थ और सम्मान की पूर्त्ति होती हो, वहाँ बहुत बोलना अन्यथा चुप्पी साध लेना भी सम्यक् मितभाषिता नहीं, बल्कि मौकापरस्ती है। व्यक्ति को इस गिरगिट वृत्ति से बचना चाहिए। इसी प्रकार कई बार व्यक्ति अहंकारवश भी मितभाषी जैसा व्यवहार करने लगता है। जैनाचार्यों ने अहंकार के आठ प्रकार बताए हैं – शारीरिक रूप–रंग, शारीरिक बल, भौतिक लाभ, भौतिक ऐश्वर्य, कुल (पितृपक्ष), जाति (मातृपक्ष), तप–त्याग एवं ज्ञान का अहंकार। अहंकार के कारण व्यक्ति स्वयं को समाज एवं परिवार के अन्य सदस्यों से पृथक् महसूस करता है। वह उच्च या हीनभावनाओं (Superiority or Inferiority complex) से ग्रसित होकर धीरे–धीरे अल्पभाषी बन जाता है। किन्तु यह भी सम्यक् मितभाषिता नहीं है। मितभाषिता कषायजन्य नहीं होनी चाहिए। कषायरहित रहते हुए सारभूत, तथ्यपरक और आवश्यकतानुरूप कम बोलना ही सम्यक् मितभाषिता है।

अन्त में इतना ही कहा जा सकता है कि **मुखरूपी तिजोरी में वाणी रूपी रत्न सम्भालकर रखना चाहिए। इस तिजोरी पर मौनरूपी ताला लगाना चाहिए तथा योग्य ग्राहक मिलने पर ही उसे दिखाना चाहिए।**[116]

(4) निरवद्य (निर्दोष) वचन

जैनाचार्यों ने हित, मित और प्रिय वचनों के साथ ही वचन की निरवद्यता अर्थात् निर्दोषता या अहिंसकता पर भी अत्यधिक जोर दिया है, क्योंकि यदि वचन सावद्य हों, तो भाषा–समिति का पालन भी नहीं हो सकता।

जैनाचार्यों ने इसीलिए आचारांग, दशवैकालिक, प्रश्न–व्याकरण, सूत्रकृतांग, प्रज्ञापनासूत्र आदि शास्त्रों में न केवल निरवद्य वचनों को ही बोलने की प्रेरणा दी है, अपितु निरवद्यता का अतिगहन विश्लेषण भी किया है। यह विश्लेषण ही व्यक्ति को 'क्या बोलना और क्या नहीं' का विवेक प्रदान करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आज सभी ओर सावद्य (दोषपूर्ण) वचनों का ही बोलबाला है। अधिकांश वक्ताओं में निरवद्य वचनों के प्रति निष्ठा और समर्पण भी नहीं है, यहाँ तक कि सावद्य–निरवद्य का सुस्पष्ट भेद करने वाली सम्यक् समझ का भी अभाव है। उन्हें इतना भी ज्ञात नहीं है कि 'मैं जो बोल रहा हूँ, वह बोलने योग्य है भी या नहीं।'

जैनाचार्यों ने इसीलिए भाषा (वचनों) का स्याद्वादमय, सटीक एवं सूक्ष्म स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार, जो बोली जाए वह भाषा है **(भाष्यते इति भाषा)**।[117] भाषा अवधारिणी अर्थात् अर्थबोध कराने वाली होती है, क्योंकि इससे पदार्थ का अवधारण अर्थात् निश्चय होता है।[118] किन्तु यह भाषा सत्य, असत्य (मृषा), सत्यासत्य (मिश्र) एवं असत्यासत्य (व्यवहार) – ऐसे चार प्रकार की होती है और इसीलिए यह आवश्यक नहीं है कि हर बात जो बोली जाती है, वह उचित अर्थात् बोलने योग्य ही हो। इन चार भाषाओं को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

★ **सत्यभाषा** – जो सत् अर्थात् विद्यमान पदार्थों का सम्यक् बोध कराती हो, हितकारिणी हो और जीवादि तत्त्वों की सम्यक् प्ररूपणा करती हो, वह सत्य–भाषा कहलाती है। संक्षेप में, वस्तु–स्वरूप का यथोचित प्रतिपादन करने वाली भाषा 'सत्यभाषा' है।[119]

★ **असत्यभाषा** – जो सत्य भाषा से विपरीत स्वरूप वाली हो, वह 'असत्य–भाषा' कहलाती है।[120]

★ **सत्यासत्य भाषा** – जिसमें सत्य और असत्य दोनों मिश्रित हों अर्थात् जिसमें कुछ अंश सत्य हो और कुछ अंश असत्य हो, वह 'सत्यासत्य' या 'मिश्र भाषा' कहलाती है।[121]

★ **असत्यासत्य भाषा** – जो भाषा इन तीनों प्रकार की भाषाओं में समाविष्ट न हो सके अर्थात् जिसे सत्य, असत्य या मिश्ररूप नहीं कहा जा सके अथवा जिसमें इन तीनों भाषाओं में से किसी भी भाषा का लक्षण घटित न हो, वह 'असत्यासत्य (व्यवहार) भाषा' है। इस भाषा के विषय आमन्त्रण, निमन्त्रण, आदेश, उपदेश आदि हैं।[122]

जैनदृष्टि से सत्य आदि चारों भाषाओं की पहचान निम्न प्रकार से की जा सकती है –

1) **जो आराधक हो, वह सत्य भाषा** – जिसके द्वारा मोक्षमार्ग की आराधना की जाए अथवा वस्तु–स्वरूप का यथार्थ कथन किया जाए, वह आराधक भाषा कहलाती है। दूसरे शब्दों में, जो आराधक हो, उसी भाषा को सत्य–भाषा समझनी चाहिए।[123]

2) **जो विराधक हो, वह असत्य भाषा** – जो भाषा वस्तु–स्वरूप की मिथ्या स्थापना करने के आशय से कही जाती है अथवा जो भाषा सत्य होते हुए भी अप्रासंगिक, दुराशययुक्त और परपीड़ाजनक हो, वह विराधक भाषा कहलाती है। विराधक भाषा को ही असत्य–भाषा समझनी चाहिए।[124]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3) **जो आराधक–विराधक मिश्ररूप हो, वह सत्यासत्य भाषा** – जो भाषा आंशिक रूप से आराधक और आंशिक रूप से विराधक हो, वह आराधक–विराधकमिश्र भाषा कहलाती है। जैसे – किसी नगर में आज 150 बच्चों का जन्म हुआ हो, किन्तु किसी के पूछने पर कह देना कि सैकड़ों बच्चों का जन्म हुआ है।[125] आराधक–विराधक भाषा को ही सत्यासत्य भाषा समझनी चाहिए।

4) **जो न आराधक हो न विराधक, वह असत्यासत्य भाषा** – जिस भाषा में आराधक, विराधक एवं आराधक–विराधक मिश्र लक्षण न हों, उसे 'असत्यासत्य भाषा' समझनी चाहिए, जैसे – 'हे मुने ! प्रतिक्रमण करो। स्थण्डिल का प्रतिलेखन करो' आदि।[126]

अधिकांश लोग यह मानते हैं कि कही जाने वाली हर बात उचित ही होती है, तो कुछ लोग यह मानते हैं कि भाषा के केवल दो ही प्रकार हैं – सत्य एवं असत्य, जिनमें से सत्य बोलने योग्य है और असत्य नहीं। किन्तु यह विचार भी पूर्णतः सही नहीं है। दशवैकालिकसूत्र में इन चार प्रकार की भाषाओं के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा गया है कि[127] –

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखायं पन्नवं।
दोण्हं तु हिणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो।।

अर्थात् प्रज्ञावान् पुरूष चार प्रकार की भाषाओं को समझकर सत्य एवं व्यवहार (असत्यासत्य) भाषाओं का ही प्रयोग करें और असत्य एवं मिश्र भाषाओं को सर्वथा न बोलें। अतः असत्य भाषा और मिश्र भाषा का प्रयोग भाषिक–अभिव्यक्ति की क्षमता का सदुपयोग नहीं, वरन् दुरुपयोग है। इन दोनों से स्व–पर का अहित ही होता है। ये दुराशययुक्त एवं दुष्परिणामदायिनी होती हैं। इनसे ऐहलौकिक एवं पारलौकिक विनाश होता है।

सामान्यतया यह अनुभूत नहीं होता, फिर भी जीवन में इन अननुमत/अप्रयोज्य भाषाद्वय का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता रहता है, इसीलिए जैनाचार्यों ने इनके स्वरूप को प्रज्ञापनासूत्र में विस्तार से स्पष्ट किया है। इन भाषाओं के विविध प्रकारों का वर्णन क्रमशः किया जा रहा है।

(क) प्रज्ञापनासूत्र में उल्लिखित सत्य भाषा के दस प्रकार[128]

1) **जनपद सत्य** – विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित विशिष्ट शब्दों से युक्त भाषा, जो इष्ट अर्थ का बोध कराने वाली होती है, जैसे – हिन्दी भाषी क्षेत्रों में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द तात्पर्यसूचक है और अंग्रेजी भाषी क्षेत्रों में प्रयुक्त 'अर्थ' (Earth) शब्द 'पृथ्वी' का बोध कराता है। अतः दोनों ही सत्य हैं।

2) **सम्मत सत्य** – समस्त लोक में सम्मत होने के कारण सत्य रूप में प्रसिद्ध, जैसे – पंक से उत्पन्न होने के कारण शैवाल, कीट आदि को 'पंकज' कहा जा सकता है, लेकिन लोक में कमल को ही 'पंकज' कहते हैं, अन्यों को नहीं। अतः यह सम्मत सत्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3) **स्थापना सत्य** – अंकादि विशेष प्रतीकों के माध्यम से जो अर्थ समझा जाता है, जैसे – नोट के ऊपर '1000' का मुद्रण 'रूपए एक हजार' की प्ररूपणा करता है। यह स्थापना सत्य है।

4) **नाम सत्य** – गुण अथवा कार्य से सुमेल न होने पर भी नाम के आधार पर प्रयुक्त भाषा, जैसे – डरपोक होते हुए भी किसी का नाम 'बहादुर सिंह' होना।

5) **रूप सत्य** – केवल वेशभूषा आदि बाह्य स्वरूप के आधार पर प्रयुक्त भाषा, जैसे – साधु का वेश धारण करने वाले को साधु कहना।

6) **प्रतीत्य सत्य** – किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से सत्य रूप में मान्य भाषा, जैसे – जहाँगीर को पुत्र कहना, अकबर की अपेक्षा से न कि शाहजहाँ की अपेक्षा से।

7) **व्यवहार सत्य** – लोकव्यवहार की अपेक्षा से सत्य रूप में मान्य भाषा, जैसे – 'घी की कटोरी' कहना। वस्तुतः, कटोरी घी से निर्मित नहीं है, कटोरी तो स्टील की है। फिर भी अभेद विवक्षा से ऐसा कहना व्यवहार सत्य है।

8) **भाव सत्य** – वस्तु के किसी विशिष्ट गुण–धर्म के आधार पर कथन करना, जैसे – 'सब्जी खारी है'। यद्यपि सब्जी में तीखापना, मीठापना आदि भी है, लेकिन नमक की अधिकता के कारण ऐसा कहना भी सत्य है।

9) **योग सत्य** – एक के योग अर्थात् सम्बन्ध के आधार पर दूसरे को लक्षित करना, जैसे – दण्ड के योग से किसी को दण्डी कहना।

10) **औपम्य सत्य** – उपमा से जो भाषा कही जाए, जैसे – 'राहुल तो सिंह के समान है'।

उपर्युक्त भाषाओं का प्रयोग जैनाचार्यों के द्वारा अनुमत है, क्योंकि ये सभी सत्य की श्रेणी में आती हैं।

(ख) प्रज्ञापनासूत्र में वर्णित व्यवहार भाषा या असत्यासत्य भाषा के बारह प्रकार[129]

1) **आमंत्रणी** – सम्बोधनसूचक भाषा, जैसे – हे देवदत्त ! विवाहोत्सव में आना।

2) **आज्ञापनी** – दूसरे को कार्य में प्रवृत्त करने वाली अर्थात् आज्ञा देने वाली भाषा, जैसे – आप रूकिए, आप चलिए, आप खाइए आदि।

3) **याचनी** – किसी वस्तु को माँगने के लिए प्रयुक्त भाषा, जैसे – 'कृपया यह मुझे दीजिए'।

4) **पृच्छनी** – किसी विषय में किसी से प्रश्न करने वाली भाषा, जैसे – 'इस शब्द का अर्थ क्या है?'

5) **प्रज्ञापनी** – विनीत शिष्य आदि के लिए प्रयुक्त उपदेश रूप भाषा, जैसे – 'व्यक्ति को जीवन–प्रबन्धन अवश्य ही करना चाहिए'।

6) **प्रत्याख्यानी** – अमुक वस्तु का प्रत्याख्यान या निषेध करना, जैसे – 'आज तुम्हें एक घण्टे तक मौन रहना है' अथवा 'आज मैं यह वस्तु तुम्हें नहीं दे सकता'।

7) **इच्छानुलोमा** – इच्छा को प्रकट करने वाली भाषा, जैसे – 'मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, यदि आपकी इच्छा (अनुमति) हो तो', 'आप यह कार्य करें, ऐसी मेरी इच्छा है', 'इस कार्य के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए मेरी पूर्ण सहमति है' इत्यादि।

8) **अनभिगृहीता** – किसी नियत अर्थ को प्रकट न कर पाने वाली भाषा, जैसे – 'इस समय मैं कौन–सा कार्य करूँ?' ऐसा पूछने पर उत्तरदाता का कहना हो – 'जैसा उचित समझो, वैसा करो'।

9) **अभिगृहीता** – किसी नियत अर्थ का निश्चय कराने वाली भाषा, जैसे – 'इस समय तुम्हें अध्ययन ही करना चाहिए, मनोरंजन नहीं'।

10) **संशयकरणी** – अनेक अर्थों को प्रकट करने वाली भाषा, जैसे – किसी ने किसी को कहा – 'सैन्धव ले आओ'। सैन्धव शब्द को सुनकर यह संशय उत्पन्न होता है कि यह नमक मँगाता है या घोड़ा, वस्त्र अथवा पुरूष, क्योंकि ये चारों ही सैन्धव शब्द के अर्थ हैं।

11) **व्याकृता** – अर्थ को स्पष्ट करने वाली भाषा, जैसे – त्रिभुज तीन भुजाओं से युक्त होता है।

12) **अव्याकृता** – किसी की अनिर्वचनीयता या अव्यक्तता का कथन करना।

यह बारह प्रकार की व्यवहार भाषा है, जो सामान्य परिस्थिति में सज्जनों के लिए बोलने योग्य मानी गई है।

(ग) प्रज्ञापनासूत्र में वर्णित असत्यभाषा के दस प्रकार[130]

1) **क्रोधनिःसृता** – क्रोधवश निकलने वाली भाषा।

2) **माननिःसृता** – मानवश स्व–प्रशंसा और पर–निन्दा करने वाली भाषा।

3) **मायानिःसृता** – छल–कपट, ठगी आदि के अभिप्राय से निकलने वाली भाषा।

4) **लोभनिःसृता** – लोभवश निकलने वाली भाषा, जैसे – गलत नाप–तौल करके भी पूछने पर प्रमाणोपेत कहना।

5) **रागनिःसृता** – रागवश निकलने वाली भाषा, जैसे – 'मैं तो आपका दास हूँ'।

6) **द्वेषनिःसृता** – द्वेषवश गुणीजनों की भी निन्दा आदि करने वाली भाषा।

7) **हास्यनिःसृता** – हँसी–मजाक में झूठ बोलने वाली भाषा।

8) **भयनिःसृता** – भयवश निकलने वाली भाषा।

9) **आख्यायिकानिःसृता** – किसी कथा–कहानी के वर्णन में असम्भव वस्तु को सम्भव जताने वाली भाषा, जैसे – 'उसके स्वर्गवासी पिता उसे रोज बहुत–सी सामग्री भेजते थे'।

10) **उपघातनिःसृता** – दूसरे के हृदय को आघात पहुँचाने की दृष्टि से निकलने वाली भाषा, जैसे – 'किसी को अन्धा या काणा कहना' अथवा 'तू चोर है', ऐसा कहना इत्यादि।

सामान्य रूप से जैनाचार्यों ने इन असत्य भाषाओं का सर्वथा निषेध किया है, अतः सज्जनों को इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(घ) प्रज्ञापनासूत्र में वर्णित सत्यासत्य अथवा मिश्र भाषा के दस प्रकार[131]

1) **उत्पन्नमिश्रिता** – जन्म लेने वालों की संख्या को अल्प या अधिक करके कहने वाली भाषा, जैसे – 'आज नगर में सैकड़ों शिशुओं का जन्म हुआ, जबकि उस संख्या से कम या ज्यादा शिशुओं का जन्म हुआ है'।
2) **विगतमिश्रिता** – विगत अर्थात् मृतकों की संख्या को कम या ज्यादा करके कहने वाली भाषा, जैसे – किसी स्थान पर आए भूकम्प में 900 लोगों की मृत्यु हुई, जबकि कोई किसी को चौंकाने के लिए कहता है – 'पता है, भूकम्प में हजारों लोगों की जान चली गई'।
3) **उत्पन्नविगतमिश्रिता** – जन्में और मरे हुओं की संख्या नियत होने पर भी उसे कम–ज्यादा करके कहने वाली भाषा।
4) **जीवमिश्रिता** – जीवों और अजीवों की मिश्रित राशि को देखकर भी उसे सम्पूर्णतया जीवराशि कहने वाली भाषा।
5) **अजीवमिश्रिता** – जीवों और अजीवों की मिश्रित राशि को देखकर भी उसे सम्पूर्णतया अजीवराशि कहने वाली भाषा।
6) **जीवाजीवमिश्रिता** – जीवों एवं अजीवों की संख्या में विसंवाद (अल्पाधिकता) होने पर भी उन्हें नियत रूप से कहने वाली भाषा, जैसे – 'इसमें आधे जीवित और आधे मृत हैं'।
7) **अनन्तमिश्रिता** – अनन्तकायिक और प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीवों को मिला हुआ देखकर भी यह कहने वाली भाषा कि 'ये सब अनन्तकायिक हैं'।
8) **प्रत्येकमिश्रिता** – अनन्तकायिक और प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीवों के समूह को देखकर भी यह कहने वाली भाषा कि 'ये सब प्रत्येकवनस्पतिकायिक हैं'।
9) **अद्धामिश्रिता** – दिन में रात्रि अथवा रात्रि में दिन का आरोपण करने वाली भाषा, जैसे – अभी दिन विद्यमान होते हुए भी यह कहना कि 'जल्दी भोजन कर, देख! रात हो गई है' अथवा अभी रात्रि का कुछ भाग शेष है, लेकिन यह कहना कि 'उठ दिन निकल आया है'।
10) **अद्धाद्धामिश्रिता** – दिन या रात्रि के कालांशों का मिश्रण करने वाली भाषा, जैसे – अभी पहला प्रहर प्रवर्त्तमान है, फिर भी किसी को यह कहना कि 'जल्दी चल, मध्याह्न हो गया है'।

इस प्रकार, जैनाचार्यों ने वाणी के असम्यक् प्रयोगों की विस्तार से प्ररूपणा की है। भले ही उपर्युक्त वाणी–प्रयोग, जैसे – क्रोधनिःसृता, माननिःसृता आदि हमें शास्त्रीय उपदेशों के समान सामान्य लगते हों, लेकिन जीवन का यथार्थ अवलोकन करने पर यह अवश्य महसूस होगा कि ये हमारे दैनन्दिन जीवन के ही भाषायी प्रयोग हैं। प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार तो सत्यभाषी इस विश्व में सबसे अल्प हैं, इनसे असंख्यातगुणा अधिक सत्यासत्यभाषी हैं, इनसे असंख्यातगुणा अधिक असत्यभाषी हैं और इनसे भी असंख्यातगुणा अधिक असत्यासत्यभाषी हैं।[132] उपर्युक्त आँकड़ों से यह सिद्ध है कि इस विश्व में भाषिक क्षमता प्राप्त करने से भी अधिक दुर्लभ एवं चुनौतीपूर्ण कार्य भाषिक–क्षमता का सदुपयोग करना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.6.4 जीवन में वाणी का सम्यक् प्रयोग

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रायः व्यापार–व्यवसाय, कोर्ट–कचहरी, घर–परिवार, समाज एवं सरकारी कार्यालयों आदि में असत्य और सत्यासत्य भाषा का ही बोलबाला है। एक आम आदमी सिर्फ पढ़ना–लिखना–बोलना आ जाने को ही पूर्ण मान लेता है और सम्यक् लिखने–बोलने के प्रशिक्षण एवं प्रयोगों की उपेक्षा ही कर देता है। सामान्यतौर पर व्यक्ति असत्य भाषण के दोष को स्वीकार नहीं करता, जबकि जैनाचार्यों ने तो असत्यमिश्रित सत्य को भी दोषपूर्ण अभिव्यक्ति माना है। यदि आज समाज में व्याप्त कई बुराइयों पर नजर डाली जाए, तो इनमें असत्य एवं सत्यासत्य भाषाओं का प्रमुख योगदान है। समाज में परस्पर प्रेम और सौहार्द्र का वातावरण खण्डित हो रहा है, आत्मीयता घट रही है, सहिष्णुता एवं समता मृतप्रायः हो गई हैं एवं स्वस्थ संवाद का ह्रास हो रहा है। इसका मूल कारण इन दोनों भाषाओं का अत्यधिक प्रयोग होना है, जिनका जैनाचार्यों ने सर्वथा निषेध किया है।

यह ठीक है कि वर्त्तमान में असत्य एवं सत्यासत्य (मिश्र) भाषा का प्रयोग बढ़ने से सामाजिक मूल्यों का अत्यधिक ह्रास हुआ है, साथ ही यह भी उतना ही सही है कि व्यक्ति ने विचारों की कुटिलता के वशीभूत होकर सत्य एवं व्यवहार भाषा का दुरुपयोग भी खूब किया है। यह भी सामाजिक आदर्शों को गिराने वाला अत्यन्त प्रभावी कारण है। सूत्रकृतांग में व्यक्ति को इन्हीं कमजोरियों से बचने के लिए कहा गया है कि 'वह सत्य को न छिपाए और न तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत करे।'[133] व्यक्ति का व्यक्तित्व स्वच्छ–पारदर्शी स्फटिक के समान निर्मल होना चाहिए। इसमें दुराशय से दूषित सत्य एवं व्यवहार भाषाओं का भी सर्वथा निषेध होना चाहिए।

उपर्युक्त विसंगतियों से बचने के लिए इन चार भाषाओं का विवेक होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से दशवैकालिकसूत्र में सज्जनों के लिए निम्नलिखित भाषाओं का निषेध किया गया है[134] –

1) **अवक्तव्य–सत्य भाषा** – जो सत्य होते हुए भी कहने योग्य नहीं हो।
2) **असत्य भाषा** – जो सत्य नहीं हो।
3) **सत्यासत्य भाषा** – जो सत्य और असत्य मिश्रित हो।
4) **अनाचीर्ण व्यवहार भाषा** – जो व्यवहार भाषा होते हुए भी आचरण–योग्य नहीं हो।

उपर्युक्त भाषाओं को विविध उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है–

1) काणे को काणा, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी, चोर को चोर नहीं कहना चाहिए।[135]
2) स्नेहरहित, मर्मघाती, पीड़ादायी, कटुक, कठोर, अभ्याख्यानात्मक एवं चुगलखोरी रूप सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए।[136]
3) जिससे विद्रोह भड़क जाए, कलह हो जाए, किसी की हत्या हो जाए, ऐसा कोई वचन भी नहीं कहना चाहिए।
4) किसी अपेक्षा से गुरुजनों या वृद्धों आदि के दोषों का वर्णन भी नहीं करना चाहिए।[137]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5) द्वेषपूर्ण चित्त से युक्त होकर ऐसा सत्य वचन भी नहीं कहना चाहिए, जिससे किसी को तकलीफ हो।

6) संशय उत्पन्न करने वाली व्यवहार भाषा भी नहीं कहनी चाहिए, जिसमें आशय को छिपाकर दूसरों को भ्रम में डालने के लिए अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग किया जाए, जैसे – 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा'।[138]

7) वस्तु का यथार्थ निर्णय (विचार) किए बिना ही सत्य लगने वाली असत्य वस्तु को सहसा सत्य नहीं कह देना चाहिए, जैसे – पुरूष वेषधारी स्त्री को पुरूष कहना।[139]

8) जहाँ मृषावाद की सम्भावना हो, वैसी शंकित भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। यद्यपि अतीत, वर्त्तमान और भविष्य सम्बन्धी ऐसी शंकित भाषा का प्रयोग किया अवश्य जाता है, किन्तु करना नहीं चाहिए, जैसे – 'हम जाएँगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जाएगा', 'मैं यह करूँगा' इत्यादि।[140] इस आधार पर बिना विचारे ही झूठे आश्वासन देना, झूठे वादे करना, झूठे गप्पे मारना, सुनी–सुनाई अफवाहें फैलाना आदि कार्यों का निषेध करना चाहिए।

9) किसी भी काल के सम्बन्ध में किसी विषय की अनभिज्ञता होने पर भी निश्चयात्मक भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जैसे – 'यह ऐसा ही है'।[141]

10) किसी भी काल के सम्बन्ध में किसी विषय में शंका होने पर भी निश्चयात्मक भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जैसे – 'यह ऐसा ही है'।[142]

11) ओ कुत्ते!, हे भिखारी!, हे शूद्र!, अरे दुर्भागी! आदि सम्बोधनवाची शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये तुच्छता, दुश्चेष्टा, दीनता, अनिष्टता, विग्रह, तिरस्कार आदि के सूचक हैं।[143]

12) हे दादी!, हे नानी!, हे काकी!, हे बेटा!, हे पुत्री।, हे स्वामिन्!, हे स्वामिनी!, हे बुआ!, हे चाचा! आदि शब्दों का प्रयोग भी कम से कम मुनि को तो नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसने सांसारिक सम्बन्धों का त्याग कर दिया है। यदि इन शब्दों में चाटुकारिता, मौकापरस्ती, स्वार्थपरकता, शठता आदि मनोभावों का पुट है, तो सामान्य व्यक्ति के लिए भी ये अवक्तव्य हैं।[144]

13) यहाँ तक कि पंचेन्द्रिय प्राणियों के विषय में जब तक यह निश्चय नहीं हो जाए कि यह नर है अथवा मादा, तब तक 'गौ जाति', 'अश्व जाति' का प्राणी आदि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।[145]

14) मनुष्य, पशु–पक्षी आदि के विषय में अनुचित शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जैसे – किसी को 'स्थूल (मोटा)' कहने के बजाय 'परिवृद्ध' कहा जा सकता है, वध्य (वध करने योग्य) कहने के बजाय 'युवा' कहा जा सकता है इत्यादि।[146]

15) 'ये पेड़ फर्नीचर, द्वार आदि बनाने के लिए उपयुक्त हैं', ऐसा कहना भी जैन–मुनि के लिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्जित है, क्योंकि यहाँ वचनों में हिंसात्मकता झलकती है।[147]

16) 'यह पकाने योग्य है', 'यह छिलने योग्य है', 'यह काटने योग्य है', 'यह भुनने योग्य है', 'यह चिवड़ा बनाकर (चूरकर) खाने योग्य है' इत्यादि वचन भी उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि इनमें हिंसा के भाव हैं।[148]

17) 'यह चोर मारने योग्य है', 'मृतकभोज करणीय है', 'इसे फाँसी पर चढ़ा देना चाहिए' इत्यादि वचन भी कहने योग्य नहीं है।[149]

18) अनुमोदनकारी भाषा, जैसे – 'बहुत अच्छा भोजन बनाया है', 'बहुत अच्छा मकान बनवाया है', 'बहुत अच्छा फर्नीचर बनवाया है' इत्यादि का प्रयोग भी करने योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें हिंसा या परिग्रह–वृत्ति का अनुमोदन है।[150]

19) निरर्थक एवं पाप–प्रवृत्ति सम्बन्धी आदेश बिल्कुल नहीं देना चाहिए।[151]

20) सज्जन पुरूषों को सदा याद रखना चाहिए – **'ना पुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए'**, अर्थात् बिना पूछें कुछ सलाह, उपदेश आदि नहीं देना और पूछने पर झूठ नहीं बोलना।[152]

21) जैन मुनियों को तो यहाँ तक निर्देश दिया गया है कि वे गृहस्थों को बैठ, उठ, ठहर, खड़े हो, चला जा आदि न कहें, क्योंकि इन क्रियाओं में होने वाले हिंसादि दोषों में वे स्वयं भी भागीदार बन जाते हैं।[153]

22) पशु–पक्षियों अथवा मनुष्यों की लड़ाई में 'अमुक की विजय हो' अथवा 'अमुक की पराजय हो', ऐसा नहीं कहना चाहिए।[154]

इस प्रकार, वाक्य–शुद्धि के नियमों को भली–भाँति समझकर मुनि दोषपूर्ण वाणी का सर्वथा एवं गृहस्थ अपनी भूमिकानुसार आंशिक रूप से त्याग करे। वस्तुतः, सज्जन पुरूष परिमित एवं दोषरहित वाणी को सोच–विचार कर बोलते हैं, जिससे वे सर्वत्र प्रशंसा को प्राप्त करते हैं।[155]

विस्तृत चर्चा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने वचन की हितकारिता, मितकारिता एवं प्रियकारिता के साथ–साथ निर्दोषता पर भी अत्यधिक बल दिया है। हमारी अभिव्यक्ति में इन विशिष्टताओं का सम्यक् समन्वयन और सन्तुलन अपेक्षित है। इसे ही हम भाषा–समिति का सही स्वरूप कह सकते हैं।

6.6.5 भाषा–समिति का पालन न हो पाने के अंतरंग कारण

आज व्यक्ति भाषा–समिति का परिपालन क्यों नहीं कर पा रहा है, यह प्रश्न विचारणीय है। जैनाचार्यों के अनुसार, मूल रूप में इसका कारण बाहर की परिस्थितियाँ नहीं, बल्कि भीतर की मलिनता, कलुषता एवं कुटिलता ही है। इसमें भी सारी भूलों का मूल है – 'मिथ्या दृष्टिकोण' अर्थात् झूठी मान्यता। जब व्यक्ति विश्व के यथार्थ स्वरूप के बारे में सम्यक् दृष्टिकोण का विकास करता है, तभी उसका वाणी व्यवहार भी सुधरता है। सत्य को सत्य रूप में ग्रहण करने के पश्चात् ही वास्तविक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनासक्ति आती है और साधक की सम्यक् भाषा–समिति की अर्हता बनती है।

भाषा–समिति का परिपालन न कर पाने का दूसरा कारण है – 'कषाय अर्थात् कलुषित भाव'। हमारे वचन तभी हित, मित, प्रिय एवं ग्राह्य होंगे, जब वे कषायमुक्त होंगे। जैनाचार्यों ने विविध शास्त्रों में इन कषायों को दोषपूर्ण वचनों का आधार बताया है, जो निम्नलिखित उद्धरणों से सुस्पष्ट है –

1) क्रोध में अन्धा व्यक्ति सत्य, शील और विनय का विनाश कर डालता है।[156]
2) लोभग्रस्त होकर व्यक्ति झूठ बोलता है।[157]
3) अहंकारी व्यक्ति की आत्म–प्रशंसा और पर–निन्दा भी असत्य के समकक्ष ही होती है।[158]
4) क्रोध से क्षुब्ध व्यक्ति यदि सत्य भी कहता है, तो वह भी असत्य ही होता है।[159]
5) क्रोध, लोभ, भय एवं हास्य – इन चारों कारणों से व्यक्ति झूठ बोलता है।[160] वस्तुतः ये चारों सत्य को भी असत्य बना देते हैं। इनके कारण वचन–शुद्धि का विवेक नहीं रहता।

आज यदि व्यक्ति को अपनी अभिव्यक्ति को सजाना, सँवारना और स्वच्छता प्रदान करना है, तो इन मिथ्यात्व एवं काषायिक भावों से उबरना ही होगा। अंतरंग निर्मल विचारों से अभिप्रेरित वाणी ही व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में शान्ति, प्रेम और बन्धुत्व की भावना को स्थापित करने में समर्थ है।

सत्य और असत्य का विवेक

भाषिक अभिव्यक्ति का सम्यक् प्रबधन करने के लिए व्यक्ति को सच और झूठ के बीच का अन्तर स्पष्ट होना चाहिए, किन्तु किसे झूठ कहा जाए और किसे सच, इसका स्पष्टीकरण कषाय–वृत्ति से युक्त व्यक्ति नहीं कर पाता। वह तो अपने स्थूल झूठ को भी सत्य ही मानता है, अतः श्रीजिनदासमहत्तर ने मृषावाद की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए इसके निम्न भेदों को समझाया है[161] –

1) **सद्भाव का प्रतिषेध** – जो विद्यमान है, उसे अविद्यमान कहना, जैसे – किसी आगन्तुक के आने पर कोई पिता अपने पुत्र से कहता है कि 'कह देना, अभी पिताजी घर पर नहीं हैं'। यहीं से अगली पीढ़ी को असत्य बोलने की शिक्षा प्रारम्भ हो जाती है।

2) **असद्भाव का उद्भावन** – जो विद्यमान नहीं है, उसे विद्यमान कहना, जैसे – आत्मोत्कर्ष दिखाने के लिए कोई किसी को झूठ बोले कि 'हमारे पास खूब ऐश्वर्य था, हम तो करोड़ों की सम्पत्ति के स्वामी थे'।

3) **अर्थांतर** – एक वस्तु को अन्य कहना, जैसे – विनोद नामक व्यक्ति के स्थान पर यात्रा करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति टिकिट–निरीक्षक से कहे कि 'मैं ही विनोद हूँ'।

4) **गर्हा** – किसी की निन्दा–तिरस्कार करना, जैसे – लंगड़े व्यक्ति को लंगड़ा कहना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति को चाहिए कि उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर वह मृषावाद के सेवन का सर्वथा त्याग करे।

मेरी दृष्टि में, निम्नलिखित कारकों के आधार पर भी मृषावाद का विश्लेषण किया जा सकता है –

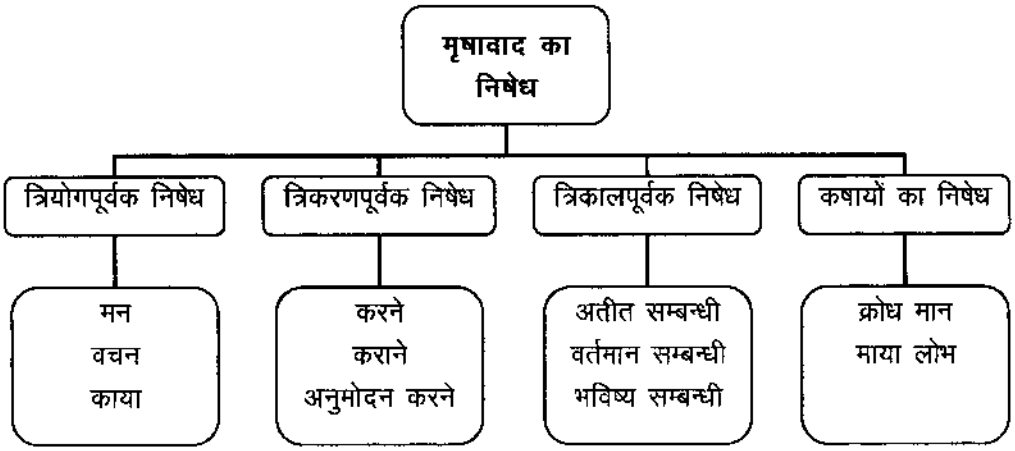

इस प्रकार, उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर 3 X 3 X 3 X 4 = 108 भेदों से मृषावाद का निषेध करके ही पूर्णतया सत्यमय जीवन जिया जा सकता है।

विस्तार–रुचि वाले व्यक्ति संक्षेप में तत्त्व के तथ्य को नहीं पहचान पाते। अतः उनके स्पष्टीकरण के लिए एक अन्य दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि प्रमादयुक्त कहा गया सत्यरहित एवं परपीड़ाकारी वचन मृषावाद ही है। यह ज्ञातव्य है कि आत्मा की आत्मा के प्रति अजागरुकता को ही जैनदर्शन में 'प्रमाद' कहा गया है, जो पाँचों इंद्रियों के विषयों में आसक्ति, चारों प्रकार की कषाय, चारों प्रकार की विकथाएँ, निद्रा एवं स्नेह – इन पंद्रह रूपों में विद्यमान रहता है।

दशवैकालिकसूत्र के चूर्णिकार के ये विचार विशेष चिन्तनीय हैं – 'सत्य या असत्य किसी भी भाषा के बोलने पर यदि चारित्र की शुद्धि होती हो, तो वह सत्य ही है और यदि चारित्र की शुद्धि नहीं होती हो, तो वह असत्य ही है।'[162]

यह निष्कर्ष है कि संसार में सत्य ही सारभूत है।[163] सत्य में महासमुद्र से भी अधिक गहराई है, चंद्रमा से भी अधिक सौम्यता एवं सूर्य से भी अधिक तेज है।[164] आशय यह है कि सत्य भाषा अतुलनीय है। साररूप में यह भी कहा गया है कि **'तं सच्चं भगवं'** अर्थात् सत्य ही भगवान् है।[165]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.6.6 वचन–गुप्ति (मौन)

पूर्व चर्चा से यह स्पष्ट है कि हित–मित–प्रिय और निर्दोष वाणी जीवन जीने की सुन्दर कला है। यह हमारे व्यक्तित्व को निखारती है। साधारण रूप–रंग–आकृति वाला व्यक्ति भी अपनी वाग्मिता (वचन–समिति) से कइयों को अपने अनुकूल बना सकता है। आगे, हम इस विषय पर चर्चा कर रहे हैं कि जैसे जीवन में वचन–समिति (भाषा–समिति) का विशिष्ट महत्त्व है, वैसे ही वचन–गुप्ति (भाषा–गुप्ति) अर्थात् मौन का भी अपना स्थान है। प्रश्न उठता है कि वचन–गुप्ति क्या है? वचन–गुप्ति का अर्थ है – 'वचन का गुप्त हो जाना' अर्थात् व्यक्ति का 'अभाषक' हो जाना। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है[166] – विषयाभिलाषा रूप संज्ञाओं आदि से मुक्त होकर मौन धारण करना यानि वचन की प्रवृत्ति को रोकना 'वचन–गुप्ति' है।

संज्ञादि – परिहारेण, यन्मौनस्या – ऽवलम्बनम्।
वाग्वृत्तेः संवृत्तिर्वा या, सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते।।

आधुनिक युग में अर्थ और प्रतिष्ठा की अन्धी दौड़ में व्यक्ति अनेक भाषाओं पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता है। वह अंग्रेजी, हिन्दी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, मराठी, गुजराती, तेलगु आदि अनेकानेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने को अपने व्यक्तित्व विकास का मापदण्ड मानता है, किन्तु केवल भाषायी ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता। वस्तुतः, जैनदर्शन में वचन–समिति एवं वचन–गुप्ति की कला के विकास को ही वाणी सम्बन्धी व्यक्तित्व–विकास का वास्तविक मानदण्ड माना गया है।

यह महसूस हो सकता है कि वचन–समिति और वचन–गुप्ति तो परस्पर विरोधी हैं। एक का विषय 'बोलना' है, तो दूसरे का 'मौन रहना'। तब आखिर, व्यक्ति को वचन–समिति का पालन करना चाहिए या वचन–गुप्ति का? दोनों में से क्या उचित है और क्या उपादेय है? इस बारे में जैनाचार्यों का दृष्टिकोण अनेकान्तवाद पर आधारित है, उनकी दृष्टि में दोनों की जीवन में आवश्यकता है। केवल बोलना अथवा केवल मौन रहना ही समस्याओं का समाधान नहीं है। जब बोलना अपरिहार्य हो, तब बोलना चाहिए और जब मौन आवश्यक हो, तब मौन भी रहना चाहिए। यह विशेष है कि बोलते समय वचन–समिति का पालन करना चाहिए और मौन के समय वचन–गुप्ति का। यदि वचन–समिति से कब, कितना और कैसे बोलने का विवेक प्राप्त होता है, तो वचन–गुप्ति से यह निर्णय होता है कि प्रसंगविशेष में बोलना उचित भी है या नहीं? दूसरे शब्दों में, यदि आवश्यकता नहीं है, तो नहीं बोलना, यह वचन–गुप्ति का मूल है और आवश्यकता हो, तो अवश्य बोलना, लेकिन आवश्यकतानुसार ही बोलना, यह वचन–समिति का मूल है। इस प्रकार, व्यक्ति को जीवन में बोलने एवं मौन रहने दोनों की ही आवश्यकता है, जिसका निर्णय देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर होना चाहिए।

'कब वचन–गुप्ति का प्रयोग करना और कब वचन–समिति का' यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कई बार जहाँ बोलना चाहिए, वहाँ व्यक्ति मौन हो जाता है और जहाँ उसे मौन रहना चाहिए, वहाँ मुखर। इससे उसके जीवन में कभी–कभी असन्तुलन भी पैदा हो जाता है, जिसे दूर करने के लिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसे वचन–गुप्ति और वचन–समिति के समयानुकूल प्रयोग का विवेक विकसित करना आवश्यक है। यदि वह जीवन की सामाजिक एवं वैयक्तिक वृत्तियों को ध्यान में रखकर वचन–गुप्ति एवं वचन–समिति का पालन करे, तो इस विवेक का विकास आसानी से हो सकता है।

आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार, व्यक्ति व्यक्ति भी है और सामाजिक प्राणी भी। किसी दृष्टि से सामाजिक होना उसके लिए अनिवार्य भी है। वह अपने जीवन की आवश्यकताओं एवं सुविधाओं की पूर्त्ति के लिए समाज पर ही आश्रित है। अतः उसे समाज के सदस्यों के साथ सम्पर्क स्थापित करना ही होता है और जहाँ सम्पर्क स्थापित करना हो, वहाँ सम्प्रेषण (Communication) आवश्यक हो जाता है। उसका सम्प्रेषण तभी प्रभावशाली हो सकता है, जब वह हित, मित, प्रिय एवं निर्दोष वाणी का उचित एवं समयानुकूल प्रयोग करे। अतः यह कहना होगा कि सामाजिक जीवन की सफलता के लिए वचन–समिति का प्रयोग करना व्यक्ति का एक आवश्यक कर्त्तव्य है।[167]

जीवन का दूसरा पक्ष है–वैयक्तिक जीवन। सामाजिक जीवन की तरह वैयक्तिक जीवन का भी अपना महत्त्व है। यद्यपि सामाजिक होना व्यक्ति के विकास का आधार है, फिर भी सामाजिक जीवन में कुछ सुविधाएँ हैं, तो कुछ समस्याएँ भी, जिनका निराकरण वैयक्तिक जीवन की सम्यक् नीतियों के माध्यम से किया जा सकता है। वस्तुतः, समाज विभिन्न विचारधाराओं वाले व्यक्तियों का समूह है, कहा भी जाता है – **'मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्ना'** अर्थात् जितने मुँह, उतनी बातें। यह स्वाभाविक है कि जितनी बातें होंगी, उतनी ही समस्याएँ भी उत्पन्न होंगी। वर्त्तमान में सामाजिक जीवन में ये समस्याएँ क्लेश–कलह, वैर–विरोध, संघर्ष–चिन्ताएँ, अपेक्षाएँ–दुराग्रह आदि की परिस्थितियों के रूप में सामने आ रही हैं। ये समस्याएँ व्यक्ति में तनाव (Stress), थकान (Fatigue) एवं अवसाद (Depression) उत्पन्न कर रही हैं। इनसे बचने का एक ही सूत्र है – व्यक्ति केवल सामाजिक बनकर ही न जिए, अपितु सामाजिक जीवन के साथ–साथ वैयक्तिक जीवन भी जिए।[168]

वैयक्तिक जीवन का अर्थ स्वार्थपूर्ण जीवन नहीं, अपितु अनावश्यक सम्बन्धों से निवृत्त होने से है। यह स्थिति वचन–गुप्ति से प्राप्त हो सकती है। वचन–गुप्ति से व्यक्ति सिर्फ व्यक्ति बनकर जीता है, वह अभाषी हो जाता है। उसकी सुप्त ऊर्जा पुनः प्रकट हो जाती है और उसकी निर्भारता में अनुक्रम से अभिवृद्धि होती चली जाती है। इस प्रकार, वैयक्तिक जीवन की सफलता के लिए सम्यक् वचन गुप्ति (मौन) का प्रयोग करना भी व्यक्ति का एक आवश्यक कर्त्तव्य है।[169] संक्षेप में कहा जा सकता है कि जब सामाजिक जीवन जीना हो, तब भाषा–समिति का पालन करना चाहिए और जब वैयक्तिक जीवन जीना हो, तब भाषा–गुप्ति की साधना करनी चाहिए, यह व्यावहारिक जीवन में सन्तुलन का मार्ग है और सम्यक् वाणी–विवेक का लक्षण भी।

कई प्रसंगों में व्यक्ति मौन तो हो जाता है, लेकिन उसके विचारों की शृंखला तीव्र गति से चलती ही रहती है। मन में बोलने के विचार तो खूब उठते हैं, लेकिन व्यक्ति उन्हें जबरदस्ती रोककर संकेत, इशारे या हुँकारे करता रहता है। वास्तव में, यह मौन का सम्यक् स्वरूप नहीं है।[170]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मौन वही सार्थक है, जिसमें मन और वचन दोनों का पूर्ण संयम रहे और अंतरंग में शान्ति एवं आनन्द की अभिवृद्धि हो। मौन वह है, जिसमें न संकेत हो, न इशारा हो और न ही हुँकारा हो। ऐसा मौन एक घण्टे भी किया जाए, तो भी वह अमूल्य है। यदि ऐसा मौन न हो, तो वह केवल एक ढर्रा या रूढ़ि ही है। एक बार की बात है, एक घर में सास और बहू दोनों मौजूद थीं। सास मौन में बैठी थी, जबकि बहू रसोई में काम कर रही थी। उसी समय एक कुत्ता वहाँ आया और रोटियाँ लेकर भागने लगा। सास ने कुत्ते को देखा। उससे रहा नहीं गया। सास ने लाठी लेकर पीटना प्रारम्भ कर दिया। जैसे ही बहू ने पीछे पलटकर देखा, सास ने उसे इशारा करते हुए बताया – 'देखो! कुत्ता रोटियाँ लेकर भाग रहा है'। क्या यह मौन सार्थक है? नहीं। सार्थक तो वह मौन है, जिसमें व्यक्ति स्वस्थ और शान्त रहे।[171] मौन में बहिर्जल्प और अन्तर्जल्प – इन दोनों का निषेध होना चाहिए। सम्यक् मौन तभी सम्भव है, जब बोलने का प्रयोजन ही समाप्त होता जाए। जैसे–जैसे बोलने का प्रयोजन समाप्त होता जाता है, वैसे–वैसे मौन स्वयं जीवन में उतरने लगता है।[172] भगवान् महावीर का जीवन–चरित्र इसी तथ्य का जीवन्त दृष्टान्त है। संयम–जीवन अंगीकार करने के पश्चात् उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को इतना सीमित कर लिया कि उनके पास बोलने का प्रयोजन ही नहीं बचा और इसीलिए साढ़े बारह वर्ष के साधनाकाल की दीर्घावधि में भी वे प्रायः मौन रहे।[173] कबीर और फरीद के जीवन का भी एक प्रेरक प्रसंग है। ये दोनों महान् साधक किसी अवसर पर मिले। पाँच–छह घण्टों तक आमने–सामने बैठे रहे, लेकिन कोई एक अक्षर भी नहीं बोला। अन्त में बिना बोले ही चले गए। दोनों ने मौन रहकर ही एक–दूसरे को समझ लिया, अतः बोलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

यहाँ यह समझना भी आवश्यक होगा कि संवादहीनता (Communication Gap) मौन नहीं है। आजकल सामुदायिक जीवन में मतभिन्नता और मनभिन्नता से परस्पर वैर–वैमनस्य के स्वर मुखर होते जा रहे हैं। पिता–पुत्र, सास–बहू, माँ–बेटी, पति–पत्नी, सेवक–स्वामी, अधिकारी–अधीनस्थ अथवा गुरु–शिष्य ही क्यों न हो, सभी के बीच कहीं न कहीं मधुर सम्बन्धों में खटास आ रही है। इससे संवादहीनता की स्थितियाँ निर्मित हो रही हैं। एक–दूसरे को देखकर अनदेखा करना अथवा सुनकर भी अनसुना कर देना, आज आम बात हो गई है। कभी–कभी तो यह संवादहीनता लम्बे समय तक जीवन से जुड़ जाती है, यहाँ तक कि आजीवन भी। कई व्यक्ति यह कहते हुए सुनाई देते हैं – 'आज के बाद मुझसे बात करने की जरुरत नहीं है', 'मैं तो उससे अब कभी बात नहीं करुंगा', 'मेरी और उसकी बरसों से बातचीत बन्द है' इत्यादि। कभी–कभी तो यह संवादहीनता पीढी–दर–पीढ़ी भी चलती रहती है। प्रश्न उठता है कि क्या यह उचित है? और क्या जैनाचार्य ऐसी संवादहीनता के पक्षधर हैं? नहीं। उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा है – वचन–गुप्ति (मौन) से निर्विकार भावों की प्राप्ति होनी चाहिए, अंतरंग में द्वेष और द्वन्द्व हो और बाह्य में मौन (संवादहीनता) हो, तो यह कोई उचित समाधान नहीं है। ऐसे प्रसंगों में जैनाचार्यों ने बाह्य मौन की अपेक्षा समता को प्राथमिकता देने का निर्देश दिया है। कहा गया है – **'अणेगछन्दा इह माणवेहिं'** अर्थात् इस संसार में मनुष्यों के विचार, शौक,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव, रुचियाँ आदि भिन्न–भिन्न प्रकार की होती हैं।[174] अतः प्रिय या अप्रिय दोनों को समभाव से सहन करना चाहिए। इसके लिए स्वाध्याय की साधना अपनानी चाहिए, क्योंकि स्वाध्याय सभी विषयों पर प्रकाश डालता है।[175] इससे हमारी गलतफहमियाँ, क्रोध, अहंकार, असूया आदि दुर्भाव विनष्ट हो जाते हैं।[176] कहा भी गया है–'स्वाध्याय करने से समस्त दुःखों, तनावों एवं अशान्ति से मुक्ति मिल जाती है।'[177] वस्तुतः स्वाध्याय वह माध्यम है, जिससे प्राप्त सम्यग्ज्ञान से आत्म–शुद्धि होती है और यही आत्म–शुद्धि सम्यक् वचन–गुप्ति (मौन) का आधार है।

जीवन–व्यवहार में मौन का प्रयोग कहाँ–कहाँ किया जा सकता है, यह प्रश्न भी विचारणीय है। जैनाचार्यों ने मूल में देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर इसका निर्णय करने का निर्देश दिया है। शब्द तो केवल सृजन और संहार करने में समर्थ होता है, किन्तु मौन का प्रभाव शब्द से भी अधिक गहरा है। कहा भी गया है – 'बोलने के लिए वाणी चाहिए, पर चुप रहने के लिए वाणी और विवेक दोनों चाहिए। अतः कब चुप रहना है, उस क्षण को जान लेना बहुत मूल्यवान् है।'[178] कहा जा सकता है कि प्रगाढ़ चिन्तन–मनन करके ही व्यक्ति को 'बोलने' अथवा 'मौन रहने' का निर्णय करना चाहिए।

फिर भी कुछैक ऐसे प्रसंग जीवन में आते हैं, जहाँ सामान्य रूप से मौन का पालन किया जाना ही चाहिए। 'मत बोलो अणगमती वाणी' – इस लेख में साधक के व्यक्तित्व में निखार लाने के लिए मौन–प्रयोग के लिए योग्य प्रसंगों के निर्देश दिए गए हैं, जैसे –

1) भोजन करते समय
2) चलते समय
3) बड़ो के सामने
4) सभास्थलों में
5) शयन से पूर्व
6) श्मशान भूमि पर
7) वाणी की प्रियता बढ़ाने के लिए
8) समस्या के समाधान पाने के लिए
9) रोग–मुक्ति के लिए
10) स्मृति–विकास के लिए[179]

यदि उपर्युक्त बिन्दुओं की मीमांसा की जाए, तो आज के परिवेश में इनकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध हो जाती है। भोजन करते हुए बातें करने से कई बार क्या खाने में आ रहा है, इसका विवेक नहीं रह पाता। यहाँ तक कि भोजन श्वासनली में भी जा सकता है। चलते–चलते कई लोग आपस में अथवा मोबाईल पर बातें करते रहते हैं और ध्यान चूकने से बड़ी दुर्घटनाएँ घटित हो जाती हैं। बड़े गुरुजन आदि जब आपस में वार्ता करते हों अथवा भाषण आदि करते हों, तो उनके बीच में बोलने से हम अशिष्ट और मूर्ख कहलाते हैं और कभी–कभी कोप के भागी भी बन जाते हैं।[180] बड़ों के अनुशासन से कुपित होने पर व्यक्ति अशिष्ट भाषा का भी प्रयोग कर लेता है, जिससे बड़ों से प्राप्त होने वाले ज्ञानादि की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से वंचित रह जाता है।[181] प्रवचन आदि सभास्थलों में हमारा उद्देश्य केवल श्रवण का होना चाहिए, लेकिन वहाँ पर भी यदि हम अपनी बातें शुरु कर देते हैं, तो इससे न केवल उपयोगी विषयों के श्रवण से वंचित रह जाते हैं, अपितु दूसरों के कोपभाजन बन जाते हैं। शयन से पूर्व वाणी–विकल्पों का विश्राम आवश्यक है, ऐसा नहीं करने पर रात्रि में निरंकुश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घोड़े के समान हमारी विचार–तरंगे प्रवाहित होती ही रहती हैं। श्मशान–भूमि पर जहाँ वैराग्यवर्धक वातावरण होता है, वहाँ भी मौन नहीं रख पाना व्यक्ति की संकुचित और अव्यावहारिक मानसिकता का द्योतक है। वाचाल व्यक्ति इस गलतफहमी में रहता है कि अधिक बोलना उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता है, लेकिन अक्सर वह निन्दा और उपहास का पात्र बन जाता है, उसकी वाणी की प्रियता समय के साथ–साथ घटती जाती है। अधिक और लगातार बोलने से व्यक्ति की चिन्तनशीलता, स्मरणशक्ति, निर्णय–क्षमता का ह्रास होता है। खलील जिब्रा ने कहा भी है – 'In much talking, thinking is half murdered' अर्थात् अधिक बोलने से विचार अधमरे हो जाते हैं। इस प्रकार जीवन के ऐसे अनेकानेक प्रसंग हैं, जहाँ सामान्य रूप से मौन रहना ही श्रेयस्कर है।[182]

मौन में स्व–पर कल्याण की पावन भावना को साकार करने की भी अमोघ शक्ति है। भगवान् महावीर से किसी ने बैलों के विषय में जब पूछा – हे महात्मन्! क्या आपने मेरे बैलों को जाते हुए देखा? भगवान् महावीर चाहते तो बता सकते थे, लेकिन किसी प्राणी की स्वतंत्रता को क्योंकर बाधित करते, अतः मौन रह गए। यह मौन सम्बन्धी विवेक की प्रेरक–घटना है।[183]

भले ही मारणान्तिक कष्ट सहना पड़े, लेकिन मौन को नहीं छोड़ना, यह जैनाचार्यों के जीवन–चरित्र से सहज ही ज्ञात होता है। ऐसी ही एक हृदयस्पर्शी घटना है – मेतार्यमुनि की। आहार प्राप्ति के आशय से वे एक स्वर्णकार (सोनी) के घर पहुँचे। वह सोनी तत्काल सुपात्रदान के उल्लसित भावों से भीतर घर में घुसा। बाहर स्वर्णनिर्मित जौ के दाने रखे थे। एक क्रौंच पक्षी उसी अन्तराल में उड़ते हुए वहाँ पहुँचा, जौ के दाने चुगे और सामने एक पेड़ की शाखा पर बैठ गया। वह सोनी मुनिश्री को बुलाने के लिए जैसे ही बाहर आया, तो उसे जौ के दाने नहीं दिखे। उसी समय शंका–कुशंका के बादल छा गए। लोभान्ध होकर मुनि से पूछा – 'मेरे जौ के दाने कहाँ गए'? मुनि ने कोई जवाब नहीं दिया। उन्हें मालूम था कि 'यदि मैनें बता दिया, तो आज क्रौंच पक्षी की मौत सुनिश्चित है।' मन में निःस्वार्थ करुणा उपजने लगी। मुनि मौन रह गए। मुनि को पाखण्डी चोर जानकर सोनी अति आक्रोश में आ गया और एक गीले चर्म का पट्टा मुनिश्री के ललाट पर बाँध दिया। प्रचण्ड धूप में चर्म–पट्टा सूखने लगा। पट्टा जैसे–जैसे सूखता गया, वैसे–वैसे सिकुड़ता गया। मुनिश्री शान्त और अविचल रहे। सिर कसता गया, असह्य कष्ट होने लगा, लेकिन मुनिश्री का मौन नहीं टूटा और समता भाव बना रहा। कुछ ही क्षणों में उनका प्राणान्त हो गया। इतने में एक लकड़हारिन उधर से लकड़ी का ढेर लेकर निकली। वृक्ष की छाया में कुछ देर विश्राम करने के लिए उसने अपना गट्ठर (भारा) धड़ाम से नीचे रखा। जोर से आवाज होने पर वृक्ष पर बैठे क्रौंच पक्षी ने बीट कर दी। बीट में से जौ के दाने चमकने लगे। यह देखकर सोनी की आँखे फटी की फटी रह गई। उसे अपनी गलती का एहसास होते देर नहीं लगी। किन्तु तब तक मुनिराज के प्राणपखेरु उड़ चुके थे। धन्य हैं वे मुनिराज, जिन्होंने द्वेष में आकर नहीं, अपितु स्व–पर कल्याणार्थ मौन धारण किया था।[184]

मौन की जितनी सराहना की जाए उतनी कम है। मौन मन को शान्त करने का सार्वकालिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधन है। लाओत्से ने तो यहाँ तक कह दिया कि जैसे रोती हुई चिड़िया के लिए घोंसला विश्राम–स्थल है, वैसे ही अशान्त एवं तनावग्रस्त व्यक्ति के लिए मौन विश्राम–स्थल है। मौन से व्यक्ति को आत्मिक आह्लाद की अनुभूति भी होती है। समय–प्रबन्धन करने के लिए भी मौन अत्यावश्यक है। मौन का अभ्यासी कई झगड़ों–झंझटों से भी अपने आप को बचा लेता है और विशेष शान्ति का अनुभव करता है। कई बार हमें यह एहसास होता है कि 'यहाँ पर मैं बोला ही क्यों? फालतू राई का पर्वत बन गया'।[185] जैनाचार्यों ने मौन की उपादेयता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'मौन तो आत्मा का सहज स्वभाव है।'[186] जहाँ वचन–व्यवहार है, वहाँ कर्म–बन्धन है और जहाँ कर्म–बन्धन है, वहाँ संसार–परिभ्रमण है। अतः मौन कर्मबन्धन से बचने का सन्मार्ग है।[187] इस प्रकार मौन मानव–जीवन की विवशता नहीं, वरन् मानव–जीवन का अलंकार है। यह तो व्यक्ति के व्यक्तित्व को तेजस्वी, ओजस्वी और यशस्वी बनाता है।

6.6.7 वक्तृत्व के साथ श्रवणकला का सम्यक् समन्वय

अभिव्यक्ति–प्रबन्धन के लिए वक्तृत्वकला के साथ–साथ श्रवणकला का विकास भी अत्यन्त आवश्यक है। सही ढंग से श्रोतापने का विकास किए बिना सम्यक् अभिव्यक्ति करना भी असम्भव है। वस्तुतः, कुशल श्रोता ही कुशल वक्ता बन सकता है। कुशल श्रोता ही वक्ता के अभिप्राय, वक्ता की कथनशैली और तात्कालिक सन्दर्भ के आधार पर शब्द अथवा कथन के सही अर्थ को समझ पाता है।

यह मान्यता भ्रामक है कि अभिव्यक्ति–प्रबन्धन के लिए केवल बोलने की कला ही सब कुछ है। किसी दृष्टि से तो सुनने की कला का महत्त्व बोलने की कला से भी अधिक है, क्योंकि वक्ता का आशय सम्यक् प्रकार से समझे बिना हम अपनी अभिव्यक्ति की प्रस्तुति सम्यक् प्रकार से कैसे कर सकेंगे? कदापि नहीं। अतः जैनाचार्यों ने शब्द अथवा कथन के सही अर्थ को समझने पर अत्यधिक जोर दिया है। आवश्यकता है कि हम सिर्फ वक्ता के शब्दों की ओर ही न जाएँ, अपितु वक्ता के अभिप्राय को भी समझें। उदाहरण के लिए 'पधारिए' शब्द भारतीय संस्कृति का द्योतक और शिष्ट व्यक्तियों द्वारा सामान्य रूप से प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द है, किन्तु इसके दो विशिष्ट प्रयोग हैं – पहला 'आने' के अर्थ में और दूसरा 'जाने' के अर्थ में। यहाँ पर दोनों अर्थ विलोमार्थी हैं, अतः सही श्रोता वही है, जो वक्ता के शब्द की ओर ही नहीं जाए, बल्कि उसके सही अभिप्राय को भी समझे। तभी श्रोता सफल एवं स्वस्थ संप्रेषण में सहयोगी बन सकता है।[188]

यदि श्रोता वक्ता के सही अभिप्राय को समझने में भूल करता है, तो इससे परस्पर मतभिन्नता एवं मनभिन्नता पैदा हो जाती है। यह वर्त्तमान युग की ज्वलन्त समस्या है। आज इससे ही पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गलतफहमी, मनोमालिन्य, मनमुटाव, बिखराव एवं अन्ततः विघटन की स्थितियाँ निर्मित हो रही हैं। भाई–भाई, पिता–पुत्र, माँ–बेटी, पति–पत्नी, सास–बहू, अड़ोसी–पड़ोसी, गुरु–शिष्य, स्वामी–नौकर आदि अनेकानेक नाजुक एवं निकट के सम्बन्धों में भी आत्मीयता का ह्रास हो रहा है। परस्पर स्वस्थ–संवाद के स्थान पर विवाद अथवा असंवाद तूल पकड़

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहे हैं, श्रवणकला के अभाव में परस्पर सामंजस्य स्थापित करना अतिकठिन होता जा रहा है। संयुक्त परिवार तो दूर की बात, आज एकल परिवार में भी सामंजस्य की कमी है, हर व्यक्ति सिर्फ अपनी हाँकना चाहता है। उसे सिर्फ अपनी बात सुनाने की इच्छा है, किन्तु दूसरों की बातों को धैर्य, विनम्रता और शान्ति के साथ सुनने में रुचि नहीं है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि कोई भी व्यक्ति किसी को सुनना एवं समझना ही नहीं चाहता। घर हो या कार्यालय, शिक्षालय हो या चिकित्सालय, कोर्ट हो या कोतवाली, संसद हो या विधानसभा प्रायः सभी ओर इसी समस्या का आधिक्य है। स्पष्ट है कि सम्यक् श्रवणकला का विकास करना भी अभिव्यक्ति–प्रबन्धन की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

आगे, श्रवणकला के विकास से सम्बन्धित सिद्धान्तों की चर्चा जैनदर्शन के आधार पर की जा रही है –

जैनदर्शन में नय और निक्षेप

जैनाचार्यों ने शब्द या कथन के सम्यक् अभिप्राय को समझने के लिए 'नय' और 'निक्षेप' के सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं।[189] इन सिद्धान्तों के आधार पर सम्यक् अर्थ निर्धारण करके हम अपनी प्रतिक्रियाओं को सम्यक्तया प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रतिक्रियाओं अथवा प्रत्युत्तरों पर सम्यक् नियंत्रण तभी सम्भव हो सकेगा, जब हम वक्ता के आशय को सही ढंग से समझें। कहा भी गया है – 'पहले तौलो, फिर बोलो'।[190] बिना सोचे–विचारे की गई बातें अनर्थ का कारण बन जाती हैं और तब राई का पर्वत बनते देर नहीं लगती। इस गहन समस्या का एक ही समाधान है और वह है – अनेकान्तवाद पर आधारित 'नय' और 'निक्षेप' के सिद्धान्त।

(क) नय – नय का शाब्दिक अर्थ है – नजरिया या दृष्टिकोण (Point of View)। दूसरे प्रकार से **'वक्तुरभिप्रायो नयः'** अर्थात् वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं।[191] कहने का आशय यह है कि जिस दृष्टिकोण से वक्ता का कथन होता है, उसी दृष्टिकोण से श्रोता का श्रवण भी होना चाहिए अर्थात् समान नय से संप्रेषण (Communication) होने पर मतभिन्नता नहीं हो सकती, प्रत्युत मतैक्य स्थापित हो जाता है। यही प्रबन्धन की दृष्टि से नय–सिद्धान्त का महत्त्व है। श्रोता को चाहिए कि वह सम्यक् नय का प्रयोग कर वक्ता के अभिप्राय को तात्कालिक सन्दर्भ के आधार पर समझे।

किसी एक प्रसंग को लेकर जितने वचन–व्यवहार (कथन करने की शैलियाँ) सम्भव हैं, उतने ही नय होते हैं।[192] फिर भी मोटे तौर पर जैनाचार्यों ने सात नयों का निर्देश दिया है, जो इस प्रकार हैं –

1) नैगम नय[193] – सर्वार्थसिद्धि के अनुसार, **'संकल्पमात्रग्राही नैगमः'** अर्थात् नैगमनय केवल वक्ता के संकल्प (साध्य) को ग्रहण करता है।[194] इस नय (दृष्टिकोण) से किए जाने वाले कथनों में वक्ता की दृष्टि वर्त्तमान पर नहीं होते हुए भूतकालीन या भविष्यकालीन किसी साध्य पर होती है, जैसे – प्रत्येक चैत्र सुदी तेरस के दिन को 'महावीर–जयन्ती' कहना 'भूत नैगमनय' हैं अथवा चिकित्सा महाविद्यालय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में अध्ययनरत विद्यार्थी को अभी से 'डॉक्टर' कहना 'भविष्य नैगमनय' है।

2) संग्रहनय[195] – व्यष्टि (व्यक्ति) को गौण करके समष्टि को कथन का आधार बनाना संग्रहनय का कार्य है। आशय यह है कि इस नय में व्यक्ति की उपेक्षा करके जाति या समूह के आधार पर कथन किया जाता है। उदाहरण के लिए 'भारतीय गरीब हैं' ऐसा कथन व्यक्तिविशेष पर लागू न होकर सामान्यरूप से भारतीय जनसमाज को इंगित करता है। यदि कोई यह निष्कर्ष निकाले कि मुकेश अम्बानी या जमशेदजी टाटा भारतीय हैं, अतः वे भी गरीब हैं, तो यह उस श्रोता की श्रवण–कला का दोष है, क्योंकि उसने वक्ता के अभिप्राय (नय) को सम्यक् रूप से नहीं समझा। वस्तुतः, कथन सामान्य का सूचक था, किन्तु उसने व्यक्तिविशेष पर लागू कर दिया, जो दोषपूर्ण है।

3) व्यवहार नय[196] – इसे व्यक्तिप्रधान दृष्टिकोण भी कहते हैं, क्योंकि यह नय समग्रता की उपेक्षा करके वैयक्तिकता पर जोर देता है। इस नय के द्वारा समष्टि के बजाय व्यष्टि के सन्दर्भ में निष्कर्ष एवं कथन किए जाते हैं। उदाहरणतः, प्रत्येक आत्मा को समान कहना यह संग्रहनय का विषय है, जबकि अवस्था के आधार पर किसी आत्मा को संसारी और किसी आत्मा को मुक्त कहना, यह व्यवहार नय का विषय है। श्रोता को चाहिए कि व्यवहार नय से किए गए कथन को संग्रह नय से समझने की भूल न करे और न ही व्यवहार नय को एकान्त से स्वीकार कर अन्य नयों का पूर्ण निषेध करे।

साथ ही, व्यवहार नय कथन के शब्दार्थ पर न जाकर वक्ता की भावना या लोकपरम्परा को प्रमुखता देता है।[197] उदाहरणतः, 'जाओ, पानी की टंकी खाली कर दो'। यहाँ ज्ञातव्य है कि टंकी तो सीमेंट की है, लेकिन चूँकि उसमें पानी भरा जाता है, अतः लोकव्यवहार में 'पानी की टंकी' कही जाती है। श्रोता को चाहिए कि वह वक्ता के अभिप्राय को महत्त्व दे, न कि शब्दों को।

4) ऋजुसूत्रनय – यह नय वर्त्तमान स्थितियों को ही दृष्टि में रखकर कोई कथन करता है।[198] उदाहरण के लिए 'भारतीय व्यापारी प्रामाणिक नहीं हैं' – यह कथन केवल वर्त्तमान सन्दर्भ में ही सत्य हो सकता है। इस कथन के आधार पर हम भूतकालीन या भविष्यकालीन भारतीय व्यापारियों के चरित्र का निर्धारण नहीं कर सकते।[199] वस्तुतः यहाँ श्रोता के लिए आवश्यक है कि जो वाक्य जिस काल के सन्दर्भ में कहा गया है, उसके अर्थ का निश्चय भी उसी काल के सन्दर्भ में होना चाहिए।

5) शब्दनय[200] – शब्दनय यह बताता है कि शब्दों का वाच्यार्थ उनकी क्रिया, विभक्ति, काल, कारक, लिंग, वचन, उपसर्ग, विराम आदि के आधार पर भिन्न–भिन्न हो सकता है।[201] उदाहरण के लिए, 'राम ने भेजा' और 'राम को भेजा' का वाच्यार्थ एक नहीं है, क्योंकि प्रथम वाक्य में राम वह व्यक्ति है, जो किसी को भेजता है तथा द्वितीय वाक्य में कोई दूसरा व्यक्ति राम को भेजता है। अतः श्रोता को पूरी एकाग्रता के साथ कथन का श्रवण कर क्रिया, विभक्ति, काल आदि के आधार पर कथन के अभिप्राय को समीचीन ढंग से समझना चाहिए, ताकि अर्थ का अनर्थ न हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6) समभिरूढनय[202] – यह नय एक ही वस्तु के पर्यायवाची शब्दों को व्युत्पत्ति की दृष्टि से भिन्न–भिन्न अर्थ का सूचक मानता है।[203] उदाहरणार्थ, राजा, नृप, भूपति आदि एकार्थक शब्दों के भी यह नय अलग–अलग अर्थ करता है, जैसे – राजचिह्नों से शोभित 'राजा', मनुष्यों का पालन करने वाला 'नृप', और भूमि का स्वामी 'भूपति' कहलाता है।

श्रोता को चाहिए कि वह समभिरूढ़नय से प्रयुक्त कथन अथवा शब्द का विश्लेषण व्युत्पत्ति–लभ्य अर्थ के आधार पर करे, जिससे वह वक्ता के आशय को समुचित ढंग से समझ सके।

7) एवंभूतनय[204] – यह नय शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण उसकी वर्त्तमानकालिक क्रिया के आधार पर करता है। यह शब्द का व्युत्पत्ति–सिद्ध अर्थ भी तभी स्वीकार करता है, जब तदनुरूप क्रिया घटित हो रही हो। उदाहरणतः, कोई राजा जिस समय राजदण्ड, छत्र, चँवर आदि राजचिह्नों से सुशोभित हो, उसी समय उसे राजा कहा जा सकता है। एक अध्यापक जिस समय अध्यापन कार्य कर रहा हो, तभी अध्यापक कहा जा सकता है। सफल श्रोता के लिए आवश्यक है कि वह एवंभूतनय द्वारा प्रयुक्त शब्द को उसी सन्दर्भ में सम्यक् प्रकार से ग्रहण करे।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैनदर्शन का यह नय–सिद्धान्त वाक्य–संरचना, वक्ता की शैली और तात्कालिक सन्दर्भों के आधार पर वक्ता के अभिप्राय को समझने का सही माध्यम है।[205]

(ख) निक्षेप[206] – जैनदर्शन में यदि वाच्यार्थ का सम्यक् निर्धारण करने के लिए नय–सिद्धान्त है, तो शब्दविशेष के अर्थ का सम्यक् निर्धारण करने हेतु निक्षेप–सिद्धान्त है। अन्य प्रकार से कहें तो सन्दर्भ के आधार पर शब्द के अर्थ का निश्चय करने को निक्षेप कहते हैं। कहा भी गया है कि शब्द के अप्रस्तुत अर्थ का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ का निरूपण जिसके द्वारा किया जाता है, वही निक्षेप है।[207] निक्षेप का ही अपर नाम 'न्यास' है।

पं. सुखलालजी के अनुसार, 'समस्त व्यवहार या ज्ञान के लेन–देन का मुख्य साधन भाषा है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रयोजन या प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ मिलते हैं। ये चारों ही उस शब्द के अर्थ–सामान्य के चार विभाग हैं, जिन्हें निक्षेप या न्यास कहते हैं। इन्हें जान लेने पर ही वक्ता का सही आशय समझा जा सकता है।'[208]

ये चार निक्षेप इस प्रकार हैं – 1) नाम, 2) स्थापना, 3) द्रव्य और 4) भाव।[209]

1) नामनिक्षेप[210] – लोक–व्यवहार के प्रयोजन से किसी का नामकरण करना ही नामनिक्षेप कहलाता है। इस नामकरण की प्रक्रिया में न तो नाम के अनुरूप गुणों का विचार किया जाता है और न ही उसके लोकप्रचलित अर्थ का। यह तो केवल किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, काल, घटना अथवा भाव की पहचान के लिए रखा जाता है। उदाहरण के लिए, किसी डरपोक व्यक्ति का नाम भी बहादुर सिंह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रखा जा सकता है। इसी प्रकार, कभी यह नामकरण अन्य अर्थों में प्रचलित शब्दों, जैसे – रवि, शशि, छाया, इन्द्र आदि से किया जा सकता है, तो कभी यह नामकरण अप्रचलित शब्दों, जैसे – रिंकू, पिंकू, मोनु तथा टोनु आदि से भी कर दिया जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि नाम–निक्षेप में कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें एक शब्द से एक ही अर्थ का ग्रहण होता है। श्रोता के लिए यह आवश्यक है कि वह नाम श्रवण करके नियत वस्तु को समझ सके और व्युत्पत्तिपरक अर्थ के अनुरूप ही नाम हो, ऐसा मताग्रह न रखे।

2) स्थापनानिक्षेप[211] – किसी अनुपस्थित पदार्थ को उपस्थित पदार्थ के माध्यम से समझना स्थापनानिक्षेप कहलाता है। आशय यह है कि किसी वस्तु की प्रतिकृति, मूर्त्ति या चित्र में उस मूलभूत वस्तु का आरोपण कर उसे उस नाम से अभिहित करना स्थापनानिक्षेप होता है। उदाहरण के लिए गाय की आकृति के खिलौने को गाय कहना, कृष्ण की प्रतिमा को कृष्ण कहना और नाटक में राम, रावण आदि का अभिनय करने वाले पात्रों को राम, रावण आदि कहना।

यह स्थापना दो प्रकार की होती है – तदाकार एवं अतदाकार। मूल वस्तु की आकृति जैसी है, वैसी ही आकृति वाली वस्तु में उस मूल वस्तु का आरोपण करना **'तदाकार स्थापनानिक्षेप'** कहलाता है, जैसे – भगवान् महावीर की मानवाकार मूर्त्ति को भगवान् महावीर कहना आदि। जो वस्तु अपनी मूल वस्तु की प्रतिकृति तो नहीं है, फिर भी उसमें मूल–वस्तु का आरोपण करना **'अतदाकार स्थापनानिक्षेप'** कहलाता है, जैसे – शतरंज की मोहरों को हाथी, घोड़ा, राजा या वजीर कहना आदि। श्रोता को चाहिए कि वह न तो स्थापना को मूल–वस्तु मानने की भूल करे और न स्थापनानिक्षेप का सर्वथा निषेध करे। सही श्रोता मूल वस्तु को समझने के लिए स्थापनानिक्षेप को साधन के रूप में प्रयोग करे, यही उचित है, क्योंकि स्थापनानिक्षेप मूलवस्तु को समझने का सशक्त दृश्यमान माध्यम है।

3) द्रव्यनिक्षेप[212] – वस्तु की भूतकालीन अथवा भविष्यकालीन अवस्था को वर्त्तमान में भी उसी नाम से पहचानना द्रव्यनिक्षेप कहलाता है, जैसे – सेवानिवृत्त अध्यापक को 'मास्टरजी' कहना अथवा वर्त्तमान में वकालत की शिक्षा ग्रहण कर रहे विद्यार्थी को 'वकील साहब' कहना इत्यादि। श्रोता को चाहिए कि वक्ता द्वारा प्रयुक्त द्रव्यनिक्षेप को वस्तु की वर्त्तमानकालीन अवस्था मानने की भूल न करे। वह द्रव्यनिक्षेप का प्रयोग प्रयोजन के अनुसार करे, जिससे वस्तु के भूत अथवा भविष्य को आधार बनाकर वस्तु की सही समझ विकसित की जा सके।

4) भावनिक्षेप[213] – जिस स्थिति में वस्तु वर्त्तमान में विद्यमान है, उसे वैसा ही कहना, भावनिक्षेप कहलाता है, जैसे – सेवाकार्य में रत व्यक्ति को सेवक कहना। सम्यक् श्रोता के लिए यह उचित है कि वह भावनिक्षेप से निरुपित वस्तु को वर्त्तमान अवस्था में तदनुरूप ही समझे। वस्तुतः, नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेप तो मूल वस्तु को समझने के लिए साधनरूप है, जबकि भावनिक्षेप साध्यरूप है। सम्यक् श्रोता साधनरूप तीनों निक्षेपों का श्रवण करके साध्य रूप वस्तु को भावनिक्षेप से समझ लेता है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने प्रयोजन की सिद्धि कर लेता है।[214]

डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार, वक्ता के अभिप्राय अथवा प्रसंग के अनुरूप शब्द के वाच्यार्थ को ग्रहण करने के लिए निक्षेप–सिद्धान्त का बोध होना आवश्यक है। एक ही शब्द अथवा कथन प्रसंगानुसार अपने चार अर्थों को प्रस्तुत करता है। 'राजा' शब्द कभी राजा नामधारी व्यक्ति का वाचक होता है, तो कभी राजा का अभिनय करने वाले पात्र का वाचक भी होता है। इसी प्रकार, कभी वह भी भूतकालीन राजा का वाचक होता है, तो कभी वह वर्त्तमान में शासन करने वाले व्यक्ति का वाचक भी होता है। निक्षेप का सिद्धान्त यह बताता है कि हमें किसी शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण उसके कथन एवं प्रसंग के अनुरूप ही करना चाहिए अन्यथा अर्थ का अनर्थ होते देर नहीं लगती। निक्षेप का सिद्धान्त शब्द के वाच्यार्थ के सम्यक् निर्धारण का सिद्धान्त है, जो कि जैन–दार्शनिकों की अपनी एक विशेषता है।[215]

इस प्रकार, नय एवं निक्षेप के सिद्धान्त श्रोता एवं वक्ता के मध्य सम्यक् सामंजस्य स्थापित करने के लिए अनुपम साधन है। जैनाचार्यों ने स्पष्ट कहा है – श्रोता को चाहिए कि वह वाच्यार्थ का सम्यक् निर्धारण करने के लिए शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ – इन पाँचों का सम्यक् प्रयोग करे (देखें अध्याय 03)।[216] अर्थ का उचित विश्लेषण करने के पश्चात् ही श्रोता वक्ता की भाषिक–अभिव्यक्ति का सम्यक् अर्थ समझ सकता है। अतः श्रवणकला का विकास करना अर्थात् वक्ता के शब्द या कथन के सम्यक् अर्थ का निर्धारण करना अभिव्यक्ति–प्रबन्धन के लिए नींव के पत्थर के समान अतिमहत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार, अभिव्यक्ति–प्रबन्धन के विशिष्ट पहलुओं की विस्तृत चर्चा इस अध्याय में की गई। कहा जा सकता है कि बोलने और सुनने की कला का सम्यक् समन्वय ही अभिव्यक्ति–प्रबन्धन है। इस हेतु जैनाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्तों का अनुपालन कर व्यक्ति कथन एवं अर्थ का उचित निर्धारण करके सम्यक् सम्प्रेषण करता हुआ जीवन में शान्ति और आनन्द की चिरस्थायी प्राप्ति कर सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.7 भाषिक–अभिव्यक्ति–प्रबन्धन : प्रायोगिक अध्ययन

इस प्रकार, हमने देखा कि व्यावहारिक जीवन में सुव्यवस्थित, सन्तुलित एवं समीचीन वाणी व्यवहार के लिए जैनाचार्यों ने अनेकानेक सिद्धान्त एवं निर्देश दिए हैं। इनका यथाशक्ति परिपालन कर जीवन को अधिक आनन्दमय एवं उन्नत बनाया जा सकता है। यहाँ पर उदाहरणस्वरूप एक प्रारूप (Model) प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसका पालन करके कोई भी व्यक्ति अपना अभिव्यक्ति–प्रबन्धन सफलतापूर्वक कर सकता है –

1) गाली–गलौज युक्त अपशब्दों का प्रयोग नहीं करना।
2) 'तू' के स्थान पर 'तुम' का और सम्भव हो तो 'आप' का प्रयोग करना।
3) चाहे व्यक्ति उम्र, पद, शिक्षा, सम्पन्नता, प्रसिद्धि, प्रतिभा एवं प्रतिष्ठा में निम्न क्यों न हो, उसके साथ अपमानजनक एवं तुच्छतापूर्ण वाणी–व्यवहार कतई नहीं करना, उल्टा उचित सम्मान एवं प्रोत्साहन देकर उसका विश्वास जीतना।
4) जोर–जोर से नहीं बोलना।
5) अति नहीं बोलना।
6) अमर्यादित हँसी–मजाक नहीं करना, बल्कि व्यक्तित्व को गम्भीर बनाना।
7) अशुद्ध उच्चारण, पुनरुक्ति दोष, तीव्र गति से बोलने एवं अस्पष्ट बोलने से बचना।
8) किसी को भी डराने–धमकाने वाली अभद्र वाणी का प्रयोग नहीं करना, जैसे – हाथ–पैर तोड़ दूँगा, जबान खींच लूँगा, तुझे देख लूँगा, जान से मार डालूँगा, हड्डी–पसली तोड़ दूँगा इत्यादि।
9) किसी पर भी व्यंग्य नहीं कसना।
10) प्रार्थना एवं याचना हेतु आदर सूचक शब्दों का प्रयोग अवश्य करना, जैसे –
    i) जरा अपना पेन देना — अशुद्ध
    ii) क्या आप अपना पेन देंगे? — शुद्ध
    iii) Would you give me your pen, please? — शुद्ध
11) निवेदनवाची वाक्यों को आज्ञावाची अथवा सूचनावाची शैली में प्रयोग नहीं करना, जैसे –
    i) पिताजी! मैं आज घूमने जाऊँगा — अशुद्ध
    पिताजी! क्या मैं आज घूमने जाऊँ? — शुद्ध
    Papa! May I go for outing today? — शुद्ध
    ii) तुम आज मेरा काम कर देना — अशुद्ध
    क्या आप आज मेरा काम कर देंगे? — शुद्ध
    Will you please complete my work today? — शुद्ध
12) कार्य–पूर्त्ति के पश्चात् आभार व्यक्त करना, जैसे –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

i) धन्यवाद — Thanks.

ii) बहुत–बहुत धन्यवाद — Thanks a lot.

13) अन्यों के द्वारा आभार या धन्यवाद ज्ञापित करने पर शिष्टतापूर्वक प्रत्युत्तर देना, जैसे –

i) यह मेरे लिए बहुत खुशी की बात है। — It's my pleasure.

ii) आपका हमेशा स्वागत है। — You're always welcome.

iii) अत्यन्त खुशी हुई। — With great pleasure.

14) स्वयं के द्वारा गलती होने पर तत्काल क्षमायाचना करना, जैसे –

i) मिच्छा मि दुक्कड़ं — I'm sorry.

ii) मुझे माफ कीजिएगा — Please forgive me/I beg your pardon.

iii) क्षमाप्रार्थी हूँ — I'm sorry.

15) अन्यों के द्वारा गलती की क्षमायाचना करने पर शिष्टतापूर्वक प्रत्युत्तर देना, जैसे –

i) कोई बात नहीं — It's O.K.

ii) विचार मत कीजिएगा — Mention not / Never mind

16) मुलाकात होने पर आगन्तुक का शिष्टतापूर्वक अभिवादन करना, जैसे –

i) जय जिनेन्द्र — Jai Jinendra

ii) प्रणाम/नमस्ते/वणक्कम् — I salute you.

iii) वंदामि/वंदे — I pay an obeisance.

iv) मत्थएण वंदामि — I bow my head.

v) सुप्रभात/शुभ सन्ध्या — Good morning / Good evening

vi) शुभ रात्रि/शुभ दिवस — Good night / Good day

vii) आपकी सुखसाता है? — How do you do? or How are you?

viii) आपका स्वागत है। — You're welcome

ix) पधारिए — Please come / Welcome

17) किसी के द्वारा अभिवादन करने पर उचित प्रत्युत्तर देना, जैसे –

i) जय जिनेन्द्र — Jai Jinendra

ii) प्रणाम/नमस्ते/वणक्कम् — I too salute you

iii) सुप्रभात/शुभ सन्ध्या — Good morning / Good evening

iv) शुभ रात्रि/शुभ दिवस — Good night / Good day

v) जी हाँ, बिल्कुल स्वस्थ हूँ। — Oh yes, I'm fine/alright

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

18) विदा होते समय अथवा विदाई देते समय अभिवादन करना नहीं भूलना, जैसे –

i)	पुनः मिलेंगे।	See you
ii)	कृपया पुनः अवश्य पधारिएगा।	Please do come again / Please visit again
iii)	अलविदा	Bye–bye/Good bye

19) प्रसंगानुकूल प्रेरक कथन का प्रयोग कर दूसरों के लिए शुभकामना प्रेषित कर उनका मनोबल बढ़ाना, जैसे –

i)	खूब–खूब बधाई हो!	Many many congratulations!
ii)	दीर्घायु हो!	May you live long!
iii)	खुश रहो!	Be happy!
iv)	खूब उन्नति करो!	May you progress a lot!
v)	आपका भाग्य उत्तम हो!	Best of luck/Good luck!
vi)	स्वास्थ्य पर ध्यान दीजिएगा।	Please take care of your health.
vii)	माता–पिता का ध्यान रखना।	Please look after your parents.
viii)	सफलता अर्जित करो।	Be successful.

20) सम्बोधनवाची शब्दों का सोच–विचारकर उचित प्रयोग करना एवं अनुचित प्रयोग से बचना, भले ही वह सत्य क्यों न हो, जैसे – अन्धे को अन्धा, बहरे को बहरा, पंगु को लूला–लंगड़ा, भिखारी को भिखारी, नौकर को नौकर, पागल को पागल, कृष्णवर्णीय को कालिया, लम्बे को लम्बू आदि नहीं कहना। कहा भी गया है[217] – **दीना–न्ध–पंगु–बधिरा नोपहास्या कदाचन** अर्थात् निर्धन, अन्ध, पंगु तथा बधिर मनुष्यों का उपहास नहीं करना चाहिए।

21) किसी की निन्दा कर अपने समय, सामर्थ्य, संस्कार एवं समझ का दुरुपयोग नहीं करना।

22) कलह करने से बचना अथवा न बचा जाए, तो कलहोत्पादक वातावरण से दूर हो जाना।

23) अपनी छवि निखारने अथवा दूसरे की छवि बिगाड़ने के लिए उसकी गुप्त बातों को प्रकट नहीं करना।

24) स्वार्थपूर्त्ति के लिए किसी पर भी झूठा कलंक एवं दोषारोपण नहीं करना।

25) देश–विदेश की अनावश्यक चर्चाओं से बचना।

26) विजातीय स्त्री या पुरूष के सौन्दर्य, शृंगार, प्रसाधन, परिधान, चाल–ढाल एवं हाव–भाव की अनावश्यक चर्चाओं में अपने संस्कारों का दिवाला नहीं निकालना।

27) भोजन सम्बन्धी अनावश्यक चर्चाओं में अपना बहुमूल्य समय व्यर्थ नहीं गँवाना।

28) बात–बात में अपने अतीत के संस्मरणों का उल्लेख करने की आदत से बचना।

29) बात–बात में अपनी आत्मप्रशंसा एवं परनिन्दा करने की आदत का त्याग करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

30) अपने से बड़ों के बीच में नहीं बोलना।

31) दो सज्जन पुरूषों के बीच में नहीं बोलना।

32) किसी के भी साथ कुतर्क नहीं करना।

33) अपने से छोटों/बड़ों के काम–काज में अनावश्यक रोक–टोक एवं प्रतिबन्ध नहीं लगाना।

34) अपने से छोटों/बड़ों के कार्यों में अनावश्यक गलतियाँ नहीं निकालना।

35) कर्कश एवं कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करने के लिए सदैव सजग रहना।

36) चापलूसीपूर्ण शैली में बातचीत नहीं करना।

37) प्रतिदिन एक निश्चित काल तक मौन धारण करना।

38) मौन–काल को छोड़कर शेष समय में मितभाषी बनने का अभ्यास करना, जैसे –

i) मित्र के साथ बातचीत करने में

ii) ग्राहक के साथ बातचीत करने में

iii) विक्रेता के साथ बातचीत करने में

iv) पड़ोसी के साथ बातचीत करने में

v) मेहमान के साथ बातचीत करने में

vi) टेलीफोन/मोबाईल (दूरभाष) पर बातचीत करने में

vii) परिजन के साथ बातचीत करने में इत्यादि।

39) मितभाषिता के अभ्यास के लिए बारम्बार विषयानुरूप बोलने का अभ्यास करना।

40) मितभाषिता हेतु समयसीमा में अपनी बातचीत एवं वक्तव्य को पूर्ण करने के लिए तत्पर रहना।

41) अधिक वाक्यों में कथनीय विषय को अल्प वाक्यों में एवं अल्प वाक्यों में कथनीय विषय को कुछैक बिन्दुओं अथवा शब्दों के द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना।

42) स्थूल असत्य का पूर्ण त्याग करना एवं सूक्ष्म असत्य का त्याग करने की पूर्ण भावना रखना।

43) उपकारी, सहचारी एवं आदरणीय जनों के समक्ष झूठ का बिल्कुल भी प्रयोग नहीं करना, जैसे – माता–पिता, गुरुजन, पुत्र–पुत्री, पति–पत्नी आदि से बातचीत करते समय इत्यादि।

यदि उपर्युक्त बिन्दुओं को जीवन में एक साथ आत्मसात् किया जाए, तो अति उत्तम, किन्तु यदि न हो सके, तो भी प्रतिसप्ताह अथवा प्रतिमाह एक–एक बिन्दु की अभिवृद्धि करते जाना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.8 निष्कर्ष

संप्रेषण या अभिव्यक्ति वह प्रक्रिया है, जिसमें एक व्यक्ति अपने विचारों, सूचनाओं, भावनाओं एवं अनुभूतियों को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि दूसरे उसके ज्ञान एवं अनुभूति में सहभागी बन सकें। यह अभिव्यक्ति शारीरिक एवं भाषिक के भेद से दो प्रकार की होती है। मनुष्य के सामुदायिक जीवन की सफलता मुख्यतया सम्प्रेषण या अभिव्यक्ति के कौशल पर ही निर्भर करती है। यद्यपि शारीरिक–अभिव्यक्ति की अपनी उपयोगिता है, फिर भी सटीकता, स्पष्टता एवं सुगमता के कारण भाषिक–अभिव्यक्ति के विशिष्ट महत्त्व से इंकार नहीं किया जा सकता।

मनुष्य में भाषिक–अभिव्यक्ति की सर्वाधिक विकसित क्षमता है, फिर भी वह इस क्षमता का अधिकांशतया दुरुपयोग ही करता रहता है। वह विकथा, आत्म–प्रशंसा, हास्य, मुखरता, मृषावाद, माया–मृषावाद आदि असंयमित वाक् व्यवहार में उलझ जाता है। इसके अनेक दुष्परिणाम प्रकट होते हैं, जैसे – शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का ह्रास, प्राण–शक्ति का अपव्यय, शारीरिक रोगों को आमंत्रण, भावात्मक कमजोरियों की अभिवृद्धि, धार्मिक एवं नैतिक संस्कारों में गिरावट, एकाकीपन की निराशा आदि।

भाषिक–अभिव्यक्ति के दुरुपयोग से बचने के लिए व्यक्ति को आवश्यकता है – भाषिक–अभिव्यक्ति–प्रबन्धन की। इससे व्यक्ति में यह विवेक विकसित हो जाता है कि मैं क्या बोलूँ, किससे बोलूँ, कितना बोलूँ, क्यों बोलूँ, कब बोलूँ, किस तरह से बोलूँ इत्यादि। इस हेतु जैनदर्शन में भाषा–गुप्ति एवं भाषा–समिति के उपयोगी सूत्रों का निर्देश दिया गया है। भाषा–गुप्ति के माध्यम से यह बताया गया है कि जहाँ आवश्यकता न हो, वहाँ मौन रहना चाहिए और भाषा–समिति के माध्यम से यह बताया गया है कि जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ भी हित, मित, प्रिय एवं निरवद्य भाषा का प्रयोग ही करना चाहिए।

अभिव्यक्ति–प्रबन्धन के अन्तर्गत वक्तृत्व कला के साथ–साथ श्रवण कला का विकास करना भी अत्यावश्यक है। इस हेतु जैनदर्शन में अनेकान्तवाद पर आधारित नय और निक्षेप के सिद्धान्त प्रतिपादित किये गए हैं, जो वक्ता के अभिप्राय को सम्यक्तया समझने के उत्तम साधन हैं। इनका सम्यक् प्रयोग करना प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक का परम कर्त्तव्य है। अतः उसे नियमबद्ध होकर इनका अभ्यास करना चाहिए।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6.9 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ. क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	**क्या आप अभिव्यक्ति के स्वरूप को जानते हैं?**		1
2)	क्या आप जीवन में अभिव्यक्ति को महत्त्व देते हैं?		5
3)	**क्या आप असंयमित भाषा की अभिव्यक्ति के दुष्परिणामों को जानते हैं?**		13
4)	क्या आप नय–निक्षेप के सिद्धान्तों को जानते हैं?		44
	विकल्प– हमेशा→① अक्सर→② कभी–कभी→③ कदाचित्→④ कभी नहीं→⑤		
5)	क्या आप भाषा की अभिव्यक्ति का दुरुपयोग करते हैं?		9
6)	**क्या आप अप्रिय वचन का उपयोग करते हैं?**		18
7)	क्या आप हिंसक शब्दों का प्रयोग करते हैं?		20
8)	**क्या आप किसी पर व्यंग्य कसते हैं या किसी की मजाक उड़ाते हैं?**		21
9)	क्या आप निन्दा/झूठा दोषारोपण/कान भरना/कलह/चुगलखोरी करते हैं?		22
10)	**क्या आप पारस्परिक मनमुटाव में मौन हो जाते हैं?**		27
11)	क्या आप अवक्तव्य सत्य–भाषा बोलते हैं?		33
12)	**क्या आप अनाचीर्ण व्यवहार–भाषा बोलते हैं?**		33
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
13)	**क्या आप असंवाद (मौन) एवं अतिसंवाद (वाचालता) पर सम्यक् नियंत्रण रखते हैं?**		38
14)	क्या आप भाषा–समिति का पालन करते हैं?		35
15)	**क्या आपसे जो पूछा जाए, उसका जवाब सही देते हैं?**		36
16)	क्या आप आवश्यकतानुसार बोलते हैं?		38
17)	**क्या आप गलती होने पर क्षमायाचना करते हैं?**		50
18)	क्या आप शिष्टतापूर्ण व्यवहार करते हैं?		50
19)	**क्या आप मौन के योग्य स्थान पर मौन रहते हैं?**		41
20)	क्या आप बोलने और सुनने में सन्तुलन रखते हैं?		43
		कुल	

कुल	0–20	21–40	41–60	61–80	81–100
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
भविष्य में अपेक्षित प्रबन्धन	अत्यधिक	अधिक	अल्प	अल्पतर	अल्पतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 1
2 प्रबंधन के सिद्धांत एवं व्यवहार, डॉ.जी.डी. शर्मा, पृ. 424
3 वाणीसम्प्रेषण, डॉ.हंसराज पाल, पृ. 3
4 प्रबंधन के सिद्धांत एवं व्यवहार, डॉ.जी.डी. शर्मा, पृ. 425
5 वही, पृ. 425
6 वही, पृ. 425
7 वही, पृ. 426
8 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 1
9 प्रज्ञापनासूत्र, 11/869, पृ. 72
10 तत्त्वार्थसूत्र, रामजी भाई दोशी, 5/24, पृ. 346
11 भाषालक्षणो द्विविधः साक्षरोऽनक्षरश्चेति
– सर्वार्थसिद्धि, 5/24/572, पृ. 224
12 अध्यात्मविद्या, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 129
13 वाणीसम्प्रेषण, डॉ.हंसराज पाल, पृ. 1
14 वही, पृ. 1
15 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 1
16 वही, पृ. 1
17 तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
18 वाणीसम्प्रेषण, डॉ.हंसराज पाल, पृ 1
19 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 1
20 बोलने सुनने की कला, डॉ.शीतला मिश्र, पृ. 4
21 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 1
22 बोलने सुनने की कला, डॉ.शीतला मिश्र, पृ. 9
23 वही पृ. 5
24 जैनभारती (पत्रिका), अगस्त, 2004, बोलो वचन विचार, पृ. 34
25 वही, पृ. 34
26 बोलने सुनने की कला, डॉ.शीतला मिश्र, पृ. 6
27 जैनभारती (पत्रिका), अगस्त, 2004, बोलो वचन विचार, पृ. 35
28 स्थानांगसूत्र, 4/2/241
29 तत्त्वार्थसूत्र, 6/24
30 स्थानांगसूत्र, 9/69
31 वही, 1/91–108
32 जीवन की मुस्कान, (द्वितीय महापुष्प), डॉ.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 58
33 स्थानांगसूत्र, 6/102
34 दशवैकालिकसूत्र, 6/12
35 प्रश्नव्याकरणसूत्र, 1/2, पृ. 50
36 न कया वि मणेण पावएण्णं पावगं किंचिवि झायव्वं।
वईए पावियाए पावगं न किंचिवि भासियव्वं।
– दशवैकालिकचूर्णि, 2/1, पृ. 178
37 प्रज्ञापनासूत्र, 11/900, पृ. 93
38 आचारांगसूत्र, 1/6/5/2
39 अन्नं भासइ अन्न करेई त्ति मुसावाओ
– निशीथचूर्णी, 3988
40 जीवन की मुस्कान (द्वितीय महापुष्प), डॉ.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 58
41 जैनभारती (पत्रिका), अगस्त, 2004, बोलो वचन विचार, पृ. 35
42 वही, पृ. 36
43 श्रीपालचरित्र, पं.काशीनाथ जैन, पृ. 169
44 कल्पसूत्र, आ.आनंदसागरजी म.सा., पृ. 44
45 बोलने सुनने की कला, डॉ.शीतला मिश्र, पृ. 1
46 अणुविय वियागरे – सूत्रकृतांगसूत्र, 1/9/25
47 अध्यात्मविद्या, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 126
48 वही, पृ. 125
49 प्रज्ञापनासूत्र, 11/866, पृ. 69
50 पुव्विं बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेयारं, बुद्धिमन्ने सए गिरा।।
– व्यवहारभाष्य, पीठिका, 76
51 योगशास्त्र, 1/37
52 जैनभारती (पत्रिका), अगस्त, 2004, बोलो वचन विचार, पृ. 36
53 वही, पृ. 35
54 दशवैकालिकसूत्र, 9/3/7
55 आचारांगसूत्र, 2/1/1/6/2
56 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/2/2/1
57 जैनभारती (पत्रिका), अगस्त, 2004, बोलो वचन विचार, पृ. 36
58 मनुस्मृति, 4/138
59 वृन्दसतसई, 100 (हिन्दीसूक्ति–संदर्भकोश, महो.चन्द्रप्रभसागर, पृ. 174 से उदधृत)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

60 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/9/27

61 अध्यात्मविद्या, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 129

62 मनुस्मृति, 6/47

63 वही, 6/48

64 अध्यात्मविद्या, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 130

65 स्थानांगसूत्र, 4/4/596

66 वही, 4/4/596

67 नो तुच्छए नो य विकंथतिज्जा
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/14/21

68 बृहद्कल्पभाष्य, 6092

69 जैनभारती (पत्रिका), अगस्त, 2004, बोलो वचन विचार, पृ. 35

70 सुभासियाए भासाए, सुकडेण य कम्मुणा।
पज्जण्णे कालवासी वा, जसं तु अभिगच्छति।।
– ऋषिभाषित, 33/4

71 वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं
– दशवैकालिकसूत्र, 7/56

72 जैनभारती (पत्रिका), अगस्त, 2004, बोलो वचन विचार, पृ. 36

73 भासियव्वं हियं सच्चं – उत्तराध्ययनसूत्र, 9/27

74 जैन भारती (पत्रिका), अप्रेल, 2003, शब्द : सृजन भी, संहार भी, पृ. 46

75 वही, दिसंबर, 2002, भाषा और हिंसा, पृ. 26

76 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/9/29

77 न यावि पन्ने परिहास कुज्जा
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/14/19

78 प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/2

79 अहऽसेयकरी अन्नेसिं इंखिणी
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/2/2/1

80 भगवतीआराधना, 373

81 न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 11/12

82 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/9/26

83 वीरप्रभु के वचन, रमणलाल ची. शाह, 1/3/38

84 पिट्ठिमंसं न खाइज्जा – दशवैकालिकसूत्र, 8/46

85 बहुं सुणेहिं कन्नेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ।।
– वही, 8/20

86 सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
ते उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउरिसया।।
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/1/2/23

87 विभज्जवादं च वियागरेज्जा – वही, 1/14/22

88 अट्ठे परिहायती बहुं, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए
– वही, 1/2/2/9

89 वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा
– आचारांगसूत्र, 1/5/4/2

90 वही, 2/15/130, पृ. 416

91 वुच्चमाणो न संजले – सूत्रकृतांगसूत्र 1/9/31

92 न य वुग्गाहियं कहं कहिज्जा
– दशवैकालिकसूत्र, 10/10

93 दुज्जणवयण चडक्कं, णिट्ठुर कडुयं सहंति सप्पुरिसा
– भावप्राभृत, 105

94 अमोलसूक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, 39/32

95 जैनभारती (पत्रिका), अगस्त, 2004, बोलो वचन विचार, पृ. 35,

96 स्थानांगसूत्र, 6/102

97 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/14/23

98 जीवन की मुस्कान (द्वितीय महापुष्प), डॉ.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 58

99 नाइवेलं वएज्जा – सूत्रकृतांगसूत्र, 1/14/25

100 वही, 1/9/25

101 जैनभारती (पत्रिका), अगस्त, 2004, बोलो वचन विचार, पृ. 35

102 वही, अक्टूबर, 2002, मत बोलो अणगमती वाणी, पृ. 50

103 वीरप्रभु के वचन, रमणलाल ची. शाह, 1/13/121

104 उत्तराध्ययनसूत्र, 1/4

105 लघुसिद्धांतकौमुदी, अ. 1

106 बोलने सुनने की कला, डॉ.शीतला मिश्र, पृ. 38

107 बहुयं मा य आलवे – उत्तराध्ययनसूत्र, 1/10

108 दशवैकालिकनिर्युक्ति, 211

109 चरणपडिवत्तिहेउं धम्मकहा – ओघनिर्युक्तिभाष्य, 7

110 वयण विण्णाणफलं, जइ तं भणिएऽवि नत्थि किं तेण
– विशेषावश्यकभाष्य, 1513

111 वही, 1443

112 जैनभारती (पत्रिका), दिसंबर, 2001, क्या कहें? कैसा कहें? कब कहें?, पृ. 45

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

113 दशवैकालिकसूत्र, 8/47
114 जैनभारती (पत्रिका), दिसंबर, 2001, क्या कहें? कैसा कहें? कब कहें?, पृ. 46
115 दशवैकालिकनिर्युक्ति, 290–291
116 जीवन की मुस्कान (द्वितीय महापुष्प), डॉ.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 60
117 भाष्यते इति भाषा – प्रज्ञापनासूत्र, 11/831, पृ. 48
118 ओहारिणी भाषा – वही, 11/831, पृ. 48
119 वही, पृ. 49
120 वही, पृ. 49
121 वही, पृ. 49
122 वही, पृ. 49
123 वही, पृ. 49
124 वही, पृ. 49
125 वही, पृ. 50
126 वही, पृ. 50
127 दशवैकालिकसूत्र, 7/1
128 प्रज्ञापनासूत्र, 11/866, पृ. 68
129 वही, पृ. 70
130 वही, पृ. 69
131 वही, पृ. 69
132 वही, पृ. 92
133 नो छायए नो विय लूसएज्जा – सूत्रकृतांगसूत्र, 1/14/19
134 दशवैकालिकसूत्र, 7/2
135 वही, 7/12
136 वही, 7/11
137 वही, 7/13
138 वही, मुनिनथमल, 7/4, पृ. 347
139 वही, 7/5
140 वही, 7/6, 7
141 वही, 7/8
142 वही, 7/9
143 वही, 7/14
144 वही, 7/15–20
145 वही, 7/21
146 वही, 7/22–23
147 वही, 7/27
148 वही, 7/34
149 वही, 7/36–37
150 वही, 7/41
151 आर्त्तरौद्रमपध्यानं, पापकर्मोपदेशिता।
हिंसोपकारिदानं च, प्रमादाचरणं तथा।। – योगशास्त्र, 3/73
152 उत्तराध्ययनसूत्र, 1/14
153 दशवैकालिकसूत्र, 7/47
154 वही, 7/50
155 वही, 7/55
156 क्रुद्धो .....सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज – प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/2
157 लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं – वही, पृ. 192
158 अप्पणो थवण, परेसु निंदा – वही, पृ. 192
159 कोवाकुल चित्तो जं संतमवि भासति, तं मोसमेव भवति – दशवैकालिकचूर्णि, 7
160 दशवैकालिकसूत्र, 4/12
161 वही, मुनिनथमल, 4/12, पृ. 141 से उद्धृत
162 दशवैकालिकचूर्णि, 7
163 प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/2
164 वही, 2/2
165 तं सच्चं भगवं – वही, 2/2
166 योगशास्त्र, 1/42
167 अध्यात्मविद्या, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 129
168 वही, पृ. 133
169 वही, पृ. 133
170 योगशास्त्र, 1/42
171 अध्यात्मविद्या, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 130
172 वही, पृ. 132
173 देखें, कल्पसूत्र, आनन्दसागरसूरिजी, पाँचवीं वाँचना
174 उत्तराध्ययनसूत्र, 21/16
175 सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वं भावविभावणं? – वही, 26/37
176 पियमप्पियं सव्वति तितिक्खएज्जा – वही, 21/15
177 सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे? – वही, 26/10
178 जैनभारती (पत्रिका), दिसंबर, 2001, क्या कहें? कैसा कहें? कब कहें?, पृ. 45
179 वही, अक्टूबर, 2002, मत बोलो अणगमती वाणी, पृ. 50
180 आचारांगसूत्र, 2/1/3/3/2

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

181 अणुसासिओ न कुप्पेज्जा – उत्तराध्ययनसूत्र, 1/9
182 वीरप्रभु के वचन, रमणलाल ची. शाह, 1/13/119
183 कल्पसूत्र, आ.आनन्दसागरजी म.सा., पाँचवीं वाँचना, पृ. 223
184 उपदेशमाला, पृ. 139
185 जैनभारती (पत्रिका), अक्टूबर, 2002, मत बोलो अणगमती वाणी, पृ. 50
186 अष्टप्रवचनमातासज्झाय सार्थ, ढाल 7/10
187 वही, ढाल 7/1
188 जैनभारती (पत्रिका), अगस्त, 2004, बोलो वचन विचार, पृ. 35
189 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 73
190 जीवन की मुस्कान (द्वितीय महापुष्प), डॉ.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 61
191 (अ) स्याद्वादमंजरी, पृ. 243
(ब) नयोज्ञातुरभिप्रायः – लघीयस्त्रयी, 55 (जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 73 से उद्धृत)
192 जावइया वयणपहा। लावंति होंति नयवाया
– सन्मतितर्क, 3/47
193 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 74
194 सर्वार्थसिद्धि, 1/33
195 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 74
196 वही, पृ. 75
197 लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहार
– तत्त्वार्थभाष्य, 1/35
198 वर्त्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः – जैनतर्कभाषा, नयपरिच्छेद, पृ. 61
199 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 75
200 वही, पृ. 75
201 कालादिभेदेन ध्वनेरर्थ भेदं प्रतिपाद्यमानः शब्दः। कालकारक लिंग सङ्ख्यापुरुषो पसर्गाः कालादयः।।
– जैनतर्कभाषा, नयपरिच्छेद, पृ. 61
202 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 76
203 पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थ समभिरोहन् समभिरूढः – जैनतर्कभाषा, नयपरिच्छेद, पृ. 62
204 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 76
205 वही, पृ. 76
206 वही, पृ. 77
207 अप्रस्तुतार्थापकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेप फलवान् – लघीयस्त्रयी, 7/2 (जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 77 से उद्धृत)
208 तत्त्वार्थसूत्र, पं.सुखलाल संघवी, 1/5
209 नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः – तत्त्वार्थसूत्र, 1/5
210 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 77
211 वही, पृ. 78
212 भूतस्य भाविनो वा भावस्य कारणं यन्निक्षिप्यते स द्रव्यनिक्षेपः – जैनतर्कभाषा, निक्षेपपरिच्छेद, पृ. 64
213 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 1/5
214 साधक तीन निक्षेपा मुख्य, जे विणु भाव न लहिए रे।
उपगारी दुग भाष्ये भाख्या, भाववदक नो ग्रहिए रे।।
– श्रीमद्देवचन्द्र, वर्त्तमान चौबीसी, 16/6
215 जैनभाषादर्शन, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 79
216 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 1/33, पृ. 95
217 शुक्रनीति, 3/115

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 7

तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन

STRESS AND MENTAL DISORDER MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 7

तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन

(Stress & Mental Disorder Management)

	Page No. Chap.	Cont.
7.1 भारतीय दर्शनों एवं जैनदर्शन में मन का स्वरुप	**1**	**363**
7.2 मन का महत्त्व	**11**	**373**
7.3 तनाव क्या? क्यों? कैसे?	**14**	**376**
7.3.1 तनाव शब्द का अर्थ एवं अवधारणा	14	376
7.3.2 तनाव की परिभाषा एवं उसकी सर्वव्यापकता	15	377
7.3.3 तनाव की विशेषताएँ	16	378
7.3.4 तनाव के विविध प्रकार	18	380
7.3.5 तनाव की प्रक्रिया	23	385
7.4 विविध मानसिक विकार एवं उनके दुष्परिणाम	**26**	**388**
7.5 विविध मानसिक विकारों के कारण : बहिरंग और अंतरंग	**38**	**400**
7.6 जैनआचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में मानसिक–प्रबन्धन	**45**	**407**
7.6.1 मानसिक–प्रबन्धन की आवश्यकता क्यों?	45	407
7.6.2 मानसिक–प्रबन्धन के साधक एवं बाधक कारण	46	408
7.7 मानसिक–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	**47**	**409**
7.7.1 मानसिक–प्रबन्धन का मौलिक रुप	47	409
7.7.2 मानसिक–प्रबन्धन के विविध स्तर	51	413
7.7.3 मानसिक–प्रबन्धन के उत्तरोत्तर विकास की तकनीक	54	416
(1) परिवर्त्तन तकनीक (Diversion Technique)	54	416
(2) विसर्जन तकनीक (Elimination Technique)	55	417
7.8 निष्कर्ष	**57**	**419**
7.9 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	**59**	**421**
सन्दर्भसूची	60	422

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 7

तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन
(Stress & Mental Disorder Management)

7.1 भारतीय दर्शनों एवं जैनदर्शन में मन का स्वरूप

तनाव एवं मानसिक विकारों का आधार 'मन' है, अतः सर्वप्रथम मन का स्वरूप और उसके कार्यों को जान लेना आवश्यक है।

जीवन के तीन महत्त्वपूर्ण घटक हैं – 1) शरीर, 2) वाणी और 3) मन। शरीर से सूक्ष्म वाणी है और वाणी से सूक्ष्म है – मन। यद्यपि मन सूक्ष्म है, चर्म चक्षुओं से अदृश्य है, तथापि यह मनुष्य की अद्वितीय शक्ति है। मूलतः मन से युक्त होने के कारण ही उसे मनुष्य या मानव नाम मिला है **(मननात् मनुष्यः)**। अतः मन को समझे बिना, न तो जीवन की व्याख्या की जा सकती है और न ही मन का सम्यक् प्रबन्धन किया जा सकता है।

7.1.1 भारतीय दर्शनों में मन का स्वरूप

मन की अवधारणा प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में पाई जाती है। इनमें मन की अतिसूक्ष्म से अतिव्यापक अनेक व्याख्याएँ की गई हैं, जो इस प्रकार हैं –

भारतीय दर्शनों में मन के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है, जैसे – अन्तःकरण, अन्तरिन्द्रिय, अतीन्द्रिय, चित्त, हृदय आदि। इसे कोई काल्पनिक पदार्थ नहीं, अपितु एक वास्तविक पदार्थ माना गया है। बौद्ध–दर्शन में इसे चेतन तत्त्व माना गया है,[1] परन्तु सांख्य–दर्शन में इसे प्रकृति के विकार के रूप में व्याख्यायित किया गया है – वैसे ही जैसे शरीर।[2] बस, अन्तर इतना है कि शरीर स्थूल होता है, जबकि मन सूक्ष्म। इसी कारण, सांख्य आदि दर्शनों में मन को सूक्ष्म शरीर (Subtle body) भी कहा गया है।

जैनदर्शन मन को अनिन्द्रिय कहता है, उसमें मन के दो प्रकार माने गए हैं – द्रव्यमन, जो स्वरूपतः भौतिक है और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है तथा भावमन, जो स्वरूपतः चैतसिक है एवं आत्मा और शरीर के बीच सेतु के समान कार्य करता है।

भारतीय दर्शनों में मन के सन्दर्भ में मुख्यतया जो तथ्य दर्शाए गए हैं, वे इस प्रकार हैं –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(1) मन का स्थान

मन का स्थान कहाँ है? इस प्रश्न का उत्तर भी भारतीय दर्शनों में देने का प्रयास किया गया है। जीवन–प्रबन्धन के लिए इसे समझना जरुरी है। सभी भारतीय दर्शनों में शरीर को मन का वासस्थान माना गया है। कुछ दर्शनों में मन को सिर्फ हृदयस्थ बताया गया है, तो कुछ में मन को समूचे शरीर में व्याप्त कहा गया है।[3]

(2) मन के कार्य

भारतीय दर्शनों में मन को एक महत्त्वपूर्ण साधन, माध्यम, करण या इन्द्रिय माना गया है। इसके निम्नलिखित कार्य दर्शाए गए हैं –

1) बाह्य विषयों के ज्ञान को इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त करने वाला साधन।[4]
2) अतीत, वर्त्तमान एवं अनागत काल सम्बन्धी ज्ञान का निर्णायक।
3) सुख–दुःख, प्रिय–अप्रिय, इच्छा, स्वप्न, स्मृति आदि अंतरंग अनुभूतियों को जानने का साधन।[5]
4) काम, संकल्प, श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा, भय आदि विविध संवेगों की उत्पत्ति का साधन।[6]
5) पूर्वजन्म की कामनाओं (वासनाओं) एवं वर्त्तमान जीवन की इच्छाओं (संस्कारों) का अस्तित्व बनाए रखने वाला तथा प्रसंग आने पर इन्हें उत्प्रेरित करने वाला साधन।[7]
6) कर्मेन्द्रियों को आदेश प्रसारित करने का साधन।[8]
7) ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को संचालित एवं नियंत्रित करने वाला करण।[9]
8) ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के मध्य समन्वय एवं सन्तुलन स्थापित करने वाला साधन।[10]
9) यह भी कहा जा सकता है कि मन (अन्तःकरण) कम्प्यूटर के समान कार्य करने वाला एक यंत्र भी है। भारतीय दर्शनों में मन की संशय, निर्णय, सम्बन्ध एवं स्मरण – ये चार वृत्तियाँ बताई गई हैं। इन वृत्तियों के आधार पर मन के विविध नामकरण भी किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं[11]–

नामकरण	वृत्ति	विवरण	कम्प्यूटर
मन	संशयात्मक	किसी विषय को लेकर संकल्प–विकल्प करना, जैसे – 'यह है' अथवा 'यह नहीं है' इत्यादि	Data Collection, Analyzing & Processing
बुद्धि	**निश्चयात्मक**	**शंकित विषय का निर्णय करना**	**Final Results**
चित्त	स्मरणात्मक	निर्णीत विषय का स्मरण करना यानि अनुभव की निरन्तरता होना	Memorizing
अहंकार	**सम्बन्धात्मक**	**विषय का अभिमान करना यानि उसे आत्मसात् कर लेना, जैसे – 'यह मेरा है' या 'यह मैं हूँ' इत्यादि**	Linking & Binding

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार, भारतीय दार्शनिकों ने मन की विविध क्षमताओं का प्रतिपादन किया है। इसका सार यही है कि मन ज्ञानेन्द्रिय भी है, कर्मेन्द्रिय भी है, उभयेन्द्रिय भी है और अन्तरिन्द्रिय भी है। विशेषता यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय केवल अपने विषयों को ही ग्रहण करती है तथा बाह्य विषयों तक ही सीमित रहती है, जबकि मन इन सब इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करते हुए अंतरंग विषयों की अनुभूति भी करता है। अतः मन की इन अनुपम क्षमताओं के कारण ही भारतीय दर्शनों में मन को अतीन्द्रिय भी कहा गया है।

(3) मन के विविध पहलू

भारतीय दर्शन	मन का सांख्यिक स्वरूप[12]	मन का अस्तित्व[13]	मन की उत्पत्ति की प्रक्रिया[14]	मन के परिमाण[15] (विषय के आधार पर)
1) न्याय	आत्मादि बारह प्रमेयों (जानने में आने वाले पदार्थों) में से एक	नित्य	अनुत्पन्न	एक समय में एक ही विषय का ज्ञान करने में समर्थ (अणु)
2) वैशेषिक	पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में से एक	नित्य	अनुत्पन्न	एक समय में एक ही विषय का ज्ञान करने में समर्थ (अणु)
3) सांख्य 4) एवं योग	मूल प्रकृति से उत्पन्न अहंकार नामक तत्त्व का एक विकार	अनित्य	पुरूष एवं प्रकृति का संयोग ↓ बुद्धि की उत्पत्ति ↓ अहंकार की उत्पत्ति ↓ मन एवं अन्य पदार्थों की उत्पत्ति	एक समय में सभी विषयों का ज्ञान करने में समर्थ (विभु)
5) मीमांसा	पृथ्वी आदि ग्यारह द्रव्यों में से एक	नित्य	अनुत्पन्न	एक समय में सभी विषयों का ज्ञान करने में समर्थ (विभु)
6) वेदान्त	ब्रह्म से उत्पन्न माया यानि भ्रम का एक विकार	अनित्य	ब्रह्म ↓ ईश्वर की उत्पत्ति ↓ माया (इन्द्रजाल) की उत्पत्ति ↓ मन एवं अन्य सूक्ष्म विकारों की उत्पत्ति	एक समय में सभी नहीं, किन्तु अनेक विषयों का ज्ञान करने में समर्थ (मध्यम)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(4) मन की विविध अवस्थाएँ

यद्यपि मन की क्षमताएँ असीम हैं, तथापि सभी व्यक्तियों के मन की अवस्थाएँ सर्वदा एक–सी नहीं होती। भारतीय दर्शनों में मन की विविध अवस्थाओं का भी वर्णन किया गया है, जो प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक के लिए समझने योग्य है।

(क) बौद्ध–दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ[16]

1) **कामावचर–चित्त** – यह चित्त की वह अवस्था है, जिसमें कामनाएँ एवं वासनाएँ अधिक होती हैं तथा वितर्क एवं विचारों की प्रधानता होती है, मन सांसारिक भोगों के पीछे भटकता रहता है।

2) **रूपावचर–चित्त** – इसमें एकाग्रता का प्रयत्न होता है, किन्तु वितर्क–विचार चलते रहते हैं।

3) **अरूपावचर–चित्त** – इसमें चित्त की वृत्तियाँ स्थिर तो होती हैं, किन्तु उनकी एकाग्रता विषयरहित नहीं होती।

4) **लोकोत्तर–चित्त** – इसमें चित्त विकारशून्य हो जाता है और साधक नियम से अर्हत् पद एवं निर्वाण की प्राप्ति कर लेता है।

(ख) योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ[17]

1) **मूढ़–चित्त** – इसमें तमोगुण की मात्रा अधिक होने से निद्रा एवं आलस्य की प्रधानता होती है।

2) **क्षिप्त–चित्त** – इस अवस्था में चित्त की स्थिरता नहीं रहती और वह रजोगुण के प्रभाव से एक विषय से दूसरे विषय में भटकता रहता है।

3) **विक्षिप्त–चित्त** – इसमें आंशिक स्थिरता रहती है। चित्त थोड़ी देर के लिए एक विषय में लगता है, पर तुरन्त ही अन्य विषय की ओर दौड़ जाता है।

4) **एकाग्र–चित्त** – यह मानसिक केन्द्रीकरण की अवस्था है और योग की पहली सीढ़ी है। इसमें चित्त किसी विषय पर देर तक विचार या ध्यान करता रहता है।

5) **निरुद्ध–चित्त** – इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक, स्थिर एवं शान्त अवस्था में आ जाता है।

इसी प्रकार, जैनदर्शन में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र नामक ग्रन्थ में मन की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है – विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और निरुद्ध, जिनका वर्णन आगे किया जाएगा। जीवन–प्रबन्धन के लिए इन सभी मानसिक अवस्थाओं का परिज्ञान अनिवार्य है।

(5) आत्मा, शरीर और मन का पारस्परिक सम्बन्ध

भारतीय दर्शन में इस सम्बन्ध को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है – "शरीर एक रथ के समान है, जिसमें इन्द्रिय रूपी अश्व जुते हुए हैं, उसमें आत्मा रूपी रथी, बुद्धि रूपी सारथी के द्वारा मन रूपी लगाम से इन इन्द्रियों को हाँक रहा है।" इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों कि तुलना में मन, बुद्धि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और आत्मा में एक क्रमिक श्रेष्ठता है। शरीर रथ है, तो इन्द्रियाँ अश्व। दोनों के संयोजन से ही गति सम्भव है। मन भी इन्द्रियों से पृथक् नहीं है, अपितु श्रेष्ठ है, क्योंकि वही इन्द्रियों का संचालन करता है। वह आत्मा की अनुमति से ही इन्द्रियों को स्वेच्छा से विचरण हेतु स्वतंत्रता भी देता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें नियंत्रित भी करता है। इस प्रकार इन्द्रियाँ मन के इशारे पर कार्य करती रहती हैं।[18]

7.1.2 जैनदर्शन में मन का स्वरूप

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें वैज्ञानिक पद्धति से मन का सुव्यवस्थित विश्लेषण किया गया है। जीवन–प्रबन्धन सह मन–प्रबन्धन के लिए इसमें वर्णित मन एवं उसके स्वरूप को जानना अत्यावश्यक है।

(1) मन एवं उसका आशय – जैनदर्शन में अन्तःकरण, मानस, ह्रत्, चेतस्, हृदय, चित्त, स्वान्त, अनिन्द्रिय, विज्ञान आदि अनेक शब्दों से मन को व्याख्यायित किया गया है।[19] ये सभी शब्द मन की विभिन्न अवस्थाओं को इंगित करते हैं।

जैनाचार्यों ने अलग–अलग प्रकार से मन को परिभाषित किया है –

- ★ **विशेषावश्यक भाष्यानुसार**[20] – 'मनन करना ही मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है अथवा जो मनन करता है, वह मन है।'
- ★ **सूत्रकृतांगसूत्रानुसार**[21] – 'जो सर्व विषयों को ग्रहण करने वाला है, किन्तु एक साथ दो विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ होता है, वह मन है।'
- ★ **स्थानांगसूत्र टीकानुसार**[22] – 'संकल्प जिसकी प्रवृत्ति है, वह मन है।'

इस प्रकार, मन के प्रबन्धन को जीवन–प्रबन्धन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू माना जा सकता है, क्योंकि इसका सम्यक् प्रबन्धन करके उचित विषयों का ग्रहण एवं अनुचित विषयों का परिहार किया जा सकता है।

(2) मन के विविध प्रकार – जैनदर्शन के अनुसार, मन के दो प्रकार होते हैं –

(क) द्रव्य–मन – यह मन का भौतिक पक्ष है, जो मनोवर्गणा नामक पुद्गल परमाणुओं से बना होता है। भगवतीसूत्र के अनुसार, यह आत्मा नहीं, अपितु अजीव है।[23] इसे हम मन का शारीरिक पक्ष भी कह सकते हैं।

(ख) भाव–मन – यह मन का अभौतिक पक्ष है, जो चैतन्यधारा के रूप में प्रवाहित होता रहता है। पौद्गलिक परमाणुओं से नहीं बना होने के कारण इसे शारीरिक नहीं, अपितु आत्मिक पक्ष मानना चाहिए। धवलाटीका के अनुसार, यह चेतना की वह शक्ति है, जो सम्यक् प्रकार से विषयों को ग्रहण करती रहती है।[24]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार, जैनदर्शन के अनुसार, मन चेतन भी है और अचेतन भी। मनन करने में सहयोगी पुद्गल (जड़) पदार्थ द्रव्यमन है तथा मनन करने वाला जीव (चेतन) भावमन है। दोनों के संयोग से ही समस्त मानसिक क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं।

(3) मन का स्थान – जैनदर्शन में द्रव्य–मन के स्थान से सम्बन्धित दो विचारधाराएँ हैं। दिगम्बर परम्परा ने मन को हृदय में स्थित अष्टदल कमल की आकृति वाला माना है[25] और श्वेताम्बर परम्परा ने इसे सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त बताया है।[26] अनेकान्त–दृष्टि से दोनों मान्यताओं में एकरूपता ही प्रतीत होती है। स्नायु तन्तुओं का जाल पूरे शरीर में फैला है, अतः मन शरीर–व्यापी है और मेरुरज्जु की धारा हृदय को छूती है, अतः मन हृदय–प्रतिष्ठित है।[27] भाव–मन का स्थान तो दोनों ही परम्पराओं में आत्मा को माना गया है।

(4) मन के कार्य – जैनदर्शन की सूक्ष्म दृष्टि में मन स्वतंत्र नहीं, अपितु एक यंत्र (उपकरण) के समान है, जो आत्मा रूपी यंत्री के अधीन रहता है तथा आत्मा के विविध कार्यों में निकटतम सहयोगी बन कर कार्य करता है। मेरी दृष्टि में, मन की तुलना संगणक (Computer) यंत्र से की जा सकती है। जैसे कम्प्यूटर विविध कार्यों को सम्पादित करके प्रयोगकर्त्ता को सहयोग देता है, वैसे ही मन अपने विकसित रूप में जीव को चिन्तन–मनन आदि करने में सहयोग देता है।

आधुनिक मनोविज्ञान में मन के कार्यों के स्थूलरूप से तीन विभाग किए गए हैं – 1) ज्ञानात्मक (Knowing) 2) भावात्मक (Feeling) 3) क्रियात्मक (Willing)।[28] इसी तरह जैनदर्शन में भी मन के बहुआयामी कार्यों को दर्शाया गया है, जैसे – ज्ञानात्मक (चिन्तनात्मक), दर्शनात्मक (अनुभूत्यात्मक) एवं आचरणात्मक (क्रियात्मक या संवेदनात्मक) इत्यादि।

मन के सहयोग से होने वाली ज्ञानात्मक प्रक्रिया इस प्रकार है[29] –

(क) अवग्रह – मन के द्वारा विषय का आंशिक या प्राथमिक ज्ञान होना, जैसे – 'यह कुछ है'।

(ख) ईहा – गृहीत विषय को विशेष रुप से जानने के लिए विचार करना, जैसे – 'यह अमुक वस्तु है या और कुछ'।

(ग) अवाय – ईहा के द्वारा विचार किए गए विषय का निश्चय करना, जैसे – 'यह अमुक वस्तु ही है'।

(घ) धारणा – निश्चयात्मक ज्ञान को कालविशेष तक कायम रखना।

अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा – ये चारों कार्य क्रम से होते रहते हैं। मन–प्रबन्धन के लिए यह जरूरी है कि अवग्रहादि में सम्यक् रूप से ही प्रयत्न किया जाए, जिससे जीवन में सुख, शान्ति और आनन्द की अभिवृद्धि हो सके। यदि अवग्रह आदि से विषय का बोध गलत रूप से होता है, तो जीवन में दुःख, निराशा एवं कुण्ठा की अभिवृद्धि हो जाती है, जो मन–प्रबन्धन के लिए अवांछनीय है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि जैनाचार्यों ने सम्पूर्ण ज्ञानात्मक प्रक्रिया को संक्षेप में उपर्युक्त चार बिन्दुओं के माध्यम से समझाया है, तथापि विस्तार–रुचि वाले जीवों के लिए अवग्रहादि के उपभेदों की भी चर्चा की है, जो नन्दीसूत्र के आधार पर इस प्रकार है[30] –

मन अवग्रह
1) श्रवणता – विषय का सामान्य बोध होना।
2) अवलम्बनता – ईहादि तक पहुँचने के लिए सामान्य से विशेष की ओर अग्रसर होना।
3) मेधा – सामान्य में विशेष को ग्रहण करना।

मन ईहा
1) आभोगन्ता – विशेष ज्ञान की ओर अभिमुख होकर विषय की समीक्षा करना।
2) मार्गणता – विधि और निषेध के द्वारा विषय की खोज करना।
3) गवेषणता – निषेधात्मक धर्मों का त्याग कर एवं विधेयात्मक धर्मों के आधार पर विषय का पर्यालोचन करना।
4) चिन्ता – पुनः–पुनः विशेष चिन्तन करना।
5) विमर्श – विधेयात्मक धर्मों को ग्रहण कर स्पष्टतया विचार करना।

मन अवाय
1) आवर्तनता – निश्चयात्मक ज्ञान के सम्मुख होना।
2) प्रत्यावर्तनता – निश्चयात्मक ज्ञान के सन्निकट पहुँचना।
3) अवाय – पदार्थ का पूर्ण निश्चय करना।
4) बुद्धि – निश्चित ज्ञान को और अधिक स्पष्टता से जानना।
5) विज्ञान – तीव्र धारणा के लिए कारणभूत विशिष्ट निश्चयात्मक ज्ञान करना।

मन धारणा
1) धारणा – अवाय द्वारा सुनिश्चित अर्थ का सतत प्रवाहित होना एवं उससे उत्पन्न संस्कारों का समय–समय पर स्मरण होना।
2) सा–धारणा – अर्थ को स्मरणपूर्वक कुछ समय तक धारण करना।
3) स्थापना – अर्थ को हृदय में स्थापित करना, इसे वासना (संस्कार) भी कहते हैं।
4) प्रतिष्ठा – अर्थ को भेद–प्रभेद सहित हृदय में स्थापित करना।
5) कोष्ठ – कोठे में रखे सुरक्षित धान्य के समान निर्णीत अर्थ को हृदय में सुरक्षित रखना।

इस प्रकार, ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धिशील अवस्थाओं में मन प्रमुख भूमिका निर्वाह करता है। इसके बिना होने वाला केवल इन्द्रियाश्रित ज्ञान इतने व्यापक स्तर तक नहीं पहुँच सकता।

जैनाचार्यों ने मन के अन्य भी अनेकानेक कार्य बताए हैं, जो मन के सम्यक् प्रबन्धन के लिए अवश्य जानने योग्य हैं –

1) **मति** – किसी विषय का मनन करना।
2) **स्मृति** – पूर्व में जानी हुई वस्तु का स्मरण करना।
3) **प्रत्यभिज्ञान** – पहले अनुभव की हुई एवं वर्त्तमान में अनुभव की जाने वाली वस्तु के मध्य समानता का बोध होना, जैसे – यह वही है, जिसे पहले जाना था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4) **चिन्तन** – किसी पदार्थ के चिह्न को देखकर सम्पूर्ण पदार्थ को जान लेना। इसे तर्क, व्याप्ति, ऊहादि भी कहा जाता है।

5) **अभिनिबोध** – पदार्थ के अभिमुख होकर उसका बोध करना।[31]

6) **कल्पना शक्ति** – यह इच्छाओं की अभिव्यक्ति का एक रूप है। इसके माध्यम से दो या अधिक ज्ञान के विषयों का संयोजन कर नवीन विषय का सृजन किया जाता है। यह स्वप्न से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। बस, अन्तर इतना है कि एक जाग्रत अवस्था में होता है और दूसरा सुप्त अवस्था में।[32]

7) **संकल्प शक्ति** – यह कल्पनाओं का सघन रूप है। जब चिन्तन और मनन के द्वारा किसी विषय का निश्चय होता है, तब उसके साथ–साथ विश्वास एवं दृष्टिकोण का निर्माण भी हो जाता है, यही संकल्प है।[33] सामान्यतया 'संकल्प' शब्द का प्रयोग निषेधात्मक अर्थ में किया जाता है, जो बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व (पुत्रादि मेरे हैं, ऐसा भाव) का द्योतक है।[34]

8) **विकल्प** – यह विकल्प सामान्यतया दो प्रकार का होता है – क) ज्ञानात्मक, जैसे – यह घड़ी है, यह कुर्सी है इत्यादि तथा ख) रागात्मक (भावात्मक), जैसे – इच्छा, कषाय, राग–द्वेष, सुख–दुःख आदि। यह घट है, यह पट है इत्यादि ग्रहण करने रूप जो ज्ञान होता है, वह ज्ञानात्मक तथा अंतरंग में 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि हर्ष और विषाद रूप जो परिणाम होता है, वह रागात्मक विकल्प कहलाता है।[35]

9) **विचार** – मन का महत्त्वपूर्ण कार्य है – सोचना–विचारना। इसके माध्यम से वह एक से दूसरे स्थान, विषय, व्यक्ति एवं वस्तु में विचरण करता रहता है। मन के पास विचारों के लिए शब्द रूपी माध्यम होता है। ये विचार कभी सम्बद्ध होते हैं, तो कभी असम्बद्ध। मन–प्रबन्धन के लिए असम्बद्ध विचारों अर्थात् उच्छृंखल विचारों को नियंत्रित करना अत्यावश्यक है।[36]

10) **निदान** – भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अभिलाषा का होना।

11) **श्रद्धान** – किसी वस्तु के बारे में आस्था या मान्यता बनाना कि 'यह ऐसी ही है'।

12) **जातिस्मृति** – पूर्वजन्म के विशेष प्रसंगों की स्मृति होना।

13) **मनोलेश्या** – कषायों से युक्त मानसिक प्रवृत्ति।

14) **ध्यान** – एकाग्रतारुप मानसिक परिणाम।[37]

इस प्रकार, जैनदर्शन में मन को एक विशिष्ट साधन के रूप में प्रतिपादित किया गया है। सन्मति–प्रकरण में संशय, प्रतिभास, स्वप्न–ज्ञान, वितर्क, सुख–दुःख, क्षमा, इच्छा आदि को मन के विविध कार्यों के रूप में दर्शाया गया है।[38] वस्तुतः मन का कार्य इन्द्रियों से भी अधिक व्यापक है। यह इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों के बारे में तो सोचता ही है, साथ ही इन विषयों के गुण–दोषों के बारे में भी।[39] इन्द्रियाँ तो केवल वर्त्तमान में उपस्थित पदार्थों को ही ग्रहण करती हैं, जबकि मन का विषय तीनों काल में रहे हुए उपस्थित–अनुपस्थित सभी पदार्थ बनते हैं।[40] अतः जीवन–प्रबन्धन के अन्तर्गत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मन के सुव्यवस्थित प्रयोग का विशिष्ट महत्त्व है।

(5) मन के अन्य पहलू

★ **मन का तात्त्विक स्वरूप** – मन पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप मनोवर्गणाओं से निर्मित होता है।[41]

★ **मन का अस्तित्व** – मन अनित्य है, नित्य नहीं।

★ **मन की उत्पत्ति** – मन 'अंगोपांग नामकर्म' के उदय से प्राप्त होता है।[42]

★ **मन का परिमाण (विषय)** – मन एक काल में एक ही विषय को ग्रहण करता है।[43]

★ **मन की योग्यता** – मन मूर्त्त–अमूर्त्त समस्त द्रव्यों को ग्रहण कर सकता है। साथ ही यह जहाँ बाह्य वस्तुओं को अपना विषय बनाता है, वहीं आभ्यन्तर पदार्थ अर्थात् आत्मा एवं उसके भावों को भी ग्रहण कर सकता है।[44] इतना ही नहीं, आध्यात्मिक–विकास की यात्रा में यह मन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के प्रकटीकरण में उत्तम करण बनने की योग्यता भी रखता है।

★ **मन की द्विपक्षता** – मन बाह्य विषयों एवं आत्मा के मध्य एक कड़ी के रुप में कार्य करता है। एक ओर यह श्रुत–दृष्ट विषयों को आत्मा तक पहुँचाता है, तो वहीं दूसरी ओर यह आत्मा के आदेशों का प्रसारण भी करता है।

★ **मन की भूमिका** – मन आत्मा के कर्मचारी के समान है। आत्मा के भावों के अनुसार यह कार्य करता है। जब आत्मा में निषेधात्मक भावों (Negative Thoughts), जैसे – क्रोध, आवेश, भय आदि की प्रबलता होती है, तो मन भी अप्रयोजनभूत, अनुपयोगी एवं अहितकर विचारों में विचरने लगता है तथा जब आत्मा में विधेयात्मक भावों (Positive Thoughts), जैसे – क्षमा, शान्ति, अभय आदि का प्रवाह बढ़ता है, तब मन में भी चिन्तन की गहराइयाँ एवं व्यापकता में अभिवृद्धि होने लगती हैं।

(6) मन की अवस्थाएँ – जैसा कि पूर्व में बताया गया है, जैनदर्शन में मन की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता है, जो मन–प्रबन्धन के लिए उचित–अनुचित के विश्लेषण का आधार है[45] –

(क) विक्षिप्त मन – यह मन की अस्थिर अवस्था है। इसमें संकल्प–विकल्प या विचारों की भाग–दौड़ मची रहती है। अतः इस अवस्था में मानसिक–शान्ति का अभाव होता है।

(ख) यातायात मन – यह मन की आंशिक स्थिरता की अवस्था है, जिसमें मन कभी बाह्य विषयों की ओर चला जाता है, तो कभी प्रबन्धित होकर अन्दर में स्थिर होने का प्रयत्न करता है। यह मन–प्रबन्धन की प्रारम्भिक अवस्था है।

(ग) श्लिष्ट मन – यह मन की स्थिर अवस्था है, जिसमें मन अनुचित विषय नहीं, उचित विषयों का आलम्बन लेता है। इसमें जैसे–जैसे स्थिरता बढ़ती जाती है, वैसे–वैसे आनन्द भी बढ़ता जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(घ) सुलीन मन – यह मन की पूर्ण प्रबन्धित अवस्था है, जिसमें संकल्प–विकल्प एवं मानसिक वृत्तियों का क्षय हो जाता है। यह परमानन्द की अवस्था है, क्योंकि इसमें सभी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। इसे निरुद्धावस्था भी कहते हैं।

मन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह इन सभी मानसिक अवस्थाओं का सम्यक् परिज्ञान करके उत्तरोत्तर विकास की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बने।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7.2 मन का महत्त्व

जैनआचारदर्शन के अनुसार, व्यक्ति के जीवन–व्यवहार का नियामक बिन्दु मन ही है। यह एक अद्भुत शक्ति–पुंज है। यही सांसारिक सफलताओं और आध्यात्मिक विभूतियों का प्रदाता भी है। पाप–पुण्य, बन्ध–मोक्ष एवं स्वर्ग–नरक आदि की अवधारणाएँ मूलतः इसी पर आधारित हैं। यही बाहरी दुनिया का द्वार भी है और यही आत्मिक–विकास की सीढ़ी भी है। चिरकाल से यही मानव के समग्र क्रियाकलापों का नियंत्रक रहा है। इसके महत्त्व को समझना ही जीवन–प्रबन्धन की पहली सीढ़ी है।[46]

कहा गया है – मन को साधना ही सम्यक् साधना है। मन न सधे तो साधना में बाधा ही बाधा है। आशय यह है कि मन वह साधन है, जिसका सम्यक् प्रयोग किया जाए, तो वह साधना बन जाता है, किन्तु यदि इसका सम्यक् उपयोग न किया जाए, तो यही मनुष्य के लिए महाविपदारुप भी सिद्ध हो सकता है। जैनदर्शन सहित भारतीय संस्कृति में यह सर्वमान्य तथ्य रहा है कि **मन ही बन्धन और मोक्ष दोनों का प्रबलतम कारण है।**[47]

मन **बन्धन** का कितना भयानक कारण है, यह बात जैनाचार्यों ने कर्म–सिद्धान्त में स्पष्ट रुप से बताई है। कर्मग्रन्थ में कहा गया है – जो केवल काया के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं, ऐसे पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीवों को 'मोहनीय' नामक कर्म का अधिकतम बन्धन एक सागर (समय का मापविशेष) जितना ही होता है। यही बन्धन वचन और काया दोनों से प्रवृत्ति करने वाले द्वीन्द्रिय जीवों को पच्चीस सागर जितना, त्रीन्द्रिय जीवों को पचास सागर जितना, चतुरिन्द्रिय जीवों को सौ सागर जितना तथा मनरहित पंचेन्द्रिय जीवों को एक हजार सागर जितना होता है। यदि मनुष्यादि मनसहित पंचेन्द्रिय जीवों की स्थिति देखें, तो यह बन्धन लाख और करोड़ सागर से भी कई गुणा अधिक हो जाता है। मन से युक्त प्राणियों को मोहनीय कर्म का अधिकतम बन्धन सत्तर कोड़ा–कोड़ी (70 करोड़ x 1 करोड़) सागर प्रमाण होता है।[48] जैनाचार्यों के अनुसार, इतना अधिक कर्म–बन्धन करने वाला जीव अनन्त जन्मों तक संसार में भटकता रहता है, दुःख और सन्ताप पाता रहता है। इससे मन की विध्वंसात्मक–शक्ति (Destructive Power) का अनुमान लगाया जा सकता है। डॉ. सागरमल जैन ने इसीलिए बन्धन की अपेक्षा से मन को **पौराणिक ब्रह्मास्त्र** की उपमा दी है।[49]

मन यदि बन्धन का भयानक हेतु है, तो **मुक्ति** का अनिवार्य साधन भी है। जैनदर्शन की यह मान्यता है कि मोक्ष–मार्ग की साधना का प्रारम्भ ही सम्यक् दृष्टिकोण के विकास के साथ होता है और इस दृष्टिकोण को प्राप्त करने की पात्रता केवल मनसहित जीवों में ही होती है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, मन का सम्यक् प्रबन्धन (संयमन) करने से मानसिक एकाग्रता का विकास होता है, जिसके बल पर विवेक की प्राप्ति होती है और यह विवेक ही गलत दृष्टिकोण के परिहार तथा सम्यक् दृष्टिकोण के प्रकटीकरण का आधार होता है।[50] अन्यत्र भी कहा गया है – एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक मनरहित जीवों के लिए समीचीन दृष्टि का विकास कर पाना असम्भव है।[51] इस प्रकार, मन मुक्तिमार्ग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर आगे बढ़ने की प्राथमिक शर्त है।

व्यवहारभाष्य में भी यह उल्लेख है कि मन ही बन्धन एवं मुक्ति का हेतु है, न कि बाह्य विषय। किसी विषय का संयोग मिलने पर एक व्यक्ति उसमें आसक्त हो जाता है, जबकि दूसरा व्यक्ति उससे विरक्त रहता है। इससे सिद्ध है कि बाह्य विषय महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु व्यक्ति के अंतरंग परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं। यह मानना होगा कि मन से ही विषयों के प्रति आसक्ति की जाती है और मन से ही विरक्ति भी। अतः व्यक्ति की मानसिक वृत्तियाँ ही बन्धन एवं मोक्ष दोनों का साधन है।[52]

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं, अपितु **व्यावहारिक दृष्टिकोण** से भी मन की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। वस्तुतः, जैन दार्शनिकों ने मन का जो बहुआयामी स्वरूप दर्शाया है, उससे स्वतः ही यह सिद्ध हो जाता है कि जीवन का प्रत्येक व्यवहार मन के आश्रित ही सम्पादित होता है। इन्द्रियों का कार्य तो केवल बाह्य विषयों का संकेतात्मक ज्ञान देना है, परन्तु मन इन संकेतों का संवेदन, विश्लेषण, समीक्षण, मूल्यांकन, निर्णयन आदि अनेकानेक कार्य करता है। यदि मन न हो तो क्या उचित है, क्या अनुचित है, यह विवेक (Reasoning) असम्भव है। जैन दार्शनिकों ने इसीलिए मन को सर्वदा विवेक–क्षमता युक्त यंत्र के रूप में ही ग्रहण किया है।

जीवन का प्रत्येक व्यवहार तभी प्रबन्धित हो सकता है, जब मन अपना कार्य सही ढंग से सम्पादित करे। अतः यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि मन का सम्यक् प्रबन्धन जीवन–प्रबन्धन का सबसे प्राथमिक पक्ष है। सम्यक् मन–प्रबन्धन ही जीवन में शिक्षा, समय, वाणी आदि पहलुओं के सम्यक् प्रबन्धन का मूल आधार है।

मन का महत्त्व आज सर्वत्र स्वीकार है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने जीवन–व्यवहार में परिलक्षित होने वाले अनेकानेक कार्यों का विश्लेषण किया है, जो केवल मनाश्रित ही होते हैं, जैसे[53] –

- ★ प्रत्यक्षण (Perception)
- ★ अवधान (Attention)
- ★ सीखना (Learning)
- ★ स्मृति (Memory)
- ★ चिन्तन (Thinking)
- ★ निर्णय–प्रक्रिया (Decision making)
- ★ अवधारणा निर्माण (Conception)
- ★ अभिप्रेरण (Motivation)
- ★ संवेग (Emotion)
- ★ बुद्धि (Intelligence)
- ★ अभिवृत्ति (Aptitude)
- ★ सृजनात्मकता (Creativity)
- ★ समस्या–समाधान व्यवहार (Solution Oriented behaviour)

जैनदर्शन में भी इसी प्रकार मन के बुद्धि, उत्साह, उद्योग, भावना आदि अनेकानेक कार्यों का उल्लेख किया गया है, जो मन की महत्ता का स्पष्ट दिग्दर्शन करता है।

निष्कर्ष यह है कि मन का महत्त्व सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सार्वजनिक है, अतः जीवन–प्रबन्धन के लिए मन को समझना और उसका सदुपयोग करना एक अनिवार्य कर्त्तव्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचारांगसूत्र में इसीलिए कहा गया है कि **'जे मणं परिजाणइ से णिग्गंथे'** अर्थात् जो अपने मन को अच्छी तरह जानता है, वही सच्चा जीवन–प्रबन्धक (निर्ग्रन्थ) है।[54]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7.3 तनाव क्या? क्यों? कैसे?

यह सत्य है कि व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के जीवन में मन ही मनुष्य की सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति है, किन्तु इसके सम्यक् प्रबन्धन के अभाव में व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन और आध्यात्मिक विकास के मार्ग में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो रही हैं। आज मन में उत्पन्न होने वाले तनाव एवं अन्य मनोरोग एक ज्वलन्त समस्या बने हुए हैं, ये एड्स एवं कैंसर से भी अधिक खतरनाक सिद्ध हो रहे हैं।

प्रसिद्ध मनोरोग विशेषज्ञ डॉ. मनजीत सिंह भाटिया के अनुसार, अमेरिका जैसे विकसित देशों में मनोरोगियों का प्रतिशत सर्वाधिक है। भारत में भी लगभग सात प्रतिशत लोग मनोरोगी हैं, जिनमें से लगभग आधे से अधिक तो जीवन की सामाजिक एवं आर्थिक चिन्ताओं से त्रस्त होकर इस दुःखद अवस्था में पहुँचे हैं और लगभग एक चौथाई को तो तुरन्त ही चिकित्सकीय उपचार की आवश्यकता है।[55]

यदि आध्यात्मिक दृष्टि से आज का परिदृश्य देखा जाए, तो यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आज प्रत्येक व्यक्ति कम या अधिक रूप में मनोरोगी ही है, बस, अन्तर है तो गुणात्मक (Qualitative) एवं मात्रात्मक (Quantitative) स्तर का। वस्तुतः, जो लोग मनोविकारों पर नियंत्रण नहीं रख पाते और सामाजिकता की सीमा का उल्लंघन कर देते हैं, वे तो मनोरोगी हैं ही। परन्तु जो अंतरंग में मनोविकारों का पोषण करते हुए भी सामान्य कहलाने के लिए अपने मनोविकारों को किसी तरह दबा कर जीते हैं और सामाजिकता की मर्यादा में रहने का स्वांग रचते हैं, वे भी एक प्रकार के मनोरोगी ही हैं। भगवती आराधना में भी कहा गया है कि कषायों से विक्षिप्त व्यक्ति मनोरोगी (उन्मत्त) ही है।[56]

अतः यह जरुरी हो जाता है कि व्यक्ति मन–प्रबन्धन के लिए प्रयत्न करने से पूर्व तनावों, उनके स्वरूप और कारणों को सम्यक्तया समझे।

7.3.1 तनाव शब्द का अर्थ एवं अवधारणा

तनाव आधुनिक युग का प्रचलित शब्द है, जिसे अंग्रेजी भाषा में स्ट्रैस (Stress) तथा हिन्दी भाषा में दबाव, खिंचाव, उत्तेजना, अनुक्रिया (Response), प्रतिक्रिया, प्रतिबल आदि शब्दों के द्वारा व्याख्यायित किया जाता है। जैनाचार्यों ने तनाव के लिए आतुरता, दुःख, क्लेश, चिन्ता आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

जैनाचार्यों की दृष्टि में, तनाव एक विभाव दशा है और यह न केवल चेतन, अपितु जड़ पदार्थों में भी उत्पन्न होती रहती है। उनके अनुसार, विश्व जड़ एवं चेतन का एक पिण्ड है, जिसमें प्रत्येक पदार्थ की अवस्थाओं का प्रतिसमय रूपान्तरण होता रहता है।[57] बदलती हुई अवस्थाओं में एक पदार्थ का दूसरे पदार्थों के साथ संसर्ग (संयोग–सम्बन्ध) होता रहता है, इस संसर्ग में जब कोई पदार्थ अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आसपास के पदार्थों द्वारा निर्मित परिस्थितियों से प्रभावित हो जाता है, तब उसकी स्वाभाविक अवस्था चलायमान होने लगती है और एक विशेष प्रकार का बल या दबाव उसमें उत्पन्न हो जाता है। जैन–परम्परा में स्वभाव से विकृत होने वाली इस अवस्था को 'विभाव–दशा' कहा गया है।[58] इस विभाव दशा को उत्तेजित करने वाले वस्तु के अंतरंग दबाव या बल को तनाव (Stress) कहा जा सकता है।

7.3.2 तनाव की परिभाषा एवं उसकी सर्वव्यापकता

जैनदर्शन के अनुसार, तनाव एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है, जो व्यक्ति (चेतन) एवं वस्तु (जड़) सभी में क्रियाशील रहती है, जैसे –

वैयक्तिक तनाव[59]	**वस्तुगत तनाव**
1) भावात्मक तनाव : क्रोध, भय, चिन्ता आदि	1) प्राकृतिक तनाव : भूकम्प, ज्वालामुखी, सुनामी, बाढ़, अतिवृष्टि आदि
2) मानसिक तनाव : अस्थिरता, चपलता आदि	2) कृत्रिम (मानवकृत) तनाव : यह अनेक प्रकार का है, जैसे – इलास्टिक को खींचना या लोहे की सलाख को मोड़ना आदि
3) शारीरिक तनाव : बेचैनी, क्षुधा, तृष्णा, रोगादि	

चूँकि जीवन–प्रबन्धन का सम्बन्ध वैयक्तिक तनाव–प्रबन्धन से है, अतः आगे वैयक्तिक तनाव की चर्चा की जाएगी।

तनाव की परिभाषा : वैयक्तिक जीवन के सन्दर्भ में

- ★ रोजन एवं ग्रेगरी के अनुसार[60] – 'वह बाह्य तथा आन्तरिक अनिष्टकारी एवं वंचनकारी स्थिति, जिसके साथ समायोजन (Adjustment) कर पाना व्यक्ति के लिए अत्यधिक कष्टकर होता है, उसे प्रतिबल या तनाव कहते हैं।'
- ★ गेट्स एवं अन्य के अनुसार[61] – 'तनाव असन्तुलन की वह दशा है, जो प्राणी को अपनी उत्तेजित दशा का अन्त करने हेतु कोई कार्य करने के लिए प्रेरित करती है।'
- ★ बेरॉन के अनुसार[62] – 'तनाव एक ऐसी बहुआयामी प्रक्रिया है, जो व्यक्ति के दैहिक एवं मनोवैज्ञानिक वृत्तियों को विघटित करने वाली अथवा विघटित करने की कल्पना कराने वाली घटनाओं (Stimulents) के प्रति एक अनुक्रिया (Response) के रूप में उत्पन्न होती है।'
- ★ आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार[63] – 'जब किसी भी पदार्थ पर पड़ने वाले दाब से पदार्थ के आकार में परिवर्त्तन हो जाता है, तो उसे तनाव या तान कहा जाता है।'

इस प्रकार, सभी विचारकों ने परिस्थिति या घटना के प्रति की गई अनुक्रिया (Response) को तनाव के रूप में प्रतिपादित किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन–प्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में जैनआचारदर्शन के आधार पर मेरी दृष्टि में, वैयक्तिक तनाव को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है –

तनाव वह सार्वभौमिक, परिवर्त्तनशील एवं बहुआयामी प्रक्रिया है, जो परिस्थिति या घटना के काल्पनिक अथवा वास्तविक मूल्यांकन के बाद की गई एक विशिष्ट अनुक्रिया (Response) है, जिससे व्यक्ति में आकर्षण (राग) या विकर्षण (द्वेष) का दबाव या बल उत्पन्न होता है और व्यक्ति के व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है।

7.3.3 तनाव की विशेषताएँ

★ तनाव एक परिवर्त्तनशील प्रक्रिया है। जैनाचार्यों की भी यह मान्यता है कि जीवन एवं जड़–जगत् दोनों गत्यात्मक (Dynamic) हैं।[64] इस प्रक्रिया के तीन महत्त्वपूर्ण घटक हैं –

- उद्दीपक (बाह्य परिस्थिति/संयोग सम्बन्ध/Stimulent) : परिवर्त्तनशील
- प्राणी (Organism) : परिवर्त्तनशील
- अनुक्रिया (Response) : परिवर्त्तनशील

उदाहरणार्थ, अचानक किसी सर्प को देखकर व्यक्ति भयभीत हो जाता है और उसकी दिल की धड़कनें बढ़ जाती हैं। यहाँ सर्प एक 'उद्दीपक' है, व्यक्ति 'प्राणी' है और धड़कनों का बढ़ना 'अनुक्रिया' है।

★ तनाव एक बहुआयामी प्रक्रिया (Multifaceted Process) है, क्योंकि इसके विविध आयाम होते हैं, जैसे – वैयक्तिक–तनाव, पारिवारिक–तनाव, वैश्विक–तनाव, आर्थिक–तनाव आदि। आचार्य महाप्रज्ञजी ने वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा से तनाव के तीन प्रकार बताए हैं[65] – 1) शारीरिक–तनाव – शारीरिक श्रम करते–करते थक जाना, 2) मानसिक–तनाव – अत्यधिक चिन्तन–मनन करना एवं 3) भावात्मक–तनाव – आर्त्तध्यान (विषादरूप भाव) एवं रौद्रध्यान (हर्षरूप भाव) करना। इसके अतिरिक्त भी तनाव के अनेक प्रकार सम्भव हैं, जैसे – राग–द्वेषात्मक तनाव, प्रशस्त–अप्रशस्त तनाव, प्रियकर–अप्रियकर तनाव, अल्पकालिक–दीर्घकालिक तनाव, अत्यल्प–अत्यधिक तनाव इत्यादि। इनकी चर्चा आगे की जाएगी।

★ तनाव वास्तविक परिस्थितियों से सम्बन्धित भी होता है और काल्पनिक से भी। आशय यह है कि व्यक्ति का मन चारों ओर दौड़ने वाले अश्व के समान है[66] अथवा क्षणभर के लिए भी शान्त नहीं बैठने वाले बन्दर के समान है।[67] सन्त आनन्दघनजी भी कहते हैं कि यह मन रात–दिन का विचार किए बिना कभी समूह और कभी एकान्त, कभी आकाश और कभी पाताल में भटकता ही रहता है।[68] इसी कारण व्यक्ति का तनाव बना रहता है।

★ तनाव और उसके उद्दीपक (परिस्थिति/Stimulent) के मध्य कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं होता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आशय यह है कि एक समान विषय (घटना या परिस्थिति) होने पर भी किसी को उसका आकर्षण हो सकता है, तो किसी को विकर्षण[69] और इनके फलस्वरूप कोई अधिक तनाव–ग्रस्त होता है, तो कोई कम, किन्तु योग्य जीवन–प्रबन्धक (साधक) समता में रहता है।

★ जैनाचार्यों ने परिस्थिति से प्रभावित होने की वैयक्तिक/आत्मिक योग्यता (निषेधात्मक क्षमता/Negative Ability) को 'औदयिक–भाव' के रूप में व्याख्यायित किया है।[70] अतः तनाव को एक प्रकार का औदयिक भाव कहा जा सकता है, जिसके फलस्वरूप मनोविचलन की अवस्था उत्पन्न होती है।

★ तनाव की उत्पत्ति बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के उद्दीपकों के मूल्यांकन के पश्चात् होती है।

- बाह्य उद्दीपक (External Stimulent), जैसे – निन्दात्मक कटु–वचन श्रवण, तीव्र ठण्ड–गर्मी आदि।
- आन्तरिक उद्दीपक (Internal Stimulent), जैसे – आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि संज्ञाएँ।

★ तनाव एक आवश्यकता नहीं, अपितु विवशता (कमजोरी) है, जो व्यक्ति में आत्म–नियंत्रण (स्व–प्रबन्धन) की कमी के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। तनाव का समीकरण कुछ इस प्रकार है –

- आत्म–नियंत्रण > उद्दीपक = तनावरहित अवस्था
- आत्म–नियंत्रण < उद्दीपक = तनावसहित अवस्था

★ तनाव समय के साथ बढ़ भी सकता है, तो घट भी सकता है और योग्य साधक हो, तो समाप्त भी हो सकता है। जैनकथानकों में प्रसन्नचंद्र राजर्षि का वर्णन आता है, जिन्हें ध्यान में लीन रहते हुए कुछ शब्द सुनाई पड़े, जिससे पूर्व मोह जाग्रत हो उठा और तीव्र तनाव उत्पन्न हो गया, लेकिन कुछ ही समय बाद आत्मबोध होने पर तनाव तीव्रता से घटता गया एवं अन्ततः वे पूर्ण तनावमुक्त दशा (कैवल्य) को प्राप्त हो गए।

★ तनाव किसी वस्तु या परिस्थिति के प्रति आकर्षण (राग) से भी होता है और विकर्षण (द्वेष) से भी। सामान्यतया केवल विकर्षण को ही तनाव का कारण माना जाता है, किन्तु यह एक भ्रान्ति है। जैनाचार्यों ने इसीलिए राग और द्वेष दोनों को ही दुःख अर्थात् तनाव का मूल कहा है[71] एवं इन पर जीवन–प्रबन्धन की साधना के द्वारा विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

- राग (आकर्षण) – लोभ, माया, रति आदि मनोभाव।
- द्वेष (विकर्षण) – क्रोध, भय, अरति आदि मनोभाव।

★ तनाव एक प्रकार की अनुक्रिया है, जो व्यक्ति की शान्ति एवं आनन्द को भंग कर उसे दुःखी एवं सन्तप्त कर देती है, इसीलिए जैनाचार्यों ने कहा है – क्रिया तो करो, लेकिन प्रतिक्रिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मत करो।

★ तनाव एक जटिल प्रक्रिया (Complex Process) है। इसमें अनेकानेक कारकों (आसेधकों/Stressors) का अपना–अपना विशिष्ट योगदान रहता है, जिसे समझ पाना इतना आसान नहीं है। ऋषिभाषित में इसीलिए कहा गया है – मनुष्य का मन बहुत गहरा है, इसे समझ पाना कठिन है।[72]

7.3.4 तनाव के विविध प्रकार

यह सत्य है कि तनाव एक विसंगति है, जिस पर विजय प्राप्त करना ही मन–प्रबन्धन का परम लक्ष्य है, परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विद्यमान तनावों में से अच्छे–बुरे, उचित–अनुचित, आवश्यक–अनावश्यक तनावों का भेद–ज्ञान आवश्यक है। जैनआचार व्यवस्था के अनुसार, व्यक्ति को सर्वप्रथम अनावश्यक तनावों से मुक्ति पानी चाहिए और फिर आवश्यक तनाव का अल्पीकरण करते हुए अन्ततः पूर्ण तनावमुक्त दशा की प्राप्ति करनी चाहिए। इस हेतु निम्नलिखित भेद–प्रभेद विचारणीय हैं –

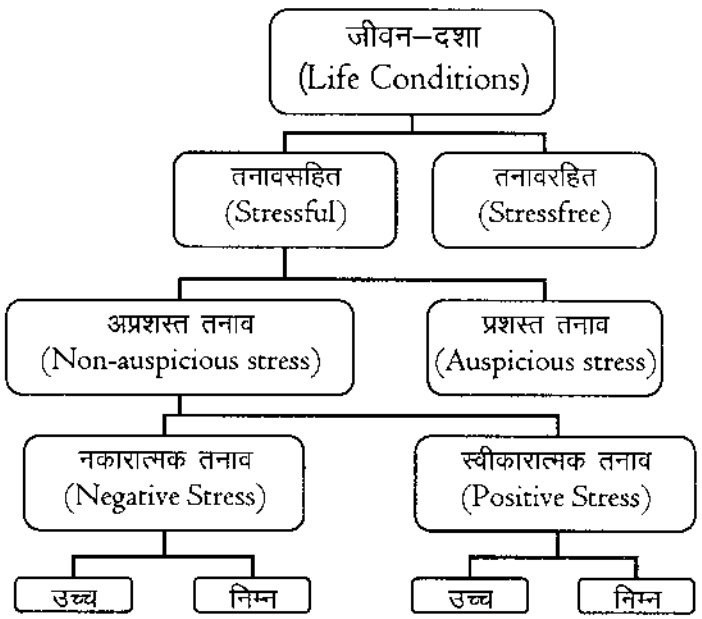

जैनाचार्यों के अनुसार, जीवन की दो अवस्थाएँ सम्भव हैं – तनावसहित (संसारी) एवं तनावरहित (मुक्त)। इनमें से तनावरहित अवस्था ही श्रेयस्कर है, जिसे जैनदर्शन में पूर्ण मुक्त दशा के रूप में व्याख्यायित किया गया है। स्पष्ट कहा गया है कि क्रोध, मान, माया और लोभ – ये चारों मानसिक विकार दुर्गुणों और पाप की वृद्धि करने वाले हैं, अतः अपनी भलाई चाहने वालों को इन दोषों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।[73]

जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता, तब तक उसकी अवस्था तनावयुक्त ही बनी रहती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसमें तरतमता की दृष्टि से अनेक भेद हो सकते हैं, लेकिन स्थूल रूप से इस अवस्था के दो प्रकार हैं[74] –

(1) प्रशस्त तनाव (Auspicious Stress) (2) अप्रशस्त तनाव (Non-auspicious Stress)

(1) प्रशस्त तनाव (Auspicious Stress) – वह तनाव, जो जीवन में राग–द्वेष की वृत्ति को मन्द करता है और वर्त्तमान एवं भावी जीवन को सुख–शान्तिमय बनाता है, उसे प्रशस्त तनाव कहना चाहिए। यह तनाव जीवन विकास हेतु आवश्यक है, क्योंकि इससे व्यक्ति को अपने दायित्वों के उचित निर्वाह करने की अभिप्रेरणा (Motivation) मिलती है और वह अर्थ एवं भोग सम्बन्धी प्रयत्नों को करता हुआ धर्म एवं मोक्ष सम्बन्धी प्रयत्नों का उचित समन्वय कर लेता है।

(2) अप्रशस्त तनाव (Non-auspicious Stress) – वह तनाव, जो जीवन में राग–द्वेष की अभिवृद्धि करता है और वर्त्तमान एवं भावी जीवन को दुःख और सन्ताप से पीड़ित करता है, उसे अप्रशस्त तनाव कहना चाहिए। जैन विचारणा के अनुसार, यह तनाव अनावश्यक है और आत्म–पतन की ओर धकेलने वाला है। इससे प्रेरित होकर व्यक्ति अनैतिक प्रवृत्तियों, जैसे – क्लेश–कलह, लड़ाई–झगड़ा, गाली–गलौज आदि में प्रवृत्त हो जाता है अथवा अर्थ और भोग के अतिरेक में फँसकर धर्म और मोक्ष के प्रयत्नों से विमुख हो जाता है।

यद्यपि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में न तो पूर्ण तनावरहित जीवन की कल्पना की जा सकती है और न ही प्रशस्त–तनाव की उपयोगिता का बोध, तथापि जैनाचार्यों ने सदैव ही प्रशस्त तनाव को माध्यम बनाकर अप्रशस्त तनाव से मुक्त होने एवं अन्ततः परिपूर्ण तनावरहित अवस्था की प्राप्ति करने को जीवन–प्रबन्धन का लक्ष्य बताया है। कहा भी है[75] –

अप्रशस्तता रे टाली प्रशस्तता, करता आस्रव नाशेजी।
संवर वाधे रे साधे निर्जरा, आतम भाव प्रकाशे जी।।

अर्थात् अप्रशस्त भावों को टाल कर प्रशस्त भाव करना चाहिए, जिससे दुःखदायी अवस्था का नाश हो एवं सुखदायी अवस्था की वृद्धि हो और अन्ततः पूर्ण दुःखरहित आत्मभावों की अभिव्यक्ति हो।

प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रशस्त तनाव को जाग्रत करने वाले सत्संग, सद्विचार एवं सत्कर्म के प्रति रुचि तथा निष्ठा उत्पन्न करे और साथ ही अप्रशस्त तनाव के प्रेरक कारकों से दूर रहे। यह ज्ञातव्य है कि प्रशस्त तनाव वस्तुतः तनाव–मुक्ति का साधन है, जबकि अप्रशस्त तनाव तनाव–वृद्धि का।

अप्रशस्त तनाव को ही आज तनाव के रुप में पहचाना जा रहा है। जैन एवं आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि[76] से इसके दो भेद हैं – क) स्वीकारात्मक तनाव (Positive Stress) ख) नकारात्मक तनाव (Negative Stress)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(क) स्वीकारात्मक तनाव – वह तनाव, जिसमें अनुकूल घटना या परिस्थिति के प्राप्त होने पर व्यक्ति सुख का अनुभव करता है, स्वीकारात्मक तनाव कहलाता है, जैसे – लॉटरी खुलना, नौकरी लगना, विवाह होना, लाभ होना, मनोरंजन करना, सम्मान मिलना, घूमने–फिरने जाना, पदोन्नति होना, कामभोग करना आदि–आदि।

इसे सामान्यतया तनाव नहीं माना जाता, किन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिक हेंस सेली (Hans Selye)[77] आदि ने इसे भी तनाव के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि इसे बाह्य दृष्टि से अच्छे तनाव के रूप में देखा जाता है, क्योंकि इसमें अशान्ति, भय, चिन्ता आदि नहीं, अपितु खुशी और रोमांच का अनुभव होता है, फिर भी जैनदृष्टि से यह तनाव हितकर नहीं है।

यह तनाव रागात्मक वृत्तियों का पोषक होता है एवं जैसे–जैसे इसकी तीव्रता बढ़ती है, वैसे–वैसे कषायों की विशेष अभिवृद्धि होती जाती है। यह तनाव रौद्रध्यान का रूप धारण कर लेता है और पापकर्मों के बन्ध का कारण बनता है।[78,79]

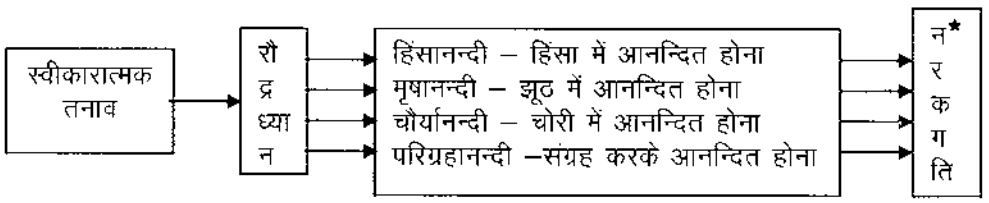

(*अतितीव्र रौद्रध्यान की अपेक्षा से नरक, तीव्र की अपेक्षा से तिर्यंच, मन्द की अपेक्षा से मनुष्य एवं अतिमन्द से देवगति की प्राप्ति होती है।)

यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इसे सुखद तनाव (Eustress) कहा जाता है, लेकिन जैनदृष्टि से यह कामभोगादि से उत्पन्न तनाव भी दुःखद ही है, क्योंकि यह क्षणभर के लिए सुख देकर चिरकाल तक दुःख ही दुःख देता है।[80] जिससे अधिक दुःख और थोड़ा सुख मिले, वह न तो हितकर हो सकता है और न ही प्रियकर। वस्तुतः, वह सुख भी सुख नहीं है, जो अन्ततः दुःख रूप में परिणत हो जाए।[81] जैनाचार्यों ने इस हर्ष–जनित सुख के बजाय समता–जनित सुख को ही उचित बताया है।

(ख) नकारात्मक तनाव – वह तनाव, जिसमें प्रतिकूल घटना या परिस्थिति के मिलने पर व्यक्ति दुःख एवं कष्ट का अनुभव करता है, नकारात्मक तनाव कहलाता है, जैसे – प्रियजनों की मृत्यु होना, व्यापार में नुकसान होना, स्पर्धा में हारना, प्राकृतिक प्रकोप होना, शारीरिक अस्वस्थता होना, अपमान होना आदि–आदि।

इसे न केवल जैनाचार्यों ने, अपितु आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी नकारा है। इससे व्यक्ति की मानसिक शान्ति एवं स्थिरता तुरन्त भंग हो जाती है तथा शरीर पर दुष्प्रभाव भी पड़ता है।

यह द्वेषात्मक वृत्तियों का पोषक है और क्रोध, मान, भय, अरति, शोक, निराशा, कुण्ठा आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के रूप में अभिव्यक्त होता है। जैनाचार्यों ने इस परिणाम को आर्त्तध्यान के रूप में प्रतिपादित किया है और इसे भी संक्लेश तथा पापकर्मों के बन्धन का हेतु कहा है।[82,83]

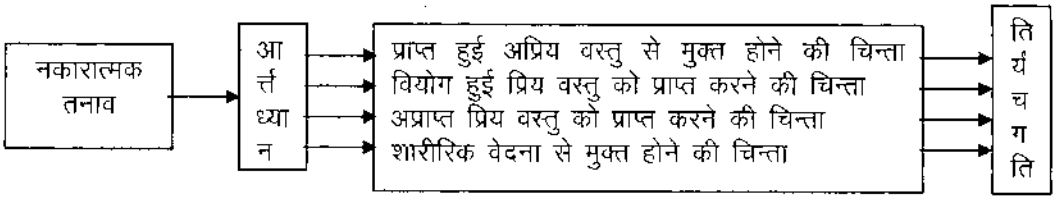

यद्यपि आधुनिक मनोवैज्ञानिक केट्स डी व्रिज (Kets de Vries, 1979) के अनुसार, हर व्यक्ति को अपने कार्यों को सम्पादित करने के लिए कुछ दबाव या तनाव आवश्यक है,[84] परन्तु जैनदृष्टि के अनुसार, यह विचारणा उचित नहीं है, इसे नियम नहीं बनाया जा सकता। जैनाचार्यों के अनुसार, व्यक्ति को सम्यक् विचारों के साथ तनावरहित होकर कार्य का सम्पादन करना चाहिए। कहा भी गया है – कार्य करो, लेकिन मन को दूषित मत होने दो।[85]

मनुष्य के जीवन–व्यवहार में तनाव की मात्रा का भी महत्त्व है। मात्रा के आधार पर भी तनाव के दो रूप हो सकते हैं[86] –

1) **उच्च तनाव** (Hyper Stress) – वह तनाव, जिसका स्तर बहुत अधिक तीव्र होता है और जो व्यक्ति की अनुकूलन (Adaptation) की सीमाओं को भी पार कर जाता है, उच्च तनाव कहलाता है, जैसे – अत्यधिक कार्यालयीन कार्यभार, अत्यधिक पारिवारिक एवं सामाजिक–दायित्व, परीक्षा या प्रेम में असफल होने पर आत्महत्या का प्रयत्न आदि।
2) **निम्न तनाव** (Hypo Stress) – वह तनाव, जिसका स्तर सामान्य से अल्प होता है और जिससे व्यक्ति की निष्क्रियता बढ़ती है, निम्न तनाव कहलाता है, जैसे – अकेले जाना, कार्य निवृत्त हो जाना, एकान्त स्थान पर जाना आदि।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार, तनाव (अप्रशस्त) यदि अल्प हो जाता है, तो ऊब और अरुचि से मन क्षुब्ध (Disturb) हो जाता है तथा तनाव यदि अधिक हो जाता है, तो शारीरिक एवं मानसिक स्थिरता भंग हो जाती है। अतः तनाव सामान्य (मध्यम) मात्रा में होना चाहिए।

यहाँ यह उल्लेख करना भी उचित होगा कि यदि व्यक्ति का तनाव सामान्य से अधिक अथवा अल्प रहता है, तो उसकी कार्यक्षमता भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Relationship Between Stress and Job Performance
(तनाव एवं कार्यक्षमता का सम्बन्ध)

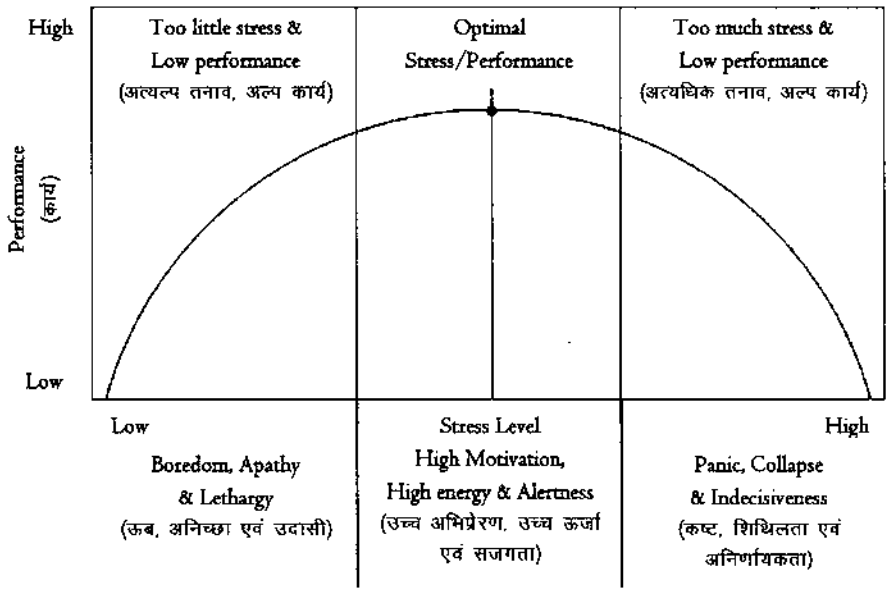

जैनदृष्टि के अनुसार, अप्रशस्त तनाव को साधना के द्वारा कम करते जाना चाहिए। यदि विवेकपूर्ण तरीके से अप्रशस्त तनाव को क्रमशः कम किया जाए, तो इससे मानसिक ऊब या अरुचि नहीं, अपितु प्रसन्नता एवं ताजगी का अनुभव होता है।

जैनशास्त्रों में जैनमुनि एवं चक्रवर्ती के सुखों की तुलना करते हुए कहा गया है – सम्पूर्ण आसक्तियों से मुक्त एवं प्रसन्नता से युक्त साधक को जैसा सुख मिलता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नहीं मिल सकता।[87] अन्यत्र यह भी कहा गया है कि राग–द्वेषरहित साधक को जो सुख प्राप्त होता है, उसके अनन्तवें भाग की समानता भी चक्रवर्ती का सुख नहीं कर सकता।[88] इससे स्पष्ट है कि जीवन–प्रबन्धक को साधना के द्वारा अप्रशस्त तनाव का अल्पीकरण करते जाना चाहिए।

जैनशास्त्रों में यद्यपि अप्रशस्त तनाव को कम करते जाने की प्रेरणा बारम्बार दी गई है, तथापि एक निश्चित भूमिका में जी रहे साधक को अपनी भूमिकानुसार प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का सन्तुलन बनाने का सदुपदेश भी दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि जीवन–प्रबन्धक को सामान्य (मध्यम) स्थिति में रहते हुए क्रमशः तनाव के अल्पीकरण का प्रयास करते रहना चाहिए, जिससे उसकी अंतरंग अभिप्रेरणा (Motivation), ऊर्जा (Energy) एवं सजगता (Alertness) बनी रहे और कार्यक्षमता अधिकतम हो सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7.3.5 तनाव की प्रक्रिया

तनाव एक निरन्तर गतिशील प्रक्रिया है, जो व्यक्ति एवं वस्तु की वातावरणीय परिवर्त्तन के प्रति अनुक्रिया की सूचक है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि तनाव उत्पन्न होने की प्रक्रिया क्या है और कोई वस्तु अपने आसपास के वातावरण से कैसे प्रभावित होती है? इस प्रश्न का सम्यक् निराकरण मन–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक नियमों के निर्धारण के लिए अत्यावश्यक है।

जैनदृष्टिकोण से तनाव की उत्पत्ति की प्रक्रिया को समझने के लिए निम्न वैज्ञानिक दृष्टान्त का सहारा लिया जा सकता है[89] –

लोहे के एक पिण्ड को हम तनाव के अध्ययन का आधार बना सकते हैं। इसमें अनेकानेक सूक्ष्म कण (Molecules) होते हैं, जो एक–दूसरे से सटे हुए और सुव्यवस्थित ढंग से जमे हुए रहते हैं। जब इस लोह–पिण्ड पर कोई बाह्य दबाव आता है, तब तीन प्रकार की स्थितियाँ निर्मित हो जाती हैं –

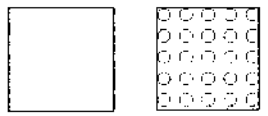

(अ) मूल स्थिति

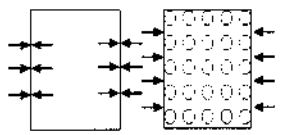

(ब) प्रथम विकृत स्थिति

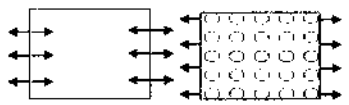

(स) द्वितीय विकृत स्थिति

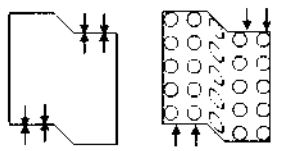

(द) तृतीय विकृत स्थिति

★ जब इस पर दबाने वाला बल (Compressive force) लगाया जाता है, तब इसमें मौजूद परमाणु उस बल का प्रतिकार करते हैं, परन्तु यदि बल अधिक होता है, तो ये परमाणु उसे सहन नहीं कर पाते और दब जाते हैं।

★ जब खींचने वाला बल (Tensile Force) लगाया जाता है, तब ये परमाणु उस बल का भी प्रतिकार करते हैं, परन्तु सहन नहीं होने पर ये खिंच जाते हैं।

★ जब मोड़ने वाला बल (Shearing Force) का प्रयोग किया जाता है, तब भी ये परमाणु पहले तो उस बल का प्रतिकार करते हैं, परन्तु सहन नहीं होने पर ये मुड़ जाते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि बाह्य दबाव से बचने के लिए लोह–पिण्ड में एक विशिष्ट अनुक्रिया होती है, जो उस बाह्य बल का विरोध (प्रतिरोध) करती है। यह प्रतिरोधी शक्ति एक प्रकार का अंतरंग बल या दबाव पैदा करती है और इसे ही तनाव कहते हैं। इस तनाव से वस्तु की स्थिति चरमरा जाती है और उसमें अव्यवस्थितता (Disturbance) आ जाती है, जिससे उसका आकार भी विकृत (Deformed) हो जाता है।

वस्तु में बाह्य–दबाव को सहन करने की क्षमता तो होती है, परन्तु इसके लगातार बढ़ने पर एक सीमा के बाद वस्तु में स्थायी विकृति आ जाती है। इतना ही नहीं, बाह्य दबाव के असहनीय हो जाने पर वस्तु टूटकर विभक्त भी हो सकती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी दृष्टान्त के आधार पर मानवीय जीवन में तनाव की प्रक्रिया को निम्न स्थितियों द्वारा समझा जा सकता है –

★ जब व्यक्ति सहज होता है, तब उसके भाव शान्त होते हैं और मन में स्थिरता तथा शरीर में स्वस्थता बनी रहती है।

★ जब उसे कोई मानसिक, शारीरिक अथवा बाहरी परिस्थितियाँ (Stimulents) मिलती हैं, तब उसे एक प्रकार की कमी का एहसास होता है, जिसकी पूर्त्ति हेतु मन में इच्छाएँ या आकांक्षाएँ उत्पन्न होने लगती हैं. इन इच्छाओं से एक विशेष बल या दबाव पैदा हो जाता है. जो तनाव का ही प्रारम्भिक रूप है। जैसे–जैसे इच्छाओं का दबाव बढ़ता है, वैसे–वैसे मन–वचन–काया एवं कषाय की प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है और पूर्त्ति का प्रयत्न भी, फलस्वरूप तनाव और तीव्र हो जाता है।

★ यहाँ दो प्रकार की स्थितियाँ निर्मित हो सकती हैं – 1) किसी प्रकार की बाधा का उत्पन्न न होना एवं इच्छा के अनुरूप फल का मिलना अथवा 2) किसी विघ्न का उपस्थित होना एवं इच्छा के अनुरूप कार्य न होकर प्रतिकूल कार्य हो जाना।

पहली स्थिति में इच्छा–पूर्त्ति हो जाने से तनाव समाप्त हो जाता है, किन्तु दूसरी स्थिति में अतृप्त इच्छाओं का दबाव बना ही रहता है और मन में इससे चंचलता एवं आतुरता की विशेष अभिवृद्धि होती है। व्यक्ति की एक ही अंतरंग पुकार होती है – 'यह होना ही चाहिए, होना ही चाहिए'। फलस्वरूप, उसे अत्यधिक तनाव का अनुभव होता है।

★ पहली वाली स्थिति स्वीकारात्मक तनाव अर्थात् सुखद तनाव का रूप धारण कर लेती है, जो प्रसन्नता एवं हर्ष के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह तनाव ही ऐसे संस्कारों या मनोभावों को उत्पन्न करता है, जिससे इस प्रकार की इच्छाएँ पुनः–पुनः जाग्रत होती रहे। स्थानांगसूत्र में इस स्थिति को **'सुमनस्कता'** कहा गया है।[90]

दूसरी स्थिति नकारात्मक तनाव अर्थात् दुःखद तनाव का रूप धारण कर लेती है, जो शोक, भय, क्रोध, घृणा, विषाद आदि भावों के रूप में अभिव्यक्त होता है। स्थानांगसूत्र में इस स्थिति को **'दुर्मनस्कता'** कहा गया है।[91]

★ ये दोनों प्रकार के तनाव शीघ्र भी समाप्त हो सकते हैं, लम्बे समय तक भी चल सकते हैं या स्थायी विकृति (Permanent Disorder) के रूप में भी परिवर्त्तित हो सकते हैं।

★ ये तनाव आत्मा में भावनात्मक परिवर्त्तन के रूप में प्रारम्भ होते हैं, फिर मन को प्रभावित करते हैं, जिससे शरीर की अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (Endocrine Glands) से अनेक प्रकार के अहितकारी हार्मोन्स का स्राव होने लगता है, जो रक्त में मिलकर शरीर के संवेदनशील अंगों में पहुँचकर उन्हें दुष्प्रभावित कर देता है। अन्ततः इन तनावों से व्यक्ति के सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक, वाचिक एवं आत्मिक व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है और इसका दूरगामी प्रभाव सामाजिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं पर्यावरणीय स्तर पर भी पड़ सकता है। आचारांगसूत्र में इस तनाव के दुष्परिणाम को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जो स्वयं तनावग्रस्त रहता है, वह सबके तनाव (परिताप) का कारण बन जाता है।[92]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7.4 विविध मानसिक विकार एवं उनके दुष्परिणाम

आज का मानव अपनी उपलब्धियों से सन्तुष्ट नहीं है। वह जीवन को अस्मिता, इच्छा और आकांक्षाओं के बीच में बीता रहा है। व्यक्ति का अहं ही उसकी अस्मिता है, वह कुछ पाना चाहता है, यह उसकी इच्छा है और वह भविष्य में कुछ होना चाहता है, यह उसकी आकांक्षा है। जब इन तीनों की पूर्त्ति नहीं होती, तो मनोविकारों का जन्म होता है।

इन तीनों की पूर्ति न हो पाने से जीवन में अनेक आवश्यकताएँ महसूस होती रहती हैं। ये आवश्यकताएँ इतनी प्रमुख बन जाती हैं कि व्यक्ति का पूरा जीवन ही इनकी पूर्त्ति के प्रयासों में बीत जाता है। उपाध्याय विनयविजयजी ने इनका मार्मिक चित्रण करते हुए कहा है कि प्राथमिक इच्छाएँ भोजन–पानी को उपलब्ध करने की हैं, दूसरी वस्त्र, मकान और अलंकार की प्राप्ति के लिए होती हैं, तो तीसरी विवाह, सन्तान–प्राप्ति और प्रिय ऐन्द्रिक–विषयों को पाने की होती हैं।[93] इस प्रकार, प्राथमिक आवश्यकताएँ क्रमशः बढ़ती हुई इच्छा और तृष्णा का रूप ले लेती हैं। इनकी पूर्त्ति का प्रयत्न उतना ही दुष्कर है, जितना छलनी को जल से भरना।[94] अतः व्यक्ति की इच्छा और तृष्णा कभी समाप्त ही नहीं हो पाती।

इन अन्तहीन इच्छाओं के चलते आज का व्यक्ति मानसिक व्यग्रता से बेचैन होता रहता है। वह कभी अतीत की स्मृतियों में खो जाता है, तो कभी भविष्य की कल्पनाओं में बह जाता है और कभी वर्त्तमान की झंझटों में फँस जाता है। कभी अपनी उपलब्धियों के बारे में सोचकर (क्षणिक) सन्तोष का अनुभव करता है, तो कभी बाधाओं के बारे में चिन्तित होकर निराश हो जाता है। एक ही क्षण पहले घर के बारे में सोचता है, तो दूसरे ही क्षण अर्थार्जन के बारे में और फिर अगले ही क्षण अपनी सामाजिक स्थिति के बारे में सोचने लगता है। इसीलिए जैनाचार्यों को कहना पड़ा कि यह मन बन्दर की तरह चंचल है, जो क्षणभर के लिए भी शान्त होकर नहीं बैठ सकता।[95]

इस प्रकार, व्यक्ति के विचारों एवं विकल्पों का प्रवाह अनवरत् रुप से बना ही रहता है और वह एक ही दिन में असंख्य विकल्पों (अध्यवसायों) के बीच में झूलता रहता है।[96] आचारांगसूत्र में भी कहा गया है कि अनेक विकल्पों के कारण यह व्यक्ति अनेक चित्त वाला है।[97]

जब–जब भी व्यक्ति परिस्थिति या घटना का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करता है, तब–तब उसके भीतर की सुप्त वासनाएँ (संज्ञाएँ) जाग्रत होकर इच्छा का रूप धारण कर लेती हैं। फिर उनकी पूर्त्ति की आकांक्षा से एक तनाव उत्पन्न होता है, जो आत्म–प्रदेशों को स्पन्दित करता है तथा यह स्पन्दन मन, वाणी और शरीर की सक्रियता के रूप में अभिव्यक्त होने लगता है। शनैः–शनैः आत्मा में क्रोधादि मनोविकारों का प्रादुर्भाव होता जाता है, जिनसे आत्मा आकुल–व्याकुल (दुःखी) होती रहती है। यदि ये विसंगतियाँ नियंत्रित नहीं हों, तो ये व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही विघटित करके अनेक प्रकार के मनोरोगों तथा पारिवारिक एवं सामाजिक तनावों का कारण भी बन जाती हैं। इस प्रकार, इच्छाएँ तनाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को और तनाव ही मनोविकारों को जन्म देता है।

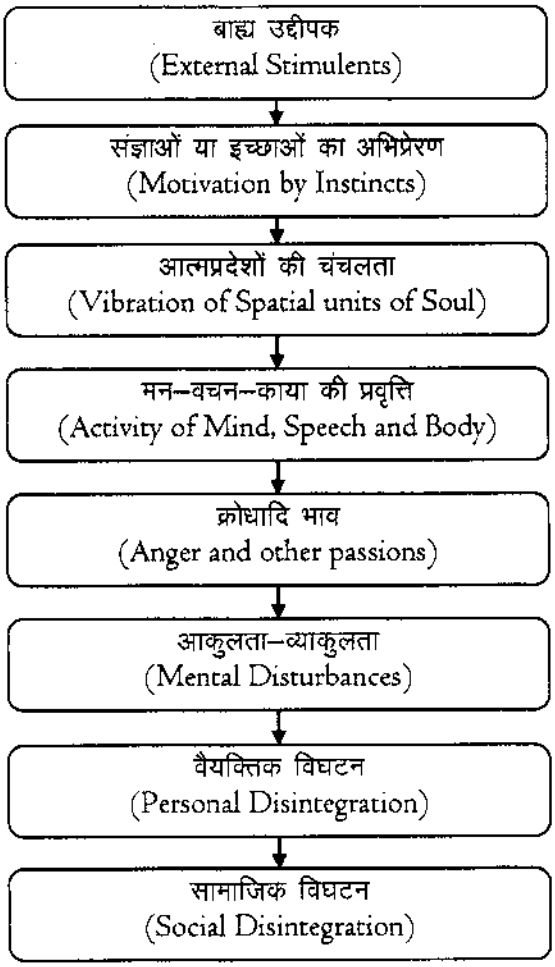

इच्छाओं से तनाव, तनाव से मनोविकार

7.4.1 मानसिक विकारों के विविध रूप

व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति (Action) का सम्बन्ध अंतरंग वृत्तियों से होता है। जब अंतरंग वृत्तियाँ विकृत हो जाती हैं, तो बाह्य प्रवृत्तियाँ भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। सामान्यतया इन विकृत–वृत्तियों को ही मानसिक–विकार कहा जाता है। इनके विविध रूप होते हैं, जैसे – चिन्ता, कुण्ठा, भय, शोक, ईर्ष्या आदि।

आधुनिक मनोविज्ञान में इन वृत्तियों को संवेग (Emotions) कहा जाता है। 'Emotion' लैटिन शब्द 'Emovere' से बना है, जिसका अर्थ है – उत्तेजित करना (To excite)। अतः कहा जा सकता है कि संवेग व्यक्ति को उत्तेजित करते हैं।[98] आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने संवेगों का वर्गीकरण इस प्रकार से किया है।[99]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

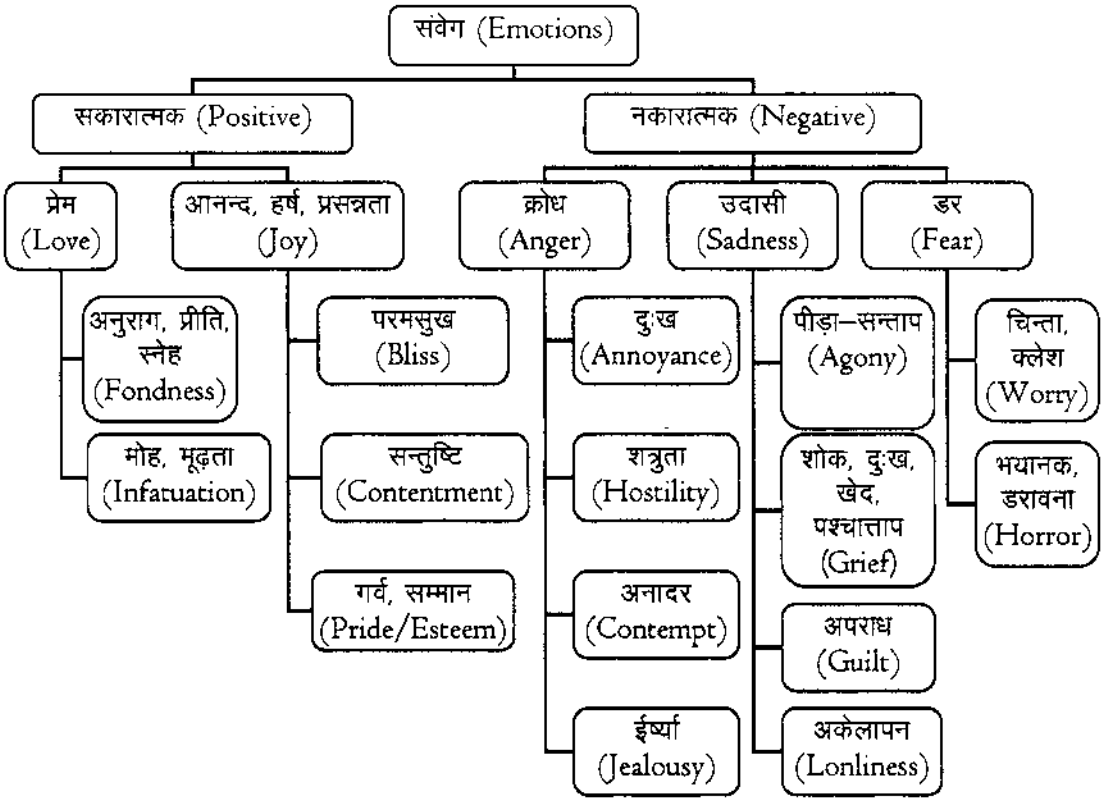

जैन–परम्परा में इन मूल प्रवृत्तियों एवं तज्जन्य संवेगों को संज्ञा के रूप में वर्णित किया है, जैसे – आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि।

जैनदर्शन के अनुसार, आत्मा मन के संयोग से अनेक कार्यों को करती है। जिनमें तीन मुख्य हैं – 1) ज्ञानात्मक, 2) भावात्मक एवं 3) क्रियात्मक। इन्हें जैनदर्शन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा गया है। आत्मा अपनी शुद्ध अवस्था में होने पर इन कार्यों को शुद्ध रूप में पूर्ण करती है और अशुद्ध अवस्था में रहती हुई अशुद्ध रूप में। इस अशुद्ध अवस्था में अज्ञानरूप कार्य होने से भावों में कलुषित मनोवृत्तियों की उत्पत्ति होती है, जिन्हें जैन–मनोविज्ञान में कषाय की संज्ञा दी गई है।

'कषाय' शब्द 'कष्' और 'आय' – इन दो शब्दों के मेल से बना है। कष् का अर्थ है – संसार एवं आय का अर्थ है – लाभ। अतः बारम्बार संसार की प्राप्ति कराने वाली चित्त–वृत्ति कषाय है।[100] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार[101] – 'जिससे दुःखों की प्राप्ति होती है, वह कषाय है।' राजवार्त्तिककार के अनुसार[102] – 'जो आत्मा का हनन करे, उसे कुगति में ले जाए, वह कषाय है।' गोम्मटसार के अनुसार[103] – 'कर्मरूपी खेत को जोतकर जो सुख–दुःख रूपी धान्य को उत्पन्न करती है, वह कषाय है।' इस प्रकार जैनाचार्यों की दृष्टि में, कषाय चित्त क्षुब्ध करने वाली मलिन मनोवृत्ति है और इसे ही मानसिक विकार कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में कषाय के मुख्यतया दो भेद बताए गए है[104] – राग एवं द्वेष। अनुकूल, इष्ट एवं प्रिय पदार्थों के प्रति आकर्षण का भाव 'राग' कहलाता है, तो प्रतिकूल, अनिष्ट एवं अप्रिय पदार्थों के प्रति विकर्षण का भाव 'द्वेष' कहलाता है। राग और द्वेष भावों की तरतमता बनी ही रहती है, क्योंकि जो संयोग कभी इष्ट रूप लगता है, वही संयोग किसी अन्य समय अनिष्ट रूप प्रतीत होने लगता है। प्रशमरतिग्रन्थ में राग और द्वेष के आठ–आठ रूपों का चित्रण किया गया है[105] –

राग भाव	द्वेष भाव
इच्छा – इष्ट संयोग की चाहना	दोष – चित्तवृत्ति का दूषित होना
काम – प्रिय मिलन की विशेष भावना	असूया – अन्य के गुणों को सहन न करना
अभिलाषा – इच्छित संयोग की तीव्रतम कामना	प्रचण्डन – तीव्र गुस्सा करना
अभिनन्द – मनोकामना पूर्ण होने पर अतिहर्ष होना	मत्सर – द्वेष के कारण यथार्थता को छिपाना
स्नेह – व्यक्तिविशेष के प्रति अनुराग होना	परिवाद – दूसरों के दोष देखना एवं बताना
ममत्व – वस्तु या व्यक्ति के प्रति स्वामित्व होना	रोष – अन्य के सौभाग्य, रूप एवं लोकप्रियता आदि को देखकर क्रोध करना
गृद्धता – प्राप्त विषयों में सघन लिप्सा होना	ईर्ष्या – किसी की सम्पत्ति आदि देखकर जलना एवं उसके नाश की दुर्भावना करना
मूर्च्छा – मनपसन्द विषयों में गहन आसक्ति होना	वैर – परस्पर मारपीट आदि से स्थायी क्रोध का उत्पन्न होना

इन राग एवं द्वेष की मलिन वृत्तियों से आज समूचा संसार त्रस्त है। जैसे–जैसे भौतिक सुख–सुविधा एवं विलासिता के साधनों की उपलब्धता बढ़ती जा रही है, वैसे–वैसे इनके प्रति व्यक्ति की आसक्ति भी तीव्र होती जा रही है। इस बढ़ती हुई आसक्ति से राग और द्वेष भी अनियंत्रित होते जा रहे हैं, जिनसे व्यक्ति को अशान्ति एवं दुःख के सिवाय कुछ नहीं मिल रहा है। अतः मन का कुप्रबन्धन करके कष्ट पाने वालों के लिए जैनाचार्य कहते हैं कि राग–द्वेष दुःखों के मूल हैं,[106] कोई दूसरा शत्रु भी उतनी हानि नहीं पहुँचाता, जितनी हानि ये अनियंत्रित राग और द्वेष पहुँचाते हैं।[107] अतः मन के अप्रबन्धन (असंयम) से निवृत्ति तथा सुप्रबन्धन (संयम) में प्रवृत्ति करनी चाहिए।[108] इसीलिए कषाय की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए जैनाचार्यों ने कषायों का एक विशिष्ट प्रकार से वर्गीकरण भी किया है। इनके अनुसार, आवेगों की तीव्रता (Intensity) की दृष्टि से कषाय के दो भेद हैं – जो तीव्र आवेग हैं, उन्हें कषाय तथा जो मन्द आवेग हैं, उन्हें नोकषाय कहना चाहिए। वस्तुतः, ये नोकषाय तीव्र आवेगों (कषायों) की सहायक होती हैं।[109]

जैनाचार्यों ने इन तीव्र आवेग रूप 'कषाय' के चार भेद भी बताए हैं – क्रोध, मान, माया एवं लोभ। इनमें से प्रत्येक कषाय को इनकी तीव्रता के आधार पर पुनः चार प्रकार से विभक्त किया गया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है -- अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि, वे तीव्रतम आवेग हैं, जो व्यक्ति के दृष्टिकोण को ही सही नहीं होने देते। इससे कम तीव्र अप्रत्याख्यानी क्रोधादि के आवेग हैं, जो व्यक्ति के आत्म-प्रबन्धन की शक्ति को अल्पांश भी अभिव्यक्त नहीं होने देते। इससे और कम तीव्र प्रत्याख्यानी क्रोधादि के आवेग हैं, जो व्यक्ति के आत्म-प्रबन्धन के सामर्थ्य को उच्चतम स्तर तक पहुँचने ही नहीं देते। चौथे सबसे मन्द संज्वलन क्रोधादि के आवेग हैं, जो व्यक्ति के आत्म-प्रबन्धन की परिपूर्णता अर्थात् कषायरहितता की अवस्था के लिए अवरोध पैदा करते हैं।[110] सम्यक् मन-प्रबन्धन के लिए जैनाचार्यों ने इन अनन्तानुबन्धी आदि काषायिक भावों पर क्रमशः विजय प्राप्त करते हुए अन्ततः वीतरागता रूपी परिपूर्ण मानसिक आरोग्य दशा को पाने का निर्देश दिया है।

जैनाचार्यों ने मन्द आवेग रूप 'नोकषाय' के भी नौ भेद दर्शाए हैं – हास्य, रति, अरति, शोक, भय, घृणा, स्त्री-वेद, पुरूष-वेद एवं नपुंसक-वेद।

संक्षेप में, इन चार क्रोधादि कषाय तथा नौ हास्यादि नोकषाय का स्वरूप निम्न है, जिसे जानकर मन-प्रबन्धन की कषायरहित अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है –

(1) क्रोध – यह एक ऐसा मनोविकार है, जिससे व्यक्ति उत्तेजित हो जाता है, किन्तु उसकी विचार-क्षमता और तर्कशक्ति शिथिल हो जाती है। यह शरीर और मन को सन्ताप देता है, वैर का कारण बनता है तथा दुर्गति की ओर ले जाता है।[111] क्रोधी व्यक्ति उस दियासलाई के समान होता है, जो दूसरे को जलाए या नहीं, परन्तु स्वयं तो झुलसता ही है।[112] प्रत्येक जीवन-प्रबन्धक को स्थानांगसूत्र में वर्णित क्रोधोत्पत्ति के निम्न कारणों के आधार पर अपना उचित मूल्यांकन करना चाहिए।[113]

- ★ आत्म-प्रतिष्ठित – स्वनिमित्त से क्रोध आना।
- ★ पर-प्रतिष्ठित – परनिमित्त से क्रोध आना।
- ★ तदुभय-प्रतिष्ठित – स्व-पर दोनों के निमित्त से क्रोध आना।
- ★ अप्रतिष्ठित – बिना निमित्त के ही चित्त का क्षुब्ध हो जाना।

क्रोध वस्तुतः कार्य है और उसके कारण हैं – मान, माया और लोभ। अभिमान को ठेस लगने पर, माया (कुटिलता) के प्रकट होने पर अथवा लोभ के पूर्ण न होने पर व्यक्ति की क्रोध-ज्वालाएँ भभकने लगती हैं। क्रोध का निमित्त भले ही कोई पदार्थ या प्राणी हो, परन्तु मूल कारण तो आत्म-मलिनता ही है।[114]

(2) मान – यह भी एक मनोविकार है, जो स्वयं को उच्च एवं दूसरों को निम्न समझने से उत्पन्न होता है। इससे विनय, ज्ञान और सदाचार नष्ट हो जाते हैं तथा विवेक भी लुप्त हो जाता है। यह धर्म, अर्थ और काम का घातक है। इस मान कषाय के कारण ही व्यक्ति हीन भावना (Inferiority Complex) एवं आत्मगौरव की भावना (Superiority Complex) के तनाव से त्रस्त रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांगसूत्र में मानोत्पत्ति के भी चार कारण निर्दिष्ट हैं – आत्म–प्रतिष्ठित, पर–प्रतिष्ठित, तदुभय–प्रतिष्ठित एवं अप्रतिष्ठित।[115]

(3) माया – यह कषाय 'कुटिलता' की बोधक है। मायावी व्यक्ति के बारे में कहा गया है – जो मन में होता है, उसे वह कहता नहीं और जो कहता है, उसे वह करता नहीं।[116] वस्तुतः मायावी व्यक्ति उस शहद लगी छुरी के समान है, जो मृदु व्यवहार से विश्वास जीतकर विश्वासघात करता है।[117] वह स्वार्थसिद्धि के लिए छल–कपट का आश्रय लेकर विविध स्वांग रचने में ही अपनी मानसिक ऊर्जा का अपव्यय करता रहता है। अन्ततः भेद खुल जाने पर वह अत्यधिक तनावग्रस्त एवं शोकाकुल हो जाता है। स्थानांगसूत्र में मायोत्पत्ति के भी चार कारण निर्दिष्ट हैं – आत्म–प्रतिष्ठित, पर–प्रतिष्ठित, तदुभय–प्रतिष्ठित एवं अप्रतिष्ठित।[118]

(4) लोभ – यह सभी मनोविकारों का जनक है एवं इसके वशीभूत होने वाला व्यक्ति जो 'है' उसमें सन्तुष्ट न होकर सदैव 'होना चाहिए' की लालसा में लीन रहता है। इससे भी मानसिक ऊर्जा का अत्यधिक अपव्यय होता है। जैनाचार्यों ने इसीलिए लोभ को दुःख रूपी बेल की जड़ बताया है।[119] स्थानांगसूत्र में लोभोत्पत्ति के भी चार कारण निर्दिष्ट हैं – आत्म–प्रतिष्ठित, पर–प्रतिष्ठित, तदुभय–प्रतिष्ठित एवं अप्रतिष्ठित।[120]

(5) हास्य – सुख या प्रसन्नता की अभिव्यक्ति ही हास्य है। इसमें अनेक प्रकार के मनोभावों की अभिप्रेरणा कार्य करती है, जैसे – कभी व्यक्ति किसी का उपहास करने, तो कभी किसी को हँसाने के लिए हास्य करता है। इसे भी जैनाचार्यों ने मनोविकार ही बताया है।

(6) रति – यह मनोविकार इन्द्रिय विषयों में चित्त की तन्मयता या प्रीति का सूचक है, इससे अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं के प्रति आसक्ति का जन्म होता है।

(7) अरति – अप्रिय इन्द्रिय विषयों में अरुचि ही अरति है। यह मनोविकार विकसित होकर घृणा और द्वेष बन जाता है।

(8) भय – किसी वास्तविक या काल्पनिक घटना से बचने की वृत्ति ही भय है। इस मनोविकार में आत्मसुरक्षा का भाव प्रबल होता है। इसके सात भेद बताए गए हैं – इहलोक का भय, परलोक का भय, आदान का भय, अकस्मात् विपदा का भय, आजीविका का भय, मरण का भय एवं अपयश का भय।

(9) शोक – इष्ट वियोग एवं अनिष्ट संयोग से होने वाली चित्त की विकलता ही शोक है। यह मनोविकार भी मानसिक समत्व का घातक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(10) घृणा – अशुचिमय पदार्थों की उपस्थिति अथवा भोग के असह्य हो जाने पर जिस विशिष्ट अरुचि रूप मनोविकार की उत्पत्ति होती है, उसे घृणा कहते हैं।

(11) स्त्रीवेद – पुरूष–सम्भोग की कामना ही स्त्रीवेद है। यह मनोविकार देर से प्रदीप्त होता है, लेकिन एक बार प्रदीप्त हो जाने पर काफी समय तक शान्त नहीं होता।

(12) पुरूषवेद – स्त्री–सम्भोग की कामना ही पुरूषवेद है। यह मनोविकार शीघ्र ही प्रदीप्त होकर शीघ्र ही शान्त भी हो जाता है।

(13) नपुंसकवेद – स्त्री एवं पुरूष दोनों के सम्भोग की कामना ही नपुंसकवेद है, जो शीघ्र प्रदीप्त हो जाता है, किन्तु लम्बे समय तक शान्त नहीं होता।

इस प्रकार, मनोविज्ञान जिन्हें संवेग (Emotions) कहता है, जैनदर्शन में उन्हें ही 'कषाय' कहा जाता है। इन कषायों एवं नोकषायों की उपस्थिति मन–प्रबन्धन के लिए बहुत बड़ी बाधा है, क्योंकि ये व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक प्रवृत्तियों को विचलित कर देती हैं। इससे उसकी शान्ति भंग हो जाती है और वह अनावश्यक चिन्ताओं एवं दुविधाओं के जंजाल में फँस जाता है।

ये कषाय एवं नोकषाय जब मन, वचन एवं काया की प्रवृत्तियों के रूप में परिणत होती हैं, तब एक विशिष्ट मनोभाव की उत्पत्ति होती है, जिसे जैनाचार्यों ने 'लेश्या' कहा है। यह लेश्या दो प्रकार की होती है – शुभ एवं अशुभ। इनके कुल छः भेद होते हैं – कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म एवं शुक्ल। इनका वर्णन निम्न तालिकानुसार समझना चाहिए [121] –

लेश्या के प्रकार

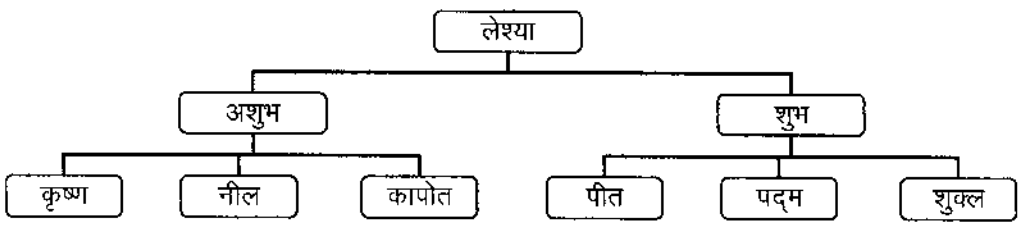

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुभ–अशुभ लेश्या वालों का व्यक्तित्व

क्र.	लेश्या	विवरण
1)	कृष्ण	तीव्र क्रोधी, क्लेश–कलहकारी, दया–धर्मरहित, सन्तापक, हिंसक, क्रूर, असन्तोषी, तीव्र वैरी, मन–वचन–काया से असंयमी इत्यादि।
2)	नील	**विषयासक्त, मानी, विवेकबुद्धिरहित, आलसी, कायर, मायावी, निद्रालु, लोभान्ध, सुखशील, चंचल, निर्लज्ज, स्वादलोलुपी, पौद्गलिक–सुख का इच्छुक, कार्य के प्रति अनिष्ठावान् इत्यादि।**
3)	कापोत	कार्य एवं वाणी में वक्रता, परपीड़ाकारी, निन्दक, आत्म–प्रशंसक, नैराश्यजीवी, कृत्याकृत्य में विवेकरहित इत्यादि।
4)	पीत	**कृत्याकृत्य में विवेकी, समदर्शी, दया–दान में रत, मृदु स्वभावी, ज्ञानी, सत्यवादी, स्वकार्यदक्ष, सर्वधर्म समन्वयक, दृढ़, निर्मम, दयालु, धर्मरुचि इत्यादि।**
5)	पद्म	त्यागी, भद्र, सत्यनिष्ठ, उत्तम कार्यशील, क्षमाशील, साधुओं के प्रति पूज्यभावधारक, क्रोधरहित, मितभाषी, सरल हृदयी, जितेन्द्रिय इत्यादि।
6)	शुक्ल	**निष्पक्ष व्यवहारी, अनिन्दक, पापकार्यों से परे, श्रेयमार्ग में रुचि रखने वाला, आत्मलीन, शत्रु के दोषों पर भी ध्यान नहीं देने वाला, वीतराग, वीतद्वेष इत्यादि।**

7.4.2 मानसिक–विकारों के दुष्परिणाम

(1) दुष्परिणामों की प्रथम अवस्था

मानसिक विकार जब लम्बे समय तक चलते रहते हैं, तब वे व्यक्ति के जीवन का एक अंग बन जाते हैं एवं उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन इन मनोविकारों के आधार पर होता है। इस स्थिति में व्यक्ति का जीवन अनेक अवांछित विसंगतियों से युक्त हो जाता है, जैसे –

- ★ अनीतिपूर्ण अर्थोपार्जन
- ★ अमर्यादित कामभोग
- ★ स्वार्थ एवं मौकापरस्ती
- ★ आय से अधिक व्यय
- ★ कार्यों में अनियमितता
- ★ छिद्रान्वेषण
- ★ असौम्यता
- ★ विषयों की पराधीनता
- ★ चिड़चिड़ाहट
- ★ अत्यधिक / अत्यल्प भोजन–वृत्ति
- ★ असभ्य व्यवहार
- ★ अतिनिद्रा या अनिद्रा
- ★ पापभीरुता का अभाव
- ★ भोगाकांक्षा की तीव्रता
- ★ कलह एवं क्लेश
- ★ अमर्यादित वेशभूषा
- ★ अधीरता
- ★ बात–बात में आत्मप्रशंसा
- ★ लज्जाहीनता
- ★ कृतघ्नता
- ★ अस्थिरता
- ★ अतिप्रमाद एवं समय की बरबादी
- ★ एकाग्रता की कमी
- ★ मादक द्रव्यों का सेवन
- ★ एकाकीपन
- ★ अन्यमनस्कता
- ★ देशाचार का उल्लंघन
- ★ दुर्जनों की संगति
- ★ निन्दनीय आचरण
- ★ धर्म–कर्त्तव्य से विमुखता
- ★ आग्रहपूर्ण व्यवहार
- ★ अदूरदर्शिता
- ★ असंवेदनशीलता / कठोरता
- ★ करुणाहीनता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ प्रतिशोध एवं वैर की वृत्ति ★ अतिमनोरंजन ★ आक्रामकता (Offensiveness)
★ वाद–विवाद एवं तर्क–कुतर्क ★ अत्यधिक सोचना–विचारना
★ लक्ष्यहीनता ★ आलस्य एवं अरुचि

यदि इन अप्रबन्धित जीवन–व्यवहारों को उचित समय में नियंत्रित नहीं किया जाए, तो ये मनोरोगों, जैसे – अवसाद (Depression), अतिभय (Phobia) आदि का रूप भी धारण कर लेते हैं। इसीलिए जैनाचार्यों ने गृहस्थ को अपनी प्राथमिक–भूमिका के निर्माण के लिए **'मार्गानुसारी–गुणों'** के परिपालन का निर्देश दिया है।[122] इन गुणों का धारक जीवन–प्रबन्धक सहजता से अपने आपको घातक मनोरोगों के कुच में फँसने से बचा सकता है। आवश्यक–निर्युक्तिकार प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक को सावधान करते हुए कहते हैं – 'कषायों को अल्प मानकर विश्वस्त होकर नहीं बैठ जाना चाहिए, क्योंकि इस कषाय की थोड़ी मात्रा ही बढ़कर बहुत हो जाती है।'[123]

(2) दुष्परिणामों की दूसरी अवस्था

मानसिक विकारों के दुष्परिणामों की दूसरी अवस्था है – तनाव के परिणामों का स्पष्टरूप से अभिव्यक्त होना। तनावग्रस्त अप्रबन्धित जीवन–यापन करने पर व्यक्ति में दो प्रकार की विकृतियाँ आ जाती हैं – **मानसिक एवं शारीरिक।**

मानसिक विकृति होने से व्यक्ति के मानसिक–कार्यों में एक तरह का विघटन (Disruption) या क्षुब्धता (Disturbance) आने लगती है, जो इस प्रकार है –

(क) संज्ञानात्मक विकृति (Cognitive Impairment)[124] – यह विकृति व्यक्ति की ज्ञानात्मक–प्रक्रिया में होने वाले दोषों को इंगित करती है।

★ एकाग्रता की कमी ★ चिन्ता की अधिकता
★ प्रत्यक्षण (Perception) की कमी ★ ध्यान या अवधान (Awareness) की कमी
★ स्मृति की कमी ★ तार्किक एवं संगठित चिन्तन की कमी

(ख) सांवेगिक विकृति (Emotional Disorder)[125] – यह विकृति व्यक्ति की भावनाओं में उत्पन्न होने वाली विसंगतियों से सम्बन्धित है।

1) चिन्ता (Anxiety) – यह डर, आशंका एवं परेशानी आदि की प्रधानता वाली विकृति है। यदि चिन्ता सामान्य होती है, तो व्यक्ति किसी तरह तनाव उत्पन्न करने वाली परिस्थिति के साथ समायोजन कर लेता है, किन्तु यदि चिन्ता असामान्य (स्नायु विकृत/Neurotic) होती है, तो व्यक्ति इतना अधिक डर जाता है कि परिस्थिति से निपटने में वह स्वयं को असहाय महसूस करता है और उसकी सामना करने की क्षमता भी लगभग समाप्त हो जाती है। जहाँ फ्रायड ने इस चिन्ता को अचेतन (Unconscious Mind) का संघर्ष कहा है, वहीं जैनदर्शन में इसे अंतरंग संज्ञाओं (Instincts) की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उथल–पुथल का परिणाम माना है।

2) क्रोध एवं आक्रामकता (Anger & Aggression) – तनाव उत्पन्न करने वाली परिस्थिति के प्रति अंतरंग में कुण्ठाजन्य क्रोध का जन्म होता है और यह कभी तो उसी निमित्त पर व्यक्त हो जाता है और कभी लाचारीवश किसी निरपराध पर।

3) भावशून्यता तथा विषाद (Empathy & Depression) – जब तनाव उत्पन्न करने वाली परिस्थिति के प्रति व्यक्ति क्रोध एवं आक्रामकता नहीं दिखा पाता, तब उसके प्रति व्यक्ति में कुण्ठाजन्य उदासीनता उत्पन्न हो जाती है और वह अपने आपको निःसहाय (Helpless) महसूस करने लगता है।

शारीरिक विकृति उत्पन्न होने से व्यक्ति की दैहिक–क्रियाओं में असामान्यता आने लगती है, जैसे – सरदर्द, पेट की गड़बड़ी, हृदयगति की वृद्धि, श्वसन गति में उथल–पुथल इत्यादि।[126]

जब मानसिक तनाव बढ़ता है, तो शरीर में भी लड़ो या भागो (Fight or Flight) की प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं, मानो शरीर में रेड एलर्ट (Red Alert) घोषित हो गया हो। सर्वप्रथम मस्तिष्क के एक भाग 'हाइपोथैलेमस' (Hypothelemus) से आदेश प्रसारित होता है, जिसके परिणामस्वरूप निम्नलिखित अवांछनीय मनोदैहिक गतिविधियाँ (Psychosomatic Actions) प्रारम्भ हो जाती हैं[127] –

- ★ पिट्युटरी ग्रन्थि से A.C.T.H. नामक हार्मोन्स का रिसाव होता है, जो एड्रीनल ग्रन्थि को सक्रिय करता है।
- ★ एड्रीनल ग्रन्थि से कॉर्टीसोल (Cortisol) हार्मोन्स का रिसाव होता है, जो कलेजे (Lever/यकृत) पर कार्य करता है।
- ★ अग्नाशय (Pancreas) में अतिरिक्त मात्रा में चीनी (Sugar) का उत्पादन होता है, जिससे मांसपेशियों को तत्काल ऊर्जा मिल सके।
- ★ श्वसन क्रिया तीव्र हो जाती है, जिससे अधिक प्राणवायु मिल सके।
- ★ मानसिक तनाव का सामना करने के लिए एड्रेनलीन तथा नॉन–एड्रेनलीन जैसे रसायनों का रिसाव होता है, जिससे शरीर में अतिरिक्त शक्ति का संचार हो सके।
- ★ रक्त प्रवाह बढ़ाने के लिए हृदयगति बढ़ जाती है।
- ★ बाह्य रक्त नलिकाएँ संकुचित हो जाती हैं, जिससे अकस्मात् चीर–फाड़ जैसी स्थिति निर्मित होने पर कम मात्रा में रक्त का रिसाव हो सके इत्यादि।

इस प्रकार, तनावग्रस्त व्यक्ति के शरीर में व्यापक स्तर पर रासायनिक परिवर्त्तन होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) दुष्परिणामों की तीसरी अवस्था

मानसिक विकारों के दुष्परिणामों की तीसरी अवस्था है – भयावह मनोरोगों का होना। यह वह स्थिति है, जब व्यक्ति सामाजिक एवं वैयक्तिक रूप से इतना अधिक असन्तुलित हो जाता है कि उसे अपनी मानसिक समस्या के निवारण के लिए अन्य चिकित्सकीय उपचार की आवश्यकता पड़ती है। डी. एस.एम. (IV) एवं आई.सी.डी. (X) – ये दोनों वर्त्तमान की सर्वाधिक प्रसिद्ध पद्धतियाँ हैं, जिनमें बहुप्रचलित मनोरोगों का वर्गीकरण किया गया है, इनमें निर्दिष्ट प्रमुख मनोरोग इस प्रकार हैं[128] –

- ★ दुश्चिन्ता विकृति (Anxiety Disorders)
- ★ मनोविच्छेदी विकृति (Dissociative Disorders)
- ★ कायप्रारूप विकृति (Somatoform Disorders)
- ★ मनोदशा विकृति (Mood Disorders)
- ★ मनोविदालिता (Schizophrenia)
- ★ मनोदैहिक समस्याएँ (Psychosomatic Problems)
- ★ व्यक्तित्व विकृति (Personality Disorders)

जैनाचार्यों ने भी मानसिक विकारों अर्थात् कषाय भावों से होने वाले दुष्परिणामों को दर्शाया है, जिससे जीवन–प्रबन्धक कषाय भावों से बचने की चेतना का विकास कर सके। व्यवहारभाष्यकार के अनुसार, मानसिक विकारों से ग्रस्त चित्त अस्वस्थ (असामान्य) होता है, जिसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं –

1) **क्षिप्तमन**[129] – यह चित्तरुग्णता से सम्बन्धित अवस्था है, जिसके मूलतया तीन कारण होते हैं – अनुराग, भय एवं अपमान।
   - अनुराग – किसी प्रिय का अनिष्ट या मरण जानकर विक्षिप्त होना।
   - भय – हिंसक पशु, शस्त्र, मेघ–गर्जन, बिजली कड़कना, दावानल, बम–विस्फोट आदि से भयाक्रान्त होकर विक्षिप्त होना।
   - अपमान – सम्पत्ति छिन जाने, वाद–विवाद में पराजित हो जाने आदि अपमानों से विक्षिप्त होना।
2) **दीप्तमन**[130] – अकस्मात् अत्यधिक सम्मान या लाभ प्राप्त होने पर या हर्ष का अतिरेक होने पर यह अवस्था उत्पन्न होती है। इसमें व्यक्ति खुशी के मारे असम्बद्ध आह्लाद करने लगता है।
3) **उन्मत्त मन**[131] – यह अवस्था दिग्मूढ़ता से सम्बन्धित है, जिसमें व्यक्ति अपने लिए स्वयं ही दुःख उत्पन्न करता है।

जैनाचार्यों ने विविध कथानकों के माध्यम से भी इन क्षिप्तादि अवस्थाओं का मार्मिक चित्रण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किया है, जैसे – रोष में आकर सोमिल ब्राह्मण ने गजसुकुमाल मुनि को मार डाला, किन्तु बाद में कृष्ण महाराजा (गजसुकुमाल मुनि के सांसारिक ज्येष्ठ भ्राता) के दण्ड से भयभीत होकर वह विक्षिप्त दशा में पहुँचकर मृत्यु को प्राप्त हुआ।[132] शातवहन राजा का दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है, जिसे एक साथ राज्यविजय, पुत्रोत्पत्ति एवं विपुलनिधि–प्राप्ति के समाचार मिलने से अत्यधिक हर्ष होने लगा, इस हर्षातिरेक में उसका मानसिक–सन्तुलन भंग हो गया और वह शय्या पीटते, खम्भे गिराते, दीवार तोड़ते एवं अनावश्यक प्रलाप करते हुए दीप्तमन वाला हो गया।[133]

(4) दुष्परिणामों की चतुर्थ अवस्था

मानसिक विकारों के दुष्परिणामों की चौथी अवस्था है – सामाजिक विघटन। मानसिक विकार पहले व्यक्ति के व्यक्तित्व का विघटन करते हैं और यदि उन पर उचित नियंत्रण न रखा जाए, तो ये पारिवारिक, सामुदायिक एवं वैश्विक स्तर की समस्याएँ भी पैदा कर देते हैं। आज बढ़ता हुआ क्लेश–कलह, मन–मुटाव आदि इसी का परिणाम है। इतना ही नहीं अपहरण, हत्या, बलात्कार, आतंकवाद, आत्महत्या, भ्रष्टाचार, हड़ताल, तोड़–फोड़, दंगे–फसाद, लूट–पाट, युद्ध आदि बढ़ती हुई असामाजिक घटनाएँ भी दूषित मन से ही उपजती हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र में कहा भी गया है – युद्ध पहले मस्तिष्क (मन) से लड़ा जाता है और फिर युद्धक्षेत्र में।[134]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मन का नकारात्मक उपयोग ही महाविनाश का कारण है। स्थानांगसूत्र में इसीलिए दुष्प्रयुक्त मन को **'शस्त्र'** की संज्ञा दी गई है।[135]

=====❮●❯=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7.5 विविध मानसिक विकारों के कारण : बहिरंग और अंतरंग

पूर्व में हमने अप्रबन्धित मन की उस महाविनाशकारी शक्ति को जाना, जिससे वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं का सम्पूर्ण विघटन हो जाता है। प्रश्न उठता है कि मन की इस अप्रबन्धित अवस्था के क्या कारण हैं?

जैनदर्शन एवं आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही यह मानते हैं कि मानसिक विकार अर्थात् कषाय (संवेग) कभी भी अकारण नहीं होते। फिर भी, दोनों मान्यताओं में आंशिक समानता के साथ–साथ थोड़ी असमानता भी है।

जैनदर्शन में सूक्ष्म विश्लेषण करके इन कारणों के दो विभाग किए हैं – बहिरंग कारण अर्थात् निमित्त कारण एवं अंतरंग कारण अर्थात् उपादान (मूल) कारण। जैनाचार्यों के अनुसार, मानसिक विकारों की उत्पत्ति के लिए जो अनुकूल वातावरण निर्मित करता है, वह बहिरंग कारण है। किन्तु इस बाह्य परिवेश से प्रभावित होने या न होने की क्षमता मूलतः हमारी आत्मा में ही होती है, अतः वह अंतरंग कारण है।

7.5.1 मानसिक विकारों के बहिरंग कारण

जैनाचार्यों ने मानसिक विकारों के निम्नलिखित चार बहिरंग कारकों का वर्णन किया है –

- ★ स्वाभाविक कारक
- ★ शारीरिक कारक
- ★ नैमित्तिक कारक
- ★ मानसिक कारक

इनमें से क्षुधादि का होना स्वाभाविक कारक है, शीत–उष्ण–वायु संचार आदि का होना नैमित्तिक कारक है, रोगादि का होना शारीरिक कारक है और इष्ट–अनिष्ट विचारों का होना मानसिक कारक है।[136] जैनाचार्यों के अनुसार, मन के सम्यक् प्रबन्धन के अभाव में व्यक्ति इन कारणों से जब प्रभावित होता है, तब तनाव एवं मानसिक विकारों (दुःख) को प्राप्त होता है।

जहाँ तक आधुनिक मनोविज्ञान का सवाल है, इसमें भी मानसिक विकारों का सूक्ष्म विश्लेषण करके निम्नलिखित तीन कारकों को स्वीकार किया गया है[137] –

1) जैविक कारक अर्थात् शारीरिक कारक (Biological factors)
2) मनःसामाजिक कारक (Psycho–social factors)
3) सामाजिक–सांस्कृतिक कारक (Socio–cultural factors)

(1) जैविक कारक – यह शारीरिक अवस्था से जुड़ा हुआ कारक है। इसके निम्न विभाग हैं –

- ★ **आनुवांशिक दोष (Genetic Defects)** – जन्मजात होने वाले जीन्स एवं गुणसूत्र (Chromosome) सम्बन्धी दोष।
- ★ **शारीरिक गठन सम्बन्धी कारक (Constitutional factors)** – शरीर के डीलडौल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(Physique) सम्बन्धी विशेषताओं (गुण–दोषों) पर आधारित कारक।

★ **जैव–रासायनिक कारक (Biochemical factors)** – शरीर के हार्मोन्स, अन्य रसायन तथा खान–पान सम्बन्धी गड़बड़ी वाले कारक।

★ **मस्तिष्कीय क्षति सम्बन्धी कारक (Brain dysfunction factors)** – मस्तिष्क चोट, संक्रमण (Infection), मादक पदार्थ सेवन, मस्तिष्क ट्यूमर, बुढ़ापा आदि से सम्बन्धित मस्तिष्कीय गड़बड़ी वाले कारक।

★ **शारीरिक तनाव (Physical Stress)** – तापमान, आर्द्रता, वायुदाब, तीव्रध्वनि (कोलाहल) आदि भौतिक गड़बड़ी तथा निराशा, कुण्ठा, असुरक्षा, भय आदि मनोसामाजिक गड़बड़ी करने वाले कारक, जो शरीर में तनाव उत्पन्न करते हैं।

(2) मनःसामाजिक कारक – यह व्यक्ति और उसके वातावरण के बीच उत्पन्न होने वाले असामंजस्य से सम्बन्धित कारक है। इसके प्रमुख विभाग निम्न हैं –

★ **संज्ञानात्मक कारक (Cognitive Factors)** – स्वयं का और वातावरण का सही मूल्यांकन नहीं कर पाने सम्बन्धी कारक।

★ **बाल्यावस्था सम्बन्धी समस्याएँ (Childhood Problems)** – बचपन में मानसिक–पीड़ा, जैसे – घर में अति–उपेक्षा, आवासीय स्कूलों अथवा होस्टलों में भर्ती कराया जाना, माता–पिता की मृत्यु होना, कोई अवांछनीय घटना होना आदि।

★ **अपर्याप्त पालन–पोषण (Inadequate Parenting)** – बच्चे की अतिसुरक्षा, उस पर अतिरोक–टोक, उससे अत्यधिक आशा या उस पर दोषपूर्ण अनुशासन लादना आदि लालन–पालन सम्बन्धी दोष।

★ **पारिवारिक समस्याएँ (Family Problems)** – परिवार में अस्वस्थ वातावरण का होना इत्यादि।

★ **साथी सम्बन्धी समस्याएँ (Friends & Relatives related Problems)** – तालमेलविहीन साथी/सम्बन्धियों का मिलना इत्यादि।

(3) सामाजिक–सांस्कृतिक कारक – यह विविध सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं से जुड़ा हुआ कारक है, इसके मुख्य विभाग निम्न हैं –

★ सामाजिक–आर्थिक स्तर का निम्न होना (Lower Socio–economic status)

★ विशिष्ट सामाजिक भूमिका (Special Social Role), जैसे – सैनिक, नेता, प्रशासक, न्यायाधीश, वैज्ञानिक आदि होना।

★ सामाजिक सम्बन्ध (Social Relationship) में कमी अथवा विसंगतियों का होना।

★ आर्थिक समस्याएँ (Economic Problems), जैसे – बेरोजगारी, व्यापार में नुकसान आदि का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होना।

★ सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण (Socio–cultural Environment) में विसंगतियों, जैसे – हिंसा, झूठ, कलह आदि की अधिकता इत्यादि।

स्पष्ट है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में असामान्य अर्थात् अप्रबन्धित मनोव्यवहार के अनेक कारण होते हैं।

कुल मिलाकर, जैनदर्शन एवं आधुनिक मनोविज्ञान दोनों में ही शारीरिक एवं परिस्थितिजन्य कारकों को मानसिक विकारों का बहिरंग कारण बताया गया है। किन्तु जैनदर्शन की यह मान्यता है कि इन बहिरंग कारणों से प्रभावित होने या न होने में व्यक्ति स्वतंत्र है। बहिरंग कारणों की अनुभूति इन्द्रियाश्रित होती है, अतः व्यक्ति परतंत्र है, किन्तु प्रतिक्रिया आत्माश्रित होती है, अतः वह स्वतंत्र भी है। यह स्वतंत्रता ही उसकी प्रबन्धन सम्बन्धी योग्यता है।

7.5.2 मानसिक विकारों के अंतरंग कारण

आधुनिक मनोविज्ञान में सर सिग्मण्ड फ्रायड (Sigmund Freud) पहले ऐसे मनोवैज्ञानिक हैं, जिन्होंने मानसिक रोगों के अंतरंग (मनोवैज्ञानिक) कारकों को प्रतिपादित किया है। उनकी परिकल्पना (Hypothesis) के अनुसार, मन के तीन स्तर (विभाग) हैं। प्रथम चेतन मन (Conscious mind) है, जिसमें वे सभी अनुभव एवं संवेदनाएँ होती हैं, जिनका सम्बन्ध वर्त्तमान से है। द्वितीय अर्द्धचेतन या अवचेतन मन (Subconscious mind) है, जिसमें वे इच्छाएँ, विचार, भाव आदि होते हैं, जो वर्त्तमान में प्रकट अनुभव में नहीं आते, किन्तु थोड़ा प्रयत्न करने पर चेतन मन में आ जाते हैं। तृतीय अचेतन मन (Unconsious mind) है, जिसमें वे दमित इच्छाएँ होती हैं, जो जातितौर पर वासनात्मक होती हैं एवं जिनका स्वरूप कामुक (Sexual), असामाजिक (Antisocial), अनैतिक (Immoral) तथा घृणित (Hateful) होता है।

फ्रायड एवं परवर्ती मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, अचेतन मन सबसे महत्त्वपूर्ण है तथा व्यक्ति के व्यवहार पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। यह मन का सबसे बड़ा भाग (9/10) होता है तथा इसमें उन इच्छाओं का अस्तित्व होता है, जिन्हें चेतन से हटाकर अचेतन–मन में दमित (Repressed) कर दिया जाता है। यह मन व्यक्ति की नियंत्रण रेखा से बाहर होता है, क्योंकि इसके बारे में वह पूर्णतः अनभिज्ञ होता है। इसमें विद्यमान इच्छाएँ हमेशा अपनी अभिव्यक्ति या सन्तुष्टि चाहती हैं और इस हेतु काफी क्रियाशील (Active) रहती हैं, किन्तु व्यक्ति के विवेक (Ego) के कड़े प्रतिबन्ध के कारण ये चेतन–मन में नहीं आ पाती। फलस्वरूप अपना वेष बदलकर छद्म रूप में स्वप्नों अथवा दैनिक जीवन की भूलों के रूप में अभिव्यक्त होती रहती हैं।[138]

इस प्रकार, आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार, तनाव एवं मानसिक विकारों का अंतरंग कारण मुख्यतया अचेतन–मन ही है, जो अप्रकट रूप से अपना कार्य करता रहता है। यह ज्ञातव्य है कि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अचेतन–मन में विद्यमान इच्छाओं का अस्तित्व क्यों बना रहता है? इसका कोई स्पष्ट समाधान आधुनिक मनोविज्ञान में नहीं है।

जैनदर्शन में मानसिक विकारों के अंतरंग कारणों अर्थात् पूर्व कर्म–संस्कारों को भी सूक्ष्मता से समझाया गया है। जैनाचार्यों के अनुसार, आत्मा ही मन के सहयोग से पूर्व कर्म–संस्कारों के सहारे मानसिक विकारों अर्थात् कषाय भावों को उत्पन्न करती है। जिस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान में चेतन–अचेतन मन की परिकल्पना दी गई है, उसी प्रकार जैनदर्शन में भी दो प्रकार के भावों का वर्णन किया गया है। प्रथम बुद्धिपूर्वक किए जाने वाले भाव हैं, जो वर्त्तमान में व्यक्त होते रहते हैं एवं द्वितीय अबुद्धिपूर्वक किए जाने वाले भाव हैं, जो पूर्व संस्कारवश अव्यक्त रूप में प्रवाहित होते रहते हैं। बुद्धिपूर्वक किए जाने वाले भाव नदी की उस उपरी धारा के समान हैं, जो सतत प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती हैं, जबकि अबुद्धिपूर्वक किए जाने वाले भाव उन निचली धाराओं के समान हैं, जो प्रवाहित होती हुई भी दृष्टि से ओझल रहती हैं। जैनाचार्यों ने इसीलिए अबुद्धिपूर्वक किए जाने वाले भावों को दुःख–हेतुक (कषाय–हेतुक) कहा है[139] और आध्यात्मिक साधना के पथिक को बुद्धिपूर्वक एवं अबुद्धिपूर्वक दोनों प्रकार के मनोभावों को जीतने का निर्देश दिया है।

जैनदर्शन में न केवल बुद्धिपूर्वक एवं अबुद्धिपूर्वक होने वाले भावों का उल्लेख किया गया है, अपितु इनके कारणों का भी स्पष्टीकरण दिया गया है। जैनाचार्यों के अनुसार, जीव के भावों का मूल कारण कर्मबन्धन है और कर्मों के अभाव रूप मोक्ष परमसुख की अवस्था है, अतः मोक्ष–प्राप्ति का उपाय करना ही परम हितकारी कर्त्तव्य है।

जैनविचारणा में यह भी कहा गया है कि जीव स्वयं की भूलवश ही शुभाशुभ भाव करता है, जिससे आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्धन होता है। ये कर्म कालान्तर में सक्रिय (उदय) होकर जीवन में तनाव एवं मनोविकार उत्पन्न कराने वाली परिस्थितियाँ निर्मित करते हैं। इनमें से चार अघाती कर्म होते हैं, जिनसे शरीर एवं बाह्य नानाविध सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं तथा चार घाती कर्म होते हैं, जिनसे जीव को अंतरंग परिस्थितियाँ मिलती हैं। ये परिस्थितियाँ मन के सम्यक् प्रबन्धन के अभाव में निम्न प्रकार से जीव को प्रभावित करती रहती हैं।[140]

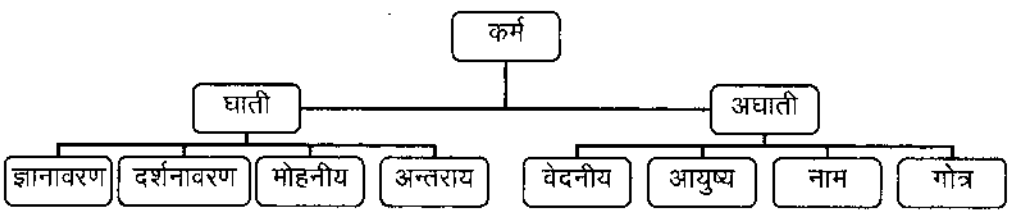

★ **ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म और तज्जन्य तनाव तथा मनोविकार** – इन कर्मों के निमित्त से जीव की जानने–देखने सम्बन्धी शक्तियों का ह्रास होता है, जिससे अप्रबन्धित जीवन जीने वाला व्यक्ति अनेक तनाव एवं मनोविकारों को उत्पन्न कर लेता है, जैसे –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

- स्वयं के अज्ञान का दुःख होना।
- अधिक ज्ञानवान् से ईर्ष्या करना।
- इन्द्रियों के शिथिल होने पर दुःखी होना।
- अधिक जानने पर गर्व करना।
- विशेष जानने के लिए सदैव आकुल–व्याकुल होना।
- 'भूल न जाऊँ' इससे भयभीत रहना इत्यादि।

★ **मोहनीय कर्म एवं तज्जन्य तनाव तथा मनोविकार** – यह कर्म जीव के व्यवहार को भ्रमित बनाने में निमित्त बनता है; मन के सम्यक् प्रबन्धन के अभाव में व्यक्ति मोहवश अनेक मानसिक विकारों को पाल लेता है, जैसे –

- सन्मार्ग में अरुचि तथा कुमार्ग में तीव्र रुचि होना।
- क्रोधावेश में हिंसा, वैर, वध आदि दुष्कार्य कर बैठना।
- मानवश स्वयं को ऊँचा तथा अन्यों को नीचा दिखाने की कुचेष्टा करना।
- कुटिल व्यवहार करना।
- इन्द्रिय–विषयों में लोलुप रहना इत्यादि।

★ **अन्तराय कर्म एवं तज्जन्य तनाव तथा मनोविकार** – यह कर्म जीव के पुरुषार्थ को बाधित करता है, इसके निमित्त से अनेक प्रकार के मनोविकार उत्पन्न होते हैं, जैसे –

- कार्य न होने पर बाह्य निमित्तों को दोष देना।
- सामर्थ्य की कमी होने पर शोकाकुल होना।
- शक्ति होने पर उसका दुरुपयोग करना इत्यादि।

★ **वेदनीय कर्म एवं तज्जन्य तनाव तथा मनोविकार** – इस कर्म के निमित्त से सुख–दुःख के बाह्य कारणों का संयोग होता है, किन्तु मन–प्रबन्धन की अकुशलतावश व्यक्ति इन कारणों में आसक्त होकर मनोविकार उत्पन्न कर लेता है, जैसे –

- रोग–पीड़ादि होने पर आकुल–व्याकुल होना।
- सुखी होने के लिए अकरणीय कृत्य करना, जैसे–रिश्वत लेना आदि।
- सुख–आरोग्य मिलने पर गलत प्रवृत्तियों में संलग्न होना, जैसे – शराब पीना आदि।
- दुःख मिलने पर दूसरों पर दोषारोपण करना इत्यादि।

★ **आयुष्य कर्म एवं तज्जन्य तनाव तथा मनोविकार** – इस कर्म के संयोग से जीव की स्थिति किसी निश्चित शरीर में नियत अवधि तक बनी रहती है। इसके निमित्त से भी अज्ञानी व्यक्ति तनाव एवं मनोविकारों को उत्पन्न कर लेता है, जैसे –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

- मृत्यु से सदा भयभीत रहना।
- अत्यधिक कष्ट या पीड़ा आने पर मृत्यु की कामना करना।
- मृत्यु न आए, इस हेतु निरन्तर चिन्ताशील रहना इत्यादि।

★ **नामकर्म एवं तज्जन्य तनाव तथा मनोविकार** – इस कर्म के निमित्त से व्यक्ति की शारीरिक–संरचना होती है, इसे लेकर भी व्यक्ति अनावश्यक राग–द्वेष करता रहता है, जैसे –

- शरीर की सुन्दरता के लिए सतत चिन्तित रहना।
- वृद्धावस्था के लक्षण दिखने पर दुःखी हो जाना।
- शारीरिक सौष्ठव एवं सौन्दर्य पर प्रफुल्लित एवं हर्षित होना इत्यादि।

★ **गोत्र कर्म एवं तज्जन्य तनाव तथा मनोविकार** – इस कर्म के उदय से जीव अच्छे या बुरे परिवेश में जन्म लेता है, किन्तु मूढ़तावश इसके निमित्त से भी व्यक्ति अनावश्यक तनाव के कारक खोज ही लेता है, जैसे –

- श्रेष्ठ कुल में जन्म होने पर हर्षित होना।
- निम्नकुल में जन्म होने पर विषाद करना।
- अन्य कुल वालों से घृणा करना।
- कुल के नाम पर अन्य लोगों से वैर–विरोध और विद्वेष करना इत्यादि।

इस प्रकार, जैनदर्शन में वर्णित कर्म–सिद्धान्त यह बताता है कि व्यक्ति को जो भी अंतरंग एवं बहिरंग परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब उसके द्वारा संचित कर्मों का ही परिणाम है।[141] फिर भी मन–प्रबन्धन के अभाव में व्यक्ति इन कर्मों के परिणामों को निमित्त बनाकर अनेक प्रकार के तनावों एवं मनोविकारों को उत्पन्न कर लेता है।

प्रश्न उठता है कि कर्मजन्य परिस्थितियाँ किस प्रकार से मनोविकारों की उत्पत्ति का कारण बन जाती हैं? इस प्रश्न का गम्भीरतापूर्वक चिन्तन आवश्यक है, क्योंकि एक समान कर्मजन्य परिस्थितियाँ मिलने पर भी कोई उनके अधीन होकर मनोविकारों से ग्रसित हो बैठता है, तो कोई उन्हें अधीन बनाकर मनोविकारों से मुक्त भी हो जाता है।[142]

जैनदर्शन के अनुसार, प्रत्येक मनोविकार का प्रारम्भ परिस्थिति या घटना के मूल्यांकन के साथ होता है। व्यक्ति को अनेक स्रोतों से ज्ञान या सूचनाओं की प्राप्ति होती है। ये सूचनाएँ या संकेत इन्द्रियों के विषयों अर्थात् स्पर्श, स्वाद, गन्ध, दृश्य एवं शब्द के रूप में भी होते हैं, तो मन के विषय अर्थात् स्मृति, चिन्तन, कल्पना, विचार आदि के रूप में भी होते हैं। कभी ये संकेत शारीरिक संवेदनाओं को ग्रहण करते हैं, तो कभी आत्मिक संवेदनाओं (भावों) को। शारीरिक संवेदनाओं के द्वारा शरीर की स्वस्थता–अस्वस्थता, क्षुधा–तृषा, स्फूर्त्ति–थकान आदि के, तो आत्मिक संवेदनाओं के द्वारा आत्मा की मान्यता (दृष्टिकोण), संज्ञाओं (मूल–प्रवृत्तियों), सुख–दुःख, उत्साह (रुचि) आदि के संकेत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिलते हैं।

यद्यपि उपर्युक्त सभी विषय अलग–अलग होते हैं, किन्तु इन सभी का ज्ञान व्यक्ति की चेतना (आत्मा) को होता है। इन विषयों में से कुछ विषय अधिक प्रभावित करते हैं, तो कुछ अल्प। मन कभी किसी से जुड़ता है, तो कभी किसी से और तदनुसार आत्मा में पूर्वकथित अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा रूप ज्ञान होते हैं।

जैनाचार्यों के अनुसार, मन के सम्यक् प्रबन्धन के अभाव में उन्मत्त अवस्था होती है, जिससे नकारात्मक अवग्रहादि होते रहते हैं। आशय यह है कि व्यक्ति सम्यक्तया विचार न करके कर्मसंस्कारवश गलत मान्यताओं या आहारादि संज्ञाओं से प्रेरित होकर सम्यग्ज्ञान से वंचित रह जाता है और इससे व्यक्ति (आत्मा) में काषायिक वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, जो जैनदृष्टि से मनोविकार ही है।

इस प्रकार, जैनदृष्टि से देखें, तो कर्मजन्य परिस्थितियों के गलत मूल्यांकन से उत्पन्न अज्ञान ही मनोविकारों का मूल अंतरंग कारण है। जैनाचार्यों ने इसीलिए अज्ञान को महादुःख रूप बताया है।[143] साथ ही यह भी कहा है कि मन रूपी उन्मत्त हाथी को वश में करने के लिए सम्यग्ज्ञान अंकुश के समान है।[144] अन्यत्र यह भी कहा है कि क्रोध, मान, माया एवं लोभ अग्नि के समान हैं, जिन्हें सम्यग्ज्ञान रूपी जल के द्वारा शान्त किया जा सकता है।[145]

निष्कर्ष यह है कि आज बढ़ते हुए तनाव एवं मनोविकारों से भले ही सभी पीड़ित हैं, फिर भी जैनदर्शन के अनुसार, इनका निराकरण सम्यग्ज्ञान के द्वारा किया जा सकता है। इस तनाव एवं मनोविकारों से रहित अवस्था को ही आदर्श मन–प्रबन्धन कहा जा सकता है। इस हेतु मन–प्रबन्धन के विविध सूत्रों की विवेचना आगे की जा रही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7.6 जैनआचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में मानसिक–प्रबन्धन

जैनआचारमीमांसा के अनुसार, मन ही व्यक्ति के व्यवहार का मूल संचालक एवं उसके औचित्य–अनौचित्य का मापदण्ड है और इसीलिए इसके सम्यक् प्रबन्धन पर जैनाचार्यों ने बारम्बार बल दिया है।

मानसिक–प्रबन्धन से उनका आशय है – मन का संयमन या नियंत्रण। उनके अनुसार, यह मन रूपी अश्व अज्ञानवश अनियंत्रित होकर उन्मार्ग पर भटकने लगता है, किन्तु श्रुत रूपी रस्सी अर्थात् सम्यग्ज्ञान के द्वारा इसे नियंत्रित कर सन्मार्ग पर आरूढ़ किया जा सकता है। इस हेतु आवश्यकता है – मन को साधने की। जो व्यक्ति मन को साध लेता है अर्थात् अपने अधीन कर लेता है, उसका मन प्रबन्धित हो जाता है और जिसका मन प्रबन्धित हो जाता है, वह जैनदृष्टि से सर्वसिद्धिसम्पन्न व्यक्ति है।[146] कहा भी गया है – **'मनोविजेता जगतो विजेता'**।[147]

जीवन–प्रबन्धन के अन्तर्गत मानसिक–प्रबन्धन को निम्न बिन्दुओं से समझा जा सकता है –

- ★ मन को अकुशल (अशुभ) विचारों से हटाना तथा कुशल (शुभ) विचारों में लगाना।[148]
- ★ नकारात्मक विचारधारा को त्यागना तथा सकारात्मक विचारधारा को अपनाना।
- ★ चिन्तन, मनन, विचार आदि को सम्यक् दिशा देना।
- ★ कषायों को क्रमशः मन्दता और क्षीणता की ओर ले जाना।
- ★ मन की व्यग्रता को एकाग्रता (स्थिरता) में परिवर्त्तित करना।
- ★ संयम के प्रति निरुत्साहित मन में उत्साह का संचार करना।
- ★ लेश्याओं का क्रमशः परिष्कार करना अर्थात् अशुभ लेश्याओं से शुभ लेश्याओं की ओर बढ़ना।
- ★ जीवन में आध्यात्मिक सुख एवं शान्ति की प्राप्ति करना।
- ★ मानसिक शक्तियों का सुनियोजन करना।
- ★ मन को माध्यम बनाकर आत्मज्ञान की प्राप्ति करना।
- ★ मन को मलिनताओं (संज्ञाओं एवं वासनाओं) से मुक्त करना।

इस प्रकार, जैनदृष्टि से, मन की परिष्कृत अवस्था ही मानसिक–प्रबन्धन है।

7.6.1 मानसिक–प्रबन्धन की आवश्यकता क्यों?

जैनदृष्टि में मानसिक–प्रबन्धन व्यक्ति के जीवन का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है, क्योंकि इस नींव पर ही जीवन–विकास की इमारत टिकी हुई है। मानसिक–प्रबन्धन का लाभ निम्नलिखित व्यवहारों (Behaviours) में परिलक्षित होता है –

- ★ जीवन की जटिल समस्याओं में भी तनावग्रस्त न होना।
- ★ पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों का कर्त्तव्य–बुद्धि से निर्वाह करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ जीवन--व्यवहार के सम्बन्ध में प्रत्येक निर्णय विवेकपूर्वक लेना।

★ मादक द्रव्यों एवं अन्य व्यसनों के सेवन से दूर रहना।

★ प्रत्येक कार्य को एकाग्रतापूर्वक करना।

★ अनावश्यक विषयों का अंतरंग भावों से त्याग कर समय की बर्बादी से बचना।

★ तनावजन्य मनोविकारों एवं शारीरिक रोगों से बचना।

★ आध्यात्मिक विकास की पात्रता प्राप्त करना।

★ पापकर्मों का त्याग कर तज्जन्य दुर्गतियों से बचना।

★ मानसिक क्षमता का सृजनात्मक (Constructive) व रचनात्मक (Creative) संप्रयोग करना।

इस प्रकार, मानसिक--प्रबन्धन जीवनशैली का सम्यक् जीर्णोद्धार करने की प्रक्रिया है। जैनाचार्यों ने तो पूर्ण मानसिक--प्रबन्धन रूप वीतराग दशा को ही मनुष्य जीवन का सर्वोच्च लाभ बताया है। इस दशा को पूर्ण आरोग्य दशा के रूप में प्रतिपादित किया है।[149] उनका कहना है कि **'कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव'**[150] अर्थात् कषायों से मुक्त होना (छूटना) ही वास्तव में कर्म, जन्म--मरण एवं समस्त दुःखों से मुक्ति है। अतः मानसिक--प्रबन्धन जीवन के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक विकास के लिए नितान्त आवश्यक है।

7.6.2 मानसिक--प्रबन्धन के साधक एवं बाधक कारण

मानसिक--प्रबन्धन की सफलता के लिए इसके साधक कारणों को स्वीकारना तथा बाधक कारणों को नकारना अनिवार्य है। यह मन चूँकि अत्यन्त उद्दण्ड अश्व के समान अनियंत्रित है, अतः उसके नियंत्रण हेतु जैनधर्मदर्शन में धर्म--शिक्षा (धर्माभ्यास) रूपी लगाम का प्रयोग करने[151] तथा मन को मलिन करने वाले कारकों (अधर्म) से दूर रहने का निर्देश दिया गया है।[152]

★ **साधक कारण** – शुभ--संकल्प, प्रार्थना, पूजा, तीर्थयात्रा, प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान, माला, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, तप--जप, सामायिक आदि।

★ **बाधक कारण** – दुर्जनों की संगति, दुर्व्यसन, तामसिक एवं हिंसक आहार, मनोरंजन के अनुचित साधन, भोगमय जीवनशैली, क्लेश--कलह युक्त वातावरण आदि।

संक्षिप्त में, जो साधन साध्य की प्राप्ति में सहायक हों, जिनसे राग--द्वेष, मोह मन्द होते हों, मानसिक शान्ति एवं प्रसन्नता का अनुभव होता हो, वे साधक कारण हैं। इनसे विपरीत साधनों को बाधक कारण समझना चाहिए। जैनाचार्यों ने इसीलिए कहा है कि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव मानसिक--प्रबन्धन के लिए अनुकूल (हितकारी) हों, वे आश्रय लेने योग्य हैं तथा जो विघ्नकारी हों, वे त्याग करने योग्य हैं। यदि उचित साधन अप्रिय भी लगते हों, तो भी उनका आलम्बन लेना चाहिए तथा मन को प्रिय लगने पर भी जो साधन अनुचित हों, उनका त्याग करना चाहिए।[153]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7.7 मानसिक–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष

आज व्यक्ति शरीर एवं अन्य विषयों के प्रति जितना जाग्रत है, उतना मन के प्रति नहीं। वह मन की उपेक्षा करके भौतिक उन्नति करने में रात–दिन परिश्रम करता रहता है, फलस्वरूप वह मानसिक रूप से अस्वस्थ होकर जीवन को दुःख, अशान्ति, सन्ताप एवं क्लेश के साथ बिताता है। इसीलिए न केवल जैनाचार्यों ने, अपितु सभी भारतीय मनीषियों ने इस विसंगति को दूर करने के लिए अर्थ एवं काम के साथ धर्म का समन्वय करने का निर्देश दिया है। जो व्यक्ति मानसिक–प्रबन्धन करने का इच्छुक हो, उसे जैन–पद्धति से इस प्रकार क्रमशः प्रयत्न करना चाहिए –

★ तनावों एवं मनोविकारों को महारोग के समान मानना।
★ इनसे निवृत्ति की प्रबल भावना रखना।
★ इनके लिए अन्य को नहीं, अपितु स्वयं को जिम्मेदार ठहराना।
★ इनसे पूर्ण निवृत्ति का लक्ष्य बनाना।
★ लक्ष्य प्राप्ति के लिए योग्य साधनों (सुदेव–सुगुरु–सुधर्म) का आश्रय लेना।
★ बाधक कारणों (कुदेव–कुगुरु–कुधर्म) से दूर रहना।
★ साधक कारणों का उचित समय पर उचित प्रयोग करना।
★ मानसिक सुख, शान्ति एवं आध्यात्मिक आनन्द से युक्त जीवन–यापन करना।
★ साधना के द्वारा मानसिक–अस्वस्थता से क्रमशः मुक्त होते जाना।
★ जीवन में प्रसन्नता एवं आनन्द की अभिवृद्धि करते रहना।
★ जीवन में रोग, शोक, भय, दुःखादि की परिस्थिति मिलने पर भी आत्म–विश्वास (Self Confidence) नहीं खोना।
★ उपर्युक्त रोगादि जटिल परिस्थितियों में भी तनाव–मुक्ति का अभ्यास करना।
★ मृत्यु के समय शरीर भले ही अस्वस्थ हो, किन्तु चित्त की स्वस्थता (समाधि) बनाए रखना।

स्थानांगसूत्र में मन की तीन अवस्थाएँ वर्णित हैं[154] – पहली **'तन्मन'** है, जिसमें मन लक्ष्य में लीन रहता है, दूसरी **'तदन्यमन'** है, जिसमें मन अलक्ष्य में लीन रहता है और तीसरा **'नोअमन'** है, जिसमें मन लक्ष्यहीन कार्य करता है। मानसिक–प्रबन्धन के लिए व्यक्ति को उचित लक्ष्य में मन को लगाकर लक्ष्यहीन अथवा अनुचित लक्ष्य सम्बन्धी प्रवृत्तियों से बचना चाहिए। यह तथ्य उपर्युक्त तेरह बिन्दुओं से स्पष्ट है।

7.7.1 मानसिक–प्रबन्धन का मौलिक रूप

मानसिक विकार प्रत्येक प्राणी में होते हैं। ये संज्ञाओं के रूप में रहते हैं एवं कषायों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। संज्ञाएँ अनेक हैं, जैसे – आहार, भय, मैथुन, परिग्रह। वस्तुतः, ये तो संज्ञाओं के स्थूल रूप हैं, सूक्ष्म रूप में इनके असंख्य भेद भी सम्भव हैं। जो मनोभाव लम्बे काल से भीतर दबे हुए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहते हैं, वे सभी संज्ञा रूप ही हैं और जैसे ही बाहर में योग्य परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं, ये संज्ञाएँ इच्छा और वांछा का रूप बनाकर उद्दीप्त हो जाती हैं। इन्हें समझ पाना आसान नहीं है, क्योंकि ये सूक्ष्म शल्य (काँटें) के समान होती हैं।

जैनाचार्यों ने इन गहन मानसिक विकारों से मुक्ति पाने के लिए अनेक सिद्धान्तों एवं प्रयोगों का प्रतिपादन किया है। साथ ही, यह निर्देश भी दिया है कि प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक अपनी भूमिकानुसार इन्हें आत्मसात् करे। मानसिक–प्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में इन्हें निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

(1) समता द्वारा तनाव–मुक्ति – जैनदृष्टि में मनुष्य को लाभ–अलाभ, सुख–दुःख, जीवन–मरण, निन्दा–प्रशंसा और मान–अपमान में समभाव रखना चाहिए।[155] जो इस प्रकार समता की साधना करता है, उसके राग–द्वेष दूर होने लगते हैं तथा वह तनावरहित होकर प्रसन्नता एवं आनन्द का अनुभव करता है।

(2) ध्यान द्वारा तनाव–मुक्ति – ध्यान से व्यक्ति विषय–कषायों को मन्द करता है, मन–वचन–काया की प्रवृत्तियों को विश्राम देता है, श्वास को सहज एवं नियमित करता है, एकाग्रता की प्राप्ति करता है तथा समाधि–सुख का अनुभव करता है। निश्चित है कि तनाव–मुक्ति के लिए ध्यान एक श्रेष्ठ साधन है। कहा भी गया है – जिसका मन ध्यान में लीन है, वह कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोकादि मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता।[156]

(3) कायोत्सर्ग द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – कायोत्सर्ग का अर्थ है – काया के ममत्व का विसर्जन। इससे न केवल शरीर को विश्राम मिलता है, अपितु मानसिक बोझ भी हल्का होता है। मनोवैज्ञानिक चार्ल्सवर्थ एवं नाथन ने भी कायोत्सर्ग को तनाव–मुक्ति का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग बताया है।[157] जैन–परम्परा में आचार्य भद्रबाहु ने भी कायोत्सर्ग के पाँच लाभ बताए हैं, जो इस प्रकार हैं[158] –

1)	**देहजाड्य शुद्धि**	**श्लेष्म (कफ) आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।**
2)	मतिजाड्य शुद्धि	जागरुकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।
3)	**सुख–दुःख तितिक्षा**	**सुख–दुःख सहने की शक्ति का विकास होता है।**
4)	अनुप्रेक्षा	भावनाओं (चिन्तन–मनन) के लिए चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है।
5)	**एकाग्रता**	**शुभ ध्यान के लिए चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है।**

(4) स्वाध्याय द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – स्वाध्याय का अर्थ है – सत्साहित्य या सत्संग के द्वारा स्वविषयक अध्ययन करना। यह परम तप है, क्योंकि इसके समान दूसरा तप न अतीत में हुआ है, न वर्त्तमान में है और न ही अनागत में होगा।[159] नित्य स्वाध्याय (स्व का अध्ययन) करने से हित–अहित का सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे व्यक्ति दुराचार से दूर होकर सदाचार में प्रवृत्त होता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है और उसका मन शान्त एवं प्रबन्धित होता है।

(5) प्रायश्चित्त द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – 'प्रायः' का अर्थ है – अपराध और 'चित्त' का अर्थ है – शुद्धि।[160] अतः अपने अपराधों की शुद्धि करना ही प्रायश्चित्त है। यह आभ्यन्तर तपों में सबसे प्रथम तप है तथा तनाव–मुक्ति के लिए अनिवार्य साधन है, क्योंकि मनुष्य के लिए गलती करना एक आम बात है और प्रायश्चित्त तप के द्वारा ही इस गलती की स्वीकृति एवं शुद्धि सम्भव है, अतः प्रायश्चित्त आत्म–परिष्कार की प्रक्रिया का प्रवेश द्वार है।

(6) आलोचना, प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – मन को खाली करना ही मानसिक शान्ति का साधन है और इस हेतु इन तीनों की विशिष्ट भूमिका है। यहाँ अतीत के राग–द्वेष एवं ममत्व को छोड़ना 'प्रतिक्रमण' है, वर्त्तमान के दोषों को त्यागना 'आलोचना' है एवं आगामी राग–द्वेष एवं ममत्व का संकल्पपूर्वक परित्याग करना 'प्रत्याख्यान' है।[161] जैन–परम्परा में इन्हें प्रायश्चित्त का एक अंग तथा साधु एवं श्रावक का दैनिक कर्त्तव्य माना गया है। कहा भी गया है कि जो साधक गुरु के समक्ष अपने मानसिक शल्यों (काँटों) को निकालकर आलोचना (निन्दा) करता है, उसकी आत्मा का भार उसी तरह हल्का हो जाता है, जिस प्रकार सिर का भार उतरने पर व्यक्ति का।[162] ईसाई धर्म में जिस प्रकार कन्फेशन (Confession) की परम्परा है, जैनधर्म में उसी प्रकार उपर्युक्त आलोचना आदि की प्रक्रिया है।

(7) परमात्म–भक्ति के द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – भक्ति का अर्थ है – समर्पण। सच्चे मन से भक्ति की जाए, तो यह भगवत्–प्राप्ति का मार्ग है और परमानन्द के ऐश्वर्य को देने वाली है। इसके अनेक अंग हैं – दर्शन, वन्दन, अर्चन, कीर्त्तन, सेवन, पूजन आदि। निश्चित तौर पर यह राग–द्वेष को समाप्त कर मानसिक तोष एवं प्रसन्नता रूपी फल की प्राप्ति कराने वाली है।

चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कह्युं, पूजा अखण्डित एह।
कपट रहित थइ आतम अर्पणा, आनन्दघन पद रेह।।[163]

(8) अहिंसा द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – जहाँ हिंसा है, वहाँ क्लेश, कलह, वैर, वैमनस्य, कटुता और द्वन्द्व हैं और जहाँ अहिंसा है, वहाँ प्रेम, स्नेह, शान्ति, दया, सह–अस्तित्व, सहिष्णुता एवं करुणा हैं। अतः जैन–परम्परा में अहिंसा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। तनाव–मुक्ति के लिए अहिंसात्मक जीवनशैली से जीना प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक का कर्त्तव्य है।

(9) अपरिग्रह द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – जैनदर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है – अपरिग्रह। अपरिग्रह की भावना जितनी प्रबल होती जाती है, तृष्णा उतनी ही शान्त होती जाती है, जिससे सन्तोष प्राप्त होता है और तनाव–मुक्ति का अनुभव होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गोधन, गजधन, बाजिधन, और रतनधन खान।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।।[164]

(10) अनेकान्त दृष्टि के द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – जैनदर्शन का अनेकान्तवाद तनाव–मुक्ति का अचूक उपाय है। जो व्यक्ति इस सिद्धान्त को आत्मसात् कर लेता है, वह न केवल आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है, अपितु सामाजिक एवं पारिवारिक क्षेत्र में भी वैचारिक–सहिष्णुता के साथ जीता है। यह अनाग्रह की कला सिखाता है, जिससे एक–दूसरे के विचारों में संघर्ष नहीं, अपितु समन्वय हो जाता है।

(11) आत्मज्ञान के द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – जब तक इस जड़ शरीर से भिन्न आत्म–स्वरूप का भान नहीं होता, तब तक मानसिक विकारों का स्थायी निराकरण नहीं हो सकता, किन्तु जब आत्मज्ञान हो जाता है, तब स्वतः ही पर–पदार्थों एवं उनके प्रति ममत्व भावों का विसर्जन होने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि आत्मा से अनभिज्ञ रहकर अनेक दुःख प्राप्त होते हैं और आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर वे विनष्ट हो जाते हैं।[165]

(12) आत्मदायित्व के बोध द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – जब तक व्यक्ति बाह्य परिस्थितियों को सुख–दुःख का कारण मानता रहता है, तब तक परिस्थितियों को बदलने की व्यर्थ ही चेष्टा करता रहता है, किन्तु जैनदर्शन मूलतः आत्मा को ही सुख–दुःख का कर्त्ता मानता है।[166] अतः इससे आत्मदायित्व का बोध होता है और व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियों को नियंत्रित कर हर परिस्थिति में आनन्दपूर्वक जीता है।

(13) व्रतों द्वारा मानसिक–प्रबन्धन – हिंसादि दुष्प्रवृत्तियों से विरत होना ही व्रत है।[167] यह व्रत श्रमण एवं श्रावक दोनों के द्वारा पालनीय है। जो व्यक्ति इन व्रतों का पालन भावपूर्वक करता है, उसकी सांसारिक दुष्प्रवृत्तियाँ सीमित/समाप्त हो जाती हैं, जिससे वह अनेक प्रकार के मानसिक त्रास एवं सन्ताप से मुक्त हो जाता है। जो सुख अपार ऐश्वर्य से भी अप्राप्य है, वह सुख व्रतधारियों को सहज ही प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार, जैनदर्शन में मानसिक–प्रबन्धन के लिए अनेकानेक ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक पद्धतियाँ निर्दिष्ट हैं। इनका सम्यक् प्रयोग कर साधक अपने अज्ञान को दूर करके कषायरूपी मनोविकारों पर विजय प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक का यह कर्त्तव्य है कि वह क्रोध, मान, माया और लोभ को क्रमशः क्षमा, मृदुता, सरलता एवं सन्तोष के द्वारा जीतने का प्रयास करे।[168]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7.7.2 मानसिक–प्रबन्धन के विविध स्तर

प्रत्येक व्यक्ति का बाह्य परिवेश निरन्तर बदलता रहता है और इसके साथ–साथ उसकी मनोदशा भी जलतरंगों के समान कभी ऋणात्मक (Negative), तो कभी धनात्मक (Positive) एवं कभी तीव्र तो कभी मन्द होती रहती है। इतना ही नहीं, प्रयत्न करने के पश्चात् भी परिणाम कभी अनुकूल, तो कभी प्रतिकूल मिलते रहते हैं।

इसी कारण, मानसिक–प्रबन्धन की पूर्व निर्दिष्ट विविध पद्धतियों का समग्र एवं समन्वित परिज्ञान तथा प्रयोग प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक के लिए आवश्यक है। उसे बदलते हुए परिवेश में प्राप्त होने वाले संयोगों के साथ उचित समायोजन करते हुए अपनी भूमिका (स्तर) के अनुरूप योग्य पद्धति का प्रयोग करना चाहिए, साथ ही अपने स्तर को उत्तरोत्तर परिष्कृत भी करना चाहिए। ये स्तर निम्न प्रकार के हो सकते हैं –

1) तीव्र मानसिक विकार
2) मन्द मानसिक विकार
3) मन्दतर मानसिक विकार
4) मन्दतम मानसिक विकार
5) पूर्ण विकारमुक्त अवस्था

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International

For Personal & Private Use Only

www.jainelibrary.org

मानसिक–प्रबन्धन के विविध–स्तर एवं तकनीक

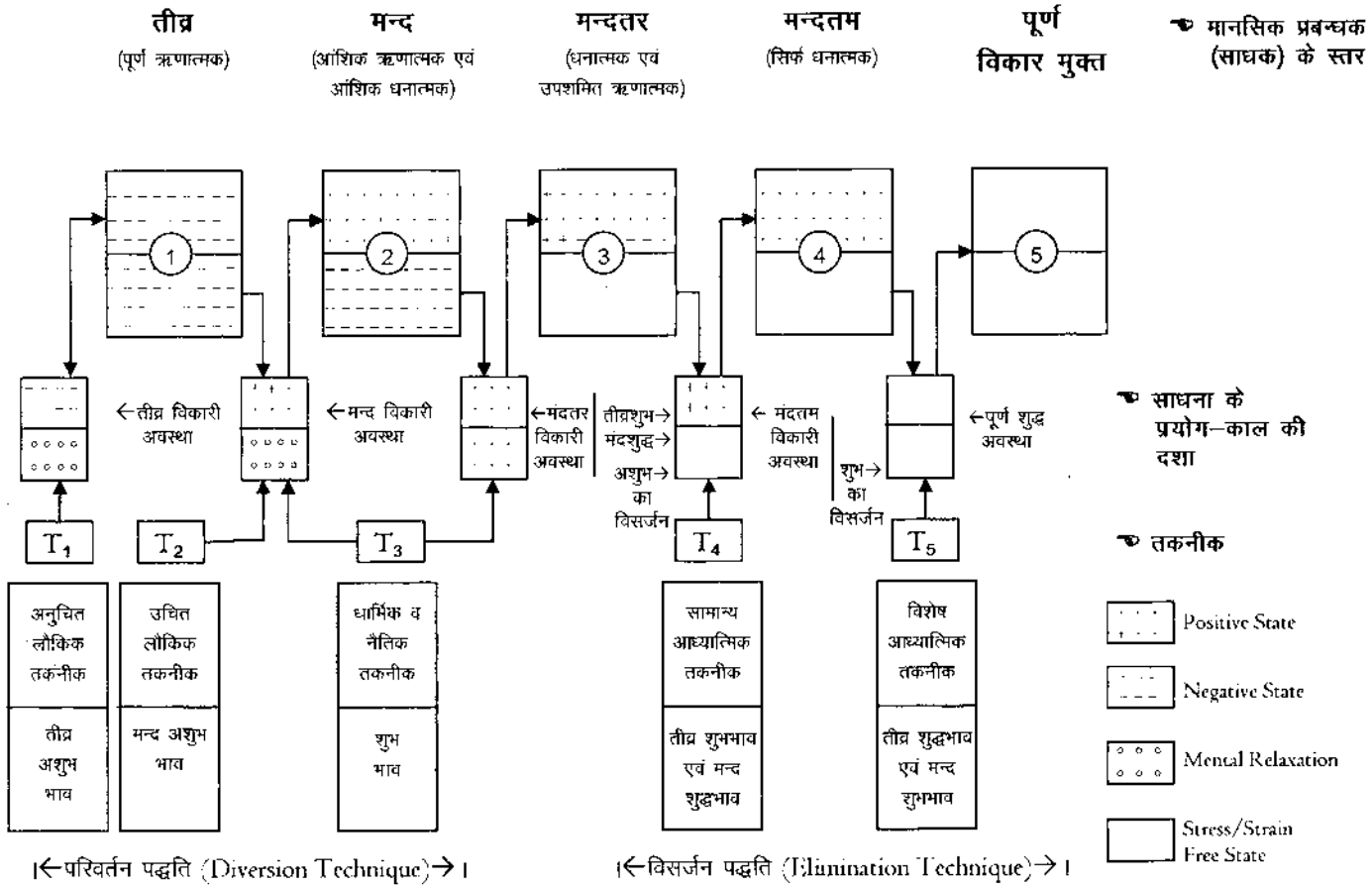

(1) तीव्र मानसिक विकार – यह मानसिक–प्रबन्धन का निकृष्ट स्तर है, जिसमें व्यक्ति तीव्र ऋणात्मक (Negative) आवेगों से ग्रस्त रहता है। वह सामाजिक नीतियों का उल्लंघन करते हुए स्वयं भी अशान्त रहता है एवं दूसरों को भी अशान्त करता है, जैसे –

★ पारिवारिक हताशा एवं कुण्ठा से परेशान व्यक्ति।
★ अत्यधिक आर्थिक नुकसान से विचलित व्यक्ति।
★ मानहानि से आक्रान्त व्यक्ति इत्यादि।

(2) मन्द मानसिक विकार – यह मानसिक–प्रबन्धन का द्वितीय स्तर है। इसमें व्यक्ति अपने ऋणात्मक आवेगों से आंशिक रूप से उभर जाता है, फिर भी ऋणात्मक आवेगों का प्रभाव उसे अंशतः दुःखी तथा बोझिल बनाए रखता है। आमतौर पर समाज में इस दशा को सामान्य कहा जाता है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यह दशा भी निम्न ही है, जैसे –

★ मनोरंजन के पश्चात् पुनः काम पर जाने वाला व्यक्ति।
★ कार्य में आंशिक सफलता एवं आंशिक असफलता पाने वाला व्यक्ति।
★ सामान्य उतार–चढ़ाव भरा जीवन जीने वाला व्यक्ति इत्यादि।

(3) मन्दतर मानसिक विकार – यह मानसिक–प्रबन्धन का तृतीय स्तर है, जिसमें व्यक्ति के केवल धनात्मक (Positive) आवेग ही अभिव्यक्त होते हैं और ऋणात्मक आवेग उपशान्त हो जाते हैं। इससे व्यक्ति प्रसन्न रहता है, क्योंकि ऋणात्मक आवेग प्रकट रूप में उभरते नहीं हैं, जैसे –

★ सकारात्मक चिन्तन के द्वारा स्वयं को शान्त कर लेने वाला व्यक्ति।
★ खुश–मिजाज रहकर अपने दुःखों को भुला देने वाला व्यक्ति।
★ समस्या आने पर धैर्यपूर्वक उसका समाधान करने वाला व्यक्ति इत्यादि।

(4) मन्दतम मानसिक विकार – यह मानसिक–प्रबन्धन का चतुर्थ स्तर है, जिसमें व्यक्ति आध्यात्मिक चिन्तन के द्वारा सही दृष्टिकोणपूर्वक प्रतिकूलताओं में भी साक्षी–भाव से जीने का अभ्यास करता है। उसके ऋणात्मक भाव का अभाव होते जाता है और अल्प मोह होने से वह आवश्यक कार्यों को प्रसन्नतापूर्वक करता हुआ अनावश्यक कर्त्तव्यों से स्वयं को मुक्त करता चला जाता है। वह वस्तुतः प्रतिकूलता को समस्या नहीं मानने का प्रयत्न करता रहता है, जैसे –

★ आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान करने का अभ्यासी।
★ आधि (मानसिक रोग), व्याधि (शारीरिक रोग) और उपाधि (बाह्य ओढ़े हुए रोग, जैसे – पद आदि) में भी समाधि रखने का अभ्यासी।
★ अनासक्त भाव से जीवन–यापन करने का अभ्यासी इत्यादि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(5) पूर्णविकार मुक्त – यह मानसिक–प्रबन्धन का उत्कृष्ट स्तर है, जिसमें साधक शनैः–शनैः आवश्यकताओं, इच्छाओं एवं तज्जन्य मानसिक–विकारों से मुक्त होता जाता है, उसके राग–द्वेष एवं कषाय–भाव पूर्ण क्षय को प्राप्त होते हैं, जिससे वह परमसुख एवं आनन्द की अनुभूति करता है। वह न केवल अशुभ मनोभावों, अपितु शुभ मनोभावों से भी परे जाकर शुद्ध भावों में रमण करता है। इस परिपूर्ण दशा को जैन–परम्परा में **'अरिहंत'** एवं **'सिद्ध'** अवस्था कहा जाता है।

7.7.3 मानसिक–प्रबन्धन के उत्तरोत्तर विकास की तकनीक

मानसिक–प्रबन्धन में एक स्तर से दूसरे स्तर में जाने के लिए मुख्यतया दो तकनीक प्रयुक्त होती हैं –

(1) परिवर्त्तन–तकनीक (Diversion Technique)

परिवर्त्तन तकनीक के अन्तर्गत विकारों का उन्मूलन करने के बजाय विचारों एवं व्यवहारों का विषयान्तरण किया जाता है, जैसे – घर में क्लेश होने पर शुभ स्थानों पर जाकर आराधना करना आदि। यह तकनीक दो प्रकार की होती है –

(क) व्यावहारिक या लौकिक तकनीक – यह लोक–प्रचलित तकनीक है, जैसे – संगीत सुनना, नृत्य करना, टी.वी. देखना आदि। इसके पुनः दो भेद किए जा सकते हैं –

1) अनुचित तकनीक – जो मानसिक विकारों को समाप्त करने वाली प्रतीत तो होती है, लेकिन इसका प्रयोग करने के बाद मानसिक, शारीरिक, सामाजिक आदि सभी विकृतियाँ कम होने के बजाय और अधिक बढ़ जाती हैं। यह निम्नलिखित व्यसनों या बुरी आदतों के रूप में पहले तो व्यक्ति को मस्त करती है, फिर व्यस्त करती हैं और तत्पश्चात् त्रस्त करती हुई अन्ततः अस्त कर देती हैं।

- ★ मादक पदार्थों का सेवन
- ★ धूम्रपान एवं गुटकादि का सेवन
- ★ अत्यधिक आहार
- ★ समाज से अलग–थलग हो जाना
- ★ वेश्यावृत्ति एवं अतिसम्भोग
- ★ अतिनिद्रा एवं आलस्य
- ★ अतितर्क एवं वाद–विवाद करना इत्यादि।

जैनाचार्यों ने इसे अनुचित ठहराकर दृढ़ता से इसका प्रतिषेध किया है।

2) उचित तकनीक – यह सामान्यतया लोक में मान्य तकनीक है। आधुनिक मनोविज्ञानी भी इसकी अनुशंसा करते हैं। इसमें योग, प्राणायाम आदि सात्विक वृत्तियों के साथ–साथ मनोरंजन, क्रीड़ा, व्यायाम, सैर–सपाटे आदि भोगप्रधान वृत्तियाँ भी समाविष्ट हो जाती हैं। यद्यपि ये वृत्तियाँ उचित प्रतीत होती हैं, किन्तु इनसे भी स्थायी समाधान नहीं मिलता और न ही इनसे धार्मिकता एवं नैतिकता की शिक्षा भी प्राप्त होती है। जैनाचार्यों ने इसीलिए इनसे ऊपर उठकर कुछ पद्धतियों का निर्माण किया है, जिनकी चर्चा आगे की जा रही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ख) धार्मिक या नैतिक तकनीक – यह धर्मानुकूल तकनीक है, जैसे – मन्दिर जाना, पूजा करना, प्रार्थना करना, सामायिक करना, जप करना आदि। इसमें मुख्यतया व्यक्ति के आवेगों को न केवल तीव्र–स्तर से मन्द–स्तर में, अपितु मन्द–स्तर से मन्दतर–स्तर में भी लाने का अभ्यास कराया जाता है। इस अपेक्षा से यह तकनीक व्यावहारिक–तकनीक से श्रेयस्कर है।

तकनीक	आवेगों की स्थिति
अनुचित व्यावहारिक तकनीक	तीव्र → तीव्र
उचित व्यावहारिक तकनीक	तीव्र → मन्द
धार्मिक एवं नैतिक तकनीक	तीव्र → मन्द → मन्दतर

जैनाचार्यों के अनुसार, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओं को प्राप्त करने से व्यक्ति के भाव परिष्कृत होते हैं, शनैः–शनैः अशुभ भाव मन्द होते जाते हैं और शुभ भावों का विकास होता जाता है। व्यक्ति जीवन में देव–पूजा, गुरु–उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान रूप शुभ प्रवृत्तियाँ करता है, जिससे मनोविकार उपशान्त हो जाते हैं। व्यक्ति के व्यवहार में सकारात्मक परिवर्त्तन आने लगता है, उसका क्रोध क्षमा में, अहंकार विनय में, कुटिलता सरलता में, लोभ सन्तोष में, अधीरता धैर्य में एवं असहिष्णुता सहिष्णुता में परिवर्त्तित होने लगती है।

यद्यपि व्यावहारिक एवं धार्मिक दोनों ही परिवर्त्तन–तकनीक हैं, फिर भी परिणामों की अपेक्षा से इनमें बहुत अन्तर है। धार्मिक–परिवर्त्तन–तकनीक की विशेषता यह है कि इसके द्वारा व्यक्ति न केवल मनोविकारों का उपशमन करता है, अपितु मानसिक–प्रबन्धन के चतुर्थ स्तर तक पहुँचने की पात्रता भी विकसित कर लेता है।

(2) विसर्जन–तकनीक (Elimination Technique)

तृतीय स्तर से ऊपर उठकर जीवन–प्रबन्धक चतुर्थ स्तर में पहुँचता है, यहाँ वह विसर्जन–तकनीक का प्रयोग करता है। इसमें मूलतः सम्यग्ज्ञान के आलोक में कषायादि विकारों पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास किया जाता है, जैसे – ध्यान के द्वारा बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व का विसर्जन आदि। इसके द्वारा वह मनोभावों में सकारात्मक परिवर्त्तन लाने के साथ–साथ मनोविकारों के मूल कारणों का उच्छेद करने का भी बारम्बार प्रयत्न करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस तकनीक के मूलतः दो भेद हैं –

(क) सामान्य आध्यात्मिक तकनीक – इसके द्वारा अशुभ भावों से निवृत्ति एवं शुभ भावों में प्रवृत्ति होती है, साथ ही जीवन में शुभाशुभ भावों से परे शुद्ध (साक्षी) भाव को समझने एवं उसमें जीने का प्रयत्न भी होता है।

(ख) विशेष आध्यात्मिक तकनीक – इसके द्वारा व्यक्ति चतुर्थ स्तर से भी ऊपर उठने का प्रयत्न करता है। वह अधिक से अधिक साक्षीभाव में लीन होता जाता है। वह अब बड़ी–बड़ी असहनीय परिस्थितियों में भी समता का अभ्यास करता है। अन्ततः वह वीतरागदशा को प्राप्त होकर मानसिक–प्रबन्धन के पाँचवे स्तर अर्थात् चरम स्तर पर पहुँच जाता है।

इस प्रकार, उपर्युक्त मानसिक–प्रबन्धन के स्तरों में से प्रथम तीन में परिवर्त्तन तकनीक तथा शेष दो में विसर्जन तकनीक की मुख्यता होती है। दूसरे शब्दों में, साधना के विकास के साथ–साथ विसर्जन तकनीक की प्रधानता होती जाती है।

=====❀=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7.8 निष्कर्ष

मनुष्य के समस्त तनावों और मानसिक–विकारों का आधार मन है। यह मन अतिसूक्ष्म होने से चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देता। फिर भी, प्रायः सभी भारतीय–दर्शनों और विशेष रूप से जैनदर्शन में मन का अस्तित्व, मन का स्थान, मन के कार्य, मन की अवस्थाओं और आत्मा, शरीर एवं मन के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रतिपादन किया गया है। इससे न केवल मन के स्वरूप का सम्यक् परिज्ञान होता है, बल्कि मन–प्रबन्धन की प्रक्रिया भी आसान हो जाती है।

मन भले ही सूक्ष्म हो, किन्तु यह एक अद्भुत शक्तिपुंज है। यह व्यक्ति के समस्त क्रियाकलापों का संचालक भी है। आध्यात्मिक–दृष्टि से देखें, तो मन ही बन्धन और मोक्ष का प्रबलतम कारण है – **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध–मोक्षयोः**। व्यावहारिक–दृष्टि से भी इसका महत्त्व अद्वितीय है, क्योंकि जीवन में शिक्षा, समय, वाणी, अर्थ आदि सभी पहलुओं के प्रबन्धन का आधार भी मन ही है। अतः मन को साधना ही सम्यक् साधना है और मन न सधे, तो जीवन में बाधा ही बाधा है।

मन मनुष्य की सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति है, किन्तु मन के सम्यक् प्रबन्धन के अभाव में मनुष्य के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक जीवन के विकास में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिन्हें तनाव एवं मनोरोग कहा जाता है। तनाव व्यक्ति की विभावदशा है, जो बदलती हुई परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित न कर पाने का दुष्परिणाम है। दूसरे शब्दों में, तनाव व्यक्ति की वातावरणीय परिवर्तन के प्रति अनुक्रिया है। जिस प्रकार बाह्य दबाव प्राप्त होने पर लोह–पिण्ड में प्रतिरोध स्वरूप विशेष अनुक्रिया होती है, उसी प्रकार व्यक्ति में बाह्य उद्दीपकों का सम्पर्क होने पर तनाव रूप अनुक्रिया उत्पन्न होती है। तनाव के अनेक प्रकार से भेद किए जा सकते हैं, जैसे – प्रशस्त–अप्रशस्त, स्वीकारात्मक–नकारात्मक, उच्च–निम्न आदि। तनाव उत्पन्न होने के साथ ही अंतरंग में क्रोधादि मनोविकारों का प्रादुर्भाव हो जाता है, जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है और अनेक प्रकार के मनोरोग उत्पन्न हो जाते हैं। मनोविकारों का दुष्परिणाम चरण–दर–चरण बढ़ता जाता है और अन्ततः विकराल रूप धारण कर लेता है।

तनाव एवं मनोविकारों के बहिरंग एवं अंतरंग – ये दो कारण होते हैं। बहिरंग कारणों में शारीरिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि कारकों का समावेश होता है, तो अंतरंग कारणों में कर्मजन्य परिस्थितियों के गलत मूल्यांकन से उत्पन्न अज्ञान का ।

तनाव एवं मनोविकारों से बचने के लिए जैनाचार्यों ने बारम्बार मन के संयम (नियंत्रण) पर बल दिया है और इसे ही तनाव एवं मनोविकारों का प्रबन्धन कहा जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत जैनाचार्यों ने जो साधना बताई है, उसके प्रमुख उद्देश्य हैं – मन को अकुशल विचारों से हटाना एवं कुशल विचारों में लगाना, नकारात्मक विचारधारा को त्यागना एवं सकारात्मक विचारधारा को अपनाना, मन की व्यग्रता को एकाग्रता में परिवर्तित करना, मन की मलिनताओं (संज्ञाओं एवं वासनाओं) को दूर करना, कषायों को क्रमशः मन्दता एवं क्षीणता की ओर ले जाना इत्यादि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक–प्रबन्धन एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है, क्योंकि इससे अनेक लाभ प्राप्त होते हैं, जैसे – जीवन की जटिल समस्याओं में भी तनावग्रस्त नहीं होना, पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों का कर्त्तव्य–बुद्धि से निर्वाह करना, जीवन–व्यवहारों के सम्बन्ध में विवेकपूर्वक प्रत्येक निर्णय लेना, तनावजन्य मनोविकारों एवं शारीरिक रोगों से बचना, मानसिक क्षमताओं का सृजनात्मक एवं रचनात्मक कार्यों में प्रयोग करना इत्यादि।

मानसिक–प्रबन्धन की सफलता के लिए जैनधर्मदर्शन में उन साधनों का प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है, जिनके माध्यम से राग, द्वेष, मोह आदि मन्द होते हों और मानसिक–शान्ति एवं प्रसन्नता का अनुभव होता हो। इनसे विपरीत साधनों को बाधक कारणों के रूप में मानकर उनका त्याग करने का निर्देश भी दिया गया है।

मानसिक–प्रबन्धन के सिद्धान्तों को जानना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु जैन–परम्परा में निर्दिष्ट प्रयोगों को अपनी भूमिकानुसार अपनाना भी एक आवश्यक कर्त्तव्य है। ये प्रयोग अनेक हैं, जिनमें से प्रमुख हैं – सामायिक, ध्यान, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, प्रायश्चित्त, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, परमात्म–भक्ति, अहिंसा, अपरिग्रह, व्रत आदि।

उपर्युक्त प्रयोगों को अपनाते हुए जीवन–प्रबन्धक को अपने स्तर में क्रमशः अभिवृद्धि करते जाना चाहिए। उसे तीव्र मानसिक–विकार की स्थिति से उबरकर क्रमशः मन्द, मन्दतर, मन्दतम और अन्ततः पूर्ण विकारमुक्त अवस्था की प्राप्ति करनी चाहिए। इस हेतु उसे आवश्यकतानुसार परिवर्तन–तकनीक एवं विसर्जन–तकनीक का उचित प्रयोग भी करना चाहिए।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7.9 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ. क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	क्या आप मन के स्वरूप को जानते हैं?		1
2)	क्या आप जीवन में मन को महत्त्व देते हैं?		11
3)	क्या आप तनाव के स्वरूप को जानते हैं?		14
4)	क्या आप मानसिक–विकार एवं उसके दुष्परिणामों को जानते हैं?		26
	विकल्प– हमेशा→① अक्सर→② कभी–कभी→③ कदाचित्→④ कभी नहीं→⑤		
5)	क्या आपको जैविक कारक से मानसिक–विकार चलते हैं?		38
6)	क्या आपको मनःसामाजिक कारक से मानसिक–विकार चलते हैं?		39
7)	क्या आपको सामाजिक–सांस्कृतिक कारक से मानसिक–विकार चलते हैं?		39
8)	क्या ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म के उदय से प्रभावित होकर मानसिक–विकार चलते हैं?		41
9)	क्या आपको मोहनीय कर्म के उदय से प्रभावित होकर मानसिक–विकार चलते हैं?		42
10)	क्या आपको अन्तराय कर्म के उदय से प्रभावित होकर मानसिक–विकार चलते हैं?		42
11)	क्या आपको वेदनीय कर्म के उदय से प्रभावित होकर मानसिक–विकार चलते हैं?		42
12)	क्या नाम एवं गोत्र कर्म के उदय से प्रभावित होकर मानसिक–विकार चलते हैं?		43
13)	क्या आपको आयुष्य कर्म के उदय से प्रभावित होकर मानसिक–विकार चलते हैं?		42
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
14)	क्या आप परिवर्त्तन–तकनीक का उपयोग करते हैं?		54
15)	क्या आप विसर्जन–तकनीक का उपयोग करते हैं?		55
16)	क्या आप समता द्वारा तनाव–मुक्ति करते हैं?		48
17)	क्या आप ध्यान द्वारा तनाव–मुक्ति करते हैं?		48
18)	क्या आप कायोत्सर्ग द्वारा मानसिक–प्रबन्धन करते हैं?		48
19)	क्या आप स्वाध्याय द्वारा मानसिक–प्रबन्धन करते हैं?		48
20)	क्या आप आलोचना/प्रतिक्रमण/प्रत्याख्यान द्वारा मानसिक–प्रबन्धन करते हैं?		49
21)	क्या आप परमात्म–भक्ति द्वारा मानसिक–प्रबन्धन करते हैं?		49
22)	क्या आप अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकान्त–दृष्टि द्वारा मानसिक–प्रबन्धन करते हैं?		49
23)	क्या आप आत्म–ज्ञान एवं आत्म–दायित्व के बोध द्वारा मानसिक–प्रबन्धन करते हैं?		50
24)	क्या आप व्रतों द्वारा मानसिक–प्रबन्धन करते हैं?		50
	विकल्प– चतुर्थ→① तृतीय→② द्वितीय→③ प्रथम→④ कोई नहीं→⑤		
25)	आप मानसिक–विकारों के दुष्परिणामों की कौन–सी अवस्था से ग्रस्त हैं?		33
		कुल	

कुल	0–25	26–50	51–75	76–100	101–125
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
भविष्य में अपेक्षित प्रबन्धन	अत्यधिक	अधिक	अल्प	अल्पतर	अल्पतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/479
2 भारतीयमनोविज्ञान, डॉ.लक्ष्मी शुक्ला, पृ. 80
3 वही, पृ. 95
4 वही, पृ. 83–84
5 वही, पृ. 84
6 बृहद् अरण्यक, 1/5/3 (भारतीयमनोविज्ञान, डॉ.लक्ष्मी शुक्ला, पृ. 80–81 से उद्धृत)
7 भारतीयमनोविज्ञान, डॉ.लक्ष्मी शुक्ला, पृ. 112
8 वही, पृ. 83–84
9 वही, पृ. 84
10 वही, पृ. 83
11 वही, पृ. 80
12 भारतीय दर्शन में मन की अवधारणा (शोध–प्रबन्ध), नागेंद्रसिंह ठाकुर, पृ. 27 (न्याय), पृ. 25 (वैशेषिक), पृ. 37 (सांख्य), पृ. 37 (योग), पृ. 38 (मीमांसा), पृ. 18 (वेदान्त),
13 वही, पृ. 34 (न्याय), पृ. 25 (वैशेषिक), पृ. 36 (सांख्य), पृ. 36 (योग), पृ. 17 (मीमांसा), पृ. 20 (वेदान्त)
14 वही, पृ. 37 (सांख्य), पृ. 18 (वेदान्त)
15 वही, पृ. 29 (न्याय), पृ. 25 (वैशेषिक), पृ. 39 (सांख्य), पृ. 39 (योग), पृ. 16 (मीमांसा), पृ. 19 (वेदान्त)
16 अभिधम्मत्थसंगहो, पृ. 1 (जैन, बौद्ध और गीता, डॉ. सागरमलजैन, 1/494 से उद्धृत)
17 भारतीयदर्शन, दत्ता (वही, पृ. 495 से उद्धृत)
18 कठोपनिषद्, 1/3/3, 4 एवं 10 (भारतीयमनोविज्ञान, डॉ. लक्ष्मी शुक्ला, पृ. 93 से उद्धृत)
19 अभिधानचिन्तामणि:, 6/5
20 विशेषावश्यकभाष्य, 3525
21 सूत्रकृतांगसूत्रवृत्ति (जैनभारती पत्रिका, जनवरी, 2007, पृ. 22 से उद्धृत)
22 स्थानांगसूत्र सटीक (अभिधानराजेन्द्रकोष, 6/74 से उद्धृत)
23 व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 13/7/10
24 षट्खण्डागम (धवला) (जैनभारती पत्रिका, जनवरी, 2007, पृ. 22 से उद्धृत)
25 द्रव्य मन का लक्षण, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, 3/270
26 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/480
27 चित्त और मन, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 4
28 भारतीयमनोविज्ञान, डॉ.लक्ष्मी शुक्ला, पृ. 102
29 तत्त्वार्थसूत्र, 1/15
30 नन्दीसूत्र, 53–60
31 तत्त्वार्थसूत्र, 1/13
32 चित्त और मन, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 21–22
33 वही, पृ. 22
34 द्रव्यसंग्रह, 41
35 वही, 41, 42
36 चित्त और मन, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 23
37 जैन दर्शन, मनन और मीमांसा, मुनि नथमल, पृ. 559
38 संशय–प्रतिभा–स्वप्न–ज्ञानोहासुखादिक्षमेच्छादयश्च मनसो लिंगानि – सन्मतिप्रकरण, काण्ड 2 (जैनदर्शन, मनन और मीमांसा, मुनि नथमल, पृ. 515 से उद्धृत)
39 इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि, समनस्केन गृह्यते। कल्प्यते मनसाप्यूर्ध्वं, गुणतो दोषतो यथा।। – चरकसूत्र, 1/20 (वही, पृ. 515 से उद्धृत)
40 सर्वार्थसिद्धि, 1/14
41 गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 2/443
42 सर्वार्थसिद्धि, 2/11
43 श्रीभिक्षु–आगमविषयकोश, 2/458
44 जैनसिद्धान्तदीपिका, 2/33 (जैन दर्शन, मनन और मीमांसा, मुनि नथमल, पृ. 515 से उद्धृत)
45 योगशास्त्र, 12/2 (जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/494 से उद्धृत)
46 जैनभारती (पत्रिका), नवंबर, 2005, पृ. 25
47 मैत्रायणुपनिषद्, 4/11 (जैन, बौद्ध और गीता, डॉ. सागरमलजैन, 1/482 से उद्धृत)
48 कर्मग्रन्थ, 5/37
49 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/482
50 उत्तराध्ययनसूत्र, 29/57
51 उपदेशपुष्पमाला, मल्लधारी हेमचंद्रसूरि, 100
52 व्यवहारभाष्य, 1028–1029
53 उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, अरुणसिंह, अ. 5–10
54 आचारांगसूत्र, 2/3/28
55 मनोरोग, पृ. 9–10
56 भगवतीआराधना, 1325
57 तत्त्वार्थसूत्र, 5/29
58 स्वभावादन्यथाभवनं विभावः – आलापपद्धति, 6 (जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, 3/557 से उद्धृत)
59 किसने कहा मन चंचल है?, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 159
60 श्रमणपत्रिका, जनवरी–मार्च, 1997, पृ. 2

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

61 वही, पृ. 2
62 उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, अरुणसिंह, पृ. 755
63 श्रमणपत्रिका, जनवरी–मार्च, 1997, पृ. 2
64 तत्त्वार्थसूत्र, 5/29
65 श्रमणपत्रिका, जनवरी–मार्च, 1997, पृ. 8
66 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/58
67 भक्तपरिज्ञा, 84
68 आनन्दघन चौबीसी, 17/2
69 व्यवहारभाष्य, 1028
70 तत्त्वार्थसूत्र, 2/1
71 उत्तराध्ययनसूत्र, 32/7
72 ऋषिभाषित, 4/4
73 दशवैकालिकसूत्र, 8/36
74 इच्छा पसत्थमपसत्थिगा, य मयणंमि वेयउवओगो।
तेणहिगारो तस्स उ, वयंति धीरा निरुत्तमिणं।।
– दशवैकालिकनिर्युक्ति, 163
75 श्रीमद्देवचन्द्र चौबीसी, 22/5
76 उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, अरुणसिंह, पृ. 755
77 वही, पृ. 754
78 तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, 9/35
79 तत्त्वार्थसूत्र, 9/36
80 उत्तराध्ययनसूत्र, 14/13
81 सार्थ पोसहसज्झायसूत्र, 29, (प्राकृतसूक्तिकोश, महो. चन्द्रप्रभसागर, पृ. 140 से उद्धृत)
82 तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, 9/33
83 तत्त्वार्थसूत्र, 9/31–34
84 स्व–प्रबन्धन में जीवनविज्ञान (एम.ए.पुस्तक), पृ. 166
85 सूत्रकृतांगसूत्रचूर्णि, 1/2/2
86 स्व–प्रबन्धन में जीवनविज्ञान (एम.ए.पुस्तक), पृ. 161
87 भक्तपरिज्ञा, 134
88 भगवतीआराधना, 1177
89 गुरुदेवश्रीमहेन्द्रसागरजी म.सा. से चर्चा के आधार पर
90 स्थानांगसूत्र, 3/2/188
91 वही, 3/2/188
92 आचारागसूत्र, 1/1/6/4
93 शान्तसुधारस, 15/1
94 आचारांगसूत्र, 1/3/2/7
95 भावप्राभृत, 88
96 विशेषावश्यकभाष्य, 199
97 आचारांगसूत्र, 1/3/2/7
98 उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, अरुणसिंह, पृ. 783
99 Understanding Psychology, Robert S. Feldmen p.305
100 आचारांगसूत्र (सटीक), 1/1/8/242, पृ. 296
101 विशेषावश्यकभाष्य, 2978
102 तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, 6/4
103 गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 11/282
104 प्रशमरति, 31
105 वही, 18–19
106 उत्तराध्ययनसूत्र, 32/7
107 मरणसमाधि, 198 (जिनवाणी के मोती, दुलीचन्दजैन, पृ. 60 से उद्धृत)
108 उत्तराध्ययनसुत्र, 31/2
109 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 1/500
110 वही, 1/500
111 योगशास्त्र, 4/9
112 कषाय, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 15
113 स्थानांगसूत्र, 4/1/76
114 कषाय, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 23
115 स्थानांगसूत्र, 4/1/77
116 अनगारधर्मामृत, 6/19
117 कषाय, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 30
118 स्थानांगसूत्र, 4/1/78
119 योगशास्त्र, 4/18
120 स्थानांगसूत्र, 4/1/79
121 जैनविद्या (बी.ए.1), 2/83–84
122 योगशास्त्र, 1/47–56
123 आवश्यकनिर्युक्ति, 120
124 आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, अरुणसिंह, पृ. 245–246
125 वही, पृ. 246
126 वही, पृ. 247–248
127 तनावमुक्त कैसे रहें?, एम.के.गुप्ता, पृ. 44
128 आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, अरुणसिंह, पृ. 55–58
129 व्यवहारभाष्य, 1078–1086
130 वही, 1123–1125
131 वही, 1153
132 वही, 1079
133 वही, 1125–1131

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

134 नयामानव नयाविश्व, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 124
135 स्थानांगसूत्र, 10/93
136 नयचक्र, 92
137 आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, अरुणसिंह,
पृ. 138–166
138 वही, पृ. 167–173
139 ग्रन्थराजश्रीपंचाध्यायी, 1086–1087
140 मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार 3, पृ. 46–62
141 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/5/2/23
142 बृहत्कल्पभाष्य, 2690
143 ऋषिभाषित, 21/1
144 भगवतीआराधना, 759
145 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/53
146 आनन्दघन चौबीसी, 17/8
147 जीवन की मुस्कान, डॉ.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 11
148 व्यवहारभाष्य, पीठिका, 77
149 प्रबोधटीका, 1/192
150 संबोधसप्ततिका, 2
(कषाय, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 132 से उद्धृत)
151 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/58
152 वही, 14/24
153 तत्त्वज्ञानतरंगिणी, 3/3–4
154 स्थानांगसूत्र, 3/3/357
155 संबोधसित्तरी, 25 (प्राकृतसूक्तिकोश,
महो.चन्द्रप्रभसागर, पृ. 176 से उद्धृत)
156 ध्यानशतक, 103 (वही, पृ. 155 से उद्धृत)
157 श्रमणपत्रिका, जनवरी–मार्च, 1997, पृ. 13
158 समणसुत्तं, 481
159 बृहत्कल्पभाष्य, 1169
160 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 9/22
161 समयसार, 9/383–385
162 ओघनिर्युक्ति, 806
163 आनन्दघन चौबीसी, 1/6
164 श्रमणपत्रिका, जनवरी–मार्च, 1997, पृ. 12
165 आत्माज्ञानभवं दुःखं, आत्मज्ञानेन हन्यते।
अभ्यस्तं तत् तथा तेन, येनात्मा ज्ञानमयो भवेत्।।
– ज्ञानसार, रमणलाल ची. शाह, पृ. 69
166 उत्तराध्ययनसूत्र, 20/37
167 तत्त्वार्थसूत्र, 7/1
168 दशवैकालिकसूत्र, 8/37

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 8

पर्यावरण प्रबन्धन

ENVIRONMENT MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 8

पर्यावरण–प्रबन्धन

(Environment Management)

	Page No. Chap.	Cont.
8.1 पर्यावरण क्या है?	**2**	**426**
8.2 पर्यावरण का सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनिक महत्त्व	**4**	**428**
8.3 पर्यावरण की समस्याएँ एवं पर्यावरण प्रदूषण के दुष्परिणाम	**8**	**432**
8.4 पर्यावरण की समस्याओं एवं पर्यावरण प्रदूषण के मूल कारण	**20**	**444**
8.5 जैनआचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण–प्रबन्धन	**22**	**446**
8.5.1 पर्यावरण–प्रबन्धन : एक परिचय	22	446
8.5.2 जैनआचारमीमांसा में पर्यावरण–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्ष	23	447
(1) पर्यावरण–प्रबन्धन सम्बन्धी उद्देश्य बनाना	23	447
(2) अहिंसा एवं पर्यावरण–प्रबन्धन का सहसम्बन्ध	25	449
(3) षट्कायिक जीवों की जयणा एवं पर्यावरण–प्रबन्धन	26	450
(4) आत्मौपम्य दृष्टि का विकास एवं पर्यावरण–प्रबन्धन	27	451
(5) वैचारिक अहिंसा एवं पर्यावरण–प्रबन्धन	28	452
(6) विधि–निषेध रूप अहिंसा एवं पर्यावरण–प्रबन्धन	29	453
(7) परस्पर सहयोग की भावना एवं पर्यावरण–प्रबन्धन	30	454
(8) माधुकरी वृत्ति एवं पर्यावरण–प्रबन्धन	31	455
(9) हिंसा के दुष्परिणाम एवं पर्यावरण–प्रबन्धन की प्रेरणा	32	456
(10) आत्म–स्वातन्त्र्य एव पर्यावरण–प्रबन्धन	33	457
8.6 जैनआचारमीमांसा में पर्यावरण–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	**35**	**459**
8.6.1 भूमि–संरक्षण	35	459
8.6.2 जल–संरक्षण	39	463
8.6.3 अग्नि–संरक्षण	43	467
8.6.4 वायु–संरक्षण	47	471
8.6.5 वनस्पति–संरक्षण	50	474
8.6.6 त्रस जीव संरक्षण	53	477
8.7 निष्कर्ष	**58**	**482**
8.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	**60**	**484**
सन्दर्भसूची	61	485

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 8

पर्यावरण–प्रबन्धन
(Environment Management)

आधुनिक युग का बहुचर्चित शब्द है – पर्यावरण, जिसका मानव–जीवन से सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सार्वजनिक सम्बन्ध है। बिना पर्यावरण के जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः, पर्यावरण मानव–जीवन हेतु प्रकृति द्वारा प्रदत्त सर्वोत्तम उपहार है। इस पर न केवल मानव–जीवन का अस्तित्व टिका है, वरन् जीवन का विकास भी इसी के सहयोग से सम्भव है। अतएव जीवन–प्रबन्धन में पर्यावरण का विशिष्ट योगदान है।

पर्यावरण स्वतः प्रवाहशील है। वह न केवल मानव, अपितु समस्त प्राणियों को जीवन जीने के आवश्यक तत्त्व सहज ही प्रदान करता है, लेकिन मानव एक ऐसा प्राणी है, जिसने स्वार्थवश सम्पूर्ण पर्यावरण पर अपना अधिकार मान रखा है। वह इतना क्रूर हो गया है कि स्वहित के लिए पर्यावरण का अन्धाधुन्ध दोहन करने में लगा है। विडम्बना यह है कि वह पर्यावरण का ह्रास करके अपना विकास चाहता है, पर्यावरण का भक्षण करके अपना संरक्षण चाहता है और पर्यावरण का शोषण करके अपना पोषण चाहता है। वह यह भूल ही गया है कि आधार के बिना आधेय का अस्तित्व असम्भव है, परिणामस्वरूप आज पृथ्वी के अस्तित्व पर ही खतरा मंडरा रहा है। जो मानव अपने जीवन के विकास के गगनचुम्बी सपने देख रहा था, आज उसके अपने जीवन के अस्तित्व पर ही प्रश्न–चिह्न लगा हुआ है, इसीलिए मानव को चाहिए कि वह जीवन–प्रबन्धन के लिए पर्यावरण और उसकी समस्याओं को समझे, समस्याओं के तात्कालिक एवं सुदूरवर्ती दुष्परिणामों की समीक्षा करे तथा पर्यावरण–संरक्षण और संवर्द्धन के समुचित उपाय करे। इसी को पर्यावरण–प्रबन्धन कहते हैं और यह जीवन–प्रबन्धन का अत्यन्त आवश्यक पहलू है।

जैनआचारशास्त्र जितने प्राचीन हैं, उतने ही प्रामाणिक भी। ये प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि भी हैं। इनमें पर्यावरण–प्रबन्धन के अनेक सूत्र हैं, जिनके प्रयोग से पर्यावरण की समस्याओं का सहज और सरल समाधान प्राप्त हो सकता है। प्रस्तुत अध्याय का अभिधेय भी इन सूत्रों को उद्घाटित करना ही है। प्रत्येक मानव का यह नैतिक दायित्व है कि वह जीवन में इन सूत्रों का यथोचित पालन करे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8.1 पर्यावरण क्या है?

पर्यावरण शब्द 'परि' और 'आवरण' के योग से बना है। 'परि' का अर्थ है – चारों ओर से और 'आवरण' का अर्थ है – वह घेरा, जो हमें प्रभावित करता है। अतः चारों ओर व्याप्त वह परिवेश, जिससे हम घिरे हुए हैं और जो हमारी जीवनचर्या एवं कार्यप्रणाली को प्रभावित करता है, पर्यावरण कहलाता है।[1]

स्थानांगसूत्र के अनुसार, हमारे आसपास जो कुछ मौजूद हैं, वे जड़ और चेतन ही हैं,[2] अतः कहा जा सकता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, वनस्पति तथा अन्य सभी जीव एवं जड़ जगत्, जो प्राणी के जन्म एवं जीवन को प्रभावित करते हैं, पर्यावरण के अन्तर्गत आते हैं।[3]

पर्यावरण एक बहुआयामी तत्त्व है, जिसे भगवान् महावीर ने चार दृष्टियों के समुच्चय के रूप में समझाया है। ये दृष्टियाँ हैं – द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव। 'द्रव्य' के आधार पर पर्यावरण में समस्त सजीव एवं निर्जीव पदार्थों का अन्तर्भाव होता है। 'क्षेत्र' की दृष्टि से यह लोकव्यापी होने से अतिविस्तृत है। 'काल' की दृष्टि से यह सार्वकालिक होने से शाश्वत् है। इसी प्रकार, 'भाव' के आधार पर इसके आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, भौगोलिक, वैचारिक आदि अनेक पक्ष हैं। अतः कहा जा सकता है कि पर्यावरण के अन्तर्गत मात्र मनुष्य, पेड़–पौधे, जीव–जन्तु ही नहीं, अपितु अखिल ब्रह्माण्ड में अवस्थित दृश्य–अदृश्य, चर–अचर, सूक्ष्म–स्थूल, अनुकूल–प्रतिकूल आदि सभी पक्ष समाहित हैं।

यद्यपि पर्यावरण अतिव्यापक है, फिर भी संरचना के आधार पर इसके दो घटक हैं[4] –

(1) प्राकृतिक पर्यावरण (Natural Environment)

इसकी रचना में मानव की कोई भूमिका नहीं होती, यह स्वतः ही उत्पन्न होता है। हमारे चारों ओर उपस्थित पृथ्वी, जल, वायु, सूर्य, वन, पेड़–पौधे, प्राणी आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। पर्यावरणविद् डॉ. निलोसे के अनुसार, "हम पर्यावरण की परिकल्पना जीवमण्डल (Biosphere) द्वारा भी करते हैं, जिसके अन्तर्गत जलमण्डल (Hydrosphere), स्थलमण्डल (Lithosphere) एवं वायुमण्डल (Atmosphere) के जीवन युक्त भागों का समावेश होता है।"[5]

(2) मानवनिर्मित पर्यावरण (Man–made Environment)

इसकी रचना में मानव की अहम भूमिका होती है। प्राकृतिक पर्यावरण के प्रतिकूल प्रभावों से बचने एवं अनुकूल प्रभावों का लाभ लेने के लिए मानव जिन वस्तुओं का निर्माण करता है, उनका समुच्चय ही मानवनिर्मित पर्यावरण कहलाता है। इसके अन्तर्गत भवन, उद्योग, मशीनें, वाहन, घरेलु उपकरण, शृंगार–प्रसाधन, वस्त्र, रेफ्रीजरेटर, वातानुकूलित–यन्त्र, जनरेटर, टी.वी., मोबाईल, बाँध, पुल, सड़क, रेलमार्ग आदि अनेकानेक वस्तुएँ आती हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्त्तमान परिवेश में यह आवश्यक है कि हम जैनआचार का अनुपालन कर मानवनिर्मित पर्यावरण का सम्यक् प्रबन्धन करें, जिससे प्राकृतिक पर्यावरण पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को न्यूनतम किया जा सके।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8.2 पर्यावरण का सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सार्वजनिक महत्त्व

आज से लगभग अठारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य उमास्वाति ने पर्यावरण की जिन विशेषताओं को दर्शाया, उनसे पर्यावरण की महत्ता स्वतः ही प्रकट हो जाती है। ये विशेषताएँ हैं – क्रियात्मकता, गत्यात्मकता और परस्पर–आश्रितता।

(1) क्रियात्मकता[6] – पर्यावरण के प्रत्येक घटक का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य है अर्थात् कोई भी घटक ऐसा नहीं है, जो निष्क्रिय और अर्थहीन हो। चाहे वन हो या भूमि, जल हो या अग्नि, वायु हो या अन्य प्राणी, इन सभी का प्रयोजन अवश्य है। हमें चाहिए कि पर्यावरण के घटकों का समुचित मूल्यांकन कर सकें।

(2) गत्यात्मकता[7] – पर्यावरण का प्रत्येक घटक प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है। **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** अर्थात् कोई भी घटक ऐसा नहीं है, जिसमें अवस्थान्तरण नहीं हो रहा है। चाहे समुद्र हो या सरिता, पर्वत हो या समतल भूभाग (मैदान, पठार आदि), मरुस्थल हो या वनभूमि, पर्यावरण के प्रत्येक घटक में गत्यात्मकता या परिवर्त्तनशीलता है। यह विशेषता पर्यावरणीय गुणवत्ता में सुधार की सम्भावनाओं को प्रकट करती है। कैसी सुन्दर एवं सकारात्मक व्यवस्था पर आधारित है हमारा पर्यावरण! हमें चाहिए कि पर्यावरण–प्रबन्धन की प्रक्रिया के द्वारा पर्यावरणीय ह्रास की अपेक्षा विकास का प्रयास करें।

(3) परस्पर–आश्रितता[8] – पर्यावरण एवं मानव के बीच तथा पर्यावरण के विविध घटकों के बीच परस्पर–निर्भरता है – **परस्परोपग्रहो जीवानाम्**। ये तत्त्व एक–दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं, जैसे – जीवन पर पुद्गल का उपकार है। इस विशेषता के कारण से ही मानव अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्त्ति पर्यावरण के माध्यम से कर पाता है। चाहे आवास हो या आहार, प्राणवायु हो या पेयजल, औषधियाँ हो या सजावटी सामान, वाहन हो या संचार के उपकरण, इन सभी की आपूर्त्ति प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रकृति–प्रदत्त उपहारों से ही होती है। हमारा यह नैतिक कर्त्तव्य है कि यदि पर्यावरण हमारे जीवन को सुरक्षा प्रदान करता है, तो हम भी उसका संरक्षण करने का अधिकाधिक प्रयास करें।

8.2.1 प्रकृति–प्रदत्त अमूल्य उपहारों का मानव जीवन में उपकार

यह एक अद्भुत सत्य है कि पर्यावरण के रूप में सहज उपलब्ध संसाधनों का हमारे जीवन में अनुपम उपकार है। इनके बिना जीवन–अस्तित्व एवं जीवन–विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भगवान् महावीर ने इन प्राकृतिक संसाधनों को छह श्रेणियों में विभक्त किया है – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस (जीव–जन्तु)।[9] उन्होंने न केवल इनके आश्रित जीवन के अस्तित्व को, अपितु स्वयं इनमें भी जीवन सत्ता को स्वीकार किया है। इनके समुच्चय को जैन–परम्परा में **'षड्जीवनिकाय'** कहा जाता है। इनका महत्त्व इस प्रकार है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(1) पृथ्वी–संसाधन (भूमि–संसाधन) – अन्य संसाधनों की अपेक्षा भूमि का महत्त्व अतुलनीय है, क्योंकि यह वह संसाधन है, जो चिरकाल से जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं मानवसहित सभी प्राणियों की आश्रय–स्थली रही है। आर्थिक–विकास के क्षेत्रों, कृषि अथवा उद्योगों में भूमि के महत्त्व से कोई भी इंकार नहीं कर सकता। हम कल्पना कर सकते हैं कि यदि लोहे एवं इस्पात का उपयोग बन्द कर दिया जाए, तो प्रायः सभी उद्योग पंगु हो जाएँगे। भूमि में मौजूद खनिज सम्पदा आज किसी भी राष्ट्र की सम्पन्नता का प्रतीक है। यदि आर्थिकक्षेत्र में भूमि आधारित संसाधनों का अधिक महत्त्व है, तो घरेलू क्षेत्र में भी उसका महत्त्व कम नहीं है। घरों में प्रयुक्त खाद्य खनिज, जैसे – सैंधा नमक, काला नमक, सज्जी, संचोरा (क्षार) आदि, भवनोपयोगी पदार्थ, जैसे – बालू, सीमेंट बनाने का पत्थर, ग्रेनाइट, संगमरमर, लोहे की छड़ आदि तथा अन्य उपयोगी खनिज, जैसे – स्वर्ण, चाँदी, चूना (केल्शियम), ताँबा, पीतल (मिश्रित धातु), एल्युमिनियम आदि सभी का आधार भूमि ही है।[10] सचमुच, भगवान् महावीर ने पृथ्वीकायिक जीवों को अभय प्रदान करने अर्थात् पृथ्वी के संरक्षण हेतु जो निर्देश दिए हैं, वे सार्थक ही हैं।[11]

(2) जल–संसाधन – जीवन का प्राथमिक और प्रमुख आधार जल है। जल ही जीवन है, वही शरीर की समस्त जैविक क्रियाओं का उत्प्रेरक है।[12] इतना ही नहीं, जल के बिना मनुष्य तो दूर पेड़–पौधे, पशु–पक्षी, कीड़े–मकोड़े भी जीवित नहीं रह सकते। पेयजल की आपूर्त्ति न होने पर उत्पन्न होने वाले कोलाहल से कौन अपरिचित होगा। यह न केवल जीवनदायी तत्त्व है, अपितु अनेक आर्थिक क्रियाओं, जैसे – कृषि, उद्योग, विद्युत–उत्पादन, जल–परिवहन आदि का महत्त्वपूर्ण घटक है। इस प्रकार जल का अप्रतिम महत्त्व सर्वविदित है। अतः जैन–परम्परा में एक बूँद जल का भी अपव्यय नहीं करने का निर्देशन पर्यावरण–संरक्षण के लिए उपयुक्त है।

(3) अग्नि–संसाधन – इसका महत्त्व भी अनुपम है, क्योंकि इससे प्राप्त ताप एवं प्रकाश ऊर्जा (Heat and Light Energy) के विविध प्रयोग किए जाते हैं। इतना ही नहीं, ऊर्जा का रूपान्तरण करके विद्युतीय ऊर्जा (Electric Energy), चुम्बकीय ऊर्जा (Magnetic Energy) आदि की प्राप्ति भी हो जाती है, जिसका प्रयोग उद्योग–धंधों, कृषि, परिवहन, संचार, मनोरंजन आदि में किया जाता है। जैन–परम्परा में अग्नि का विशिष्ट महत्त्व स्वीकार करते हुए अग्नि–स्रोतों का प्रयोग करने के लिए साधु को सर्वथा एवं गृहस्थ को अंशतः निषेध किया गया है, जो आज भी अनुकरणीय है।[13]

(4) वायु–संसाधन – वायु वह संसाधन है, जिसके बिना मानवसहित अनेकानेक प्राणियों का क्षण भर भी जीवन नहीं चल सकता, इसीलिए श्वास लेने पर वायु में से शोषित ऑक्सीजन, जो रक्त को शुद्ध करती है, को 'प्राणवायु' भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त, ओजोन परत भी वायु का ही उपकार है, जो छतरीनुमा आकार में सुरक्षा–कवच बनकर ब्रह्माण्ड एवं सूर्य से आने वाली हानिकारक पराबैंगनी (Ultra Violet Rays), गामा तथा एक्स किरणों तथा ब्रह्माण्डीय किरणों को पृथ्वी सतह पर आने से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रोकती है, क्योंकि ये किरणें पेड़–पौधों, पशु–पक्षी के साथ मानव को भी हानि पहुँचाती है। यह मानव में त्वचीय कैंसर, मोतियाबिन्द आदि रोगों की उत्पत्ति भी कर देती है।

वायुमण्डल में विद्यमान विविध गैसों के भी अपने–अपने विशिष्ट उपकार हैं, जैसे – प्राकृतिक कार्बन–डाई–ऑक्साइड गैस जो पृथ्वी से परावर्त्तित अवरक्त विकिरणों (Infra Red Rays) को अवशोषित कर पृथ्वी पर आवश्यक तापमान को बनाए रखने में सहायक है। वाणी–संप्रेषण के लिए ध्वनि तरंगों के संप्रसारण में भी वायु सहायक है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जैनशास्त्रों में वायु–संरक्षण के लिए धूम्रोत्पादक कार्यों एवं अधिक वाणी–विलास (वाचालता) से बचने के लिए जो निर्देश दिए गए हैं, वे आवश्यक हैं।[14]

(5) वनस्पति और वन संसाधन[15] – वनस्पति एकमात्र संसाधन है, जो कार्बन–डाई–ऑक्साइड को अवशोषित कर मानवसहित अन्य जीवों को ऑक्सीजन प्रदान करती है। यह वनस्पति न केवल स्थल पर, अपितु सागर में भी पाई जाती है। अनुमानतः एक स्वस्थ वृक्ष लगभग छत्तीस व्यक्तियों को प्राणवायु देता है।[16] आश्चर्यजनक है कि एक हेक्टेयर में लगा वन, बीस कारों द्वारा उत्पन्न कार्बन–डाई–ऑक्साइड (CO_2) गैस एवं धुआँ अवशोषित करता है।[17] ध्वनि–प्रदूषण को कम करने में भी वनस्पति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। 93 घन मी. में लगा वन आठ डेसीबल ध्वनि–प्रदूषण दूर करता है।[18] वनस्पति यह गर्मी में शीतलता और ठण्ड में उष्मा प्रदान करने वाला प्राकृतिक वातानुकूलक (A.C.) है। 20 घण्टे लगातार चलने वाले पाँच वातानुकूलक–यन्त्र (A.C.) जितनी शीतलता प्रदान करते हैं, उतनी एक वृक्ष देता है।[19] वनस्पति न केवल वर्षा होने में सहायक है, अपितु बाढ़–प्रकोप को कम करने में भी सहायक है। ये मिट्टी की नमी को संचित रख कर मृदा–क्षरण (Soil erosion) को रोकती है। आज भी वनोत्पादों, जैसे – लकड़ी, कोयला, गोंद, जड़ी–बुटियाँ, रबर, चारा आदि से हम घरेलु एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं। वन ही असंख्य जीव–जन्तु, पशु–पक्षियों, आदिवासी प्रजातियों के निवास हैं। वनस्पति के व्यापक महत्त्व के आधार पर ही जैनाचार्यों ने बिना प्रयोजन के पत्ती तोड़ना तो दूर, उसे स्पर्श करने का भी निषेध किया है। ये वन ही हैं, जो प्राचीन काल से ही हमारी संस्कृति के पुरोधा हैं। यहाँ साधना करते हुए हमारे जैनाचार्यों ने विश्व–पर्यावरण के संरक्षण के जिन सार्वभौमिक सिद्धान्तों की स्थापना की, वे आज भी पूर्ण प्रासंगिक हैं।

(6) त्रसजीव–संसाधन[20] – प्रकृति द्वारा प्रदत्त उपहारों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति से अधिक विकसित हैं – त्रस अर्थात् गतिशील जीव–जन्तु। यदि त्रसजीव समाप्त हो जाएँ, तो पर्यावरणीय सन्तुलन ही भंग हो जाएगा। मानव को पृथ्वी आदि पूर्वोक्त पाँचों संसाधनों का दोहन करने में इन त्रस जीवों का विशिष्ट सहयोग मिलता है। आज भी गाय, भैंस, ऊँट, घोड़े, हाथी, गधे, बकरी आदि की सेवाएँ ली जाती हैं तथा इनके उत्पादों का प्रयोग किया जाता है। चील और कौएँ कुशल परिमार्जक के रूप में उपयोगी हैं। चिड़िया, मधुमक्खी, पशु आदि बीजों के वितरण (फैलाने) में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सहायक हैं। अपशिष्ट पदार्थों का अपघटन विशिष्ट जीवाणु (Bacteria) करते हैं। केंचुएँ तो मिट्टी को उर्वरक बनाने में विशिष्ट योगदान देते हैं। वैसे केंचुओं को प्राकृतिक ट्रेक्टर, खाद कारखाना और बाँध तीनों कहा जाता है।

मानव भी एक त्रसजीव है। किसी मानव के जीवन–अस्तित्व और जीवन–विकास में मानवीय पर्यावरण की अहम भूमिका होती है। मानव को मानव से ही जीवन के सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक आदि पक्षों में उन्नति की अभिप्रेरणा, निर्देश और सहकारिता मिलती है, इसीलिए मानव समाज एवं परिवार में जीने को प्राथमिकता देता रहा है।

भगवान् महावीर ने विकास–सोपान पर आरूढ़ इन त्रस जीवों की हिंसा न करने का स्पष्ट निर्देश दिया है।[21] जैन–परम्परा में एक चींटी की भी हिंसा नहीं करने की शुभ प्रेरणा दी जाती है, जो त्रस जीवों के वैविध्य का संरक्षण करने के लिए तत्पर जैनाचार्यों की सजगता का उदाहरण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8.3 पर्यावरण की समस्याएँ एवं पर्यावरण प्रदूषण के दुष्परिणाम

मनुष्य की यह मौलिक विशेषता है कि वह पर्यावरणीय संसाधनों का अधिकाधिक उपयोग करने में सर्वाधिक समर्थ है। औद्योगिक एवं तकनीकी विकास के इस युग में वह अपनी क्षमताओं का मनमाना प्रयोग कर रहा है। उसने लाखों–करोड़ों वर्षों से संचित एवं संरक्षित संसाधनों के शोषण एवं प्रदूषण में आज कोई कसर बाकी नहीं रखी है, परन्तु इसका दुष्परिणाम यह है कि पर्यावरण–सन्तुलन भंग हो रहा है और स्थिति इतनी भयावह होती जा रही है कि मानव के अस्तित्व पर ही खतरा मंडरा रहा है। भगवान् महावीर का यह सिद्धान्त विशेष स्मरणीय है – **'सव्वेसिं जीवियं पियं, नाइवाएज्ज कंचणं'** अर्थात् 'हे मानव! जीवन सभी को प्रिय है, अतः किसी के जीवन को मत छीनो।'[22] इस सिद्धान्त में एक गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है – '**जीववहो अप्पवहो**' अर्थात् दूसरों की हिंसा अपनी हिंसा का कारण है।[23] अध्ययन द्वारा यह पाया गया है कि विगत पाँच हजार वर्षों में पृथ्वी पर मात्र तीन सौ वर्ष ही ऐसे रहे, जब पूर्ण शान्ति रही। शेष वर्षों में पृथ्वी के किसी न किसी भाग में संघर्ष, लड़ाई या युद्ध होते रहे। निश्चित ही हमारा अतीत गरिमामय नही रहा।[24] आज भी यही स्थिति निर्मित हो रही है कि मानव सर्वनाश करके स्वनाश की तैयारी में जुटा हुआ है अर्थात् अपने ही पाँव पर कुल्हाड़ी मारने की भूल कर रहा है।

आइए, इक्कीसवीं शताब्दी के सम्भावित खतरों पर एक दृष्टि डालें –

★ **जल–संकट** – वर्त्तमान में बोतलबन्द जल के व्यवसाय में विश्व के करीब 30 देश संलग्न हैं, जिनसे प्रतिवर्ष 13 लाख करोड़ रूपए का व्यवसाय हो रहा है।[25] यदि दुनिया जानकर भी अनजान रही, तो इस शताब्दी में पेयजल संकट को लेकर मारकाट मचेगी, अन्तर्राज्यीय जलविवाद बढ़ेंगे, सन् 2050 तक 60 देशों की 7 अरब जनता भीषण जल–संकट से जूझेगी और अन्त में विश्वयुद्ध का कारण भी जल ही बनेगा।[26]

★ **वनों की कटाई** – जहाँ अतीत में भारत का 80% भूभाग वनाच्छादित था, वहीं वर्त्तमान में वनों की तीव्र कटाई होने से 1987–89 में वह मात्र 19.5% रह गया था, लेकिन हाल ही में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रस्तुत उपग्रह–चित्रों के अनुसार, अब केवल 8% भू–भाग ही वनाच्छादित है।[27] आज भी वन–विनाश की गति 15 लाख हैक्टेयर प्रतिवर्ष है।[28] यदि यही सिलसिला जारी रहा, तो मौजूद वनों के 4–8% क्षेत्र सन् 2020 तक एवं 17–35% क्षेत्र सन् 2040 तक नष्ट हो जाएँगे। सन् 2040 तक 20 से 75 दुर्लभ वन प्रजातियाँ भी क्रमशः नष्ट होने लगेंगी।[29]

★ **जलाऊ लकड़ी की माँग** – पर्यावरण और वन मंत्रालय के अनुसार, शताब्दी अन्त तक देश में प्रतिवर्ष 33 करोड़ टन लकड़ी के ईन्धन की जरुरत होगी, जिसे वर्त्तमान वन्य स्थिति को देखते हुए किसी भी प्रकार से पूरा नहीं किया जा सकता। आज देश की बहुत बड़ी आबादी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लकड़ी के ईन्धन पर ही निर्भर रहती है।[30]

★ **भूमि का बंजर होना** – संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार, वन–विनाश के कारण दुनिया की 25% भूमि रेगिस्तान में परिवर्तित हो चुकी है।[31]

★ **भू–क्षरण** – दुनिया में मिट्टी की ऊपरी परत करीब 2600 करोड़ टन है, जो बरसात में जलधाराओं के कटाव (Erosion) आ जाने के कारण निरन्तर समुद्र में समा रही है। भारत में प्रति मिनट पाँच हैक्टेयर भूमि का क्षरण हो रहा है। प्रत्येक बरसात में एक हैक्टेयर भूमि में से 16.35 टन भूमि बह जाती है। यदि इस दशा में सुधार नहीं किया गया, तो अगले 20 सालों में एक तिहाई कृषि–योग्य भूमि नष्ट हो जाने की आशंका है।[32] याद रहे एक इंच मिट्टी की परत बनने में एक हजार वर्ष लगते हैं।

★ **जलवायु–परिवर्त्तन** – संयुक्त राष्ट्र संघ की जलवायु परिवर्त्तन सम्बन्धी सरकारी पेनल ने अपनी वार्षिक–रिपोर्ट में सख्त चेतावनी दी है कि 'सारी दुनिया में हिमालय के ग्लेशियर सबसे तेजी से पिघल रहे हैं और अगर यही गति जारी रही, तो सन् 2035 या शायद और पहले ये विलुप्त भी हो सकते हैं'।[33]

★ **जनसंख्या–वृद्धि** – भारत की जनसंख्या सन् 2000 में 100 करोड़ तक पहुँच गई, जो विश्व की जनसंख्या का लगभग 16 प्रतिशत है। पिछले सौ वर्षों में जहाँ विश्व की जनसंख्या 2 अरब से 6 अरब अर्थात् 3 गुणा हुई, वहीं भारत की जनसंख्या 23 करोड़ से 1 अरब अर्थात् लगभग 5 गुणा हो गई। भारत की जनसंख्या सन् 2011 में लगभग 121 करोड़ हो चुकी है और अनुमान है कि यह सन् 2016 में 126.30 करोड़ तक पहुँच जाएगी। सन् 2045 तक भारत की जनसंख्या विश्व में सबसे अधिक होगी।[34] यदि समय रहते बढ़ती जनसंख्या पर रोक नही लगी, तो इसके भयावह दुष्परिणाम आने वाली पीढ़ी को भुगतने पड़ सकते हैं।

★ **जैव विविधता को खतरा** – संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि पूरी दुनिया में जीवों की लगभग 30 लाख प्रजातियों में से लगभग दस हजार प्रजातियाँ विलुप्त हो चुकी हैं या विलुप्त होने की कगार पर हैं।[35]

★ **खाद्यान्न–संकट** – सन् 2001–02 में भारत की जनसंख्या लगभग 102 करोड़ थी, जो बढ़कर सन् 2020 में 136 करोड़ हो जाएगी। इतनी आबादी के पोषण के लिए लगभग 375 मिलियन टन खाद्यान्न एवं लगभग 225 टन सब्जी उत्पादन की जरुरत होगी, जो वर्त्तमान में क्रमशः 212. 85 एवं 88.62 मिलियन टन ही उत्पन्न होते हैं। खाद्यान्न उत्पादन का पिछला रिकार्ड देखने पर यह ज्ञात होता है कि जनसंख्या में वृद्धि होने से खाद्यान्न की आवश्यकता निरन्तर बढ़ रही है, लेकिन खाद्य–उत्पादन–वृद्धि दर सन् 1990–91 के बाद से घट रही है, जो आगामी खाद्य–संकट का प्रतीक है, अतः स्थिति चिन्तनीय है।[36]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ **अस्त्रों की होड़** – संयुक्तराष्ट्रसंघ के विशेषज्ञों का मानना है कि विश्व में प्रति मिनिट 20 लाख डॉलर (लगभग दस करोड़ रूपये) हथियारों पर खर्च हो रहे हैं। विकसित राष्ट्र मोटे तौर पर अस्त्रों पर उतना ही व्यय कर रहे हैं, जितना नागरिकों के स्वास्थ्य और सार्वजनिक शिक्षा पर, जबकि विकासशील देश स्वास्थ्य की देखभाल की अपेक्षा हथियारों पर 30 गुणा अधिक खर्च कर रहे हैं। रक्षा–विशेषज्ञों का मानना है कि शस्त्रों की होड़ आधी मानवता को नष्ट कर रही है अर्थात् हथियारों पर होने वाले खर्च से धरती पर रहने वाले हर दूसरे व्यक्ति की सहायता की जा सकती है।[37]

★ **कार्बन–डाई–ऑक्साइड की बढ़ती मात्रा** – कार्बन–डाई–ऑक्साइड (CO_2) का विश्व में प्रतिवर्ष उत्पादन, जो सन् 1948 में 559 करोड़ टन और सन् 1980 में 2010 करोड़ टन था, उससे बढ़कर सन् 2025 तक 17,900 करोड़ टन होने की सम्भावना है। हवाई में स्थित 'मौन–लाओ वेधशाला' के वैज्ञानिकों का मानना है कि सन् 2040 तक CO_2 का जमाव आज से दो गुणा हो जाएगा। चूँकि CO_2 ही वैश्विक ताप–वृद्धि का कारण है, अतः यह आगामी संकट का संकेत है।[38]

★ **विश्व तापवृद्धि** – विगत शताब्दी में दुनिया का तापमान लगभग 0.6° से 0.7°C तक बढ़ा है। वैज्ञानिकों का मानना है कि यह आगे भी बढ़ता रहेगा। अनुमान है कि सन् 2100 तक वह 5° से 7°C तक बढ़ जाएगा। तापमान की निरन्तर तीव्र–वृद्धि भावी के तीव्र संकटों की परिचायिका है।[39]

★ **ओजोन परत में छिद्र** – क्लोरो–फ्लोरो कार्बन गैसों (CFC) के कारण हमारी जीवन–रक्षिका ओजोन–परत में छिद्र होता जा रहा है, जिससे हानिकारक पराबैंगनी तथा ब्रह्माण्डीय किरणें पृथ्वी पर पहुँच रही हैं। वर्त्तमान में यह ओजोन छिद्र आस्ट्रेलिया के आकार का हो चुका है।[40]

★ **अपशिष्ट पदार्थ** – शहरी विकास मंत्रालय के आंकड़ों पर गौर करें, तो एक लाख से अधिक आबादी वाले 5100 से अधिक भारतीय कस्बे मिलकर प्रतिदिन एक लाख पंद्रह हजार टन ठोस अपशिष्ट (Solid Wastage) पैदा करते हैं। केंद्रीय प्रदूषण–नियन्त्रण बोर्ड के अनुसार, नगरनिकाएँ अपने सीमित संसाधनों एवं समस्या के प्रति उत्तरदायित्व के अभाव के कारण प्रतिदिन पैदा हो रहे कचरे का 10 से 40% हिस्सा उठाने में भी असमर्थ रहती है।[41] यह तथ्य इस बात को दर्शाता है कि हम पर्यावरणीय समस्याओं के प्रति कितने जागरूक हैं।

इस प्रकार, वर्त्तमान में चयनित कतिपय सांख्यकीय प्रस्तुतियों के माध्यम से पर्यावरण की अतिभयावह एवं अतिविचारणीय स्थिति की एक झलक हमारे सामने आती है। प्राचीन धर्मदर्शनों विशेषतः **जैनदर्शन की शिक्षाओं की उपेक्षा का परिणाम आज पर्यावरणीय समस्याओं के रूप में उभर रहा है।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर्यावरण की ज्वलन्त समस्याओं से अवगत होने के पश्चात् इसके विविध घटकों– भूमि, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस जीवों में उत्पन्न हो रही समस्याओं के कारणों एवं दुष्प्रभावों की सिलसिलेवार चर्चा आगे की जा रही है –

8.3.1 भूमि–प्रदूषण (Land or Soil Pollution)

जैनआचारशास्त्रों में भूमि के उन अर्थहीन प्रयोगों का निषेध किया गया है, जिनसे भूमि की गुणवत्ता को क्षति पहुँचती है, लेकिन वर्त्तमान में नानाविध रासायनिक पदार्थों, जैसे – खाद, कीटनाशक, अपशिष्ट पदार्थ आदि को भूमि में डालकर उसे विकृत किया जा रहा है।

परिणामस्वरूप पेड़–पौधों एवं फसलों का उत्पादन प्रभावित हो रहा है। धीरे–धीरे भूमि बंजर हो रही है, जिससे खाद्यान्न संकट बढ़ रहा है। हरी वनस्पति के अभाव में वर्षा प्रभावित हो रही है, जिससे जल संकट भी बढ़ रहा है। भूमि में नमी कम होती जा रही है, जिससे भूमि–क्षरण भी तेजी से हो रहा है। इसका अतिरिक्त प्रभाव मनुष्यसहित उन असंख्य कीड़े–मकोड़ों, जीव–जन्तुओं पर भी आ रहा है, जो कुपोषण का शिकार होकर नष्ट होते जा रहे हैं। अतः जैन सिद्धान्तों का अनुपालन कर भूमि का मर्यादित प्रयोग करना आज की ज्वलन्त आवश्यकता है।

जैनशास्त्रों में खनन व्यापार (फोडी कार्य) का निषेध किया गया है,[42] किन्तु इन दिनों धड़ल्ले से खनन क्रिया करके खनिजों का अतिदोहन किया जा रहा है। इससे भूमि की ऊपरी उपजाऊ परत नष्ट हो रही है, सैकड़ों–हजारों वृक्षों को काटा जा रहा है (वनकर्म) और बड़े–बड़े गड्ढों का निर्माण हो रहा है। इसके अतिरिक्त मजदूरों के रहवास, स्थानीय निवासियों के पुनःस्थापन एवं मलबे के ढेर के लिए आसपास की भूमि प्रदूषित की जा रही है। इतना ही नहीं, खनन क्रिया से भूगर्भ में विद्यमान हानिकारक तत्त्व भी भूतल पर आ रहे हैं, जो जल–प्रदूषण और वायु–प्रदूषण फैला रहे हैं। इन सबके परिणामस्वरूप मानव के लिए खाद्यान्न–आपूर्त्ति एवं जल–आपूर्त्ति दिनोंदिन मुश्किल हो रही है एवं अस्वास्थ्यप्रद परिस्थितियाँ निर्मित हो रही हैं। यहाँ जैनआचार का परिपालन करके जीने की अनिवार्य आवश्यकता अपेक्षित है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।

8.3.2 जल–प्रदूषण (Water Pollution)

जैन–परम्परा में जल का न्यूनतम उपयोग करते हुए जीवन–यापन करने की प्रेरणा देने के बावजूद भी आज दुनिया में जल का अपव्यय एवं प्रदूषण बढ़ता ही जा रहा है। आर्थिक लोभ की तीव्र लालसा एवं उपभोक्तावादी दृष्टिकोण की प्रमुखता से यह जलीय संकट उत्पन्न हुआ है। मानव की अनियन्त्रित गतिविधियों के कारण बर्फीले पहाड़ एवं ग्लेशियर घट रहे हैं, नदियों का पानी घरेलू औद्योगिक अपशिष्टों अथवा कीटनाशक दवाइयों से युक्त होकर मलिन हो रहा है, समुद्र का खारा पानी विषाक्त हो रहा है, भूमिगत जल का स्तर घट रहा है, उधर आकाश से अम्लीय वर्षा भी हो रही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनका प्रभाव आमजीवन में स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। आज स्नान आदि तो दूर, पीने के लिए भी शुद्ध पानी नहीं मिल रहा है। महात्मा गाँधी की स्वतन्त्र भारत में यह कल्पना थी कि सभी नागरिकों का प्राकृतिक संसाधनों पर समान अधिकार हो,[43] लेकिन अब पानी भी बिकने लगा है। इतना ही नहीं, प्रदूषित जल को पीने से कई बीमारियाँ, जैसे – हैजा, दस्त, पीलिया, टायफॉइड, चर्म–रोग आदि उत्पन्न हो रही हैं। प्रतिवर्ष असंख्य पेड़–पौधे, पशु–पक्षी ही नहीं, अपितु गरीब मनुष्य भी अकाल मृत्यु के शिकार हो रहे हैं। आश्चर्य है कि पिछले 60 सालों में जल को लेकर हिंसा के 37 बड़े मामले भी हुए हैं।[44]

इन सबसे यह निष्कर्ष निकालना आसान है कि यदि जल–संरक्षण करना है, तो जैनआचार को हास्योचित नहीं, व्यवहारोचित बनाना होगा। जैनाचार पर आधारित जल–संरक्षण के बिन्दुओं पर विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।

8.3.3 अग्नि–प्रदूषण (Fire and Light Pollution)

जैन–परम्परा में गृहस्थ उपासक को अग्नि का प्रयोग अल्पातिअल्प करने का उपदेश दिया जाता है, लेकिन आजकल अग्नि का प्रयोग बढ़ता ही जा रहा है। रात्रिकालीन प्रकाश–व्यवस्था, विद्युत् चालित उपकरणों, औद्योगिक भट्टियों, वाहनों, रसोईघर के चूल्हों आदि में अग्नि का प्रयोग बहुलता से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में होता है। इनसे अग्नि–प्रदूषण होता है। वस्तुतः, नैसर्गिक रूप से मौजूद ताप, प्रकाश आदि में अग्निजन्य कृत्रिम परिवर्त्तन ही अग्नि–प्रदूषण है।

कोयला, पेट्रोलियम पदार्थ, प्राकृतिक गैस आदि से प्रज्ज्वलित अग्नि से न केवल तपन बढ़ता है, अपितु उत्सर्जित कार्बन–डाई–ऑक्साइड, कार्बन–मोनो–ऑक्साइड, सल्फर–डाई–ऑक्साइड आदि से वायु–प्रदूषण भी बढ़ता है, जिससे मानव के स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव आता है। सभी जानते हैं कि सिगरेट–बीड़ी के धुएँ से श्वास सम्बन्धी अनेक बीमारियाँ हो जाती हैं। इतना ही नहीं, अग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर कई कीट, पतंगे, तितलियाँ आदि भ्रमित होकर मर जाती हैं।[45] वाहन से निकलने वाला धुआँ भी स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक होता है। रात्रिकालीन प्रकाश व्यवस्था के दुष्परिणाम भी सामने आ रहे हैं, दुनिया की दो–तिहाई आबादी तो सही ढंग से आकाशगंगा भी नहीं देख पा रही है।[46] जर्मनी में सन् 2003 में एक शोध–अध्ययन में बताया गया कि एक स्ट्रीट लाइट से एक रात में औसतन 150 कीट मर जाते हैं।[47] इससे कुल मिलाकर पारिस्थितिक अस्थिरता ही उत्पन्न होती है, जो अवांछनीय है। अतः जैन–सिद्धान्तों का अनुकरण कर अग्नि के विविधरूपों के उपयोगों को सीमित करने की आज अनिवार्य आवश्यकता है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।

8.3.4 वायु–प्रदूषण (Air Pollution)

जैन–परम्परा में वायु को प्रदूषित करने वाले प्रयोगों का स्पष्ट निषेध किया गया है, किन्तु दुनिया में इन दिनों वायु–प्रदूषण को खूब बढ़ावा मिल रहा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवाश्म–ईन्धन को जलाने, कृषि में प्रयुक्त कीटनाशक का छिड़काव करने, पेंट या वार्निश आदि का प्रयोग करने, रेडियोधर्मी विकिरण पैदा करने वाले यूरेनियम आदि का प्रयोग करने, अपशिष्ट पदार्थों का समुचित निस्तार न करने, वृक्षों को नष्ट करने एवं व्यक्तिगत आदतों, जैसे – धूम्रपान, इत्र, विलेपन आदि के कारण से आज वायु–प्रदूषण की समस्या पूरे विश्व की एक विकराल समस्या बनती जा रही है।[48]

वायु–प्रदूषण मानव, कीट, वनस्पति एवं अन्य प्राणियों को प्रभावित करता है। इसके परिणामस्वरूप वायुमण्डल में धुँध–निर्माण (Smog), अम्ल–वर्षा (Acid rain), ओजोन छिद्र (Ozone hole) और वैश्विक–तपन (Global Warming) जैसी घटनाएँ पैदा हो रही हैं, जो जलवायु एवं मौसम को प्रभावित कर सम्पूर्ण सृष्टि के लिए खतरा बन चुकी हैं।

जैनाचार्यों की जीवनोपयोगी शिक्षाओं की उपेक्षा कर वायु रूप प्राकृतिक उपहार को प्राणवायु नहीं, बल्कि प्राणघातक वायु बनाने का जो दुस्साहस किया जा रहा है, उससे निम्नलिखित समस्याएँ उभर रही हैं –

(1) धुँध (Smog)[49] – धुएँ (कार्बन, राख, तेल के कणों का मिश्रण) एवं कोहरे के संयोग से धुँध बनता है। इस धुँध का प्रभाव देखने की क्षमता पर पड़ता है। अनेक दुर्घटनाएँ भी इससे होती हैं। इससे दमा, ब्रोंकाइटिस जैसे श्वसन रोग उत्पन्न होते हैं। फसलों का उत्पादन भी गम्भीर रूप से प्रभावित होता है।

(2) अम्ल–वर्षा (Acid rain)[50] – वाहनों एवं विद्युत तापगृहों की चिमनियों से निकले धुएँ में मौजूद नाइट्रोजन–ऑक्साइड तथा उद्योगों की चिमनियों से निकले कोयले के धुएँ में मौजूद सल्फर–डाई–ऑक्साइड जैसी गैसें वाष्पकणों के साथ क्रिया कर, जल के साथ अम्ल–वर्षा के रूप में बरसती हैं। वर्षा में अम्लता होने से जल का pH मूल्य (Value), जो सामान्यतः 5.65 (प्राकृतिक CO_2 मिश्रित जल) होना चाहिए, से कम हो जाता है। कभी–कभी यह वर्षा नींबू के रस के समान अम्लीय होती है।

अम्ल–वर्षा का जमीन, पौधों, भवनों के साथ जलचरों एवं मानवों पर भी हानिकारक प्रभाव पड़ता है। यह मृदा की उर्वरकता को कम कर उसे विषैली बना देती है। पेड़–पौधों में प्रकाश–संश्लेषण की प्रक्रिया मन्द कर देती है, जिससे पत्तियाँ सूखने लगती हैं और पौधों की अभिवृद्धि रुक जाती है। अम्ल–वर्षा से ऐतिहासिक इमारतों में भी छिद्र हो जाते हैं एवं संगमरमर की चमक में कमी आ जाती है। उल्लेखनीय है कि मथुरा के तेल कारखानों (Oil Refinaries) के कारण आगरा के ताजमहल की परत पर छोटे–छोटे छिद्र हो रहें हैं। अम्ल वर्षा से जलीय जीवों का जीवन भी प्रभावित होता है। नार्वे में पाँच हजार (5000) तालाबों में से 1750 में और स्वीडन में एक लाख (100000) तालाबों में से 20,000 तालाबों में मछलियाँ समाप्त हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त पेय–जल के प्रदूषित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होने से मानव–स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है। जैनाचार्यों ने धूम्रोत्पादक व्यवसायों का जो निषेध किया है, उसकी सार्थकता वर्त्तमान में आसानी से समझी जा सकती है।

(3) ओजोन परत क्षयीकरण (Ozone layer depletion)[51] – वायुमण्डल में नाइट्रिक–ऑक्साइड और क्लोरो–फ्लोरो कार्बन (CFC) जैसी प्रदूषक गैसों की उपस्थिति से सूर्य की हानिकारक पराबैंगनी किरणों से रक्षा करने वाली ओजोन परत में छेद हो गया है। सामान्यतया इन गैसों की उत्पत्ति रेफ्रीजरेटर, वातानुकूलक (A.C.), प्लास्टिक, फार्मेसी, परफ्यूम, फोम, इलेक्ट्रॉनिक्स आदि उद्योगों में होता है। साथ ही परमाणु विस्फोटों से निकली गैसें, परमाणु केन्द्रों से उत्सर्जित विकिरणें, सुपरसॉनिक विमान के धुएँ से निकली नाइट्रोजन–ऑक्साइड इत्यादि भी ओजोन परत के क्षय के लिए जिम्मेदार हैं। अतः जैनाचार्यों ने मर्यादित भोगोपभोग करने का जो निर्देश दिया है, वह अर्थपूर्ण है।

ओजोन क्षरण के परिणामस्वरूप लाल धब्बे, त्वचा कैंसर और मोतियाबिन्द आदि रोग होते हैं। अनुमान है कि एक प्रतिशत ओजोन परत कम होने पर एक लाख लोगों को मोतियाबिन्द होने की सम्भावना निर्मित हो जाती है।[52] मनुष्य के अतिरिक्त पेड़–पौधों और जन्तुओं पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़ता है।

(4) वैश्विक तपन (Global Warming) – यह भी विश्व की ज्वलन्त पर्यावरणीय समस्या है, जिससे पृथ्वी की सतह के औसत तापमान में निरन्तर अभिवृद्धि हो रही है। मानव–निर्मित गैसों, जैसे CO_2, CFC, मिथेन, ओजोन, नाइट्रस ऑक्साइड आदि के द्वारा पृथ्वी से परावर्त्तित (Reflected) होने वाली दीर्घतरंगी अवरक्त किरणों (Long wavelength Infra red rays) को रोकने से पृथ्वी की उष्मा कैद हो जाती है, इससे पृथ्वी की सतह का तापमान बढ़ता जाता है।[53]

वैश्विक–तपन के परिणामस्वरूप जलवायु और मौसम–चक्र में तो परिवर्त्तन आ ही रहा है, समुद्री जल–स्तर में भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। सन् 2100 तक 60 से.मी. से अधिक वृद्धि की आशंका है।[54] इससे मालदीव जैसे कई तटीय क्षेत्र डूब जाएँगे। इतना ही नहीं, ग्लेशियरों के पिघलने से बाढ़ की आवृत्ति भी बढ़ेगी। कुल मिलाकर, 'महाप्रलय' और 'हिमयुग' के आने की सम्भावना है।[55] यह सोचनीय तथ्य है कि प्राच्य धर्म–दर्शनों, जैसे – जैनदर्शन की शिक्षाओं की उपेक्षा करके मानव विकास के बजाय विनाश के मार्ग पर तीव्र गति से बढ़ रहा है।

(5) मानव स्वास्थ्य[56] – वायु–प्रदूषण मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है। यह मुख्य रूप से श्वसन–तन्त्र को प्रभावित करता है, जिससे दमा, गला–दर्द, निमोनिया, ब्रोंकाइटिस, फुफ्फुस का कैंसर आदि रोग हो जाते हैं। वाहन से निकले धुएँ में उपस्थित सीसा (Lead) शरीर में पहुँचकर यकृत (Liver) तथा गुर्दों (Kidneys) को क्षति पहुँचाता है एवं बच्चों में मस्तिष्क–विकार आदि प्रभाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिखाता है। SO_2 एवं NO_2 की अधिकता को कैंसर, हृदयरोग, मधुमेह इत्यादि के लिए उत्तरदायी माना जाता है। कार्बन–मोनो–ऑक्साइड के अधिक सेवन से मृत्यु तक भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त वायु–प्रदूषण के कुछ सामान्य प्रभाव भी हैं, जैसे – आँखों में जलन, सिर–दर्द, सिर चकराना, खाँसी, जुकाम इत्यादि। धर्म–कल्पद्रुम में बाह्य–पर्यावरण से प्रभावित होने वाले शरीर के स्वभाव के सन्दर्भ में कहा गया है – **'इदं शरीरं बहुरोगमन्दिरम्'** अर्थात् यह शरीर अनेकानेक रोगों से परिपूर्ण है, अतः खान–पान का और आचार–व्यवहार का सदैव ध्यान रखें।[57] यह भी कहा गया है कि **'न शरीरं पुनः पुनः'** अर्थात् मानव–शरीर की प्राप्ति बार–बार नहीं होती, अतः इसका अधिक से अधिक सुन्दर उपयोग करो।[58] इस प्रकार, हमें चाहिए कि हम वायु–प्रदूषण से मुक्ति के उपायों का पालन करें, जिससे स्वास्थ्य संरक्षण हो सके, यही जैनाचार्यों के उपदेशों का आशय है।

(6) कीटों एवं अन्य जीवों पर प्रभाव[59] – वायु–प्रदूषण से कुछ कीट विशेषतः मधुमक्खी एवं शलभ तथा अनेक कीटभक्षी, स्तनपोषी आदि बड़ी संख्या में मरते देखे जाते हैं। आधुनिक उपकरणों, जैसे – All out आदि का मच्छरों पर प्रभाव इसका सूचक है। इससे कई जीवों के श्वसन–तन्त्र भी प्रभावित होते हैं। अनेक पशुओं की हड्डियों तथा दाँतों में फ्लुओरोसिस (Fluorosis) हो जाता है। पशुओं का वजन घट जाता है तथा उनमें लंगड़ापन आ जाता है।

(7) वनस्पति पर प्रभाव – वायु–प्रदूषण के कारण वनस्पति को सूर्य से मिलने वाले प्रकाश की मात्रा में कमी आ जाती है। इससे प्रकाश–संश्लेषण (Photosynthesis) मन्द हो जाता है। पत्तियों पर एकत्रित प्रदूषक पदार्थ पर्णरन्ध्रों को अवरुद्ध कर देते हैं, जिससे वाष्पोत्सर्जन की प्रक्रिया मन्द पड़ जाती है। इज़राइल देश द्वारा वायु–प्रदूषण का अध्ययन करने पर यह चौंकाने वाला तथ्य सामने आया है कि आकाशीय धुँध के कारण कृषि उत्पादन में बीस प्रतिशत की कमी आई है।

इस सन्दर्भ में भी हमें जैन शिक्षाओं के अनुपालन की आवश्यकता है।

(8) रेडियोधर्मी प्रभाव[60] – परमाणु–संयन्त्रों, परमाणु बम–विस्फोटों एवं अन्य चिकित्सकीय कारणों से वातावरण में रेडियोधर्मी विकिरणें (अल्फा, बीटा एवं गामा) प्रसरित होती हैं, जो शरीर में जाकर अनेक रोग, जैसे – रक्त कैंसर (Leukemia), हड्डी कैंसर (Bone cancer) आदि उत्पन्न करते हैं। इतना ही नहीं, डी.एन.ए. में पहुँचकर आनुवांशिक परिवर्त्तन तक कर देते हैं।

इनके घातक प्रभावों से बचने के लिए भी जैनाचार के सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी हैं।

(9) ध्वनि–प्रदूषण[61] – यह भी वायु–प्रदूषण का ही एक रूप है। अत्यधिक शोर से उत्पन्न असह्य स्थिति ही ध्वनि–प्रदूषण कहलाती है।

मानवचालित यन्त्रों, जैसे – वाहन, मशीन, घरेलु उपकरण, मनोरंजन के साधन, डी.जे. (लाउड स्पीकर्स), मोबाईल आदि एवं सामाजिक तथा पारिवारिक स्तर पर सम्मेलन, संगोष्ठी, भाषण, नारेबाजी,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कलह आदि के द्वारा ध्वनि–प्रदूषण उत्पन्न होता है।

इसके प्रभाव से न केवल सुनने की क्षमता में कमी आती है, अपितु कई प्रकार के शारीरिक रोग, जैसे – उच्च रक्तचाप, हृदय–धड़कनों की वृद्धि, सिरदर्द आदि भी उत्पन्न होते हैं। इतना ही नहीं, इसके निमित्त से कई मानसिक रोगों, जैसे – चिड़चिड़ाहट, बेचैनी, क्रोध, अल्प आत्मविश्वास, हताशा, हत्या आदि में भी विशेष अभिवृद्धि होती है। इसका प्रभाव पशु–पक्षियों पर भी स्पष्ट दिखाई देता है, जो भयभीत होकर इधर–उधर भागते रहते हैं।

अतः भगवान् महावीर ने प्राचीन युग में जो मौन का उपदेश दिया है, वह आज भी प्रासंगिक है। उनका कहना है[62] – मौन के साधक समत्व प्राप्त कर संसार से मुक्त हो जाते हैं।

(10) जलवायु–परिवर्त्तन (Climatic change)[63] – किसी भी देश या प्रदेश की उन्नति का प्रमुख घटक होता है – जलवायु। जलवायु का निर्धारण स्थान–विशेष की अक्षांश–देशांश स्थिति एवं समुद्र–तल से उसकी दूरी–ऊँचाई आदि के आधार पर होता है। जलवायु पर ही खाद्य–पदार्थों की उत्पादकता, ऊर्जा की आवश्यकता, मैदानों का निर्माण, वर्षा की मात्रा, ठण्ड अथवा गर्मी की अधिकता इत्यादि निर्भर रहती हैं।

वर्त्तमान में वायु–प्रदूषण बहुत अधिक होने से जलवायु में असन्तुलन उत्पन्न हो रहा है, इसे ही जलवायु–परिवर्त्तन की समस्या कहते हैं। इसके प्रमुख कारण हैं –

- ★ औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप कार्बन–डाई–ऑक्साइड (CO_2), मिथेन गैस (CH_4), कार्बन–मोनो–ऑक्साइड (CO), क्लोरो–फ्लोरो–कार्बन गैसेस (CFC), नाइट्रोजन ऑक्साइड (NO), सल्फर–डाई–ऑक्साइड (SO_2) आदि गैसों की भारी अभिवृद्धि होना।
- ★ वनों की कटाई होना – आदर्श जलवायु के लिए 1/3 भाग वन, 1/3 भाग मनुष्य और 1/3 भाग जन्तु होना चाहिए, लेकिन सन् 2008 में केवल 8–10 प्रतिशत वन ही बचे हैं।
- ★ विश्व ताप–वृद्धि होना इत्यादि।

जलवायु परिवर्त्तन की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इसके अनेक दुष्परिणाम हो सकते हैं, जैसे –

- ★ कृषि–उत्पादन में 10 से 25 प्रतिशत कमी की आशंका।
- ★ जल–संकट की भीषण समस्या की सम्भावना, विशेषकर कुवैत, इजराइल, जार्डन आदि में।
- ★ पारिस्थितिकी–तन्त्र पर प्रभाव, जैव–विविधता को खतरा, वनखण्डों का घास–स्थल में बदलना, घास–स्थलों का मरूस्थलों में बदलना, आर्द्रता में कमी आना इत्यादि।
- ★ जल–चक्र पर प्रभाव।
- ★ संक्रमण रोग, जैसे – मलेरिया, डेंगू, लू आदि के तेजी से फैलने की शंका।
- ★ समुद्र में एलनीनो प्रभाव (गर्म–धारा की उत्पत्ति होकर तापमान 50°C से अधिक हो जाना)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा लानीनो प्रभाव (तापमान में अत्यधिक कमी आना) से कई जलीय जीवों की मृत्यु होना।

इस प्रकार, वायु–प्रदूषण की समस्या सामान्य नहीं है, बल्कि अतिव्यापक एवं विचारणीय है। यह निष्कर्ष गलत नहीं होगा कि जैनआचार में वायुकायिक जीवों की हिंसा नहीं करने का निर्देश 'वायु–प्रदूषण' को मर्यादित करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वायु सम्बन्धी समस्याओं एवं दुष्परिणामों से बचने के लिए आगे चर्चा की जाएगी।

8.3.5 वनस्पति का अतिदोहन (Over Exploitation of Greenery)[64]

तीव्रता से बढ़ती जनसंख्या, आर्थिक–विकास की अत्यधिक लालसा एवं भोगप्रधान संस्कृति के कारण से मानव वनस्पति का अतिदोहन कर रहा है, जिसका जैन–परम्परा में स्पष्ट निषेध है। वर्त्तमान में खाद्यान्न–संकट अधिक होने से कृषि–क्षेत्र और पशु–चारागाहों का लगातार विस्तार हो रहा है। औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए वनोपज, जैसे – फर्नीचर, कागज, वस्त्र, आयुर्वेदिक औषधियों, भवन सामग्रियों आदि की महती माँग है। भारत में लगभग 70% ग्रामीण हैं, जिनके पास घरेलु उपयोग के लिए ऊर्जा का मुख्य स्रोत जलाऊ लकड़ी ही है। वर्त्तमान में खनन उद्योग का भी बोलबाला है। इसके अतिरिक्त सड़क, नवनगरों (Colonies), रेल, बाँध, नहर आदि के निर्माण में भी असंख्य पेड़ कट रहे हैं।

परिणामस्वरूप, प्राकृतिक सन्तुलन ही गड़बड़ा गया है। उपजाऊ भूमि का कटाव, भयंकर भूस्खलन, प्रलयकारी बाढ़ें, भयावह सूखे, पर्यावरण प्रदूषण इत्यादि वन–उन्मूलन का ही परिणाम है।

वनस्पति के अभाव में वर्षा का जल भूमि पर सीधा पड़ने से मृदा–स्खलन भी तीव्रता से होता है। इसके अतिरिक्त जड़ों की अनुपस्थिति में मृदा में बन्धन (Binding) नहीं रह पाता, जिससे मृदा–अपरदन (Soil Erosion) बढ़ जाता है। यह मृदा नदियों में जाकर उन्हें मलिन तथा उथला बनाती है। इससे न केवल कृषि पर विपरीत प्रभाव आता है, अपितु बाढ़ की सम्भावना भी बढ़ जाती है। इन बाढ़ों से असंख्य जाने जाती हैं तथा अतुलनीय नुकसान भी होता है।

इसी प्रकार, कार्बन–डाई–ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे वायु–प्रदूषण बढ़ता है। वर्षा–प्रक्रिया में मिलने वाली सहायता कम हो जाने से अनावृष्टि और सूखे की समस्या बढ़ती है। वनों की कटाई से भूमि की पकड़ छूटने से भूस्खलन की समस्या बढ़ती है।

हवाओं की गति को रोकने वाला अवरोधक न होने से आँधी–तूफान आते हैं। वनों के पत्ते न होने से भूमि को निरन्तर उपजाऊ रखने वाली उर्वरक–शक्ति के अभाव में धीरे–धीरे भूमि बंजर होती जाती है। कालान्तर में वन–क्षेत्र रेगिस्तान बन जाते हैं। इस प्रकार, हम पाते हैं कि वनों का अतिदोहन वस्तुतः अपार जनहानि एवं आर्थिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक पर्यावरण की अपूरणीय क्षति का कारण है। अतः जैनआचारशास्त्रों की अवहेलना न करते हुए वनस्पति के प्रति हमें जड़वत् नहीं, अपितु आत्मवत् व्यवहार करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8.3.6 त्रस जीवों पर संकट

मनुष्य, पशु–पक्षी, कीड़े–मकोड़ों आदि का समावेश त्रस जीवों में होता है। आज जहाँ मनुष्यों के साथ जनसंख्या–वृद्धि की समस्या है, वहीं पशु–पक्षी, कीड़े–मकोड़ों के प्रति हिंसक व्यवहार किए जाने के परिणामस्वरूप उनकी प्रजातियों के विलुप्तीकरण की समस्या जुड़ी हुई है। इससे पारिस्थितिक अस्थिरता उत्पन्न हो रही है, जो अवांछनीय एवं घातक है। भगवान् महावीर के सिद्धान्त आज भी प्रासंगिक हैं, जो किसी भी निरपराध त्रस जीव की हिंसा नहीं करने का उत्तम एवं हितकर निर्देश देते हैं।[65]

(1) मानवीय जनसंख्या–विस्फोट

जनसंख्या–विस्फोट के कारण आहार, वस्त्र, जल, आवास, चिकित्सा, शिक्षा आदि की अत्यधिक आवश्यकता पड़ रही है। इनकी पूर्ति के लिए व्यक्ति पृथ्वी, जल, वायु, वन एवं अग्नि का अतिदोहन करता है, जिससे इन संसाधनों की मात्रा एवं गुणवत्ता दोनों में ही कमी आ रही है।

आवश्यकता पूर्ति के प्रयासों में कुछ व्यक्ति अतिसफल रहे हैं, तो कुछ विफल भी सिद्ध हुए हैं। इससे मनुष्य में आर्थिक एवं सामाजिक विषमता बढ़ी है। फलस्वरूप, मनुष्यों की परस्पर सौहार्दपूर्ण समरसता घटी है तथा वैमनस्य, युद्ध, विवाद, कलह आदि में वृद्धि हुई है। इससे आध्यात्मिक, सामाजिक, भौतिक आदि सभी पक्षों की हानि हुई है।

जैनआचार का अनुपालन हमें मर्यादित एवं आत्म–नियन्त्रित जीवनशैली की शिक्षा देता है। इसमें विहित ब्रह्मचर्य सम्बन्धी मर्यादाएँ हमें भोग–वासनाओं एवं वंश–विस्तार के बजाय आत्मिक गुणों के विकास की दिशा में प्रेरित करती हैं।[66] वस्तुतः, आत्म–संयम से ही जनसंख्या–नियन्त्रण किया जा सकता है। उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है कि सद्गृहस्थ को स्वस्त्रीसन्तोषव्रत का पालन करना चाहिए एवं पाँच प्रकार के दोषों से बचना चाहिए, जो इस प्रकार हैं[67] –

- ★ **इत्वरपरिगृहीता गमन** – धन एवं उपहार आदि देकर कुछ काल के लिए किसी स्त्री के साथ पत्नी जैसा व्यवहार करना।
- ★ **अपरिगृहीता गमन** – वेश्या, परित्यक्ता एवं अनाथ स्त्री को पैसा देकर अपना बना लेना।
- ★ **अनंग क्रीड़ा** – काम–सेवन के अंगों से भिन्न अंगों के द्वारा मैथुन सेवन करना।
- ★ **परविवाहकरण** – अपने परिवार के सदस्यों को छोड़कर अन्यों का विवाह कराना।
- ★ **कामभोग तीव्राभिलाषा** – कामासक्त होकर कामजनक औषधियों का प्रयोग करना और मादक द्रव्यों का सेवन करना।

(2) जन्तु–जगत् के संकट[68]

वर्त्तमान में औद्योगिक क्षेत्र में पशु–अंगों का उपयोग तेजी से बढ़ रहा है और साथ ही विविध प्रदूषणों की मात्रा में भी तीव्रता से वृद्धि हो रही है। इसके परिणामस्वरूप पारिस्थितिक असन्तुलन पैदा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो रहा है और पशु–पक्षी, कीड़े–मकोड़ों आदि जन्तुओं की अनेक प्रजातियाँ विलुप्त होती जा रही हैं। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि यदि एक प्रजाति विलुप्त होती है, तो इसका सीधा प्रभाव उस प्रजाति पर आएगा, जो उससे उपकृत है। इस प्रकार, भगवान् महावीर का यह कथन कि एक त्रस–जीव की हिंसा से अनन्त–जीवों की हिंसा हो जाती है,[69] स्वतः सिद्ध हो रहा है। यदि यह पारिस्थितिक असुन्तलन बढ़ता गया, तो इससे मनुष्य का जीवन भी प्रभावित हुए बगैर नहीं रहेगा, क्योंकि वह भी कई कार्यों में त्रस–जीवों के उत्पादों एवं सेवाओं पर निर्भर है। अतः आवश्यकता है कि हम जैनाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अहिंसात्मक जीवनशैली को अपनाएँ, जिससे न केवल इन त्रस–जीवों की सुरक्षा होगी, वरन् स्वयं मानव जाति का अस्तित्व भी टिका रहेगा। कहा भी गया है – **'से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरम्भोवरए'** अर्थात् 'जो प्रज्ञावान् होते हैं, वे हिंसा से उपरत हो जाते हैं।'[70]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8.4 पर्यावरण की समस्याओं एवं पर्यावरण–प्रदूषण के मूल कारण

भगवान् महावीर ने कहा है – 'हे मानव! तू सत्य को अच्छी तरह परख ले, जान ले।'[71] यह कथन इस बात को द्योतित करता है कि किसी भी प्रश्न का समाधान पाने के लिए उसके मूल कारणों (Root cause) को जानना अत्यावश्यक है। वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में पर्यावरणीय समस्या के भयावह प्रभावों से बचने के लिए इसके मूल कारणों को खोजना हमारी प्रमुख आवश्यकता बन गई है।

जैनदर्शन में न केवल पर्यावरण को प्रदूषणमुक्त रखने की जीवनशैली को दर्शाया गया है, अपितु प्रदूषित पर्यावरण के मूल कारणों को भी चिह्नित कर उनके निराकरण का प्रयास किया गया है।

आज पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण करके 'अर्थ' और 'काम' की अत्यधिक लालसाओं के चलते हम मानवीय सीमाओं का व्यर्थ अतिक्रमण कर रहे हैं। पर्यावरण को साधन बना कर सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान और सुविधा की इच्छाएँ पूरी करना चाहते हैं। लोभान्ध होकर पर्यावरण के प्रति क्रूर, कठोर, निर्दय एवं निर्मम होते जा रहे हैं। आर्थिक समृद्धि को ही विकास एवं सुरक्षा का आधार मान रहे हैं। सुविधावादी संस्कृति ही हमें सुखदायी महसूस हो रही है।[72]

परिणामस्वरूप, हम प्रकृति का पोषण एवं दोहन (मर्यादित उपयोग) करने में नहीं, अपितु शोषण एवं प्रदूषण करने में रत है, जिससे पर्यावरणीय सन्तुलन और स्थिरता भंग हो रही है।[73]

सार रूप में कहें, तो पर्यावरणीय विकृति अथवा असन्तुलन का मूल कारण मानव की असन्तुलित जीवनशैली है, जो मानव की अनियन्त्रित एवं अन्तहीन इच्छाओं का परिणाम है। मेरी दृष्टि में, इन मानवीय प्रवृत्तियों को चार प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है –

(1) संसाधनों का अतिदोहन

अन्धाधुन्ध एवं अनियोजित रूप से उच्च तकनीकों द्वारा सीमित प्राकृतिक–संसाधनों का तेज गति से अतिदोहन करने से न केवल इन संसाधनों में कमी आ रही है, बल्कि जलवायु परिवर्त्तन आदि विषमताएँ भी उत्पन्न हो रही हैं। जैनदर्शन में इसीलिए अल्पारम्भ एवं अल्पपरिग्रहपूर्वक जीने का निर्देश दिया गया है। कहा गया है कि अधिक मिलने पर भी संग्रह न करें तथा परिग्रह–वृत्ति से अपने को दूर रखें।[74]

(2) संसाधनों का अपव्यय

एक तरफ संसाधनों के अभाव में जीवन–योग्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति भी नहीं हो रही है और दूसरी ओर संसाधनों एवं सुविधाओं का भरपूर अपव्यय किया जा रहा है। इस अपव्यय से सीमित संसाधनों की आपूर्त्ति दुर्लभ होती जा रही है। जैन–परम्परा में इसीलिए संसाधनों के अनावश्यक एवं असावधानीपूर्वक प्रयोग के लिए निषेध किया गया है।[75] पानी के सन्दर्भ में जैनधर्म में आज भी यह लोकोक्ति है कि **पानी का उपयोग घी से भी अधिक सावधानी से करना चाहिए**। अन्यत्र भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहावत है की पानी सोने से ज्यादा कीमती तथा डाइनेमाइट से अधिक विस्फोटक है। आशय है कि हम पर्यावरण के संसाधनों का आवश्यकतानुसार ही उपयोग करें तथा आवश्यकताओं को निरन्तर सीमित करते जाएँ।

(3) संसाधनों का अतिभोग

इन दिनों सुविधापरक एवं प्रदर्शनपरक जीवनशैली होने से व्यक्ति की आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई हैं। त्याग के स्थान पर भोग का आधिक्य होने से संसाधनों की वितरण–व्यवस्था बिगड़ जाती है। किसी को खूब सुविधाएँ मिलती हैं और किसी को मात्र अभाव, इससे सामाजिक पर्यावरण भी बिगड़ता है। इसके अतिरिक्त पशु–पक्षी, कीड़े–मकोड़ों आदि कमजोर प्राणियों की तो अत्यधिक उपेक्षा एवं हिंसा होती है। जैनदर्शन में इसीलिए गृहस्थ के लिए अणुव्रतों और साधु के लिए महाव्रतों का विधान है।[76] आचारांग में भोगों में लिप्त मनुष्यों को सावधान करते हुए सम्बोधित किया गया है – 'तुम जिन भोगों या वस्तुओं से सुख की आशा करते हो, वस्तुतः वे सुख के हेतु नहीं हैं।'[77] सूत्रकृतांग में दीर्घदर्शितापूर्वक कहा गया है – **'भविष्य में तुम्हें कष्ट भोगना न पड़े, इसलिए अभी से अपने आप को भोगों से दूर रखकर अनुशासित करो।'**[78] इस प्रकार हमें प्राकृतिक जीवनशैली को अपनाने एवं सादा, सात्विक तथा सदाचारी जीवन जीने की आवश्यकता है।

(4) अपशिष्ट पदार्थों को प्रवाहित करना

ठोस, तरल एवं गैसीय रूप में अपशिष्ट पदार्थों को शुद्ध संसाधनों में प्रवाहित करने से प्रदूषण की समस्या पैदा हो रही है, जो पर्यावरणीय–समस्या के लिए 'आग में घी डालने' के समान है। जैनदर्शन में **'प्रतिष्ठापन समिति'** के सिद्धान्त द्वारा इसका निषेध किया गया है।[79]

इस प्रकार, मानव को वास्तव में पर्यावरण का नहीं, किन्तु स्वयं का प्रबन्धन करना है। पर्यावरण को सुधारने के बजाय पर्यावरण को नहीं बिगाड़ने की चेतना जाग्रत करनी है, क्योंकि पर्यावरण वह स्वचालित व्यवस्था (Automatic system) है, जो स्वयं तो सन्तुलित ही रहती है, किन्तु मानवीय हस्तक्षेप उसमें असन्तुलन पैदा करता है। यदि मानव कानून के दबाव के बजाय स्वविवेक से ही अपनी जीवनशैली को सुधारे और पर्यावरण के प्रति मातृवत् व्यवहार करे, तो पर्यावरण की समस्याओं का सहज समाधान प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः, धरती में अपार शक्ति है, क्योंकि वह पृथ्वी के समस्त प्राणियों के जीवन की पूर्ति कर सकती है, बशर्ते हम सात्विक जीवन जैनदर्शनानुसार जीयें।

वर्त्तमानकालीन पर्यावरणीय समस्याओं एवं उनके मूल कारणों का विश्लेषण करने के पश्चात् आगे जैन–सिद्धान्तों एवं जैनआचारों के आधार पर समाधानपरक चर्चा की जा रही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8.5 जैनआचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण–प्रबन्धन

8.5.1 पर्यावरण–प्रबन्धन : एक परिचय

यद्यपि पर्यावरण प्राकृतिक नियमों से संचालित होने वाली एक सन्तुलित, समन्वित एवं स्थायी व्यवस्था है, फिर भी मानवीय क्रियाओं से यह असन्तुलित, असमन्वित एवं अस्थिर होती जा रही है। अतः पर्यावरण–प्रबन्धन की आज नितान्त आवश्यकता है, जो मानव और प्रकृति के बीच उचित सामंजस्य स्थापित कर सके।[80]

चूँकि मानव–जीवन अपने पर्यावरण पर आश्रित है और पर्यावरण मानवीय–क्रियाओं का परिणाम है, अतः पर्यावरण की सुरक्षा में मानव को ही अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देने की आवश्यकता है। इससे ही मानव पर्यावरणीय संकटों एवं दुःखों से मुक्त हो सकता है।[81]

इस आधार पर मेरी दृष्टि में, **मानव की अमानवीय क्रियाओं को नियन्त्रित करने की वह प्रक्रिया, जिससे पर्यावरण का समुचित संरक्षण किया जा सके, पर्यावरण–प्रबन्धन कहलाती है।**

पर्यावरण–प्रबन्धन का लक्ष्य है – संसाधनों का बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग करना[82] और इसीलिए मेरी दृष्टि में, हमें निम्न बिन्दुओं को जीवन–व्यवहार में लाने की आवश्यकता है –

- ★ प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर नियन्त्रण (संयम)।
- ★ संसाधनों का अल्पातिअल्प अपव्यय।
- ★ संसाधनों के अनावश्यक उपभोग–परिभोग पर नियन्त्रण।
- ★ अपशिष्ट पदार्थों का उचित प्रतिष्ठापन (परिहार/विसर्जन)।

पर्यावरण–प्रबन्धन के सन्दर्भ में कई गम्भीर विचारणाएँ प्रारम्भ हो चुकी हैं। विश्व–स्तर पर यह चेतना जाग्रत हो रही है कि पर्यावरण को प्रदूषण–मुक्त करने के प्रयास अविलम्ब प्रारम्भ होने चाहिए। हालाँकि पर्यावरण विषय का इतिहास बहुत पुराना नहीं है, फिर भी अल्पसमय में इसकी चिन्ता बहुत बढ़ चुकी है, जो इस समस्या की व्यापकता एवं गम्भीरता का सीधा प्रमाण है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न देशों के बीच पारस्परिक सन्धियों पर हस्ताक्षर होते रहे हैं और विभिन्न सम्मेलनों का आयोजन होता आया है। पर्यावरण सुरक्षा के लिए आन्दोलनों की शुरुआत विभिन्न क्लबों द्वारा 60 और 70 के दशक में की गई। इनमें 'क्लब ऑफ रोम' एवं 'सहारा क्लब' के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रथम प्रयास सन् 1972 में स्टॉकहोम सम्मेलन में किया गया। सम्मेलन में **'हमारी एकमात्र पृथ्वी'** का नारा दिया गया तथा प्रत्येक राष्ट्र को उत्तरदायित्व देते हुए एकीकृत दृष्टिकोण अपनाने तथा प्रदूषण रोकने के उपायों पर चर्चा की गई। इसके उपरान्त ज्वलन्त समस्याओं के बढ़ने के साथ–साथ इनके प्रति चिन्ताएँ भी बढ़ती गई और सम्मेलनों की शृंखला आरम्भ हो गई, जिनमें से कुछ हैं – बनाकोडवर (1976), नैरोबी (1977), टोरंटो (1988), रियो डि जेनरो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(1992) में हुए सम्मेलन।[83]

यहाँ यह स्वीकारना आवश्यक होगा कि अनेकानेक सन्धियों, कानूनों, अधिनियमों आदि के बनने पर भी मनुष्य का हृदय–परिवर्त्तन न होने से वांछित जन–जागरुकता पैदा नहीं हो रही है, जिससे समस्या की विकरालता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। अतः आवश्यक होगा कि हम जैनआचारशास्त्रों का अनुशीलन करें। इनके सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्षों को क्रमशः जीवन–दृष्टि एवं जीवन–व्यवहार में लाएँ, जिससे पर्यावरण–प्रबन्धन का सपना सचमुच साकार हो सके। जैनधर्म एवं इसमें वर्णित जीवनशैली पर विचार करने से यह स्पष्ट पता चलता है कि इसमें प्राकृतिक पर्यावरण के संरक्षण पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। यह कहना होगा कि यदि पर्यावरण विनाश को रोकना है, तो जैन सिद्धान्तों का अनुकरण हमें करना ही होगा।

8.5.2 जैनआचारमीमांसा में पर्यावरण–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्ष

लोक में यह कहावत प्रसिद्ध है – जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। हम जैसा विचार करते हैं, कालान्तर में वैसा ही बन जाते हैं। पर्यावरण–प्रबन्धन के सन्दर्भ में हम इस कथन की उपेक्षा नहीं कर सकते। पर्यावरण की भयावह समस्याओं के सम्यक् नियोजन से पूर्व हमें अपने दृष्टिकोण को सकारात्मक बनाने की आवश्यकता है। जैनआचारमीमांसा के निम्नलिखित सिद्धान्तों को स्वीकारने से हमारी विचारधारा में निश्चित रूप से एक सकारात्मक परिवर्त्तन आ सकता है, जिसका कालान्तर में अनुपालन कर हम पर्यावरणीय समस्याओं से मुक्ति पा सकते हैं।

(1) पर्यावरण–प्रबन्धन सम्बन्धी उद्देश्य बनाना

यद्यपि पर्यावरणीय विपदा एक वैश्विक समस्या है, फिर भी इसका समाधान वैयक्तिक सुधार पर ही निर्भर करता है। जैनाचार्यों का अभिमत स्पष्ट है कि 'निज पर शासन, फिर अनुशासन' का सिद्धान्त ही सुधार ला सकता है। सूत्रकृतांग में नकारात्मक सोचने वाले लोगों पर कटाक्ष करते हुए कहा गया है कि **जो अपने पर अनुशासन नहीं रख सकता, वह भला दूसरों पर अनुशासन कैसे कर सकता है?**[84] अतः हमें उद्देश्य बनाना चाहिए कि पर्यावरण–प्रबन्धन मेरे जीवन–प्रबन्धन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जो समाज, सरकार और विश्व का नहीं, बल्कि स्वयं मेरा उत्तरदायित्व है। दूसरे शब्दों में, हमें **'Think globally, Act locally' (सोच भूमण्डीय, क्रिया स्थानीय)** का मंत्र अपनाना होगा।[85]

यद्यपि हम पूरे विश्व का पर्यावरण नहीं सुधार सकते, फिर भी हम अपने आसपास के पर्यावरण का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र हैं। हमें चाहिए कि व्यक्तिगत तौर पर अपने–अपने क्रियाकलापों को नियोजित करें, जिससे प्राकृतिक संसाधनों का नियंत्रित दोहन हो, संसाधनों का अपव्यय अल्पतम हो, संसाधनों के अनावश्यक उपभोग पर नियन्त्रण हो एवं अपशिष्ट पदार्थों का उचित प्रतिष्ठापन (निःसरण) हो। इसीलिए जैनआचारमीमांसा में निर्दिष्ट अहिंसा, संयम, तप, त्याग, व्रत आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचारों का अनुपालन करना हमारा अनिवार्य कर्त्तव्य है, क्योंकि इनसे ही हम अपनी क्रियाओं का सम्यक् समायोजन कर पर्यावरण–प्रबन्धन के लक्ष्य की पूर्त्ति कर सकेंगे।

यद्यपि हमें अपनी स्थूल दृष्टि से लग सकता है कि 'इससे मुझे क्या मिलेगा, मैं श्रम करूँगा एवं लाभान्वित तो होंगे अन्य' इत्यादि, फिर भी यह दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है। जैनाचार्यों ने अपनी पैनी दृष्टि से इस तरह पर्यावरणोपयोगी आचारों का विधान किया है कि उनका पालन करने से अनेक तरह के जीवनोपयोगी लाभ एक साथ ही प्राप्त हो जाते हैं।

जिसे हम केवल पर्यावरण के लिए हितकर मानते हैं, परोक्ष रूप से वही आत्महित का मार्ग है। आशय यह है कि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि पापों का परित्याग न केवल पर्यावरण को सन्तुलित करता है, अपितु आत्म–शान्ति एवं आत्म–कल्याण का भी कारण है, जो सभी के लिए वांछनीय है। जैनाचार्यों ने इन हिंसादि पापों को विष की उपमा देते हुए कहा है – जैसे जीवितार्थी के लिए विष हितकर नहीं होता, वैसे ही कल्याणार्थी के लिए पाप हितकर नहीं होता।[86]

इतना ही नहीं, पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए निर्दिष्ट जैनआचार सिद्धान्तों के अनुपालन से हमें अन्य कई लाभ स्वयमेव अनुभूत होंगे, जैसे –

★ स्वास्थ्य लाभ – प्रदूषण एवं अतिभोग पर रोक लगाने से।
★ आर्थिक लाभ – अल्पसंचय, अल्पव्यय एवं मितव्ययिता से।
★ पुण्य लाभ – हिंसा आदि असत्प्रवृत्तियों में कमी करने से।
★ समय लाभ – अनावश्यक कार्यों पर नियन्त्रण करने से।
★ भावात्मक लाभ – मैत्री, करुणा, सरलता, सहृदयता आदि सात्विक भाव बढ़ने से।
★ प्रतिकूलता में जीने के अभ्यास की अभिवृद्धि का लाभ।
★ भावी पीढ़ी के लिए प्राकृतिक संसाधनों का समुचित संचय एवं संरक्षण।
★ आत्मकल्याण के प्रयत्नों के लिए बाह्य निवृत्ति रूप अवसर की प्राप्ति इत्यादि।

यह निष्कर्ष है कि जैनाचार्यों ने आत्मानुशासन के माध्यम से पर्यावरणहित, आर्थिकहित, स्वास्थ्यहित, आत्महित आदि का ऐसा सुसमन्वयन किया है कि यह जन–जन के लिए ग्राह्य है। भगवान् महावीर ने कहा भी है – 'हे मानव! तू स्वयं को अनुशासित कर, तू समस्त दुःखों से मुक्त हो जाएगा।'[87] अतः पर्यावरण–प्रबन्धन की प्रक्रिया को व्यर्थ मानने के बजाय जीवन का वैसा ही महत्त्वपूर्ण पक्ष मानना चाहिए, जैसा हम शारीरिक, बौद्धिक, शैक्षिक, आर्थिक, पारिवारिक एवं सामाजिक पक्षों को मानते हैं, क्योंकि इसमें हमारा हित निहित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) अहिंसा एवं पर्यावरण–प्रबन्धन का सहसम्बन्ध

जैनआचारमीमांसा में पर्यावरण–प्रबन्धन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है – अहिंसा। सभी अध्यात्मवादी धर्म–दर्शनों ने 'अहिंसा' को सर्वश्रेष्ठ माना है।[88] प्रायः सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सद्गुणों का समावेश भी अहिंसा के व्यापक अर्थ में हो जाता है।[89] अहिंसा को विविध विशेषणों से स्वीकारना भी इसकी श्रेष्ठता का मानदण्ड है, जैसे –

- ★ अहिंसा परमो धर्मः[90] – महाभारत
- ★ अहिंसा परमं दानम्[91] – पद्मपुराण
- ★ अहिंसा परमं तपः[92] – योगवशिष्ट
- ★ अहिंसा तीर्थम् उच्यते[93] – दानचन्द्रिका
- ★ धम्ममहिंसा समं नत्थि[94] – भक्तपरिज्ञा
- ★ धर्मस्य मूलं दया[95] – प्रशमरति

जैनदर्शन में अहिंसा की जो अतिगहन, अतिसूक्ष्म एवं अतिविस्तृत विवेचना हुई है, वह अनुपम, अद्वितीय, अनुत्तर एवं अतुलनीय है। यह विवेचना पर्यावरण–संरक्षण के लिए अत्यन्त उपकारी है, क्योंकि अहिंसा के पथ पर चलकर ही पर्यावरण–प्रबन्धन के लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है।

जैनाचार्यों ने हिंसा के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है कि प्राणवध चण्ड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणारहित है, क्रूर है और महाभयंकर है।[96] वर्त्तमान युग में हिंसा के ये सभी रूप हमारे समक्ष हैं, जिनका दुष्परिणाम है – पर्यावरणीय असन्तुलन और अस्थिरता की लगातार हो रही अभिवृद्धि। इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने यह भी कहा है कि हिंसा के कटुफल को भोगे बिना छुटकारा नहीं है।[97] आज हम अनुभव भी कर रहे हैं कि मानवकृत पर्यावरणीय असन्तुलन एवं अस्थिरता मानव के ही अस्तित्व के लिए खतरा बन गई है। संक्षेप में कहें, तो हम स्वयं ही अपने पाँवों पर कुल्हाड़ी मार रहे हैं।

जैनाचार्यों ने इसका समाधान भी दिया है। वह है अहिंसा, जो व्यक्तिविशेष का नहीं, अपितु समस्त प्राणियों का कुशल करने वाली है।[98] पर्यावरणीय प्रलय के भय से पीड़ित प्राणियों के लिए अहिंसा ही सर्वोत्तम औषधि है। ज्ञानार्णव में पर्यावरणीय समस्याओं के समाधान के रूप में अहिंसा को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है – **'अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः'** अर्थात् अहिंसा ही जगत्–माता है और अहिंसा ही आनन्द का मार्ग है।[99] आशय स्पष्ट है कि अहिंसा ही विश्व के समस्त प्राणियों के लिए शरणभूत है, क्योंकि इससे उनकी अशान्ति और दुःखों का निवारण होता है तथा आनन्द की प्राप्ति होती है। यह अहिंसा ही मानव और उसके पर्यावरण के मध्य उचित सन्तुलन, स्थिरता एवं सामंजस्य की ज्ञापक है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि हिंसात्मक और अहिंसात्मक जीवनशैली से हम और हमारा पर्यावरण प्रत्यक्ष प्रभावित होता है। जहाँ हिंसात्मक जीवनशैली से पर्यावरण में मानवीय हस्तक्षेप बढ़

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाता है, जो पर्यावरण को असन्तुलित करता है, वहीं अहिंसात्मक जीवनशैली से पर्यावरण में मानव की अवांछित छेड़छाड़ घटती जाती है, जिससे पर्यावरण का स्वाभाविक सौन्दर्य (व्यवस्था) प्रकट होता है और यही पर्यावरण–प्रबन्धन का लक्ष्य है। संक्षेप में कह सकते हैं कि अहिंसा और पर्यावरण–प्रबन्धन में कारण–कार्य सम्बन्ध है। कहा भी गया है – **'एतं खु नाणिणो सारं जं न हिंसति किंचणं'** अर्थात् ज्ञानी के ज्ञान का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।[100]

(3) षट्कायिक जीवों की जयणा एवं पर्यावरण–प्रबन्धन

प्रायः सभी भारतीय धर्म–दर्शनों ने यह स्वीकार किया है कि अहिंसा किसी जाति, व्यक्ति, वर्ग, देश, काल आदि से बंधी हुई नहीं है, क्योंकि यह सार्वभौमिक है।[101] आचारांग में भी कहा गया है – **'एस धम्मे सुद्धे निच्चे सासए'** अर्थात् अहिंसा धर्म शाश्वत् है।[102] अहिंसा के सम्बन्ध में एकमतता होने के बावजूद भी अहिंसक व्यवहार के सन्दर्भ में सबमें समानता नहीं है। जैन–परम्परा में अहिंसा के जिस सूक्ष्म स्वरूप का निरूपण हुआ है, वह अन्यत्र देखने में नहीं आता। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है – षट्कायिक जीवों की विचारधारा, जो पर्यावरण संरक्षण के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।

जैनदर्शन में जीवन की विस्तृत व्याख्या की गई है। आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस में जीवन का अस्तित्व है।[103] इसकी पुष्टि हमें उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र आदि अनेक आगमों में मिलती है।[104] एक ओर जैनाचार्य यह मानते हैं कि षड्जीवनिकाय के आश्रित जीने वाले अनेकानेक प्राणी होते हैं, अतः इन पृथ्वी आदि का दुरुपयोग या विनाश करने से उनका भी विनाश हो जाता है, तो दूसरी ओर वे यह भी मानते हैं कि ये पृथ्वी आदि स्वयं भी जीवन के ही विविध रूप हैं। अतः इनकी हिंसा या अतिदोहन भी जीवन का ही विनाश है। यह अवधारणा भगवान् महावीर से पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ के काल में भी विद्यमान थी।[105]

कहना होगा कि हमारे चारों ओर व्याप्त संसाधनों में जीवन–सत्ता विद्यमान है, जैसे – मृदा, पाषाण, पर्वत, सरिता, सरोवर, ओस, बर्फ, फूल, पत्ती, वृक्ष, घास, गैसें, अंगार, विद्युत् आदि। संक्षेप में कहें, तो जीवन सर्वव्यापी है।

इस सर्वव्यापी जीवन की दृष्टि के कारण से ही जैन–परम्परा में अहिंसा की व्यापकता एवं गहनता अधिक है। दशवैकालिकसूत्र में साधक के लिए निर्देश है कि वह सिर्फ मनुष्यों की ही नहीं, अपितु षड्जीवनिकाय में से किसी भी जीव की कभी भी विराधना (हिंसा) न करे।[106] इतना ही नहीं, आचारांगसूत्र में भी स्पष्ट कहा गया है कि वह मन, वचन एवं काया से न हिंसा करे, न हिंसा कराए एवं न हिंसा का समर्थन ही करे।[107] अहिंसा की इस सूक्ष्म व्याख्या के आधार पर अपने जीवन–यापन के लिए साधक को पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति एवं त्रस में से किसी भी प्रकार के जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। यह निर्देश पर्यावरण–संरक्षण के लिए अत्यन्त हितकर है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन–परम्परा में अहिंसा का यह आदर्श साधु–साध्वियों के लिए पूर्ण आचरणीय है, तो गृहस्थों के लिए भी यथाशक्ति आचरणीय है ही।

अहिंसा का यह निर्देश पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए स्वतः उपयोगी है, क्योंकि इससे हमारे प्राकृतिक संसाधनों, जैसे – पृथ्वी, जल, वायु आदि का दोहन अत्यन्त कम हो जाता है। यह जैनआचारमीमांसा की विशेषता है।

(4) आत्मौपम्य–दृष्टि का विकास एवं पर्यावरण–प्रबन्धन

यद्यपि अवस्था की दृष्टि से प्रत्येक प्राणी भिन्न–भिन्न है, जिसमें मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता निरपवाद है, फिर भी मनुष्य का संसार पर एकाधिकार जमाना सरासर अन्याय है। इसका कारण है कि जीवनसत्ता की दृष्टि से मनुष्य में और अन्य किसी प्राणी में लेशमात्र भी भेद नहीं है, सभी आत्माएँ समान हैं।[108] भगवतीसूत्र में उदाहरणस्वरूप कहा गया है – हाथी एवं कुन्थुए में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों का मूल स्वरूप समान है।[109] आचारांगसूत्र में विश्व–बन्धुत्व की भावना को जगाते हुए कहा गया है – **'आयओ बहिया पास'** अर्थात् 'हे मानव! तुम अपने समान ही सबको देखो'।[110] वस्तुतः यह दृष्टि पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए अनिवार्य है, क्योंकि इससे ही अन्तःकरण की निर्दयता एवं निर्लज्जता के स्थान पर सहृदयता, संवेदनशीलता एवं समता की भावना का अभ्युदय होता है, इसे ही **'आत्मौपम्य दृष्टि'** कहते हैं। आत्मौपम्य का अर्थ है – संसार में समस्त प्राणियों में आत्मवत् बुद्धि का होना।[111]

आचारांगसूत्र में कहा गया है कि प्रत्येक जीव को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। अतः किसी को भी दुःख नहीं देना चाहिए, क्योंकि यह दुःख उसकी अशान्ति और महाभय का कारण है।[112] आत्मा को झंकृत करते हुए कहा कि 'रे प्राणी! जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।'[113] आशय यह है कि सामान्यतया जिन पृथ्वी, जल, हवा आदि को तुच्छ वस्तु मानकर हम उनका शोषण एवं अपव्यय करते रहते हैं, वे उसी तरह दुःखी और पीड़ित होते हैं, जैसे हम। कल्पना कर सकते हैं कि यदि हम चींटी पर पाँव रखते हैं, तो उसे वैसी ही अनुभूति होगी, जैसे हमारे ऊपर हाथी पाँव रखता हो।

सूत्रकार के भाव स्पष्ट हैं कि मनुष्य जैसा अपने सम्बन्ध में सोचता है, वैसा ही उसे दूसरों के सम्बन्ध में सोचना चाहिए, क्योंकि स्वरूपतः विश्व की समस्त आत्माएँ समान हैं।[114] इस समानता को जानकर वह हिंसा से दूर रहे। आत्मौपम्य दृष्टिकोण से युक्त साधक के सन्दर्भ में यह सोचा जा सकता है कि जितना–जितना वह हिंसामुक्त होता जाएगा, उतना–उतना पर्यावरण–संरक्षण स्वयमेव होता जाएगा और यही जैनआचारमीमांसा की विशेषता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(5) वैचारिक अहिंसा एवं पर्यावरण–प्रबन्धन

सामान्यतया किसी को सताना, पीड़ा देना या मारना हिंसा कहलाता है, परन्तु जैनाचार्यों ने स्पष्ट किया है कि पाँच इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति, चार कषाय, चार विकथा, निद्रा एवं स्नेह – इन पन्द्रह प्रमादों के वशीभूत होकर किसी को सताना, पीड़ा देना या मारना हिंसा है।[115] इसी आधार पर हिंसा के दो भेद किए गए हैं – द्रव्य और भाव। अन्य जीवों की हिंसा करना द्रव्यहिंसा है, जबकि अंतरंग में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मनोवृत्तियों से स्वयं का नाश करना, भावहिंसा होती है।[116] यहाँ यह विशेषता है कि द्रव्यहिंसा बाह्य पर्यावरण को प्रदूषित करती है, तो भावहिंसा अंतरंग पर्यावरण या वैचारिक पर्यावरण को।

दोनों हिंसाओं में भावहिंसा की महत्ता अधिक है, क्योंकि जैनाचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि भावहिंसा के बिना द्रव्यहिंसा भी हिंसा नहीं है, किन्तु भावहिंसा के सद्भाव में द्रव्यहिंसा न होते हुए भी सतत हिंसा होती रहती है। इस आधार पर यह समझा जा सकता है कि आज विश्व में उत्पन्न हो रही पर्यावरणीय चिन्ताओं का मूल कारण व्यक्ति का वैचारिक पर्यावरण ही है। जैनाचार्यों का निर्देश है कि वैचारिक पर्यावरण की स्वच्छता ही बाह्य पर्यावरण की सुरक्षा के लिए अनिवार्य एवं अपरिहार्य पहलू है।

एक व्यक्ति ने नीम के पेड़ का पत्ता तोड़ा, चखा, कड़वा लगा। उसने नीम का फूल तोड़ा, चखा, कड़वा लगा। इसी प्रकार उसने डाली तोड़ी, वह भी कड़वी। आखिर उसने उस वृक्ष की जड़ चखी, वह भी कड़वी। उसकी समझ में आ गया कि जिसका मूल ही कड़वा है, उसकी शाखा, प्रशाखा, फल, फूल, पत्ते आदि कड़वे हों तो क्या आश्चर्य?[117]

यह दृष्टान्त आज की पर्यावरणीय समस्याओं के सन्दर्भ में घटित होता है। विश्व–पर्यावरण दिवस, जल–सुरक्षा वर्ष, पर्यावरणीय गोष्ठियों, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आदि को आयोजित कर पृथ्वी, जल, वायु आदि संसाधनों को प्रदूषणमुक्त रखने के उपाय भले ही किए जा रहे हों, किन्तु ये तभी सफल होंगे, जब प्रदूषण के लिए जिम्मेदार व्यक्ति के लोभादि अंतरंग कारण समाप्त होंगे।

विश्व में चारों ओर व्याप्त हिंसा, आतंकवाद, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, साम्प्रदायिक संकीर्णता, असहिष्णुता, हड़ताल, आन्दोलन, तोड़फोड़ के दृश्यों, ढहते हुए आदर्शों, गिरते हुए नैतिक मूल्यों एवं मिटती हुई मर्यादाओं का मूल कारण मानव की दूषित विचारधाराएँ या भावनाएँ ही हैं।[118] आचारांगसूत्र में बारम्बार कहा गया है – **'आतुरा परितावेन्ति'** अर्थात् जो विषयातुर होता है, वही दूसरों को परितप्त करता है।[119] आशय यह है कि विक्षिप्त मनोवृत्ति वाला व्यक्ति ही हिंसात्मक प्रवृत्ति करके पर्यावरण असन्तुलन उत्पन्न करता है।

मानव–मन में हिंसा–अहिंसा, प्रियता–अप्रियता, राग–द्वेष, क्षमा–क्रोध, विनय–अहंकार, सरलता–कपटता, निर्लोभता–लुब्धता, करुणा–क्रूरता, अनाग्रह–दुराग्रह, समत्व–ममत्व, सहिष्णुता–असहिष्णुता आदि प्रतिपक्षी भाव रहते हैं। इनमें से जब हम दूसरों के प्रति सहयोग,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परोपकार, दया, करुणा, सहिष्णुता, सन्तोष आदि शुभभावों के साथ जीते हैं, तो पर्यावरण स्वस्थ होने लगता है, जबकि ईर्ष्या, द्वेष, क्लेश, कलह, क्रोध आदि अशुभभाव होने पर पर्यावरण में उद्वेग उत्पन्न हो जाता है।[120]

जैनाचार्यों का मूल उद्देश्य मानव को मानसिक (वैचारिक) प्रदूषण से दूर करना ही है। आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक शैलियों से उन्होंने भावात्मक विकास की शिक्षाएँ दी हैं एवं प्रायोगिक दृष्टि से मार्गानुसारी के पैंतीस गुण, अणुव्रत, प्रतिमा, महाव्रत आदि के निर्देश भी दिए हैं। ये पर्यावरण–प्रबन्धन की दृष्टि से नितान्त आवश्यक हैं।

भगवान् महावीर के उपदेशों का सार यही है कि हमारे विचारों में अनेकान्त हो, वाणी में स्याद्वादता हो और आचार में अहिंसा हो। इससे ही हमारा अंतरंग और बाह्य पर्यावरण सन्तुलित हो सकेगा। यह भी जैनआचारमीमांसा की विशेषता है।

(6) विधि–निषेध रूप अहिंसा एवं पर्यावरण–प्रबन्धन[121]

पर्यावरण के सम्यक् विकास के लिए जैनआचारमीमांसा में अहिंसा के दो पक्षों की चर्चा मिलती है – विधेयात्मक एवं निषेधात्मक। सत्कार्यों में प्रवृत्ति होना विधेयात्मक (प्रवृत्त्यात्मक) अहिंसा है। उत्तराध्ययनसूत्र का यह निर्देश – 'मेरी प्राणिमात्र से मैत्री हो' विधि रूप अहिंसा की ही प्रेरणा देता है।[122] इसी प्रकार असत्कार्यों से निवृत्ति को निषेधात्मक (निवृत्त्यात्मक) अहिंसा कहते हैं। आवश्यकसूत्र का यह निर्देश – 'मेरा किसी से वैर न हो' निषेध रूप अहिंसा का बोधक है।[123]

यद्यपि ये दोनों पक्ष परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, फिर भी पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए दोनों की महत्ता समान है। जैनदर्शन की यह विशेषता है कि यहाँ अहिंसा न तो सर्वथा निषेधपरक है और न सर्वथा विधिपरक। जैनाचार्यों के अनुसार, विधि एवं निषेध तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जिनका समन्वय जीव एवं जगत् दोनों के लिए अत्यावश्यक है।

यदि हम एक ओर वृक्षारोपण करें और दूसरी ओर वनों की अन्धाधुंध कटाई करें, एक ओर बीमारियों की रोकथाम का उपाय करें और दूसरी ओर अस्वास्थ्यप्रद प्रदूषणकारी अपशिष्ट पदार्थों को प्रवाहित करने पर रोक न लगाएँ, एक ओर धूम्रोत्पादक उद्योगों को बढ़ावा दें एवं दूसरी ओर विश्व–तापवृद्धि को रोकने का प्रयास करें तथा एक ओर पशु (गो) वध का निषेध करें एवं दूसरी ओर कत्लखाने (Slaughter House) खोलने की अनुमति प्रदान करें, तो कहाँ तक उचित होगा। वस्तुतः, हमारा प्रयास असफल होगा।

आज यही घटनाएँ घट रही हैं। एक ओर हम विकास के शिखर की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहे हैं, तो दूसरी ओर विनाश के गर्त्त में गिर रहे हैं। इसे ही आधुनिक पर्यावरणविद् **अस्थिर विकास (Nonsustainable Development)** कहते हैं।[124]

पर्यावरण के **स्थिर विकास (Sustainable Development)** के लिए हमें विधि एवं निषेध रूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा को समान दृष्टि से स्वीकारना ही होगा। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है – 'हमें सत्कार्यों में प्रवृत्त और असत्कार्यों से निवृत्त होना चाहिए।'[125] आचारांग आदि में भी सर्वत्र इन दोनों पक्षों का निर्देशन किया गया है। 'प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझना'[126] और 'किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाना'–[127] ये दो निर्देश अहिंसा के दोनों पक्षों की समन्वयात्मक प्रस्तुति करते हैं, जो पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं।

(7) परस्पर सहयोग की भावना एवं पर्यावरण–प्रबन्धन[128]

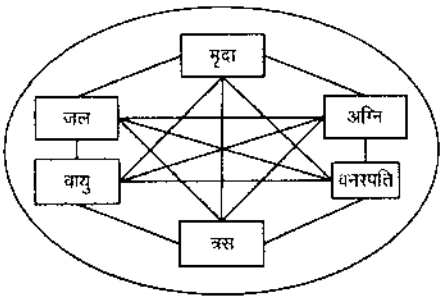

पर्यावरण के विविध घटकों के बीच जो अन्तःक्रियाएँ (Interactions) होती रहती हैं, उससे **पारिस्थितिकी–तन्त्र (Ecosystem)** की रचना होती है।[129] जब तक यह तन्त्र सन्तुलित रहता है, तब तक मानव सुरक्षित रहता है, लेकिन इसके असन्तुलित होने पर मानव का अस्तित्व खतरे में आ जाता है। आज यही असन्तुलन घटित हो रहा है।

चित्र में जैनदृष्टि से पारिस्थितिकी–तन्त्र का निदर्शन किया गया है।

यह एक अनुभूत सत्य है कि हमारा जीवन पारिस्थितिकी–तन्त्र पर आश्रित है और पारिस्थितिकी तन्त्र हमारी क्रियाओं का ही परिणाम है। संक्षिप्त में कहें, तो दोनों एक–दूसरे से प्रभावित हैं। जन्म से मृत्यु तक हमारे जीवन की प्रत्येक आवश्यकता, जैसे – आहार, पानी, वस्त्र, आवास, वाहन, औषधि, उपकरण आदि पारिस्थितिकी तन्त्र से ही पूरी होती है। अतः इस तन्त्र का हम पर अतुलनीय उपकार है।

इस सत्य को समझने की जीवन–दृष्टियाँ भिन्न–भिन्न रही हैं। एक दृष्टिकोण ने विनाश से विकास का मार्ग चुना, तो दूसरा दृष्टिकोण जैनाचार्यों का रहा, जिन्होंने सहयोग से विकास का मार्ग चुना। पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए सही दृष्टिकोण का चयन अनिवार्य है, अन्यथा सफलता नहीं मिल सकती।

पहला दृष्टिकोण यह रहा कि जब एक का जीवन दूसरे पर आश्रित है, तो हमें यह अधिकार है कि हम दूसरे प्राणियों का विनाश करके भी अपना अस्तित्व बचाए रखें। पश्चिम में **'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (Struggle for the Existence/Survival)** एवं पूर्व में **'जीवो जीवस्य भोजनम्'** के सिद्धान्त इसी दृष्टिकोण के कारण अस्तित्व में आए। इनकी जीवन–दृष्टि हिंसक होने से इन्होंने विनाश से विकास का मार्ग चुना। आज पूर्व से पश्चिम तक सर्वत्र इसी दृष्टिकोण का बोलबाला है, मानव के अस्तित्व की सुरक्षा एवं जीवन–विकास के लिए जीवन के दूसरे रूपों का विनाश हो रहा है। परिणामस्वरूप पृथ्वी, जल एवं हवा में प्रदूषण ही नहीं, अपितु वनस्पति एवं अन्य प्राणियों की असंख्य प्रजातियों का विलोप भी हो रहा है। किन्तु, अब विज्ञान भी स्वीकार रहा है कि जीवन के विविध रूपों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का नाश करके हम मानव का अस्तित्व भी नहीं बचा सकते।

इस सन्दर्भ में दूसरी जीवन–दृष्टि जैनाचार्यों की रही। आचार्य उमास्वाति ने एक सूत्र दिया – **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'**. अर्थात् एक जीवन दूसरे जीवनों के सहयोग पर आधारित है।[130] इन्होंने जीवन की सुरक्षा एवं विकास के लिए विनाश के बजाय परस्पर सहयोग को मुख्यता दी। एक–दूसरे के पारस्परिक सहकार या सहयोग पर जीवन–यात्रा चलती है। अतः जीवन के दूसरे रूपों के सहयोगी बनकर ही हम अपना जीवन जी सकते हैं।

जैसे हमें जीवन जीने के लिए अन्न, फल, प्राणवायु आदि की आवश्यकता है, वैसे ही वनस्पति को जीवन जीने के लिए जल, वायु, खाद आदि की आवश्यकता है। वनस्पति से प्राप्त अन्न, फल, प्राणवायु, छाया आदि से हमारा जीवन चलता है, तो हमारे द्वारा प्रदत्त कार्बन–डाई–ऑक्साइड, मल–मूत्र आदि से वनस्पति का जीवन चलता है। अतः हम जीवन चलाने के लिए वनस्पति का सहयोग ले तो सकते हैं, किन्तु वनस्पति का विनाश नहीं कर सकते।

सार रूप में, हम जीवन जीने के लिए दूसरों का सहयोग ले सकते हैं, लेकिन उनके विनाश का हमें कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि उनके विनाश में हमारा विनाश छिपा हुआ है। भक्तपरिज्ञा में इस सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है – **'जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ'** अर्थात् किसी भी जीव का विनाश करना अपना ही विनाश है और अन्य जीवों पर दया करना अपनी ही दया है।[131] जो जीवन के अस्तित्व का आधार है, उसका विनाश करके हम कैसे जी सकेंगे? अतः 'उचित सहयोग देना और उचित सहयोग लेना' यही पारिस्थितिकी तन्त्र का आदर्श रूप है। इस प्रकार, यह सहयोगमूलक अहिंसात्मक जीवन–दृष्टि जैनाचार्यों के गहन चिन्तन का एक उदाहरण है एवं पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए पथ–प्रदर्शक है। संक्षेप में कहें, तो **'एक सबके लिए और सब एक के लिए'** (One for all & All for one) ही जैनदर्शन का मूलमंत्र है, जिस पर मानव एवं उसके पर्यावरण का सह–अस्तित्व टिका हुआ है।

(8) माधुकरी वृत्ति एवं पर्यावरण–प्रबन्धन[132]

जैनधर्मदर्शन में अहिंसा का एक आदर्श स्वरूप वर्णित है। किन्तु, यह भी विचारणीय है कि जैनाचार्यों की दृष्टि मे अहिंसा कोरी कल्पना नहीं है, बल्कि पूर्णतया व्यवहार्य है।

आचारांग में साधक को स्पष्ट कहा गया है – प्राणियों को न मारना चाहिए, न उन पर अनुचित शासन करना चाहिए, न उन्हें गुलामों की तरह पराधीन करना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिए।[133]

यह भी कहा गया है – 'जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सबको दुःख प्रिय नहीं है', जो ऐसा जानकर न स्वयं हिंसा करे और न किसी से हिंसा करवाए, वह योगी ही सच्चा 'श्रमण' है।[134] संक्षेप में कहें, तो त्रस एवं स्थावर सभी जीवों की हिंसा न करना ही 'अहिंसा' का पूर्णपालन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्या अहिंसा का पूर्ण पालन सम्भव है? इस शंका के समाधान को मुनि की माधुकरी वृत्ति के रुप में प्रस्तुत किया गया है, जो पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए भी आदर्श है।

दशवैकालिकसूत्र में मुनि की निर्दोष आहार–चर्या (उपलक्षण से आवास, वस्त्र आदि समस्त चर्या) का चित्रण पूर्ण अहिंसा का दिग्दर्शन है।

★ जैसे मधुकर (भँवरा) अवधजीवी है अर्थात् जीवन–निर्वाह के लिए किसी का हनन, उपमर्दन आदि नहीं करता, उसी प्रकार मुनि भी आहार–प्राप्ति के लिए हिंसात्मक प्रवृत्ति नहीं करे।[135]

★ जैसे मधुकर पुष्पों को म्लान नहीं करते हुए थोड़ा–थोड़ा रस ग्रहण करता है, वैसे ही मुनि भी गृहस्थ के घर से स्वाभाविक रूप से निर्मित निर्दोष आहार अल्पमात्रा में ग्रहण करे।[136]

★ जैसे मधुकर उदरपूर्त्ति के लिए आवश्यक रस ग्रहण करता है, वैसे ही मुनि भी संयम के निर्वाह के लिए आवश्यक आहार ले, स्वादवश अधिक आहार न ले।[137]

★ जैसे मधुकर थोड़ा–थोड़ा रस पीता है, जिससे फूल म्लान नहीं होते, वैसे ही मुनि भी अनेक घरों से थोड़ी–थोड़ी भिक्षा ले, जिससे गृहस्थ पर भार न आवे।[138]

★ जैसे मधुकर एक वृक्ष या फूल से नहीं, किन्तु अनेक वृक्षों या फूलों से रस ग्रहण करता है, वैसे ही मुनि एक व्यक्ति, घर या गाँव पर आश्रित न होकर भिक्षा ग्रहण करे।[139]

इससे यह कहा जा सकता है कि जैनआचारमीमांसा के अनुसार जीने वाले महाव्रती साधक सिर्फ सैद्धान्तिक स्तर पर ही नहीं, प्रायोगिक स्तर पर भी अहिंसा का परिपालन करते हैं। यह जीवनशैली मानव एवं पर्यावरण के परस्पर सहकार का आदर्श रूप है।

इस जीवनशैली का अनुकरण मानवमात्र के द्वारा होना चाहिए। भले ही गृहस्थ वर्ग इसका पूर्ण पालन न कर सके, फिर भी जैनआचार में निर्दिष्ट मार्गानुसारी गुण, अणुव्रत, प्रतिमा आदि को ग्रहण कर वह इस आदर्श का यथाशक्ति अनुकरण तो कर ही सकता है। इससे वह न केवल आत्महित साध सकता है, अपितु पर्यावरण–प्रबन्धन में अपना सकारात्मक योगदान भी दे सकता है।

(9) हिंसा के दुष्परिणाम एवं पर्यावरण–प्रबन्धन की प्रेरणा[140]

जैनाचार्यों ने पृथ्वी, जल, हवा आदि के अतिदोहन एवं प्रदूषण के दुष्परिणामों के प्रति बारम्बार सावधान किया है। आचारांग में कहा गया है – **'आरंभजं दुक्खं'** अर्थात् हिंसा आदि असत्प्रवृत्तियाँ दुःख का कारण हैं।[141]

आज हम भले ही आर्थिक विकास, भौतिक ऐश्वर्य, सुविधाप्रद सम्पन्नता, व्यसन, मौज–शौकपरक विलासिता, फैशनपरक संस्कृति, प्रदर्शनपरक सभ्यता के मोहपाश में उलझते जा रहे हों, किन्तु इससे पर्यावरणीय ह्रास बढ़ता ही जा रहा है।

जैनाचार्यों की दृष्टि में उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्त्ति के लिए हम जो हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह आदि असत्प्रवृत्तियों को बढ़ाते जा रहें हैं, यह प्रगति कतई नहीं है। शुभचन्द्राचार्य कहते हैं – **'हिंसा एव दुर्गतेः द्वारम्'** अर्थात् हिंसा ही दुर्गति का द्वार है।[142] आचारांग में स्पष्ट कहा गया है – यह हिंसा कर्म–बन्धन रूप है, मोह अर्थात् भ्रमरूप है, मृत्युरूप है और नरकरूप है।[143] योगशास्त्रकार के अनुसार, 'जो करुणारहित होकर जीवों की हिंसा किया करते हैं, वे मरकर अत्यन्त दुःख देने वाली दुर्गति में जाते हैं।'[144]

आचारांग में दुर्गति में भटकने से बचने के लिए हमें स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि 'हे जीव! पापकर्म (असत्कर्म) न स्वयं करो, न अन्यों से कराओ।'[145] इसका कारण यह है कि जीव कर्मों का बन्धन करने में तो स्वतन्त्र है, परन्तु उनका फल भोगने के लिए पराधीन है। यह वैसा ही है, जैसे कोई पुरूष स्वेच्छा से वृक्ष पर चढ़ तो जाता है, किन्तु प्रमादवश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है।[146]

जैनाचार्यों के अनुसार, 'बुरे कर्मों का फल बुरा एवं अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है।'[147] अतः हमें हिंसा, असंयम आदि असत्प्रवृत्तियों से निवृत्त होना चाहिए एवं अहिंसा, संयम आदि सत्प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होना चाहिए। संक्षेप में कहें, तो हमें आशा (इच्छा) एवं स्वच्छन्दता का त्याग करना चाहिए। वस्तुतः, आशा का त्याग हमारे अंतरंग पर्यावरण का एवं स्वच्छन्दता का त्याग हमारे बाह्य पर्यावरण का सम्यक् नियोजन करेगा।

(10) आत्म–स्वातन्त्र्य एवं पर्यावरण–प्रबन्धन[148]

भगवान् महावीर ने यह उपदेश दिया है कि प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र है। वह किसी ईश्वरीय (या अन्य किसी) शक्ति का अंश या अधीनस्थ नहीं है एवं वह अपने हित–अहित के लिए स्वयं समर्थ है। यह आत्म–स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए हमारे उत्तरदायित्व को निर्धारित (स्पष्ट) करता है।[149]

आज पर्यावरण की समस्या अनियन्त्रित होती जा रही है। क्या इसका नियन्ता ईश्वर है? जैनदर्शन के अनुसार, ईश्वर न जगत् का सृजनकर्त्ता है, न पालनकर्त्ता है और न ही संहारकर्त्ता है।

यदि हम ईश्वरकर्त्तृत्ववाद को स्वीकारें, तो पर्यावरण–प्रबन्धन में मानवीय योगदान की ही उपेक्षा हो जाती है। इससे पर्यावरण–प्रबन्धन अर्थहीन बन जाता है। भगवान् महावीर ने आत्म–स्वातन्त्र्य एवं पुरूषार्थवाद को प्रतिपादित कर पर्यावरण–प्रबन्धन के प्रयासों की सार्थकता सिद्ध की है।

आत्मस्वातन्त्र्य की स्वीकृतिपूर्वक उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है – 'आत्मा ही अपना मित्र और शत्रु दोनों है, सुपथगामी आत्मा मित्र है और कुपथगामी आत्मा शत्रु है।' आशय यह है कि अपने उत्थान एवं पतन के लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं।[150] आचारांग में आत्म–पौरूष को जगाते हुए कहा गया है – 'हे पुरूष! तू स्वयं ही अपना मित्र है, फिर तू बाहर मित्र कहाँ ढूँढता है' अर्थात् क्यों पर की अपेक्षा करता है। तात्पर्य यह है कि जब तुम स्वयं शक्तिसम्पन्न हो, तो पराश्रित जीवन क्यों जीते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो?[151]

इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि अपने पर्यावरण का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग करने के लिए भी हम स्वयं जिम्मेदार हैं। इसी कारण से दशवैकालिक में उपदेश दिया गया है कि सजगतापूर्वक (जयणापूर्वक) चलना, खड़ा होना, बैठना, सोना, आहार करना एवं बोलना चाहिए, जिससे पाप–कर्म का बन्धन न हो अर्थात् संसाधनों का शोषण एवं दुरुपयोग न हो।[152]

इस चर्चा से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि हम अपने संयम–असंयम, हिंसा–अहिंसा, परिग्रह–अपरिग्रह, स्वच्छन्दता–परतन्त्रता, प्रमाद–अप्रमाद, कोमलता–क्रूरता, दया–निर्दयता, स्वार्थ–निःस्वार्थता, सदाचारिता–दुराचारिता आदि प्रतिपक्षी भावयुगलों में से मानवोचित भावों को अपनाएँ, जिससे पर्यावरण–प्रबन्धन की ओर आगे बढ़ सकें।

=====❮✹❯=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8.6 जैनआचारमीमांसा में पर्यावरण–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष

जैनआचारमीमांसा में पर्यावरण–प्रबन्धन से सम्बन्धित न केवल सैद्धान्तिक (ग्रहणात्मक), बल्कि प्रायोगिक (आसेवनात्मक) शिक्षाएँ भी दी गई हैं। जहाँ सैद्धान्तिक शिक्षाओं के माध्यम से अहिंसा, आत्मौपम्य, सहकारमूलक आदि जीवन–दृष्टियों का विकास होता है, वहीं प्रायोगिक शिक्षाओं के द्वारा सम्यक् जीवन–व्यवहार का निर्माण होता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस – इन षट्जीवनिकायों के साथ हमारा सम्यक् व्यवहार ही पर्यावरण–प्रबन्धन के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायभूत हो सकता है। इस सन्दर्भ में जैनआचारग्रन्थों, जैसे – आचारांग, सूत्रकृतांग, जीवाजीवाभिगम, भगवती, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि में स्पष्ट निर्देश दिए गए हैं, जिनका परिपालन करना मानव एवं उसके पर्यावरण के लिए अत्यन्त हितकर है। आगे, पृथ्वी आदि षट्जीवनिकायों के प्रबन्धन के प्रायोगिक तत्त्वों के विषय में क्रमशः चर्चा की जा रही है।

8.6.1 भूमि–संरक्षण

भूमि का महत्त्व अप्रतिम है, क्योंकि यह जल, वायु, वनस्पति, त्रस आदि प्राणीय जीवन के अनेक रूपों की आश्रय प्रदात्री है। जैनआचारमीमांसा में इसके संरक्षण के लिए अनेक निर्देश दिए गए हैं, जो पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए लाभप्रद है।

भूमि में विद्यमान जीवन के अस्तित्व को सिद्ध करके भगवान् महावीर ने भूमि के भौतिक के साथ जैविक महत्त्व को भी प्रकट किया। दशवैकालिक ग्रन्थ में भूमि में विद्यमान जीवन–सत्ता के विषय में कहा गया है – **'पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थ परिणएणं',**[153] तो दूसरी जगह यह भी कहा गया है – **'पुढवीकायं विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए। तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे'**[154] – इन दोनों सूत्रों से जैनाचार्यों की भूमि–पर्यावरण सम्बन्धी संवेदनशील–दृष्टि स्पष्ट होती है कि पृथ्वी (भूमि) न केवल स्वयं सजीव है और पृथक्–पृथक् अस्तित्व वाले असंख्य जीवों से युक्त है, बल्कि इसके आश्रित भी दृश्यमान–अदृश्यमान विविध त्रस एवं स्थावर जीव जीते हैं। यदि कोई पृथ्वी या भूमि के जीवों (पृथ्वीकायिक जीवों) की हिंसा अर्थात् भूमि का दोहन–शोषण आदि करता है, तो वह उसके आश्रित जीने वाले असंख्यात जीवों की भी हिंसा करता है। अतः पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[155] जैन साधु–साध्वियों को इसीलिए निर्देश दिया गया है कि वे मन–वच–तन से पृथ्वी, भित्ति (दरार), शिला, ढेले आदि का भेदन–कुरेदन न करें, न कराएँ और न ही ऐसे कार्यों का समर्थन करें।[156] यह भूमि–संरक्षण के लिए आदर्श–जीवन का स्वरूप है।

यह आश्चर्य की बात है कि पृथ्वी के आश्रित जीने वाले अदृश्यमान (इंद्रिय–अगोचर) जीवों के सन्दर्भ में कही गई बातें आज वैज्ञानिक यन्त्रों से भी सिद्ध हो रही हैं। विश्वविख्यात वैज्ञानिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जूलियस हक्सले के अनुसार, 'पेन्सिल की नोंक से जितनी मिट्टी उठ सकती है, उसमें दो अरब से भी अधिक कीटाणु (जीव) होते हैं।'[157] यह वैज्ञानिक कथन न केवल जैनआचारमीमांसा की प्रामाणिकता को सिद्ध करता है, अपितु पृथ्वी के जीवों के प्रति आत्मीय दृष्टिकोण की आवश्यकता को प्रतिपादित भी करता है।

इतना ही नहीं, जीवाजीवाभिगम में पृथ्वी पर आश्रित जीवों के बारे में नहीं, बल्कि स्वयं पृथ्वी के जीवों के बारे में कहा गया है कि वे जघन्य–उत्कृष्ट रूप (न्यूनतम–अधिकतम रुप) से अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण वाले होते हैं। कहा जा सकता है कि सूई की नोंक बराबर पृथ्वी के भाग में असंख्य जीव होते हैं।[158] अतः मनुष्यों को चाहिए कि वे इनकी अधिकाधिक रक्षा अर्थात् इनका संरक्षण करे। जैनदर्शन में तो कहा भी गया है कि दान में सर्वश्रेष्ठ है – अभयदान।[159] इस प्रकार जैन–दर्शन में पृथ्वीकायिक जीवों की रक्षा का निर्देश दिया जाना भूमि–संरक्षण के लिए अत्यन्त हितकर है।

जीवदया के उद्देश्य से आचारांग में पृथ्वीकायिक निरपराधी जीवों के प्रति आत्मतुल्य दृष्टिकोण पूर्वक उनकी नृशंस हिंसा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति जन्म से अन्धा, बहिरा, लूला, लंगड़ा तथा हीन अवयव वाला हो और कोई दूसरा व्यक्ति भाले आदि के द्वारा उसके पाँव, टखने, पिण्डली, घुटने, जंघा, कमर, नाभि, पेट, पसली, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कन्धा, भुजा, हाथ, अंगुलि, नख, गर्दन, दाढ़ी, होंठ, दाँत, जीभ, तालु, गाल, कान, नाक, आँख, भौंहे, ललाट, मस्तक इत्यादि अवयवों का छेदन–भेदन करे, तो उसे वेदना तो होती है, किन्तु वह व्यक्त नहीं कर सकता, वैसी ही वेदना पृथ्वीकायिक जीवों को भी होती है।[160] यदि हर व्यक्ति इतनी आत्मीयता एवं करुणापूर्वक चिन्तन करे तो भूमि–संरक्षण स्वतः हो जाए, यही जैनआचारमीमांसा की विशिष्टता है।

पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए जैन साधु–साध्वियों का जीवन आज इस कलियुग में भी एक आदर्श है। इसका एक उदाहरण है – इनकी भूमि–संरक्षण सम्बन्धी चर्या। दशवैकालिक में कहा गया है – 'मुनि को सजीव पृथ्वी पर नहीं बैठना चाहिए' अर्थात् मुनि को सजीव भूमि पर तो बैठना ही नहीं चाहिए एवं निर्जीव भूमि पर भी आसन के बिना नहीं बैठना चाहिए।[161] यहाँ भी तत्त्व छिपा है। यदि मुनि इस निर्देश की उपेक्षा करता है, तो उसकी दैहिक उष्मा से पृथ्वी में विद्यमान जीवों की हिंसा हो जाएगी एवं अप्रत्यक्ष रूप से इसका प्रभाव पारिस्थितिकीय तन्त्र पर आएगा। हम कल्पना कर सकते हैं कि जैनाचार्यों की भूमि–संरक्षण के प्रति कितनी अधिक जागरुकता रही है।

इसी प्रकार, वर्त्तमान में जहाँ दुनिया में लोग कूड़ा–करकट, धूल, सब्जी के पोलीथिन, छिलके, बोतलें आदि अपशिष्ट जहाँ–तहाँ फेंक देते हैं, वहीं जैनआचारमीमांसा में साधु–साध्वियों के लिए मल–मूत्र का विसर्जन भी निर्जीव भूमि पर सम्यक् प्रतिलेखन करने के पश्चात् ही करने का निर्देश दिया गया है। इससे भी भूमि–प्रदूषण से बचाव होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनाचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि महाव्रती साधु–साध्वियों को हाथ, पाँव, काष्ठ, बाँस की खपच्ची आदि के द्वारा सामान्य क्रियाओं, जैसे – कुरेदना, खोदना, चित्रित करना, रेखा करना, हिलाना, चलाना, भेदना, तोड़ना, विदारणा, दो–तीन भाग करना आदि के द्वारा पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। इससे समझा जा सकता है कि जब साधारण कार्यों के लिए ही निषेध है, तो विशेष कार्यों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यह भूमि–संरक्षण का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।[162]

ऐसा नहीं है कि जैनआचारमीमांसा में सिर्फ साधु–साध्वियों के लिए ही भूमि–संरक्षण के योग्य कर्त्तव्यों का विधान है। गृहस्थ उपासकों के लिए भी कहा गया है कि वे भी वनकर्म, अंगारकर्म एवं स्फोटककर्म के द्वारा पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा न करे।

आचारांग में कहा गया है कि विषय–कषायादि से पीड़ित, विवेक शून्य एवं सुख के लिए आतुर व्यक्ति पृथ्वी के जीवों को अनेक तरह से पीड़ित करते हैं।[163] जैनआचारमीमांसा में स्पष्ट निर्देश दिए गए हैं कि गृहस्थ को भी कृषि कर्म को छोड़कर अंशतः तो अपनी इन हिंसक क्रियाओं को मर्यादित करना ही चाहिए। यह भूमि–संरक्षण के लिए उपयोगी निर्देश है।

वर्त्तमान में पर्वतों को अनियन्त्रित रूप से ढहाया जा रहा है। पहाड़ी क्षेत्रों को समतल किया जा रहा है। भविष्य की ओर दृष्टिपात किए बिना पृथ्वी का खनन किया जा रहा है। खनिज सम्पदा को अधिक प्राप्त करने की चाह में प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ रहा है।[164] इसका समाधान हमें जैनाचार में मिलता है, जहाँ गृहस्थ के लिए भूमिस्फोटक कर्म निषिद्ध है अर्थात् ऐसा व्यवसाय जिसमें शस्त्र या विस्फोटक द्रव्यों आदि के द्वारा खदान खोदने, पत्थर फोड़ने, तालाब–कुएँ खोदने, शिलाओं को तोड़ने आदि की अनियन्त्रित क्रियाएँ की जाती हैं, उसे अनुचित एवं त्याज्य माना गया है।[165]

आज सुविधावादी संस्कृति को अत्यधिक बढ़ावा मिल रहा है। व्यक्ति अधिक से अधिक सुविधामय जीवन जीना चाहता है। इसी कारण, वह फर्नीचर, बर्तन, उपकरण, वाहन आदि का अनियंत्रित संग्रह कर रहा है। इन सामग्रियों को जैनदर्शन में द्रव्य–परिग्रह कहा जाता है, जबकि इनके प्रति होने वाला ममत्व या मोह भाव, भाव–परिग्रह कहलाता है।[166] इनमें से अधिकांश सामग्रियाँ लकड़ी, लोहा, स्टील, प्लास्टिक, फोम, रबर, रसायन, सीमेन्ट, रेती, बालू, संगमरमर आदि से निर्मित होती हैं। इनके अधिक उपयोग करने का अर्थ है – इनके उत्पादन एवं दोहन को अधिक प्रोत्साहन देना। इसी कारण, जैनआचार में परिग्रह को परिमित करने हेतु गृहस्थ को निर्देश दिया गया है। इससे हम पृथ्वीकायिक जीवों के संरक्षण अर्थात् भूमि संसाधनों के संरक्षण में अपना व्यक्तिगत योगदान दे सकते हैं।

इसी प्रकार जैनाचार में गृहस्थ को पृथ्वीकाय सम्बन्धी अर्थहीन क्रियाओं को ही करने एवं निरर्थक क्रियाओं को त्यागने का निर्देश भी दिया गया है, जो 'अनर्थदण्डत्याग व्रत' के अन्तर्गत आता है।[167]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि साधु तथा गृहस्थ दोनों को पृथ्वी का उपयोग करना होता है, फिर भी प्रमादवश पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा होने पर ये हिंसा की आलोचना करते हैं, उन निरपराध जीवों से क्षमायाचना करते हैं एवं भविष्य में उनकी हिंसा नहीं करने का संकल्प भी करते हैं। आलोचना पाठ की निम्न पंक्तियाँ उदाहरणस्वरूप हैं[168] –

पृथ्वी पाणी तेउ वायु वनस्पति।
ए पांचे थावर कह्यां ए।।1।।
करी करसण आरम्भ क्षेत्र जे खेड़ीया।
कुवा तलाब खणावीया ए।।2।।
घर आरम्भ अनेक, टांका भोयरा।
मेडी माल चणावीआ ए।।3।।
लींपण गुम्पण काज, एणी परे परे परे।
पृथ्वीकाय विराधिया ए।।4।।

आलोचना पाठ में आशय यह है कि गृहस्थ जीवन में घरेलु एवं व्यावसायिक अनेक कार्य ऐसे होते हैं, जिनमें पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा अर्थात् भूमि–संसाधनों का प्रयोग किया जाता है। इससे भूमि प्रदूषण भी बढ़ता है। फिर भी, अपने जीवन–रक्षण हेतु उन्हें करना पड़ता है, अतः ऐसे समस्त कार्यों की आलोचना करना ही उपर्युक्त पंक्तियों का भाव है।

नीचे एक सूची दी जा रही है, जिसका अंशतः अथवा पूर्णतः पालन करके गृहस्थ भी न केवल पृथ्वीकायिक जीवों से सम्बन्धित अर्थहीन असत्कर्मों से बच सकते हैं, बल्कि पर्यावरण–प्रबन्धन के लक्ष्य को भी साध सकते हैं –

1) आवश्यकता से अधिक भवन–निर्माण नहीं करें।
2) आवश्यकता से अधिक कुएँ, बावड़ी, ट्यूबवेल आदि नहीं खुदवाएँ।
3) अपशिष्ट पदार्थों को पूरा–पूरा उपयोग करके एवं निर्जीव भूमि का सम्यक् प्रतिलेखन करके ही फेंकें।
4) स्नानघर में प्रयोज्य सामग्रियों, जैसे – साबुन, डिटर्जेण्ट, दन्त–मंजन, वॉशिंग पाउडर, शेम्पू आदि की यथाशक्य मर्यादा बनाएँ।
5) शौचालय में प्रयुक्त फिनाइल, टॉयलेट क्लीनर की अपेक्षा बेकिंग पाउडर आदि का उपयोग करें।
6) शारीरिक सामग्रियों, जैसे – सिन्थेटिक वस्त्र, आभूषण, जूते–चप्पल आदि की मर्यादा करें।
7) शृंगार प्रसाधन, जैसे – पाउडर, क्रीम, लिपिस्टिक, फाउण्डेशन, रुज पाउडर, फेस पाउडर, मस्करा, आई लाइनर, शेविंग सोप, शेविंग क्रीम, आफ्टर शेव, डीओड्रेन्ट (Deodorant), बॉडीस्प्रे, हेयर डाई, हेयर जेल, हेयर स्प्रे, हेयर रिमुवर, बॉडी लोशन, नेलपॉलिश, लिप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लाइनर, लिप बाम आदि की मर्यादा करें अथवा त्याग करें।

8) दैनिक आवश्यकता की सामग्रियों को सीमित करें, जैसे – घड़ी, पेन, पेन्सिल, मोबाईल, टेबल, कुर्सी, फर्नीचर, पॉलीथिन आदि।

9) वाहनों की संख्या एवं प्रकार को मर्यादित करें।

10) भूमिस्फोटककर्म, जैसे – खदान (Mine), कुएँ–तालाब, हैण्ड–पम्प आदि (Borewell etc), सड़क निर्माण, नहर–निर्माण, पुल–निर्माण, भवन–निर्माण (Building Construction) आदि अत्यावश्यक होने पर ही करना अन्यथा उनका त्याग करें।

11) औद्योगिक एवं व्यावसायिक अपशिष्ट पदार्थों का अधिकतम प्रयोग करके निर्जीव स्थान पर डालें।

12) विषैले पदार्थों को निर्जीव भूमि पर मिट्टी के भीतर डालें, जिससे इनका प्रभाव दूसरे जीवों पर न पड़े।

13) जैनआचार के अनुसार, सौर किरणें अचित्त होती हैं, अतः अन्य संसाधनों, जैसे – कोयला, घासलेट, पेट्रोल, डीजल, विद्युत की तुलना में सौर ऊर्जा को प्राथमिकता दें।

14) घरेलु उपकरणों, जैसे – बर्तन, क्रॉकरी, फ्रिज, अलमारी, पंखा, मिक्सर, ब्लेंडर, कुकर, वॉशिंग–मशीन, माइक्रोवेव ओवन, रोटी मेकर, रोस्टर, वेक्युम क्लीनर, मोटर–पम्प, कम्प्यूटर, प्रिन्टर, स्कैनर, फोटो कॉपीयर, वॉटर प्युरीफायर, वॉटर गीजर आदि की संख्या एवं प्रकार को सीमित करें।

15) मकान आदि के मलबे को निरवद्य भूमि पर डालें।

16) अन्धविश्वासों से प्रेरित होकर पूर्वनिर्मित भवनों में अनावश्यक तोड़–फोड़ न कराएँ।

17) अन्धविश्वासों से प्रेरित होकर विघ्न टालने एवं लाभ प्राप्ति हेतु अनेक प्रकार की माला, अंगूठी आदि नहीं पहनें।

18) भवन आदि के रंग–रोगन आवश्यकता होने पर ही कराएँ।

8.6.2 जल–संरक्षण

जल प्रकृति का अनमोल उपहार है, किन्तु आज जल का भयंकर अपव्यय और अनियन्त्रित प्रदूषण हो रहा है। जैनआचारमीमांसा में ऐसे अनेक निर्देश उपलब्ध हैं, जिनसे जल को प्रदूषण से मुक्त रखा जा सके एवं उसका सीमित उपयोग किया जा सके।

जैनाचार्यों ने न केवल जल के आश्रित विविध त्रस एवं स्थावर जीवों (दृश्य और अदृश्य दोनों) के अस्तित्व को स्वीकार किया, अपितु स्वयं जल की एक बून्द में असंख्यात जलकायिक जीवों की सत्ता को भी उद्घाटित किया।[169] इसका वर्णन हमें प्राचीन जैन आगमों, जैसे – आचारांग, जीवाजीवाभिगम, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक[170] आदि में स्पष्ट रूप से मिलता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक कैप्टन स्कवेसिवी ने एक बूँद जल में यन्त्र के द्वारा 36,450 जीव गिनाएँ हैं, जो जैनाचार्यों की इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मान्यता को सिद्ध करता है कि जल के आश्रित अनेक अदृश्य (इंद्रिय–अगोचर) त्रस जीव मौजूद होते हैं।[171] जैनाचार्यों ने इस प्रकार जल को सिर्फ भौतिक ही नहीं, अपितु जैविक महत्त्व भी दिया। इसी आधार पर उन्होंने मनुष्यों को इन जल के जीवों के प्रति आत्मवत् दृष्टिकोण अपनाने एवं इनकी हिंसा अर्थात् इनका प्रदूषण एवं अपव्यय रोकने की सम्यक् प्रेरणा दी है।

आज सुविधावादी दृष्टिकोण के प्रवाह में एक व्यक्ति प्रतिदिन लगभग 500 लीटर जल का दुरुपयोग कर रहा है, जबकि वह चाहे तो 15–20 लीटर में भी अपनी दैनिक आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है। जैन–परम्परा में आज भी साधु–साध्वी प्रतिदिन 6–8 लीटर जल से ही आनन्दपूर्वक जीवन–यापन कर लेते हैं।[172]

इसका कारण यह है कि जैन साधु–साध्वी को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वे जलकायिक जीवों की मन–वचन–काया से न स्वयं हिंसा करें, न हिंसा कराएँ और न ही हिंसा का अनुमोदन करें। आचारांग में तो स्पष्ट कहा है कि पीने के लिए अथवा स्नानादि शरीर शुद्धि के लिए भी जलकायिक जीवों की अधिक हिंसा करना उचित नहीं है।[173] जैन–परम्परा में तो मुनि के लिए सजीव जल के प्रयोग का ही निषेध है। जैन मुनि केवल उबला हुआ गर्म पानी (तप्तप्रासुक जल) अथवा अन्य किसी साधन से निर्जीव हुआ जल ही ग्रहण कर सकता है।[174] पूर्व में किसी कार्य में प्रयोग करने के पश्चात् बचे अपशिष्ट जल को शुद्ध कर वह प्रयोग कर सकता है अर्थात् सामान्य उपयोग के लिए वह ऐसा निर्जीव जल भी ले सकता है, जिसका उपयोग गृहस्थ कर चुका है और उसे बेकार मान कर फेंक रहा है।[175]

जैन–परम्परा में सिर्फ साधु–साध्वी के लिए ही नहीं, अपितु गृहस्थों के लिए भी जलकायिक जीवों की हिंसा अर्थात् जल का दुरुपयोग न करने की प्रेरणा दी गई है। जैनआचारपरम्परा में जैन साधु–साध्वी अक्सर पानी का प्रदूषण रोकने के लिए गृहस्थों को नियम देते हैं, जैसे – नदी, कुएँ आदि में स्नान न करें, स्नान में आधी बाल्टी से अधिक पानी का उपयोग न करें इत्यादि।[176]

जैन–परम्परा में आवश्यकता से अधिक जल के उपभोग को अनर्थदण्ड क्रियाओं में सम्मिलित कर उन्हें अनुचित एवं त्याज्य कहा गया है।[177] उपासकदशांगसूत्र में उपभोग–परिभोग योग्य इक्कीस वस्तुओं (श्रावक–प्रतिक्रमणसूत्र में 26 वस्तुओं) की मर्यादा निश्चित करने के लिए कहा गया है, इनमें से निम्नलिखित मर्यादाएँ जल के अपव्यय एवं प्रदूषण को रोकती हैं –

- ★ **स्नान विधि** – इसमें स्नान के लिए पानी की मर्यादा निश्चित की जाती है।[178]
- ★ **उद्वर्त्तन विधि** – इसमें शरीर पर लगाई जाने वाली उबटन (साबुन आदि) की मर्यादा निश्चित की गई है, इससे परोक्ष रूप से पानी का अपव्यय कम हो जाता है।[179]
- ★ **पानीय विधि** – इसमें पीने के पानी की मर्यादा की गई है, इससे जूठा पानी फेंकने या छोड़ने पर नियन्त्रण हो जाता है।[180]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ **ताम्बूल विधि** – इसमें मुख–शुद्धि के लिए पान आदि की मर्यादा की गई है, इससे बार–बार कुल्ला करने की आवश्यकता कम हो जाती हैं।[181]

★ **विलेपन विधि** – इसमें स्नान के पश्चात् शरीर पर चन्दन आदि से लेप करने वाली वस्तुओं की मर्यादा की गई है, इससे पुनः स्नान करते समय अधिक पानी की आवश्यकता नहीं पड़ती।[182]

★ **वाहन विधि** – जिन पर सवार होकर भ्रमण, सैर अथवा प्रवास किया जाता है, ऐसे वाहनों की मर्यादा की गई है। इसमें जलीय जहाज, नाव आदि का परिमाण करने से जल–प्रदूषण एवं जलीय जीवों, जैसे – मत्स्य आदि को भयभीत करने से अथवा इनकी हिंसा करने से बचा जा सकता है।[183]

इसके अतिरिक्त जैनआचारमीमांसा में 'सरोह्रदतडाग शोषण' (सरोवर आदि सुखाने) सम्बन्धी व्यवसाय को निषिद्ध माना गया है।[184] उपासकदशांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ को तालाब, झील, सरोवर, नदी आदि जलाशयों को सुखाने का व्यवसाय नहीं करना चाहिए।[185]

इस प्रकार, उपर्युक्त उद्धरण इस बात को द्योतित करते हैं कि जलकायिक जीवों की हिंसा अर्थात् पानी का दुरुपयोग न करने के प्रति जैनाचार्यों की गहरी संवेदना रही है। यह अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि यदि आज के परिप्रेक्ष्य में जैनाचार का आंशिक परिपालन भी किया जाए, तो दुनिया में प्रतिदिन लाखों–करोड़ों गैलन पानी का दुरुपयोग रोका जा सकता है।

इसी सन्दर्भ में उदाहरणस्वरूप निम्न सूची प्रस्तुत की जा रही है, जिसका अनुकरण कर हम जल–संरक्षण के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं –

1) नल खोलकर दन्त–मंजन करने में अधिक जल (लगभग 20–25 लीटर) ढोलने के बजाय शुद्ध छने जल से भरे ग्लास या लोटे का उपयोग करें।
2) स्नान हेतु बाथ–टब का प्रयोग करने में अधिक जल का अपव्यय करने के बजाय छोटी बाल्टी एवं छोटे मग का प्रयोग कर अधिकतम 5–7 लीटर जल से स्नान करें।
3) स्नान में शेम्पु, साबुन आदि उद्वर्त्तनों की मर्यादा करें। एक माह में 3–4 बार से अधिक शेम्पु, साबुन आदि का प्रयोग न करें।
4) शौचालय में फ्लॅश टेंक का उपयोग करने के बजाय छोटी बाल्टी या छोटा सिस्टर्न का प्रयोग करें।
5) नल खोलकर शेव करने के बजाय मग में पानी लेकर शेव करें।
6) नल खोलकर बर्तन माँजने के बजाय बाल्टी, टब आदि का उपयोग करें।
7) नल खोलकर कपड़े धोने के बजाय बाल्टी, टब आदि का उपयोग करें।
8) भोजन, नाश्ते के पश्चात् थाली, कटोरी, ग्लास आदि को धोकर पी लें, जिससे न केवल अपशिष्ट पदार्थों से उत्पन्न होने वाला प्रदूषण रुकेगा, अपितु बर्तन माँजने में अल्प जल की ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकता पड़ेगी। आज भी यह परम्परा जैनाचार में प्रचलित है।

9) जल पीने के लिए बारम्बार बदल–बदल कर ग्लास का उपयोग करने के बजाय घर का प्रत्येक सदस्य अपनी–अपनी नियत ग्लास का प्रयोग करे।

10) जल के रिसाव को रोकें, क्योंकि प्रति सैकण्ड नल से टपकती जल–बूँद से एक दिन में करीब 17 लीटर जल का अपव्यय होता है।

11) पानी की टंकी में पानी पूर्ण भरने से पूर्व मोटर–पम्प बन्द करें (Stop overflow of water)।

12) वाहन धोते समय न्यूनतम पानी का प्रयोग करें। इस हेतु नली के मुँह पर बन्द–चालू करने की सुविधा होनी आवश्यक है।

13) बगीचे में कृत्रिम फव्वारों (Artificial fountains) का प्रयोग न करें।

14) कूलर का प्रयोग न करने का प्रयत्न करें।

15) पानी का पुनरूपयोग अधिकाधिक करने का प्रयास करें, जैसे – कपड़े, बर्तन या अन्य सामग्री धोने के बाद बचे हुए जल को निथारकर उससे आँगन की सफाई करना, पोछा लगाना, गाड़ी धोना, छिड़काव करना आदि।

16) होली न खेलें।

17) अनावश्यक रंग–रोगन, साफ–सफाई न करें।

18) शरीर पर विलेपन सामग्रियाँ (शृंगार प्रसाधनों) का प्रयोग टालने का प्रयत्न करें। इससे न केवल चर्म–रोगों से मुक्ति मिलेगी, बल्कि स्नान करते हुए पानी का प्रदूषण भी नहीं बढ़ेगा एवं साबुन का उपयोग भी कम हो सकेगा। यह ध्यान देने योग्य है कि ये रासायनिक पदार्थ चमड़ी पर विकृत प्रभाव भी डालते हैं।

19) कुएँ, टंकी, बाल्टी आदि खुले न छोड़ें।

20) नदी, तालाब, जलाशय आदि में अपशिष्ट पदार्थ, जैसे – कूड़ा–कर्कट, पॉलिथीन आदि न डालें।

21) नदी, तालाब, जलाशय आदि के किनारे बैठकर उसमें मिट्टी के ढेले, वृक्ष की टहनी, कंकड़ आदि न फेंकें।

22) बर्फीले पर्यटन क्षेत्रों में घूमने–फिरने पर प्रदूषण न फैलाएँ।

23) सामुद्रिक जहाजों का अनावश्यक प्रयोग न करें।

24) नदी, तालाब आदि में मनोरंजनार्थ बोटिंग न करें।

25) मत्स्य आदि जलचर प्राणियों का व्यापार न करें। इससे न केवल जैव–विविधता को संरक्षण मिलेगा, अपितु जल में अनावश्यक प्रदूषण भी नहीं फैलेगा।

26) स्वीमिंग–पूल, वॉटर–पार्क आदि में जाकर नहाने से शारीरिक मल–मूत्र, पसीने आदि से अनावश्यक रूप से जल–प्रदूषित होता है, अतः इनका उपयोग न करें।

27) औद्योगिक या घरेलु अपशिष्टों में कई जहरीले रासायनिक पदार्थ होते हैं, अतः इन्हें जलाशय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि में प्रवाहित न करें।

28) कृषि में उतना ही सिंचन करें, जितनी फसल को आवश्यकता है।

29) सरोवर आदि सुखाने का व्यापार न करें।

30) कृषि में रासायनिक खादों के प्रयोग को टालने का प्रयत्न करें, जिससे जल को प्रदूषित होने से रोका जा सके।

31) बगीचा या लॉन के सिंचन में अत्यधिक जल का उपयोग होता है। इसके बजाए नैसर्गिक रूप से उगी हुई वनस्पति के संरक्षण को प्राथमिकता दें।

32) यदि बगीचा लगाना ही हो, तो पानी का अपव्यय कम से कम हो, इस हेतु प्रयत्न करें।

33) अपने एवं आसपास के घरों के अपशिष्ट जल को शुद्ध करके भी उसका प्रयोग बगीचे में किया जा सकता है।

34) उद्योगों की चिमनियों को ऊँचा बनाएँ, जिससे वायुमण्डल में विद्यमान जलीय–कण प्रदूषित न हो।

35) नल से बाल्टी में पानी भरते हुए इधर–उधर नहीं जाएँ एवं लापरवाही भी नहीं बरतें, जिससे पानी ढुलने से बच सकें।

36) बरसात के पानी का भी अधिकाधिक सदुपयोग करें।

8.6.3 अग्नि–संरक्षण

यद्यपि प्राचीनकाल में आज की तुलना में अग्नि–प्रयोग अत्यधिक कम होता था, फिर भी जैनाचार्यों ने अग्नि–स्रोतों के संरक्षण पर विशेष जोर दिया है। यह पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए महत्त्वपूर्ण बात है।

जैनाचार्यों ने अग्नि में भी जैविक–सत्ता को स्वीकार किया है, साथ ही यह माना है कि अव्यवस्थित एवं असावधानी से किया गया अग्नि प्रयोग अन्य जीवों की हिंसा का भी कारण होता है। इसीलिए दशवैकालिकसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि अग्नि सजीव होती है, जिसमें पृथक्–पृथक् अस्तित्व वाले अनेक जीव होते हैं।[186] अतः जैनाचार्यों की दृष्टि में, अग्नि के जीवों की हिंसा अर्थात् अग्नि का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।[187]

आचारांग में यह भी कहा गया है कि अग्नि–प्रयोग करने पर केवल अग्नि के जीवों की ही हिंसा नहीं होती, बल्कि जमीन, घास, पत्ते, काष्ठ, गोबर एवं कचरे के आश्रित जीने वाले अनेक त्रस जीव तथा पतंगों के समान अनेक सम्पातिम जीव भी अग्नि में गिर पड़ते हैं। अग्नि में गिरने पर इनके शरीर जल जाते हैं और अन्ततः ये मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इस तरह अग्नि को प्रज्वलित करके अग्निकायिक जीवों के साथ अन्य अनेक प्राणियों की भी हिंसा होती है, इसीलिए जैनाचार्यों की दृष्टि में हमें अग्नि का नियन्त्रित प्रयोग ही करना चाहिए।[188]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दशवैकालिक में अग्नि को **'हव्ववाहो'** कहा गया है, क्योंकि यह ऐसा शस्त्र है, जो एक ओर जीवित प्राणियों का वध करता है, तो दूसरी ओर अजीव संसाधनों का विनाश भी करता है।[189] दूसरे शब्दों में, यह पर्यावरण के जैविक एवं अजैविक घटकों को विनष्ट करके पर्यावरणीय सन्तुलन को बहुत तेजी से भंग करता है। अतः अग्नि का सीमित प्रयोग पर्यावरण सन्तुलन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अग्नि के सन्दर्भ में कहा गया है कि यह सब शस्त्रों में से **तीक्ष्णतम** है।[190] अग्नि की यह भयावहता ही उसके प्रयोग में सावधान रहने का निर्देश देती है। यह भी कहा गया है कि अग्नि सब ओर से दुराश्रय है अर्थात् इसे अपने आश्रित करना दुष्कर है, क्योंकि यह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उर्ध्व, अधो एवं विदिशाओं में फैलते हुए जीव–अजीव सबको जलाती है।[191] अतः इसके प्रयोग से प्रायः पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति एवं अन्य समस्त प्राणी दुष्प्रभावित होते हैं।

जैन–परम्परा में साधु–साध्वियों को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वे प्रकाश और ताप दोनों के लिए अग्नि का प्रयोग न करें।[192] यह भी कहा गया है कि चूँकि अग्नि अन्य जीवों के वध का कारण भी है, इसीलिए अंगार कर्म को दुर्गतिवर्धक जानकर वे जीवन–पर्यन्त ही अग्नि के माध्यम से होने वाली जीवहिंसा का परित्याग करें।[193] आचारांग में तो और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि बुद्धिमान् साधक स्वयं अग्निकाय का प्रयोग न करे, न कराए और न करते हुए का समर्थन ही करे। आज भी यह परम्परा जैन साधु–साध्वियों में प्रचलित है।[194]

पुनः, गृहस्थ उपासकों को भी अग्नि का अनावश्यक उपयोग नहीं करने के लिए जैनाचार में निर्देश दिए गए हैं।

उपासकदशांगसूत्र में कोयला बनाना, जंगल में आग लगाना आदि 'अंगार कर्म' का स्पष्ट निषेध किया गया है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से अग्निकाय के जीवों की हिंसा एवं पर्यावरण प्रदूषण होता है।[195] इसी प्रकार वनकर्म अर्थात् वन–सम्बन्धी व्यवसाय, जैसे – हरे वृक्ष काटकर लकड़ियाँ बेचना या कोयला बनाकर बेचना इत्यादि भी त्याज्य बताए गए हैं, क्योंकि इसमें भी अग्नि का प्रत्यक्ष–परोक्ष प्रयोग होता ही है।[196] इसी प्रकार 'रसवाणिज्य' अर्थात् मदिरा आदि विकृत रस वाले द्रव्यों का व्यापार भी निषिद्ध है।[197] 'दावाग्निदापन' अर्थात् जंगल, खेत आदि में आग लगाने का कर्म भी अनुचित बताया गया है।[198] इन धूम्रोत्पादक कर्मों का निषेध करके ही अग्नि का प्रयोग सीमित किया जा सकता है, जो पर्यावरण के जैविक एवं अजैविक पदार्थों के संरक्षण के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

जैनाचार में अनावश्यक अग्नि–दोहन को 'अनर्थदण्ड क्रिया' माना जाता है, जो गृहस्थों के लिए भी निषिद्ध बताया गया है।[199] सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में निष्प्रयोजन भूमि खोदना, पानी बहाना, अग्नि जलाना, वनस्पति का छेदन करना आदि को प्रमादाचरण कहा गया है एवं इसे अनर्थदण्ड का ही एक प्रकार माना गया है। इसी प्रकार आग लगाने वाले अथवा विस्फोटक अस्त्र–शस्त्र आदि हिंसक–साधनों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को प्रदान करना भी अनर्थदण्ड माना गया है।[200]

आलोचना पाठ की निम्न पंक्तियों में अग्नि के विविध प्रयोगों को दुष्कृत माना गया है –

भाठीगर कुंभार, लोह सोवनगरा।
भाड भुंजा लिहालागरा ए।।
तापण शेकण काज, वस्त्र निखारण।
रंगण रांधण रसवती ए।।
एणी परे कर्मादान, परे परे केलवी।
तेउ वाउ विराधिया ए।।

इस प्रकार, जैनाचार्यों ने अग्नि के प्रयोग का साधु के लिए सर्वथा निषेध करते हुए श्रावक के लिए आवश्यक हेतुओं से प्रयोग करने का निर्देश दिया है। यह पर्यावरण के समस्त घटकों, जैसे – ऊर्जा, भूमि, जल, वायु, वनस्पति, त्रस जीवों आदि के संरक्षण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह बात जैनाचार्यों की अतिगहन दृष्टि की परिचायक है।

आगे, वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में अग्नि–संरक्षण के लिए उपयोगी और जैनाचार से अनुमत एक संक्षिप्त सूची दी जा रही है, जिसके निर्देशों का अनुपालन सभी को करना चाहिए –

1) वाहनों का मर्यादित प्रयोग करें एवं रात्रि की अपेक्षा दिवस में वाहनों के प्रयोग को प्राथमिकता दें।
2) अनावश्यक घूमने–फिरने, सैर–सपाटे आदि पर नियन्त्रण रखें।
3) सामान्य दूरी तक जाने–आने के लिए वाहनों का प्रयोग न करें।
4) चौराहों पर सिग्नल की प्रतीक्षा करते समय अथवा रास्ते में मित्रादि से बातचीत आदि करते हुए गाड़ी का इंजन चालू न रखें।
5) कुव्यसन, जैसे – सिगरेट, बीड़ी, सीसा, लाउंज, गुटखा आदि का पूर्ण त्याग करें।
6) कुव्यसन, जैसे – मद्यपान आदि, जिनके उत्पादन में अग्नि का प्रयोग होता है, उनका भी पूर्ण त्याग करें।
7) सौर–ऊर्जा, जो कि अचित्त होती है, उसका प्रयोग भोजन, पानी, रोशनी आदि के लिए करें। साथ ही, लकड़ी, कोयले, पेट्रोलियम गैस (LPG, CNG, PPG) आदि के प्रयोग को सीमित करें। इससे भोजन की पौष्टिकता भी अधिक रहेगी।
8) भोजन, नाश्ता आदि निर्धारित समय पर इस प्रकार करें कि बारम्बार उन्हें गर्म नहीं करना पड़े।
9) दिवस में इस प्रकार से भोजन, नाश्ता आदि का समय निर्धारित करें कि रात्रि अर्थात् सूर्यास्त के पश्चात् पकाने एवं आहार करने की कोई क्रिया न करनी पड़े।
10) भवन–निर्माण इस प्रकार से करें कि इसमें प्राकृतिक प्रकाश एवं हवा मिलती रहे, जिससे अनावश्यक बिजली का प्रयोग नहीं करना पड़े।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

11) फ्रीज में अनावश्यक वस्तुओं का संचय न करें, जिससे बिजली की खपत न्यूनतम हो।

12) विद्युत उपकरणों, जैसे – पंखे, कूलर, ट्यूब, CFL बल्ब आदि का उपयोग मर्यादित रखें। इनका अनावश्यक संचय एवं प्रयोग न करें।

13) अधिक से अधिक प्रकृति के अनुरूप ढलने का प्रयास करें। गर्मी, ठण्ड एवं बरसात में कृत्रिम सुविधाओं का उपयोग कम से कम करने का प्रयास करें।

14) गर्मी में पंखे, कूलर, वातानुकूलक, फ्रीज आदि, शीत ऋतु में वातानुकूलक, हीटर, गीजर आदि एवं सामान्य रूप से सभी उपकरणों, जैसे – वॉशिंग मशीन, माइक्रोवेव ओवन, आयरन, ट्यूब लाइट्स, फ्रीज, वेक्यूम क्लीनर आदि का प्रयोग कम से कम करने का अभ्यास करें। इससे पराधीन वृत्ति में कमी आएगी।

15) आवश्यकता पूर्ण होने पर इन उपकरणों को तत्काल बन्द करना न भूलें।

16) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए पहले स्थान के पंखे आदि अवश्य बन्द करें।

17) रात्रि में शयन के पूर्व अनावश्यक चल रहे लाइट्स, पंखे आदि अवश्य बन्द करें।

18) मनोरंजन हेतु अथवा निष्प्रयोजन टी.वी., टेप, रेडियो, कम्प्यूटर, लेप–टॉप, वीडियो गेम्स आदि का उपयोग नहीं करने का प्रयत्न करें।

19) मच्छरों को मारने अथवा भगाने के लिए धुएँ, जेट, ऑल–आउट आदि का प्रयोग करने की अपेक्षा मच्छरदानी का प्रयोग कर लें।

20) जनरेटर, इन्वर्टर अथवा यू.पी.एस. (UPS) का प्रयोग किसी विशिष्ट परिस्थिति में ही करें।

21) लिफ्ट का उपयोग करने की अपेक्षा सीढ़ी से चढ़ें।

22) पटाखे का प्रयोग कदापि न करें। ज्ञातव्य है कि सन् 2008 के दीपावली त्यौहार में इन्दौर जैसे शहर में अनुमानतः 400 करोड़ रु. के पटाखे फोड़े गए, जो जीवन की मूल आवश्यकताओं से परे हैं।

23) होली न जलाएँ।

24) रावण दहन करने की अपेक्षा भीतर के दोषों का दहन करें।

25) दीपावली पर्व में कम से कम लाइटिंग करें।

26) नए वर्ष के आगमन में रात्रि में डिस्को पार्टियाँ करने के बजाय शुभ संकल्पों का निर्माण करें।

27) विवाह आदि के कार्यक्रम रात्रि के बजाय दिन में आयोजित करें।

28) प्रायः अपशिष्ट पदार्थों, जैसे – कागज, लकड़ी, रबर आदि को जलाएँ नहीं, बल्कि इनका यथासम्भव उपयोग करके किसी जरुरतमन्द को दें अथवा उचित स्थान देखकर डालें।

29) धूम्रोत्पादक व्यवसायों को न करें।

30) यदि करते ही हैं, तो अग्नि–दहन से प्राप्त ऊर्जा व्यर्थ न हो, ऐसा प्रयास करें, जैसे चिमनी की ऊँचाई कम न हो, भट्टी के द्वार (Openings) से रिसाव (Leakage) न हो इत्यादि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8.6.4 वायु–संरक्षण

वायु–प्रदूषण रोकने के विषय में जैनाचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट है। यद्यपि प्राचीनकाल में वे विविध साधन नहीं थे, जो आज वायु–प्रदूषण के कारण बने हैं, फिर भी वायु–संरक्षण के विषय में जैन जीवनशैली की प्रासंगिकता एवं अनिवार्यता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। यह पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है।

जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें न केवल वायु के आश्रित जीवन के विविध रूपों को स्वीकारा गया है, अपितु स्वयं वायु को भी जीवित माना गया है।[201] वायु के जीवों की अवगाहना (शरीर की लम्बाई) के विषय में कहा गया है कि ये अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण होते हैं अर्थात् लगभग 1 घन सेन्टीमीटर वायु में असंख्य जीव होते हैं।[202] आचारांगसूत्र में इन सूक्ष्म जीवों के प्रति आत्मतुल्य दृष्टिकोण अपनाने तथा हिंसात्मक व्यवहार नहीं करने के लिए कहा गया है।[203] कहा गया है कि 'जैसे स्वयं सुखाभिलाषी होकर अपनी रक्षा करते हो, वैसे ही दूसरों अर्थात् वायु के जीवों की भी करो।' विवेकशील व्यक्ति की यह पहचान होती है कि वह शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं की अनुभूति को भलीभाँति समझता है, हिंसात्मक कार्यों को अहितकारी मानता है, अतः वायु के जीवों की हिंसा अर्थात् वायु–प्रदूषणकारी कार्यों से स्वयं को निवृत्त कर लेता है।[204] सोचा जा सकता है कि यदि वायु–प्रदूषण की गम्भीर समस्या से मुक्त होना है, तो हमें ऐसे विवेकशील व्यक्तियों का अनुकरण करना आवश्यक है।

जब हम वायु का प्रदूषण अर्थात् वायुकायिक जीवों की हिंसा करते हैं, तब वायु के आश्रित जीने वाले मच्छर आदि अनेक प्राणियों की हिंसा सहज ही हो जाती है। यह वायुमण्डल के पारिस्थितिकी तन्त्र (Ecosystem) के लिए भी खतरा है। जैनाचार्यों ने इन जीवों के प्रति भी गहरी संवेदना व्यक्त की है। आचारांग में कहा गया है – वायु के साथ कई उड़ते हुए प्राणी भी होते हैं, जो वायु के साथ एकत्रित होते हैं एवं वायु के जीवों की हिंसा अर्थात् वायु–प्रदूषण के कारण वे भी पीड़ा पाते हैं, मूर्च्छित होते हैं एवं मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अतः वायु का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।[205] यह अहिंसा आधारित दृष्टिकोण वायु–संरक्षण के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। इससे वायु–प्रदूषण से मुक्ति एवं जैव विविधता की रक्षा होती है, साथ ही पर्यावरणीय सन्तुलन भी भंग नहीं होता है।

इसके उपरान्त भी यदि कोई वायु–प्रदूषण करता है, तो जैनाचार्यों ने इसे कर्मबन्धन का कारण माना है। दशवैकालिक में स्पष्ट कहा है कि इसे दुर्गतिवर्धक जानकर साधु–साध्वी इस वायु के समारम्भ (हिंसा) का आजीवन परित्याग करे।[206] वायु–प्रदूषण को अग्नि के समान तीव्र पापयुक्त कार्य मानकर वे पंखे आदि से न हवा करें और न अन्यों से हवा कराएँ।[207] आचारांग में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि 'बुद्धिमान् पुरूष वायुकाय के जीवों की हिंसा को अनुचित मानकर न स्वयं हिंसा करें, न कराएँ और न समर्थन ही करे। यहाँ तक भी कह दिया गया कि जो वायुकाय के समारम्भ का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुष्परिणाम जानकर उसका पूर्णतया परित्याग करता है, वही विवेक (परिज्ञा) सम्पन्न मुनि है।'[208] आज भी जैन–परम्परा में यह नियम प्रचलित है कि साधु–साध्वी पंखे, कूलर, वातानुकूलित आदि यन्त्रों का, सुगन्धित सामग्रियों का एवं वाहनों आदि का उपयोग नहीं करते।

सिर्फ साधु–साध्वी ही नहीं, गृहस्थों को भी वायु के उपयोग को सीमित करने का ही निर्देश है। जैनाचार में उन व्यवसायों के लिए प्रायः निषेध किया गया है, जो धूम्रोत्पादक हैं। धूम्र की अधिक मात्रा न केवल फलदार पेड़–पौधों के लिए, अपितु अन्य प्राणियों एवं मनुष्यों के लिए किस प्रकार हानिकारक है, यह बात वैज्ञानिक अनुसन्धानों से सिद्ध हो चुकी है। वायु–प्रदूषण का एक कारण फलों आदि को सड़ाकर उनसे शराब आदि मादक पदार्थों को बनाने वाला व्यवसाय भी है, जिसका जैन गृहस्थ के लिए निषेध है।[209] उपासकदशांग में जिन 21 वस्तुओं अथवा श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र में जिन 26 वस्तुओं की मर्यादा करने का गृहस्थों को निर्देश दिया गया है, उनमें से कई ऐसी मर्यादाएँ हैं, जो वायुप्रदूषण को रोकने में सहायक हैं, जैसे – **धूपविधि** अर्थात् अगरबत्ती आदि धूपनीय सामग्रियों के उपयोग को सीमित करना,[210] **विलेपनविधि** अर्थात् शरीर पर लेप करने वाले अगर, चन्दन, इत्र, सेंट आदि द्रव्यों की सीमा करना, जो वातावरण में कणीय–प्रदूषण (Suspended particles pollution) फैलाते हैं,[211] **वाहनविधि** अर्थात् वाहनों की संख्या सीमित करना इत्यादि।

पर्यावरण के प्रदूषण में आज धूम्र छोड़ने वाले वाहनों का प्रयोग भी एक प्रमुख कारण है। यदि स्वास्थ्य एवं पर्यावरण का रक्षण करना है, तो हमें सड़क, रेल, हवाई एवं समुद्री मार्गों को इस धूम्र–प्रदूषण से मुक्त रखने का प्रयास करना ही होगा। जैन मुनि के लिए बिना वाहन का प्रयोग किए पदयात्रा करने की जो परम्परा है, वह पर्यावरणीय प्रदूषण से मुक्ति एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार, "आज की हमारी उपभोक्ता संस्कृति में हम एक ओर एक फर्लांग भी जाना हो तो वाहन की अपेक्षा रखते हैं, तो दूसरी ओर डॉक्टर के निर्देश पर प्रतिदिन पाँच–सात कि.मी. टहलते भी हैं। यह कैसी आत्म–प्रवंचना है, एक ओर समय की बचत के नाम पर वाहनों का प्रयोग करना, तो दूसरी ओर प्रातःकालीन एवं सायंकालीन भ्रमण में अपने समय का अपव्यय करना? यदि मनुष्य मध्यम आकार वाले शहरों में अपने दैनन्दिन कार्यों में वाहनों का प्रयोग न करे, तो उससे दोहरा लाभ होगा। एक ओर ईन्धन एवं तत्सम्बन्धी खर्च बचेगा, तो दूसरी ओर पर्यावरण प्रदूषण भी नहीं होगा, साथ ही स्वास्थ्य भी अनुकूल रहेगा। प्रकृति की ओर लौटने की बात आज चाहे परम्परावादी लगती हो, किन्तु एक दिन ऐसा आएगा, जब यह मानव–अस्तित्व की एक अनिवार्यता होगी।"[212]

वायु–प्रदूषण एक अतिव्यापक तत्त्व है, जिसमें ध्वनि–प्रदूषण, ताप–प्रदूषण, प्रकाश–प्रदूषण, रेडियोधर्मी–प्रदूषण, कणीय–प्रदूषण (Suspended particle Air Pollution), गैसीय–प्रदूषण (Gaseous Air Pollution) इत्यादि का समावेश हो जाता है। अतः वायु–संरक्षण का लक्ष्य इन सभी विभागों को प्रदूषण रहित करना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे, इसीलिए वे निर्देश दिए जा रहे हैं, जो जैनाचार पर आधारित हैं एवं जिनका पालन कर हम वायु–प्रदूषण से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। चूँकि अधिकांश ताप–प्रदूषण, प्रकाश–प्रदूषण, गैसीय–प्रदूषण आदि से सम्बन्धित निर्देशों का अन्तर्भाव तो अग्नि–संरक्षण के निर्देशों में ही हो जाता है, अतः उनका पुनरावर्त्तन यहाँ नहीं किया जा रहा है –

1) कणीय–प्रदूषण पर रोक

i) अपशिष्ट पदार्थों, जैसे – जूठन, फल, सब्जी, खाद्यान्न आदि को नहीं सड़ाएँ।

ii) घर, ऑफिस आदि की सफाई करके कचरे (धूल) को ऊपर से नहीं फेंकें।

iii) घर का रंग–रोगन, फर्नीचर की पॉलिश, वस्त्रों में डाई, वाहनों में पेण्ट आदि अनावश्यकरूप से न करें।

iv) इत्र, सेंट, क्रीम, पाउडर आदि शृंगार प्रसाधनों का प्रयोग न करें।

v) धुआँ विसर्जन करने वाले कार्यों पर उचित नियन्त्रण रखें एवं तकनीक सुधारने का प्रयत्न इस प्रकार से करें कि धुएँ की मात्रा न्यूनतम हो, जैसे – चिमनी की ऊँचाई कम न रखें, कार्बन फिल्टर का प्रयोग करें, ईन्धन की गुणवत्ता कमतर न हो इत्यादि।

vi) कीटनाशक दवाइयाँ न छिड़कें।

2) गैसीय–प्रदूषण पर रोक

i) पेड़–पौधों की कटाई न करें अन्यथा ऑक्सीजन गैस की कमी होगी।

ii) रासायनिक व्यवसायों पर उचित नियन्त्रण रखें।

iii) वाहन, जनरेटर आदि यन्त्रों के प्रयोग पर नियन्त्रण करें।

iv) भट्टियों, ओवन आदि के प्रयोग पर नियन्त्रण करें।

v) रेफ्रीजरेटर के उत्पादन पर नियन्त्रण हो।

vi) उचित गुणवत्तावान् ईंधनों का ही उपयोग करें, क्योंकि ईन्धन का अधूरा दहन अथवा अल्प गुणवत्तावान् ईन्धनों का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है, जैसे – कार्बन–मोनो–ऑक्साइड गैस के मुक्त होने से श्वास रोगियों को तकलीफ होती है।

3) ध्वनि–प्रदूषण पर रोक

i) मौन का नियमित अभ्यास करें और उसे बढ़ाते जाएँ।

ii) यदि बोलें, तो समितिपूर्वक बोलें अर्थात् हितकारी, मितकारी, प्रियकारी एवं निर्वद्य वचन कहें।

iii) मोबाईल अथवा दूरभाष का प्रयोग कम से कम करें।

iv) यात्रा, सैर, पिकनिक आदि फुरसत के क्षणों में वॉक–मेन, आई–पॉट, टेप–रिकॉर्डर, टी. वी. आदि का प्रयोग टालते हुए आत्महित के कार्यों को प्राथमिकता दें।

v) ध्वनि विस्तारक यन्त्रों (Loud Speakers) के प्रयोग एवं उनकी तीव्रता पर नियन्त्रण रखें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

vi) कलह अर्थात् आपसी विवादों एवं वाक्–युद्ध से बचें।

vii) झूठे दोषारोपण, चुगलखोरी आदि पाप प्रवृत्तियों से बचें।

viii) अनावश्यक विषयों पर बातचीत करने अर्थात् विकथाओं से बचें। आशय है कि राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा एवं भोजनकथा से स्वयं को अनावश्यक रूप से नहीं जोड़ें।

ix) रात्रि में गपशप अथवा टी.वी. के कोलाहल में जीने के बजाय सामायिक, प्रतिक्रमण, मौन आराधना आदि करें।

x) जोर–जोर से बोलने अथवा जोर–जोर से टेप, टी.वी. आदि सुनने की आदत छोड़ें।

4) रेडियोधर्मी तथा अन्य विकिरण (Radiation) प्रदूषण का संरक्षण

i) बिजली निर्माण हेतु सौर–ऊर्जा को महत्त्व दें, न कि आणविक ऊर्जा को।

ii) आणविक शस्त्रों के परीक्षणों एवं युद्धों पर रोक लगाकर निःशस्त्रीकरण की नीति अपनाएँ तथा विश्व–बन्धुत्व की भावना को प्रगाढ़ करें।

iii) घरों में वायु–प्रवाह (Cross Ventilation) होना अत्यन्त आवश्यक हैं। रेडियो एक्टिव रेडॉन (Radon) गैस फर्श की दरारों से, ट्यूबवैल के पानी आदि से निकलती रहती है। यदि कमरों से वायु प्रवाह नहीं होगा, तो इस घातक गैस का घनत्व बढ़ेगा जो केंसर आदि रोगों को जन्म देगी, इसीलिए खिड़कियाँ खुली रखना भी आवश्यक है।

iv) मोबाईल एवं अन्य इलेक्ट्रानिक उपकरणों के उपयोग को मर्यादित करें।

8.6.5 वनस्पति–संरक्षण

जैनाचार्यों ने वनस्पति के संरक्षण के लिए अनेकानेक निर्देश दिए हैं, जिनका अनुकरण करके पर्यावरण का संरक्षण किया जा सकता है।

ढाई हजार वर्ष पूर्व दुनिया में जहाँ वनस्पति को सिर्फ भोगोपभोग की वस्तु माना जाता था, वहीं **भगवान् महावीर** ने अपनी दिव्य वैज्ञानिक दृष्टि के बल पर उसे सजीव सिद्ध किया।[213] आश्चर्य की बात है कि आधुनिक वैज्ञानिकों को भी वनस्पति की सजीवता को तब स्वीकारना पड़ा, जब सन् 1920 में **सर जगदीशचन्द्र बसु** ने यन्त्रों के माध्यम से इसको सिद्ध कर दिखाया।[214] वनस्पति को सजीव मानने से भी आत्मतुल्य जीवनदृष्टि का विकास होता है, जो पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए अत्यावश्यक है।

आचारांग में वानस्पतिक जीवन की मानवीय जीवन से तुलना करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मानव उत्पन्न होता है, वृद्धिशील होता है, चेतनायुक्त होता है, छेदन–भेदन करने पर कुम्हलाता है, आहार करता है, अनित्य होता है, घटता–बढ़ता है और विकृत होता है, उसी प्रकार वनस्पति भी वर्त्तन करती है।[215] आशय यह है कि जैसे हम जीवन युक्त हैं और अनुकूल–प्रतिकूल, सुख–दुःख आदि संवेदनाओं की अनुभूति करते हैं, वैसी ही अनुभूति वनस्पति को भी होती है। अतः हमारा कर्त्तव्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि हम उसकी अनावश्यक हिंसा या दुरुपयोग से बचें। इस प्रकार आचारांग में आत्म–तुल्य दृष्टि से वनस्पति के संरक्षण का निर्देश दिया गया है।

जैनाचार्यों की यह विशेषता भी रही कि इन्होंने न केवल वनस्पति में विद्यमान जीवन को, अपितु वनस्पति के आश्रित अनेकानेक जीवनरूपों को बचाने के लिए भी उपदेश दिया है, जो पर्यावरणीय सन्तुलन के विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

दशवैकालिक में कहा गया है – वनस्पति की हिंसा अर्थात् वनस्पति का छेदन, भेदन, शोषण एवं अतिदोहन करता हुआ व्यक्ति, उसके आश्रित अनेकानेक दृश्य–अदृश्य, त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा अर्थात् विनाश करता है।[216] यह विनाश ही पर्यावरणीय जैव–विविधता के लिए खतरा बन जाता है। अतः दशवैकालिक में इस दोहरी हिंसा को दुर्गतिवर्धक बताया गया है तथा साधक को वनस्पति–समारम्भ नहीं करने का निर्देश दिया गया है।[217] इसी बात को दूसरे स्थान पर अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैन साधु–साध्वी मन, वचन एवं काया से वनस्पति की हिंसा न करें, न कराएँ और न ही उसका समर्थन करें।[218] इसका ही परिणाम है कि वे अपने जीवन में वनस्पति का छेदन, भेदन, शोषण आदि तो दूर, उन्हें स्पर्श भी नहीं करते। संक्षिप्त में कह सकते हैं कि उनकी जीवनचर्या वनस्पति को पूर्ण संरक्षण प्रदान करती है।

जैन गृहस्थों के लिए भी प्राचीन जैनशास्त्रों में अनेक निर्देश दिए गए हैं कि वे हरित वनस्पति का यथाशक्ति सीमित उपयोग करें। कन्द–मूल का भक्षण जैन गृहस्थ के लिए निषिद्ध ही है। इसके पीछे एक तथ्य यह भी रहा कि यदि मनुष्य जड़ों का ही भक्षण करेगा, तो पौधों का अस्तित्व ही खतरे में आ जाएगा और उनका जीवन ही समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार, जिस पेड़ का तना मनुष्य की बाँहों में नहीं आ सकता हो, उसे काटना मनुष्य की हत्या के बराबर कहा गया है।[219] गृहस्थ उपासक के लिए **'वनकर्म'** अर्थात् वनों की कटाई सम्बन्धी व्यवसाय को निषिद्ध बताया गया है।[220] इसी प्रकार **'दावाग्निदापन'** अर्थात् जंगल जलाने का व्यवसाय भी अनुचित बताया गया है।[221] घरेलु जीवन के विषय में जैन–परम्परा में आज भी पर्वतिथियों में हरित वनस्पति नहीं खाने के नियम का पालन अनेक गृहस्थ करते हैं। इसी प्रकार भोजन के पश्चात् जूठन नहीं छोड़ने का भी नियम है, प्रत्युत थाली धोकर जूठन सहित पानी पीने का नियम है, जिसे अनेक गृहस्थ पालते हैं। आज भी जैनाचार के निष्ठावान् गृहस्थ घास पर चलने को अनुचित मानते हैं। इसी प्रकार निष्प्रयोजन एक पत्ती तोड़ना भी वर्जित है। जैनाचार में स्पष्ट कहा गया है कि निष्प्रयोजन वनस्पति का छेदन, भेदन, दोहन आदि करना 'अनर्थदण्ड क्रियाएँ' होती हैं और ये अनुचित एवं त्याज्य हैं।[222]

वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में हम जैन सिद्धान्तों के आधार पर अपनी जीवनशैली में यथाशक्ति निम्नलिखित सुधार करके वनस्पति–संरक्षण में अपना सक्रिय योगदान दे सकते हैं।

1) जैनाचार में निर्दिष्ट जमीकन्द आदि बत्तीस अनन्तकाय का भक्षण न करें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2) मद्यपान न करें।
3) वनस्पति से निर्मित अन्य नशीले पदार्थ, जैसे – अफीम, बीड़ी, तम्बाकु, गांजा, चरस, महुवा आदि का सेवन भी न करें।
4) विषैली वनस्पति का सेवन न करें।
5) बैंगन का सेवन न करें।
6) अधिक बीज वाले फल अर्थात् बहुबीजी फल न खाएँ, क्योंकि इनके भोजन से वनस्पति का विकास बीज स्तर पर ही अवरुद्ध होकर नष्ट हो जाएगा।
7) तुच्छ फलों अर्थात् वे फल जिनमें खाने का भाग कम एवं फेंकने का भाग अधिक हो, उन्हें न खाएँ, क्योंकि इससे वनस्पति का सदुपयोग कम और दुरुपयोग अधिक होगा, जैसे – बेर आदि।
8) कच्चे फल, सब्जी, अनाज या उनसे निर्मित पदार्थों का अनावश्यक संग्रह न करें अन्यथा कालान्तर में वे विकृत (चलित–रस) बन कर भक्षण के अयोग्य हो जाते हैं।
9) भोजन के अन्त में जूठन बिल्कुल नहीं छोड़ें एवं यथासम्भव थाली धोकर अवशिष्ट जूठन को पी जाएँ।
10) अपशिष्ट पदार्थों, जैसे – सब्जी, फल के छिलके, रोटी, चावल आदि को कूड़ेदान में न फेंकें, वरन् तत्काल गाय आदि पशुओं को व्यवस्थित तरीके से खिलाएँ।
11) जीवाणु युक्त या लीलन–फूलन युक्त पदार्थों, जैसे – आचार आदि का उपयोग न करें, क्योंकि इससे न केवल वनस्पति की हिंसा होती है, वरन् स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कोई लाभ नहीं होता।
12) फूल या गुलदस्ते की भेंट न देकर ऐसी भेंट दें, जो जीवनोपयोगी बनें, जैसे – धार्मिक पुस्तक आदि ।
13) विवाह स्थल, गृह, दुकान, ऑफिस को फूलों से न सजाएँ।
14) घास पर न चलें।
15) निष्प्रयोजन पत्ती, फूल, टहनी या पौधों को नहीं तोड़ें।
16) इत्र, सेंट, पाउडर, हर्बल शैम्पू आदि का प्रयोग न करें।
17) कागज, पुस्तिका, पुस्तक, उत्तरपुस्तिका आदि का दुरुपयोग न करें, क्योंकि ये भी वनस्पति से ही बनते हैं।
18) लकड़ी से निर्मित फर्नीचर, शो केस, अलमारी, पलंग, खिड़की, दरवाजे आदि का अनावश्यक संग्रह न करें एवं पूर्व संचित का दुरुपयोग न करें।
19) लकड़ी में दीमक न लगे, इस हेतु उसका नियमित अन्तराल में प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन करते रहें।
20) कॉटन एवं सिन्थेटिक (Wood-pulp से निर्मित) वस्त्रों का उपयोग भी सावधानीपूर्वक करें,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनका अनावश्यक संग्रह न करें तथा संगृहीत वस्त्रों का पूर्ण सदुपयोग करें।

21) किसी भी पेड़ को काटें नहीं, यदि अवश्यंभावी हो, तो उसे स्थानान्तरित (Transplant) करें।

22) वन कर्म अर्थात् वन काटने आदि से सम्बन्धित व्यवसाय न करें।

23) 'दावाग्निदापन' अर्थात् वन जलाने, खेत जलाने आदि से सम्बन्धित कार्य न करें।

24) 'स्फोटन कर्म' अर्थात् भूमि खनन से सम्बन्धित व्यवसाय भी न करें, क्योंकि इसमें गड्ढे खोदने, मलबा डालने आदि में अनेकानेक वनस्पतियों की भी हिंसा होती हैं।

25) 'रस वाणिज्य' अर्थात् शराब आदि मादक पदार्थों का व्यवसाय भी न करें।

26) कृषि में खरपतवार नाशक एवं कीटाणुनाशक दवाइयों का प्रयोग नहीं करना पड़े, ऐसा उपाय करें।

27) बागवानी के समय पेड़–पौधों की अवांछनीय काट–छाँट से बचें।

28) ईन्धन के लिए लकड़ी का उपयोग न करें, वरन् सौर–ऊर्जा का प्रयोग करें।

29) जहाँ नीचे गिरे हुए फल से काम चलता हो, वहाँ पेड़, शाखा, टहनी, कच्चे फलों का गुच्छा आदि नही तोड़ें। आशय यह है कि वानस्पतिक हिंसा में अल्पबहुत्व का विचार अवश्य करें। यह नीति पर्यावरण के अन्य संसाधनों के संरक्षण के लिए भी उपयोगी है।

30) अंकुरित आहार ग्रहण न करें, क्योंकि इससे हम वनस्पति के विकास को उसके स्रोत पर ही अवरुद्ध कर देते हैं और भविष्य में उससे मिलने वाले अधिक लाभ से भी वंचित रह जाते हैं।

31) अनाज आदि का आवश्यकता से अधिक भण्डारण न करें, जिससे नष्ट होने के पूर्व ही अनाज का सदुपयोग हो सके।

8.6.6 त्रस जीव संरक्षण

पर्यावरण में सूक्ष्म–स्थूल, दृश्य–अदृश्य समस्त त्रस जीवों[223] (स्वेच्छापूर्वक गमनागमन करने में समर्थ जीवों) का संरक्षण अत्यावश्यक है, क्योंकि पर्यावरणीय स्थिरता को बनाए रखने में प्रत्येक जीव का महत्त्वपूर्ण योगदान है। हम सोच सकते हैं कि यदि त्रस जीवों का विनाश होता है, तो इससे सीधे–सीधे खाद्य–शृंखला एवं खाद्य–जाल (Food chain and Food web) प्रभावित होते हैं।[224] इससे विनष्ट हुए त्रस जीवों पर आश्रित अनेकानेक जीवों का विनाश हुए बिना नहीं रह सकता।[225] इसका अर्थ यह है कि एक जीव की हिंसा करने से हिंसा की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है, जिसका असर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्य पर भी आता ही है। इसी दृष्टि से, भगवान् महावीर ने त्रस जीवों की हिंसा अर्थात् विनाश का स्पष्ट निषेध किया है। भगवतीसूत्र में त्रस जीवों की हिंसा के दुष्परिणाम को इस प्रकार समझाया है – केवल एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ प्राणी उससे सम्बन्धित अनेक जीवों की हिंसा करता है।[226] अतः हमें सूक्ष्म से सूक्ष्म त्रस जीवों की भी हिंसा से बचना चाहिए। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित यह अहिंसा आधारित जीवनशैली पर्यावरणीय विकास एवं जैव–विविधता के संरक्षण के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ तक जैन साधु–साध्वियों के आचार का प्रश्न है, उन्हें स्पष्ट निर्देश है कि वे मन, वचन एवं काया से त्रस जीवों की हिंसा न करें, न कराएँ और न हिंसा का समर्थन ही करें। यह भी स्पष्ट किया गया है कि चूँकि त्रसकाय की हिंसा करते हुए उसके आश्रित अनेक प्रकार के त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा हो जाती है, अतः इसे दुर्गति का कारण जानकर जैन साधु–साध्वी जीवनपर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का त्याग करें।[227] वे पात्र, कम्बल, शय्या, मल–मूत्र विसर्जन, भूमि–संस्तारक, आसन आदि का यथासमय प्रमाणोचित प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन करें, जिससे किसी भी सूक्ष्म या स्थूल जीव की विराधना अर्थात् हिंसा न हो।[228] यह पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

सिर्फ जैन साधु–साध्वी ही नहीं, बल्कि गृहस्थ उपासकों को भी त्रसकाय के जीवों की हिंसा नहीं करने का निर्देश दृढ़तापूर्वक दिया गया है। जैनाचार्यों ने गृहस्थ को उसकी भूमिकानुसार अनेकविध नियमों का पालन करने का निर्देश दिया है, जैसे – सप्तव्यसन का त्याग, अष्ट मूलगुणों का ग्रहण, बाईस अभक्ष्य पदार्थों का त्याग, मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों या श्रावक के इक्कीस गुणों का ग्रहण, अणुव्रतों का पालन, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वहन इत्यादि। जैनाचार में सद्गृहस्थ को यह नियम दिया जाता है कि वह संकल्पपूर्वक अर्थात् इरादे के साथ निष्प्रयोजन एवं निरपराध किसी भी त्रस जीव की हिंसा न करे।[229] जैन–परम्परा में आज भी चींटी तक की हिंसा का निषेध किया जाता है। कहा जा सकता है कि जैनाचार में जैव–विविधता को बनाए रखते हुए पर्यावरण–विकास एवं पर्यावरण–स्थिरता के उपयोगी निर्देश दिए गए हैं।

जैनाचार में निर्दिष्ट त्रस–जीवों के संरक्षण हेतु कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर आगे चर्चा की जा रही है –

(क) कीटनाशकों का प्रयोग – आज खेती में रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशकों का उपयोग बढ़ता जा रहा है, उससे हमारा भोजन, जल, वायु एवं भूमि प्रदूषित होते जा रही है। जैन–परम्परा में गृहस्थ उपासक को खेती की अनुमति तो दी गई है, किन्तु उसमें कीटनाशकों का प्रयोग करने की अनुमति नहीं है, क्योंकि इससे सूक्ष्म–स्थूल अनेकानेक जीवों की हिंसा होती है, जो निषिद्ध है। इसी प्रकार उसके लिए विष–वाणिज्य अर्थात् विषैले रासायनिक पदार्थों का व्यवसाय निषिद्ध है, अतः उसे कीटनाशकों का व्यापार भी कल्पनीय नहीं है।[230] इन दिनों बिना रासायनिक खादों एवं कीटनाशकों का प्रयोग किए खेती करने के प्रयास भी किए जा रहे हैं। यहाँ महाराष्ट्र के एक जैन कृषि उद्यमी (Agriculturist) का उदाहरण देना आवश्यक है, जिन्होंने बिना किसी कीटनाशक का प्रयोग किए गोबर, पत्तों आदि से बनी प्राकृतिक खाद द्वारा रिकार्ड उत्पादन कर दिखाया। उनकी पद्धति को भारतीय विशेषज्ञ ही नहीं, किन्तु अन्य कृषि विकसित देशों के विशेषज्ञों ने भी सराहा है। यह पद्धति न केवल हमारे खाद्यान्न को विषमुक्त बनाती है, अपितु पर्यावरणीय प्रदूषण से भी बचाती है।[231]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ख) शिकार – इन दिनों वन्य एवं जलीय जीवों का शिकार बढ़ता जा रहा है। इससे पर्यावरण की जैविक–सम्पदा घटती जा रही है, जो चिन्ता का विषय है। अनियंत्रित शिकार से विशेषकर व्हेल मछली का अस्तित्व खतरे में है, स्पर्म व्हेल तो गिनती की रह गई हैं (स्पर्म व्हेल से एक अत्यन्त सुगन्धित पदार्थ 'अगर' मिलता है, जो बहुत महंगा होता है)। जलीय जीवों की हिंसा से जल–प्रदूषण बढ़ता जा रहा है एवं जलीय–परितन्त्र (Aqueous Ecosystem) का सन्तुलन भंग हो रहा है। इसी प्रकार दाँत, फर, चमड़े, मांस आदि के लिए वन्य–प्राणियों की लगातार हिंसा हो रही है, जिससे वन्य–परितन्त्र (Forest Ecosystem) का सन्तुलन संकट में आ रहा है। जैनदर्शन में गृहस्थ धर्म की पहली शर्त ही है – शिकार एवं मांसाहार का पूर्ण त्याग।[232] यहाँ गृहस्थ को न व्यवसाय के लिए और न मनोरंजन के लिए शिकार की अनुमति है। यह सोचनीय है कि यह कैसा मनोरंजन है कि हम दूसरे प्राणियों के प्राण ही ले लें। मनोरंजन तो वह है कि आप स्वयं भी प्रसन्न रहें और दूसरों को भी खुशी बाँटें।[233] इसी प्रकार, मार्गानुसारी गुणों के अन्तर्गत पहला ही नियम है – न्यायनीतिपूर्वक धनार्जन करना अर्थात् शिकार आदि अमानवीय कार्य किए बगैर धनार्जन करना।[234]

(ग) मांसाहार – आज तेजी से बढ़ती हुई मांसाहार की प्रवृत्ति न केवल बाह्य पर्यावरण को प्रदूषित एवं असन्तुलित कर रही है, वरन् जीवन की पवित्रता, सद्गुण, सदाचरण एवं संयम को भी नष्ट कर रही है। यदि अनेकान्त–दृष्टिकोण से देखें, तो हम पाएँगे कि मांसाहार मानव जाति पर कलंक है, वैज्ञानिक दृष्टि से यह महारोगों का जनक है, आर्थिक दृष्टि से महंगा है, प्राकृतिक दृष्टि से पर्यावरण को प्रदूषित करता है, धार्मिक दृष्टि से दुर्गतिप्रदाता है एवं शारीरिक दृष्टि से दुःपाच्य है, इसीलिए मांसाहार का त्याग प्रत्येक मानव का एक अनिवार्य कर्त्तव्य होना चाहिए।[235]

पर्यावरण एवं स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से शाकाहार का औचित्य आज स्वयं वैज्ञानिक भी स्वीकार कर रहे हैं। वैज्ञानिकों का स्पष्ट कहना है कि एक मांसाहारी शाकाहारी की तुलना में दस गुना अधिक वनस्पति–उत्पादों को खाता है। मांसाहारी जिन पशुओं पर निर्भर होता है, वे वनस्पति खाते हैं। पशु वनस्पति खाकर जितनी ऊर्जा ग्रहण करता है। उसका नब्बे प्रतिशत वह अपने हलन–चलन–पाचन प्रक्रिया में व्यय कर देता है एवं दस प्रतिशत ही मांस के रूप में संचित कर पाता है।[236] इस प्रकार मांसाहारी अप्रत्यक्ष रूप से दस गुना वनस्पति ग्रहण करता है।

इसी प्रकार, एक शाकाहारी 0.72 एकड़ भूमि से जीवन–यापन कर सकता है, जबकि एक मांसाहारी के लिए 1.63 एकड़ जमीन की जरुरत होती है। इसी तरह से देखें, तो अमेरिका में एक किलो गेहूँ उत्पादन के लिए 50 गैलन जल की आवश्यकता होती है, जबकि इतने ही गौमांस के लिए 10,000 गैलन पानी चाहिए। अतः कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने शाकाहार की दृढ़तापूर्वक पुष्टि कर पर्यावरण की सुरक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण उपकार किया है। यदि मांस निर्यात कर विदेशी मुद्रा कमाने के लिए कत्लखानों को बढ़ावा नहीं दिया जाए, तो सिर्फ पशुधन का ही संरक्षण नहीं होगा, वरन् पर्यावरण के भीषण संकट का भी बहुत हद तक समाधान हो जाएगा।[237]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(घ) रासायनिक शस्त्रों का प्रयोग एवं युद्ध[238] – आज विश्व में रासायनिक एवं आणविक शस्त्रों की होड़ लगी हुई है। इनके परीक्षणों एवं युद्ध में प्रयोगों से पर्यावरण में अत्यधिक प्रदूषण उत्पन्न होता है तथा मानव एवं अन्य प्राणियों के अस्तित्व पर खतरा मंडरा रहा है। इससे बचने के लिए आचारांग में एक सूत्र दिया गया है – **'अत्थि सत्थं परेणपरं, नत्थि असत्थं परेणपरं'** अर्थात् शस्त्रों में एक से बढ़कर एक हो सकते हैं, किन्तु अशस्त्र (अहिंसा) से बढ़कर कुछ नहीं है।[239] निःशस्त्रीकरण का यह निर्देश अर्थपूर्ण है, क्योंकि आज प्रायः सभी राष्ट्रों का अधिकतम व्यय इन्हीं अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण अथवा क्रय पर हो रहा है।

इस प्रकार, जैनाचार में ऐसे अनेकानेक निर्देश दिए गए हैं, जो त्रस प्राणियों के संरक्षण के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

आगे, जैनाचार पर आधारित कुछ निर्देश दिए जा रहे हैं, जिनका अनुपालन कर त्रस जीवों का संरक्षण किया जा सकता है –

1) रात्रि भोजन न करें, क्योंकि रात्रि में दृश्य–अदृश्य कई जीवों की हिंसा होती है।
2) पाँच प्रकार के फलों – बड़, पीपल, पिलंखण, उदुम्बर एवं गूलर का परित्याग करें, क्योंकि इनमें कई त्रस जीव होते हैं, जिनका सेवन मनुष्य के लिए घातक भी होता है।
3) चार महाविगई अर्थात् महाविकृतियाँ – मांस, मदिरा, मधु एवं मक्खन का त्याग करें।
4) शुद्ध छना हुआ अथवा उबला हुआ पानी ही पीएँ।
5) घर की साफ–सफाई में चींटी, मकोड़े, खटमल आदि की हिंसा न करें।
6) मच्छरों को न मारें।
7) बाजार में जिन वस्तुओं में अण्डे, मांस, चर्बी आदि अवांछनीय वस्तुएँ मिलाई जाती हैं, उनका क्रय–विक्रय न करें।
8) चमड़े या फर आदि से बने उत्पाद, जैसे – पर्स, बेल्ट, जूते, चप्पल, हाथ–मोजे, जैकेट नहीं पहने।
9) सजावट के सामानों में हाथी–दाँत आदि से बनी वस्तुओं को न रखें।
10) अनावश्यक लाइट्स, पंखे आदि का उपयोग करके अनेकानेक पतंगे आदि उड़ने वाले जीवों की हिंसा न करें।
11) गमनागमन के लिए वाहनों का प्रयोग कम से कम हो तथा पैदल चलते हुए दृष्टि नीचे एवं साढ़े तीन हाथ सामने रहे, जिससे चींटी आदि की हिंसा न हो।
12) प्राचीन युग से ही वर्षाकाल में धर्म आराधना अधिकाधिक करने और विराधना अर्थात् हिंसा आदि असत्प्रवृत्तियाँ अल्पातिअल्प करने के लिए कहा गया है, इसका अनुपालन करें।
13) बड़े जन्तुओं, जैसे – चूहा, कॉकरोच, छिपकली आदि की हिंसा अनायास भी न हो, इसका ध्यान रखें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

14) कबूतर, चिड़िया आदि पक्षियों के अण्डों को स्पर्श भी न करें।

15) जूठन आदि न छोड़ें, जिससे सम्मूर्च्छिम मनुष्यों एवं अन्य त्रस जीवों की हिंसा न हो।

16) 'असतीजनपोषणकर्म' अर्थात् चूहे आदि को मारने के लिए कुत्ते आदि को पालने अथवा व्यभिचार आदि के लिए वेश्याओं को रखने से सम्बन्धित कर्म न करें।

17) पशुओं को नपुंसक बनाने से सम्बद्ध व्यवसाय अर्थात् 'निल्लंछणकर्म' न करें।

18) मल–मूत्र विसर्जन, दातौन, स्नान आदि के लिए पूर्वकाल में व्यक्ति जंगल जाता था, जिससे न केवल जल का अपव्यय अल्प होता था, वरन् अपशिष्ट मल एवं जल भी जंगल के छोटे पौधों के लिए खाद एवं पानी के रूप में उपयोगी होते थे, इस नियम का यथासम्भव पालन करें। इससे अनेक त्रस जीवों की हिंसा से बचाव होगा।

19) कुड़ा–कर्कट आदि अपशिष्ट पदार्थों का विसर्जन विवेकपूर्वक करें अन्यथा इनमें कई त्रस जीवों की उत्पत्ति एवं हिंसा होती है।

20) कीड़ों से निर्मित रेशम एवं कोसे के वस्त्र नहीं पहनें, क्योंकि इनकी एक साड़ी बनाने में लगभग चार हजार कीड़ों की हत्या की जाती है।

21) गृहस्थ उपासक के लिए 'केशवाणिज्य' अर्थात् केश एवं केशवाले प्राणियों को बेचने आदि का व्यवसाय निषिद्ध है, अतः इस नियम का पालन करें।

22) अनाज, जल आदि का भण्डारण आवश्यकतानुसार एवं मर्यादित कालावधि के लिए ही करें, अन्यथा इसमें कई त्रस जीवों की हिंसा होती है।

23) 'दन्तवाणिज्य' अर्थात् हाथी के दाँत, चमड़े, हड्डी आदि का व्यवसाय न करें।

24) खनन उद्योग में वर्षाकाल में बड़े–बड़े तालाबों का निर्माण होना स्वाभाविक है। वर्षा के उपरान्त जब पुनः कार्य प्रारम्भ करने के लिए इन जलाशयों को सुखाया जाता है, तब कई मत्स्य आदि जलचर प्राणी मर जाते हैं, अतः ऐसा व्यवसाय न करें।

25) रात में वाहनों का प्रयोग कम से कम करें, जिससे अनेकानेक त्रस जीवों की हिंसा से बचा जा सकें।

26) मैथुन के सेवन का पूर्ण अथवा आंशिक त्याग करें, क्योंकि इससे हर बार असंख्य जीवों की हिंसा होती है।

27) अनावश्यक घूमना–फिरना बन्द करें अथवा कम करें।

28) आर्द्रा नक्षत्र के बाद आम का सेवन न करें, क्योंकि इनमें अनेक बार कीड़े पाए जाते हैं।

29) सब्जी, फल आदि सुधारते हुए इल्ली, कीड़ों आदि की हिंसा से बचें।

30) परिवार नियोजन की चेतना विकसित करें।

31) भ्रूणहत्या कदापि न करें।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8.7 निष्कर्ष

इस अध्याय में हमने यह पाया कि हम मानवों को प्रकृति के उपहारस्वरूप 'पर्यावरण' की प्राप्ति हुई है। इसके अन्तर्गत षड्जीवनिकायों का समावेश हो जाता है – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस जीव। चूँकि मानव सभी प्राणियों में सर्वाधिक सामर्थ्यवान् है, अतः वह पर्यावरण का विकास और विनाश दोनों करने में सक्षम है।

प्रकृति अर्थात् पर्यावरण के प्रति मानव चार प्रकार का व्यवहार कर सकता है[240] –

★ प्रकृति का पोषण
★ प्रकृति का दोहन
★ प्रकृति का प्रदूषण
★ प्रकृति का शोषण

जैनाचार्यों के अनुसार, हम प्रकृति का सम्यक् पोषण और सीमित दोहन तो करें, लेकिन शोषण और प्रदूषण नहीं। वस्तुतः, दोहन एवं शोषण में बुनियादी अन्तर है। एक सज्जन व्यक्ति यदि गाय पालता है, तो उसका दोहन अर्थात् उपयोग अवश्य करता है, लेकिन उसका उचित पोषण भी साथ में करता है। वह दोहन एवं पोषण में सन्तुलन स्थापित कर लेता है। इसके विपरीत, एक स्वार्थी व्यक्ति गाय का इतना अधिक दोहन करता है कि गाय के प्राण ही निकल जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि दोहन एवं पोषण में सन्तुलन नहीं रह पाता। संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रदूषण एवं शोषण में हिंसा की प्रधानता है, तो पोषण एवं दोहन में अहिंसा की। जैनाचार्यों ने सदा, सर्वत्र एवं सर्वथा अहिंसा आधारित जीवनशैली की पवित्र प्रेरणा दी है। यदि वैयक्तिक जीवन में इस शैली को आत्मसात् किया जाए, तो पर्यावरण एवं स्वयं मानव के अस्तित्व पर मंडराता खतरा हट सकता है।

जो विवेकशील मानव प्रभु महावीर के उपदेशों को जीवन–व्यवहार में लाने के लिए स्वयं को तैयार करेगा, उसकी अन्तर्भावना निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त की जा सकती है –

मैत्री भाव जगत् में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे।
दीन दुःखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा स्रोत बहे।।
दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे।
साम्य भाव रखूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे।।
ईति–भीति व्यापे नहीं जग में, वृष्टि समय पर हुआ करे।
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजा का किया करे।।
रोग मरी दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्ति से जिया करे।
परम अहिंसा धर्म जगत् में, फैल सर्वहित किया करे।।[241]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार, सम्पूर्ण पर्यावरण–प्रबन्धन के आशय को स्पष्ट करने के लिए बृहद्कल्पभाष्य की निम्नलिखित पंक्तियाँ पर्याप्त है[242] –

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियगं जिणसासणयं।।

अर्थात् जो अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए भी चाहना चाहिए, जो अपने लिए नहीं चाहते हो, वह दूसरों के लिए भी नहीं चाहना चाहिए। बस! इतना मात्र जिनशासन है और यही तीर्थंकरों का उपदेश भी।

इस प्रकार, पर्यावरण का सम्यक् प्रबन्धन कर पर्यावरणीय संसाधनों की सुरक्षा का प्रयत्न करना चाहिए।

शिवमस्तु सर्वजगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवन्तु लोकाः।। [243]

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ. क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	**क्या आप पर्यावरण की जानकारी रखते हैं?**		2
2)	क्या आप जीवन में पर्यावरण को महत्त्व देते हैं?		4
3)	**क्या आप पर्यावरणीय समस्याओं के दुष्परिणामों को जानते हैं?**		8
4)	क्या आप पर्यावरणीय समस्याओं के मूल कारणों को जानते हैं?		20
5)	**क्या आप संसार के समस्त प्राणियों के प्रति आत्मवत्–बुद्धि रखते हैं?**		27
6)	क्या आप वैचारिक अहिंसा (भाव–अहिंसा) की भावना रखते हैं?		28
7)	**क्या आपकी पारस्परिक सहयोग की भावना रहती है?**		30
8)	क्या आप आत्म–स्वातन्त्र्य को स्वीकार करते हैं?		33
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
9)	क्या आप भूमि–संरक्षण में सहयोग देते हैं?		35
10)	**क्या आप जल–संरक्षण में सहयोग देते हैं?**		39
11)	क्या आप अग्नि–संरक्षण में सहयोग देते हैं?		43
12)	**क्या आप वायु–संरक्षण में सहयोग देते हैं?**		47
13)	क्या आप वनस्पति–संरक्षण में सहयोग देते हैं?		50
14)	**क्या आप त्रस–संरक्षण में सहयोग देते हैं?**		53
15)	क्या आप प्रकृति का सम्यक् पोषण और सीमित दोहन करते हैं?		58
		कुल	

कुल	**0–15**	**16–30**	**31–45**	**46–60**	**61–75**
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
भविष्य में अपेक्षित प्रबन्धन	अत्यधिक	अधिक	अल्प	अल्पतर	अल्पतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 21
2 जदत्थिणं लोगे, तं सव्वं दुपओ आरं – स्थानांगसूत्र, 2/1
3 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 591
4 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 21
5 व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर
6 गुणपर्यायवद् द्रव्यम् – तत्त्वार्थसूत्र, 5/37
7 उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् – वही, 5/29
8 परस्परोपग्रहो जीवानाम् – वही, 5/21
9 दशवैकालिकसूत्र, 4/3
10 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 64
11 आचारांगसूत्र, 1/1/2/1
12 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 46
13 आचारांगसूत्र, 1/1/4/2
14 उपासकदशांगसूत्र, 1/51, पृ. 47
15 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 36–37
16 वही, पृ. 37
17 विकल्प (स्मारिका वन–विभाग), पृ. 82
18 वही, पृ. 82
19 वही, पृ. 82
20 (A) Education for the Environmental Concerns, A.B. Saxena, p. 207
(B) Environment Management, Rosy Joshy, p. 1.12
21 आचारांगसूत्र, 1/1/6/7
22 वही, 1/2/3/4, 1/2/4/4
23 जीववहो अप्पवहो – भक्तपरिज्ञा, 93
24 पर्यावरणविद् डॉ वी. के. निलोसे, इन्दौर से चर्चा के आधार पर
25 पर्यावरणविकास (पत्रिका), मई, 2008, अंक 5, पृ 5
26 नईदुनिया (समाचार पत्र), ले. डॉ.राकेश त्रिवेदी, 25 मार्च, 2009
27 पर्यावरणविकास (पत्रिका), जून, 2008, अंक 6, पृ. 17
28 वही, पृ. 18
29 वही, पृ. 17
30 वही, पृ. 19
31 वही, पृ. 18
32 वही, पृ. 18
33 वही, जुलाई, 2008, अंक 7, पृ. 10
34 Environment Management, Rosy Joshy p. 2.8
35 पर्यावरणविकास (पत्रिका), अप्रैल, 2008, अंक 4, पृ. 10
36 वही, सितंबर, 2008, अंक 9, पृ. 7–8
37 वही, पृ. 10
38 वही, अक्टूबर, 2008, अंक 10, पृ. 17
39 वही, जनवरी, 2008, अंक 1, पृ. 12
40 वही, जून, 2008, अंक 6, पृ. 15–16
41 वही, पृ. 13
42 उपासकदशांगसूत्र, 1/51, पृ. 47
43 पर्यावरणविकास (पत्रिका), अक्टूबर, 2008, अंक 10, पृ. 12
44 नईदुनिया (समाचार पत्र), ले.डॉ.राकेश त्रिवेदी, 25 मार्च, 2009
45 पर्यावरणविकास (पत्रिका), नवम्बर 2008, अंक 11, पृ. 10
46 वही, पृ. 7
47 वही, पृ. 11
48 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 175–182
49 पर्यावरणचेतना, सं. डॉ.पुरुषोत्तमभट्ट चक्रवर्ती, पृ. 162
50 (क) वही, पृ. 162
(ख) Education for the Environmental concerns, A.B. Saxena, p. 179
51 पर्यावरणचेतना, सं. डॉ.पुरुषोत्तमभट्ट चक्रवर्ती, पृ. 163
52 Education for the Environmental concerns, A.B. Saxena, p. 187
53 पर्यावरणशिक्षा, सं. डॉ.आर.ए. शर्मा, पृ. 103
54 नईदुनिया (समाचार पत्र), ले. गौरीशंकर राजहंस, 22 अप्रैल, 2009
55 पर्यावरणचेतना, सं. डॉ.पुरुषोत्तमभट्ट चक्रवर्ती, पृ. 163
56 वही, पृ. 164
57 अमोलसुक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, पृ. 429
58 वही, पृ. 429
59 पर्यावरणचेतना, सं. डॉ.पुरुषोत्तमभट्ट चक्रवर्ती, पृ. 165
60 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 188
61 (A) Education for the Environmental concerns, A.B. Saxena, p. 198
(B) Environment Management, Rosy Joshy, p. 8.14
62 आचारांगसूत्र, 1/5/3/5
63 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 227–228
64 वही, पृ. 39–45
65 आचारांगसूत्र, 1/1/6/5
66 हिंसानृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

– तत्त्वार्थसूत्र, 7/1

67 उपासकदशांगसूत्र 1/48, पृ. 44

68 Education for the Environmental concerns, A.B. Saxena, p. 206

69 एगं अन्नयरं तसं पाणं हणमाणे अणेगे जीवे हणइ
– भगवतीसूत्र 9/34, पृ. 570

70 आचारांगसूत्र, 1/4/4/3

71 पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि
– वही, 1/3/3/7

72 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 591

73 वही, पृ. 592

74 बहुंपि लद्धुं न निहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा – आचारांगसूत्र, 1/2/5/5

75 अर्थः प्रयोजनम् गृहस्थस्य क्षेत्र वस्तु, वास्तु, धन, धान्य ..... तद्विपरीतोऽनर्थ दण्ड – उपासकदशांगसूत्रटीका, अभयदेवसूरि, 1/43 (उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार, सुभाष कोठारी, पृ. 143 से उद्धृत)

76 देशसर्वतोऽणुमहती – तत्त्वार्थसूत्र, 7/2

77 जेण सिया तेण णो सिया
– आचारांगसूत्र, 1/2/4/3

78 मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/2/3/7

79 उत्तराध्ययनसूत्र, 24/15

80 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 24–27

81 Environment Management, Rosy Joshi, p. I.5

82 do, p. I.5

83 पर्यावरणशिक्षा, सं. डॉ.आर.ए.शर्मा, पृ. 246–247

84 अप्पणोय परं नालं, कुतो अन्नाण सासिउं
– सूत्रकृतांगसूत्र, 1/1/2/17

85 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 27

86 न हु पावं हवइ हियं, विसं जहा जीवियत्थिस्स
– मरणसमाधि, 6/3

87 पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमुच्चसि
– आचारांगसूत्र, 1/3/3/7

88 आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, सा.प्रियदर्शनाश्री, अ. 7, पृ. 168

89 सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता
– अमोलसुक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, पृ. 91

90 महाभारत, 1/11/13

91 पद्मपुराण (अमोलसूक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, पृ. 89 से उद्धृत)

92 योगवशिष्ठ (वही, पृ. 89 से उद्धृत)

93 दानचन्द्रिका (वही, पृ. 90 से उद्धृत)

94 भक्तपरिज्ञा, 91

95 प्रशमरति (अमोलसूक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, पृ. 90 से उद्धृत)

96 पाणवहो चंडो, रुद्दो, खुद्दो, अणारियो, निग्घिणो, निस्संसो महब्भयो... – प्रश्नव्याकरणसूत्र, 1/1, पृ. 6

97 न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो
– वही, 1/3, पृ. 110

98 अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो
– दशवैकालिकसूत्र, 6/8

99 ज्ञानार्णवः, 8/32

100 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/1/4/10

101 जाति देश काल–समयावच्छिन्ना
– योगदर्शन, 2/31

102 आचारांगसूत्र, 1/4/1/1

103 वही, 1/1/7/7

104 तं जहा पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइ काइया, तस काइया।
– दशवैकालिकसूत्र, 4/3

105 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 575

106 इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मद्दिट्ठी सया जए।
दुलहं लभित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहेज्जासि।।
– दशवैकालिकसूत्र, 4/51

107 अकरिस्सं चऽहं, कारवेसु चऽहं ..... भवंति
– आचारांगसूत्र, 1/1/1/6

108 एगे आया – समवायांगसूत्र, 1/3

109 हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे
– व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 7/8

110 आचारांगसूत्र, 1/3/3/1

111 आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, सा.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 169

112 सव्वे पाणा पिआउया, ...कंचणं।
– आचारांगसूत्र, 1/2/3/4

113 तुमंसि नाम तं ..... ति मन्नसि।
– वही, 1/5/5/5

114 आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, सा.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 169

115 प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा
– तत्त्वार्थसूत्र, 7/8

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

116 आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, सा.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 172
117 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 600
118 वही, पृ. 600
119 आचारांगसूत्र, 1/1/6/4
120 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 600
121 आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, सा.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 181
122 मित्तिं भूएहिं कप्पए – उत्तराध्ययनसूत्र, 6/2
123 वैरं मज्झं न केणइ – आवश्यकसूत्र, अ. 4, पृ. 91
124 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 215 – 216
125 असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं – उत्तराध्ययनसूत्र, 31/2
126 जे अज्झत्थं जाणइ ..... तुल मन्नेसि – आचारांगसूत्र, 1/1/7/2
127 न य वित्तासए परं – उत्तराध्ययनसूत्र, 2/20
128 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 575
129 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 111
130 परस्परोपग्रहो जीवानाम् – तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
131 भक्तपरिज्ञा, 93
132 दशवैकालिकसूत्र, 1/1–5
133 सव्वे पाणा, सव्वे भूया ..... उद्दवेयव्वा – आचारांगसूत्र, 1/4/2/4
134 जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं। न हणइ न हणावेइ अ, सममणइ तेण सो समणो।। – अनुयोगद्वारसूत्र, 129, पृ. 454
135 दशवैकालिकसूत्र, 1/2
136 वही, 1/4
137 वही, 1/3
138 वही, 1/2
139 वही, 1/5
140 आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, सा.प्रियदर्शनाश्री, पृ. 180
141 आचारांगसूत्र, 1/3/1/5
142 अमोलसूक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, पृ. 277
143 एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए – आचारांगसूत्र, 1/1/2/4
144 घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां, ते यान्ति दुर्गतिम् – योगशास्त्र, 2/39
145 पावं कम्मं नेव कुज्जा, न कारवेज्जा – आचारांगसूत्र, 1/2/6/1
146 कम्मं चिणंति सवसा, तस्सु दयम्मि उ परव्वसा होंति। रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो।। – बृहद्भाष्य, 2989
147 सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति। दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति।। – औपपातिकसूत्र, 56
148 जैनधर्म एवं भारतीय धर्मदर्शन (एम.ए.पुस्तक), पृ. 5/17/1
149 से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी – आचारांगसूत्र, 1/1/1/5
150 अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य। अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ।। – उत्तराध्ययनसूत्र, 20/37
151 पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि? पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि। – आचारांगसूत्र, 1/3/3/6–7
152 जयं चरे, जयं चिट्ठे, जय मासे, जयं सए। जयं भुजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई।। – दशवैकालिकसूत्र, 4/62
153 पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ परिणएणं – वही, 4/4
154 वही, 6/27
155 वही, 6/28
156 पुढवी भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे न संलिहे। विविहेण करण जोएण, संजए सुसमाहिए।। – वही, 8/4
157 जीव–अजीव तत्त्व, कन्हैयालाल लोढ़ा, पृ. 15
158 गोयमा! जहन्नेणं अंगुला संखेज्जविभागं उक्कोसेण वि अंगुलासंखेज्जई भागं – जीवाजीवाभिगमसूत्र, 1/13
159 दाणाणं सेट्ठं अभयप्पमाणं – सूत्रकृतांगसूत्र, 1/6/23
160 आचारांगसूत्र, 1/1/2/4
161 दशवैकालिकसूत्र, 8/5
162 वही, 4/49
163 आचारांगसूत्र, 1/1/2/1
164 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 593
165 उपासकदशांगसूत्र, 1/51, पृ. 47
166 मूर्च्छापरिग्रहः – तत्त्वार्थसूत्र, 7/12
167 वही, 7/16

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

168 आनंदस्वाध्यायसंग्रह, श्रीपुण्यप्रकाशस्तवन, पृ. 76
169 दशवैकालिकसूत्र, 6/30
170 वही, 4/5
171 जीव–अजीव तत्त्व, कन्हैयालाल लोढ़ा, पृ. 21
172 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 594
173 आचारांगसूत्र, 1/1/3/6
174 दशवैकालिकसूत्र, 8/6
175 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 576
176 वही, पृ. 576
177 तत्त्वार्थसूत्र, 7/16
178 उपासकदशांगसूत्र, 1/27
179 वही, 1/26
180 वही, 1/41
181 वही, 1/42
182 वही, 1/29
183 वही, 1/21
184 वही, 1/51, पृ. 47
185 सरोह्रदतडाग परिशोषणता ..... एतेषां शोषणं गोधूमादीनां वपनार्थम्
– उपासकदशांगसूत्रटीका, अभयदेवसूरि (उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार, सुभाष कोठारी, पृ. 144 से उद्धृत)।
186 तेउ चित्तमंतमक्खाया अणेग जीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ परिणएणं – दशवैकालिकसूत्र, 4/6
187 वही, 6/35
188 से बेमि संति पाणा पुढविणिस्सिया ..... ते तत्थ उद्दायंति
– आचारांगसूत्र, 1/1/4/7
189 दशवैकालिकसूत्र, 6/34
190 वही, 6/32
191 वही, 6/32
192 वही, 6/34
193 वही, 6/35
194 तं परिण्णाय मेहावी ..... त्ति बेमि
– आचारांगसूत्र, 1/1/4/8
195 उपासकदशांगसूत्र, 1/51, पृ. 47
196 वनकर्म च वनस्पति छेदन पूर्वकंत द्विक्रय जीवनम्
– उपासकदशांगसूत्रटीका, अभयदेवसूरि (उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार, सुभाष कोठारी, पृ. 137 से उद्धृत)।
197 रसवाणिज्ये सुरादि विक्रय – उपासकदशांगसूत्रटीका, अभयदेवसूरि (वही, पृ. 139 से उद्धृत)
198 दवग्गिदाणं दवाग्नेर्वनाग्नेः–दाणं वितरणं क्षेत्रादि शोधनं निमित्तं दावाग्नि दानमिति
– वही (वही, पृ. 141 से उद्धृत)।
199 तत्त्वार्थसूत्र, 7/16
200 उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार, सुभाष कोठारी, पृ. 146
201 याउचित्त मंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ परिणएणं – दशवैकालिकसूत्र, 4/7
202 जीव–अजीव तत्त्व, कन्हैयालाल लोढ़ा, पृ. 32
203 आचारांगसूत्र, 1/1/7/2
204 पहू एजस्स दुगुंछणाए आयंकदंसी ..... जीविउं .....।
– वही, 1/1/7/1
205 से बेमि संति संपाइमा पाणा ..... उद्दायंति ...।
– आचारांगसूत्र, 1/1/7/5
206 दशवैकालिकसूत्र, 6/39
207 वही, 6/36
208 तं परिण्णाय मेहावी ..... त्तिबेमि ....।
– आचारांगसूत्र, 1/1/7/5
209 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 577
210 उपासकदशांगसूत्र, 1/32
211 वही, 1/29
212 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 577
213 वणस्सई चित्त मंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ परिणएणं – दशवैकालिकसूत्र, 4/8
214 जीव–अजीव तत्त्व, कन्हैयालाल लोढ़ा, ...पृ. 42
215 से बेमि इमंपि जाइधम्मयं ..... विपरिणामधम्मयं
– आचारांगसूत्र 1/1/5/8
216 वणस्सई विहिंसंतो हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे।।
– दशवैकालिकसूत्र, 6/41
217 वही, 6/42
218 वही, 6/40
219 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 577
220 वनकर्म च वनस्पति छेदन पूर्वकंत द्विक्रय जीवनम्
– उपासकदशांगसूत्रटीका, अभयदेवसूरि (उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार, सुभाष कोठारी, पृ. 137 से उद्धृत)।
221 दवग्गिदाणं दवाग्नेर्वनाग्नेः–दाणं वितरणं क्षेत्रादि शोधनं निमित्तं दावाग्नि दानमिति
– वही (वही, पृ. 141 से उद्धृत)
222 तत्त्वार्थसूत्र, 7/16
223 दशवैकालिकसूत्र, 4/9

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

224 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 115

225 दशवैकालिकसूत्र, 6/44

226 एगं अन्नयरं तसं पाणं हणमाणे अणेगे जीवे हणइ।
– व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 9/34

227 दशवैकालिकसूत्र, 6/43

228 वही, 8/17

229 उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार, सुभाष कोठारी, पृ. 82

230 विषवाणिज्यं जीवघात प्रयोजनं शस्त्रादि विक्रयोपलक्षणं – उपासकदशांगसूत्रटीका, अभयदेवसूरि (उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार, सुभाष कोठारी, पृ. 140 से उद्धृत)।

231 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 578

232 जूअं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि चोर परयारं।
दुग्गइ गमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि।।
– वसुनंदिश्रावकाचार, पृ. 59

233 जैननीतिशास्त्र एक परिशीलन, आ.देवेन्द्रमुनि, पृ. 232

234 न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोक हितायते
– धर्मबिन्दु, 1/4

235 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 598

236 पर्यावरणबोध, सं.डॉ.कल्पनागांगुली, पृ. 121

237 जैनभारती (पत्रिका), अंक 6, जून, 2005, पृ. 31

238 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 578

239 आचारांगसूत्र, 1/3/4/4

240 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन, सा.डॉ.विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 592

241 मेरीभावना, गाथा 5 एवं 10

242 बृहद्कल्पभाष्य, 4584

243 आनंदस्वाध्यायसंग्रह, बृहत्शांतिस्तोत्र, पृ. 34–38

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाज प्रबन्धन

SOCIAL MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 9

समाज–प्रबन्धन

(Social Management)

	Page No. Chap.	Cont.
9.1 समाज का स्वरूप एवं समाज का महत्त्व	**1**	**491**
9.2 सामाजिक संरचना के आधार पर समाज के प्रकार	**7**	**497**
9.3 सामाजिक अव्यवस्था के दुष्परिणाम	**13**	**503**
9.4 जैनआचारमीमांसा के आधार पर समाज–प्रबन्धन	**18**	**508**
9.4.1 समाज–प्रबन्धन : एक परिचय	18	508
9.4.2 समाज–प्रबन्धन का मूल उद्देश्य	19	509
9.4.3 जैनआचारमीमांसा के आधार पर समाज–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक–पक्ष	20	510
(1) सामाजिक चेतना का सम्यक् विकास होना	20	510
(2) मनोवृत्ति की निर्मलता एवं सामाजिक–प्रबन्धन	21	511
(3) सम्यग्दर्शन एवं सामाजिक–प्रबन्धन	21	511
(4) सद्भावनाएँ एवं सामाजिक–प्रबन्धन	22	512
(5) अनेकान्त एवं सामाजिक–प्रबन्धन	23	513
(6) स्वार्थ, परार्थ एवं परमार्थ का पारस्परिक सामंजस्य और सामाजिक–प्रबन्धन	24	514
(7) सामाजिक जीवन–धर्म एवं सामाजिक–प्रबन्धन	26	516
(8) काम एवं अर्थ पर नियन्त्रण और सामाजिक–प्रबन्धन	26	516
(9) संविभाजन एवं सामाजिक–प्रबन्धन	27	517
9.5 जैनआचारमीमांसा में समाज–प्रबन्धन के प्रायोगिक पक्ष	**28**	**518**
9.6 निष्कर्ष	**35**	**525**
9.7 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	**36**	**526**
सन्दर्भसूची	37	527

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 9

समाज–प्रबन्धन
(Social Management)

9.1 समाज का स्वरूप एवं समाज का महत्त्व

समाज मानवीय सभ्यता का एक पुरातन आधार रहा है। मानवीय सभ्यता के प्रारम्भ से ही समाज का अस्तित्व देखा जाता है। जैनकथासाहित्य में भगवान् ऋषभदेवजी को वर्त्तमान अवसर्पिणी काल का प्रथम सामाजिक–व्यवस्थापक माना जाता है। ये उस काल में हुए, जब वर्त्तमान अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा (कालचक्र का एक खण्डविशेष) समाप्ति की ओर था। उस समय जीवनशैली की स्थिति बिगड़ने लगी थी तथा मानवीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने वाले कल्पवृक्षों की शक्ति और संख्या भी क्षीण होने लगी थी। इससे आम आदमी की आवश्यकता–पूर्त्ति के साधनों का ह्रास होने लगा। फलस्वरूप, आपराधिकवृत्ति का जन्म होने लगा एवं जनसंघर्ष पनपने लगा। इससे पीड़ित जनता ने क्षेत्रीय संगठन की स्थापना की, जिसे 'कुल' के रूप में पहचाना गया, इसके मुखिया 'कुलकर' कहलाए। इन्होंने क्रमशः 'हाकार, माकार एवं धिक्कार' की दण्डनीति के द्वारा समाज को व्यवस्थित करने का प्रयास किया। किन्तु, जब ये नीतियाँ तथा कुलकर–व्यवस्था भी गड़बड़ाने लगी, तब भगवान् ऋषभदेव ने अपनी गृहस्थावस्था में सामाजिक–व्यवस्था को व्यवस्थित करने के लिए अनेक उपयोगी व्यवस्थाओं का निर्माण किया और समाज को एक सुदृढ़, सुव्यवस्थित एवं सुमर्यादित आकार प्रदान किया। आज जो समाज व्यवस्था दिखाई दे रही है, इसमें भगवान् ऋषभदेवजी का अविस्मरणीय योगदान रहा। सामाजिक सुव्यवस्था हेतु उनके द्वारा स्थापित कुछ प्रमुख मार्गदर्शक नीतियाँ इस प्रकार हैं –

1) राजा और प्रजा के मध्य पिता–पुत्र जैसा सम्बन्ध।
2) विविध कुलों की स्थापना – उग्र, भोग, राजन्य एवं क्षत्रिय।
3) नागरिक जीवन की सुरक्षा के लिए आरक्षक दलों की स्थापना।
4) उचित मंत्रणा हेतु मंत्री–परिषद् का गठन।
5) दूरदराज के क्षेत्रों में राजा का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्ग की नियुक्ति, जैसे – राजदूत प्रणाली।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6) चतुरंगिणी सेना एवं सेनापतियों की व्यवस्था।
7) विवाह–पद्धति का गठन।
8) कृषि–व्यवस्था का स्थापन।
9) पाक–विद्या का प्रशिक्षण।
10) कला और शिल्प विद्या का उद्भव।
11) न केवल लौकिक धर्म, अपितु लोकोत्तर धर्म की भी स्थापना।
12) आध्यात्मिक साधना की आचार–संहिता की सम्यक् व्यवस्था इत्यादि।[1]

भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रबन्धित ये सामाजिक व्यवस्थाएँ सिद्धान्ततः आज भी प्रचलित हैं। यद्यपि इनमें देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर अनेक परिवर्त्तन होते रहे हैं, तथापि इनका मूलस्वरूप ज्यों का त्यों बना रहा। आगे, हम समाज के स्वरूप पर कुछ विचार करेंगे।

9.1.1 समाज का स्वरूप

समाज का सामान्य अर्थ वर्ग–हित के लिए संगठित व्यक्तियों का एक समूह है, किन्तु यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती, केवल व्यक्तियों का समूह समाज नहीं कहा जा सकता। यदि इतना ही अर्थ होता तो पशुओं के झुण्ड (समूह) को भी समाज कहा गया होता, परन्तु यह ज्ञातव्य है कि भारतीय भाषा–विज्ञानियों ने पशुओं के समूह को 'समाज' नहीं, अपितु 'समज' शब्द के द्वारा व्याख्यायित किया है। वस्तुतः, समाज सामाजिक सम्बन्ध की एक व्यवस्था है। इससे भी ऊपर उठकर देखें, तो समाज एक प्रकार से विविध सामाजिक व्यवस्थाओं के आधार पर निर्मित एक संगठन है।

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार, व्यक्ति और समाज वस्तुतः एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं, जिस प्रकार वस्त्र धागों की एक व्यवस्थित संरचना है, उसी प्रकार समाज भी व्यक्ति की एक ऐसी संरचना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज से जुड़ा हुआ है। वस्तुतः, व्यक्ति के अभाव में समाज एक अमूर्त्त कल्पना है और समाज के अभाव में व्यक्ति व्यक्तित्वविहीन इकाई है। अतः यह मानना होगा कि सामाजिक संरचना में व्यक्ति और समाज एक–दूसरे से अभिन्न हैं।

यह सत्य है कि व्यक्तियों के समूह से समाज का निर्माण होता है, लेकिन व्यक्तियों की भीड़ को ही समाज नहीं कहा जा सकता। सामाजिक जीवन के कुछ मूल्य एवं व्यवस्थाएँ भी होती हैं, जिन्हें एक ओर रखकर समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। अतएव यह कहना पूर्ण नहीं है कि समाज केवल व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। सामाजिक जीवन के मूल्यों और आदर्शों को साथ में लेकर ही समाज की समीचीन व्याख्या की जा सकती है।[2]

जब हम सामाजिक–प्रबन्धन की बात करते हैं, तो हमें यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि कोई भी प्रबन्धन मूल्यविहीन नहीं हो सकता, उसके कुछ मूल्य या आदर्श अवश्य होते हैं। उन्हीं आदर्शों के आधार पर हम सामाजिक–व्यवस्था या सामाजिक–प्रबन्धन की बात कर सकते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस दृष्टि से प्रो. डेविस की यह मान्यता उचित प्रतीत होती है कि केवल सामाजिक सम्बन्धों का ढेर ही समाज नहीं होता, वरन् जब सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था पनपती है, तभी वह समाज कहलाता है।[3] सर्वश्री मैकाइवर एवं पेज ने भी इस बात की पुष्टि की है। उनके शब्दों में, "समाज रीतियों और कार्यप्रणालियों की, अधिकार और सहयोग की, समूह और विभागों की तथा मानव व्यवहार के नियन्त्रण और स्वतन्त्रता की एक व्यवस्था है।"[4]

जैनाचार्यों ने भी सदैव मूल्य एवं आदर्श से युक्त व्यक्तियों के समूह को ही समाज कहा है। उन्होंने समाज के लिए 'संघ' शब्द का प्रयोग करते हुए यह कहा है कि संघ गुणों का एकत्रित रूप है। यह पापकर्मों से छुटकारा दिलाने वाला है, राग और द्वेष से मुक्त करने वाला है और सभी जीवों के प्रति समान व्यवहार करने वाला है।[5] इस प्रकार जैनदर्शन में समाज को केवल व्यक्तियों के समूह के रुप में ही नहीं, अपितु मूल्यपरक व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। स्वयं 'संघ' शब्द भी इस बात को इंगित करता है कि वह तोड़ने नहीं, अपितु जोड़ने का कार्य करता है **(संघात इति संघः)**।[6] वस्तुतः जैनदर्शन में संघ या समाज को व्यक्ति के ऊर्ध्वमुखी विकास के लिए एक व्यवस्था के रूप में स्वीकारा गया है। जहाँ विकास अथवा मूल्य नहीं हो, वहाँ जैनाचार्यों की दृष्टि में समाज या संघ का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। संघ (समाज) के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है – "संघमेरू का मध्यभाग रत्नत्रय से देदीप्यमान है, अहिंसादि पाँच शील की सुगन्ध से सुरभित है, तप से शोभायमान है तथा द्वादशांग रूपी उत्तुंग शिखर से युक्त है, इन विशेषणों से संघ की विलक्षणता दृष्टिगत है।"[7] इसी आधार पर हम सामाजिक–प्रबन्धन की बात आगे करेंगे।

किन्तु यह सामाजिक–प्रबन्धन कौन करेगा और कैसे करेगा, यह एक विचारणीय विषय रहा है। वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में सामाजिक–प्रबन्धन की जो बात कही जाती है, उसके लिए सबसे पहले व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ लेना आवश्यक है।

इस विषय में दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं। पहली के अनुसार, व्यक्ति ही समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई है, अतः व्यक्ति के सुधार से ही सामाजिक–सुधार अर्थात् सामाजिक–प्रबन्धन हो सकता है। किन्तु दूसरी के अनुसार, समाज अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि समाज अधिक व्यापक है, इसमें समाहित होकर व्यक्ति के व्यक्तित्व की कोई अलग पहचान नहीं होती। इस प्रकार व्यक्ति इस अर्थ में बड़ा है कि वह समाज–रचना का मूल आधार है और समाज इस अर्थ में बड़ा है कि वह व्यक्ति का आश्रय है।[8] जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में हम केवल एकांगी दृष्टिकोण रखकर समाज–प्रबन्धन की बात नहीं कर सकते। यह सत्य है कि व्यक्ति सामाजिक संगठन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है, किन्तु व्यक्ति समाज–निरपेक्ष नहीं है, व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज–सापेक्ष है। यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज की देन है अर्थात् समाज से निर्मित है। वस्तुतः, कोरे व्यक्तिवाद अथवा कोरे समाजवाद के बजाय व्यक्तिवादी समाज और समाजवादी व्यक्ति ही अधिक उपयुक्त है।[9] हमें अनेकान्त दृष्टि के द्वारा पहल करनी चाहिए, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण हो सके। अतः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामाजिक–प्रबन्धन एक दोहरी व्यवस्था है। एक ओर हमें व्यक्ति को आधार बनाना होगा, तो दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था और मूल्यों को भी महत्त्व देना होगा। सामाजिक मूल्यों की निश्रा में ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होगा और ऐसे व्यक्तित्ववान् व्यक्तियों की पारस्परिक अन्तःक्रियाओं (Interaction) से ही स्वस्थ समाज की संरचना हो सकेगी।

9.1.2 समाज का महत्त्व[10]

समाज मनुष्य की एक महान् उपलब्धि है, जिसे न तो मूर्त रूप से देखा जा सकता है और न ही हाथों से छुआ जा सकता है, इसे तो केवल महसूस ही किया जा सकता है। श्री ग्युटर के अनुसार, जिस प्रकार जीवन कोई वस्तु नहीं, अपितु जीवित रहने की एक प्रक्रिया है, उसी प्रकार समाज भी कोई वस्तु नहीं, अपितु पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने की एक प्रक्रिया है।[11]

किन्तु आज व्यक्ति भौतिकता की चकाचौंध में समाज के महत्त्व को अनदेखा कर स्वयं अपना ही अहित कर रहा है। अतः सामाजिक–प्रबन्धन की चेतना को जाग्रत करने के लिए समाज की निम्नलिखित उपयोगिता को समझना आवश्यक हो जाता है।

(1) व्यक्ति के विकास में सहायक – जन्म से मृत्यु तक व्यक्ति सामाजिक–व्यवस्था पर निर्भर रहता है। शैशव–काल, यौवनावस्था एवं वृद्धावस्था आदि सभी अवस्थाओं में व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। व्यक्ति में पाशविक वृत्तियों का विनाश एवं मानवीय गुणों का विकास करने में सामाजिक–मार्गदर्शन अपना प्रभाव डालते हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं व्यवहार पर सामाजिक मान्यताओं का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है।

(2) आवश्यकताओं की पूर्त्ति एवं समस्याओं के समाधान में सहायक – मनुष्य की अनेकानेक आवश्यकताएँ हैं, जिनकी पूर्त्ति वह स्वयं नहीं कर सकता, अतः उसे समाज एवं उसके सदस्यों पर आश्रित होना पड़ता है। जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ तो सिर्फ रोटी, कपड़ा और मकान मानी जाती है, किन्तु इनके अतिरिक्त भी व्यक्ति की सुख–सुविधा एवं सम्मान से युक्त जीवन की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं, जिनमें समाज ही सहायक होता है। इतना ही नहीं, धर्म की उत्पत्ति एवं उससे प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक सुख के लिए भी वह समाज पर निर्भर रहता है। समाज के सांस्कृतिक मूल्यों, धर्मग्रन्थों एवं उपासना पद्धतियों के सहारे वह आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है।

केवल आवश्यकता की पूर्त्ति ही नहीं, अपितु जीवन की विविध समस्याओं के समाधान में भी समाज मार्गदर्शन करता है। वस्तुतः, समस्याओं के कारण एवं निवारण का ज्ञान सामाजिक पृष्ठभूमि से ही प्राप्त होता है।

(3) शिक्षा का सम्पूर्ण साधन – ज्ञान मनुष्य की अमूल्य पूंजी है, वह इसे समाज की पाठशाला से ही प्राप्त करता है और इससे जीवन को सँवारने का प्रयत्न करता है। समाज से प्राप्त शिक्षा के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा व्यक्ति अच्छे एवं बुरे कर्मों के अन्तर को समझ पाता है और यह समझ ही उसके व्यवहार का मापदण्ड है। ग्रहणात्मक (सैद्धान्तिक) शिक्षा एवं आसेवनात्मक (प्रायोगिक) शिक्षा दोनों के लिए व्यक्ति को समाज पर ही निर्भर होना पड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि शिक्षा के सम्पूर्ण साधनों की प्राप्ति में समाज की अहम भूमिका है।

(4) समाजीकरण में सहायक – व्यक्ति जन्म से तो सामाजिक नहीं होता, किन्तु समाज में रहकर वह समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक बन जाता है। माता–पिता, कुटुम्बी, गुरुजन, साथियों आदि के द्वारा सामाजिक मूल्यों एवं मान्यताओं की सीख बचपन से ही प्रारम्भ हो जाती है और सतत बढ़ती जाती है। इससे व्यक्ति शनैः–शनैः सामाजिक होता जाता है।

(5) नैतिक गुणों के विकास एवं संस्कृति के संरक्षण में सहायक – मनुष्य का आचरण ही मनुष्य की श्रेष्ठता का प्रतिबिम्ब है। परन्तु मनुष्य का आचरण तभी श्रेष्ठ हो सकता है, जब उसमें मानवता, दया, करुणा, त्याग, सहिष्णुता जैसे नैतिक गुणों एवं सांस्कृतिक मूल्यों का विकास हो। इस हेतु मनुष्य समाज का ऋणी है, क्योंकि समाज के महान् ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों, मनीषियों एवं सुधारकों ने उन आदर्श प्रतिमानों (Standards) की स्थापना की है, जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए पथ–प्रदर्शक हैं। इनके आदर्शों एवं उपदेशों का आलम्बन लेकर व्यक्ति अपना नैतिक कल्याण कर सकता है।

(6) आध्यात्मिक साधना में सहायक – जहाँ समाज गृहस्थोचित सम्बन्धों के उचित निर्वहन में सहयोग देता है, वहीं आध्यात्मिक विकास के लिए भी साधनभूत होता है। समाज से ही व्यक्ति को भौतिक सुखों की तुच्छता तथा आत्मिक सुखों की उत्कृष्टता का ज्ञान प्राप्त होता है। वह यह समझ पाता है कि शरीर और आत्मा भिन्न–भिन्न हैं, रागादि दुःख रूप हैं और इनसे निवृत्ति के साधन सुख रूप हैं। इसी ज्ञान के बल पर वह वैराग्य भावना से वासित होकर समाज (प्रवृत्ति) से असमाज (निवृत्ति) अर्थात् संग से असंग दशा की ओर आगे बढ़ता है। इस प्रकार मुक्ति के प्रयासों में समाज का सहयोग असाधारण है। इसी अपेक्षा से जैनदर्शन में समाज को 'तीर्थ' शब्द से सम्बोधित किया जाता है **(तीर्यते संसार–सागरो येन तत् तीर्थम्)**। कहा भी गया है – यह संसार समुद्र के समान है और संघ (समाज) तीर्थ रूप है अर्थात् संसार से तिरने का माध्यम है। इसमें मौजूद साधुगण तिराने वाले (तारक) हैं और सम्यक् ज्ञान, दृष्टि एवं आचरण तिरने के अंतरंग साधन हैं।[12]

(7) आत्माभिव्यक्ति का साधन – जीवन की यात्रा में आत्माभिव्यक्ति अर्थात् अन्तरात्मा की आवाज का अपना महत्त्व है। यह समाज में घटित घटनाओं के प्रति बनाए गए दृष्टिकोण या अनुभव पर आधारित होती है। समाज की कुछ घटनाएँ हमारी संवेदनाओं को गहराई तक प्रभावित करती हैं, जिससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि घटना का अच्छा पक्ष क्या है और बुरा क्या? इन भावात्मक संवेदनों से ही हम सकारात्मक घटनाओं के प्रति आकर्षित और नकारात्मक घटनाओं से विकर्षित होते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज ही आत्माभिव्यक्ति का प्रेरक तत्त्व है।

इस प्रकार, आज जो सामाजिक व्यवस्थाओं की उपेक्षा दिखाई दे रही है, यह उचित नहीं है, क्योंकि जैसे व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही समाज के बिना व्यक्ति का जीवन–यापन नहीं हो सकता। वस्तुतः, व्यक्ति का जीवन समाज से अत्यन्त प्रभावित है। अतः उसे सामाजिक–प्रबन्धन को जीवन का आवश्यक एवं अनिवार्य दायित्व मानना चाहिए। उसे यह महसूस करना होगा कि समाज के हित में व्यक्ति का हित और व्यक्ति के हित में समाज का हित होता है।

समाज और व्यक्ति के पारस्परिक कर्त्तव्य

उपर्युक्त दृष्टि के आधार पर पाश्चात्य विचारक ब्रेडले का कथन है कि 'व्यक्ति के व्यक्तित्व के परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में उसका एक स्थान बनता है और उस स्थान के अनुरूप उसके कुछ दायित्व भी होते हैं।'[13]

सामाजिक–प्रबन्धन के लिए ये आवश्यक है कि व्यक्ति सामाजिक–व्यवस्था के अन्तर्गत अपने स्थान को समझकर अपने दायित्वों का पालन करे। अतः सम्यक् समाज–प्रबन्धन के लिए यह जानना आवश्यक है कि व्यक्ति और समाज का पारस्परिक कर्त्तव्य किस प्रकार का है?

वस्तुतः जैनदृष्टि के अनुसार, समाज से पृथक् व्यक्ति का कोई स्थान नहीं होता और व्यक्तियों से पृथक् समाज का कोई अस्तित्व नहीं होता। ये दोनों मूल्य–केन्द्रित व्यवस्था के द्वारा एक–दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े रहते हैं। इन्हें एक–दूसरे से पृथक् देखा तो जा सकता है, लेकिन पृथक् किया नहीं जा सकता। आज जो सामाजिक अव्यवस्था दिखाई दे रही है, उसका मूल कारण ही यह है कि व्यक्ति सामाजिक–मूल्यों और आदर्शों को एक ओर रखकर मात्र अपनी स्वार्थपूर्त्ति में लगा हुआ है। वस्तुतः, यह उचित होगा कि व्यक्ति अपने स्वहित का ध्यान तो रखे, किन्तु लोकहित से निरपेक्ष होकर स्वहित करने का प्रयास न करे। जैन अनेकान्त–दृष्टि यह मानती है कि सफल सामाजिक जीवन के लिए स्वहित और परहित दोनों सापेक्ष हैं, जो एक–दूसरे पर निर्भर हैं। तदनुसार, सामाजिक अव्यवस्था के दुष्परिणाम व्यक्ति को भुगतने पड़ते हैं और व्यक्ति की स्वार्थमयी दृष्टि सामाजिक–व्यवस्था को चूर–चूर कर देती है। जैनदर्शन का यह कहना है कि व्यक्ति समाज का घटक है, अतः उसे चाहिए कि वह स्वहित के साथ समाजहित का उचित समन्वय करे, वह समाज में अपने स्थान (Status) को सम्यक्तया समझे और अपने स्थान के अनुरूप अपने उचित कर्त्तव्यों का भी पालन करे।

इस प्रकार, जैनधर्म निवृत्ति–परक होते हुए भी संघीय–धर्म है। इसकी मान्यता यह है कि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष हैं और जो सामाजिक मूल्य हैं, उनमें न केवल समाज का हित है, अपितु व्यक्ति का भी हित समाहित है, क्योंकि व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित हैं।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

9.2 सामाजिक संरचना के आधार पर समाज के प्रकार

मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अन्य मनुष्यों से पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करता है, जिसे समाज कहा जाता है। परन्तु यह समाज भी कोई अखण्ड व्यवस्था नहीं है, अपितु अनेकानेक इकाइयों का एक व्यवस्थित रूप है। दूसरे शब्दों में, समाज परिवारों, संस्थाओं, समितियों, समूहों आदि अनेक इकाइयों का सम्मिलित रूप है। इससे भी ऊपर उठकर देखें, तो समाज इन विभिन्न इकाइयों में होने वाली अन्तःक्रियाओं (Interaction) से उत्पन्न सम्बन्धों का एक संगठन है।[14]

किसी भी सामाजिक संगठन का मूल आधार उसकी सामाजिक संरचना है। सामाजिक संरचना का सम्बन्ध सामाजिक संगठन की विविध इकाइयों – समूहों, संस्थाओं, समितियों आदि के प्रकार एवं इनके समुच्चय (संकुल/Complex) से है।[15]

श्री पार्सन्स के अनुसार, 'सामाजिक संरचना परस्पर सम्बन्धित संस्थाओं, समितियों तथा सामाजिक मानकों और साथ ही प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किए गए पदों तथा कार्यों की विशिष्ट व्यवस्था (Arrangement) को कहते हैं।'[16] इससे स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना सामाजिक अंगों या इकाइयों की एक विशिष्ट व्यवस्था है। ये इकाइयाँ बिखरे रूप में या अलग–अलग रहकर मूल्यहीन हो जाती हैं, किन्तु जैसे ही इनमें एक पारस्परिक सम्बन्ध बनता है और इसके आधार पर एक निश्चित व्यवस्था का निर्माण होता है, वैसे ही ये इकाइयाँ सम्मिलित रूप से सामाजिक संरचना कहलाती हैं। सामाजिक संरचना के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य या इकाई के कुछ निश्चित स्थान (पद) तथा कार्य (दायित्व) होते हैं, जिनका निर्वाह उसे समाज–प्रबन्धन हेतु करना होता है। वर्त्तमान परिवेश में यह सामाजिक–संरचना हमें विविध सामाजिक संगठनों, विधानसभाओं, संसद आदि के रूप में दिखाई देती हैं।

9.2.1 सामाजिक संरचना की विशेषताएँ

सामाजिक–प्रबन्धन के सन्दर्भ में सामाजिक–संरचना की निम्न विशेषताएँ हैं –

1) यह एक व्यवस्था है और जब इस व्यवस्था के अनुरूप प्रत्येक सदस्य अपना–अपना दायित्व उचित ढंग से निभाता है, तब वह अवस्था सामाजिक–संगठन या प्रबन्धन कहलाती है, किन्तु ऐसा न होने पर सामाजिक विघटन की स्थिति पैदा हो जाती है।[17]
2) सामाजिक संरचना परिवर्त्तनशील है, इसमें देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर सदस्यों की स्थिति (Status) और कार्य (Role) में परिवर्त्तन आता रहता है।[18]
3) सामाजिक संरचना जितनी सुचारु रूप से पद एवं दायित्व का वितरण करती है, सामाजिक संगठन उतना ही अधिक मजबूत बनता है।[19]
4) सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत स्थायी व्यवस्था है, क्योंकि इसमें विद्यमान परिवारादि इकाइयों तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धों में सामान्यतया स्थायित्व पाया जाता है।[20]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5) इसकी इकाइयों में कार्य–प्रणाली का एक विशिष्ट क्रम होता है। इस कार्य–प्रणाली के अभाव में केवल इकाइयों के झुण्ड मात्र से सामाजिक संरचना नहीं बन जाती, जैसे – ईंट, चूने एवं पत्थर के ढेर से ही मकान नहीं बन जाता।[21]

इससे स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना सामाजिक–प्रबन्धन का एक आवश्यक तत्त्व है। यदि व्यक्ति उचित सामाजिक संरचना का निर्माण करे और उचित भूमिका में कार्य करते हुए उचित ढंग से अपना दायित्व निर्वाह करे, तो वह जीवन को निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर कर सकता है और इस प्रकार सामाजिक संगठन का स्तर ऊँचा उठ सकता है। वस्तुतः, यही सामाजिक–प्रबन्धन का सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित रूप है।

सामाजिक संरचना की बात जब आती है, तब चिन्तन की विविध पद्धतियों का जन्म सहज ही हो जाता है और जहाँ चिन्तनशीलता होती है, वहाँ प्रबन्धन का सम्बन्ध भी सहज हो जाता है। किसी व्यक्ति के लिए सामाजिक संरचना में निम्नलिखित बिन्दु चिन्तन के विषय बन सकते हैं –

1) उद्देश्य का निर्धारण करना, जिसकी पूर्ति के लिए सामाजिक इकाइयों का परस्पर सम्बन्ध बनाना पड़ रहा हो।
2) सामाजिक संरचना के लिए उचित इकाइयों का ग्रहण करना और अनुचित इकाइयों का त्याग करना।
3) चयन की गई इकाइयों में से प्रत्येक की स्थिति एवं कार्यों का निर्धारण करना।
4) जो इकाइयाँ भली–भाँति कार्य नहीं कर रही हों, उन्हें कार्य के प्रति प्रेरित करना। यदि वे फिर भी कार्य न करें, तो उन्हें निष्कासित करना।

इस प्रकार, सामाजिक संरचना वास्तव में सामाजिक–प्रबन्धन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिन पर सामाजिक एवं वैयक्तिक सफलता की प्राप्ति निर्भर है।

9.2.2 समाज के विभिन्न रूप या प्रकार

सामान्यतया समाज दो अर्थों में प्रयुक्त होता है – व्यापक अर्थ (Macro Level) में और सीमित अर्थ (Micro Level) में। व्यापक अर्थ में समाज सम्पूर्ण मानव समाज है, जिसके अन्तर्गत सभी समुदायों, समितियों, संस्थाओं आदि का समावेश हो जाता है, किन्तु सीमित अर्थ में समाज किसी विशेष प्रयोजनों से संगठित हुए लोगों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का सूचक है, जैसे – परिवार, कार्यालय, विद्यालय आदि।[22]

जहाँ तक व्यापक समाज की बात है, वहाँ सामाजिक संरचना भी व्यापक होती है, किन्तु सीमित समाज के विषय में सामाजिक संरचना भी सीमित होती है। सीमित सामाजिक संरचना का अर्थ यह हुआ कि एक ही व्यक्ति विविध सामाजिक संरचनाओं की इकाई भी हो सकता है और अपने प्रत्येक उद्देश्य की पूर्ति के लिए विविध इकाइयों से सम्बन्ध स्थापित भी कर सकता है। उदाहरणार्थ,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम आजाद एक वैज्ञानिक, राजनयिक, समाज–सेवक एवं धार्मिक–समाज से सम्बद्ध व्यक्ति हैं।

चूँकि जीवन–प्रबन्धन का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से जुड़ा है, अतः सीमित सामाजिक संरचना के आधार पर ही हमें समाज को समझना होगा। इस दृष्टि से, एक व्यक्ति अनेक समूहों, समितियों, संस्थाओं आदि का सदस्य (इकाई) हो सकता है। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति का सम्बन्ध अनेक छोटे–छोटे समाजों से हो सकता है।

सामाजिक–प्रबन्धन की समग्रता तभी होगी, जब व्यक्ति अपने सम्बद्ध विविध समाजों में उचित सन्तुलन एवं तालमेल स्थापित करे, अन्यथा उसकी प्रगति सन्दिग्ध हो जाएगी, जैसे – एक व्यक्ति परिवार में पति है, तो कार्यालय में चपरासी। यदि वह जैसा व्यवहार पत्नी के साथ करता है, वैसा ही यदि अधिकारी के साथ करेगा, तो उसका कार्यालयीन समाज असन्तुलित हो जाएगा और परोक्ष रूप से कार्यालय का रोष एवं क्षोभ परिवार पर भी आने लगेगा।

किसी भी व्यक्ति का अनेकानेक समाजों के साथ सम्बन्ध हो सकता है, जैसे – पारिवारिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, औद्योगिक, प्रशासनिक इत्यादि। मेरी दृष्टि में, जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में इन समस्त समाजों का तीन मुख्य समाजों में अन्तर्भाव हो सकता है –

★ पारिवारिक संस्था (Family Institution)
★ धार्मिक संस्था (Religious Institution)
★ लौकिक संस्था (Worldly Institution)

(1) पारिवारिक संस्था – परिवार समाज की प्रारम्भिक या मूल इकाई है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री एण्डरसन के अनुसार – "परिवार का एक रूप वह है, जिसमें हम जन्म लेते हैं और दूसरा रूप वह है, जिसमें हम बच्चों को जन्म देते हैं।"[23] बर्जेस एवं लॉक के अनुसार – 'परिवार व्यक्तियों का समूह है, जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के सम्बन्धों द्वारा संघटित है, जो एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं, एक–दूसरे से पति और पत्नी, माता और पिता, पुत्र और पुत्री, भाई और बहन के रूप में अन्तःक्रियाएँ (Interaction) करते हैं और एक समान संस्कृति का सृजन तथा रख–रखाव करते हैं।'[24]

डॉ. मजूमदार के अनुसार – "परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो एक मकान में रहते हैं, रक्त द्वारा सम्बन्धित हैं तथा स्थान, स्वार्थ और पारस्परिक कर्त्तव्यबोध के आधार पर समान होने की चेतना या भावना रखते हैं।"[25] 'परिवार में रहने की कला' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में परिवार को सरलता से परिभाषित करते हुए कहा गया है कि माता–पिता, भाई–बहन, पति–पत्नी, सन्तान, दामाद, पुत्रवधु आदि नजदीक के पारिवारिक सदस्य हैं, तो दादा–दादी, नाना–नानी, मामा–मामी, भतीजा–भतीजी, भानजा–भानजी, चाचा–ताऊ आदि परिजन दूर के पारिवारिक सदस्य हैं।[26] यह कहा जा सकता है कि विवक्षा की भिन्नता होने के बावजूद भी सभी परिभाषाओं का मूल कथ्य प्रायः समान है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि परिवार का आकार सीमित है, फिर भी यह सर्वव्यापक (Universal) है, क्योंकि बिना परिवार के किसी भी मानव या मानव–समाज की कल्पना भी असम्भव है। परिवार इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व पर सबसे अधिक प्रभाव परिवार का ही पड़ता है। यही मूल्यों एवं आदर्शों का प्रसार करने वाली संस्था है। इसमें जीने वाले व्यक्ति भले ही संख्या में अल्प हों, किन्तु उनका उत्तरदायित्व असीम होता है, जो कभी–कभी तो मृत्युपर्यन्त बना रहता है।[27]

आगे, गहराई से इसके सम्यक् प्रबन्धन का विवेचन जैनदृष्टिकोण के आधार पर किया जाएगा।

(2) धार्मिक संस्था – धर्म समाज की दूसरी महत्त्वपूर्ण इकाई है। इसका अपना एक अतिव्यापक स्वरूप है, कहीं इसके ज्ञानात्मक पक्ष तो कहीं इसके भावात्मक या संकल्पात्मक (क्रियात्मक) पक्ष की चर्चा मिलती है। कहीं यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण का परिचायक होता है तो कहीं सामाजिक दृष्टिकोण का।[28]

सामाजिक सन्दर्भ में भी धर्म की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। इसने मानव की सामाजिक प्रवृत्ति को सुदृढ़ किया है। इस धार्मिक विश्वास के साथ कि सब आत्माएँ समान हैं **(एगे आया)**,[29] मानव ने आपस में प्रेम, सहयोग एवं सद्भाव से रहना शुरु किया। धर्म उपदेशकों ने मानव को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की शिक्षा दी और इस प्रकार समाज में भाईचारे की भावना ने जन्म लिया। स्पष्ट है कि धर्म ने मानव के समक्ष कुछ नैतिक और धार्मिक मूल्यों को स्थापित कर सम्पूर्ण मानव–समाज को भावनात्मक एकता के सूत्र में बाँधने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।[30]

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है – धारण करना। इस अर्थ में धर्म वह तत्त्व है, जो क्रोध, कलुषता, वैर, वैमनस्य में गिरते हुए प्राणी को रोकता है और शान्ति एवं आनन्द के सन्मार्ग पर ले जाता है। इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा में धर्म को 'रिलीजन' (Religion) कहते हैं, जो लेटिन शब्द रि–लिगेयर (Re–ligare) से बना है। 'रि' का अर्थ है – 'पुनः' और 'लिगेयर' का अर्थ है – 'बाँधना' सामाजिक सन्दर्भ में यह इस बात का द्योतक है कि एकता के सूत्र में बाँधे जाने वाले दो पक्ष मूल रूप में एक ही थे, किन्तु अस्थायी रूप से अलग हो गए, अतः उन्हें पुनः एकसूत्र में जोड़ना ही 'धर्म' है। इस प्रकार 'धर्म' शब्द स्वयं ही एकता और सामंजस्य का सूचक है।[31]

यद्यपि धर्म के नाम को लेकर हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि अलग–अलग रूप हैं, तथापि धर्म के मूल तत्त्व एक ही हैं। प्रत्येक धर्म में किसी न किसी परमशक्ति (Ultimate power) पर विश्वास किया गया है, सभी में दूसरों के प्रति धार्मिक सहिष्णुता को महत्त्व दिया गया है, प्रत्येक धर्म में मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरजाघर, अग्यारी आदि किसी न किसी उपासना स्थल को स्वीकारा गया है, विविध अनुष्ठान एवं कर्मकाण्ड भी सबकी विशेषताएँ हैं, सभी धर्मों में विश्व–भ्रातृत्व की भावना को जगाया गया है **(वसुधैव कुटुम्बकम्)** और सभी धर्मों का परम–लक्ष्य बुराइयों से मुक्ति और अच्छाइयों की प्राप्ति है।[32]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संक्षिप्त में, समाज पर धर्म के प्रभाव निम्न बिन्दुओं से परिलक्षित होते हैं –

1) धर्म सामाजिक सद्भावनाओं को प्रोत्साहन देता है।
2) धर्म सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण साधन है।
3) धर्म समाज–कल्याण (सेवा) की दिशा में प्रेरित करता है।
4) धर्म मानव–सन्तोष का शक्तिशाली माध्यम है।
5) धर्म कलात्मक अभिरुचियों का प्रेरणा स्रोत है।

प्रत्येक धार्मिक संस्था को उसके मूलभूत घटकों (अनुयायियों) के आधार पर पहचाना जाता है। वस्तुतः, वे सभी व्यक्ति, जो किसी धर्मविशेष (हिन्दु, बौद्ध, जैन आदि) की दार्शनिक मान्यताओं, आचार–नियमों, उपासना पद्धतियों के प्रति निष्ठावान् होते हैं, धार्मिक संस्था के घटक बन जाते हैं। उदाहरणार्थ, जैन–परम्परा में धर्म के दो मुख्य विभाग हैं – क) अनगार धर्म अर्थात् मुनि धर्म या श्रमण धर्म और ख) आगार धर्म अर्थात् गृहस्थ धर्म या श्रावक धर्म।[33] इन धर्मों का पालन करने वाले निष्ठावान् अनुयायियों को जैनधर्म में श्रमण, श्रमणी, श्रावक एवं श्राविका कहा जाता है।

वस्तुतः ये चारों पृथक्–पृथक् न होकर परस्पर सम्बन्धित होते हैं और उदारभावों से नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास में एक–दूसरे के सहयोगी बनते हैं। यद्यपि साधना के स्तर की अपेक्षा श्रमण–श्रमणी श्रेष्ठ हैं और श्रावक–श्राविकाओं को प्रतिबोध (हितोपदेश) देते हैं, तथापि श्रावक–श्राविका भी उन्हें साधनानुकूल सहयोग प्रदान करते हैं और इसीलिए ये उनके माता–पिता के तुल्य माने जाते हैं।[34] इस प्रकार ये चारों घटक – श्रमण, श्रमणी, श्रावक एवं श्राविका, जो चतुर्विध संघ कहलाते हैं,[35] जैनधर्म परम्परा के आधार–स्तम्भ हैं। इन्हें जीवन्त धर्मतीर्थ की उपमा भी दी गई है।

प्रत्येक धार्मिक संस्था, अपने–अपने अनुयायियों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों की नींव पर टिकी है, जिसमें समय–समय पर कई विकृतियाँ या विसंगतियाँ भी पैदा हो जाती हैं। इनका गहराई से विश्लेषण तथा इनके प्रबन्धन के सूत्रों का विवेचन जैनदृष्टि से आगे किया जाएगा।

(3) लौकिक संस्था – यह समाज की तीसरी, किन्तु अत्यन्त व्यापक इकाई है। प्रतिदिन के जीवन में व्यक्ति परिवार एवं धर्म के दायरे के अतिरिक्त भी अनेक व्यक्तियों, संस्थाओं, समितियों आदि से सम्बन्ध बनाता है। ये सभी सम्मिलित रूप से लौकिक समाज कहे जा सकते हैं।

इस लौकिक संस्था के अन्तर्गत अनेक संस्थाएँ होती हैं, जिनसे व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध निर्मित होता है, ये इस प्रकार हैं –

(क) आर्थिक संस्था – मनुष्य जीवन की अनेक आवश्यकताएँ हैं, जिनकी पूर्त्ति के लिए व्यक्ति को उत्पादन, विनिमय, वितरण एवं निवेश से सम्बन्धित अनेक आर्थिक कार्य करने होते हैं। इन आर्थिक कार्यों के समुचित संचालन के लिए व्यक्ति उद्योग, व्यापार, सेवा–कार्य, बैंक आदि संस्थाओं का निर्माण करता है।[36]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्त्तमान में इन संस्थाओं के संचालन के लिए मुख्यतया दो व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं – पूंजीवादी एवं समाजवादी। किन्तु दोनों की अपनी–अपनी कमियाँ भी हैं, पहली व्यवस्था में व्यक्ति प्रधान है, तो समाज गौण है और दूसरी में समाज प्रधान है, तो व्यक्ति की योग्यता को महत्त्व नहीं मिलता।

(ख) राजनीतिक एवं न्यायिक संस्थाएँ – प्रत्येक व्यक्ति का जीवन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सरकार, प्रशासन, पुलिस, न्यायालय आदि संस्थाओं से सम्बद्ध रहता है। वह इनके माध्यम से अपनी, अपने परिवार की एवं अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा आदि कार्य करवाता है अथवा स्वयं इन संस्थाओं में कार्यरत रहकर अन्य नागरिकों के जीवनोपयोगी कार्यों में उचित सहयोगी बनता है।

(ग) शैक्षणिक संस्था – प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षा एक अनिवार्य आवश्यकता बन चुकी है। आज व्यक्ति सिर्फ साक्षर बनकर ही सन्तुष्ट नहीं, अपितु उच्च–अध्ययन के लिए भी समर्पित है। इस हेतु वह स्कूल, कॉलेज, ट्रेनिंग सेन्टर, कोचिंग क्लास आदि अनेकानेक शैक्षणिक संस्थाओं से सम्बद्ध रहता है। वह केवल औपचारिक शिक्षा ही नहीं, अपितु मित्र, पड़ोसी आदि के साथ व्यवहार करते हुए अनौपचारिक शिक्षा की प्राप्ति भी करता है।[37]

(घ) सांस्कृतिक संस्था – मनुष्य अपने आसपास के वातावरण से सम्बद्ध होता है और सांस्कृतिक संस्था का निर्माण करता है। इस संस्था के द्वारा वह कला, प्रथा, परम्परा, रीति–रिवाज, रहन–सहन, खान–पान, मनोरंजन आदि अनेकानेक सांस्कृतिक पहलुओं का आदान–प्रदान करता है। इस संस्कृति से वह अत्यन्त प्रभावित रहता है। वर्त्तमान में सांस्कृतिक संस्थाओं की कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं –

- ★ वैश्वीकरण (Globalization)
- ★ निजीकरण (Privatization)
- ★ उदारीकरण (Liberalisation)
- ★ भौतिकवादी संस्कृति (Materialism)
- ★ उधारवादी संस्कृति (Loan Culture)
- ★ उपभोक्तावादी संस्कृति (Consumerism)
- ★ शहरीकरण (Urbanization)
- ★ महानगरीय संस्कृति (Metropolitan Culture)
- ★ निर्माण संस्कृति (Cement–Concrete Jungle Culture)

इस प्रकार, व्यक्ति अनेकानेक संस्थाओं से सम्बद्ध रहता हुआ अपना जीवन–यापन करता है। यद्यपि वह समाज के सहयोग से जीवन को विकासोन्मुखी बनाना चाहता है, तथापि वह कुछ ऐसी विसंगतियों से ग्रस्त हो जाता है, जिनसे उसका जीवन न स्वहित में उपयोगी बन पाता है और न ही समाजहित में। इन दोनों के चलते वह अपने पारमार्थिक–हित (आत्म–कल्याण) से भी वंचित रह जाता है।

आगे, इन विसंगतियों एवं उनके दुष्परिणामों की चर्चा की जा रही है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

9.3 सामाजिक अव्यवस्था के दुष्परिणाम

आधुनिक युग में सामाजिक विसंगति (Social Anomie) की अवधारणा का बहुत महत्त्व है। जब समाज के स्थापित मूल्यों एवं आदर्शों और नवीन परिवर्त्तित मूल्यों एवं आदर्शों के बीच तालमेल या संगति नहीं हो पाती, तब समाज की उस दशा को सामाजिक विसंगति या नियमहीनता की स्थिति कहा जाता है। श्री दुःर्खीम के अनुसार, 'व्यक्ति की समाज से अनेक आशाएँ एवं आवश्यकताएँ होती हैं, किन्तु जब ये पूरी नहीं होती, तो व्यक्ति में निराशा, असन्तोष एवं बदले की भावना पनप जाती है और वह समाज द्वारा स्थापित नियमों को अस्वीकार कर देता है तथा इस प्रकार से व्यवहार करता है कि उसका यह व्यवहार विसंगति या नियमहीनता का परिचायक बन जाता है।'[38]

जब समाज में विसंगति उत्पन्न होती है, तब इसका प्रभाव समाज की संगठनात्मक व्यवस्था पर भी पड़ता है। सामाजिक संगठन में दरारें आने लगती हैं और सामाजिक–विघटन का बीजारोपण होने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति और समूह अपने–अपने स्वार्थों की अधिकतम पूर्त्ति करने में लग जाता है, जिससे वह सामूहिक हितों की ओर जरा भी ध्यान नहीं दे पाता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और समूहों की एकमतता (Concensus) नष्ट हो जाती है और अधिकांश व्यक्ति सामाजिक विषयों एवं समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न ही नहीं करते।[39] इससे सामाजिक–विघटन की स्थिति और अधिक तेजी से बढ़ने लगती है।

समाज एक जटिल (Complex) व्यवस्था है। जब–जब भी इसमें सामाजिक विघटन की गति तीव्र होती है, तब–तब इसका दुष्परिणाम एकांगी नहीं, अपितु समग्र रूप से दिखाई देता है। जहाँ एक ओर व्यक्ति का व्यक्तित्व टूटने लगता है और परिवार में तनाव एवं मनमुटाव की स्थिति निर्मित होती है, वहीं दूसरी ओर समुदाय में हिंसा, आगजनी, तोड़–फोड़, बेकारी, कालाबाजारी, भ्रष्टाचारादि पनपने लगते हैं। फलतः सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था चरमराने लगती है।

आज व्यक्ति भले ही भौतिक उन्नति के कीर्त्तिमान् स्थापित कर रहा है, लेकिन नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यहीनता भी अपने चरम–उत्कर्ष पर है और इसके परिणाम भी सामने दिखाई दे रहे हैं। आज की सामाजिक अव्यवस्था के कुछ मुख्य दुष्परिणाम इस प्रकार हैं –

(1) संयुक्त परिवार का विघटन – संयुक्त परिवार प्रणाली भारत की आदर्श व्यवस्था रही है, जो प्रायः विश्व में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु, आज यह प्रणाली तेजी से टूट रही है और एकल परिवार प्रणाली (Nuclear Family System) स्थापित हो रही है।[40] इसके अनेक कारण हैं, जैसे – शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, पाश्चात्य–संस्कृति का प्रभाव, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, पारिवारिक–कलह इत्यादि।[41]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) पारिवारिक तनाव की वृद्धि – परिवार में सदस्यों के बीच सद्भावना के स्थान पर अशान्ति तथा कलह का वातावरण बढ़ रहा है। इससे पति–पत्नी, भाई–भाई, पिता–पुत्र, सास–बहू, ननद–भाभी आदि के बीच दूरियाँ बढ़ रही हैं। इसके अनेक कारण हैं, जैसे – सदस्यों के जीवन–लक्ष्यों में अन्तर, सदस्यविशेष में अतिमहत्त्वाकांक्षा (High Ambitions) का होना, व्यक्तिगत व्यवहार में भेद, मनोवृत्तियों में विकृतियाँ (अहंकार आदि), यौन सम्बन्धों में मतभेद, शैक्षणिक योग्यता में फर्क, सांस्कृतिक अन्तर, सामाजिक–सम्बन्धों में अन्तर इत्यादि। इनमें एक महत्त्वपूर्ण कारक परस्पर गलतफहमी का होना भी है।[42]

(3) तलाक – आज तलाक की दर भी तेजी से बढ़ रही है, इससे न केवल पति और पत्नी, अपितु बच्चों की समस्या भी गम्भीर होती जा रही है। ऐसे बच्चे प्रायः अपराधी, चोर, जुआरी, शराबी, नशेड़ी आदि बन जाते हैं। इसके प्रमुख कारण हैं – ससुराल में बहू को प्रताड़ित किया जाना, माता–पिता, सास–ससुर का अनावश्यक हस्तक्षेप होना, पति या पत्नी का दुराचारी होना इत्यादि। यह आश्चर्यजनक है कि एक शोध के अनुसार, अमेरिका जैसे विकसित देश में प्रत्येक सात विवाह में से तीन विवाह का अन्त विवाह–विच्छेद के रूप में होता है।[43]

(4) शहरीकरण – आज ग्रामीण शहरों की ओर और शहरी महानगरों की ओर दौड़ रहे हैं, जिससे कई सामाजिक समस्याएँ खड़ी हो रही हैं, जैसे – बड़े नगरों में जनसंख्या का दबाव बढ़ना, प्राकृतिक संसाधनों की सम्यक् आपूर्त्ति न हो पाना, परिजनों से दूरी बढ़ना, भौतिकवादी संस्कृति से नैतिक मूल्यों का पतन होना इत्यादि।

(5) आर्थिक असन्तोष – आज छोटे–बड़े अनेक उद्योग, व्यापार, कार्पोरेट संगठन आदि खुल रहे हैं, व्यक्ति की समृद्धि एवं सम्पन्नता भी बढ़ रही है, स्त्री–पुरूष दोनों ही कन्धे–से–कन्धा मिलाकर अर्थोपार्जन में जुटे हुए हैं, उदारीकरण और वैश्वीकरण से पूरा विश्व ही एक व्यापारिक केन्द्र या ग्राम (Global Village) बन गया है। फिर भी, व्यक्ति को सन्तोष नहीं है और इसीलिए कालाबाजारी, मिलावट, गबन, घोटाले, रिश्वतखोरी एवं अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा बढ़ती ही जा रही हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में हर व्यक्ति स्वयं शासक और अन्यों को गुलाम बनाने की चेष्टा करता है। इससे आर्थिक विषमता भी तेजी से बढ़ रही है और शोषक के विरुद्ध शोषितों के बगावत के स्वर गूँज रहे हैं।

इसी प्रकार, समाजवादी व्यवस्था भी असन्तोष का कारण बन रही है, क्योंकि उसमें न तो व्यक्ति की योग्यता का उचित पुरस्कार उसे मिल रहा है और न ही भावी विकास की सम्भावनाएँ उसे दिखाई दे रही हैं। आज जितनी भी आर्थिक संस्थाओं/समितियों की गोष्ठियाँ होती हैं, उनमें भी प्रायः स्वार्थपरक चर्चाएँ ही होती हैं, न कि समाजहित की। अपने आर्थिक लाभ के लिए इनमें सब नियमों, मूल्यों एवं मर्यादाओं का उल्लंघन करके निर्णय किए जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(6) राजनीतिक भ्रष्टता – आज राजनीतिक–दल सिर्फ अपने वोट–बैंक तैयार करने में लगे हैं, इन्हें जनकल्याण से कोई सरोकार नहीं है। हर राजनेता कुर्सी चाहता है, कर्त्तव्य नहीं। उसकी चाहत केवल अपनी तिजोरी भरने की होती है, उसके आश्वासन झूठ और फरेब पर आधारित होते हैं। प्रायः यही दशा प्रशासन–व्यवस्था, न्याय–व्यवस्था, पुलिस–व्यवस्था, कस्टम–व्यवस्था एवं अन्य सभी सरकारी तन्त्रों में दिखाई देती है, जहाँ समाजहित की अवमानना कर व्यक्ति सिर्फ स्वहित के लिए कार्य करता है। यहाँ भ्रष्टाचार की जड़ें गहराती जा रही हैं और इससे कामचोरी, रिश्वतखोरी, दगाबाजी आदि प्रवृत्तियाँ सहज ही घर कर रही हैं। जैन साहित्य में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं, जिनमें प्रतिवासुदेव (त्रिखण्डाधिपति) ने जब अपनी राजनीतिक शक्तियों का दुरुपयोग करना प्रारम्भ किया तो वासुदेव एवं बलदेव ने समाजहित के लिए उसे परास्त कर सुसाम्राज्य की स्थापना की। इस सम्बन्ध में राम–लक्ष्मण तथा कृष्ण–बलराम के उदाहरण जैनकथासाहित्य में भी उपलब्ध हैं।

(7) जातिवाद – भारतीय संस्कृति में जाति व्यवस्था की प्रणाली अत्यन्त प्राचीन है। इसका मूल लक्ष्य समाज में कार्यों का सम्यक् विभाजन करना है, किन्तु आज इसे ही श्रेष्ठता अथवा निम्नता का मापदण्ड मान लिया गया है और परिणामस्वरूप समाज में ऊँच–नीच का भेदभाव बढ़ गया है। यह जातिवाद वस्तुतः समाज की एकता को खण्डित करके विभिन्न समूहों में सामाजिक दूरियों को बढ़ाने वाली परम्परा बन गई है। इससे प्रत्येक जाति केवल अपने ही जातिवालों के स्वार्थ की पूर्ति में तत्पर रहती है और अन्य जाति वालों से वैर, वैमनस्य एवं विद्वेष रखती है।[44] वस्तुतः यह जातिवाद की समस्या उत्पन्न ही नहीं होती, यदि मनुष्य ने भगवान् महावीर की शिक्षाओं को समुचित आदर दिया होता। उनका कहना है – 'जन्म से तो सभी मनुष्य समान ही हैं, उनकी एक ही जाति है।[45] कर्म के आधार पर ही उनके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र – ये चार विभाग हैं।'[46]

(8) मनोरंजन (Recreation) – मनोरंजन के विभिन्न साधन भी सामाजिक विघटन उत्पन्न कर रहे हैं। आजकल इन साधनों का भी व्यापारीकरण होता जा रहा है। व्यापारी वर्ग सिर्फ आर्थिक लाभ उठाने के लिए जनकल्याण पर आघात कर रहे हैं। सिनेमा और दूरदर्शन के माध्यम से दिखलाए जाने वाले कामोद्दीपक दृश्य, हत्या एवं यौन अपराधों को बढ़ावा दे रहे हैं। व्यक्ति इनके माध्यम से प्राचीन एवं पवित्र मूल्यों को खोता जा रहा है।[47]

(9) धार्मिक उन्माद – धर्म वस्तुतः सामाजिक संगठन एवं एकता का माध्यम है, फिर भी मनुष्य की संकीर्ण विचारधारा ने धर्म के नाम पर अनेक धार्मिक विकृतियों को जन्म दे दिया है। आज धर्म के नाम पर हिंसा और युद्ध तक हो रहे हैं। विभिन्न अन्धविश्वास एवं अन्धरूढ़ियाँ भी व्यक्ति के व्यवहार को अविवेकपूर्ण बना रही है।[48] धार्मिक संस्थाओं में धर्म एवं संप्रदाय, गच्छ एवं पन्थ, गुरु एवं भगवान् को लेकर परस्पर विद्वेष एवं विसंवाद भी इसी का परिणाम है। वस्तुतः, व्यक्ति ने भ्रमवश कट्टरवाद को अपनाकर अनेक धार्मिक विकृतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। कलिकाल की इस स्थिति का स्पष्ट चित्रण करते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुए आध्यात्मिक सत्पुरूष श्रीमद्देवचन्द्र जी ने कहा भी है[49] –

गच्छ कदाग्रह साचवे रे, माने धर्म प्रसिद्ध।
आतमगुण अकषायता रे, धर्म न जाणे शुद्ध रे।।

जहाँ एक ओर धर्म के नाम पर अन्ध समर्पण होने से सामाजिक विघटन हो रहा है, वहीं दूसरी ओर धर्मनिरपेक्षता की दुहाई देकर लोगों को धर्मविमुख करने का प्रयास भी खूब बढ़–चढ़कर हो रहा है। आज शासन या प्रशासन के पास ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि प्रत्येक नागरिक को नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों के लिए प्रेरित किया जा सके। इसी वजह से आज हमारा समाज मूल्य एवं आदर्शों से शून्य होता जा रहा है। साथ ही व्यक्ति में राष्ट्रीयता, सामुदायिकता एवं पारिवारिकता की भावना समाप्त होती जा रही है और केवल व्यक्तिवादी मनोवृत्ति दृढ़ होती जा रही है।

(10) मद्यपान एवं मादक द्रव्यों का व्यसन (Alcohol & Drug Addiction) – यह भी एक घातक सामाजिक समस्या है। यद्यपि यह महज वैयक्तिक समस्या ही है, तथापि इसके कारण परिवार और समाज दोनों का नुकसान होने से इसे सामाजिक समस्या कहना ही उचित है। आज पुरूषों के साथ–साथ स्त्रियों में भी मद्यपान की आदत बढ़ रही है। इसी प्रकार निम्नकुलों के साथ–साथ उच्चकुलों के लोगों में भी मद्यपान एक फैशन बनता जा रहा है। विशेष त्यौहारों एवं उत्सवों में शराब खूब परोसी जाती है।

महाकवि कालिदास ने जब एक मदिरा बेचने वाले से पूछा – 'तुम्हारे पात्र में क्या है?' तब उसने दार्शनिक अन्दाज में कहा – 'कविवर! मेरे पात्र में आठ दुर्गुण हैं – 1) मस्ती, 2) पागलपन, 3) कलह, 4) बुद्धि का नाश, 5) सच्चाई और योग्यता से नफरत, 6) खुशी का नाश, 7) नरक का मार्ग एवं 8) धृष्टता।'[50] कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने भी कहा है – आग की नन्ही–सी चिनगारी भी विराट् घास के ढेर को नष्ट कर देती है, वैसे ही मद्यपान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, क्षमा आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।[51]

(11) निर्धनता – यह भी सामाजिक विघटन का एक महत्त्वपूर्ण रूप है। निर्धनता के कारण न केवल परिवार की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं हो पाती, अपितु बाल–अपराध, आत्महत्या, विवाह–विच्छेद, चोरी–डकैती आदि प्रवृत्तियों को बढ़ावा भी मिलता है।[52] गरीबी से पीड़ित व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ भी कमजोर हो जाती है। वह असमय ही रोगों से ग्रस्त भी हो जाता है।

(12) बाल–अपराध – इन दिनों बाल–अपराध तेजी से बढ़ रहे हैं। धन पाने के लिए ये बाल अपराधी चोरी, जेबकतरी आदि असामाजिक कार्य करने के लिए तैयार हो जाते हैं। सन् 1982 में देश में लगभग पचास हजार से अधिक बाल–अपराध के केस थे, जो अदालत के समक्ष विचारार्थ पेश किए गए थे। यह समझा जा सकता है कि आज यह संख्या कई गुना अधिक हो चुकी होगी।[53]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार, वर्त्तमान युग में मनुष्य ने भले ही विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं आर्थिक क्षेत्र में बड़ी सफलताएँ क्यों न प्राप्त कर ली हों, किन्तु पारिवारिक, सामुदायिक एवं सामाजिक जीवन में उसके सामने अनेक गम्भीर चुनौतियाँ खड़ी हैं। यदि इन चुनौतियों या अव्यवस्थाओं का सम्यक् प्रबन्धन नहीं खोजा गया, तो निश्चित ही वैज्ञानिक एवं भौतिक सफलताएँ मानव जीवन को प्रगतिशील बनाने के बजाय विघटन और विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर देगी।

आगे, जैनआचारमीमांसा के आधार पर इन समस्याओं के समाधान सम्बन्धी प्रबन्धन–सूत्रों की चर्चा की जा रही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

9.4 जैनआचारमीमांसा के आधार पर समाज–प्रबन्धन

9.4.1 समाज–प्रबन्धन : एक परिचय

जैनधर्मदर्शन की यह मान्यता है कि जगत् के भौतिक एवं अभौतिक समस्त पदार्थ निरन्तर परिवर्त्तनशील हैं[54] और समाज भी इससे अछूता नहीं है। एक संघीय धर्म होने के नाते जैनाचार्यों ने इस सामाजिक परिवर्त्तन को समाज–प्रबन्धन के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता बताया है। उनके अनुसार, यह जरुरी नहीं है कि सामाजिक परिवर्त्तन हमेशा विघटनकारी एवं नुकसानदायी ही होते हों, ये संघटनकारी एवं लाभदायी भी हो सकते हैं। वस्तुतः, **विघटन से संगठन की दिशा में आगे बढ़ने की इस सकारात्मक प्रक्रिया का नाम ही समाज–प्रबन्धन है।** दूसरे शब्दों में, समाज–प्रबन्धन समाज में उचित मूल्यों, आदर्शों, नियमों एवं व्यवहारों की स्थापना करने की प्रक्रिया है। और भी स्पष्ट कहें तो, वह प्रक्रिया जो समाज में व्याप्त बुराइयों, कुरीतियों एवं अन्धरूढ़ियों का उन्मूलन कर एकता, शान्ति एवं सामंजस्य का सम्यक् विकास करती है, समाज–प्रबन्धन कहलाती है।

जैनदर्शन के अनुसार, व्यक्ति और समाज परस्पर एक–दूसरे से अभिन्न हैं, अतः समाज–प्रबन्धन के क्षेत्र में यह प्रश्न अहमियत रखता है कि समाज–प्रबन्धन या सामाजिक सुधार की प्रक्रिया कहाँ से प्रारम्भ हो, व्यक्ति से अथवा समाज से? इस सम्बन्ध में हमें दो प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं। एक यह मानती है कि व्यक्ति के सुधार से ही समाज सुधरेगा, क्योंकि व्यक्ति समाज की महत्त्वपूर्ण एवं प्राथमिक इकाई है और दूसरी मान्यता यह है कि समाज सुधार के माध्यम से व्यक्ति का सुधार होगा, क्योंकि समाज के नीति–नियमों पर ही व्यक्ति आश्रित रहता है।

यह सत्य है कि समाज एक अमूर्त्त व्यवस्था है, जिसकी अभिव्यक्ति व्यक्तियों के समूहों से होती है, अतः जैनदर्शन यह मानता है कि व्यक्ति सहित समाज के सभी घटकों (संस्था, समिति आदि) के प्रबन्धन से ही समाज–प्रबन्धन सम्भव है। इस मान्यता का एक कारण यह भी है कि समाज–प्रबन्धन के सूत्र जिन पर लागू होते हैं, वे तो व्यक्ति अथवा व्यक्ति–समूह ही हैं। विशेषता यह है कि जैनधर्म मूलतः निवृत्ति–प्रधान होने के बावजूद भी एक संघीय धर्म है और इसमें व्यक्ति की अपेक्षा संघ को अधिक महत्त्व दिया गया है, अतः यह मानना होगा कि जैनआचारमीमांसा के अनुसार, संघ (साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका वर्ग) सम्बन्धी व्यवहारों का प्रबन्धन ही समाज–प्रबन्धन है।

समाज–प्रबन्धन के लिए मूल्य और आदर्श का निर्धारण करना भी अनिवार्य है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि किस प्रकार से इन मूल्यों की प्राप्ति सम्भव हो सकती है? जैनदर्शन में इस हेतु हमें **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'**[55] सूत्र बताया गया है, जिसका तात्पर्य है कि प्रत्येक प्राणी का जीवन अन्य प्राणियों के सहयोग पर आधारित है। इससे स्पष्ट है कि The law of life is the law of cooperation अर्थात् पारस्परिक सहयोग के माध्यम से ही जीवन यात्रा प्रवाहित होती है। साथ ही, एक मूल्यवादी आध्यात्मिक धर्म होने के कारण जैनदृष्टि यह भी मानती है कि समाज के प्रबन्धन का आधार न केवल भौतिक मूल्य, अपितु नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य भी होने चाहिए। इस प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनदृष्टि में, व्यक्ति और समाज दोनों को आगे बढ़ने के लिए पारस्परिक सहयोग के साथ–साथ आदर्शों (मूल्यों) का सम्यक् निर्धारण भी करना होगा। वस्तुतः, सम्यक् समाज–प्रबन्धन अर्थात् सामाजिक प्रगति किसी एक निश्चित दिशा में निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होनी चाहिए, यह जैन मान्यता का वैशिष्ट्य है।

पाश्चात्य समाज–दर्शन में सामाजिक प्रगति के तीन तत्त्वों को प्रमुख माना गया है[56] – 1) प्रकृति पर विजय (Conquest of Nature), 2) सामाजिक नियन्त्रण (Social Control) एवं 3) आत्मनियन्त्रण (Self Control)।

जैनधर्मदर्शन के अनुसार, सामाजिक प्रगति का अर्थ प्रकृति पर विजय नहीं, अपितु प्रकृति के सहयोग से प्रगति करना है। इसी प्रकार, सामाजिक नियन्त्रण को संघीय नियन्त्रण के रूप में स्वीकार अवश्य किया गया है, किन्तु यह माना गया है कि संघीय नियन्त्रण केवल बाह्य होता है, इसका मूल आधार तो आत्मसंयम एवं आत्मनियन्त्रण है। इसीलिए वह यह मानता है कि आत्मसंयम एवं आत्मनियन्त्रण के आधार पर ही सामाजिक प्रगति सम्भव है।

9.4.2 समाज–प्रबन्धन का मूल उद्देश्य

समाज व्यक्ति के विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है, परन्तु यदि इस साधन का सम्यक् उपयोग नहीं किया जाए, तो यही साधन व्यक्ति के लिए बहुत बड़ी बाधा भी बन सकता है। इससे यह निश्चित होता है कि व्यक्ति को सम्यक् विचारपूर्वक अपने सभी सामाजिक व्यवहार करने चाहिए, क्योंकि समाज व्यक्तियों से बना है और व्यक्तियों का व्यक्तित्व बहुत ज्यादा उतार–चढ़ाव से भरा होता है, इसे समझ पाना इतना आसान नहीं है। असजगतापूर्वक किया गया सामाजिक व्यवहार जीवन–प्रबन्धन के प्रयत्नों को विफल भी कर सकता है। अतएव व्यक्ति को सामाजिक सम्बन्धों की संवेदनशीलता को स्वीकार करके समाज–प्रबन्धन का सम्यक् उद्देश्य निर्धारित करना चाहिए।

मेरी दृष्टि में, व्यक्ति को चाहे परिवार में जीना पड़े या धार्मिक और लौकिक परिवेश में, उसे हर समय अपने जीवन व्यवहार को संयमित करते हुए तीन उद्देश्यों की पूर्ति में सहयोगी बनना चाहिए –

1) समाज में शान्ति
2) समाज में सुसंस्कारों का संरक्षण
3) समाज की प्रगति

इन तीनों में भी सबसे प्रथम आवश्यकता **शान्ति** की है, क्योंकि यदि शान्ति नहीं है, तो न तो संस्कारों का संरक्षण हो सकता है और न ही सामाजिक प्रगति। द्वितीय स्थान **संस्कारों** का है, क्योंकि यदि व्यक्ति एवं समाज के व्यवहार में सु–संस्कार नहीं होंगे, तो न तो शान्ति टिक सकेगी और न ही प्रगति हो सकेगी। अन्तिम आवश्यकता है **प्रगति** की, क्योंकि मनुष्य एक प्रगतिशील प्राणी है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसने सामाजिक–तन्त्र की स्थापना सिर्फ इसीलिए की है कि वह विकास एवं सुधार की दिशा में आगे बढ़ सके। यदि वह उचित प्रगति नहीं कर पाता है, तो समाज की स्थापना ही उद्देश्यविहीन हो जाएगी और मनुष्य की स्थिति पशुवत् हो जाएगी।

इन उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए समाज–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्षों को समझना आवश्यक है।

9.4.3 जैनआचारमीमांसा के आधार पर समाज–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक–पक्ष

समाज–प्रबन्धन का मूल आशय है – व्यक्ति के सामाजिक व्यवहारों को परिष्कृत करना। परन्तु जैनाचार्यों के अनुसार, केवल बाह्य नियन्त्रण अर्थात् दण्डादि के भय से यह परिष्कार नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार, जब विवेकयुक्त ज्ञानदशा प्रकट होती है, तभी व्यक्ति का सही सामाजिक लक्ष्य निर्धारित होता है और इसके बल पर ही उसके सामाजिक मूल्यों एवं व्यवहारों में सुधार हो पाता है। किसी जैन मुनि ने कहा है[57] –

ज्ञान रहित किरिया करी, कास–कुसुम उपमान।
लोकालोक–प्रकाशकर, ज्ञान एक परधान।।

ज्ञान रहित किया गया आचरण आकाश–कुसुम के समान होता है, जिसका कोई सार्थक मूल्य नहीं होता। यह ज्ञान ही है, जो सकल ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने में समर्थ है।

आइए, समाज–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्षों को जानें।

(1) सामाजिक चेतना का सम्यक् विकास होना – जब तक व्यक्ति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण रखता है, तब तक समाज–प्रबन्धन केवल एक कल्पना है। समाज–प्रबन्धन की पहली शर्त है कि व्यक्ति उचित सामाजिक चेतना का विकास करे। यह चेतना उसके जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकृत हो और इसी आधार पर वह सामाजिक व्यवहार करे।

जैन–परम्परा में सदैव ही व्यक्ति से अधिक संघ को महत्त्वपूर्ण माना गया है। जैनाचार्यों ने संघ को अनेक उपमाओं से विभूषित कर उसकी स्तुति की है। कभी संघ को नगर के समान बताया है, जो गुणरूपी भवनों, ज्ञानरूपी रत्नों, सद्दृष्टि रूपी गलियों और संयमरूपी परकोटे से सुरक्षित है, तो कभी संघ को समुद्र से उपमित किया है, जो धैर्यरूपी गुणों से वृद्धिगत, स्वाध्याय एवं शुभकार्य रूपी महाशक्तिशाली कर्मविदारक मगरमच्छों से युक्त तथा समस्त कठिनाइयों में भी निश्चल और निष्कम्प है। इसी प्रकार संघ को कभी तेजस्वी सूर्य की, कभी सौम्यचंद्र की, कभी चक्रवर्ती के चक्ररत्न की, तो कभी मधुर घोषमय रथ की उपमाओं से भी अलंकृत किया है। जैनाचार्यों ने सदैव ही संघ के उत्थान और कल्याण की मंगल भावना की है।[58]

वस्तुतः जैनाचार्यों की दृष्टि में संघ या समाज के प्रति सभी का पूर्ण बहुमान एवं समर्पण होना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए **(संघोवरि बहुमाणो)**,[59] क्योंकि संघ ही भयभीत व्यक्तियों के लिए आश्वासन रूप है, निश्छल व्यवहार के कारण विश्वासभूत है, सर्वत्र समता के कारण शीतलता प्रदायक है, समदर्शी होने के कारण माता–पिता तुल्य है तथा सभी प्राणियों के लिए शरणस्थल है।[60]

जैनाचार्यों की प्रेरणा को आधार बनाकर जीवन–प्रबन्धक को अपनी संकीर्ण मानसिकता का परित्याग कर अपने पारिवारिक, धार्मिक एवं लौकिक समाज के प्रति कुटुम्बवत् व्यवहार करना चाहिए। इसी का नाम सामाजिक चेतना का विकास है। कहा भी गया है[61] –

शिवमस्तु सर्व जगतः परहित–निरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवन्तु लोकाः।।

अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का कल्याण हो, सभी प्राणी लोकहित में तत्पर हों, सामाजिक बुराइयाँ नाश को प्राप्त हों और सर्वत्र सुख–शान्ति का वातावरण हो।

(2) मनोवृत्ति की निर्मलता एवं सामाजिक–प्रबन्धन – सामाजिक–प्रबन्धन में विषमता उत्पन्न करने वाले चार मूलभूत कारण हैं – 1) संग्रह (लोभ), 2) आवेश (क्रोध), 3) गर्व (मान) एवं 4) कपट (माया)। इन्हें जैनाचार्यों ने कषाय अर्थात् कलुषित मनोभावों की संज्ञा दी है।

डॉ. सागरमलजैन के अनुसार, ये चारों अलग–अलग रूप में प्रकट होकर सामाजिक जीवन में अशान्ति एवं संघर्ष पैदा करते हैं। एक ओर संग्रह की मनोवृत्ति से शोषण, अप्रामाणिकता, क्रूरता, विश्वासघात, स्वार्थपरकता आदि विकसित होते हैं, तो दूसरी ओर आवेश की मनोवृत्ति से संघर्ष, युद्ध, आक्रमण, हत्या आदि पनपते हैं। इसी प्रकार गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा, ईर्ष्या, क्रूरता आदि होते हैं, तो कपट की मनोवृत्ति के कारण पारस्परिक अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहारों का विकास होता है। इस प्रकार ये कषाय सामाजिक जीवन को दूषित कर देती हैं।[62]

जैनदर्शन में इसीलिए इन कषायों के निरोध को नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना का आधार बनाया गया है। अतः यह मानना होगा कि जीवन–प्रबन्धक जैनदर्शन के साधना–मार्ग को अपनाकर न केवल कषायों को उपशान्त करने में सफल हो सकता है, अपितु अपने सामाजिक जीवन को भी सुव्यवस्थित बना सकता है।

(3) सम्यग्दर्शन एवं सामाजिक–प्रबन्धन – जैनदर्शन के अनुसार, धर्म का मूल सम्यग्दर्शन अर्थात् सही दृष्टिकोण का विकास है।[63] यह साधना का प्रथम सोपान है।[64] जो इसे प्राप्त कर लेता है, वह आध्यात्मिक जीवन के साथ–साथ सामाजिक जीवन जीने की कला भी सीख लेता है। उसे अनावश्यक व्यवहारों की तुच्छता एवं आवश्यक व्यवहारों की उपयोगिता का विवेक हो जाता है। वह जगत् में निर्लिप्तभावों से जीने की साधना करता रहता है।[65] इससे वह न केवल वैयक्तिक–जीवन, अपितु पारिवारिक, धार्मिक एवं लौकिक जीवन को भी शान्तिपूर्ण ढंग से बिताता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि जीव अपने अधिकारों की भूख को उपशान्त रखता हुआ कर्त्तव्यों का उचित निर्वाह करता है। वह भले ही कुटुम्ब में क्यों न रहे, उसकी स्थिति धाय माँ (नर्स) के समान ममत्व–रहित कर्त्तव्यभाव की होती है। कहा भी गया है[66] –

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तरसुं न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल।।

जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह संसार में संयोगजन्य परिस्थितियों में अनुकूल–प्रतिकूल, सुख–दुःख एवं अच्छे–बुरे का भेद न करते हुए निरपेक्ष (तटस्थ) भाव से जीने का अभ्यास करे। उसे ममत्व–बुद्धि (Sense of Attachment) के बजाय कर्त्तव्य–बुद्धि (Sense of duty) से जीना चाहिए।

इस प्रकार, जैन साधना पद्धति सम्यक् दृष्टिकोण के विकास के द्वारा न केवल जीवन और जगत् के यथार्थ स्वरूप का बोध कराती है, अपितु अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति में अविचलित भाव अर्थात् समभाव से जीना भी सिखाती है।

(4) सद्भावनाएँ एवं सामाजिक–प्रबन्धन – समाज में दूसरे लोगों के साथ हमारा सम्बन्ध किस प्रकार का हो, यह विवेक भी हमें जैनाचार्यों द्वारा उपदिष्ट विविध 'भावनाओं' से प्राप्त होता है। ये भावनाएँ हमारे निषेधात्मक भावों का समापन करके विधेयात्मक भावों का विकास करती हैं। जैनाचार्य अमितगति ने इन भावनाओं को निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है[67] –

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ भावो विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु दैवम्।।

अर्थात् हे देव ! मेरी आत्मा सदैव ही प्राणीमात्र के प्रति मैत्री, गुणीजनों के प्रति प्रमोद (आनन्द), दीन–दुःखियों के प्रति करुणा तथा विपरीत प्रवृत्ति वालों के प्रति मध्यस्थता के भावों को धारण करे।

ये भावनाएँ पारिवारिक, धार्मिक एवं लौकिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को सुमधुर बनाने तथा सामाजिक टकराव के कारणों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी हैं।

(क) मैत्री – यह भावना दूसरों के हित के चिन्तन से जुड़ी हुई भावना है। परिवार और समाज में अपने वैयक्तिक हित के लिए तो सभी प्रयत्नरत रहते हैं, किन्तु मैत्री वह पवित्र भावना है, जिसमें व्यक्ति अपने स्वार्थ को गौण करके दूसरे के हित की चिन्ता करता है। इससे सामाजिक संगठन सुदृढ़ होता है, जिसे कोई तोड़ नहीं सकता।

(ख) प्रमोद – यह भावना दूसरों की प्रगति में आनन्दित होने से सम्बन्धित है। यदि समाज में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के गुणों को स्वीकार कर ले, तो निन्दा, चुगली, ईर्ष्या, मात्सर्य, दोषारोपण आदि के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा और संगठन मजबूत बनेगा। वस्तुतः, प्रमोदभावना से गुणियों के प्रति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहुमान भाव जगता है, उनका अनुकरण करने की प्रेरणा मिलती है एवं अल्पगुणी व्यक्ति भी उत्थान और प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। कहा भी गया है[68] –

जिन उत्तम गुण गावतां, गुण आवे निज अंग

(ग) करुणा – यह वस्तुतः हृदय में व्याप्त क्रूरता के विसर्जन से जुड़ी हुई भावना है। जिस संगठन में व्यक्तियों में एक–दूसरे के दुःखों के प्रति संवेदनशीलता नहीं होती, उस संगठन में परस्पर सहयोग एवं समन्वय की भावना भी सूख जाती है, अतः करुणा भावना का विकास आवश्यक है। यह परस्पर प्रेम और विश्वास की जन्मदात्री है तथा संगठन को मजबूती प्रदान करने वाली भावना है।

(घ) मध्यस्थ – यह विपरीत व्यवहार वालों के प्रति तटस्थ होने की भावना है। यह सम्भव नहीं है कि संगठन में सभी समान मनोवृत्ति वाले ही हों, कई लोग विघ्न–सन्तोषी, कुतर्कवादी, कदाग्रही एवं असभ्य व्यवहार करने वाले भी होते हैं। समाज में इनके साथ भी जीना तो पड़ता ही है। यदि व्यक्ति रोष एवं आक्रोश के साथ इनका प्रतिकार करे, तो परिणाम प्रायः दुःखद होता है, अतः प्रतिकूल संयोगों में तटस्थ (Neutral) या अपेक्षारहित रहना ही सही व्यवहार है। इससे संगठन विघटित होने से बच जाता है।

(5) अनेकान्त एवं सामाजिक–प्रबन्धन[69] – जैनदर्शन का अनेकान्त सिद्धान्त सामाजिक क्षेत्र में वैचारिक सहिष्णुता के रूप में सामने आता है। यह समाज में अनाग्रहपूर्वक जीने की कला सिखाता है और इस भ्रान्ति का निराकरण करता है कि सत्य मेरे ही पास है, दूसरे के पास नहीं। वस्तुतः, यह सिद्धान्त कहता है कि सत्य जहाँ कहीं भी हो, उसका सम्मान करना चाहिए।

अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा जीवन–प्रबन्धक व्यापक दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति, घटना एवं परिस्थिति का मूल्यांकन करता है और पक्षाग्रह के बन्धन से मुक्त हो जाता है। वह स्वीकार लेता है कि जहाँ स्वमत की प्रशंसा और परमत की निन्दा है, वहाँ विग्रह, विषाद और वैमनस्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वस्तुतः, वैचारिक आग्रह ही मतवाद या पक्षपात को जन्म देता है और उससे राग–द्वेष की वृद्धि होती है। अतः जैनदृष्टि के अनुसार, सत्य की स्वीकृति 'ही' के बजाय 'भी' से करनी चाहिए। आशय यह है कि सत्य को एकान्त से नहीं, अपितु अनेकान्त से ग्रहण करना चाहिए। इसी के आधार पर आज धार्मिक, राजनीतिक एवं पारिवारिक सहिष्णुता का विकास किया जा सकता है।

धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वयता विभिन्न धर्म–संप्रदायों एवं मतों में व्याप्त वैचारिक विद्वेष, हिंसा एवं अशान्ति को समाप्त कर सत्य तत्त्वों का दर्शन कराती है। सभी धर्मों एवं दर्शनों के प्रति सहिष्णु होना ही एक सच्चे जैनी की पहचान है। परमयोगी सन्त आनन्दघनजी कहते हैं[70] –

षड्दर्शन जिन अंग भणीजे, न्यास षडंग जे साधे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक, षड्दर्शन आराधे रे।।

राजनीतिक क्षेत्र में भी अनेकान्त दृष्टि विरोधी पक्षों के बीच में आलोचनात्मक पद्धति को दूर कर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक–दूसरे के विचारों को उचित सम्मान देने की शिक्षा देती है। वस्तुतः, यह ऐसी दृष्टि देती है, जिससे विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता के दर्शन हो सके और उनको स्वीकार कर प्रजातन्त्र को मजबूत किया जा सके।

कौटुम्बिक क्षेत्र में भी इस पद्धति का उपयोग कर पारस्परिक प्रेम एवं शान्ति की स्थापना आसानी से की जा सकती है। अपने अनुभव, रुचि, उद्देश्यों, नीतियों एवं विचारों को दूसरों पर थोपने की आदत संघर्ष और मनमुटाव को जन्म देती है और इसी प्रकार दूसरों के विचारों के अनुसार अपने आपको न मोड़ पाने की आदत भी कुटुम्ब में क्लेश–कलह कराती है, किन्तु यदि व्यक्ति सहिष्णुता की दृष्टि से दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयत्न करे, तो संघर्ष आसानी से समाप्त हो सकते हैं। अनेकान्त यह कहता है कि जब हम दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें या निर्णय लें, तो हमें स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करके चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार, अनेकान्त–दृष्टि को अपनाकर मानवजाति के वैचारिक संघर्षों को आसानी से समाप्त किया जा सकता है।

(6) स्वार्थ, परार्थ एवं परमार्थ का पारस्परिक सामंजस्य और सामाजिक–प्रबन्धन –

सामाजिक–प्रबन्धन के लिए तीन जीवन–लक्ष्यों के बीच उचित समन्वय स्थापित करना अत्यावश्यक है। ये तीन जीवन–लक्ष्य हैं –

1) स्वार्थ (स्वहित) – वैयक्तिक सांसारिक हित का लक्ष्य।
2) परार्थ (लोकहित) – दूसरों के भौतिक एवं आध्यात्मिक हित का लक्ष्य।
3) परमार्थ (आत्महित) – स्वार्थ और परार्थ से ऊँचा उठकर आत्मा के हित का लक्ष्य।

जैनधर्मदर्शन एक निवृत्तिपरक आध्यात्मिक परम्परा है, अतः इसके सन्दर्भ में एक भ्रामक दृष्टिकोण बन जाता है कि यहाँ स्वार्थ और परार्थ के लिए कोई स्थान नहीं है, परन्तु यह उचित नहीं है।

जहाँ तक स्वहित एवं लोकहित का प्रश्न है, जैनधर्म में निश्चित ही लोकहित को उत्तम माना गया है। तीर्थंकर–नमस्कारसूत्र (शक्रस्तव) में तीर्थंकरों के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप, लोकप्रद्योतकर, अभयदाता आदि विशेषणों का प्रयोग जैनदृष्टि की लोक–मंगलकारी भावना को पुष्ट करता है।[71] स्वयं तीर्थंकर भगवन्तों के बारे में कहा जाता है कि पूर्व भव में '**सवि जीव करुं शासन रसी**' अर्थात् समस्त जीवों को सन्मार्ग (मोक्षमार्ग) में जोड़ने की उदात्त भावना उनके मन में संचरित होती है,[72] तभी तीर्थंकर पद के योग्य कर्मों का उपार्जन होता है। जैनाचार्य समन्तभद्र भी वीरजिनस्तुति में कहते हैं[73] – हे भगवन्! आपकी यह संघ–व्यवस्था (समाज–व्यवस्था) सभी प्राणियों के दुःखों का अन्त करने वाली और सबका कल्याण करने वाली है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी कहा गया है कि भगवान् का यह उपदेश संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है।[74] इसी सूत्र में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे कहा गया है कि जैन साधना के पाँचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिए ही हैं।[75] अतः यह मानना पड़ेगा कि जैन साधना में लोक–कल्याण की प्रवृत्ति को भी उचित महत्त्व दिया गया है।

जैनविचारकों ने लोकहित के तीन स्तर माने हैं[76] –

1) द्रव्यलोकहित – भौतिक साधनों, जैसे – भोजन, वस्त्र, आवास आदि तथा शारीरिक सेवा के द्वारा लोकहित करना।
2) भावलोकहित -- भौतिक स्तर से ऊपर उठकर ज्ञानात्मक या भावात्मक साधनों के द्वारा लोकहित करना।
3) पारमार्थिक लोकहित – उपदेश रूप साधनों के द्वारा जीवन मुक्ति के मार्ग का लोकहित करना।

जैनाचार्यों ने इन तीनों में भी क्रमशः उच्चता का निर्देश दिया है।

इस प्रकार, जैनदृष्टि में अनेकशः यह दर्शाया गया है कि स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ करने योग्य है। यह तथ्य निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट है[77] –

संक्षेपात्कथ्यते धर्म्मो, जनाः! किं विस्तरेण वः।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।।

अर्थात् जैनदृष्टि से संक्षिप्त में धर्म (नैतिक–कर्त्तव्य) की व्याख्या इतनी ही है कि लोकहित (परोपकार) से पुण्य एवं पर–पीड़ा देने से पाप रूप फल की निष्पत्ति होती है। यद्यपि जैनदर्शन लोकहित को उचित मानता है, तथापि इसकी एक शर्त है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का विसर्जन तो किया जा सकता है, लेकिन परमार्थ का नहीं। उसके अनुसार, भौतिक उपलब्धियों को लोक–कल्याण के लिए समर्पित किया जा सकता है और करना भी चाहिए, क्योंकि वे मूलतः संसार की ही हैं, हमारी नहीं। किन्तु यदि आध्यात्मिक विकास एवं नैतिक मूल्यों की कीमत पर लोकहित होता है, तो यह उचित नहीं।[78] कहा भी गया है – आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो, लेकिन जहाँ आत्महित एवं लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित का अपलाप होता हो, वहाँ सिर्फ आत्म–कल्याण ही श्रेष्ठ है।[79]

वस्तुतः आत्महित भी परोक्ष रूप में लोकहित का ही कारण है। आत्महित करने वाले साधक सामाजिक–अव्यवस्था के लिए तो जिम्मेदार होते ही नहीं हैं, वरन् वे कुछ ऐसे जीवन–आदर्श छोड़ जाते हैं, जो सामाजिक आदर्श एवं मूल्य के रूप में चिरकाल तक पथ–प्रदर्शक बने रहते हैं।

इस प्रकार, जैनाचार्यों ने समाज–प्रबन्धन के लिए गहन और सम्यक् सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण प्रदान किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(7) सामाजिक जीवन–धर्म एवं सामाजिक–प्रबन्धन – जैन विचारकों ने न केवल आध्यात्मिक–दृष्टि से, अपितु सामाजिक–दृष्टि से भी धर्म की विवेचना की है। स्थानांगसूत्र में सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में दशविध धर्मों की व्याख्या की गई है[80] –

(क) ग्राम धर्म – गाँव की परम्परा, व्यवस्था, मर्यादा एवं नियमों के अनुरूप कार्य करना।

(ख) नगर धर्म – नगर की परम्परा, व्यवस्था, मर्यादा एवं नियमों के अनुरूप कार्य करना।

(ग) राष्ट्र धर्म – राष्ट्रीय विधि–विधानों, नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना।

(घ) पाखण्ड धर्म – पाप को खण्डित करने वाला अनुशासित, नियमित एवं संयमित जीवन जीना (अतीत में पाखण्ड का यह विशिष्ट अर्थ प्रचलित था)।

(ङ) कुल धर्म – परिवार अथवा वंशपरम्परा के आचार नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना।

(च) गण धर्म – गण (गणतन्त्र एवं गच्छ) के नियमों और मर्यादाओं का पालन करना।

(छ) संघ धर्म – संघ की मर्यादा, परम्परा एवं व्यवस्था का पालन करना।

(ज) श्रुत धर्म – गुरु और शिष्य के द्वारा शिक्षण–व्यवस्था सम्बन्धी नियमों का पालन करना।

(झ) चारित्र धर्म – श्रमण एवं गृहस्थ धर्म के आचार–नियमों का पालन करना।

(ञ) अस्तिकाय धर्म – यह धर्म वस्तु–स्वरूप को इंगित करता है, अतः सामाजिक सन्दर्भ में इसका उल्लेख करना अप्रासंगिक होगा।

इस प्रकार, जैनधर्म में वैयक्तिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का स्पष्ट विवेचन किया गया है, जिसके द्वारा समाज–प्रबन्धन के लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। वस्तुतः, ये धर्म व्यक्ति को उसके कर्त्तव्यों के पालन के लिए अनुशासित एवं जाग्रत बनाते हैं। इनका पालन करके वह सामाजिक–व्यवस्था एवं संगठन की प्रगति में उचित सहयोगी बन जाता है। प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक को इन धर्मों का यथायोग्य पालन करना चाहिए।

(8) काम एवं अर्थ पर नियन्त्रण और सामाजिक–प्रबन्धन – जैनआचारशास्त्र में जहाँ एक ओर व्यक्ति को उसके कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठावान् बनाया जाता है, वही दूसरी ओर उसके अधिकारों की भूख को भी शान्त अथवा मर्यादित करने का निर्देश दिया जाता है।

वस्तुतः जब व्यक्ति की काम एवं अर्थपरक इच्छाएँ बढ़ती हैं, तब वह अधिक से अधिक सुख–सुविधा एवं विलासिता की माँग करता है और इस उपक्रम में समाज के अन्य सदस्यों के साथ अनुचित व्यवहार भी करता है। इससे सामाजिक विषमताएँ उत्पन्न होती हैं।

समाज–प्रबन्धन के लिए जैनाचार्यों ने इन इच्छाओं को मर्यादित एवं नियंत्रित करने के लिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तप, त्याग, व्रत आदि अनेकानेक सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक अनुष्ठानों की व्यवस्था की है। साथ ही बारम्बार यह समझाने का प्रयास किया है कि ये इच्छाएँ ही सभी समस्याओं का मूल है और इन इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर लेने से सभी दुःखों से मुक्ति मिल जाती है।[81]

(9) संविभाजन एवं सामाजिक–प्रबन्धन – समाज–प्रबन्धन के लिए समाजवादी विचारधारा ने कुछ उपयोगी सूत्र दिए हैं, जिनके द्वारा सामाजिक विषमताएँ समाप्त हो सकें और समाज के प्रत्येक सदस्य को समान साधन एवं सुविधाएँ मिल सकें। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है, जब सरकार या प्रशासन के द्वारा सामाजिक समानता के नियमों को व्यक्तियों पर न थोपा जाए, वरन् व्यक्ति स्वेच्छा से स्वयं ही इसकी पहल करे। जैनदृष्टि में इस हेतु एक सुन्दर व्यवस्था है। इसमें व्यक्ति के भावों में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को प्रतिष्ठित किया जाता है, जिससे उसकी आकिंचन्य भावना अर्थात् सांसारिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति की भावना जाग्रत होती है, साथ ही सभी प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य (आत्मतुला) की दृष्टि भी उत्पन्न होती है। परिणामस्वरूप, सरकार या प्रशासन के बजाय व्यक्ति स्वयं अपने लिए प्राप्त सामग्रियों में से एक विभाग अन्यों के लिए भी निकालने हेतु सहर्ष पहल करता है। वह अन्य के द्वारा बाध्य नहीं किए जाने पर भी विश्व–बन्धुत्व की भावना से सहज ही अन्तःप्रेरित होता है।

केवल सैद्धान्तिक तौर पर ही नहीं, अपितु व्यावहारिक स्तर पर भी वह इस भावना को साकार करता है। इस दिशा में वह जो प्रयत्न करता है, उसे जैनशास्त्रों में संविभाग कहा गया है। दशवैकालिकसूत्र का यह पद, **'अविसंविभागी न हु तस्स मोक्खो'**[82] (जो दूसरों के लिए अपनी सामग्रियों का विभाग नहीं करता, उसका मोक्ष नहीं होता), सम्यक् विभाजन की ही प्रेरणा देता है। वस्तुतः, विचारों में समता एवं व्यवहार में संविभाग ही सामाजिक–संगठन को मजबूती प्रदान करता है।

जीवन–प्रबन्धन के लिए व्यक्ति को चाहिए कि वह उपर्युक्त समाज–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्षों एवं मूल्यों का उचित चिन्तन, मनन एवं निर्णय करे। यदि वह इनका सम्यक् अनुशीलन करता है, तो निश्चित तौर पर अपने सामाजिक जीवन में सुख–शान्ति एवं सुसंस्कारों के साथ प्रगति कर सकेगा।

=====◀●▶=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

9.5 जैनआचारमीमांसा में समाज–प्रबन्धन के प्रायोगिक पक्ष

जैनदर्शन समाज–प्रबन्धन के केवल सूत्र ही प्रस्तुत नहीं करता, अपितु उसके व्यावहारिक या प्रायोगिक पक्ष पर भी बल देता है। वह यह मानता है कि सिद्धान्त चाहे कितना ही आदर्श और अच्छा क्यों न हो, किन्तु यदि उसका व्यावहारिक जीवन में कोई प्रयोग नहीं किया जाता, तो यह केवल सिद्धान्त बनकर ही रह जाता है और उससे व्यक्ति और समाज में कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

जैनदर्शन यह मानता है कि सम्यग्ज्ञान वही हो सकता है, जो हमारे चरित्र में अभिव्यक्त हो। कहा भी गया है[83] –

नाणेण य करणेण य दोहेवि दुक्खक्खयं होइ

अर्थात् ज्ञान और तदनुरूप आचरण – इन दोनों की साधना से ही दुःखों का क्षय होता है।

इसके अनुसार केवल सूचनात्मक ज्ञान वस्तुतः सम्यग्ज्ञान नहीं है। यदि एक व्यक्ति तम्बाकू के सारे दुष्परिणामों को जानकर भी तम्बाकू का परित्याग नहीं करता, तो उसका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। वस्तुतः, जानने और मानने के साथ जीना भी आवश्यक है।

समाज–प्रबन्धन के अन्तर्गत जब तक कि व्यक्ति मूल्यों और आदर्शों को जीवन में क्रियान्वित नहीं करता, तब तक वे मूल्य एवं आदर्श वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण में सहायक नहीं होते। समाज–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष यही है कि जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन–मूल्य प्रस्तुत किए गए हैं, उनका व्यवहार में भी उपयोग किया जाए. इसीलिए जैनआचारदर्शन में समाज–प्रबन्धन एक व्यवहारिक या प्रायोगिक प्रक्रिया भी है। प्रबन्धन का एक सूत्र हमें यही उपदेश देता है[84] –

न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ति

अर्थात् जान लेने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं हो जाती। अतः जैनआचारशास्त्र का इस बात पर बल रहा है कि समाज–प्रबन्धन के सूत्रों को प्रायोगिक स्तर पर जीना भी आवश्यक है। जैनाचार्यों का उद्देश्य यह है कि व्यक्ति जीवन–व्यवहार में वैयक्तिक हित की अपेक्षा लौकिक या संघीय हित को अधिक महत्त्वपूर्ण माने, क्योंकि यदि संघ या समाज अनियंत्रित होगा अर्थात् उसका सम्यक् प्रबन्धन नहीं होगा, तो वह व्यक्ति के चारित्र निर्माण में भी सहायक नहीं बन सकेगा। वस्तुतः, व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सामाजिक विकास एवं सामाजिक प्रगति पर निर्भर है और इसीलिए संघहित वैयक्तिक हितों से ऊपर है, परन्तु शर्त यह है कि ये सामाजिक विकास और सामाजिक प्रगति नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से युक्त हो।

उपर्युक्त दृष्टि के आधार पर जब कोई जीवन–प्रबन्धक समाज–प्रबन्धन के सिद्धान्तों को जीवन व्यवहार में क्रियान्वित करने जाता है, तब समाज के विभिन्न घटक बदल–बदलकर उसके सामने आते हैं, जैसे – कभी वह किसी परिजन से मिलता है, तो कभी किसी धर्मावलम्बी से, तो कभी किसी राजनेता से इत्यादि। इन सबके बीच जीते हुए यदि उसके विचार एवं व्यवहार बिगड़ जाते हैं, तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसका सामाजिक–प्रबन्धन भी विफल हो जाता है, अतः उसे चाहिए कि वह इस प्रकार से अपनी सामाजिक क्रियाएँ करे कि जिससे पारिवारिक, धार्मिक एवं लौकिक संस्था में जीते हुए सामाजिक–संगठन अर्थात् समाज–प्रबन्धन को मजबूती मिल सके। वह सदैव स्मरण रखे कि उसके व्यवहार से तीन उद्देश्यों की सम्पूर्त्ति होती रहे –

★ समाज में उचित शान्ति रहे।
★ सुसंस्कारों का संवर्द्धन हो।
★ समाज में सभी की प्रगति होती रहे।

आगे, इन उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए जैनदृष्टि के आधार पर कुछ बिन्दु दिए जा रहे हैं, जिनका पालन करके व्यक्ति सफलतापूर्वक समाज–प्रबन्धन कर सकता है –

1) सप्तव्यसन वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण विनाश कर देते हैं, अतः इनका सेवन बिल्कुल नहीं करना।[85]
2) सदैव न्याय–नीतिपूर्वक अर्थ का उपार्जन करना।
3) शिष्टता समाज का शृंगार है, अतः सबसे शिष्ट व्यवहार करना।
4) समान आचार–विचार, रहन–सहन, खान–पान वाले परिवार में ही वैवाहिक सम्बन्ध करना।
5) पाप करके भयभीत होने के बजाय पाप करने में भयभीत रहना।
6) देश और राष्ट्र के प्रति गौरव रखना और देशाचार का उल्लंघन कभी नहीं करना।
7) समाज में क्लेश और कलह करने वाली निन्दा कभी नहीं करना।
8) अज्ञानी एवं दुर्जनों की संगति से बचना, इससे वैर बढ़ता है।[86]
9) सद्विचारवान् सज्जनों की संगति सदैव करना।
10) माता–पिता की सेवा करना, जो कुछ अर्जित करें, उन्हें ही समर्पित करना और उनकी सलाह के बिना कोई कार्य नहीं करना।
11) सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन के अनुकूल वातावरण वाले स्थान पर रहना।
12) समाज में निन्दा और घृणा हो, ऐसे निन्दनीय कार्य कभी नहीं करना।
13) आय कम और व्यय अधिक का सिद्धान्त अपनाकर जीवन को अस्त–व्यस्त नहीं बनाना।
14) हैसियत न होने पर भी फैशन में पड़कर बहुमूल्य एवं चटकीले–भड़कीले वस्त्र पहनने के बजाय सादगीपूर्ण वस्त्र पहनना।
15) विचार और व्यवहार को निर्मल करने वाले धर्मोपदेश का श्रवण स्वयं भी करना अन्यों को भी कराना।
16) स्वाद के लिए नहीं, अपितु स्वास्थ्य के लिए भोजन करना, जिससे अकारण बीमारी न हो एवं परिजनों को उपचार आदि के लिए व्यर्थ भाग–दौड़ न करनी पड़े।
17) धर्म, अर्थ और काम में परस्पर समन्वय रखना, जिससे हमारा हर व्यवहार नैतिक एवं सामाजिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल्यों से युक्त रहे।

18) 'मेरा सो सच्चा' ऐसा दुराग्रह न कर 'सच्चा सो मेरा' ऐसा अनाग्रहपूर्ण जीवन जीना।

19) शत्रुओं के भी गुण ही देखना अर्थात् गुणानुरागी बनना।

20) देश, काल और शक्ति के आधार पर विचार एवं व्यवहार में उपयोगी परिवर्त्तन लाते रहना।

21) आचारवान् व्रतियों एवं ज्ञानवान् विद्वानों की सेवा में सदैव तत्पर रहना, क्योंकि सेवा से सत्समागम, सत्समागम से सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान से सदाचारपूर्ण जीवन की प्राप्ति होती है।

22) अधिकारों की आसक्ति छोड़ना और उत्तरदायित्वों के पालन में तत्पर रहना अर्थात् Sense of duty तो रखना, लेकिन Sense of attachment नहीं।

23) समाज और परिवार में पनपती छोटी–छोटी बुराइयों को भी नजरअन्दाज नहीं करना और प्रत्येक पहलू का सूक्ष्म एवं यथोचित विश्लेषण कर शान्ति के साथ उसके निवारण का प्रयत्न करना।

24) माता–पिता गुरुजन आदि का उपकार सदैव याद रखना। योगशास्त्र में कहा भी गया है कि कृतज्ञता प्रकट करना, धन्यवाद देना या आभारी होना, स्वस्थ और सहज समाज की पहचान है।[87]

25) सुसंस्कारित होकर समाज में सबका प्रिय (लोकप्रिय) बनना।

26) अनुचित कार्य करते हुए लज्जा महसूस करना। कहा भी गया है – 'लाज सुधारे काज'।

27) दूसरों को कष्ट देने के पूर्व यह सोचना कि 'जैसी पीड़ा मुझे होती है, वैसी ही इसे भी होती होगी, अतः मैं दूसरों को कष्ट क्यों दूँ।'

28) विपत्तियों में भी सदैव शान्त, शीतल और सौम्य रहना।

29) दुःखियों पर अनुकम्पा करना।[88]

30) दूसरों के लिए काम आ सकूँ, सदैव ऐसी भावना रखना।

31) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य – इन छः शत्रुओं से सदैव दूर रहना।

32) इन्द्रियों के विषयों की लालसा को सीमित करना।

33) दूसरों की खुशियों की खातिर जरूरत पड़ने पर अपनी खुशियों का त्याग करने के लिए सदैव तैयार रहना।[89]

34) किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक न बनना और न ही उसे रस्सी आदि से बाँधना।

35) किसी व्यक्ति को डण्डे आदि से नहीं मारना या पीटना।

36) किसी की लाचारी का गलत फायदा नहीं उठाना।

37) किसी को उचित पारिश्रमिक से कम नहीं देना और न ही अकारण किसी की आजीविका छिनना।

38) किसी व्यक्ति पर उसकी शक्ति से अधिक कार्य–भार नहीं लादना।

39) नौकर–चाकर आदि को समय पर भोजन–पानी एवं वेतन देना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

40) किसी की रकम या धरोहर को न तो हड़पना और न ही कम देना।

41) न्यायाधीश या संघ के समक्ष झूठी गवाही नहीं देना।

42) परिवार या समाज में किसी भी व्यक्ति पर झूठा दोषारोपण नहीं करना।

43) सुनी–सुनाई बात के आधार पर किसी के भी प्रति गलत धारणा नहीं बनाना, क्योंकि जब आँखों देखी बात भी असत्य हो सकती है, तो सुनी–सुनाई बात का क्या विश्वास?

44) किसी की हँसी नहीं उड़ाना और न ही किसी को ताना देना। कहा भी गया है – 'रोग की जड़ खाँसी और झगड़े की जड़ हाँसी'।

45) किसी की गुप्त बात को अन्य के सामने प्रकट नहीं करना।

46) पति–पत्नी हों, तो एक–दूसरे की गुप्त बातें अन्य को नहीं बताना, अन्यथा कुटुम्ब में वैमनस्य और बाहर में बदनामी होती है।

47) किसी को भी नाप–तौल की गड़बड़ी, चालाकीपूर्ण व्यापार आदि समाज विपरीत समझाईश नहीं देना।

48) झूठे दस्तावेज, जाली लेख, नकली बिल, झूठी बिल्टी, नकली नोट आदि गैर–कानूनी आचरण नहीं करना।

49) चोरी नहीं करना और न ही चोरी की वस्तु खरीदना।

50) तस्करी, सेंध मारना आदि अनुचित कार्य न करना और न ही करने की प्रेरणा देना।

51) राज्य के नीति–नियमों के विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करना।

52) सरकार को उचित टैक्स चुकाना और ग्राहक से उचित दाम लेकर सही माल बेचना।

53) परस्त्री अथवा परपुरूष से यौन–सम्बन्ध नहीं करना अन्यथा परिवार में कलह एवं लोक में बदनामी होती है।

54) विवाह के पूर्व किसी भी स्त्री या पुरूष के साथ असामाजिक व्यवहार (अनंगक्रीड़ादि) नहीं करना।

55) विवाह के पश्चात् स्वस्त्री अथवा स्वपुरूष में सन्तोष रखना।

56) अर्जित सम्पत्ति में सन्तोष रखना और जमीन–जायदाद आदि के निमित्त क्लेश–कलह नहीं करना।

57) भोगोपभोग के साधनों पर अपना एकाधिकार नहीं जमाना, अपितु समाज के दीन–दुःखी जीवों पर भी अनुकंपा करना, ताकि सामाजिक विषमता नियंत्रित हो सके।[90]

58) किसी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना, जो हमें अपने लिए पसन्द न हो।[91]

59) सबको समान दृष्टि से देखना।[92]

60) सबके प्रति कुटुम्बवत् व्यवहार करना, किसी को भी अपना शत्रु नहीं मानना। यह स्मरण रखना कि –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वेप्यमी बन्धुतयानुभूतः, सहस्रशोऽस्मिन्भवता भवाब्धौ।
जीवास्ततो बन्धव एव सर्वे, न कोऽपि ते शत्रुरिति प्रतीहि।।

अर्थात् संसार के जीवों को हजारों बार इस जीव ने स्वजन के रूप में स्वीकारा है, अतः ये सभी जीव शत्रु नहीं अर्थात् बन्धु रूप ही हैं।[93]

61) बुरा करने वाले के प्रति भी बुरा नहीं सोचना, अपितु अपने ही पूर्वकृत कर्मों के फल के रूप में परिस्थिति को स्वीकार करना।

62) निर्लिप्त भाव से जगत् में जीना और यह स्मरण रखना कि[94] –

एगोऽहं नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवं अदीण मणसो अप्पाणमणुसासए।।
एगो मे सासओ अप्पा, नाण – दंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग–लक्खणा।।
संजोग–मूला जीवेण, पत्ता दुक्ख–परंपरा।
तम्हा संजोग–सम्बन्धं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं।।

अर्थात् "मैं एक हूँ, मेरा कोई नहीं। इस प्रकार, अदीनमन होकर (उल्लसित भावों के साथ) आत्मा को अनुशासित करना चाहिए। मैं एक हूँ, शाश्वत् हूँ और ज्ञान–दर्शन से युक्त आत्मा हूँ। शेष सभी शरीरादि बाह्य हैं और ये सभी संयोग रूप हैं। इन संयोगों को अपना मानने से जीव हमेशा दुःख ही पाता है। अतः मैं इन सभी संयोग सम्बन्धों को मन, वचन एवं काया से छोड़ता हूँ।"

63) विषम से विषम परिस्थिति में भी हिम्मत नहीं हारना और न ही असामाजिक कार्य करना। याद रखना[95] –

क्रोधादिक वसे रण समे, सह्यां दुक्ख अनेक।
ते जो समता मां सहे, तो तुज खरो विवेक।।

अर्थात् क्रोधादिक के वशीभूत होकर तो अतीत में अनेक बार युद्ध भूमि पर दुःखों को सहन किया। यदि इन्हीं दुःखों को समता भाव से सहन कर लिया जाए, तो यह हमारा सही विवेक होगा।

64) स्वयं के द्वारा भूल होने पर क्षमा माँग लेना एवं दूसरों के द्वारा भूल होने पर उन्हें क्षमा कर देना। कहा भी गया है[96] –

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् सभी जीवों से मैं क्षमा माँगता हूँ और सभी जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सभी से मैत्री है, किसी से भी मेरा वैर नहीं।

65) ईंट का जवाब पत्थर से देने की नीति नहीं अपनाना, क्योंकि

अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं।

अर्थात् शस्त्र एक से बढ़कर एक हैं, परन्तु अशस्त्र (अहिंसा) का कोई तोड़ नहीं।[97]

66) परिग्रह से प्रेम परिजनों से द्वेष का कारण न बन जाए, इस हेतु परिग्रह का सीमाकरण करना। कहा भी गया है[98]–

परिग्गह–निविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढइ

अर्थात् जो परिग्रह में व्यस्त हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर ही बढ़ाते हैं।

67) पहले विचारना, फिर बोलना, ताकि सामाजिक असन्तोष उत्पन्न न हो।[99]

68) सदैव निर्भय रहना।[100]

69) कठिन परिस्थितियों में भी धैर्य रखना, क्योंकि धैर्यशील व्यक्ति के लिए कोई भी कार्य असम्भव नहीं है।[101]

70) स्वार्थ तजना और सेवा (वैयावृत्य) करना, क्योंकि स्वार्थ से सिर्फ पैसा मिल सकता है, परन्तु प्रेम तो सेवा से ही मिलेगा।

71) कर्म करना, लेकिन निष्काम (अनिदान) भाव से करना, क्योंकि स्वयं भगवान् ने भी इसकी प्रशंसा की है।[102]

72) जगत् में प्राप्त वस्तुओं का उपयोग करना, लेकिन उनका स्वामी नहीं बनना (We have use right, but we don't have ownership right)। कहा भी गया है[103] –

आतमबुद्धे हो कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघ रूप।
कायादिकनो हो साखीधर रह्यो, अन्तर आतम रूप।

73) सबका भला करना, लेकिन एहसान नहीं जताना।

74) अपनी इच्छा से जीने के बजाय परेच्छाचारी अर्थात् पर की इच्छा से जीने का भी अभ्यास करना,[104] इस हेतु श्रीमद्राजचंद्र का जीवन अनुकरणीय है।

75) सामाजिक जीवन में जीते हुए अपनी आत्मसाधना में निरन्तर प्रगति करते रहना।

76) अपने परिवार एवं समाज को सांसारिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक बनाना, जिसमें हर सदस्य को आसक्तिजन्य नहीं, वरन् अनासक्तिजन्य सुख की प्राप्ति हो सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ 'मेरे' और 'तेरे' का घेरा है,
वहाँ पर भव–भव का फेरा है।
और जहाँ कोई नहीं, कुछ नहीं का गुंजन है,
वहाँ सुख, शान्ति और आनन्द का मधुबन है।

उपर्युक्त सूत्रों को जान लेना ही पर्याप्त नहीं, इन्हें प्रयोग में भी लाना होगा। इन्हें प्रयोग में लाने का अर्थ है, इनके अनुसार वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन–प्रणाली को ढालना। यदि इन सूत्रों के आधार पर हम अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन को सम्यक् प्रकार से नियंत्रित करने में सफल होते हैं, तो ही सामाजिक–प्रबन्धन सम्भव होगा। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि इसमें व्यक्ति का लाभ नहीं, केवल समाज का लाभ है, वस्तुतः ये सूत्र जिसके जीवन में उतरेंगे, वह तो व्यक्ति ही है और व्यक्ति समाज का ही एक अंग है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

9.6 निष्कर्ष

जैनदर्शन निवृत्तिपरक धर्म होते हुए भी एक संघीय धर्म है। इसमें संघ या समाज को केवल व्यक्तियों का समूह अथवा सम्बन्धों का जाल ही नहीं, अपितु सद्‌गुणों का समूह भी माना गया है। आशय यह है कि जैनाचार्यों की दृष्टि में संघ या समाज नैतिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों का अनुसरण करने वाले व्यक्तियों का एकीकृत समूह है।

जैनाचार्यों ने समझने के लिए भले ही व्यक्ति और समाज को भिन्न–भिन्न माना है, परन्तु मूलतः उनकी मान्यता यह है कि व्यक्ति और समाज दोनों अभिन्न हैं और समाजहित में व्यक्तिहित तथा व्यक्तिहित में समाजहित निहित है।

जैनदर्शन में समाज के लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों विभागों का समन्वय किया गया है। जहाँ लौकिक समाज के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने लौकिक कर्त्तव्यों, जैसे – देशाचार का पालन, न्यायपूर्वक व्यापार, माता–पिता की सेवा आदि का पालन करने का निर्देश दिया गया है, तो वहीं लोकोत्तर समाज के अन्तर्गत धार्मिक कर्त्तव्यों, जैसे – साधु–साध्वी की सेवा–शुश्रूषा, सत्साहित्य का श्रवण एवं अध्ययन, साधर्मिक वात्सल्य आदि का पालन करने का निर्देश भी दिया गया है।

इन निर्देशों को सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक स्तर पर स्वीकार करके प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन–प्रबन्धन कर सकता है। वह पारिवारिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रों में कार्य करता हुआ अपने व्यवहारों को संयमित एवं नियंत्रित कर सकता है और इस प्रकार जीता हुआ समाज–प्रबन्धन के तीनों उद्देश्यों की प्राप्ति में अपनी सकारात्मक भूमिका अदा कर सकता है।

1) सामाजिक शान्ति
2) सामाजिक सुसंस्कारों का संरक्षण
3) सामाजिक प्रगति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

9.7 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ. क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	क्या आप समाज के स्वरूप को जानते हैं?		2
2)	क्या आप समाज को महत्त्व देते हैं?		4
3)	क्या आप समाज के प्रकारों को जानते हैं?		8
	विकल्प– हाँ→① नहीं→⑤		
4)	क्या आपको आर्थिक असन्तोष रहता है?		14
5)	क्या आप ऊँच–नीच का भेद–भाव रखते हैं?		15
6)	क्या आप अन्धविश्वास एवं अन्धरूढ़ियों से जीते हैं?		15
7)	क्या आप मादक–द्रव्यों का सेवन करते हैं?		16
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
8)	क्या आप परिवार में शान्ति रखने मे निमित्त बनते हैं?		19
9)	क्या आप परिवार में सुसंस्कारों का संरक्षण करने में निमित्त बनते हैं?		19
10)	क्या आप परिवार की प्रगति में सहयोगी बनते हैं?		19
11)	क्या आपकी मनोवृत्ति में निर्मलता रहती है?		21
12)	क्या आप सकारात्मक दृष्टिकोण रखते हैं?		21
13)	क्या आप मैत्री, प्रमोद, करूणा एवं माध्यस्थ भावना रखते हैं?		22
14)	क्या आप अनेकान्त दृष्टिकोण (वैचारिक सहिष्णुता) रखते हैं?		23
15)	क्या आप स्वार्थ, परार्थ एवं परमार्थ में पारस्परिक सामंजस्य रखते हैं?		24
16)	क्या आप काम एवं अर्थ के भावों पर नियन्त्रण रखते हैं?		26
17)	क्या आप Sense of duty से जीते हैं?		30
18)	क्या आप दूसरों के कार्यों में सहयोग करते हैं?		30
19)	क्या आप क्षमा माँगने एवं देने की तैयारी रखते हैं?		32
20)	क्या आप परेच्छाचारी बनकर जीते हैं?		33
		कुल	

कुल	0–20	21–40	41–60	61–80	81–100
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
भविष्य में अपेक्षित प्रबन्धन	अत्यधिक	अधिक	अल्प	अल्पतर	अल्पतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 जैनभारती (पत्रिका), मई, 2003, पृ. 45–47
2 डॉ.सागरमलजैन से चर्चा के आधार पर
3 यूनीफाइड समाजशास्त्र (बी.ए.1), रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, पृ. 53
4 वही, पृ. 53
5 व्यवहारभाष्य, 1677
6 व्यवहारसूत्र सटीक, उद्देश्य 3 (अभिधानराजेन्द्रकोष, 7/77 से उद्धृत)
7 नन्दीसूत्र, 19
8 समाज और संस्कृति, उपा.अमरमुनि, पृ. 233
9 वही, पृ. 238
10 प्रो.पी.सी. करोड़े से चर्चा के आधार पर
11 यूनीफाइड समाजशास्त्र (बी.ए.1), रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, पृ. 59
12 विशेषावश्यकभाष्य, 1032
13 Ethical Studies, F. Bradly, p. 160
14 यूनीफाइड समाजशास्त्र (बी.ए.1), रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, पृ. 126–127
15 सामाजिक विघटन तथा पुनर्गठन, सरला दुबे, पृ. 13
16 वही, पृ. 13
17 यूनीफाइड समाजशास्त्र (बी.ए.1), रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, पृ. 127
18 सामाजिक विघटन तथा पुनर्गठन, सरला दुबे, पृ. 16–17
19 वही, पृ. 15
20 यूनीफाइड सोशियोलॉजी, प्रो.डी.एस. बघेल, पृ. 45
21 वही, पृ. 45
22 समाजदर्शन की भूमिका, डॉ.राज्यश्री अग्रवाल, पृ. 18
23 वही, पृ. 68
24 वही, पृ. 68
25 वही, पृ. 68
26 परिवार में रहने की कला, डॉ.भीकमचन्द प्रजापति, पृ. 10
27 समाजदर्शन की भूमिका, डॉ.राज्यश्री अग्रवाल, पृ. 69–70
28 वही, पृ. 128
29 स्थानांगसूत्र, पृ. 1/2
30 समाजदर्शन की भूमिका, डॉ.राज्यश्री अग्रवाल, पृ. 129
31 वही, पृ. 126
32 वही, पृ. 129–132
33 स्थानांगसूत्र, 2/1/109
34 वही, 4/3/430
35 वही, 4/4/605
36 समाजदर्शन की भूमिका, डॉ.राज्यश्री अग्रवाल, पृ. 104
37 वही, पृ. 93
38 सामाजिक विघटन तथा पुनर्गठन, सरला दुबे, पृ. 122–126
39 वही, पृ. 135–136
40 जैनभारती (पत्रिका), दिसंबर, 2005, पृ. 29
41 सामाजिक विघटन तथा पुनर्गठन, सरला दुबे, पृ. 296–301
42 वही, पृ. 259–261
43 वही, पृ. 256
44 वही, पृ. 79
45 एक्का मणुस्सजाइ – आचारांगनिर्युक्ति, पृ. 19
46 उत्तराध्ययनसूत्र, 25/33
47 सामाजिक विघटन तथा पुनर्गठन, सरला दुबे, पृ. 97–98
48 समाजदर्शन की भूमिका, डॉ.राज्यश्री अग्रवाल, पृ. 129
49 श्रीमद्देवचन्द्र, विहरमान बीसी, 12/6
50 जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 276
51 योगशास्त्र, 3/16
52 सामाजिक विघटन तथा पुनर्गठन, सरला दुबे, पृ. 93
53 वही, पृ. 82
54 तत्त्वार्थसूत्र, 5/29
55 वही, 5/21
56 समाजदर्शन की भूमिका, डॉ.राज्यश्री अग्रवाल, पृ. 183
57 प्रबोधटीका, 3/13/4, पृ. 685
58 नंदीसूत्र, 4–11
59 प्रबोधटीका, 3/2
60 व्यवहारभाष्य, 1681
61 आनंदस्वाध्यायसंग्रह, बृहत्शांतिस्तोत्र, पृ. 34–38
62 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/155
63 दर्शनप्राभृत, 2
64 वही, 21
65 सूत्रप्राभृत, 5
66 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/157
67 सामायिकपाठ, अमितगति, 1
68 पद्मविजय, चौबीसी, 1
69 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/223–234

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

70 आनन्दघन चौबीसी, 22/1
71 प्रबोधटीका, 1/292
72 श्रीमद्देवचन्द्र, स्नात्रपूजा
73 वीरजिनस्तुति (जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/162–163 से उदधृत)
74 प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/1/भूमिका 1,2
75 वही, 2/1/2
76 संघाचारभाष्य, 1 अधि. 1 प्रस्ता. (अभिधानराजेन्द्रकोष, 5/697 से उद्धृत)
77 वही, (वही, 5/697 से उद्धृत)
78 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/164–165
79 वही, पृ. 165
80 स्थानांगसूत्र, 10/135
81 उत्तराध्ययनसूत्र, 4/8
82 दशवैकालिकसूत्र, 9/2/23
83 मरणसमाधि, 147 (प्राकृतसूक्तिकोश, महो.चन्द्रप्रभसागर, पृ. 119 से उद्धृत)
84 आवश्यकनिर्युक्ति, 1156
85 इत्थी जूयं मज्जं, मिगव्व वयणे तहा फरुसया य।
दंडफरुसत्तमत्थस्स दूसणं सत्त वसणाइं।।
– समणसुत्तं, 303
86 आचारांगसूत्र, 1/2/5/10
87 नई दुनिया (समाचार पत्र), 18/1/2004, रविवारीय, पृ. 8
88 बृहत्कल्पभाष्य, 1320
89 योगशास्त्र, 1/47–56 (जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 236–262 से उद्धृत)
90 उपासकदशांगसूत्र, 1/22
91 बृहत्कल्पभाष्य, 4584
92 आयओ बहिया पास – आचारांगसूत्र, 1/3/3
93 शान्तसुधारस, 13/5
94 प्रबोधटीका, 3/62–63
95 श्रीमद्देवचन्द्र, सत्त्वभावना, 2
96 प्रबोधटीका, 2/124
97 आचारांगसूत्र, 1/3/4/4
98 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/9/3
99 व्यवहारभाष्य, पीठिका, 76
100 निशीथभाष्य, 273
101 बृहत्कल्पभाष्य, 1357
102 स्थानांगसूत्र, 6/1
103 आनन्दघन चौबीसी, 5/3
104 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 376, पृ. 339–340

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 10

अर्थ प्रबन्धन

WEALTH MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 10
अर्थ–प्रबन्धन
(Wealth Management)

	Page No. Chap.	Cont.
10.1 अर्थ की परिभाषा एवं अवधारणा	**1**	**529**
10.2 जीवन में अर्थ का महत्त्व एवं स्थान	**9**	**537**
10.3 जैन जीवनदृष्टि में अर्थ का महत्त्व	**15**	**543**
10.4 असन्तुलित, अमर्यादित एवं अव्यवस्थित अर्थनीति के दुष्परिणाम	**19**	**547**
10.5 जैनआचारमीमांसा के आधार पर अर्थ–प्रबन्धन	**30**	**558**
10.6 जैनआचारमीमांसा के आधार पर अर्थ–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	**39**	**567**
10.6.1 परिग्रह एवं उसकी अवधारणा	39	567
10.6.2 परिग्रह के भेद	41	569
10.6.3 अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रह का सहसम्बन्ध	44	572
10.6.4 अंतरंग–परिग्रह की प्रधानता	45	573
10.6.5 अंतरंग परिग्रह के मूल कारण	46	574
10.6.6 परिग्रह प्रबन्धन : इच्छाओं का प्रबन्धन	47	575
10.6.7 परिग्रह का सीमाकरण : परिग्रह–परिमाण व्रत	48	576
10.6.8 अर्थ–प्रबन्धन की प्रक्रिया	50	578
(1) आवश्यकताओं का सम्यक् निर्धारण	50	578
(2) आवश्यकताओं की पूर्त्ति का सम्यक् प्रयत्न	53	581
(क) साधनों के प्रयोग में सावधानियाँ	53	581
(ख) आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए उचित प्रक्रियाएँ	55	583
1) ग्रहण–प्रबन्धन	58	586
2) सुरक्षा–प्रबन्धन	60	588
3) उपभोग–प्रबन्धन	62	590
4) संग्रह–प्रबन्धन	63	591
(ग) अर्थ–प्रबन्धन का विकास–क्रम	66	594
10.7 निष्कर्ष	**77**	**605**
10.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment: A questionnaire)	**79**	**607**
सन्दर्भसूची	80	608

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 10

अर्थ–प्रबन्धन
(Wealth Management)

10.1 अर्थ की परिभाषा एवं अवधारणा

भारतीय वाङ्मय में 'अर्थ' एक ऐसा बहुप्रचलित शब्द है, जिसके भिन्न–भिन्न प्रसंगों में भिन्न–भिन्न आशय होते हैं। संस्कृत–हिन्दी शब्दकोश में 'अर्थ' के अनेक अर्थों का उल्लेख मिलता है, जैसे – अभिधेय (Meaning), प्रयोजन (Objective), कारण या हेतु (Means), धन–सम्पति (Wealth), वस्तु (Goods) इत्यादि।[1] चूँकि प्रस्तुत अध्याय का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से है, अतः 'अर्थ' की सम्यक् परिभाषा के निर्धारण के पूर्व विविध अर्थशास्त्रों में निहित 'अर्थ' शब्द का तात्पर्य जानना अत्यावश्यक है।

10.1.1 अर्थशास्त्र की दृष्टि में अर्थ

(1) आचार्य चाणक्य प्रणीत कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार, मनुष्यों के जीवन–यापन के साधनों सहित वह भूमि भी 'अर्थ' है, जहाँ मनुष्य रहते हैं।[2]

(2) आधुनिक अर्थशास्त्र के जनक सर एडम स्मिथ (1723–1790) के अनुसार, 'अर्थ' का आशय धन–सम्पत्ति (Wealth) से है।[3]

(3) सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. अल्फ्रेड मार्शल (1890) का कथन है कि वह प्रत्येक वस्तु 'अर्थ' है, जिससे व्यक्ति का भौतिक–कल्याण (Physical Welfare) होता है।[4]

(4) सुविख्यात अर्थशास्त्री प्रो. रॉबिन्स (1932) ने अपेक्षाकृत व्यापक एवं तर्कसंगत दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वह प्रत्येक मानवीय व्यवहार (Human Behaviour) 'अर्थ' है, जिसकी बाजार में माँग (Demand) है। इस परिभाषा के आधार पर निम्न सभी मानवीय व्यवहारों का समावेश 'अर्थ' के रूप में हो जाता है[5] –

- ★ भौतिक या अभौतिक दोनों ही व्यवहार (कार्य) 'अर्थ' हैं। उदाहरणार्थ, डॉक्टर, वकील, सी.ए., शिक्षक, सलाहकार आदि की सेवाएँ अभौतिक होते हुए भी 'अर्थ' हैं।
- ★ आर्थिक (Monetary) एवं अनार्थिक (Non–monetary) दोनों ही व्यवहार 'अर्थ' हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उदाहरणार्थ, परिजनों के लिए गृहिणी द्वारा भोजन बनाना अनार्थिक कार्य होते हुए भी 'अर्थ' है।

★ साधारण अथवा असाधारण दोनों व्यवहार 'अर्थ' हैं और इसीलिए वैज्ञानिक–अनुसन्धान आदि असाधारण (Uncommon/Special) व्यवहार भी 'अर्थ' ही हैं।

★ सामाजिक एवं असामाजिक दोनों प्रकार का व्यवहार 'अर्थ' है। उदाहरणार्थ, एकान्तवासी, द्वीपवासी एवं वनवासी मनुष्यों का व्यवहार एकाकी (असामाजिक) होते हुए भी 'अर्थ' है।

वर्त्तमान में प्रो. रॉबिन्स की उक्त परिभाषा ही आर्थिक जगत् में सर्वाधिक मान्य है। इसके अनुसार, समस्त सांसारिक वस्तुएँ तथा व्यवहार 'अर्थ' हैं, जिनकी बाजार में आवश्यकता है। अतः सम्पूर्ण जड़ एवं चेतन जगत् का 'अर्थ' में समावेश है। यहाँ तक कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि अचैतसिक शक्तियाँ तथा ज्ञान, अनुभव, भावना, मनोबल आदि चैतसिक शक्तियाँ भी 'अर्थ' ही हैं। भौतिक–सन्तुष्टि के लक्ष्य से किया जा रहा प्रत्येक व्यवहार 'अर्थ' है। 'अर्थ' सम्बन्धी उपर्युक्त दृष्टिकोण बहुत हद तक भारतीय–दार्शनिक विचारधाराओं से सम्मत है।

जहाँ एक ओर प्रो. रॉबिन्स ने 'अर्थ' के व्यापक स्वरूप को प्रस्तुत किया, वहीं इसकी मर्यादा भी निश्चित की। उन्होंने केवल उसी वस्तु (व्यवहार) को 'अर्थ' माना, जिसकी बाजार में माँग है यानि जो सीमित या दुर्लभ (Scarce) है।[6] उदाहरणार्थ, सड़े हुए टमाटर बड़ी मात्रा में होने पर भी 'अर्थ' नहीं हो सकते, क्योंकि उनकी बाजार में कोई माँग ही नहीं होती। यह अर्थ–विषयक मर्यादा भी इस अध्याय में स्वीकार्य है, क्योंकि यहाँ पर व्यक्तिविशेष के लिए उसी वस्तु या व्यवहार को 'अर्थ' मानना औचित्यपूर्ण होगा, जिससे उस व्यक्ति का जीवन–यापन हेतु सरोकार है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में 'अर्थ' को पुरूषार्थ कहा गया है, जिसमें उपर्युक्त आशयों का समावेश हो जाता है, क्योंकि ये व्याख्याएँ भी 'अर्थ' को एक पुरूषार्थ (व्यवहार) के रूप में ही देखती हैं।

(5) भारतीय अर्थशास्त्री प्रो. जे. के. मेहता (20वीं शताब्दी) के अनुसार, वह प्रत्येक व्यवहार 'अर्थ' है, जिसके लिए मानव इच्छा करता है। उनका यह भी कहना है कि इच्छाविहीनता (Wantlessness) ही मनुष्य का परम लक्ष्य होना चाहिए, क्योंकि इसी दशा में परम शान्ति एवं सन्तुष्टि की उपलब्धि सम्भव है।[7]

इस प्रकार, भारतीय एवं जैनदर्शन से साम्य रखते हुए प्रो. जे. के. मेहता ने आवश्यकताओं के न्यूनीकरण (Minimization of needs) पर बल देते हुए मनुष्य की अधिकतम सन्तुष्टि के उपाय को 'अर्थ' कहा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.1.2 जैनआचारशास्त्र की दृष्टि में अर्थ

जैनशास्त्रों में भी अर्थ–विषयक अनेकानेक दृष्टियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे 'अर्थ' शब्द की अनेकार्थता का परिचय मिलता है, जैसे –

★ शब्द के अभिप्राय या आशय को 'अर्थ' कहते हैं।[8]

★ सूत्र के अभिधेय (कथ्य) को 'अर्थ' कहते हैं।[9]

★ जानने, प्राप्त करने अथवा निश्चित करने योग्य तथ्य को 'अर्थ' कहते हैं।[10]

★ द्रव्य को 'अर्थ' कहते हैं।[11]

★ विविध रूपों (पर्यायों) को प्राप्त करने वाले द्रव्य को भी 'अर्थ' कहते हैं।[12]

★ मणि, कनक आदि को 'अर्थ' कहते हैं।[13]

★ राजलक्ष्मी आदि को 'अर्थ' कहते हैं।[14]

★ सत्ता, सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु और विधि को 'अर्थ' कहते हैं।[15]

★ स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति में कारणभूत साधन 'अर्थ' है।[16]

★ सर्व प्रयोजनों की सिद्धि जिससे होती है, वह 'अर्थ' है।[17]

जैन भाषा शास्त्रों में अनेकार्थी शब्द के अर्थविशेष का प्रसंगतः चयन करने के लिए 'समभिरूढ़ नय' (रूढ़ अर्थ को ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण) का प्रयोग करने का निर्देश मिलता है।[18] इस आधार पर प्रस्तुत अध्याय में **'अर्थ'** को आगे व्याख्यायित किया जा रहा है।

10.1.3 अर्थ की सम्यक् परिभाषा : प्रस्तुत अध्याय के सन्दर्भ में

इस अध्याय में 'अर्थ' का आशय केवल मुद्रा (Currency) नहीं है। **स्थूल–स्तर (Macro-level)** पर तो भौतिक एवं चैतसिक दोनों प्रकार की वस्तुएँ 'अर्थ' हैं। अतः, **आत्मा, कर्म, शरीर, धन, सम्पत्ति, परिजन आदि सबका समावेश 'अर्थ' शब्द में हो जाता है।** प्रवचनसार में गुरू–शिष्य संवाद के माध्यम से अर्थ के अभिप्राय को सुस्पष्ट किया गया है। शिष्य ने पूछा – 'कः खल्वर्थः' ('अर्थ' क्या है?) आचार्य ने जवाब दिया – स्व (आत्मा) तथा पर (अनात्मा) रूप में अवस्थित सम्पूर्ण विश्व ही 'अर्थ' है।[19] चूँकि विश्व तो अनेक द्रव्यों का समूह है और प्रत्येक द्रव्य के आश्रित उसकी अनन्त शक्तियाँ (गुण) विद्यमान हैं, जो निरन्तर परिवर्त्तनशील रहकर अपना–अपना कार्य (पर्याय) करती रहती हैं, अतः समस्त द्रव्य–गुण–पर्याय का समावेश 'अर्थ' में हो जाता है।[20] इस प्रकार, अशेष रूप से समस्त बाह्य (निजात्मा से अन्य) तथा आभ्यन्तर पदार्थ (आत्मा) 'अर्थ' ही है।

फिर भी, जीवनयात्रा में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी–अपनी निश्चित जैविक आवश्यकताएँ होती हैं, जिनकी पूर्त्ति वह बाह्य–वस्तुओं, जैसे – भोजन, आवास, वाहन, वस्त्र, मुद्रा आदि से करता है। इस हेतु वह अंतरंग वस्तु अर्थात् आत्मा एवं उसकी ज्ञान, इच्छा, कषाय, रुचि, पुरूषार्थ आदि शक्तियों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग भी करता है। अतः, **सूक्ष्म–स्तर (Micro-level)** पर किसी व्यक्तिविशेष के लिए अपनी जैविक आवश्यकताओं से सम्बन्धित बाह्य तथा आभ्यन्तर वस्तुएँ ही 'अर्थ' हैं।[21] इस प्रकार, जीवन में 'अर्थ' की अल्प अथवा अधिक आवश्यकता विशुद्ध रूप से व्यक्ति पर निर्भर है। यह प्रतिसमय बदलती हुई न्यूनतम शून्य रूप तथा अधिकतम सम्पूर्ण लोकप्रमाण भी हो सकती है।

मेरी दृष्टि में, 'अर्थ' की निष्कर्षात्मक परिभाषा इस प्रकार हो सकती है –

"वैयक्तिक अथवा सामाजिक स्तर पर, भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को लक्ष्य में रखकर, जीवन के निर्वाह एवं विकास से सम्बन्धित, विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए, जिन भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं एवं व्यवहारों (कार्यों/भावों) की आवश्यकता होती है, वे 'अर्थ' कहलाती हैं।"

इनके उचित प्रबन्धन हेतु मार्गदर्शन प्रदान करना ही इस अध्याय की विषय–वस्तु है। प्रस्तुत अध्याय में 'अर्थ' शब्द कहीं बाह्य तो कहीं आभ्यंतर, कहीं भौतिक तो कहीं अभौतिक और कहीं वस्तु तो कहीं व्यवहार (कार्य या भाव) का द्योतक है, अतः प्रसंगानुसार उचित आशय ग्रहण करना आवश्यक है।

10.1.4 ऐतिहासिक परिवर्त्तन

प्रत्येक युग में मनुष्य ने अपने समय एवं विचारों का बहुत बड़ा भाग जीवनोपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति हेतु व्यय किया है। आर्थिक क्षेत्र में हुए सतत अन्वेषण ने सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अतः, ऐतिहासिक कालक्रम से अर्थ की प्रकृति के बारे में प्रचलित विविध विचारधाराओं को समझना जरुरी है।

(1) प्राचीन युग – इसमें आध्यात्मिकता और नैतिकता से मर्यादित अर्थार्जन करने वाली जीवनशैली की प्राथमिकता थी। भगवान् महावीर के शासनकाल में लगभग 5 लाख लोगों का व्रती या संयमी समाज था, जो तत्कालीन जनसंख्या की तुलना में कोई छोटा नहीं था। वह परिग्रह–परिमाण व्रत आदि का पालन करते हुए धर्मानुकूल व्यापार आदि करता था। लिच्छवी गणतंत्र के प्रमुख महाराजा चेटक उसके प्रमुख सदस्य थे।[22]

तथागत बुद्ध ने भी अपने अनुयायियों को सम्यक् आजीविका का उपदेश दिया था, जिसमें मुख्यतया दो प्रकार के निर्देश थे –

(क) भिक्षुओं को भिक्षु नियमों के अनुसार भिक्षा प्राप्त करना।
(ख) गृहस्थों को गृहस्थ नियमों के अनुसार आजीविका अर्जित करना।[23]

हिन्दू–दर्शन में भी त्रिवर्ग अवधारणा के आधार पर 'अर्थ' और 'काम' पुरूषार्थ को इस प्रकार से नियन्त्रित करने का निर्देश दिया गया कि वे कभी भी धर्म–पुरूषार्थ के लिए बाधक न बनें। महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों में धन और धर्म दोनों को सन्तुलित महत्त्व दिया गया। कौटिल्य ने भी अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाणक्य–सूत्र में एक समन्वित दृष्टिकोण दिया। उसके अनुसार, सुख का मूल धर्म है, धर्म का मूल अर्थ है, अर्थ का मूल राज्य है और राज्य का मूल इन्द्रियजय है।[24] इस प्रकार, प्राचीन युग में 'अर्थ' का उपयोग धर्म, नैतिकता, चरित्र–निर्माण एवं अध्यात्म के साथ समन्वित रहा।

(2) मध्य युग – इसमें कला एवं शिल्प की विचारधारा का महत्त्व ज्यादा रहा, जिससे अर्थ–विज्ञान के विकास की ओर बहुत कम ध्यान दिया जा सका। 'अर्थ' के सम्बन्ध में 'सादा जीवन और उच्च विचार' (Simple living and High thinking) की नैतिक विचारधारा का बोलबाला रहा। कालान्तर में वणिक्वादी विचारधारा ने अर्थ के अधिकाधिक संग्रह तथा वैज्ञानिक अध्ययन पर भी जोर दिया।[25]

(3) आधुनिक युग – इसमें मूलतः भौतिकवादी विचारधारा की मुख्यता रही है। सर एडम स्मिथ, प्रो. अल्फ्रेड मार्शल, प्रो. पीगू, प्रो. कैनन, प्रो. सर विलियम बैवरिज, प्रो. रॉबिन्स, प्रो. जे. के. मेहता, श्री सेम्युलसिन, श्री के. जी. सेठ, श्री हिक्स आदि अनेकानेक सुविख्यात अर्थशास्त्री इसी युग की देन हैं।[26] यह युग औद्योगिक–क्रान्ति, संचार–क्रान्ति, परिवहन–क्रान्ति, चिकित्सकीय–क्रान्ति आदि के कारण प्रसिद्ध हुआ। इसमें नैतिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक पक्षों की उपेक्षा करके एकान्त से भौतिकवाद को महत्त्व दिया गया। वर्त्तमान में दो मुख्य आर्थिक प्रणालियाँ प्रचलित हैं – पूंजीवाद (Capitalism) एवं साम्यवाद (Communism), लेकिन दोनों का मूल–दर्शन भौतिकवाद ही है।[27] भारत में भी इन दोनों की सम्मिश्रित प्रणाली प्रचलित है।

आर्थिक–विकास के लिए इस युग में बृहद् प्रयत्न किए जा रहे हैं, लेकिन उनमें समीचीनता लाने हेतु अर्थ की प्रकृति का सम्यक् विश्लेषण करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। यही विश्लेषण सम्यक् अर्थ–प्रबन्धन की आधारशिला है, जो इस प्रकार है–

10.1.5 अर्थ की आवश्यकता क्यों और कैसे?

सामान्यतया एक आम आदमी एवं प्रवृत्तिमार्गी सभी विचारधाराएँ धन–सम्पत्ति को सुख–शान्ति का साधन मानती हैं तथा इनके उपार्जन को अनिवार्य कर्त्तव्य भी, किन्तु जैनदर्शन जैसी निवृत्तिमार्गी (मोक्षमार्गी) विचारधाराएँ इन्हें सुख–शान्ति का सम्यक् साधन नहीं, वरन् संज्ञा (Basic Instincts) रूप कमजोरियों की पूर्त्ति के लिए एक विवशतामात्र मानती हैं और इसीलिए ये अर्थार्जन को जीवन का अनिवार्य कर्तव्य भी नहीं मानती।

अर्थ–प्रबन्धन के लिए सर्वप्रथम यह जानना जरुरी है कि अर्थ की आवश्यकता क्यों और कैसे उत्पन्न हो जाती है? जैनाचार्यों ने इसका तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक विवेचन किया है। उनके अनुसार, संसारी आत्मा द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव में परिणमन करती हुई विविध जीवनरूपों (भव) की प्राप्ति करती रहती है।[28] भ्रमवश वह इन जीवनरूपों में अस्थायी रूप से प्राप्त संयोगों, जैसे – शरीर, परिवार, भौतिक सम्पत्ति आदि को ही अपना सर्वस्व मान बैठती है। इतना ही नहीं, दिन–रात इनसे सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए असीम एवं अन्तहीन परिश्रम भी करती रहती है। इस भ्रमित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा मूढ़ अवस्था को 'मोह' कहते हैं।

मोह के तीन रूप हैं –

1) **मिथ्यादर्शन** – सत्य को सत्य नहीं मानना।
2) **मिथ्याज्ञान** – सत्य को सत्य नहीं जानना।
3) **मिथ्याचारित्र** – सत्य को सत्य रूप में नहीं जीना।[29]

इस मोह के दो परिणाम जीव को प्राप्त होते हैं –

★ **पारलौकिक फल** – प्रतिसमय कर्मों का बन्धन तथा तदनुसार परलोक में विविध जीवनरूपों (चींटी, भ्रमर, मनुष्य आदि) की प्राप्ति।

★ **ऐहलौकिक फल** – प्रतिसमय मूल प्रवृत्तियों अर्थात् संज्ञाओं (इच्छाओं) की उत्पत्ति तथा तज्जन्य असन्तुष्टि, अशान्ति तथा व्याकुलता की प्राप्ति।[30]

इस मोह से चार प्रकार की संज्ञाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति को निम्नलिखित प्रयत्न करने पड़ते हैं[31] –

★ **आहार संज्ञा से सम्बन्धित प्रयत्न** – भाण्ड, पात्र, भोज्यपदार्थ आदि को ग्रहण करना।

★ **भय संज्ञा से सम्बन्धित प्रयत्न** – नौकर–चाकर, आवासादि सुरक्षा–व्यवस्था करना।

★ **मैथुन संज्ञा से सम्बन्धित प्रयत्न** – ऐन्द्रिक विषय, विजातीय संसर्ग आदि भोगोपभोग करना।

★ **परिग्रह संज्ञा से सम्बन्धित प्रयत्न** – धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु आदि का संग्रह करना।

सामान्यतया इन संज्ञाओं को स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा इनकी पूर्त्ति को साहजिक एवं अनिवार्य कर्त्तव्य के रूप में माना जाता है, किन्तु जैनाचार्यों की दृष्टि में, यदि मोह का अभाव कर दिया जाए, तो संज्ञाएँ एवं तथाकथित अर्थ–दायित्व के निर्वाह की बाध्यता उत्पन्न ही नहीं होगी। अतएव अर्थोपार्जन करना संज्ञाजन्य दुःखों को उपशान्त करने के लिए केवल एक विवशता है। आत्म–साधना के द्वारा मोह एवं संज्ञाओं का अल्पीकरण करते हुए अर्थ की आवश्यकता का अल्पीकरण करना चाहिए। किसी अपेक्षा से यही अर्थ–प्रबन्धन की सम्यक् प्रक्रिया है।

उल्लेखनीय है कि सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. जे. के. मेहता ने भी इच्छाविहीनता (Wantlessness) को ही आदर्शात्मक स्थिति कहा है।[32] किसी दृष्टि से उनका अर्थ–दर्शन जैनधर्मदर्शन की अवधारणा की ही पुष्टि करता है।

10.1.6 जीवन में अर्थ की भूमिका

व्यवहार के धरातल पर अर्थ की उपयोगिता एक सर्वमान्य सत्य है। फिर भी, जीवन में अर्थ की भूमिका या स्थान को लेकर चार पक्ष हो गए हैं, जिनमें से सम्यक् पक्ष का चयन करना अर्थ–प्रबन्धक का अनिवार्य कर्त्तव्य है। ये पक्ष इस प्रकार हैं –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ **अर्थ के लिए अर्थ** – इस स्थिति में अर्थ का साध्य सिर्फ अर्थ ही बन जाता है, क्योंकि व्यक्ति अर्थ–संग्रह को ही सुख–आनन्द का आधार मान लेता है। उदाहरण के लिए मम्मण सेठ का कथानक जैनधर्म में प्रसिद्ध है, जिसने अर्थ को, जो मूलतः साधन है, साध्य मान लिया था और अपार सम्पत्ति होने के बाद भी जो दुःख और कष्ट पाता हुआ एवं जान को जोखिम में डालता हुआ अर्थोपार्जन में ही लगा रहा था। निश्चित तौर पर यह विकृत मानसिकता का परिणाम है।[33]

★ **भोग के लिए अर्थ** – इस स्थिति में अर्थ का साध्य एकमात्र भोगोपभोग करना होता है, क्योंकि व्यक्ति इसे ही अधिकतम सन्तुष्टि एवं सुख–आनन्द का कारण मानता है। प्राचीनकाल में चार्वाक–दर्शन की दृष्टि में भी जीवन का यही प्रयोजन रहा और वर्त्तमान काल में प्रो. रॉबिन्स आदि सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों एवं एक सामान्य आदमी की जीवन–दृष्टि भी यही है।

★ **धर्म के लिए अर्थ** – जब अर्थ का उद्देश्य नैतिक चारित्र की उन्नति हो, तब उसका साध्य धर्म हो जाता है। ऐसी स्थिति में अर्थार्जन और अर्थोपयोग दोनों ही धर्महेतु एवं धर्ममर्यादित हो जाते हैं। प्राचीनकाल में त्रिवर्गीय अवधारणा के अनुयायियों की विचारधारा इसी प्रकार रही। कहा भी गया है[34] –

विद्या ददाति विनयं, विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मः ततः सुखम्।।

★ **मोक्ष के लिए अर्थ** – इस स्थिति में अर्थ का परम–साध्य सर्व–इच्छाओं से विमुक्ति–रूप मोक्ष–दशा ही होती है, क्योंकि व्यक्ति इस सत्य को स्वीकार कर लेता है कि इच्छा ही दुःख का मूल है। वह शनैः–शनैः बाह्य–अर्थ की आवश्यकता को अल्प, अल्पतर और अल्पतम तथा आभ्यन्तर अर्थ (आत्मा) को शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम करता जाता है। इसी दृष्टि से जैन मुनि का यह आचार है कि वह आहार एवं उपधि को केवल संयम की साधना के लिए ही ग्रहण करे, न कि शारीरिक तन्दुरूस्ती/सुडौलता के लिए। कहा गया है – इस जगत् में मुनिराज ही सदा सुखी रहते हैं, क्योंकि वे आत्म–वैभव के सम्राट् होते हैं।[35]

ग्रहे आहार–वृत्ति पात्रादिक, संयम साधन काज।
देवचन्द्र आणानुजाई, निज संपत्ति महाराज।।

जैनाचार्यों के अनुसार एवं अर्थ–प्रबन्धन की दृष्टि से भी यह चतुर्थ पक्ष ही श्रेष्ठ है, जिसमें अर्थ रूपी साधन का भूमिकानुसार उचित–मात्रा में प्रयोग करते हुए, उस पर निर्भरता को शनैः–शनैः समाप्त कर दिया जाता है। अर्थ–प्रबन्धक के लिए भी यही नीति अनुकरणीय है।

इस प्रकार, जीवन में अर्थ की भूमिका या स्थान साधन के रूप में है, न कि साध्य के रूप में।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.1.7 अर्थ केन्द्र में अथवा परिधि पर

पूर्वोक्त चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है –

जब जीवन में अर्थ और भोग की प्रधानता होती है, तब तन, धन, परिजन आदि बाह्य–अर्थों का स्थान केन्द्र में होता है और व्यक्ति (आत्मा) का परिधि पर। किन्तु, जब धर्म और मोक्ष की प्रधानता होती है, तब व्यक्ति (आत्मा) का स्थान केन्द्र में होता है और अर्थ का परिधि पर। पहली स्थिति में अर्थ के लिए जीवन है, तो दूसरी में जीवन के लिए अर्थ। जैनाचार्यों के अनुसार, यह द्वितीय स्थिति ही अर्थ–प्रबन्धन के लिए उचित है।

10.1.8 आभ्यन्तर एवं बाह्य अर्थ में सम्बन्ध

जैसे–जैसे बाह्य अर्थ का आकर्षण, महत्त्व या उपयोग बढ़ता है, वैसे–वैसे आभ्यन्तर अर्थ (आत्मा) में क्रोधादि कलुषता, विकार तथा विभाव की मात्रा एवं तीव्रता भी बढ़ती हैं। अतएव जैनाचार्यों ने सीमित आवश्यकता एवं अनासक्तिपूर्ण जीवन की ही अनुशंसा की है।[36]

जैनधर्म में बाह्य–अर्थ को बाह्य–परिग्रह और आभ्यन्तर अर्थ में उत्पन्न होने वाले विकारी परिणामों को आभ्यन्तर–परिग्रह कहा गया है। बाह्य–परिग्रह में सभी भौतिक पदार्थ आते हैं, जबकि आभ्यन्तर–परिग्रह में राग–द्वेष एवं कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.2 जीवन में अर्थ का महत्त्व एवं स्थान

अर्थ–प्रबन्धन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीवन के विविध पक्षों – धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में अर्थ का क्या स्थान है, इसका तुलनात्मक विश्लेषण करना अत्यावश्यक है। इससे ही जीवन में अर्थ के महत्त्व एवं स्थान का सापेक्षिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

सामान्यतया मोहग्रस्त जीवन में विभिन्न संज्ञाओं (वासनाओं एवं इच्छाओं) से व्यक्ति आकुल–व्याकुल एवं सन्तप्त रहता है। उसके पास एकमात्र समाधान होता है – 'अर्थ'। 'अर्थ' के द्वारा ही वह वासनाओं की पूर्ति कर पाता है। अतः, ऐसी जीवनशैली में अर्थ की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता।

10.2.1 सामान्य व्यावहारिक जीवन में अर्थ की उपयोगिता[37]

एक आम आदमी के जीवन में 'अर्थ' निम्न कार्यों अथवा व्यवहारों की पूर्ति के लिए आवश्यक है –

- ★ जीवन–अस्तित्व की बुनियादी आवश्यकताओं (Basic Necessities of Life) अर्थात् रोटी, कपड़ा और मकान की पूर्ति का साधन।
- ★ जीवन की सुरक्षा का साधन (Means of Safety Measures)
- ★ शिक्षा–प्राप्ति का साधन (Means of Education)
- ★ चिकित्सकीय सुविधाओं का साधन (Means of Medical Facilities)
- ★ आवागमन का साधन (Means of Travellings & Transportation)
- ★ सम्प्रेषण का साधन (Means of Communications)
- ★ व्यापार एवं उद्योगों के संचालन का साधन (Means for operation of Trades & Industries)
- ★ जीवन–उपयोगी विविध उपकरणों एवं मशीनों के निर्माण एवं प्राप्ति का साधन (Means of Manufacturing & Procuring Various Equipments & Machines)
- ★ मनोरंजन का साधन (Means of Entertainment)
- ★ जीवन–सुविधाओं की प्राप्ति का साधन (Means of Comforts)
- ★ विलासिताओं का साधन (Means of Luxeries)
- ★ भविष्य सम्बन्धी वांछित एवं अवांछित आवश्यकताओं, जैसे – उच्च शिक्षा, विवाह, बीमारी, वृद्धावस्था आदि की पूर्ति का साधन (Means of Future Needs)
- ★ भूकम्प, महामारी, उपद्रवादि से उत्पन्न आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन (Means of Casual Needs)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ सामाजिक परिचय, प्रतिष्ठा एवं व्यवहार के निर्वाह का साधन (Means of Social Needs)

★ पर्यावरण के रख–रखाव का साधन (Means of Environmental Protection)

★ जीवन में उद्यमशीलता एवं सक्रियता बनाए रखने का साधन (Means for Being Busy & Active)

★ अन्यों की सेवा एवं सहयोग का साधन (Means for Services & Helps)

★ धार्मिक व्यवहार का साधन (Means for Religious Activities)

★ सुख, शान्ति एवं सन्तुष्टि का साधन, विशेषतः गरीबों, दीन–दुःखियों और कमजोरों के लिए।

इस प्रकार, 'अर्थ' से मनुष्य के सभी प्रयोजन (लौकिक एवं पारलौकिक) सिद्ध हो सकते हैं।[38] यही कारण है कि संसार में जिसके पास धन (अर्थ) होता है, उसे ही कुलीन, पण्डित, शास्त्रज्ञ, गुणवान्, गुणज्ञ, वक्ता और मनोज्ञ माना जाता है।[39]

10.2.2 अर्थ के महत्त्व सम्बन्धी विविध विचारधाराएँ

यद्यपि अर्थ के महत्त्व को सामान्य व्यक्ति से लेकर विद्वानों, दार्शनिकों, चिन्तकों, वैज्ञानिकों एवं साधकों ने एकमत से स्वीकार किया है, तथापि उसकी प्राथमिकता को लेकर इनमें मतभेद भी हैं। समस्त विचारधाराओं को प्रसंगतः तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है –

1) भौतिक विचारधारा 2) नैतिक विचारधारा 3) आध्यात्मिक विचारधारा

(1) भौतिक विचारधारा

इसके समर्थकों में संसार के अधिकतम व्यक्ति आते हैं। वे 'अर्थ' को भौतिक विकास का सशक्त साधन मानकर जीवन में सर्वोपरि स्थान देते हैं, किन्तु वे अर्थ के दुष्परिणामों को पूरी तरह से अनदेखा कर देते हैं।

भौतिकवादियों की मान्यता में 'अर्थ' की महत्ता कुछ इस प्रकार है –

★ सामान्य व्यक्ति कहता है – इस दुनिया में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं, जो धन के बिना अपना काम चला सके। जैसे श्वास शरीर का संचालन करती है, वैसे ही धन जीवन का। धन के अभाव में व्यक्ति की कोई कीमत नहीं, जैसे श्वास के अभाव में शरीर की।[40]

★ अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) कहते हैं – हमें अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है, सबको धनी बनाना है। इस मार्ग में नैतिक विचारों का हमारे लिए कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि ये न केवल अप्रासंगिक हैं, बल्कि उन्नति के मार्ग में बाधक भी हैं।[41]

★ चार्वाक दर्शन का मत है – जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष न होकर सांसारिक आनन्द और भोग–विलास ही है। जब तक जीवन है, तब तक सुखपूर्वक जीना चाहिए और सुख–प्राप्ति के लिए जैसे भी हो सके अर्थ की प्राप्ति कर लेनी चाहिए।[42]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यावज्जीवं सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः।।

इस प्रकार, भौतिक विचारधारा ने अर्थोपार्जन की प्रक्रिया में साधन–शुद्धि को भी अनदेखा कर जीवन में 'अर्थ' को एकान्त से सर्वोपरि स्थान दिया है। वर्त्तमान युग में इसका भयंकर दुष्प्रभाव स्पष्ट दिखता है। अर्थ के खातिर ही भ्रष्टाचार, घोटाले, दहेज, हत्याएँ, अपहरण, युद्ध आदि प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। जैनदृष्टिकोण इस विचारधारा से भिन्न है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

(2) नैतिक विचारधारा

यह सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए अपनाई गई एक प्राचीन व्यवस्था है, जो धर्म के अधीन अर्थ और काम के समन्वित सेवन पर जोर देती है। इसमें धर्म या नैतिकता से मर्यादित अर्थ को ही उचित माना गया है। यह अर्थ के अनैतिक (धर्मविरुद्ध) पक्ष को नकारती है और नैतिक (धर्मनियन्त्रित) पक्ष को प्रोत्साहित करती है। इसके दो प्रमुख सिद्धान्त हैं –

(क) अर्थ महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है।
(ख) धर्मविरुद्ध अर्थ महत्त्वहीन है, क्योंकि अर्थ की तुलना में धर्म या नैतिकता अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(क) अर्थ महत्त्वपूर्ण है – नैतिक विचारधारा में 'अर्थ' के लिए एक विवेक–सम्मत प्रशंसा का भाव है, क्योंकि इसमें 'अर्थ' को जीवनपर्यन्त उपादेय माना गया है। यद्यपि भौतिकवादी विचारधारा के समान इसमें भी अर्थोपार्जन को एक अनिवार्य कर्त्तव्य के रूप में देखा गया है, तथापि यह अर्थ को केवल भोग का ही नहीं, किन्तु नैतिक एवं चारित्रिक उन्नति का साधन भी मानती है। साथ ही, यह नैतिक विचारधारा अनुचित साधनों से किए जाने वाले धनार्जन को बिल्कुल भी उचित नहीं मानती है।

नैतिकवादियों की दृष्टि में अर्थ की महत्ता कुछ इस प्रकार है–

★ महाभारत में कहा गया है – धर्म का पालन पूर्णतः अर्थ–आश्रित है। जिसके पास अर्थ ही नहीं, वह अपना दायित्व–निर्वाह भी नहीं कर सकता। जिस तरह पहाड़ से नदियाँ निःसृत होती हैं, उसी प्रकार धन से धर्म, सुख, साहस, ज्ञान और गौरव। भौतिक दरिद्रता तो एक बुराई एवं पाप है।[43]

★ पंचतंत्र में कहा गया है – दुनिया में अपूज्य को पूजनीय, मूर्ख को बुद्धिमान् एवं अवन्दनीय को वन्दनीय माना जाता है, यह सब धन का प्रभाव है।[44]

★ कौटिल्य कहते हैं – निर्धनता तो जीते हुए भी मृत्यु के समान है, अतः निर्धनता की अपेक्षा मर जाना ही श्रेयस्कर है।[45] निराशावादी व्यक्तियों को चाहिए कि स्वयं को अमर मानकर अर्थोपार्जन करे, क्योंकि धनवान् सबको मान्य होता है, जबकि अर्थहीन इन्द्र भी संसार की दृष्टि में अमान्य है।[46] यह धन का महत्त्व है कि कुरूप को रूपवान् एवं निम्न को उच्च समझा जाता है।[47] समय (विपत्ति) आने पर ऐश्वर्य (अर्थ) की आवश्यकता पड़ती है।[48] धन के बिना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोई कार्य करना बालू में से तेल निकालने के समान है।[49] शुभ कार्य भी धन के माध्यम से आसान हो जाते हैं।[50] सुख का मूल धर्म है और धर्म का मूल अर्थ है, अतः अर्थोपार्जन करना ही चाहिए।[51]

(ख) धर्मविरूद्ध अर्थ महत्त्वहीन है – नैतिक विचारधारा में धर्म की तुलना में अर्थ को गौण माना गया है। कारण यह है कि अर्थ भले ही ऐन्द्रिक सुख की प्राप्ति और कामनाओं की सन्तुष्टि करने में सहायक हो, किन्तु वह स्वतः ही मानवीय उच्च–प्रयोजनों की प्राप्ति का माध्यम नहीं बन सकता।

अर्थ तब तक मूल्यहीन है, जब तक वह धर्मानुकूल नहीं हो जाता। अतः अर्थ को मूल्य (Values) की श्रेणी में लाने का श्रेय धर्म को ही है। कहना होगा – धर्म तो स्वतः मूल्यवान् है, किन्तु अर्थ परतः मूल्यवान् है।[52] अर्थ सिर्फ अर्थार्जन के लिए नहीं हो सकता, जबकि धर्म (कर्त्तव्य) सिर्फ धर्म के लिए हो सकता है। अर्थ हमेशा साधन रूप में ही होता है, जबकि सामाजिक जीवन में धर्म साध्य रूप में भी हो सकता है। यदि अर्थ को ही साध्य बना दिया जाए, तो व्यक्ति स्वच्छन्द होकर उचित–अनुचित साधनों का प्रयोग करके अर्थ का उपार्जन एवं उपभोग करने लगेगा।[53] इससे आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक आदि समस्त व्यवस्थाएँ चरमरा जाएँगी। अतः नैतिक विचारधारा में अर्थ की तुलना में धर्म (नैतिकता) को उच्चतर स्थान दिया गया है, जो उचित भी है।

संक्षेप में कहें तो, नैतिक विचारधारा की दृष्टि में जीवन इस प्रकार जीना चाहिए –

- ★ अर्थशून्य जीवन के स्थान पर अर्थ की आजीवन आवश्यकता को मानना चाहिए।
- ★ अर्थ के अनैतिक (नकारात्मक) पक्ष का त्याग कर नैतिक (सकारात्मक) पक्ष को स्वीकार करना चाहिए।
- ★ धर्म–अर्थ–काम का समन्वित सेवन करना चाहिए।
- ★ अर्थ को जीवन जीने का आवश्यक साधन मानना चाहिए, किन्तु जीवन का सर्वोच्चमूल्य तो धर्म को ही मानना चाहिए।

(3) आध्यात्मिक विचारधारा

यह मूलतः निवृत्तिमार्गी विचारधारा है, जिसमें धर्म–अर्थ–काम रूप त्रिवर्ग को स्वीकार करते हुए जीवन के चरम–साध्य के रुप में मोक्ष (अपवर्ग) को ही प्रतिष्ठित किया गया है। नैतिक विचारधारा के समान इसमें धर्म को अर्थ और काम की तुलना में उच्चतर स्थान तो दिया गया, किन्तु उसे चरम साध्य न मानते हुए एक साधन के रुप में ही स्वीकार किया गया है। इस प्रकार, इसमें चतुर्वर्ग–व्यवस्था (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) दी गई है।[54]

आध्यात्मिक विचारधारा में 'अर्थ' के सन्दर्भ में एक सापेक्षिक दृष्टिकोण दिया गया है। एक ओर 'अर्थ' को यथोचित महत्त्व दिया गया है, तो दूसरी ओर केवल मोक्षानुकूल अर्थात् मोक्ष में साधन रूप अर्थ के उपयोग पर ही बल दिया गया है। 'अर्थ' के अनैतिक या नकारात्मक पक्ष को नकार कर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकारात्मक पक्ष को समर्थन दिया गया है, किन्तु अर्थ को आजीवन आवश्यकता के रूप में नहीं, बल्कि एक कमजोरी या विवशता के रूप में ही माना गया है। अन्तिम लक्ष्य तो अर्थ या परिग्रह के सम्पूर्ण परित्याग को ही बताया गया है। यह विचारधारा साधक को अन्ततः अर्थ–भोग के मोहपाश से पूर्णतया छूटकर अर्थ–मुक्त अवस्था की प्राप्ति का ही निर्देश देती है। इस प्रकार यहाँ अर्थ का स्थान मोक्ष एवं धर्म की तुलना में निम्न है।

विविध आध्यात्मिक विचारधाराओं में अर्थ का महत्त्व कुछ इस प्रकार है–

इन विचारधाराओं में गीता, उपनिषद्, जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, नैयायिकदर्शन आदि प्रसिद्ध हैं। मूलतः इनमें मोक्ष के साधन रूप 'अर्थ' को ही सेवनीय बताया गया है।

★ **श्रीमद्भगवद्गीता की दृष्टि** – अर्थ और काम को धर्माधीन एवं धर्म को मोक्षाभिमुख होना चाहिए। यद्यपि धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ की बुद्धि राजसी होती है,[55] फिर भी जीवन में इनकी उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। गीता में स्पष्ट कहा है कि धर्मयुक्त, त्यागपूर्वक एवं वर्णानुसार आजीविकोपार्जन करना चाहिए। न धन की चिन्ता में डूबे रहना और न दानादि का अभिमान करना।[56] अन्यथा यह अर्थ ही धर्म एवं मोक्ष का विरोधी हो जाता है।

★ **बौद्ध विचारधारा** – इसमें भी निर्वाण को परम–प्रयोजन के रूप में तथा त्रिवर्ग को साधन रूप में मान्यता दी गई है। अर्थ को कभी धर्मविरुद्ध नहीं होना चाहिए। व्यक्ति को सदैव धर्मयुक्त व्यवसाय ही करना चाहिए।[57] उसे जीवन में न तो कृपण होना चाहिए और न ही अपव्ययी, बल्कि समुचित रूप से दान एवं भोग हेतु उपार्जित धन का उपयोग करना चाहिए, क्योंकि न तो धन के माध्यम से बुढ़ापा और मृत्यु से छुटकारा मिलता है और न ही मृत्यु के पश्चात् धन साथ जाता है।[58] साधक को चाहिए कि वह प्रमाद को छोड़े और परिश्रमपूर्वक धनार्जन करे। जैसे प्रयत्न करने से मधुमक्खी का छत्ता और चींटी का वाल्मीक बनता है, वैसे ही प्रयत्नशीलता से अर्थ–लाभ भी होता है।[59] अतः सर्दी–गर्मी अथवा देर होने का बहाना न बनाकर कठोर परिश्रम करना चाहिए।[60] इस प्रकार, उसे धर्म एवं मोक्ष (निर्वाण) के अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए साधना का विकास करना चाहिए।

यही सापेक्षिक विचारधारा प्रायः सभी भारतीय आध्यात्मिक–दर्शनों की है।

10.2.3 अर्थ की सीमाएँ एवं दोष

पूर्वोक्त तीनों विचारधाराओं के आधार पर कहा जा सकता है कि भौतिकवादी दृष्टि में अर्थ–भोग की, नैतिकवादी में धर्म की और अध्यात्मवादी में मोक्ष की प्रधानता है। इनमें अर्थ का मूल्य क्रमशः कम होता चला गया।

सभी आध्यात्मिक विचारधाराओं में अर्थ–साधन की उपयोगिता के बारे में विचार हुआ और यह निष्कर्ष निकला कि अर्थ एवं भोग की तुलना में मोक्ष ही जीवन का सही लक्ष्य है। इसके कारण हैं –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ अर्थ केवल आवश्यकताओं की पूर्ति का माध्यम है, किन्तु अभ्युदय (धर्म) और निःश्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति का नहीं।

★ अंतरंग में उत्पन्न इच्छाओं की सन्तुष्टि का माध्यम कोई निश्चित अर्थ (वस्तु) नहीं, बल्कि अनेक अर्थ हो सकते हैं।

★ किसी भी साधन में यह सुनिश्चितता नहीं है कि वह इच्छाओं की सन्तुष्टि कर ही देगा।

★ यह आवश्यक नहीं कि जो साधन एक बार सन्तुष्ट करता है, वह दोबारा भी सन्तुष्ट करेगा ही।

★ यह जरुरी नहीं कि जो साधन एक के लिए उपयुक्त हो, वह दूसरे के लिए भी उपयुक्त होगा ही।

★ यदि कोई आर्थिक साधन सफल हो भी जाता है, तो उससे प्राप्त सन्तुष्टि स्थायी नहीं होती। कुछ ही समय में दूसरी कामना जन्म ले लेती है, जिसकी सन्तुष्टि के लिए पुनः दूसरे साधनों की आवश्यकता पड़ती है।

★ सफल आर्थिक साधन की उपयोगिता भी प्रत्येक उपयोग के साथ घटती जाती है, जिसे आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने सीमान्त–उपयोगिता–ह्रास–नियम (Law of Diminishing Utility) के द्वारा बतलाया है।

उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर आध्यात्मिक विचारधाराओं ने ऐसे पुरूषार्थ की खोज की, जो सभी दोषों से रहित हो और दुःख का आत्यन्तिक वियोग कर सके। इसे ही मोक्ष या अपवर्ग कहा गया।[61]

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.3 जैन जीवनदृष्टि में अर्थ का महत्त्व

जैन जीवनदृष्टि भी मूलतः निवृत्ति–प्रधान एवं आध्यात्मिक विचारधारा है। अर्थ के सन्दर्भ में इसका दृष्टिकोण अन्य आध्यात्मिक विचारधाराओं के समान ही है। इसमें भी अर्थ के प्रति सापेक्षिक दृष्टिकोण ही अपनाया गया है, जिसे हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं –

10.3.1 अर्थ का स्थान : साध्य की दृष्टि से

पूर्णतः निवृत्ति–प्रधान होने के कारण जैनदर्शन यह मानता है कि मोक्ष ही जीवन का परम–पुरूषार्थ एवं परम--साध्य है।[62] इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम पुरूषार्थ मूलतः अनाचरणीय एवं हेय हैं। धर्म–पुरूषार्थ को भी विनाशी (अशाश्वत) एवं संसार परिभ्रमण का कारण मानकर हेय कहा गया है, क्योंकि धर्म–पुरूषार्थ के फलस्वरूप अधिक से अधिक स्वर्ग के भोगों की प्राप्ति ही हो सकती है और पुण्य का भोग पूर्ण हो जाने पर जीव पुनः संसार–परिभ्रमण के चक्र में फँस जाता है। फिर भी मोक्ष का साधन होने से इसकी उपयोगिता को स्वीकारा भी गया है। दूसरे शब्दों में, मोक्षानुकूल धर्म की उपादेयता को जैनाचार्यों ने मान्यता दी है। इसी कारण जैनदर्शन में मोक्ष एवं धर्म पुरूषार्थों पर बल दिया गया है। मोक्ष को परम–साध्य एवं धर्म को मोक्ष का साधन माना गया है। अतः यह निष्कर्ष अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि साध्य की दृष्टि से अर्थ एवं भोग दोनों का जैनदर्शन में कोई स्थान नहीं है।[63] इसकी पुष्टि निम्नलिखित उद्धरणों से प्राप्त होती है –

- ★ धर्म, अर्थ और काम नाशसहित तथा संसार–रोगों से युक्त हैं, अतः साधक को केवल मोक्ष का प्रयत्न ही करना चाहिए।[64]
- ★ धर्म, अर्थ और काम से परम सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः मोक्ष–प्रयत्न ही श्रेष्ठ है।[65]
- ★ अर्थ और काम अशुभ हैं, अर्थ से इसलोक और परलोक सम्बन्धी दोष होते हैं, जिनका दुष्परिणाम मनुष्य (कर्त्ता) को भोगना पड़ता है। अतः अर्थ ही अनर्थ का कारण है तथा मोक्ष–प्राप्ति में अर्गला (दरवाजे की सिटकिनी या आगल) के समान अवरोधक है।[66]
- ★ चार पुरूषार्थों में से केवल मोक्ष–पुरूषार्थ ही समीचीन, सुखदायी और सदा ध्रुव (स्थिर) रहने वाला श्रेष्ठ पुरूषार्थ है। शेष तीनों विपरीत स्वभावी हैं और इसीलिए त्याज्य हैं।[67] इनमें धर्म को छोड़कर शेष दो तो मोक्ष के साधन भी नहीं हैं।

10.3.2 अर्थ का स्थान : साधन की दृष्टि से

यद्यपि जैनाचार्यों ने साध्य के रूप में मोक्ष एवं साधन के रूप में धर्मपुरूषार्थ को स्वीकार किया है, किन्तु अर्थ एवं काम को सर्वथा हेय नहीं माना है। स्वच्छ आशययुक्त अर्थ को जैनदर्शन में मोक्षानुकूल साधना के लिए एक परोक्ष साधन के रूप में स्थान दिया गया है।

यदि कोई साधक धर्म एवं मोक्ष पुरूषार्थ के प्रति पूर्ण समर्पित तथा तत्पर हो, तो उसे अर्थ की किसी भी प्रकार से आवश्यकता नहीं होती, किन्तु ऐसी योग्यता के अभाव में उसे भूमिकानुसार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थोपार्जन करना अवश्यंभावी हो जाता है। अन्यथा वह भूख–प्यास रूप शारीरिक–वेदना तथा अपयश, अनादर, अप्रीति रूप मानसिक–वेदना से प्रभावित होकर असमाधि एवं अवसाद से ग्रस्त हो जाता है। साथ ही वह धर्म एवं मोक्ष से भी विमुख होकर नहीं चाहते हुए भी विसंगतियों का शिकार हो जाता है।

ऐसी अवांछनीय स्थिति से बचने के लिए तथा मोक्षानुकूल धर्म–साधना की अभिवृद्धि के उद्देश्य से साधक को न्याय–नीतिपूर्वक ही अर्थ–पुरूषार्थ करना चाहिए। इस प्रकार अर्थ परोक्ष–साधन के रूप में उपयोगी सिद्ध होता है। इस न्यायोपार्जित अर्थ के प्रति जैनदर्शन में सम्माननीय दृष्टिकोण है। डॉ. सागरमलजैन ने कहा है, "जो धर्म–अर्थ–काम परस्पर समन्वित होकर मोक्षाभिमुख होते हैं, वे जैनदर्शन के अनुसार आचरणीय हैं और जो मोक्ष–विमुख होते हैं, वे निश्चित रूप से अनाचरणीय एवं हेय हैं।"[68]

उपर्युक्त आशय को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित प्रमाण पर्याप्त हैं –

★ आर्य भद्र (ईसा की द्वितीय शताब्दी) के अनुसार, धर्म–अर्थ–काम को भले ही अन्य विचारक परस्पर विरोधी मानते हों, किन्तु जिनवाणी के अनुसार औचित्यपूर्ण ढंग से प्रयुक्त होने पर ये परस्पर अविरोधी हो जाते हैं। इस प्रकार, भूमिकानुसार किए जाने वाले धर्म–कार्य, स्वच्छ आशययुक्त अर्थ एवं सुमर्यादित काम परस्पर अविरोधी होते हैं।[69]

★ डॉ. सागरमल जैन के अनुसार, "जैनदर्शन में अर्थ एवं काम को एकान्त से हेय नहीं माना गया है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो भगवान् ऋषभदेव स्त्रियों की चौसठ तथा पुरूषों की बहत्तर कलाओं का विधान क्यों करते?"[70]

★ एक प्राकृत–सूक्ति के अनुसार, ब्राह्मण को ज्ञान से, क्षत्रिय को असि (सुरक्षाकार्य) से, वणिक् को वाणिज्य से तथा कर्मशील को शिल्पादि से धनार्जन करना चाहिए।[71]

★ जैन–परम्परा में मोक्षमार्ग के आराधकों के चार अंग मान्य हैं – साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका।[72] जहाँ साधु–साध्वी आर्थिक क्रियाकलापों को विराम देकर, गृह–त्याग कर मोक्षमार्ग की आराधना करते हैं, वहीं श्रावक–श्राविका गृहस्थ रहकर आवश्यकता एवं भूमिकानुसार अर्थोपार्जन करते हुए मोक्षमार्ग का अभ्यास करते हैं। यह संघ–व्यवस्था इस बात की द्योतक है कि जैनदर्शन में मोक्षमार्ग की निचली कक्षा में अर्थ का निषेध न करके मोक्षमार्ग की साधना के साथ उसका समन्वय किया गया है।

★ प्राचीन जैनशास्त्रों में अर्थशास्त्र सम्बन्धी अनेक उल्लेखों का मिलना अर्थ के महत्त्व को और अधिक स्पष्ट करता है, जैसे –

- अर्थ प्राप्ति से सम्बन्धित शास्त्रों को 'अत्थसत्थ' अर्थात् अर्थशास्त्र कहा गया है।[73]
- निशीथचूर्णी में अर्थार्जन करने की प्रक्रिया को 'अट्ठुप्पत्ति' कहा गया है।[74]
- प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि उस काल में अर्थशास्त्र विषयक ग्रंथ लिखे जाते थे।[75]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

- बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है कि आजीविकोपार्जन के लिए गृहस्थ अर्थशास्त्र का भी अध्ययन करते थे।[76]
- नन्दीसूत्र के अनुसार, वैनयिकी बुद्धि से मनुष्य अर्थशास्त्र आदि लौकिक शास्त्रों में निष्णात हो जाते थे।[77]
- ज्ञाताधर्मकथासूत्र के अनुसार, सम्राट् श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार अर्थशास्त्र का विद्वान् था।[78]
- वसुदेवहिण्डी में कहा गया है कि अगडदत्त कौशाम्बी निवासी आचार्य दृढप्रहारी के पास अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए ही गया था।[79]
- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भरत के सेनापति सुषेण को अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र दोनों में निपुण कहा गया है।[80]
- अधिक क्या कहना, आदि तीर्थंकर ऋषभदेवजी को जैन–परम्परा में अर्थ–व्यवस्था का आदिसंस्थापक माना गया है।[81]
- आदिपुराण के अनुसार, उन्होंने अपने पुत्र भरत के लिए अर्थशास्त्र का निर्माण किया था।[82]

इस प्रकार, गृहस्थोचित कर्त्तव्यों के सम्यक् निर्वाह के लिए जैन–परम्परा में अर्थ का महत्त्व माना जाता रहा है।

★ उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है कि भगवान् महावीर के काल में दस श्रेष्ठियों ने अपने अपार धन–वैभव को मर्यादित करते हुए व्रतमय जीवन व्यतीत किया था। इनके नाम इस प्रकार है[83] –

1) आनन्द
2) कामदेव
3) चुलनीपिता
4) सुरादेव
5) चुल्लशतक
6) कुण्डकौलिक
7) शकडालपुत्र
8) महाशतक
9) नन्दिनीपिता
10) सालिहीपिता

इसके अतिरिक्त, प्राचीनकाल से ही बड़े–बड़े चक्रवर्त्ती, सम्राट्, राजा–महाराजा, मंत्री, सेनापति, कोषाध्यक्ष एवं नगरसेठ आदि जैनधर्म के अनुयायी रहे हैं। इन्होंने अपनी–अपनी भूमिकानुसार धर्मानुकूल एवं मोक्षानुकूल अर्थोपार्जन किया था।[84]

★ जैन–पौराणिक कथाओं में भी अनेक बार प्राचीन सामाजिक संस्कृति के आधार पर अर्थ के महत्त्व को सूचित किया गया है, जैसे – समराइच्चकहा, कुवलयमालाकहा, पउमचरियं, कल्पसूत्र आदि।[85]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सार–रूप में जैन जीवन–दृष्टि में अर्थ का महत्त्व

साध्य अर्थात् मोक्ष की अपेक्षा से 'अर्थ' का महत्त्व नहीं है तथा उसके निकटवर्ती (अनन्तर) साधन की अपेक्षा से भी प्रत्यक्षतः 'अर्थ' का महत्त्व नहीं है, किन्तु मोक्षमार्गीय साधना की स्थिरता तथा उत्कर्षता के लिए 'अर्थ' परोक्षतः एक उत्तम साधन (परम्पर) बन सकता है। इस हेतु साधक को अपनी भूमिकानुसार एवं आवश्यकतानुरूप परिमित अर्थ–पुरूषार्थ करना चाहिए, ऐसा जैनधर्म का निर्देश है। श्रावक के पैंतीस मार्गानुसारी गुणों में न्यायोपार्जित धन को भी एक सद्गुण ही माना गया है।[86]

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.4 असन्तुलित, अमर्यादित एवं अव्यवस्थित अर्थनीति के दुष्परिणाम

जीवन में अर्थ के महत्त्व का सम्यक् निर्धारण करने के साथ–साथ सन्तुलित, सुमर्यादित एवं सुव्यवस्थित सम्यक् अर्थनीति का निर्माण करना भी अत्यावश्यक है। मेरी दृष्टि में, इस अर्थनीति के तीन पक्ष होने चाहिए, जो इस प्रकार हैं –

★ **सन्तुलित अर्थनीति** – वह नीति, जिसमें अर्थ के साथ–साथ जीवन के अन्य आवश्यक पहलुओं, जैसे – शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवार, समाज, धर्म, अध्यात्म आदि को उचित महत्त्व दिया जाए, सन्तुलित अर्थनीति है। इसमें किसी भी आवश्यक पहलू की न एकान्त से गौणता होती है, न मुख्यता, बल्कि साम्य (Equilibrium) होता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण महात्मा गाँधी के जीवन में झलकता है, जो नियमित रूप से प्रातः सात बजे सूत कातने के लिए चरखा चलाते थे (अर्थ क्रिया), सायं सात बजे प्रभु–प्रार्थना में डूब जाते थे (धर्म क्रिया) और शेष समय अपने बाकी कर्त्तव्यों का निर्वाह करते थे।

★ **सुमर्यादित अर्थनीति** – वह नीति, जिसमें मानवीय, सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक सभी मानदण्डों की मर्यादा के अनुरूप आर्थिक क्रियाएँ की जाएँ, सुमर्यादित अर्थनीति है। इसमें आर्थिक क्रियाकलापों के अतिरेक पर अंकुश लगाकर उचित आवश्यकताओं की पूर्त्ति का लक्ष्य होता है। आर्थिक–प्रक्रियाओं में साधन–शुद्धि, साध्य–शुद्धि, विधि–शुद्धि, स्थान–शुद्धि, समय–शुद्धि आदि के मापदण्ड सुनिश्चित किए जाते हैं। इसमें अर्थ का अर्जन कैसे करना? क्यों करना? किस प्रक्रिया से करना? कहाँ करना? कब करना? आदि का सुनिर्धारण किया जाता है।

★ **सुव्यवस्थित अर्थनीति** – वह नीति, जिसमें अर्थ की संप्राप्ति सुगमता, सहजता, सुप्रबन्धता, सुज्ञता और सुक्रमता के साथ की जाए, सुव्यवस्थित अर्थनीति है। यह अर्थोपार्जन के विविध साधनों – व्यक्ति, पूंजी, प्रबन्ध, भूमि आदि के सुसमन्वय पर जोर देती है।

10.4.1 आधुनिक युग में विद्यमान असन्तुलित, अमर्यादित एवं अव्यवस्थित अर्थनीति

वर्त्तमान में व्यक्ति ने प्रत्येक क्षेत्र में विकास किया है, आर्थिक क्षेत्र में भी वह समृद्धि, सम्पन्नता एवं सुविधा की अधिकाधिक प्राप्ति हेतु अग्रसर है। भौतिकवादी दृष्टिकोण से देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवन–स्तर में हुई अभिवृद्धि वर्त्तमान की सफल अर्थनीति का ही सुपरिणाम है। उत्पादन, वितरण एवं उपभोग सभी क्षेत्रों में अपूर्व उन्नति हुई है। सड़क, बिजली, दूरसंचार, परिवहन, जल, आवास आदि सुविधाएँ सुलभता से उपलब्ध हो रही हैं, यह सब आधुनिक अर्थनीति की ही देन है। किन्तु, आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण से देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति आज कोरा भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी (Self-centred) होता जा रहा है।[87] उसकी सेवा, सहयोग और सहृदयता की भावनाओं में दिनोंदिन कमी होती जा रही है। इससे अनेकानेक वैयक्तिक, सामाजिक एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजनीतिक विसंगतियाँ उत्पन्न हो रही हैं। इस तरह सर्वांग समीक्षा करने पर आधुनिक अर्थनीति की सफलता पर अनेक सवाल खड़े हो जाते हैं। संक्षेप में, इस अर्थनीति को हम सर्वथा गलत नहीं, किन्तु असन्तुलित, अमर्यादित एवं अव्यवस्थित अर्थनीति कह सकते हैं। इसका पर्यालोचन करना ही प्रस्तुत अनुच्छेद का उद्देश्य है, जिससे सम्यक् अर्थनीति के निर्माण का आधार बन सके एवं जीवन में अर्थ का सम्यक् प्रबन्धन हो सके।

आधुनिक अर्थनीति की विसंगतियों को निम्न बिन्दुओं से समझा जा सकता है –

(1) आधुनिक अर्थनीति के आधारभूत बिन्दु

- ★ आधुनिक अर्थनीति पूर्णतया भौतिकवादी है, जिसमें नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है।
- ★ इसमें आध्यात्मिक विकास तो दूर की बात, मानवीय दृष्टिकोण की भी उपेक्षा की जा रही है।
- ★ इसमें एकान्त से अर्थ को सर्वोच्च मूल्य मान लिया गया है, क्योंकि इसकी दृष्टि में अर्थ संसार की समस्त शक्तियों का केन्द्र है।[88]
- ★ इसके अनुसार, जीवन का लक्ष्य सिमटकर सिर्फ अर्थ तक ही सीमित हो जाता है।
- ★ इसमें समृद्धि, सुविधा और विलासिता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, क्योंकि इन्हें ही जीवन–स्तर (Status) की उन्नति का मापदण्ड मान लिया गया है।[89]
- ★ यहाँ अंतरंग सम्पन्नता के स्थान पर बाह्य–सम्पन्नता को ही समृद्धि एवं अमीरी का पैमाना मान लिया गया है, क्योंकि आधुनिक अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि ही विकास का सूचक है।[90]
- ★ इसका एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है – **'इच्छाओं को बढ़ाओ, अपना माल खपाओ और धन कमाओ'**,[91] क्योंकि अर्थशास्त्री ऐसा मानते हैं कि इच्छा से आवश्यकता बढ़ती है और आवश्यकता से बाजार में माँग। माँग बढ़ने से पूर्ति के प्रयत्न बढ़ते हैं। पूर्ति हेतु अधिक परिश्रम करके तथा अधिक संसाधनों का दोहन करके अधिक उत्पादन किया जाता है। यह उत्पादन ही उपभोक्ताओं की उद्दीप्त इच्छाओं की सन्तुष्टि करता है, जिससे वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।
- ★ इसमें न केवल इच्छाओं को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है, अपितु इच्छाओं को अनियंत्रित एवं असीम बनाने पर भी जोर दिया जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मुख्य सूत्र ही है – **'अनियंत्रित इच्छाएँ ही हमारे लिए कल्याणकारी और विकास का हेतु है। जहाँ इच्छाओं को नियंत्रित करेंगे, वहाँ विकास ही अवरुद्ध हो जायेगा।'**[92]
- ★ इसमें इच्छाओं के सीमाकरण की कोई व्यवस्था नहीं है, इसलिए बढ़ती हुई इच्छाएँ असंयमित, अनियंत्रित एवं असीम हो जाती हैं। उपभोक्ता की किसी वस्तुविशेष को लेकर उत्पन्न इच्छा एक बार के उपभोग से ही सदा के लिए शान्त नहीं हो जाती। यद्यपि उपभोग के पश्चात् वस्तु की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपयोगिता तो नष्ट हो जाती है, किन्तु एक अन्तराल के बाद पुनः इच्छा जाग जाती है और वह एक नई आवश्यकता बन जाती है। इससे पुनः माँग उठती है, माँग की पूर्त्ति के लिए उत्पादन बढ़ाया जाता है और उपभोक्ता बाजार से वस्तु का क्रय कर उसका उपभोग करता है। इस प्रकार यह अन्तहीन सिलसिला बना ही रहता है। इतना ही नहीं, ये इच्छाएँ सतत बढ़ती ही चली जाती हैं, इसे ही आधुनिक अर्थशास्त्री **प्रगतिशील आर्थिक–चक्र (Developing Economic cycle)** कहते हैं। आधुनिक अर्थनीति का मुख्य आधार ही है – आर्थिक–चक्र का विकास करना और इसकी कुंजी है – व्यक्ति के भीतर भौतिक इच्छाओं को उकसाना और भड़काना।[93]

★ आधुनिक अर्थनीति में **'खूब उत्पादन और खूब उपभोग'** के सूत्र को प्रधानता दी गई है। ऐसा माना जाता है कि इससे निम्न लाभ प्राप्त होंगे[94] –

- अधिक उत्पादन से गरीबी मिटेगी और धनाढ्यता बढ़ेगी।
- अधिक उपभोग से जीवन–स्तर उन्नत होगा, जीवन सुविधामय एवं विलासितायुक्त बनेगा।[95]
- बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजगार मिल सकेगा।
- विज्ञान एवं तकनीकी–विकास को प्रोत्साहन मिलेगा और इससे प्रकृति पर मनुष्य का प्रभुत्व बढ़ेगा।
- व्यक्ति की व्यस्तता बढ़ जाने से सामाजिक विकृतियों, जैसे – क्लेश–कलह, मारपीट, आपसी रंजिश, दंगे–फसाद, व्यर्थ की गप–शप, तमाशागिरी, प्रमाद आदि पर स्वतः अंकुश लग सकेगा। कहावत भी है – 'खाली दिमाग शैतान का घर'।
- इसके अतिरिक्त विश्वव्यापी आर्थिक प्रतिस्पर्धाओं का डटकर सामना हो सकेगा तथा विश्व में राष्ट्रीय वर्चस्व स्थापित हो सकेगा।
- राष्ट्रीय वर्चस्व स्थापित होने से राष्ट्र की भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं सामरिक सुरक्षा सुदृढ़ होगी।

★ आधुनिक अर्थनीति में इच्छाओं को उकसाने, बढ़ाने एवं भड़काने के लिए विविध संचार–साधनों (Mass Communication) को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इन साधनों के मुख्यतः चार प्रकार हैं[96] –

1) विज्ञापन (Advertisement)
2) लोक–प्रचार (Publicity)
3) व्यक्तिगत–विपणन (Personal Selling)
4) विपणन–प्रोत्साहन (Sales Promotion)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये साधन विविध मनोज्ञ–उत्पादों के लिए सूचित, प्रभावित एवं सम्मोहित करके व्यक्ति की सुप्त वासनाओं को जगा देते हैं।[97] ये वासनाएँ तब तक शान्त नहीं होती, जब तक कि वस्तु का उपभोग न हो जाए। इन साधनों की अनेकानेक खामियाँ हैं, जैसे[98] –

- ये अनावश्यक वस्तुओं को खरीदने और भोगने के लिए व्यक्ति पर मनोवैज्ञानिक रूप से दबाव डालते हैं।
- विज्ञापनों में भद्दी पोशाकों, अश्लील दृश्यों एवं फूहड़ शब्दों का प्रयोग होने से सामाजिक सभ्यता और संस्कृति का पतन होता है।
- इनमें धन का भी बहुत अधिक अपव्यय होता है। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है[99] –

वार्षिक विज्ञापन खर्च	1972	2002
भारत	74 करोड़ रूपए	कई गुना अधिक*
अमेरिका	23,130 मीलियम डॉलर	लगभग हजार गुना

*सन् 2012 में 30,704 करोड़ रूपए खर्च होने का अनुमान है।[100]

- विज्ञापनों में अधिकांशतः झूठी अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण जानकारियाँ ही दी जाती हैं। किसी ने कहा है – किसी समाचार पत्र की एक झलक लेने अथवा दूरदर्शन के समक्ष चन्द घण्टे बैठने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकतर विज्ञापन झूठे, अरुचिकर एवं सन्तापकारी होते हैं।[101]

★ आधुनिक अर्थनीति में कार्य की नैतिकता पर तो जोर है ही नहीं, साथ ही कार्यविधि में भी नैतिकता का स्थान नहीं हैं। यहाँ अर्थोपार्जन हेतु अपनाए जा रहे अवैधानिक शॉर्ट–कट्स, जैसे – रिश्वतखोरी, घोटाले, गबन आदि की रोकथाम के लिए नैतिक प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है। दूसरे शब्दों में, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के लिए कोई सम्माननीय स्थान नहीं है।

★ इसमें उत्पादन एवं उपभोग का महत्त्व इतना अधिक है कि प्राकृतिक संसाधनों (पर्यावरण) के अतिदोहन एवं प्रदूषण पर कोई नियंत्रण नहीं है।

★ आधुनिक अर्थनीति में निम्न प्रणालियों या व्यवस्थाओं को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है, जिनमें से कुछ उचित हैं, तो कुछ अनुचित भी –

- वैश्वीकरण (Globalization)
- निजीकरण (Privatisation)
- उदारीकरण (Liberalisation)
- विदेशी कम्पनियों को बढ़ावा (Promotion of Multinational Companies)
- यान्त्रिकीकरण एवं स्वचालीकरण (Mechanisation & Automation)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

- शस्त्रीकरण (Armament)
- तकनीकी विकास (Technological Development)
- सुविधा एवं विलासिता (Comforts & Luxeries)
- उपभोक्तावाद (Consumerism)
- संरचनात्मक विकास (Infrastructural Development)
- बृहद्स्तरीय उद्योग (Large Scale Industries)
- आयात–निर्यात (Foreign Trade)
- महानगरीय व्यवस्था (Metropolitan City's System)

इस प्रकार, एक सामान्य व्यक्ति इस अर्थनीति से आकर्षित होकर आर्थिक चक्रव्यूह में फँस जाता है। भले ही इस अर्थनीति का सपना प्रियकर, चित्ताकर्षक और मनोज्ञ है, फिर भी जैनदृष्टि के आधार पर इसे हितकर नहीं कहा जा सकता। इच्छाओं की असीमता और संसाधनों की सीमितता के फलस्वरूप अनेक विसंगतियाँ पैदा हो जाती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में इसीलिए कहा गया है[102] –

सुवण्ण–रुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा उ आगास समा अणन्तिया।।

कदाचित् कैलास के समान सोने एवं चाँदी के असंख्य पर्वत प्राप्त हो जाएँ, फिर भी लोभी पुरुष को उनसे तृप्ति नहीं होती, क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।

(2) आधुनिक अर्थनीति के भयावह दुष्परिणाम

अभी तक हमने आधुनिक अर्थनीति के सैद्धान्तिक पहलुओं एवं उनकी प्रमुख कमियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, किन्तु जो अतिचिन्तनीय एवं अन्वेषणीय विषय है, वह है – इस अर्थनीति के दुष्परिणाम, जिनसे वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में अत्यधिक हानियाँ हो रही हैं तथा जिन्हें रोकना समय की माँग है। इन दुष्परिणामों का वर्णन इस प्रकार है –

★ **अर्थ के लिए जीवन** – यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आज अर्थ जीवन के लिए नहीं रहा, बल्कि जीवन ही अर्थ के लिए समर्पित हो गया है। दूसरे शब्दों में, अर्थ साधन न रहकर स्वयं ही साध्य बन गया है।[103]

★ **मृगतृष्णा** – प्रत्येक व्यक्ति असीमित एवं अनियंत्रित इच्छाओं के दबाव में पैसे और पदार्थ के लिए ही भाग–दौड़ कर रहा है, जिसे जैनाचार्यों ने 'मृगतृष्णा' की उपमा दी है।[104] कहा जा सकता है कि अर्थ के साथ जीवनयात्रा करने वाला आज 'अर्थ' के पीछे भाग रहा है।

★ **अर्थ की दासता** – अर्थ जीवन–निर्माण का माध्यम नहीं रहा, बल्कि जीवन स्वयं अर्थ का गुलाम बन गया। अर्थ और जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार हो गया है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ का स्थान	व्यक्ति का स्थान	अर्थ का स्थान	व्यक्ति का स्थान
केन्द्र	परिधि	नचाने वाला	कठपुतली
साध्य	साधन	अधिकारी	अधीनस्थ
ध्येय	माध्यम	शासक	शोषित
लक्ष्य	मार्ग	अपेक्षित	उपेक्षित
स्वामी	सेवक	प्रमुख	गौण

★ **असन्तुलित जीवन** – अर्थ की तुलना में जीवन के अन्य पक्षों की अत्यधिक उपेक्षा हो रही है, जैसे – शरीर, परिवार, समाज, पर्यावरण, धर्म, अध्यात्म आदि। वस्तुतः, 'पैसे से सब कुछ मिल जाएगा', ऐसा मानने वाले मानव ने आज पैसे के लिए अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया है।[105]

★ **दुष्कर्म** – व्यक्ति अर्थ के लिए कुछ भी करने को तैयार है। यही कारण है कि शराब, सिगरेट, पान–मसाला, शीतल–पेय आदि का सेवन एवं जुआ, अपहरण, हत्याएँ, नरसंहार आदि दुष्कार्य आजकल खुलेआम हो रहे हैं।[106]

★ **अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा** – आज व्यक्ति पर सबसे अधिक अमीर बनने का जुनून सवार है। वह सिर्फ अर्थ–प्राप्ति से नहीं, अपितु दूसरों की तुलना में सबसे अधिक अर्थ–प्राप्ति करके सन्तुष्ट होना चाहता है, जो कभी सम्भव नहीं है। इससे सामाजिक विघटन की दशा भी उत्पन्न हो रही है। दुनिया की सारी पूंजी कुछ हजार लोगों के हाथ में ही केन्द्रित हो गई है।[107] यही आर्थिक विषमता विद्रोह की जननी है, क्योंकि जहाँ एक तरफ 40% जनता गरीबी–रेखा के नीचे जी रही है,[108] वहीं 1–2% लोग अति अमीरी की विलासिता में डूबे हुए हैं।

★ **बाहर में दिवाली, भीतर में दिवाला** – अधिकांश लोग बाहर तो ऊँचे जीवन–स्तर का प्रदर्शन कर रहे हैं, जबकि वास्तविकता में वे कर्ज में डूबे हुए हैं। इस प्रकार 'ढोल में पोल' जैसी स्थिति है, जिसका परिणाम यह है कि कई सुप्रतिष्ठित एवं नामीगिरामी खानदान भी करोड़पति से रोड़पति हो रहे हैं। साथ ही कइयों के उद्योग सील तथा सम्पत्ति कुर्क हो रही है। सन् 2009 में आए विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का मुख्य कारण यही अविचारित ऋण लेने की वृत्ति है। गौर करने योग्य है कि अकेले अमेरिका में ग्यारह करोड़ परिवार हैं, जिनके पास 120 करोड़ क्रेडिट–कार्ड हैं, जबकि अधिकतम परिवारों में दो ही सदस्य हैं।[109]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अमेरिका की दयनीय आर्थिक दशा[110]

वर्ष	कर्ज
1950	2 खरब, 57 अरब डॉलर
1980	9 खरब, 30 अरब डॉलर
1990	23 खरब, 30 अरब डॉलर
2000	56 खरब, 74 अरब डॉलर
2007	79 खरब डॉलर
2008	90* खरब डॉलर

*अमेरिकी बैंकों एवं कम्पनियों द्वारा दुनिया भर से लिए कर्जों को शामिल करने पर यह आँकड़ा 260 खरब डॉलर तक पहुँच जाता है।

आज यही स्थिति प्रायः कई अन्य देशों की भी है।

★ **आर्थिक विषमता** – आर्थिक विषमता सतत बढ़ रही है, आर्थिक संस्थाओं और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अथक प्रयासों के बाद भी विश्व में आज आठ सौ मिलियन से भी अधिक लोग भूखे पेट सोते हैं तथा दो बिलियन से भी अधिक लोग गरीबी रेखा के नीचे जीवन–यापन कर रहे हैं। अमीर–गरीब के बीच की यह खाई निरन्तर बढ़ती ही जा रही है।[111]

★ **अमर्यादित उपभोग** – बाजारों में चित्ताकर्षक उत्पादों की आकृति, रंग, रूप, डिजाइन, पेकिंग आदि से सम्मोहित होकर व्यक्ति की भोगवृत्ति निरन्तर बढ़ती जा रही है, परिणामतः वह अनावश्यक एवं हानिकारक उपभोगों का सेवन भी अमर्यादित ढंग से कर रहा है।

★ **अनावश्यक अपव्यय** – आवश्यकता से अधिक उत्पादन होने पर 'खूब उत्पादन' की नीति कभी–कभी 'खूब नुकसान' की जननी बन जाती है, क्योंकि उत्पादों के उत्पादन, परिवहन, भण्डारण एवं रख–रखाव पर तो व्यय होता ही है, साथ ही कभी–कभी अतिरिक्त/अनुपयोगी उत्पादों को नष्ट करने के लिए भी व्यय करना पड़ता है, जैसे – विषम परिस्थितियों में लाखों टन अनाज को समुद्र अथवा बॉयलर में नष्ट करना पड़ जाता है।

★ **पर्यावरण प्रदूषण** – व्यक्ति ने अर्थ–वासना में पड़कर पर्यावरण का अतिदोहन किया है एवं उसे प्रदूषित करके भावी पीढ़ी के अस्तित्व के लिए ही खतरा पैदा कर दिया है।

★ **पशु धन का ह्रास** – अर्थ–प्राप्ति के लोभ में लोभान्ध होकर लाखों टन मांस एवं अन्य पशु–उत्पादों का प्रतिदिन उत्पादन हो रहा है, जिससे पशु धन भी घट रहा है।[112]

★ **अमानवता** – मानव अपने मूलभूत आचारों, कर्त्तव्यों एवं नियमों की भी उपेक्षा कर दानव के समान कार्य करने में लगा है, जैसे –

- हत्या की सुपारी लेना या देना।
- सम्पत्ति या धन हड़पना।
- दूसरों की जमीन को हड़पना अथवा उस पर अतिक्रमण करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

- मकान–दुकान–गोडाउन किराए पर लेकर खाली नहीं करना।
- जुआ–सट्टा खेलना।
- गुण्डे–बदमाश आदि की मदद से आर्थिक वसूली करना/करवाना।
- तस्करी, स्मगलिंग, अपहरण, नकली नोट, नकली दवाइयाँ, नकली स्टाम्प, नकली पंजीयन आदि राष्ट्र–विरोधी कार्य करना।
- चोरी, लूट–पाट एवं डकैती आदि करना।
- व्यावसायिक गोष्ठियों में शराब, सिगरेट, मांस आदि का सेवन करना/कराना।
- अफसर, ग्राहक आदि को खुश करने के लिए वेश्याओं अथवा कॉल–गर्ल्स की व्यवस्था करना इत्यादि।

★ **भ्रष्टाचार** – आचार्य भद्रबाहु कहते हैं – सम्पूर्ण जिनवाणी का सार 'आचार' है।[113] आचार्य मनु भी कहते हैं – आचार ही प्रथम धर्म (कर्त्तव्य) है।[114] किन्तु, आज भ्रष्टाचार की जड़ें गहरी पैठती जा रही हैं। आज का जीवनसूत्र है – 'पैसा खिलाओ और काम कराओ'। इसका एक उदाहरण है – सन् 1997 की स्वतः प्रकटीकरण योजना (V.D.S.), जिसमें 33 हजार करोड़ रूपए के काले धन की घोषणा लोगों ने की। आश्चर्यजनक है कि यह राशि भी वास्तविक काले धन की केवल 3% ही थी।[115]

★ **शोषण** – अर्थ के कारण ही कम से कम पारिश्रमिक देकर अधिक से अधिक काम करवाने की वृत्ति बढ़ रही है।[116]

★ **वेश्यावृत्ति** – कहीं–कहीं तो देह–व्यापार (वेश्यावृत्ति) जैसे अमानवीय कार्य के लिए भी लायसेन्स दिए जा रहे हैं।

★ **आपराधिक वृत्तियाँ** – इसमें भी अर्थ एक महत्त्वपूर्ण कारण है। चोरी, डकैती, लूट–पाट, हत्या, अपहरण जैसे आपराधिक कृत्यों की जड़ में धन ही काम कर रहा है। अर्थ की समस्या न हो तो इतनी संख्या में जेल, कोर्ट, वकील, पुलिस, जज एवं अपराधी न बढ़ते।[117]

★ **पारिवारिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा** – अर्थ–केन्द्रित अर्थनीति से पारिवारिक सम्बन्धों में आत्मीयता एवं संवेदनशीलता का बहुत अधिक ह्रास हुआ है। राम–भरत, महावीर–नन्दीवर्द्धन, कृष्ण–बलराम जैसा भ्रातृ–प्रेम तो विरल हो गया है। हाँ! जायदाद को लेकर झगड़े, मारपीट, हत्या एवं कोर्ट–केस होना आम बात हो गई है। इसका एक उदाहरण है – अम्बानी बन्धुओं के बीच सम्पत्ति के बँटवारे को लेकर विवाद होना। आज अर्थोपार्जन में अतिव्यस्त होने से व्यक्ति न माता–पिता की सेवा, न पत्नी से स्नेह और न ही बच्चों की उचित परवरिश कर पा रहा है। इससे न केवल मतभेद, बल्कि मनभेद भी बढ़ते जा रहे हैं। किसी समृद्ध परिवार की झलक है – **'बाप मीटिंग में, माँ पार्टी में और बच्चा आया की गोद में'।**[118]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ **सामाजिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा** – वर्त्तमान में **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**[119] की भावना को मिटाकर व्यक्ति व्यक्तिवादी एवं स्वार्थी बनता जा रहा है। जहाँ प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभावना[120] जन–जन में व्याप्त थी, वहीं आज का जीवन–सूत्र बन गया है – **'मैं, मेरा धन, मेरी सम्पत्ति एवं मेरी प्रतिष्ठा'**। इस प्रकार की स्वार्थपरक सोच से दूसरों के प्रति असम्मान एवं अनादर की भावना बढ़ रही है। इससे न केवल सामाजिक विकास अवरुद्ध हुआ है, अपितु समाज से प्राप्त होने योग्य उचित मार्गदर्शन, अनुभव एवं शिक्षाओं से भी व्यक्ति वंचित हो रहा है, क्योंकि आपसी दूरियाँ बढ़ रही हैं तथा स्वस्थ संवाद का अभाव हो रहा है।

★ **असन्तोष** – आज जिस गति से इच्छाएँ बढ़ रही हैं, उस गति से संसाधनों की आपूर्ति नहीं हो रही है और न ही हो सकती है। व्यक्ति भले ही इच्छाओं को अनन्त कर ले, किन्तु साधनों को अनन्त नहीं बना सकता। कहा भी जाता है – **Desires may be unlimited, but the means are always limited**।[121] इसका यही परिणाम है कि समृद्धि एवं सम्पन्नता के बावजूद व्यक्ति असन्तोष से ग्रस्त है।

★ **तनाव** – यह वर्त्तमान युग का सर्वाधिक प्रचलित रोग है। व्यवसाय अथवा पेशे के अन्तर्गत कार्यों की जटिलता, समस्याओं की संगीनता, सफलताओं की अनिश्चितता एवं अन्य कारणों से व्यक्ति हैरान, परेशान तथा तनावग्रस्त रहता है।[122]

★ **प्रलोभन** – आज नेता, अफसर, व्यापारी, उपभोक्ता आदि सभी की नीति एवं नीयत 'अर्थ' के प्रलोभन में पड़कर डगमगा रही है। आत्मा की आवाज दब रही है, जबकि लोभ प्रबल हो रहा है।[123]

★ **भय** – अर्थ के उपार्जन एवं संरक्षण के लिए व्यक्ति अत्यधिक सन्देहशील, संवेदनशील तथा भयभीत रहने लगा है। उसे प्रतिसमय व्यापार में घाटे का भय, आर्थिक प्रतिस्पर्धा में पिछड़ने का भय, लुट जाने का भय, अपहरण का भय और मृत्यु का भय सता रहा है।[124]

★ **ईर्ष्या** – जैसे–जैसे अर्थ का आकर्षण बढ़ रहा है, वैसे–वैसे ईर्ष्या–भावना भी बढ़ रही है तथा प्रमोद–भावना ओझल होती जा रही है। बड़े–बड़े धनिक लोगों में भी ईर्ष्या–वृत्ति का आधिक्य देखने को मिल रहा है।[125]

★ **मनोरोग** – अर्थ–केन्द्रित नीति से निरन्तर अर्थ सम्बन्धी चिन्ताएँ सताती रहती हैं। इससे मानसिक निराशा, अवसाद, अशान्ति, अस्थिरता, क्षोभ, चिड़चिड़ापन, उत्तेजना, चंचलता, मनोदैहिक रोग (Psychosomatic Diseases) आदि बढ़ रहे हैं। अनिद्रा अथवा अतिनिद्रा की समस्या होना आज सामान्य बात है। सिरदर्द, आधाशीशी (Migrain), चक्कर, मिर्गी, लकवा एवं ब्रेन हैमरेज आदि खतरनाक रोग भी अर्थ के कारण ही बढ़ रहे हैं।

★ **शारीरिक रोग** – व्यावसायिक–भार की अधिकता होने से शरीर की उचित देखभाल भी नहीं हो पा रही है। प्रायः सभी शारीरिक गतिविधियों, जैसे – जागना–सोना, खाना–पीना,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चलना–फिरना, श्रम–विश्राम आदि में नियमितता, समयबद्धता तथा सम्यक् परिमाणता का बहुत अधिक अभाव हो रहा है। इससे अनेकानेक शारीरिक रोग एवं विकार उत्पन्न हो रहे हैं, जैसे – मोटापा, कब्ज, अपच, उच्च रक्तचाप, निम्न रक्तचाप, हृदयरोग, मधुमेह आदि।

★ **असंयमित वाक्व्यवहार** – आज रिझाने, बहकाने और फुसलाने का प्रयत्न बढ़ा है। इससे अशिष्ट, असभ्य, अमर्यादित, अहितकर, अपरिमित, असत्य एवं अप्रिय वचनों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। व्यक्ति लोभ की पूर्त्ति के लिए चाटुकारिता, चापलूसी एवं मौकापरस्ती से युक्त वाणी का प्रयोग अधिक करने लगा है। साथ ही लोभ की पूर्त्ति न होने पर अशिष्ट, असभ्य, अश्लील, अपमानजनक एवं तुच्छ शब्दों का प्रयोग भी बेहिचक कर रहा है। **'सत्यमेव जयते'**[126] के सिद्धान्त को भूलाकर झूठ को प्रगति का माध्यम मान बैठा है।

★ **बढ़ता पापाचार** – जो आत्मा को पतन की ओर ले जाता है, वह पाप है।[127] जैनाचार्यों ने अठारह पापस्थानकों[128] के सेवन से बचने का उपदेश दिया है, किन्तु आज व्यक्ति पूर्ण तन्मय होकर त्रियोग (मन, वचन एवं काया सहित) एवं त्रिकरण (करना, कराना एवं अनुमोदन करने सहित) से इनका सेवन कर रहा है। इतना ही नहीं, वह पाप–सेवन को अनिवार्य एवं उचित भी मान रहा है। यह गिरते हुए संस्कारों की ही अभिव्यक्ति है।

★ **पुण्य का व्यय, पाप की आय** – पूर्वसंचित पुण्य कर्मों को भोगकर नवीन पाप कर्मों का संचय करना जीवन के 'टोटल लॉस' (दिवाला) के समान है। आज यही हो रहा है। जैनाचार्यों के अनुसार, इन पाप कर्मों का फल अनन्तकाल (70 कोडाकोडी सागरोपम) तक भी भोगना पड़ सकता है।[129] आशय यह है कि व्यक्ति कर्म करने में तो स्वतंत्र है, किन्तु उनका फल भोगने में स्वतंत्र नहीं।[130]

★ **नैतिक सिद्धान्तों का पतन** – बचपन से ही माता–पिता, बुजुर्गों, गुरुजनों आदि हितैषियों से नैतिक, चारित्रिक तथा धार्मिक हितोपदेश प्रायः सभी को प्राप्त होते हैं। इससे बालक में देश–प्रेम, समाज–प्रेम, पशु–प्रेम, प्रकृति–प्रेम आदि कोमल भावनाएँ अंकुरित, पोषित, पल्लवित एवं फलित होती हैं, किन्तु शिक्षार्थी से धनार्थी बनते ही नैतिक आदर्श एवं मूल्य लुप्त हो जाते हैं तथा इनके स्थान पर कठोरता, निर्दयता एवं स्वार्थ के संस्कार बहुत शीघ्र पनपने लगते हैं। उदाहरणस्वरूप–

शिक्षार्थी	**धनार्थी**
सबके साथ वही व्यवहार करो, जो तुम्हें अपने लिए पसन्द है[131]	जितना चूस सको, उतना चूस लो
व्यक्ति को सिर्फ पेट के लिए कमाना चाहिए	**मुझे तो पेटी के लिए कमाना है**
जीओ और जीने दो	जीवो जीवस्य भोजनम्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यही आज की दशा है। जैसे–जैसे अर्थ का आकर्षण बढ़ रहा है, वैसे–वैसे व्यक्ति की नैतिकता का पतन होता जा रहा है। यह पथभ्रष्टता सामाजिक संस्कृति एवं सभ्यता को विनष्ट कर रही है।

★ **दुःख एवं अशान्ति** -- व्यक्ति ने अर्थ को सुख–शान्ति का साधन तो माना, किन्तु सम्यक् अर्थ–प्रबन्धन के अभाव में उसे ही दुःख एवं अशान्ति का साधन बना दिया। आज व्यक्ति अनुकूलता में सुख का अनुभव तो करता है, किन्तु जैसे ही आर्थिक बाधा और कठिनाई आती है, वैसे ही वह दुःखी हो उठता है तथा धीरे–धीरे दुःख और परेशानी के भाव ही उसके चेहरे के स्थायी भाव बन जाते हैं।[132]

★ **मिथ्यात्व एवं कषायों का पोषण** – वर्त्तमान युग में अर्थ का साध्य न धर्म रहा है और न मोक्ष, इसका दुष्परिणाम यह है कि हमारी आर्थिक क्रियाएँ ही मिथ्यात्व एवं कषायों को प्रगाढ़ करने में सहायक हो रही हैं, जबकि जैनाचार्यों ने स्पष्ट हिदायत दी है –

धनेन हीनोऽपि धनी मनुष्यो, यस्यास्ति सम्यक्त्वधनं महार्घ्यं।
धनं भवेदेकभवे सुखार्थं, भवे भवेऽनन्त सुखी सुदृष्टिः।।

अर्थात् जिसके पास समकित (Right Vision) रूपी अमूल्य धन है, उसे धनहीन होने पर भी धनवान् समझना, क्योंकि धन तो एक भव में ही सुखदायक है, परन्तु समकित तो भव–भव में अनन्त सुखदायक है।[133]

इस प्रकार, हमने आज की अमर्यादित, असन्तुलित और अव्यवस्थित अर्थनीति तथा उसके दुष्परिणामों की सुविस्तृत समीक्षा की। ये दुष्परिणाम निश्चित रूप से चिन्ताजनक, कष्टप्रद और भयावह हैं। इनके निवारण हेतु आवश्यकता है – जैनआचारमीमांसा के आधार पर अर्थ–प्रबन्धन की, जिसकी चर्चा अब की जा रही है।

=====❮❁❯=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.5 जैनआचारमीमांसा के आधार पर अर्थ–प्रबन्धन

अर्थ–प्रबन्धन की पद्धति मूलतः 'अर्थ' के सम्यक् सीमाकरण से सम्बन्धित है। व्यक्ति अपनी आर्थिक–प्रक्रियाओं में 'अति' और 'अल्प' की विसंगतियों से बचता हुआ उचित आवश्यकताओं की पूर्त्ति का ही प्रयत्न करे, यही अर्थ–प्रबन्धन का ध्येय है।

इस हेतु अर्थ–सम्बन्धी दो पक्षों पर चर्चा आवश्यक है –

★ अर्थ का सैद्धान्तिक या दार्शनिक पक्ष ★ अर्थ का प्रायोगिक या व्यावहारिक पक्ष

सैद्धान्तिक–पक्ष का सम्बन्ध एक ऐसे सूक्ष्म, यथार्थ और निष्पक्ष दृष्टिकोण से है, जिससे अर्थ के सन्दर्भ में व्यक्ति के भ्रामक, ऐकान्तिक और सतही दृष्टिकोण का निराकरण हो सकता है। इसी प्रकार प्रायोगिक–पक्ष का सम्बन्ध उस जीवन–व्यवहार से है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी भूमिकानुसार जीता हुआ अर्थ–प्रबन्धन के लक्ष्यों की सफल प्राप्ति कर सके। वस्तुतः, सैद्धान्तिक–पक्ष और प्रायोगिक–पक्ष दोनों अभिन्न हैं, क्योंकि एक 'आधार' है, तो दूसरा 'आधेय', एक 'विचार' है, तो दूसरा 'आचार' और एक 'योजना' है, तो दूसरा 'क्रियान्वयन'। सैद्धान्तिक–पक्ष से प्राप्त दृष्टि ही प्रायोगिक–पक्ष के लिए पथ–प्रदर्शक है, जबकि प्रायोगिक पक्ष के द्वारा स्थापित व्यवहार–नीति ही जीवन–प्रबन्धक के सम्यक् आर्थिक व्यवहार का आधार है। इस प्रकार अर्थ–प्रबन्धन में दोनों की ही उपयोगिता है।

सर्वप्रथम अर्थ–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्ष की चर्चा की जा रही है –

10.5.1 जैनआचारमीमांसा में अर्थ–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक–पक्ष

(1) अर्थ–प्रबन्धन की पृष्ठभूमि

आधुनिक अर्थनीति के कतिपय दोषों और उनके अतिखतरनाक दुष्परिणामों का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि अधिकांश लोग इससे प्रभावित हो रहे हैं। यह एक सार्वभौमिक समस्या बन चुकी है। इसमें व्यक्ति की दशा उस दयनीय मकड़ी के समान है, जो अपने बुने जाल में स्वयं ही फँसकर तड़प–तड़प कर मर जाती है।

आखिर, लाभ के लिए किए जा रहे अर्थ सम्बन्धी अथक प्रयत्न नुकसानदेय क्यों सिद्ध हो रहे हैं? आखिर व्यक्ति के जीवन से सुख, शान्ति एवं आनन्द क्यों गायब हो रहे हैं? यह आधुनिक अर्थनीति के लिए एक प्रश्न–चिह्न है।

जैन जीवन–दृष्टि के आधार पर देखें, तो आधुनिक अर्थनीति की मूल भूल है – इसका केवल भौतिकवादी होना।[134] भौतिकवादी अर्थनीति भले ही बाह्य समृद्धि और सुविधा प्रदान कर सके, किन्तु जीवन में सुख–शान्ति का संचार नहीं कर सकती। इतना ही नहीं, यह अर्थ की लक्ष्यविहीन एवं अन्तहीन दौड़ को प्रारम्भ और गतिशील तो कर देती है, किन्तु उस पर आवश्यक अंकुश और विराम नहीं लगा पाती। सोचनीय है कि जहाँ अंकुश नहीं होगा, वहाँ मर्यादाओं का पालन कैसे होगा, जहाँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विराम नहीं होगा, वहाँ विश्रान्ति कैसे मिलेगी और जहाँ विराग (अनासक्ति) नहीं होगा, वहाँ स्थायी परम–शान्ति कैसे प्राप्त होगी? इस प्रकार, भौतिकवादी अर्थ–व्यवस्था में व्यक्ति की तृष्णा बढ़ती तो जाती है, किन्तु तृप्ति नहीं हो पाती।

आधुनिक युग के औरंगजेब, नेपोलियन, हिटलर, सद्दाम हुसैन या वीरप्पन क्यों न हो अथवा प्राच्य युग के सुभूम चक्रवर्ती, धवल सेठ, रावण, कंस, दुर्योधन, मम्मण या सिकन्दर क्यों न हो, इनके जीवन–विनाश का मुख्य कारण भौतिकवाद की प्रमुखता ही रही है।

यह भौतिकवाद ही है, जिसके कारण आज भ्रष्टाचार, अराजकता और अनाचार बढ़ रहे हैं, राजनीति बदनाम हो रही है, समाज विघटित हो रहा है, परिवार टूट रहे हैं, स्वार्थ पनप रहा है, संस्कृति नष्ट हो रही है, मानव दानव बन रहा है, मस्तिष्क खोखला और मनोभावनाएँ शुष्क हो रही हैं, सिद्धान्त खूँटी पर लटके हैं, संस्कार लुप्त हैं। व्यक्ति मनुष्य को पशु और पशु को कीड़े–मकोड़े जैसा मान बैठा है। अधिक क्या कहना, पूर्व–वर्णित समस्त दुष्परिणामों की मूल जड़ भौतिकवाद ही है।

जैनआचारमीमांसा पर आधारित अर्थ–प्रबन्धन का मुख्य सूत्र है – **जीवन में भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता और नैतिकता की समन्विति।**[135] जब हमारी जीवन–दृष्टि आध्यात्मिक और नैतिक बनेगी, तभी नूतन अर्थनीति की सम्यक् नींव डल सकेगी। यह नींव ही वर्त्तमान अर्थनीति के दोषों एवं दुष्प्रभावों का सम्यक् उन्मूलन कर उसे सन्तुलित, सुमर्यादित और सुव्यवस्थित बना पाएगी। इससे ही हमारे आर्थिक प्रयत्न सार्थक होंगे और जीवन शान्तिमय बनेगा।

(2) अर्थ–प्रबन्धन का आशय

जैनआचारमीमांसा पर आधारित अर्थ–प्रबन्धन आर्थिक समस्याओं के समाधान की एक सम्यक् प्रक्रिया है। यह वह प्रक्रिया है, जो देश, काल, परिस्थिति एवं व्यक्ति की भूमिका के अनुसार सम्यक् आर्थिक उद्देश्य का निर्माण करने पर बल देती है, साथ ही निर्धारित उद्देश्य की सफल प्राप्ति के लिए उचित नीति–निर्देश भी प्रदान करती है। जैसा कि पूर्व में बताया गया है, इसके दो मुख्य पक्ष हैं – सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक। जीवन–प्रबन्धक इसमें निर्दिष्ट सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक सूत्रों का प्रयोग कर अपने आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। इतना ही नहीं, वह आर्थिक लक्ष्य को साधन बनाकर सम्यक् जीवन–लक्ष्य (मोक्ष) को भी सफलतापूर्वक साध सकता है। वस्तुतः, वर्त्तमान परिवेश में अर्थ–प्रबन्धन की इस प्रक्रिया को जीवन–व्यवहार में अपनाने की नितान्त आवश्यकता है।

जैनआचारमीमांसा के उपयोगी नीति–निर्देशों में कहीं भी विचारों की संकीर्णता नहीं है। सामान्य व्यक्ति के लिए इसमें न तो 'अर्थ' का निषेध किया गया है और न ही 'अर्थ' को अनर्थ का कारण बनने की स्वतंत्रता दी गई है। यहाँ तो अनैकान्तिक दृष्टिकोण से उचित व्यक्ति के लिए उचित अर्थ की प्राप्ति का निर्देश दिया गया है। इन निर्देशों का भलीभाँति पालन करता हुआ साधक शनैः–शनैः विविध आर्थिक समस्याओं से मुक्त होकर सुख–शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति कर सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर मेरी दृष्टि में, अर्थ–प्रबन्धन को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है –

आर्थिक प्रयत्नों को सन्तुलित, सुमर्यादित एवं सुव्यवस्थित करने की वह वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रक्रिया, जिसमें देश, काल, परिस्थिति एवं स्वभूमिका के आधार पर व्यक्ति अपना आर्थिक–व्यवहार इस प्रकार प्रबन्धित करे कि एक ओर उसकी अर्थ–सम्बन्धी आवश्यकताओं की समुचित पूर्त्ति भी हो जाए और दूसरी ओर उसके वर्त्तमान एवं भावी जीवन के लिए 'अर्थ' अनर्थ का कारण नहीं, अपितु नैतिक एवं चारित्रिक उन्नति का हेतु बन जाए, अर्थ–प्रबन्धन कहलाती है।

(3) अर्थ–प्रबन्धन के उद्देश्य

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर अर्थ–प्रबन्धन के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं –

- ★ अर्थ–प्रक्रियाओं में जैविक–आवश्यकताओं, जैसे – भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आपूर्त्ति के लिए भूमिकानुसार समुचित प्रयत्न हो।
- ★ अर्थ–प्रक्रियाओं में शरीर, परिवार, समाज, पर्यावरण आदि उत्तम साधनों की उपेक्षा न हो, बल्कि उनके प्रति मित्रवत् व्यवहार हो।
- ★ अर्थ–प्रक्रियाएँ शान्ति, समता, सहजता और सदैव प्रसन्नचित्तता का हेतु बने, न कि अस्थिरता, अशान्ति, निराशा, विषाद और उत्तेजना का।
- ★ अर्थ–प्रक्रियाएँ सिर्फ अर्थ–केन्द्रित न होकर व्यक्ति और उसके चरम साध्य पर केन्द्रित हो। दूसरे शब्दों में, ये धर्मविरोधी एवं पापाचारयुक्त न हो, अपितु धर्मानुकूल एवं मोक्षानुकूल होकर नैतिक चरित्र–निर्माण में सहायक बने।
- ★ अर्थ–प्रक्रियाओं का निर्वाह करते हुए संस्कृति, सदाचार एवं शिष्टाचार में भ्रष्टता तथा सामाजिक सम्बन्धों की उपेक्षा न हो, साथ ही व्यक्ति–द्रोह, परिवार–द्रोह, समाज–द्रोह, राष्ट्र–द्रोह और विश्व–द्रोह भी न हो।

(4) जैनाचार पर आधारित अर्थनीति का मूल

चूँकि भौतिकवाद की जड़ें विश्वव्यापी हैं, अतः विश्वस्तरीय और राष्ट्रस्तरीय अर्थनीतियों में समुचित संशोधन कर पाना इतना आसान नहीं है।

फिर भी, मौजूदा परिवेश में जीता हुआ व्यक्ति अपनी वैयक्तिक अर्थनीति को सुधारकर यानि जीवन–दृष्टि एवं जीवन–व्यवहार में आध्यात्मिक, नैतिक और भौतिक आवश्यकताओं का सम्यक् समन्वय कर अर्थ–प्रयत्नों में समीचीनता तो ला ही सकता है। इसीलिए यहाँ विवेच्य अर्थ–प्रबन्धन का सम्बन्ध व्यक्ति से भी है और विश्व से भी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अक्सर व्यक्ति बाह्य जगत् में विद्यमान सामाजिक–विकृतियों (Social Evils) से जुड़कर अपने आप को अनैतिक और भ्रष्ट बना लेता है। वह यह मानता है कि क्या करें, वर्त्तमान परिवेश ही ऐसा है, इसमें समय के साथ चलना ही पड़ेगा, झूठ तो बोलना ही पड़ेगा, रिश्वत तो देनी ही पड़ेगी, शराब तो पिलानी ही पड़ेगी, कर–चोरी तो करनी ही पड़ेगी, गरीबों का शोषण तो करना ही पड़ेगा, किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा है। इसमें बाह्य परिवेश को निमित्त बनाकर अपने लोभ की पुष्टि का प्रयास ही अधिक है।

अतः जैनाचार पर आधारित अर्थनीति को अपनाकर व्यक्ति को अपने नैतिक पक्ष को मजबूती प्रदान करना चाहिए, जिससे वह बाह्य आर्थिक वातावरण के दोषों से अप्रभावित रहता हुआ वैयक्तिक स्तर पर सफल, सुदृढ़ और सुविवेकी अर्थ–प्रबन्धक बन सके।

(5) अर्थ के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण

जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, व्यक्ति को अर्थ की आवश्यकता तब तक महसूस होती है, जब तक उसे अर्थ के प्रति मोह रहता है। वास्तव में यह मोह कोई वस्तु नहीं है, बल्कि एक झूठी कल्पना है। इसमें आत्मा अर्थ को सुख का पर्याय ही मान लेती है तथा अर्थ का अर्जन, संग्रह, सुरक्षा एवं उपयोग आदि आर्थिक क्रियाएँ करती रहती हैं।

यद्यपि जैनदर्शन उस मोह से मुक्त होकर आत्मरमणता की दशा को ही उत्तम मानता है और इसीलिए आत्म–साधना में उद्यत होने पर जोर देता है, फिर भी जब तक मोह की कमजोरी है, तब तक यह अर्थोपार्जन के उचित विवेक की जागृति को भी आवश्यक मानता है। दूसरे शब्दों में, यह व्यक्ति को कितना एवं कैसे अर्थोपार्जन करना, इसका सम्यक् ज्ञान भी कराता है। यही कारण है कि इसमें व्यक्ति को अपनी भूमिकानुसार अर्थोपार्जन करने का निर्देश दिया गया है। जैन–पुराणों में भी कहा गया है कि स्वयं भगवान् ऋषभदेव को राज्यावस्था में रहते हुए प्रजा की आजीविका के लिए षड्विध कर्मों का विधान करना पड़ा। ये कर्म हैं – असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प। वस्तुतः, यह मध्यम मार्ग है।

यदि व्यक्ति इस मध्यम मार्ग की उपेक्षा करता है, तो अर्थ की तृष्णा असीम और अमाप हो जाती है। प्रायः पेट में रोटी की भूख, पाँव में जुते का नाप और कार में सवारी की संख्या तो मर्यादित होती है, किन्तु अर्थोपार्जन के विवेक के अभाव में अर्थ की तृष्णा आकाश के समान अन्तहीन हो जाती है। ऐसी स्थिति में अनेक समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं एवं असन्तुलन की स्थिति निर्मित हो जाती है। कुल मिलाकर, अर्थ ही जीवन का केन्द्र–बिन्दु बनकर अनर्थ का कारण बन जाता है।

इस विषम स्थिति से उबरने के लिए अर्थ के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण बनाना आवश्यक है यानि अर्थ से सुख मिलता है, इस मान्यता को तजना आवश्यक है। जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित निम्न सिद्धान्तों को हृदय–गम्य कर व्यक्ति अर्थ के प्रति अपनी मान्यता को परिष्कृत कर सकता है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ जीवन का मूल–साध्य अर्थ नहीं, वरन् शान्ति है अर्थात् अर्थ गौण (Secondary) है और शान्ति मुख्य (Primary) है।

★ अर्थ सुख का साधन नहीं, वरन् संज्ञाओं की सन्तुष्टि के लिए विवशता मात्र है। दूसरे शब्दों में, अर्थ का अर्जन करना कर्त्तव्य नहीं, किन्तु कमजोरी है।

★ अर्थ की अभिलाषा आत्मा की वैभाविक परिणति है, जो मोहात्मक (भ्रामक) दशा के कारण होती है, अतः जैसे–जैसे मोह कम (उपशम या क्षय) होता जाता है, वैसे–वैसे अर्थ–पुरूषार्थ का यह भ्रामक दायित्व–बोध भी घटता जाता है।

★ स्वभाव दशा में स्थित आत्मा के लिए अर्थ अनावश्यक है और विभाव दशा में स्थित आत्मा को मोहवश अर्थ आवश्यक लगता है, किन्तु विभाव दशा में भी अर्थ का महत्त्व केवल साधन रूप में होना चाहिए, न कि साध्य रूप में।

★ सिर्फ अर्थ के लिए ही पुरूषार्थ करते रहना, यह एक विकृत मानसिकता है, ऐसा अर्थ अनुपयोगी ही रहता है एवं अन्ततः विनष्ट ही होता है, क्योंकि यहाँ अर्थ साधन नहीं, अपितु साध्य ही बन जाता है।

★ बाह्य अर्थ का आकर्षण आभ्यन्तर अर्थ (आत्मा) में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारी भावों को बढ़ाता है। कहा भी गया है – **'ऋद्धिः चित्तविकारिणी'**।[136]

★ यह अर्थ ही है, जो व्यक्ति को केन्द्र (प्रधानता) से दूर कर परिधि (गौणता) की ओर धकेल देता है।[137]

★ अर्थ अधिक से अधिक केवल आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का माध्यम हो सकता है, किन्तु वह अभ्युदय (धर्म) और निःश्रेयस् (मोक्ष) का हेतु नहीं बन सकता ।[138]

★ अर्थ को भले ही कामनाओं की पूर्त्ति का साधन माना जाता है, फिर भी अर्थ में यह कमी है कि उसकी उपयोगिता सर्वदा, सर्वथा और सभी के लिए एक–सी नहीं होती।

★ धर्म एवं मोक्ष से विरहित 'अर्थ' अनर्थ का मूल है, अशुभ है, विनाशी है एवं संसार–परिभ्रमण का कारण है।

उपर्युक्त बिन्दुओं का यह निष्कर्ष है कि –

1) अर्थ जीवन की वास्तविक आवश्यकता नहीं है, अतः अर्थ विरहित जीवन ही परम श्रेष्ठ है।
2) विभाव दशा में अर्थ की काल्पनिक आवश्यकता महसूस होती है, अतः उस स्थिति में 'अति' और 'अल्प' से बचकर उचित अर्थोपार्जन करना चाहिए और अर्थ को धर्म एवं मोक्ष के साधन के रूप में ही स्वीकारना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(6) अर्थ की हेयता का विश्लेषण

एक सामान्य आदमी की यह मान्यता है कि अर्थ से सुख ही सुख मिलता है, किन्तु जैनाचार्यों की आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार, यह केवल एक भ्रम है। वास्तविकता तो यह है कि सुख आत्मा में है, अर्थ में नहीं। प्रत्युत अर्थ के प्रति आसक्ति ही दुःख का कारण बनती है। इसी तथ्य के आधार पर अर्थ की हेयता का विश्लेषण आगे किया जा रहा है –

(क) अर्थ में सुख का भ्रम

यह सार्वभौमिक सत्य है कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से दूर भागता है,[139] किन्तु सुख चाहना और सुख पाना दोनों अलग–अलग हैं। अधिकांश प्राणी सुख तो प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं, उल्टा दुःखी होकर जीवन व्यतीत कर रहें हैं, आखिर क्यों?

जैनाचार्य कहते हैं कि उनके दुःख का मूल कारण उनकी अर्थ में सुख की वांछा है, जो कभी पूरी नहीं हो सकती।[140] यह भ्रमित स्थिति उस मृग के समान है, जो नाभि में स्थित कस्तूरी को सारे वन में खोजते–खोजते एक दिन मर जाता है, जबकि वह वहाँ खोजी जाती है, जहाँ मौजूद ही नहीं होती।

जैनाचार्यों के अनुसार, सुख मुख्यतः आत्माश्रित है, उसे अर्थाश्रित होकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। अर्थाश्रित दृष्टिकोण के कारण ही आज धन–सम्पत्ति को सुखी जीवन का मापदण्ड माना जाता है। इस मान्यता का मूलसूत्र है – 'समृद्धि बढ़ाओ और सुख पाओ'। इससे ही सामान्य व्यक्ति समृद्ध और सम्पन्न लोगों को सुखी मानने की झूठी कल्पना कर लेता है। उनकी विलासिताओं को देखकर कई बार हीनभावना से ग्रस्त भी हो जाता है।

आज बड़े–बड़े नेता, अभिनेता, खिलाड़ी, उद्योगपति आदि समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। कारण है बाह्य चकाचौंध का भ्रम, इसीलिए व्यक्ति इनकी आन्तरिक तस्वीर को देख ही नहीं पाता। इनके मस्तिष्क की उलझनों, हृदय के आँसुओं, पारिवारिक क्लेशों और व्यावसायिक झंझटों को समझ ही नहीं पाता। जैनाचार्यों को इसीलिए कहना पड़ा – धन एक ऐसी चीज है, जो सोए हुए निर्धन व्यक्ति को स्वप्न में दिखने पर तो चक्कर में डालती ही है, परन्तु जागे हुए को भी भ्रमित किए बगैर नहीं रहती।[141]

इस भ्रम को दूर करना अत्यावश्यक है। इसके बिना जीवन में सम्यक् अर्थ–प्रबन्धन सम्भव नहीं है। यदि व्यक्ति अतिसंकुचित दृष्टि से ग्रस्त होकर अर्थ के प्रति ही अपना सर्वस्व समर्पित करता रहेगा, तो जीवन के अन्य उच्चतर लक्ष्यों की प्राप्ति कैसे कर सकेगा? व्यक्ति का अन्तिम साध्य अर्थ नहीं, बल्कि जीवन में सुख, सौहार्द एवं प्रसन्नता की प्राप्ति है।

जैनाचार्यों ने इसी सन्दर्भ में अर्थ अर्थात् धन–सम्पत्ति को भी दुःखवर्धक विषय जानकर यह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध किया है कि अर्थ और सुख दोनों भिन्न–भिन्न हैं और इसीलिए दुःख–विमुक्ति को जीवन–लक्ष्य बताकर दुःखवर्धक कारणों को हटाने और सुखवर्धक कारणों को अपनाने पर जोर दिया है।

(ख) अर्थ से दुःख की प्राप्ति

अर्थ में सुख तो है ही नहीं, प्रत्युत अर्थ की लालसा और तृष्णा ही व्यक्ति के दुःखों की मूल जड़ है। यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि जिस अर्थ को आज संसार अपने सुखी जीवन का महत्त्वपूर्ण आधार मानता है, भगवान् महावीर के अनुसार, उसी अर्थ की आसक्ति व्यक्ति के दुःखों का कारण है। अर्थ का आकर्षण ही दुःखों को आमंत्रण है। अतः यह विचार भ्रमपूर्ण और निराधार है कि अर्थ सुखदायी है, वस्तुतः वह तो दुःख रूप ही है। कहा भी गया है – **'भवतण्हा लया वुत्ता, भीमाभीम फलोदया'** अर्थात् बाह्य अर्थ की तृष्णा भयंकर फल देने वाली लता के समान है।[142]

जैनाचार्यों ने इसीलिए अनेकानेक स्थानों पर आशा, तृष्णा और स्वच्छन्दता का त्याग करने का उपदेश दिया है।[143] इस उपदेश का लक्ष्य भी इतना ही है कि व्यक्ति धन के प्रति अपनी अति–आसक्ति का विसर्जन करे, समीचीन दृष्टि का सृजन करे और भूमिकानुसार सन्तुलित अर्थोपार्जन करे। इस प्रकार अर्थ–प्रबन्धन का जीवन्त सूत्र बने – **'जितनी आवश्यकता, उतना ही धन'**। यह सदैव स्मरण रहे कि आवश्यकता से अधिक और अनुपयोगी वस्तुएँ क्लेशकारी एवं दोषरूप होती हैं।[144] अतः अर्थ की आवश्यकता का निर्धारण देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति के आधार पर होना चाहिए।

(ग) अर्थजन्य दुःखों के विविध रूप

व्यक्ति अर्थ–सम्बन्धी अनेक प्रयत्न करता है। इनका पृथक्–पृथक् विश्लेषण करने पर यह सिद्ध होता है कि अर्थ की आसक्ति का परिणाम दुःख ही है। यह निम्नलिखित तथ्यों से सुस्पष्ट है –

- ★ अर्थ–प्राप्ति की कामना या तृष्णा साक्षात् दुःख रूप है।
- ★ अर्थ–प्राप्ति के लिए योजनाएँ बनाना (संरम्भ) दुःख रूप है।
- ★ अर्थ–प्राप्ति के लिए संसाधनों को इकट्ठा करना (समारम्भ) दुःख रूप है।
- ★ अर्थ–प्राप्ति के लिए योजनाओं का क्रियान्वयन प्रारम्भ करना (आरम्भ) दुःख रूप है।
- ★ कार्य के क्रियान्वयन की प्रक्रिया में उत्पन्न होने वाले बाधक कारण भी दुःख रूप हैं।
- ★ अर्थ–प्राप्ति के पश्चात् उसकी सुरक्षा, संग्रह एवं रख–रखाव भी दुःख रूप हैं।
- ★ संगृहीत अर्थ की उत्तरोत्तर वृद्धि करने का प्रयत्न भी दुःख रूप है।
- ★ अर्थ–प्राप्ति की प्रक्रियाओं में हुए पापाचार भी ऐहलौकिक एवं पारलौकिक दुःख के ही कारण हैं।
- ★ प्राप्त अर्थ का भोगोपभोग भी क्षणिक सुख के पश्चात् चिरकालिक दुःख का ही कारण है।
- ★ प्राप्त अर्थ का व्यय, चोरी या अन्य किसी कारण से होने वाला वियोग भी दुःख रूप ही है।
- ★ अर्थ प्राप्ति के पश्चात् भी उसी अर्थ से अपेक्षित सुख की प्राप्ति न होने पर दूसरे अर्थ से सम्बन्धित तृष्णाएँ जन्म लेती हैं, जो पुनः नवीन दुःख का कारण बनती हैं, कभी–कभी तो ये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतृप्त इच्छाएँ पहले की अपेक्षा और अधिक दुःख रूप सिद्ध होती हैं।

इस प्रकार, यह अर्थ व्यक्ति के दुःखों का ही कारण है। इससे व्यक्ति स्वयं भी दुःखी होता है और जो स्वयं दुःखी होता है, वह दूसरों को भी दुःखी करता है **(आतुरा परितावेन्ति)**।[145] यह प्राप्त होने से पहले भी दुःख देता है, प्राप्त होकर भी दुःख देता है और छूटने के बाद भी दुःख ही देता है।[146] प्रश्नव्याकरणसूत्र में अर्थ (परिग्रह) सम्बन्धी प्रयत्न को वृक्ष की उपमा देते हुए कहा गया है कि इस वृक्ष की जड़ तृष्णा है, क्रोध, मान, माया और लोभ इसके स्कन्ध हैं, अनेक प्रकार की चिन्ताएँ इसकी शाखाएँ हैं। इन्द्रियों के काम–भोग इसके पत्ते, फूल तथा फल हैं तथा अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक क्लेश इस वृक्ष का कम्पन है।[147] अतः जीवन–प्रबन्धन के लिए आवश्यक है कि हम ऐसे वृक्ष के विस्तार पर यथाशक्ति अंकुश लगाएँ।

यद्यपि हम अर्थ के सुखद परिणामों की कल्पना में ही जीते रहते हैं, लेकिन वास्तविकता इससे विपरीत ही होती है, एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त है –

अर्थ–पुरूषार्थ का परिणाम

हम क्या पाने की कल्पना करते हैं?	**वास्तव में क्या पाते हैं?**
स्वतन्त्रता	परतन्त्रता
निश्चिन्तता	चिन्ता
सुरक्षा	भय
शान्ति	बेचैनी
सन्तोष	असन्तोष
प्रसन्नता	निराशा
विश्रान्ति	थकान
सुविधा	बाधा
पारिश्रमिक	परिश्रम
सम्मान	अपमान
दुआ	बद्दुआ
अधिकार	दायित्व
निर्भारता	बोझिलता

सार रूप में, कहा जा सकता है कि धन आदि से व्यक्ति साधन–सम्पन्न तो हो सकता है, लेकिन सुख–सम्पन्न नहीं। जैनाचार्यों ने लोभान्ध व्यक्ति की दुःखी दशा को इस प्रकार से चित्रित किया है – 'जिसका चित्त लोभ से लम्पट हो रहा हो, जिसे लेशमात्र भी सन्तोष न हो, जो सदा हाय–हाय कर रहा हो और तृष्णा से व्यथित हो, उसे क्या कभी सुख मिल सकता है'?[148] वस्तुतः यह कल्पना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बड़ी सुखद और मनोरम है कि धनाढ्यता, सम्पन्नता और समृद्धता सुख रूप है, किन्तु हकीकत में अर्थ के पीछे भागने वाला सदैव दुःखी और चिन्तित ही रहता है।

यह दार्शनिक एवं तात्त्विक चिन्तन हमारी अर्थ सम्बन्धी भ्रमित मान्यताओं को सुधारने के लिए अत्यावश्यक है। इसका लक्ष्य यह भी नहीं है कि प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक अर्थ का पूर्ण परित्याग ही कर दे। इसका विशुद्ध आशय तो सिर्फ इतना ही है कि अर्थ के अनावश्यक विस्तार में व्यर्थ श्रम करने के बजाय अर्थ के सीमाकरण का प्रयास किया जाए। यह अर्थ–प्रबन्धन का एक आवश्यक अंग है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.6 जैनआचारमीमांसा के आधार पर अर्थ–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष

अर्थ–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्ष के माध्यम से अर्थ के सन्दर्भ में जैन अवधारणा को समझा और यह पाया कि अर्थ सम्बन्धी भौतिक दृष्टिकोण को न तो पूर्णतया स्वीकारा जा सकता है और न ही नकारा जा सकता है। अतः सम्यक् अर्थ–प्रबन्धन के लिए भौतिक दृष्टिकोण के साथ आध्यात्मिक दृष्टिकोण का उचित समन्वय भी अत्यावश्यक है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि अर्थ–प्रबन्धक को अर्थ के प्रति अन्ध–आसक्ति से ऊपर उठना होगा और उसे अर्थ को साध्य–पद से हटाकर साधन–पद पर प्रतिष्ठित करना होगा, तभी वह अर्थ के अतिरेक से बचकर उसका उचित सीमाकरण कर सकेगा। इस हेतु उसे अर्थ को जीवन में केवल औषधि के समान ही महत्त्व देना चाहिए। जैसे शरीर में व्याधि होने पर औषधि के प्रयोग को नकारा नहीं जा सकता, वैसे ही आत्मिक दुर्बलता की स्थिति में भोगादि की इच्छाएँ अधिक होने से अर्थ के अर्जन एवं प्रयोग से इंकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार, जैसे औषधि की नियत मात्रा में आवश्यकता केवल उपचार हेतु होती है, किन्तु सदा के लिए नहीं, वैसे ही अर्थ की आवश्यकता सिर्फ जीवन की सीमित (भूमिकानुरूप) आवश्यकताओं की पूर्त्ति हेतु ही होनी चाहिए, किन्तु वह जीवन की सदा काल रहने वाली मूलभूत आवश्यकता नहीं बननी चाहिए। जिस प्रकार, रोग के क्रमशः ठीक होने पर औषधि की आवश्यकता कम होती जाती है, उसी प्रकार, आत्मिक सबलता के बढ़ने पर भोगादि की कामनाएँ क्षीण होती जाती हैं और इससे अर्थ की आवश्यकता भी कम होती जानी चाहिए। साथ ही, जैसे औषधि का लम्बे काल तक सेवन करने के उपरान्त भी रोगी की दवाई के प्रति मूर्च्छा एवं ममता जाग्रत नहीं होती, वैसे ही आवश्यकतानुसार अर्थ का उपार्जन और उपयोग करने के बाद भी अर्थ के प्रति अर्थ–प्रबन्धक की ममता एवं मूर्च्छा जाग्रत नहीं होनी चाहिए। यहाँ तक कि जैसे औषधि का क्रय करते समय व्यक्ति धन के अनावश्यक अपव्यय से बचता है, वैसे ही अर्थ की प्राप्ति हेतु पुण्य के अपव्यय और पर्यावरण के अतिदोहन से प्रबन्धक को बचना चाहिए। अन्त में यह कहना भी आवश्यक होगा कि जैसे दवाई की मात्रा क्रमशः अल्प करते हुए पूर्ण आरोग्य की प्राप्ति का ही लक्ष्य होता है, वैसे ही अर्थ की आवश्यकता को क्रमशः अल्प करते हुए मोक्ष रूप स्वाधीन एवं सुखी परमात्म–अवस्था (पूर्ण आरोग्य दशा) की प्राप्ति ही अर्थ–प्रबन्धक का लक्ष्य होना चाहिए।

इस प्रकार, यह जैनदर्शन के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण पर आधारित एवं सम्यक् अर्थ–प्रबन्धन के लिए उपयुक्त एक सामंजस्यपूर्ण एवं मर्यादित जीवन–व्यवहार हो सकता है।

10.6.1 परिग्रह एवं उसकी अवधारणा

पूर्व अध्ययन के आधार पर अर्थ के सन्दर्भ में यह कारण–कार्य व्यवस्था ज्ञात होती है कि पदार्थाश्रित जीवन–दृष्टि होने से व्यक्ति में आन्तरिक इच्छाएँ पैदा होती हैं। ये इच्छाएँ ही आवश्यकताओं को जन्म देती हैं और तदनुसार ही सामग्रियों या पदार्थों की माँग उत्पन्न होने लगती है, इसे ही जैनदर्शन में **'परिग्रह–वृत्ति'** कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ के सम्यक् प्रबन्धन के लिए परिग्रह–वृत्ति की अवधारणा को समझना भी आवश्यक है, जिससे उसकी मर्यादा का उचित निर्धारण किया जा सके। परिग्रह मूलतः दो शब्दों से मिलकर बना है – 'परि' एवं 'ग्रह'। परि का अर्थ है – सभी ओर से या सम्पूर्ण रूप से और ग्रह का अर्थ है – ग्रहण करना। अतः कहा भी गया है कि जो सम्पूर्ण रूप से ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह होता है – **परिग्रहणं परिग्रहः**।[149]

इस प्रकार, परिग्रह का मूल सम्बन्ध वस्तुओं से नहीं, बल्कि उनके प्रति मूर्च्छा भाव से है। इसी आधार पर आचार्य शय्यम्भव और आचार्य उमास्वाति ने कहा भी है कि – वस्तुस्वरूप की असावधानी होने से वस्तुओं के प्रति मूर्च्छा भाव होना ही परिग्रह है।[150] आशय यह है कि सजीव, निर्जीव या मिश्र, अल्प अथवा अधिक और प्राप्य अथवा अप्राप्य वस्तुओं पर ममत्व, आसक्ति एवं गृद्धता रखना परिग्रह है।[151] विश्व की प्रत्येक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी। यदि मूर्च्छा है, तो परिग्रह है और मूर्च्छा नहीं है, तो परिग्रह भी नहीं है।[152]

यह मूर्च्छा (परिग्रह) वस्तुतः एक भावात्मक जुड़ान या सम्बन्ध है और व्यक्ति के दुःखों का कारण भी। जहाँ जुड़ान है, वहीं राग–द्वेष है, जहाँ राग–द्वेष है, वहीं अपेक्षाएँ हैं और जहाँ अपेक्षाएँ हैं, वहाँ अस्थिरता, चंचलता, चिन्ता, तनाव, शोक, भय आदि नकारात्मक भाव हैं और वहीं दुःख भी है। यह भी अनुभूत सत्य है कि जब भी कोई दुःखी होता है, तब उसी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के निमित्त से होता है, जिससे उसने कोई सम्बन्ध बना रखा होता है। यह विशेष है कि दूरवर्ती सम्बन्धों में अल्प दुःख तथा निकटवर्ती सम्बन्धों में अधिक दुःख होता है। इस प्रकार, मूर्च्छा भाव और दुःख का सीधा (आनुपातिक) सम्बन्ध है।

यह मूर्च्छा भाव अनेक प्रकार के सम्बन्धों के आरोपण से उत्पन्न होता है, जिनमें से प्रमुख हैं –

1) एकत्व भाव – आत्मा के बजाय शरीर को 'मैं' मानना।
2) ममत्व भाव – किसी वस्तु के बारे में मानना कि 'यह मेरी है'।
3) कर्तृत्व भाव – किसी वस्तु के बारे में मानना कि 'इसका कर्त्ता अर्थात् सर्जक या संहारक आदि मैं हूँ'।
4) भोक्तृत्व भाव – किसी वस्तु के बारे में मानना कि 'इससे प्राप्त परिणामों का भोक्ता अर्थात् भोगने वाला मैं हूँ'।
5) स्वामित्व भाव – किसी वस्तु के बारे में मानना कि 'इसका स्वामी या अधिकारी मैं हूँ'।

वस्तुतः मूर्च्छा ही परिग्रह है, किन्तु मूर्च्छा के निमित्त होने से उन बाह्य पदार्थों को भी परिग्रह कहा जाता है, जिनका मूर्च्छा से वशीभूत व्यक्ति ग्रहण एवं संग्रह करता है। इसी आधार पर परिग्रह का वर्गीकरण आगे किया जा रहा है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.6.2 परिग्रह के भेद

जैनाचार्यों ने परिग्रह के दो भेद किए हैं – आभ्यन्तर या अंतरंग परिग्रह और बाह्य या बहिरंग परिग्रह।

(1) अंतरंग परिग्रह

अंतरंग परिग्रह मूलतः आत्मा की ही विकारी अवस्था है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में इसीलिए कहा गया है कि आशा, इच्छा, तृष्णा, लालसा और मूर्च्छा – ये सभी अंतरंग परिग्रह हैं।[153] ये भले ही बाहर दृष्टिगोचर न हों, किन्तु भीतर में चोर की तरह छिपे रहते हैं।

अंतरंग परिग्रह के भेदों को निम्नलिखित सारणी के माध्यम से समझा जा सकता है –

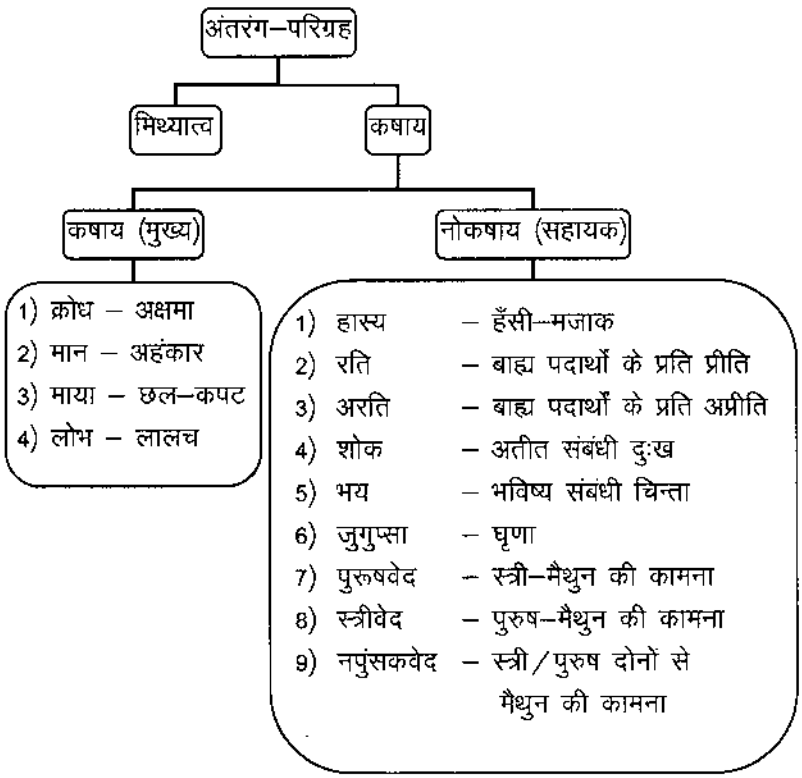

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट होता है कि अंतरंग परिग्रह के मूलतः दो भेद हैं – मिथ्यात्व (Wrong Belief) एवं कषाय (Wrong Conduct)। मूलतः मिथ्यात्व और कषाय के कारण ही जीव मूर्च्छा करता है। इनमें भी कषाय के पुनः दो भेद हैं – कषाय (मुख्य) एवं नोकषाय (सहायक)। यह विशेष है कि आत्मा के वे भाव जो आत्मा को कलुषित करते हैं, कषाय (मुख्य) कहलाते हैं तथा वे भाव जो इन कषायों के होने में सहायक होते हैं, नोकषाय कहलाते हैं। जैनदर्शन में मुख्य कषाय के चार भेद बताए गए हैं और नोकषाय के नौ भेद बताए गए हैं। इस प्रकार अंतरंग परिग्रह के कुल चौदह भेद होते हैं – मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरूषवेद,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद।[154] आगमिक व्याख्या साहित्य में परिग्रह के एक अन्य प्रकार से भी चौदह भेद बताए गए हैं – मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद।[155]

(2) बाह्य परिग्रह

अंतरंग परिग्रह के निमित्त से जिन बाह्य वस्तुओं का ग्रहण एवं संग्रह किया जाता है, उन्हें बाह्य–परिग्रह कहते हैं। चूँकि पदार्थ अनगिनत हैं, अतः बाह्य–परिग्रह के भेद भी अनगिनत हो सकते हैं, परन्तु भगवतीसूत्र में मोटे तौर पर इनके तीन भेद किए गए हैं[156] –

1) कर्म परिग्रह – आत्मा के द्वारा राग–द्वेष के वशीभूत होकर ग्रहण की जाने वाली कर्म--वर्गणाओं (पुद्गल परमाणुओं का एक समूहविशेष) के पुद्गल।
2) शरीर परिग्रह – आत्मा के द्वारा धारण किया जाने वाला शरीर।
3) बाह्य पात्रादि परिग्रह – आत्मा के द्वारा मूर्च्छापूर्वक संगृहीत की जाने वाली पात्रादि वस्तुएँ।

इसे निम्न चित्र के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है –

और भी, आचार्य हरिभद्र ने बाह्य पात्रादि परिग्रह के नौ भेदों का निरूपण भी किया है।[157] यह निम्न तालिका से स्पष्ट है –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

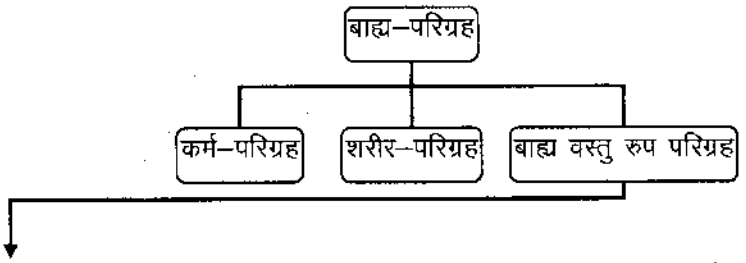

	नाम	प्राचीन सन्दर्भों में	आधुनिक सन्दर्भों में
1	क्षेत्र (Land)	खेत या खुली जमीन	कृषि भूमि, उद्योग भूमि, क्रय-लीज द्वारा प्राप्त भूमि आदि
2	वास्तु (Property)	मकान, दुकान आदि	बंगला, फ्लैट, दुकान, ऑफिस, बिल्डिंग, मॉल आदि
3	हिरण्य (Silver)	चाँदी के सिक्के, आभूषण आदि	चाँदी की चेन, कड़ा, अंगूठी, गिफ्ट आईटम, बर्तन आदि
4	स्वर्ण (Gold)	स्वर्ण के सिक्के, आभूषण आदि	सोने की चेन, अंगूठी, घड़ी, बिस्किट, बालियाँ आदि
5	धन (Wealth)	हीरे, पन्ने, माणक, मोती, जवाहरात आदि	नकदी मुद्रा, बैंक में जमा रकम, शेयर, एफ. डी., बीमा–धन आदि
6	धान्य (Grains)	गेहूँ, चावल, मूंग, मोठ आदि	सभी प्रकार के खाद्य एवं पेय पदार्थ आदि
7	द्विपद (Employees etc.)	नौकर–नौकरानी, तोता–मैना, पति–पत्नी, सहोदर[157A] आदि	मैनेजर, क्लर्क, वकील, चपरासी, नौकर, नौकरानी, परिजन, पालतू पक्षी आदि
8	चतुष्पद (Pet Animals)	गाय, भैंस, कुत्ता आदि पालतू पशु	गाय, भैंस, कुत्ता आदि पालतू पशु
9	कुप्य (Miscelleneous)	वस्त्र, पलंग और अन्य धातु निर्मित सामग्रियाँ आदि	टी.वी., कम्प्यूटर, फर्नीचर, वाहन, फ्रीज, बर्तन, वस्त्र, शो–केस, जूते–चप्पल इत्यादि सामग्रियाँ

जैन जीवन–दृष्टि में अर्थ–प्रबन्धक के लिए सर्वाधिक प्राथमिकता आत्मा की है, तत्पश्चात् अनुक्रम से कर्म की, शरीर की और आहार, वस्त्र, पात्रादि की, जबकि वर्त्तमान में व्यक्ति सामान्यतया आहार, वस्त्र, पात्रादि को ही महत्त्वपूर्ण मानता है और आत्मा, कर्म एवं शरीर की उपेक्षा कर देता है। अतः अर्थ–प्रबन्धक को अपनी आर्थिक–प्रक्रियाओं में निम्न बिन्दुओं का ध्यान रखना आवश्यक है –

★ आत्मा में राग–द्वेष के भावों पर उचित नियंत्रण हो।
★ पाप–कर्मों का संचय कम से कम हो।
★ शरीर की स्वस्थता एवं स्फूर्त्ति में कमी न हो और इसकी साधनता बाधित न हो।
★ आहार, वस्त्र, पात्रादि की आवश्यकता–पूर्त्ति का सम्यक् प्रयत्न हो।
★ शेष संसार (अप्रयोजनभूत संसार) के बारे में अनावश्यक विचारणा ही न हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.6.3 अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रह का सहसम्बन्ध

जैनाचार्यों ने भिन्न–भिन्न प्रसंगों में परिग्रह के तीन रूप बताए हैं – 1) इच्छा, 2) मूर्च्छा एवं 3) संग्रह।[158] इन तीनों में भी परस्पर सम्बन्ध हैं, जिनके माध्यम से अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रह के सहसम्बन्ध को और स्पष्टता से समझा जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि जहाँ इच्छा एवं मूर्च्छा अंतरंग परिग्रह के ही रूप हैं, वहीं संग्रह बाह्य परिग्रह का रूप है।

सर्वप्रथम, व्यक्ति में अप्राप्त वस्तु के लिए इच्छा उत्पन्न होती है। फिर इच्छित पदार्थ के प्रति मूर्च्छा उत्पन्न होती है और जिस पर मूर्च्छा अर्थात् गृद्धता होती है, उसका त्याग नहीं हो पाता, अतः व्यक्ति उसका संग्रह करता है। इस प्रकार, इच्छा से मूर्च्छा एवं मूर्च्छा से संग्रह–वृत्ति का जन्म होता है। दूसरे शब्दों में, अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रह के मध्य कारण–कार्य सम्बन्ध होता है।

अर्थ–प्रबन्धन के अभाव में व्यक्ति अपनी इच्छा, मूर्च्छा एवं संग्रह–वृत्ति से कभी सन्तुष्ट नहीं होता और यह असन्तुष्टि ही उसके दुःख का मूल कारण बन जाती है। उसकी इच्छाओं का प्रवाह अतितीव्र होता है और उसे जितनी ज्यादा सामग्रियाँ मिलती जाती हैं, उसकी संग्रह–वृत्ति और बढ़ती जाती है। जैन–साहित्य में सुभूम चक्रवर्ती का मार्मिक कथानक मिलता है, जो तृष्णा की अनन्तता को सिद्ध करता है। जब षट्खण्ड का आधिपत्य प्राप्त कर लेने पर भी सुभूम को तृप्ति नहीं मिली, तब उसने सातवें खण्ड को जीतने के लिए प्रयाण किया, किन्तु रास्ते में उसका यान समुद्र में डूब गया और वह काल का ग्रास बन गया। अतः अर्थ–प्रबन्धन के लिए इच्छाओं को संयमित करना एक अनिवार्य एवं प्राथमिक कर्त्तव्य है।

वास्तव में अर्थ–प्रबन्धक को यह सोचना चाहिए कि 'यह क्षेत्र, वास्तु, सोना–चाँदी, पत्नी, पुत्र, बान्धव और देह आदि को छोड़कर मुझे भी एक दिन अवश्य जाना होगा।'[159] कहा जा सकता है कि सुभूम चक्री सातवें खण्ड को तो नहीं जीत सका, लेकिन इतना अवश्य हुआ कि सातवें खण्ड को जीतने की आसक्ति उसे सातवीं नरक तक घसीटकर ले गई, जहाँ तैंतीस सागरोपम जितने काल तक उसे अपार दुःखों का सामना करना पड़ेगा। इसी प्रकार जो मनुष्य अज्ञानवश अनेक पाप–कृत्य करके धन कमाते हैं, वे अनेक जीवों से वैर–विरोध बाँधकर, सारी सम्पत्ति यहीं छोड़कर अन्ततः नरकावास को प्राप्त करते हैं।[160] कहा भी गया है कि लोभी मनुष्य जीवन की क्षणभंगुरता को न समझकर, बिना विचारे ही सांसारिक पदार्थों पर आसक्ति रखता है और इस प्रकार धन में आसक्त होकर अपने को अमर मानता हुआ दिन–रात धन के लिए परिताप सहन करता रहता है।[161]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.6.4 अंतरंग–परिग्रह की प्रधानता

यद्यपि जैनदर्शन में परिग्रह के दो भेद बताए गए हैं – आभ्यन्तर परिग्रह एवं बाह्य परिग्रह, फिर भी यह जानना आवश्यक है कि इन दोनों में आभ्यन्तर (अंतरंग) परिग्रह की ही प्रधानता है, बाह्य परिग्रह की नहीं। यह बात निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट है –

★ जैनाचार्यों ने बाह्य वस्तुओं को परिग्रह नहीं कहते हुए मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है, क्योंकि बाह्य वस्तुओं के न होने पर भी 'यह मेरा है' ऐसा संकल्पवाला व्यक्ति परिग्रहसहित ही होता है।[162]

★ बाह्य परिग्रह का मूल कारण भी अंतरंग परिग्रह ही है, क्योंकि व्यक्ति बाह्य वस्तुओं का ग्रहण एवं संग्रह तभी करता है, जब अंतरंग में उनके प्रति मूर्च्छा होती है। कहा भी गया है – विषयों का ग्रहण कार्य है, जबकि मूर्च्छा कारण है और कारण नष्ट हो जाने पर कार्य सम्भव नहीं है। अतः जो भाव से निवृत्त है, वही वास्तव में परिग्रहरहित होता है।

★ मूल में अंतरंग–परिग्रह के अभाव में कितना भी बाह्य परिग्रह क्यों न हो, उसे परिग्रह नहीं कहा जा सकता, जबकि अंतरंग परिग्रह के सद्भाव में कितना ही अल्प संग्रह क्यों न हो, उसे परिग्रह ही मानना चाहिए। इस प्रकार, हमें यहाँ दो बिन्दु प्राप्त होते है –

क) अधिकतम वस्तुओं के बीच रहते हुए भी मूर्च्छा की कमी होने से व्यक्ति अल्प परिग्रही होता है। उदाहरणार्थ, महाराजा भरत, राजा जनक इत्यादि महलों में रहकर भी अपरिग्रही कहलाए।

ख) अल्प वस्तुओं से जीवनयापन करते हुए भी मूर्च्छा और लालसा के सद्भाव में व्यक्ति गाढ़ परिग्रही होता है। उदाहरणार्थ, कालसौकरिक कसाई, जो प्रतिदिन पाँच सौ पाड़ों को मारता था, को राजा श्रेणिक ने एक दिन के लिए कुएँ में उतार दिया, जिससे वह हिंसा न कर सके। किंतु, उसे हिंसा किए बिना चैन नहीं पड़ा। वहाँ भी उसने कीचड़ (मिट्टी) के पाड़े बना–बनाकर मारे। इस प्रकार, गाढ़ पापकर्म करके सातवीं नरक में गया।[163] आशय यह है कि वस्तु मौजूद न होने पर भी उसके प्रति मूर्च्छा होने से व्यक्ति भावों से भी परिग्रही बन जाता है।

चूँकि परिग्रह का मूल सम्बन्ध मूर्च्छा भाव से है और यह मूर्च्छा भाव अतीत, वर्त्तमान एवं अनागत – इन तीनों से सम्बन्धित हो सकता है, अतः व्यक्ति की अतीत सम्बन्धी रागयुक्त स्मृतियाँ, वर्त्तमान में विद्यमान पदार्थों के प्रति आसक्तियाँ और भविष्य सम्बन्धी आकांक्षाएँ – ये सभी परिग्रह ही हैं। इस प्रकार, परिग्रह के काल–आश्रित तीन भेद सम्भव हैं, जो निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हैं –

1) अतीत में प्राप्त या अप्राप्त वस्तुओं सम्बन्धी मूर्च्छा भाव –

उदाहरणार्थ, 'काश! मैंने वह जमीन खरीदी होती, तो मैं भी आज करोड़पति होता' अथवा 'काश! मैंने वह जमीन नहीं बेची होती, तो मैं आज करोड़पति होता' इत्यादि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2) वर्त्तमान की वस्तुओं सम्बन्धी इच्छा –

उदाहरणार्थ, 'आज यह खरीदना है, यह बेचना है' इत्यादि।

3) अनागत की प्राप्य या अप्राप्य वस्तुओं सम्बन्धी भय, चिन्ता एवं कल्पना –

उदाहरणार्थ, 'मुझे पाँच–दस सालों में मकान बनाना है, गाड़ी खरीदना है, अमुक तोले सोना खरीदना है' या 'मेरी फैक्ट्री या दुकान नहीं चली, तो मेरा क्या होगा?' इत्यादि।

अतः कहना होगा कि इन तीनों का सम्यक् संयम करना जीवन–प्रबन्धक का एक आवश्यक दायित्व है।

अर्थ–प्रबन्धन की दृष्टि से भी देखें, तो बाह्य की अपेक्षा आभ्यन्तर परिग्रह का सीमाकरण अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अंतरंग इच्छाओं को नियंत्रित किए बिना बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल होता है। इसमें हठ की मुख्यता होती है और विवेक की गौणता, जिससे बाह्य–परिग्रह का सीमाकरण भी स्थायी एवं आनन्दकारी नहीं बन पाता।

अतः अर्थ–प्रबन्धन के लिए बारम्बार अनासक्तिपूर्वक जीने का अभ्यास करना ही श्रेयस्कर है। व्यक्ति को चाहिए कि वह विविध पदार्थों का आवश्यकतानुसार उपयोग तो करे, किन्तु पदार्थों में आसक्त होकर न जिए। वह यह मानने की भूल न करे कि ये बंगला, धन, गाड़ी, पत्नी, पुत्र, दुकान आदि मेरे हैं।[164] सदैव जागृति रखे कि ये सब अनित्य, अशरण, असार और संयोगी है। इनका वियोग अपरिहार्य है। अतः ये मेरे नहीं हैं और इनसे मुझे अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। यही सुख एवं शान्ति का मार्ग है।

10.6.5 अंतरंग परिग्रह के मूल कारण

अर्थ–प्रबन्धन के लिए अंतरंग–परिग्रह के कारणों को जानना अत्यावश्यक है। जैनदर्शन में इस हेतु पाँच कारणों का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार हैं–[165]

क्र.	अंतरंग–परिग्रह के कारण	विवरण
1)	मिथ्यात्व	यह आत्मा का वह भाव है, जिसके कारण उसे वस्तु (अर्थ) के सम्यक् स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नहीं हो पाता। उल्टा, वह भ्रान्ति में जीती हुई पर–पदार्थों से सुख–प्राप्ति की कामना करती रहती है और इससे ही उसमें इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं।
2)	अविरति	यह आत्मा का वह भाव है, जिसके कारण वह परिग्रह आदि दोषों से विरक्त (अंशतः या पूर्णतः) नहीं हो पाती। वह पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों से जुड़कर हिंसा आदि पाप कार्यों में संलग्न रहती है। इससे भी उसमें इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं।
3)	प्रमाद	यह आत्मा का वह भाव है, जिसके कारण वह आत्म–स्वरूप की जागृति खो देती है एवं कर्तव्य–अकर्तव्य के प्रति उचित सावधानी नहीं रख पाती। इससे भी उसमें इच्छाओं की उत्पत्ति होती रहती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4) कषाय — यह आत्मा का वह भाव है, जिसके कारण वह समता की मर्यादा में नहीं रह पाती। वह बाह्य अर्थ की प्राप्ति के निमित्त क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप विकारी भावों (इच्छाओं) को उत्पन्न कर लेती है।

5) योग — यह आत्मा का वह भाव है, जिसके कारण आत्मा में चंचलता (कम्पन) की उत्पत्ति होती है और बाह्य में मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति भी संचालित होने लगती है। यह प्रत्यक्षतया इच्छाओं की उत्पत्ति का कारण नहीं है।

यह कहना भी आवश्यक होगा कि उपर्युक्त कारणों में से कोई भी पूर्ववर्ती कारण मौजूद होने पर उत्तरवर्ती सभी कारण नियमतः रहते ही हैं। इसी कारण अर्थ–प्रबन्धन की प्रक्रिया में पूर्व–पूर्व के कारणों को दूर करते हुए अपनी भूमिका में क्रमशः अभिवृद्धि करनी चाहिए। इसका विस्तृत विवेचन इस अध्याय के अन्त में किया गया है।

10.6.6 परिग्रह प्रबन्धन : इच्छाओं का प्रबन्धन

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि अर्थ–प्रबन्धन किसी अपेक्षा से अंतरंग परिग्रह अर्थात् इच्छाओं का प्रबन्धन ही है, क्योंकि जैसे–जैसे अंतरंग परिग्रह का प्रबन्धन होता है, वैसे–वैसे बहिरंग परिग्रह का प्रबन्धन भी होता जाता है। अतः सम्यक् अर्थ–प्रबन्धन के लिए व्यक्ति को इच्छाओं का विश्लेषण करना आवश्यक है। इस हेतु जैनदर्शन में निर्दिष्ट उपर्युक्त अंतरंग परिग्रह के पाँच कारणों के आधार पर व्यक्ति में विद्यमान इच्छाओं को पाँच जातियों में विभक्त किया जा सकता है, जो इस प्रकार हैं –

(1) असीम – यह इच्छाओं की वह श्रेणी (जाति) है, जिसमें उत्पन्न होने वाली इच्छाएँ अन्तहीन होती हैं, क्योंकि इनका कोई निर्धारित अन्तिम बिन्दु (Deadline) ही नहीं होता। मूलतः यह व्यक्ति की मिथ्यात्व भाव से युक्त दशा है, जिसमें वह अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग – इन चारों कर्मबन्धनों के कारणों से भी युक्त रहता है। इस अवस्था में व्यक्ति अपनी इच्छाओं का निरन्तर पोषण ही करता रहता है। उसकी किसी इच्छाविशेष की पूर्ति हो जाने पर भी इच्छाओं की मूल जाति 'असीम' ही बनी रहती है, जिसमें इच्छाओं का प्रवाह सतत जारी रहता है। ये इच्छाएँ उस पेड़ के पत्तों के समान हैं, जिसकी जड़ें अभी जीवित हैं।

(2) ससीम – यह इच्छाओं की वह श्रेणी है, जिसमें उत्पन्न होने वाली इच्छाएँ अन्तसहित होती हैं, क्योंकि इच्छाओं की अधिकतम सीमा सुनिश्चित हो जाती है। मूलतः यह मिथ्यात्व दशा से मुक्त, किन्तु अविरति दशा से युक्त व्यक्ति की दशा है, जिसमें वह प्रमाद, कषाय एवं योग – इन तीनों से युक्त भी होता है। इस अवस्था में व्यक्ति अपनी इच्छाओं का सहर्ष पोषण करने के बजाय इन्हें कमजोरी मानता है और औषधिवत् ही इनकी पूर्ति करता है। ये इच्छाएँ उस पेड़ के हरे–भरे पत्तों के समान हैं, जिसकी जड़ों को हाल ही में नष्ट कर दिया गया हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) अल्प – यह इच्छाओं की वह श्रेणी है, जिसमें उत्पन्न होने वाली इच्छाएँ और अधिक नियंत्रित हो जाती हैं, क्योंकि अर्थ–प्रबन्धक अपनी इच्छाओं का आंशिक त्याग करने के लिए संकल्पित हो जाता है। मूलतः यह मिथ्यात्व दशा से पूर्णतया एवं अविरति दशा से अंशतः (एकदेश) निवृत्त होने की दशा है, जिसमें अर्थ–प्रबन्धक प्रमाद, कषाय व योग – इन तीनों से युक्त होता है। इस दशा को जैनदर्शन में देशविरति श्रावक की दशा भी कहा जाता है। ये इच्छाएँ सूखे पेड़ के हल्के पीले पत्तों के समान हैं, जिसकी जड़ें पूर्व में ही नष्ट हो चुकी हों।

(4) अल्पतम – यह इच्छाओं की वह श्रेणी है, जिसमें उत्पन्न होने वाली इच्छाएँ न्यूनतम हो जाती हैं और अर्थ–प्रबन्धक गृहस्थ जीवन का सर्वतः परित्याग करके मुनि दशा की प्राप्ति कर लेता है। उसकी सांसारिक इच्छाओं का तो विसर्जन हो जाता है, किन्तु धर्म एवं मोक्ष के हेतु से अतिसीमित इच्छाएँ अभी शेष रहती हैं। मूलतः यह मिथ्यात्व एवं अविरति से मुक्त व्यक्ति की दशा है, जिसमें वह प्रमाद, कषाय व योग – इन तीनों से युक्त होता है। इसमें वह कभी प्रमादसहित और कभी प्रमादरहित दशा में विचरण करता रहता है। ये इच्छाएँ सूखे पेड़ के पीले पत्तों के समान हैं, जो अब गिरने ही वाले हैं।

(5) शून्य – यह वह श्रेणी है, जिसमें राग–द्वेष एवं कषायों का सम्पूर्ण क्षय हो जाने से प्रबन्धक में इच्छाओं का पूर्ण अभाव हो जाता है। मूलतः यह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय से मुक्त प्रबन्धक की वह दशा है, जिसमें कुछ काल के लिए योग शेष रहता है और अन्ततः वह भी समाप्त हो जाता है। यह दशा उस पेड़ के समान है, जिसकी जड़ें पूर्णतया सूख चुकी हैं, वह पत्तों से विहीन हो रहा है और उस पर अब कभी भी पत्ते पल्लवित नहीं होंगे।

उपर्युक्त पाँच श्रेणियों में क्रमशः आगे बढ़ता हुआ अर्थ–प्रबन्धक अन्ततः पंचम श्रेणी की दशा को प्राप्त कर सकता है और यही अर्थ–प्रबन्धक की आदर्श अवस्था है। इनका भी विस्तृत विवेचन इस अध्याय के अन्त में किया गया है।

10.6.7 परिग्रह का सीमाकरण : परिग्रह–परिमाण व्रत

यदि धन, धान्य, सोना, चाँदी, चतुष्पद, द्विपद आदि से परिपूर्ण यह समग्र संसार भी किसी लोभी मनुष्य को दे दिया जाए, तो भी उसे सन्तोष होने वाला नहीं, उस लोभी आत्मा की तृष्णा शान्त होना बहुत कठिन है,[166] परन्तु जो परिग्रह के मोहपाश को स्पष्ट रूप से समझ जाता है, उसे परिग्रह एक प्रपंच, भार और कष्ट रूप महसूस होता है। इससे निवृत्ति पाने हेतु वह आत्मलक्षी होकर परिग्रह की अनन्तता से शून्यता की यात्रा प्रारम्भ करता है। इस यात्रा में साधक परिग्रह को क्रमशः सात्विक, संक्षिप्त एवं समाप्त करता चला जाता है। वस्तुतः, यही परिग्रह के सीमाकरण की सम्यक् दिशा है।

आधुनिक भौतिकवादी दृष्टिकोण पर आधारित अर्थ–प्रबन्धन यदि व्यक्ति की इच्छाओं (परिग्रह) को असीमित करके उसे अधिक से अधिक समृद्ध और सम्पन्न बनाता है, तो जैनदृष्टिकोण पर आधारित अर्थ–प्रबन्धन उसे अर्थ के सीमांकन की ओर ले जाकर अधिक से अधिक शान्त और प्रसन्न बनाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस अर्थ–प्रबन्धन के लिए यह आवश्यक होगा कि व्यक्ति नौ प्रकार के परिग्रह – धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, स्वर्ण, चाँदी, कुप्य, चतुष्पद, द्विपद आदि की सीमा निर्धारित करे। इन पदार्थों की संख्या, वजन, माप एवं मूल्य आदि को ध्यान में रखते हुए अपनी शक्ति एवं वैराग्यवृत्ति के अनुसार इनके उपयोग का सम्यक् परिमाण करे और धीरे–धीरे इस परिमाण को भी मर्यादित करता जाए।[167] इस सीमांकन की प्रक्रिया में स्थायित्व लाने के लिए इन धन, धान्यादि के सन्दर्भ में सम्यक्तया विचार करके ममत्व–भाव का संकल्पपूर्वक विसर्जन करे। आज भी जैन–परम्परा के कितने ही अनुयायी अणुव्रतों को ग्रहण कर परिग्रह का सीमांकन करते हैं या महाव्रतों को ग्रहण कर परिग्रह का पूर्णतः त्याग करते हैं।

परिग्रह–परिमाण (सीमांकन) सम्बन्धी कुछ बिन्दु

अधिकतर लोग यह मानते हैं कि परिग्रह का सीमांकन न आवश्यक है और न विवेकपूर्ण, बल्कि यह तो एक प्रकार का बन्धन है, किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है। इसके निम्न कारण हैं –

★ जिस प्रकार पेट में रोटी, टायर में हवा, बीमारी में दवाई, यात्रा में सीट और शिक्षा में विषय का सीमांकन करना उचित है, क्योंकि यह सन्तुलन बनाए रखने के लिए आवश्यक है। उसी प्रकार परिग्रह का सीमांकन करना भी जीवन के सन्तुलन को बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

★ यदि अर्थ का सीमांकन नहीं होकर अतिरेक होता है, तो निश्चित रूप से जीवन के अन्य पक्ष, जैसे – शिक्षा, समय, परिवार, समाज, पर्यावरण, धर्म, मोक्ष आदि भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते।

★ यदि व्यक्ति बारह–चौदह घण्टे केवल व्यापार में ही व्यस्त रहता है, तो वह परिवार, समाज, धर्म और आत्मा को उचित महत्त्व नहीं दे पाता। अतः जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए अर्थ का सीमांकन आवश्यक है।

★ जिस प्रकार किसी यात्रा पर जाते समय आवश्यकता से अधिक सामग्रियाँ ले जाना उचित नहीं है, क्योंकि उनमें से कई सामग्रियाँ उपयोग किए बिना ही वापस आ जाती हैं, उनका व्यर्थ भार भी ढोना पड़ता है और यात्रा का सही आनन्द भी नहीं आ पाता। इसी प्रकार, जब जीवन की यात्रा में आवश्यकताएँ अल्प हैं, तो अतिसंग्रह कर व्यर्थ ही भार ढोना भी निश्चित रूप से विवेकपूर्ण नहीं है।

★ सूत्तपाहुड में भी स्पष्ट कहा गया है कि उपलब्ध समस्त वस्तुओं में से जो ग्रहण करने योग्य हैं, उनमें से भी केवल आवश्यकतानुसार अल्प मात्रा में ही वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए। जैसे समुद्र में पर्याप्त जल उपलब्ध होने पर भी यह नहीं सोचा जा सकता कि सारा जल हमारे लिए ही है, उल्टा यदि कोई व्यक्ति वस्त्र धोने के लिए पूरे समुद्र के जल का उपयोग करने लगे तो यह उसकी मूर्खता ही होगी। इसी प्रकार, परिग्रह तो प्रचूर मात्रा में उपलब्ध है, किन्तु विवेक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी में है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकता के आधार पर परिग्रह का सीमांकन कर अल्प मात्रा में ही वस्तुओं को ग्रहण करे।[168]

★ आचारांगसूत्र में भी स्पष्ट कहा गया है कि परिग्रह–वृत्ति से बचना चाहिए।[169]

★ प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी कहा गया है कि स्वयं को अपरिग्रह भावना से संवृत्त कर लोक में विचरण करना चाहिए।[170]

★ आध्यात्मिक दृष्टि से भी देखें, तो यह स्पष्ट है कि जीवन अध्रुव, अनित्य एवं अशाश्वत् है तथा इसमें प्राप्त संयोगों का वियोग सुनिश्चित है, अतः धन, वैभव, परिजन आदि की प्राप्ति, सुरक्षा, उपभोग एवं संचय का अतिरेक करना निश्चित रूप से व्यर्थ ही है। वस्तुतः, अर्थ–प्रबन्धक को अपनी इच्छाओं के आधार पर नहीं, अपितु आवश्यकताओं के आधार पर अपना आर्थिक व्यवहार करना चाहिए। उसका लक्ष्य केवल इतना ही होना चाहिए कि वह अल्प वस्तुओं के माध्यम से अपना जीवन–निर्वाह करता हुआ जीवन–निर्माण के पथ पर कदम बढ़ा सके।

उपर्युक्त बिन्दुओं से यह स्पष्ट है कि अर्थ–प्रबन्धक को अपनी भूमिकानुसार परिग्रह का उचित सीमांकन अवश्य करना चाहिए, जिससे उसका जीवन सन्तुलित, समन्वित एवं समग्रता को प्राप्त हो सके।

10.6.8 अर्थ–प्रबन्धन की प्रक्रिया

अर्थ–प्रबन्धन की प्रक्रिया के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं –

1) आवश्यकताओं का सम्यक् निर्धारण 2) आवश्यकतापूर्त्ति का सम्यक् प्रयत्न

(1) आवश्यकताओं का सम्यक् निर्धारण

प्रबन्धन की दृष्टि से सर्वप्रथम निष्पक्ष और अनाग्रही होकर विवेकपूर्वक अर्थ की आवश्यकताओं को सूचीबद्ध कर उनका आकलन करना चाहिए और फिर विभिन्न दृष्टिकोणों से उनका विश्लेषण करना चाहिए, जिससे आवश्यकताओं का सम्यक् निर्धारण हो सके।

(क) आवश्यकताओं की अवधारणा

जीवन–प्रबन्धन के विभिन्न पक्षों में अत्यावश्यक, आवश्यक एवं अनावश्यक की अवधारणा अतिमहत्त्वपूर्ण है। जैनशास्त्रों में हेय एवं उपादेय दृष्टि से इसका विश्लेषण वर्णित है। अर्थ–प्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में इस विश्लेषण के द्वारा हम वास्तविक उपयोगिता एवं अनुपयोगिता को आधार बनाकर अपनी इच्छाओं, आवश्यकताओं एवं माँगों का उचित निर्धारण कर अर्थ का सम्यक् सीमांकन कर सकते हैं।

★ **अत्यावश्यक वस्तुएँ (Most Important)** – वे वस्तुएँ जो जीवन की अनिवार्य एवं प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं, जैसे – भोजन, पानी, आवास, वस्त्र, चिकित्सा, शिक्षा आदि।

★ **आवश्यक वस्तुएँ (Important)** – वे वस्तुएँ जिनकी अनिवार्यता तो नहीं है, लेकिन उपयोगिता अवश्य है, जैसे – सामान्य वाहन, दूरभाष, कम्प्यूटर, मकान, दुकान, पंखा, पलंग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि।

★ **अनावश्यक वस्तुएँ (Unimportant)** – वे वस्तुएँ जो जीवन में वासना, विलासिता, सुविधाएँ, प्रतिष्ठा–प्रदर्शन, फैशन, व्यसन आदि से सम्बन्धित होती हैं, हानिकारक भी होती हैं और कुछ ही समय में आदत या व्यसन का रूप धारण कर लेती हैं, साथ ही समय, श्रम, सम्बन्ध, सम्मान, सद्गुण, संस्कार आदि को विकृत भी कर देती हैं, अनावश्यक वस्तुएँ कहलाती हैं, जैसे – कॉस्मेटिक्स, महँगी गाड़ियाँ, विशाल हवेलियाँ, कीमती वस्त्र, मादक द्रव्य, महँगा फर्नीचर, आकर्षक आभूषण आदि।

इस प्रकार, जीवन के प्रत्येक स्तर पर अर्थ का उपर्युक्त विभाजन किया जा सकता है। इस हेतु निम्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है –

★ यह विभाजन प्रत्येक प्रबन्धक के लिए भिन्न–भिन्न होता है, क्योंकि वैयक्तिक संस्कार, रुचि, उद्देश्य, शिक्षा, संगति, कर्म–प्रेरणा, पृष्ठभूमि, उम्र, भौगोलिक व्यवस्था आदि जीवन के विविध पहलू प्रायः सभी के भिन्न–भिन्न होते हैं।

★ यह विभाजन यद्यपि व्यक्तिगत होता है, तथापि यह मनेच्छा अथवा लोक–प्रवाह की विकृतियों पर आधारित न होकर अर्थ की वास्तविक उपयोगिता पर आधारित (Need based system) होना चाहिए।

★ यह लोचपूर्ण होने से देश, काल, व्यक्ति एवं परिस्थिति के आधार पर परिवर्त्तनशील होता है।

★ इसके आधार पर व्यक्ति को कर्त्तव्यत्रय का पालन करना चाहिए – 1) अनावश्यक का समाप्तीकरण 2) आवश्यक का संक्षेपीकरण एवं 3) अत्यावश्यक का सात्विकीकरण।

(ख) आवश्यकताओं का विश्लेषण

अर्थ–प्रबन्धक को अपनी आवश्यकताओं का उचित विश्लेषण करना भी आवश्यक है और इस हेतु उसे निम्नलिखित मापदण्डों के आधार पर विश्लेषण करना चाहिए।

★ **काल के आधार पर** – अर्थ–प्रबन्धक को यह विश्लेषण करना जरुरी है कि आवश्यकताओं का सम्बन्ध किस काल से है – भूत, वर्त्तमान अथवा भविष्य से और वर्त्तमान में उनकी कोई प्रासंगिकता है भी अथवा नहीं। यदि प्रासंगिकता न हो, तो उस आवश्यकता को निरस्त कर देना चाहिए।

★ **साधनों की उपलब्धता के आधार पर** – अर्थ–प्रबन्धक को आवश्यकतापूर्त्ति के साधनों का भी सम्यक् विश्लेषण करना आवश्यक है। जैनाचार्यों ने साधनों के सन्दर्भ में दो सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर अर्थ–प्रबन्धक को अपना व्यवहार करना चाहिए – प्रथम यह है कि साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती[171] एवं द्वितीय यह है कि इच्छाएँ भले ही असीम हों, किन्तु साधन सदैव सीमित ही होते हैं।[172] अतः अर्थ–प्रबन्धक को सम्यक्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साध्य की सिद्धि के लिए उचित साधनों को प्राप्त करने का प्रयत्न तो करना चाहिए, फिर भी यदि साधन उपलब्ध न हो सकें, तो अपनी आवश्यकताओं को विवेकपूर्वक निरस्त कर देना चाहिए अन्यथा इच्छापूर्त्ति के प्रयत्न व्यर्थ होकर असन्तोष के कारण भी बन जाते हैं। कुल मिलाकर, साधनों के अभाव में व्यक्ति को व्यर्थ ही इच्छापूर्त्ति का हठाग्रह नहीं रखना चाहिए। उदाहरणार्थ, पूंजी के अभाव में भी आलीशान मकान, कार, नौकर–चाकर, फर्नीचर आदि की इच्छा रखना मूर्खता है।

★ **पूर्त्ति की सम्भावना के आधार पर** – अक्सर वे आवश्यकताएँ भी असन्तोष का कारण बन जाती हैं, जिनकी बाजार में पूर्त्ति की सम्भावना न हो। अतः अर्थ–प्रबन्धक को बाजार की स्थिति की भी समीक्षा करनी चाहिए। यदि सम्भावना अल्प हो अथवा न हो, तो इच्छाओं को निरस्त कर देना ही उचित है, अन्यथा कई बार समय, श्रम एवं धन बेकार चला जाता है।

★ **उद्देश्यों के आधार पर** – आवश्यकता के निर्धारण करने के पूर्व यह विश्लेषण करना भी आवश्यक है कि आवश्यकता का उद्देश्य क्या है? स्वार्थ, परार्थ अथवा आत्मार्थ। जैनदर्शन में यह स्पष्ट मन्तव्य है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का त्याग करना सर्वथा उचित है, किन्तु आत्मार्थ का नहीं।[173] अतः अर्थ–प्रबन्धक को इन तीनों उद्देश्यों के बीच निम्न सन्तुलन स्थापित करना जरुरी है –

- वह आत्महित की आवश्यकताओं को सर्वोपरी प्राथमिकता दे।
- वह लोकहित की आवश्यकताओं को सापेक्षिक प्राथमिकता दे।
- वह स्वार्थजन्य आवश्यकताओं को यथाशक्य गौणता प्रदान करे।

★ **वैकल्पिकता के आधार पर** – कुछ आवश्यकताएँ वैकल्पिक (Optional) होती हैं, जिन्हें अनेक प्रकार से सन्तुष्ट किया जा सकता है। अतः उनका निर्धारण करते समय अर्थ–प्रबन्धक को उचित लचीलापन (Flexibility) रखना आवश्यक है।[174]

★ **माँग के आधार पर** – आवश्यकताओं का निर्णय लेने से पूर्व ही यह समीक्षा भी जरुरी है कि इसकी माँग का सही आधार क्या है – वास्तविक, औपचारिक अथवा काल्पनिक। काल्पनिक आवश्यकताओं का परित्याग, औपचारिक आवश्यकताओं का परिसीमन तथा वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्त्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

★ **पूर्त्ति के स्रोत के आधार पर** – यह विश्लेषण भी जरुरी है कि आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए नवीन वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए अथवा पूर्व–संगृहीत वस्तुएँ ही पर्याप्त हैं। वस्तुतः, नवीन के बजाय पूर्व–संगृहीत वस्तुओं के द्वारा ही आवश्यकतापूर्त्ति को प्राथमिकता देनी चाहिए।

इस प्रकार, आवश्यकताओं का विश्लेषण कर अत्यावश्यक को प्राथमिकता देना और अनावश्यक को छोड़ने का विवेक प्रतिसमय जाग्रत रखना अर्थ–प्रबन्धक का कर्त्तव्य है। साथ ही आवश्यकताओं को धीरे–धीरे कम करने की निरन्तर जागृति रखते हुए जीवन–यापन करना भी आवश्यक है। धीरे–धीरे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसे यह आत्मविश्वास भी जाग्रत करना चाहिए कि निर्धारित आवश्यकताओं में और अधिक कटौती भी सम्भव है या इनके बिना भी जीवन जिया जा सकता है। इस हेतु अर्थ–प्रबन्धक को समय–समय पर नियत वस्तु के बिना भी जीने का अभ्यास करना चाहिए, जिससे उसके आत्मबल का विकास हो सके और साधना में निखार आ सके।

परिणामस्वरूप, उसमें शारीरिक एवं मानसिक परिपक्वता आती जाती है और पूर्व में जो वस्तु अत्यावश्यक महसूस होती थी, वह धीरे–धीरे आवश्यक और आगे अनावश्यक की श्रेणी में पहुँच जाती है। इस प्रकार जीवन यात्रा में इच्छाएँ अनन्तता से शून्यता की ओर सिमटती जाती हैं और अर्थ–प्रबन्धक की प्रसन्नता और आत्मनिर्भरता सतत बढ़ती जाती है।

(2) आवश्यकताओं की पूर्त्ति का सम्यक् प्रयत्न

(क) साधनों के प्रयोग में सावधानियाँ

अर्थ–प्रबन्धन के लिए आवश्यकतापूर्त्ति के साधनों का सम्यक् विश्लेषण करना भी एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इस विश्लेषण के आधार पर ही उसे उचित साधनों का चयन करके उनका सम्यक् प्रयोग करना चाहिए।

★ **कषायों की मन्दता** – अर्थ सम्बन्धी प्रयत्नों में चारों प्रकार की कषायों – क्रोध, मान, माया और लोभ का प्रतिक्षण प्रयोग होता रहता है। अक्सर इनका अतिरेक हो जाया करता है। ज्यों–ज्यों लाभ और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती जाती है, त्यों–त्यों लोभ और मान बढ़ता जाता है।[175] इसके विपरीत इसमें विघ्न या विफलता हाथ लगने पर क्रोध और माया भी बढ़ जाती है। इससे चारित्र की हानि हुए बगैर नहीं रहती।[176] कषायों की तीव्रता से व्यक्ति के इहलोक और परलोक – दोनों बिगड़ जाते हैं। अतः अर्थ–प्रबन्धक के लिए कषायों की तीव्रता को नियन्त्रित करने का अभ्यास करना अत्यावश्यक है। कहा भी गया है – क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को सरलता एवं ईमानदारी से तथा लोभ को सन्तोष से जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।[177] वस्तुतः यही सुखी जीवन की कुंजी है।

★ **प्रवृत्तियों की शुभ्रता** – अर्थ–पुरूषार्थ में मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों की विशिष्ट भूमिका होती है। अर्थ–प्रबन्धन के लिए इनकी, सात्विकता पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इनके दुरुपयोग से स्व–पर दोनों का ही नुकसान होता है। बाहर में हिंसा, झूठ, चोरी आदि के द्वारा अन्य जीवों को हानि पहुँचती है, तो अंतरंग में पाप–कर्मों का संचय भी होता है। अतः अर्थ–प्रबन्धक को मन से दुश्चिन्तन, वचन से अहितकारी, अमितकारी एवं अप्रियकारी भाषा का प्रयोग तथा काया से हिंसा, चोरी आदि असद्व्यवहार नहीं करने चाहिए।

★ **कृत, कारित एवं अनुमत की सावधानी** – व्यक्ति अन्योन्याश्रित (Interdependent) होता है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति कभी स्वयं कार्य में जुटता है, कभी दूसरों को कार्य में नियुक्त करता है और कभी दूसरों को कार्य हेतु अनुमति, प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं समर्थन आदि प्रदान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करता है। जैनदर्शन में इन्हें ही क्रमशः कृत, कारित एवं अनुमत रूप त्रिकरण कहा गया है। चूँकि सामाजिक जीवन में व्यक्ति अन्योन्याश्रित होता है, अतः उसे इन त्रिकरणों का प्रयोग तो करना ही होता है। उसे इनके अनावश्यक प्रयोगों से बचने का यथासम्भव प्रयास करना चाहिए, क्योंकि जैनदर्शन में स्पष्ट कहा गया है कि कृत–कारित–अनुमत तीनों से हुए शुभाशुभ कर्मो का भुगतान प्रत्येक व्यक्ति को करना ही पड़ता है।

आध्यात्मिक–साधना के विकास क्रम में साधक को यह भी चाहिए कि वह कृत–कारित–अनुमत का क्रमशः परित्याग करते जाए।[178] जैसे–जैसे व्यक्ति की आवश्यकता कम होती जाती है, वैसे–वैसे उसकी गतिविधियाँ भी स्वतः कम होती जाती हैं।

★ **संरम्भ, समारम्भ एवं आरम्भ की उचितता**[179] – अर्थ सम्बन्धी प्रक्रियाओं के अन्तर्गत कार्य–योजना बनाना, कार्य हेतु साधनों को जुटाना तथा कार्य का क्रियान्वयन करना – ये तीनों कार्य होते ही हैं, जिन्हें जैनदर्शन में क्रमशः संरम्भ, समारम्भ एवं आरम्भ कहा गया है। यद्यपि ये तीनों ही आवश्यक हैं, फिर भी अर्थ–प्रबन्धक को इनके अतिरेक पर उचित नियंत्रण करना चाहिए। यह आवश्यक है कि संरम्भ हो, लेकिन इसमें अनावश्यक आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अर्थात् हर्ष–विषाद न हो। यह भी जरुरी है कि भूमि, श्रम, पूंजी, प्रबन्ध और साहस आदि साधनों का एकत्रीकरण (समारम्भ) हो, किन्तु यह कार्य उचित मात्रा में, उचित गुणवत्ता के साथ, उचित समय पर एवं अल्पातिअल्प पाप–व्यापारपूर्वक हो। इसी तरह आरम्भ सम्बन्धी कार्यों के लिए आवश्यक है कि उनकी मर्यादा हो।

★ **उत्पादन के बाह्य साधनों का सम्यक् प्रयोग** – आधुनिक अर्थशास्त्री अल्फ्रेड मार्शल ने उत्पादन के बाह्य साधनों के पाँच विभाग किए हैं – 1) भूमि 2) श्रम 3) पूंजी 4) प्रबन्धन और 5) साहस।[180] जैनग्रन्थों में उत्पादन के साधनों का ऐसा वर्गीकरण तो नहीं मिलता, तथापि इन सब तथ्यों का यथावसर विश्लेषण एवं विवेचन अवश्य किया गया है।[181] अर्थ–प्रबन्धन की सफलता के लिए हमें इन पाँचों साधनों के प्रयोग में उचित विवेक रखना चाहिए, अन्यथा यही साधन बहु–आरम्भ–परिग्रह रूप होने से नरकावास के साधन भी सिद्ध हो सकते हैं।[182]

इस प्रकार, बाह्य एवं अंतरंग साधनों का पूरी सजगता के साथ सदुपयोग करना चाहिए। चाहे मकान बनाना हो, दुकान चलाना हो, भोजन बनाना हो, उद्योग चलाना हो, खेती करनी हो, यात्रा करनी हो या अन्य कोई भी कार्य क्यों न करना हो, हमें निरर्थक ही दूसरे जीवों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए, जो हमें अपने लिए पसन्द न हो।[183] स्थूल–हिंसा आदि दोष तो करना ही नहीं,[184] लेकिन निरर्थक सूक्ष्म–हिंसा आदि दोषों से भी बचना चाहिए।[185] फिर भी भूलवश यदि दोषों का सेवन हो जाए, तो सजगता एवं सहजता के साथ उनकी निन्दा, गर्हा (गुरू के समक्ष दोषों की स्वीकृति), आलोचना, प्रतिक्रमण एवं प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए। यही जैनाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट साधन–शुद्धि है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ख) आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए उचित प्रक्रियाएँ

उचित आवश्यकताओं एवं उनकी पूर्त्ति के साधनों का निर्धारण करने की सार्थकता तभी है, जब क्रियान्वयन की सम्यक् प्रक्रिया का पालन एवं प्रबन्धन भी हो। यह प्रक्रिया अनेक छोटी–बड़ी प्रक्रियाओं का समूह होती है, जिनका समुचित प्रबन्धन करने पर ही अर्थ सम्बन्धी प्रयत्नों में सफलता प्राप्त हो सकती है। ये प्रक्रियाएँ चार प्रकार की होती हैं –

★ **ग्रहण प्रक्रिया** – अर्थोपार्जन या अर्थ–प्राप्ति की प्रक्रिया
★ **सुरक्षा प्रक्रिया** – उपार्जित या प्राप्त अर्थ के संरक्षण एवं रख–रखाव की प्रक्रिया
★ **उपभोग प्रक्रिया** – उपार्जित अर्थ के उपयोग की प्रक्रिया
★ **संग्रह प्रक्रिया** – अतिरिक्त अर्थ के संचय की प्रक्रिया

प्रतीत होता है कि ये चारों प्रक्रियाएँ मूलतः प्राचीन महर्षियों द्वारा उपदिष्ट चारों संज्ञाओं से सम्बद्ध हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है –

1) आहार संज्ञा की पूर्त्ति का साधन है – ग्रहण प्रक्रिया
2) भय संज्ञा की पूर्त्ति का साधन है – सुरक्षा प्रक्रिया
3) मैथुन संज्ञा की पूर्त्ति का साधन है – उपभोग प्रक्रिया
4) परिग्रह संज्ञा की पूर्त्ति का साधन है – संग्रह प्रक्रिया

यद्यपि सामान्य व्यक्ति के जीवन में ये प्रक्रियाएँ निरन्तर साथ–साथ चलती रहती हैं, तथापि महत्त्व की अपेक्षा से इनका एक क्रम रहता है। व्यक्ति सर्वप्रथम ग्रहण–प्रक्रिया को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है। अर्थ की प्राप्ति होने पर सुरक्षा–प्रक्रिया की प्राथमिकता हो जाती है। अर्थ की सुरक्षा सुनिश्चित होने पर उपभोग प्रक्रिया को प्रमुखता मिलती है और अन्त में उपभोग करके सन्तृप्त होने पर शेष अर्थ की संग्रह–प्रक्रिया प्रमुख हो जाती है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि ये प्रक्रियाएँ निरन्तर गतिशील अर्थ–चक्र (Economic Cycle) का निर्माण करती हैं। किसी नियत वस्तु की अपेक्षा से अर्थ का यह चक्र स्वतः स्पष्ट है। सामान्य व्यक्ति किसी वस्तुविशेष का ग्रहण, सुरक्षा, उपभोग और संग्रह प्रायः अनुक्रम से ही करता रहता है और संगृहीत अर्थ का पुनः निवेश करके अर्थवृद्धि का प्रयत्न भी करता रहता है। फलस्वरूप, अभिवर्धित अर्थ को पुनः ग्रहण करता है। इस तरह से यह अर्थचक्र अनवरत प्रवाहित (Continuous Process) होता रहता है।

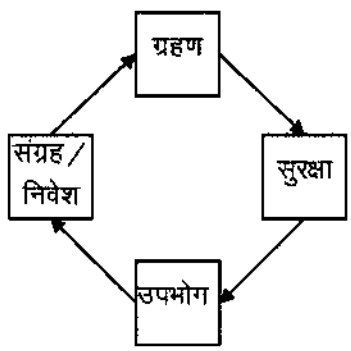

यह चक्र दिखने में सरल है, लेकिन इस चक्र की सबसे बड़ी समस्या है – इसके ग्रहणादि कारकों की जटिलता, जिससे व्यक्ति इस चक्र को उचित ढंग से नियंत्रित नहीं रख पाता और फलतः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह असन्तुलित हो जाता है।

इस चक्र की जटिलता का मूल कारण यही है कि व्यक्ति अक्सर ग्रहण, सुरक्षा, उपभोग, संग्रह और वृद्धि सम्बन्धी क्रियाओं में अपनी सीमा का उल्लंघन कर देता है। वह पुण्य–पाप कर्मों (संचित कर्मों) के फलस्वरूप प्राप्त परिस्थितियों में अपनी मनःस्थिति को नियंत्रित नहीं रख पाता और कभी ग्रहण का अतिरेक करता है, तो कभी सुरक्षा, उपभोग, संग्रह अथवा वृद्धि का। वह प्रारम्भ में इनके अतिरेक के दुष्परिणामों को समझ नहीं पाता, किन्तु बाद में यही 'अर्थ' उसकी जिंदगी में अनर्थ का मूल बन जाता है।[186]

इस अर्थ–चक्र की प्रतिसमय बढ़ती हुई विसंगतियाँ व्यक्ति को कैंसर के रोग के समान पीड़ित करती रहती हैं। ये विसंगतियाँ इस प्रकार हैं –

1) जीवन दिनोंदिन बोझिल एवं अशान्तिमय बनना।
2) समस्याओं का दिनोंदिन बढ़ना, किन्तु समाधानों का अभाव होना।
3) पापाचार की वृद्धि होना।
4) साधन–शुद्धि में विवेक का अभाव होना।
5) मानवाधिकारों का हनन होना।
6) अन्यों के साथ वैर–वैमनस्य की वृद्धि होना।
7) प्रसन्नता का अभाव एवं जीवन यंत्रवत् होना।
8) आत्महत्या, मादक–पदार्थों का सेवन, आपराधिक प्रवृत्ति आदि की नौबत आना।
9) झूठी शान–शौकत एवं ऐशो–आराम की आदत बन जाना।
10) जीवन के अन्य व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक उद्देश्यों की उपेक्षा होना इत्यादि।

अतः कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में इस चक्र के सम्यक् प्रबन्धन की नितान्त आवश्यकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त अर्थ–चक्र का गहराई से विश्लेषण करने पर इसके तीन सम्भावित रूप हो सकते हैं, जो इस प्रकार हैं –

अर्थ–चक्र के प्रकार	प्रमुख विशेषताएँ	सही (✓) या गलत (✗)
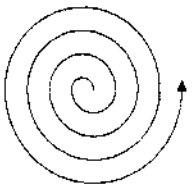 निरन्तर वृद्धिशील	1) व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का सतत विकास। 2) व्यावसायिक दायित्व की निरन्तर वृद्धि। 3) अन्य व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक पहलुओं की उपेक्षा। 4) सम्यक् अर्थ–प्रबन्धन का अभाव।	✗
निरन्तर ह्रासशील	**1) व्यक्ति की आर्थिक विपन्नता में वृद्धि।** **2) उपार्जन कम एवं उपभोग अधिक।** **3) कर्ज में निरन्तर वृद्धि।** **4) अन्य व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक पहलुओं की उपेक्षा।** **5) सम्यक् अर्थ–प्रबन्धन का अभाव।**	✗
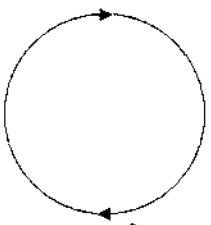 सन्तुलनशील	1) व्यक्ति की आर्थिक–स्थिति में सन्तुलन। 2) आय के हिसाब से व्यय। 3) कर्जशून्य स्थिति। 4) सम्यक् अर्थ–प्रबन्धन का सद्भाव। 5) धर्म, अर्थ, भोग एवं मोक्ष पुरूषार्थ में उचित सन्तुलन।	✓

सन्तुलनशील अर्थ–चक्र के औचित्य का चिन्तन प्राचीनकाल से ही होता आया है। इसमें देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर परिवर्त्तन भी होते रहे हैं, किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि हर युग में प्रबुद्ध जनों ने अर्थ के सम्यक् नियोजन के प्रयत्नों पर ही बल दिया है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में कहा गया है कि गृहस्थ सर्वप्रथम अपनी आय पर विचार करे कि वह कितना और कैसे कमाता है, क्योंकि अन्याय से कमाया हुआ एक पैसा भी समस्त धन को दूषित कर देता है।[187]

योगशास्त्र में भी स्पष्ट कहा गया है कि एक सद्गृहस्थ न्यायनीतिपूर्वक धनोपार्जन करे तथा आय के अनुपात में ही व्यय करे।[188]

जैन–ग्रन्थों के अनुसार, प्राचीन समय में सन्तुलनशील अर्थ–चक्र की स्थापना के लिए निम्न प्रकार से नियोजन किया जाता था[189] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ धन का एक भाग व्यापार के लिए लगता था।

★ एक भाग घरेलू व्यवस्था, अतिथि–सेवा तथा दान आदि कार्यों के लिए रखा जाता था।

★ एक भाग अपने आश्रित व्यक्तियों के भरण–पोषण के लिए होता था।

★ एक भाग भविष्य के लिए सुरक्षित रखा जाता था।

भगवान् महावीर के प्रमुख श्रावक आनन्द ने अपनी सम्पत्ति का न केवल परिमाण किया, बल्कि उनका तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर सम्यक् नियोजन भी किया – चार करोड़ सोनैया (प्राचीन मुद्रा) व्यापार में लगाई, चार करोड़ घर, भूमि, आभूषण, जायदाद आदि में लगाई तथा चार करोड़ भूमि में सुरक्षित रखी।

दीघनिकाय में श्री गौतम बुद्ध ने भी एक सुन्दर व्यवस्था बताई है[190]–

★ गृहस्थ को धन का एक भाग स्वयं के खर्च के लिए उपयोग करना चाहिए।

★ दो भाग व्यापार में लगाना चाहिए।

★ एक भाग भविष्य के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

इस प्रकार, यह द्योतित होता है कि अर्थ–चक्र के उचित सन्तुलन हेतु महापुरूषों ने देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर सदुपदेश दिए हैं। वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में भी व्यक्ति को ग्रहणादि प्रक्रियाओं में उचित सन्तुलन स्थापित करने की आवश्यकता है। यद्यपि आज की अर्थ–व्यवस्था में मुद्रास्फीति की दर (Inflation Rate) बहुत ज्यादा है (लगभग 8–10%) जिससे महँगाई भी निरन्तर बढ़ रही है, फिर भी दूरदर्शितापूर्वक अपनी आवश्यकताओं को मर्यादित करते हुए सन्तुलित अर्थ–नियोजन (Financial Planning) करने की अतीव आवश्यकता है, तभी व्यक्ति जीवन को धर्मानुकूल एवं मोक्षानुकूल कर सकेगा।

इस प्रकार, अर्थ के अतिरेक एवं अल्पता से बचते हुए अर्थ प्रक्रियाओं का सम्यक् प्रबन्धन करना नितान्त जरुरी है। इस हेतु अर्थ–प्रबन्धक को ग्रहण, सुरक्षा, उपभोग एवं संग्रह – इन चारों अर्थ–प्रक्रियाओं का पृथक्–पृथक् प्रबन्धन करना चाहिए, इनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

1) ग्रहण–प्रबन्धन

जीवन में वस्तु की उपयोगिता का सम्यक् विश्लेषण एवं निर्णय करके वस्तु को ग्रहण करना ही ग्रहण–प्रबन्धन है। इसके अभाव में अविवेकपूर्ण ढंग से गृहीत वस्तु बोझ रूप हो जाती है। चाहे धन का उपार्जन हो, वस्तु का क्रय हो अथवा उपहार की स्वीकृति हो, अक्सर व्यक्ति के मन में वास्तविक आवश्यकता की समझ का अभाव रहता है और प्रलोभन में मन ललचा जाता है। आचारांगसूत्र में इसीलिए कहा गया है कि **साधक को मात्रज्ञ होना चाहिए अर्थात् ग्रहण की जाने वाली वस्तु की मात्रा का विवेक होना चाहिए।**[191]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आजकल सामान्य स्तर के घर–दुकानों में भी प्रायः आवश्यकता से अधिक वस्त्र, बर्तन, क्रॉकरी, जूते–चप्पल, फर्नीचर आदि अनेकानेक सामग्रियाँ दिखाई देती हैं, जिनमें से कई तो पूरा उपयोग किए बिना ही नष्ट हो जाती हैं। यहाँ तक कि गृहीत वस्तु की देख–रेख, रख–रखाव, उपभोग एवं संग्रह करने में अनेक तकलीफें भी आती हैं। इसमें व्यर्थ ही श्रम, कष्ट एवं कार्य–भार भी बढ़ जाता है। अतः ग्रहण–प्रबन्धन करना जीवन का एक आवश्यक अंग है। ग्रहण–प्रबन्धन का यह सिद्धान्त है कि कभी भी किसी वस्तु को शौकिया नहीं खरीदना चाहिए। पहले यह विचारना चाहिए कि क्या वस्तु की सचमुच आवश्यकता है या केवल उसका आकर्षणभर है या अकारण ही प्राप्त करने की इच्छा है? सस्ते होने से अथवा लोक–प्रवाह से किसी वस्तु को खरीदना उचित नहीं है। अतः लोभ का त्याग कर सिर्फ आवश्यकतानुसार ही खरीदना चाहिए।

ग्रहण–प्रबन्धन के लिए साधन–शुद्धि के बारे में सम्यक् समझ का होना भी अपेक्षित है। वस्तु के उत्पादन, विनिमय, वितरण एवं उपभोग में अन्याय, अनीति एवं अकल्पनीय दोषों का सेवन होता हो तो उसका त्याग कर देना चाहिए। यदि वस्तु निरीह प्राणियों के वध से प्राप्त चमड़े, फर, रेशम आदि दोषपूर्ण (हिंसा से प्राप्त) पदार्थों से निर्मित हैं अथवा दूरदराज से आयातित (Imported) है अथवा उपभोग के समय मनोभावों को विकृत करती हो, तो वह भी ग्राह्य नहीं है। वस्तु यदि हमारी संस्कृति, सदाचारिता और सादगी के अनुरूप हो, तो ही ग्रहण करना चाहिए।

यह भी देखना आवश्यक है कि वस्तु की उपयोगिता कितने समय तक एवं कितनी बार होगी। यदि यदा–कदा ही प्रयोग होती हो, तो उसके वैकल्पिक उपाय खोजना चाहिए। उदाहरणार्थ, वैवाहिक आयोजन में नई गाड़ी, नया सूट, नया फर्नीचर आदि खरीदना हमेशा उचित नहीं है।

इसी प्रकार, वस्तु का ग्रहण करने के पूर्व उसकी तात्कालिक ही नहीं, वरन् दीर्घकालिक लाभ–हानि का सम्यक् विश्लेषण भी करना आवश्यक है। जैन–परम्परा में इसे **'एषणा–समिति'** नामक आचार कहा जाता है, जो मुनि एवं श्रावक दोनों के लिए पालनीय है। मुनि के लिए तो स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वह आहार, विहार, निहार आदि सभी कार्यों के लिए आवश्यक भूमि, भवन, वस्तु आदि की निर्दोषता के बारे में पहले पूरी जानकारी ले, फिर उन्हें ग्रहण करे, अन्यथा उसे अकल्पनीय पिण्ड के सेवन का दोष लगता है।[192]

यह सदैव स्मरण रहे कि ग्रहण करने के पूर्व वस्तु के प्रति हमारा कोई दायित्व नहीं बनता, अतः उसका त्याग आसानी से किया जा सकता है, किन्तु ग्रहण करते ही उसकी पूरी जवाबदारी हमारी हो जाती है, अतः 'ग्रहण' की प्रक्रिया में सावधानी रखना आवश्यक है।

इस प्रकार, किसी वस्तु को ग्रहण करने के पूर्व उस वस्तु की 1) उपयोगिता (Utility), 2) मात्रा (Quantity), 3) गुणवत्ता (Quality), 4) कीमत (Price), 5) प्रयोग की बारम्बारता (Frequency of use), 6) उपयोगिता–काल (Life Duration) 7) शुद्धता (Purity), 8) पापरहितता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(Blamelessness), 9) संस्कृति–अनूकुल (Suitable to culture) एवं 10) भारदेयता (Burden/Obligation) का सम्यक् विचार करना जरूरी है और यही ग्रहण–प्रबन्धन है।

2) सुरक्षा–प्रबन्धन

जिस प्रकार अर्थ को सम्यक्तया ग्रहण करना आवश्यक है, उसी प्रकार गृहीत अथवा संचित अर्थ की सम्यक् सुरक्षा करना भी एक अनिवार्य कर्त्तव्य है, यही सुरक्षा–प्रबन्धन है।

कई बार अर्थोपार्जन तो किया जाता है, किन्तु समुचित सुरक्षा नहीं हो पाती। इसके मुख्य कारण हैं – 1) आलस्य, 2) लापरवाही एवं 3) अत्यधिक फैलावा।

ग्रहण उतना ही करना चाहिए, जिसकी हम आवश्यक सुरक्षा एवं रख–रखाव कर सकें।

जैन–मुनि का यह आचार है कि वह आवश्यक वस्तु की ही याचना करे एवं याचना से प्राप्त वस्तु की सुरक्षा में लापरवाही न बरते। यही कारण है कि साधु रात्रि में शयन के समय अपने उपकरणों, जैसे – ओघा, मुँहपत्ति, पात्र, आसन आदि को अपने निकट ही रखते हैं। यहाँ तक कि ओघा एवं मुँहपत्ति को छोड़कर एक हाथ से अधिक दूर जाना भी कल्प्य नहीं है।[193]

जैन–श्रावक के लिए भी जैन–मुनि के समान ही सुरक्षा–दायित्व निर्दिष्ट हैं, जिनके माध्यम से उसे आसक्ति की नहीं, अपितु जागरुकता की शिक्षा दी गई है। यह स्पष्ट कहा गया है कि मुनि के साथ–साथ श्रावक वर्ग भी अपने क्रोध, मान, माया एवं लोभ आदि आवेगों (कषायों) को उपशान्त रखे। वह धैर्य, सन्तोष, क्षमा, सरलता आदि सद्गुणों का विकास करता हुआ अपना जीवन–प्रबन्धन करे, किन्तु जागरूकता के अभाव में वह इनका समुचित पालन नहीं कर पाता। कई बार वह परिग्रह–विस्तार के लिए तो जागरूक रहता है, किन्तु विद्यमान परिग्रह की सुरक्षा के लिए लापरवाही बरतता है। इसी कारण, प्रायः घरों, उद्योगों एवं दुकानों में रखे शाक, फल, धान्य, वस्त्र, फर्नीचर आदि सड़ते रहते हैं, जिनमें कई बार कीड़े भी पैदा हो जाते हैं। इससे अर्थ का अनावश्यक अपव्यय एवं नुकसान तो होता ही है, अनगिनत जीवों की हिंसा का दोष भी लगता है। अधिक मुनाफे के प्रलोभन में व्यक्ति कई बार अपने वेयरहाऊस एवं स्टोररुम में वस्तु का अतिसंग्रह कर लेता है, किन्तु उसका विक्रय नहीं होने की स्थिति में वस्तु की नियत कालमर्यादा पूरी हो जाती है। इससे न सिर्फ व्यापारी का नुकसान होता है, अपितु वस्तु के उत्पादन एवं विनिमय में प्रयुक्त श्रम, समय, ईन्धन, संसाधन आदि का नुकसान भी होता है। कई बार प्राकृतिक प्रकोप, जैसे – अतिवृष्टि, बाढ़, आँधी, तूफान, चक्रवात, आर्द्रता आदि होते रहते हैं। ये कई बार सामयिक, तो कई बार असामयिक भी होते हैं और इनसे भी अत्यधिक हानि होती है। सुरक्षा व्यवस्था में खामियाँ होने से निजी और सरकारी – दोनों क्षेत्रों में सीमेंट, लकड़ी, अनाज, वाहन, मशीनें, लोहा आदि सम्पत्तियों की अरबों–खरबों रूपयों की हानि होती है। किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि इससे न तो हम उपलब्ध संसाधनों का उपयोग करते हैं और न ही दूसरों के उपयोग हेतु सहयोगी बनते हैं। यह हमारी प्रमादवृत्ति का उदाहरण है। अनेकों बार अमानवीय कार्यों, जैसे – आगजनी, तोड़–फोड़, दंगे–फसाद आदि से भी अनावश्यक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हानियाँ होती हैं, जो चिन्ता का विषय है। महात्मा गाँधी का यह विचार आज भी प्रासंगिक है कि 'मनुष्य अर्थ की कमी के कारण उतना परेशान नहीं है, जितना अर्थ की अव्यवस्था (अपव्यय) के कारण है।'[194]

कई लोग वस्तुओं की असुरक्षा से हो रहे नुकसानों को महत्त्व नहीं देते हैं। वे कहते हैं कि – इसमें क्या बिगड़ा है, पुनः क्रय कर लेंगे। परन्तु जैनाचार्यों की दृष्टि में वस्तु के आर्थिक–मूल्य का ही नहीं, अपितु जैविक–मूल्य का भी महत्त्व है। यही कारण है कि जैन–परम्परा में एक बूँद पानी (आधुनिक–विज्ञान के अनुसार, यह 36,450 त्रस जीवों से युक्त है) के अपव्यय को घी ढोलने से भी अधिक पापमय माना गया है।[195] यह वस्तुतः कंजूसी नहीं, बल्कि मितव्ययता का ज्वलन्त उदाहरण है।

कुछ लोग अपनी सुरक्षा के लिए हिंसक कुत्ते पालते हैं, किसी अपेक्षा से यह भी उचित नहीं है। अपनी सुरक्षा और चैन की नींद के लिए किसी निरीह प्राणी को बाँधकर रखना तथा उसके लिए हड्डी, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों की व्यवस्था करना अनुचित है।

आत्म–सुरक्षा के लिए पिस्तौल, चाकू, तलवार आदि अनावश्यक रूप से हिंसक साधनों को रखना भी ठीक नहीं है। यद्यपि व्रतधारी सामान्य श्रावक के लिए आत्म–सुरक्षार्थ विरोधी–हिंसा करना वर्जित नहीं है, तथापि वह किसी भी सामान्य प्रसंग में अन्य प्राणियों की हिंसा के लिए स्वतंत्र भी नहीं है। आजकल छोटी–छोटी बातों को लेकर बड़े–बड़े विवाद हो जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, किरायेदार द्वारा मकान खाली नहीं करना, खाली भूमि पर पड़ोसियों द्वारा कचरा फेंकना, हुण्डी का समय पर भुगतान नहीं होना, मजदूरों द्वारा हड़ताल करना, जायदाद के बँटवारे में पक्षपात होना इत्यादि वे कार्य हैं, जिनमें हिंसक उपकरणों का प्रयोग न तो स्वयं करना चाहिए, न ही दूसरों द्वारा करवाना चाहिए। अन्यथा क्षण भर की भूल व्यक्ति का पूरा भविष्य बिगाड़ सकती है। इन विवादों के समाधान के लिए प्रबन्धक को निम्न प्रयत्न करने चाहिए –

★ वह स्वयं ऐसी लापरवाही ही न बरते कि दूसरे को उसका गलत लाभ उठाने का अवसर मिले।
★ विवाद हो जाने की स्थिति में सामंजस्य को प्राथमिकता दे।
★ मजबूरी में भी गैरकानूनी हथकण्डे अपनाने के बजाय पुलिस, लोक–अदालत, न्याय–पंचायत, उपभोक्ता फोरम आदि का सहयोग ले।

कुल मिलाकर, सुरक्षा–प्रबन्धन के लिए यह जरुरी है कि प्रबन्धक अहिंसात्मक पद्धति का प्रयोग करे, जिससे अन्यों के साथ वैर–वैमनस्य की अभिवृद्धि न हो। सूत्रकृतांग में चेतावनी के रूप में कहा गया है – जो परिग्रह में आसक्त (व्यस्त) हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर ही बढ़ाते हैं।[196] सुरक्षा–प्रबन्धन के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रबन्धक अर्थ–सुरक्षा के लिए जीवन–सुरक्षा को दाँव पर लगाने वाले व्यर्थ विवादों में न फँस जाए, अन्यथा ये विवाद ही हमारे इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख–शान्ति को नष्ट कर देंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3) उपभोग–प्रबन्धन

अर्थ के ग्रहण और सुरक्षा के साथ–साथ उपभोग–प्रबन्धन का विकास भी एक आवश्यक अंग है। जहाँ उत्पादन उपयोगिता का सृजन करता है, वहीं उपभोग उस उपयोगिता को समाप्त कर देता है।[197] फिर भी सामान्यतया अर्थ–पुरूषार्थ का ध्येय उपभोग ही होता है।

वस्तु के उपभोग का आकर्षण ही मानव को अर्थ की प्रक्रियाओं में उलझाता है। परन्तु जैनाचार्य मोहित होकर उपभोग करने के बजाय उदासीनतापूर्वक (अनासक्तिपूर्वक) नियन्त्रित उपभोग करने की प्रेरणा देते हैं।[198] इस पर नियन्त्रण करने से ही अन्य अर्थ–प्रक्रियाएँ – ग्रहण, सुरक्षा और संग्रह आसानी से प्रबन्धित हो सकती हैं।

कुछ वर्ष पूर्व तक कार सिर्फ विलासिता की वस्तु थी, धीरे–धीरे वह सुविधा की वस्तु बनी और अब तो अनिवार्य वस्तु बन चुकी है। यह अनियंत्रित उपभोग का ही परिणाम है। जिस व्यक्ति का उपभोग–विवेक जाग्रत हो जाता है, वह उपभोग करने के पूर्व सजगतापूर्वक उपयोगिता को टटोलता है और उपभोग को आदत नहीं बनने देता है उल्टा, वह उपभोग का सीमाकरण करते हुए अर्थ की आवश्यकता का ही सीमाकरण कर देता है।

जैन–संस्कृति में उपभोग के बजाय त्याग–वृत्ति को महत्त्व दिया गया है। जो व्यक्ति उपभोग पर नियंत्रण नहीं रख पाता, उसकी दशा पशु से ऊपर नहीं उठ पाती। जैन–मुनि को जीवन–अस्तित्व बनाए रखने के लिए भोजन, पानी, आवास आदि आवश्यक सामग्रियों को छोड़कर शेष का परित्याग करना होता है। इससे सुनिश्चित होता है कि सुविधा, मनोरंजन और विलासिता सम्बन्धी उपभोग किए बिना भी जीवन जिया जा सकता है एवं मानवीय–जीवन के उच्च लक्ष्यों को भी प्राप्त किया जा सकता है।

महात्मा गाँधी का सामाजिक जीवन एक आदर्श है। उनके उच्च नैतिक जीवन का मूल सूत्र था – 'सादा जीवन और उच्च विचार'। उन्होंने अल्प आवश्यकता और निःस्वार्थ–वृत्ति अपनाकर सामाजिक जीवन का सफलतापूर्वक निर्वाह किया।

अर्थ–प्रबन्धक को चाहिए कि वह विवेकपूर्वक मर्यादित उपभोग ही करे, किसी भी उपभोग–प्रक्रिया के पूर्व उसकी उपयोगिता का उचित विश्लेषण अवश्य करे। वह विचार करे कि –

- ★ यह उपभोग वास्तविक आवश्यकता है या नहीं?
- ★ चाय, सिगरेट, शराब, अफीम आदि की तरह यह उपभोग कहीं आदत, संस्कार या व्यसन तो नहीं बन जाएगा?
- ★ यह देश–काल की मर्यादा के अनुरूप है भी अथवा नहीं?
- ★ यह सामाजिक रूप से निषिद्ध तो नहीं है?
- ★ यह अहिंसा आदि सद्‌गुणों के पालन में बाधक तो नहीं है?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ इसके प्रति अंतरंग ममत्व एवं आसक्ति किस सीमा तक है?

इस प्रकार, सम्यक् विश्लेषण करते हुए नियंत्रित एवं मर्यादानुकूल उपभोग करना ही उपभोग–प्रबन्धन है। इसकी विस्तृत चर्चा भोगोपभोग–प्रबन्धन विषयक अध्याय में की गई है।

4) संग्रह–प्रबन्धन

सुव्यवस्थित जीवन–यापन हेतु सम्यक् संग्रह–प्रबन्धन का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस हेतु वस्तु की संग्रहण–योग्यता (Storing Ability) का सम्यक् विश्लेषण एवं निर्णय करना आवश्यक है।

अक्सर संग्रह–प्रबन्धन के अभाव में व्यक्ति की संग्रह–वृत्ति पर उचित रोक नहीं लग पाती। व्यक्ति भविष्य के प्रति अतिचिन्तित, अतिभयभीत एवं अतिसंवेदनशील होता है। अतः वह संग्रह की वास्तविक आवश्यकता का निष्पक्ष विश्लेषण भी नहीं कर पाता। इससे वस्तुओं का संग्रह सतत बढ़ता जाता है।

इस संग्रहवृत्ति के क्या दुष्परिणाम होते हैं, इसका वर्णन आचारांग में इस प्रकार है – व्यक्ति धनसंग्रह के लिए दूसरों के अहित को भी अनदेखा करके येन–केन–प्रकारेण धन एकत्र करता रहता है, परन्तु यह धन कभी स्थिर नहीं रहता, कभी परिजन इसे बाँटकर खा जाते हैं, तो कभी राजा (वर्त्तमान में सरकार) कर लगाकर वसूल लेता है, कभी चोर–डाकू इसे लूट लेते हैं, तो कभी व्यापारादि में घाटा होने से इसका नाश हो जाता है या कभी घर में आग लग जाने से धन–सम्पत्ति जलकर खाक हो जाती है, इस तरह अनेक प्रकार से धन–सम्पत्ति का विनाश हो जाता है।[199]

संग्रह का यह अतिरेक ही व्यक्ति की प्रसन्नता एवं शान्ति को नष्ट कर उसके श्रम, प्रपंचों, व्यस्तताओं, कष्टों एवं त्रस्तताओं को बहुत अधिक बढ़ा देता है। यही मृत्यु–शय्या पर पड़े–पड़े व्यक्ति तक को शान्त नहीं होने देता। इससे न केवल भाव, बल्कि भव भी बिगड़ जाते हैं। साथ ही, काषायिक भावों में जीने से निकृष्ट कर्मों का संचय भी होता रहता है।[200] कहा भी गया है कि यह लोभ मजीठे के रंग के समान अतिगाढ़ होता है, जो जीव को नरकगति की ओर ले जाता है।[201] यहाँ तक कि संचित धन को तो दूसरे हड़प लेते हैं, जबकि संचित कर्मों का फल तो स्वयं को ही भोगना पड़ता है।[202] अतः संग्रह–प्रबन्धन करके संग्रह के अतिरेक की समुचित रोकथाम करना अत्यावश्यक है। व्यक्ति को चाहिए कि वह आवश्यकतानुसार ही उचित संग्रह करे, जिससे भविष्य की व्यर्थ चिन्ताओं में फँसकर उसकी वर्त्तमान की शान्ति और प्रसन्नता भंग न हो।

संग्रह–प्रबन्धन का यह सिद्धान्त है कि किसी भी वस्तु का अकारण संग्रह नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को यह विचारना चाहिए कि वस्तु के संग्रह की आवश्यकता वास्तविक है अथवा काल्पनिक। वस्तु के संग्रह सम्बन्धी कुछ अस्वाभाविक कारण इस प्रकार होते हैं –

★ वस्तु का संग्रह करने का शौक।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ वस्तु को छोड़ा या दूसरों को दिया नहीं जाता – ऐसी कृपणता।
★ वस्तु का उचित खरीददार नहीं मिलता – ऐसी विवशता।
★ वस्तु की कीमत बढ़ेगी, तभी बेचेंगे – ऐसा प्रलोभन।
★ 'अभी तो बिल्कुल जरुरत नहीं है, किन्तु कभी जरुरत पड़ गई तो' – ऐसी सोच।
★ 'अभी काम बहुत हैं, इसके बारे में बाद में सोचेंगे तब तक इसे रखो' – ऐसी प्रमाद–दशा।
★ 'बहुत कठिनाई से कमाई है, इसे यूँ ही कैसे दान कर दें या बेंच दे या दे दें' – ऐसी आसक्ति।

इस प्रकार, दूषित विचारों को वमनकर, सकारात्मक विचारों को ग्रहणकर, केवल वास्तविक आवश्यकताओं के आधार पर ही संग्रह करना चाहिए।

यह भी ध्यान रखना होगा कि संगृहीत पदार्थों का भविष्य में उपयोग हो पाए या नहीं, किन्तु उनके लेन–देन, उठाने–रखने, साफ–सफाई आदि में अनगिनत जीवों की हिंसा तथा अन्य पापों का सेवन तो होता ही है, अतः वस्तुओं का उचित एवं आवश्यक संग्रह ही करना चाहिए। इसे जैनदर्शन में **'आदान–निक्षेप'** नामक चौथी समिति के रूप में भी निर्देशित किया गया है।[203] कुल मिलाकर, संग्रह–प्रबन्धन के लिए हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोषों को टालना एक आवश्यक कार्य है।

पदार्थों के संग्रहण में व्यक्ति के मनोभावों में अनेक विकार भी जन्म ले लेते हैं, जैसे – वैर, अहंकार, ममता इत्यादि। इससे व्यक्ति सतत बोझिल, भयभीत एवं तनावग्रस्त रहता है।[204] अतः संग्रह की सीमा होना अत्यावश्यक है।

संग्रह–प्रबन्धन के लिए यह विचारना भी आवश्यक है कि संगृहीत वस्तु का भविष्य में नुकसान होने की सम्भावना कितनी है। जहाँ ऐसी सम्भावना अधिक प्रतीत हो, वहाँ संग्रह ही कम कर देना चाहिए। अक्सर अतिसंग्रह के कारण निजी और सरकारी दोनों क्षेत्रों में अत्यधिक नुकसान होता है। उदाहरणार्थ, कई बार लाखों टन अनुपयोगी अनाज को समुद्र या बॉयलर में डाल कर नष्ट करना, बाहर खुली जगह पड़े हुए सीमेंट, रेत, पुरानी मशीनें, लोहा, पुराने फर्नीचर आदि सामग्रियों का खराब होना, गोडाउन, वेयर हाउस, माल–गोदाम आदि भण्डारों में रखे वस्त्र, कोयला, रुई आदि में अग्निकाण्ड होना इत्यादि। इनमें न केवल आर्थिक, बल्कि समय, श्रम, संसाधन आदि का नुकसान भी होता है। अतएव वस्तुओं का संग्रह उचित मात्रा में ही करना चाहिए।

संग्रह–प्रबन्धन के अन्तर्गत यह विचारना भी आवश्यक है कि अतिसंग्रह ही सामाजिक वैर एवं विषमता का कारण भी है। आज दुनिया की अधिकांश सम्पत्ति पर कुछ हजार लोगों का कब्जा है। अनेक लोग आर्थिक–विपन्नता के दौर से गुजर रहे हैं। इससे ही विकसित एवं विकासशील देशों में परस्पर असन्तोष पनप रहा है। इतना ही नहीं, राष्ट्रीय, सामुदायिक तथा पारिवारिक स्तर पर भी परस्पर वैर–विरोध बढ़ रहा है। हर व्यक्ति भीतर में कलुषता एवं बाहर में कालाबाजारी को प्रोत्साहन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दे रहा है। संग्रह–प्रबन्धक के लिए यह आवश्यक है कि वह पूरे विश्व पर अपना एकाधिकार जमाने का कुस्वप्न न देखे एवं कुचेष्टा न करे। दशवैकालिकसूत्र की निम्न पक्तियाँ सदैव स्मरण रखे[205] –

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा।।

आशय यह है कि जिस तरह भ्रमर पुष्पों से पराग प्राप्त कर लेता है और पुष्प का उपमर्दन (हिंसा) भी नहीं करता, उसी तरह हमें भी अन्यों का शोषण (हिंसा) न करते हुए जीवन–निर्वाह कर लेना चाहिए। इस हेतु असंग्रहवृत्ति को अपनाना आवश्यक है, क्योंकि संग्रह करना अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों के अधिकारों का शोषण करना (उपमर्दन) ही है।

जैनाचार्यों ने आध्यात्मिक–विकास की दृष्टि से भी असंग्रह–वृत्ति का उपदेश दिया है। दशवैकालिकसूत्र में स्पष्ट कहा गया है – **'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो'** अर्थात् जो साधक दूसरों के लिए अपने स्वामित्व की वस्तुओं का सम्यक् विभाग नहीं करते, वे भावों की कलुषता से ग्रस्त रहने से मोक्ष के सही अधिकारी नहीं बन पाते।[206] इससे स्पष्ट है कि जीवन–प्रबन्धक को भी अपनी संग्रह–वृत्ति को मर्यादित कर अपने अर्थ का सदुपयोग दूसरे जरुरतमंदों के लिए करना चाहिए।

जैन–मुनि का जीवन असंग्रह–वृत्ति का उत्कृष्ट एवं प्रेरक उदाहरण है। एक जैन–मुनि के जीवन का प्रसंग है। उन्होंने कार्यवशात् किसी से एक सुई ली, किन्तु लौटाना भूल गए। अगले दिन वे प्रस्थान करके दूसरे स्थान पर पहुँचे। अचानक उन्हें सुई का स्मरण हो आया। आश्चर्य का विषय है कि वे वापस पिछले गाँव में सुई लौटाने हेतु गए। धन्य है उनकी असंग्रहवृत्ति, निस्पृहता एवं जागरुकता। यह किसी साधुविशेष की ही नहीं, बल्कि जैन–परम्परा की सामान्य आचार–संहिता है।[207]

जैन मुनि के लिए कहा भी गया है – ये मुनिराज सदा सुखी रहते हैं, क्योंकि ये हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एवं बहिरंग–अंतरंग दोनों परिग्रह का त्यागकर आत्म–विलास में सदैव निमग्न रहते हैं।[208]

हिंसा–मोष अदत्त निवारी, नहीं मैथुन के पास।
द्रव्य–भाव परिग्रह के त्यागी, लीने तत्त्व विलास।।

जैन–श्रावक को भी परिग्रह का सम्यक् परिमाण करने का निर्देश दिया गया है। उसे चाहिए कि वह सुखी जीवन के लिए संग्रह के साथ सन्तोष का समन्वय करे। वह यह भूल न करे कि जीवन तो हो चार दिन का और सामान हो सौ साल का। भगवान् महावीर के प्रमुख अनुयायी पुनिया श्रावक का जीवनादर्श सदैव स्मरण रखना चाहिए, जो प्रतिदिन जीवन–निर्माण की साधना को प्राथमिकता देते हुए केवल इतना ही धनोपार्जन करता था, जिससे उसके एक दिन के जीवन–यापन की व्यवस्था हो सके। इसी कारण भगवान् महावीर को भी कहना पड़ा कि जैसा सुख पुनिया को है, वैसा सुख तो सम्राट् श्रेणिक को स्वप्न में भी नहीं मिल सकता।[209]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार, अर्थ–प्रबन्धक के जीवन में संग्रह–प्रबन्धन का अत्यन्त महत्त्व है। उसे चाहिए कि वह एक ओर संग्रह के अतिरेक पर उचित लगाम दे और दूसरी ओर अन्य जीवों के प्रति आत्मवत् दृष्टि से दया, दान, सेवा, सहयोग एवं संविभाग का सद्व्यवहार करे।

(ग) अर्थ–प्रबन्धन का विकास–क्रम

अर्थ–प्रबन्धन की प्रक्रिया में किसी भी प्रबन्धक के लिए तीन करणीय कर्त्तव्य हैं –

★ **वर्त्तमान भूमिका के साथ न्याय करना** – प्रबन्धक का प्रथम कर्तव्य है कि वह अपनी वर्त्तमान भूमिका या स्तर की सही पहचान करे एवं भूमिकानुरूप अपनी उचित आवश्यकताओं की पूर्त्ति का प्रयत्न उचित साधन–शुद्धि के साथ करे।

★ **उत्तरोत्तर उच्च भूमिका की प्राप्ति करना** – प्रबन्धक का द्वितीय कर्त्तव्य है कि वह अपनी भूमिका या स्तर के उत्तरोत्तर विकास का सम्यक् प्रयत्न भी करता रहे। इस हेतु वह अपने दृष्टिकोण एवं व्यवहार को शुद्ध करे। पदार्थाश्रित जीवन–दृष्टि को छोड़कर आत्माश्रित जीवन–दृष्टि के आधार पर अपना जीवन–व्यवहार करे। इससे उसके भावों में शुभ्रता, कषायों में मन्दता, इच्छाओं में कमी और आवश्यकताओं में अल्पता आती जाएगी। परिणामस्वरुप उसका अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रह संयमित होता जाएगा। साथ ही, न केवल तात्कालिक जीवन में, बल्कि भावी जीवन में भी दुःखों में कमी तथा सुख–शान्ति में वृद्धि होती जाएगी।

★ **सर्वोच्च दशा की प्राप्ति करना** – प्रबन्धक का अन्तिम कर्त्तव्य है कि वह अर्थ–प्रबन्धन की चरम या सर्वोच्च दशा की प्राप्ति हेतु सदैव प्रयत्नशील रहे। वह भले ही शनैः–शनैः, लेकिन दृढ़तापूर्वक इस भूमिका को अपना लक्ष्य–बिन्दु बनाए, क्योंकि यही वह अवस्था है, जिसमें अर्थ रूपी औषधि की पराधीनता सदा–सदा के लिए समाप्त हो जाती है और आत्मा परम सुख रूपी आरोग्य को प्राप्त कर लेती है।

अर्थ–प्रबन्धन की प्रक्रिया में व्यक्ति विविध भूमिकाओं का निर्वाह करता हुआ क्रमशः आगे बढ़ता जाता है। ये भूमिकाएँ अनगिनत हो सकती हैं, किन्तु मुख्य रूप से पाँच हैं (देखें सारणी – 01, पृ. 75) –

1) तीव्राकांक्षी 2) मन्दाकांक्षी 3) मन्दतराकांक्षी 4) मन्दतमाकांक्षी 5) इच्छाजयी

1) प्रथम भूमिका : तीव्राकांक्षी

यह अर्थ–प्रबन्धक का प्राथमिक (जघन्य) सोपान है, जिसमें उसकी अर्थ सम्बन्धी आकांक्षाएँ तीव्र (असीम) होती हैं। यद्यपि वह प्रायः अशान्त, दुःखी एवं निराश रहता है, फिर भी कभी–कभी शान्त, प्रसन्न एवं सन्तोषी भी प्रतीत होता है। किन्तु, दोनों ही दशाओं में उसे तीव्राकांक्षी ही मानना चाहिए, क्योंकि उसकी इच्छाओं का मूल स्रोत 'असीम' प्रकार का होता है। उसकी यह मान्यता होती है कि जितना अधिक अर्थ होगा, उतना ही अधिक जीवन सुखी एवं आनन्दित होगा। अतएव वह अर्थ के प्रति अत्यधिक आतुर एवं रागी–द्वेषी रहता है तथा इस व्याकुलता के कारण दुःखी भी रहता है। कदाचित्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहना अनुसार अर्थ प्राप्त हो जाने से उसकी आतुरता कुछ मन्द हो जाती है, वह सुख का अनुभव भी करता है तथा भ्रमित होकर अर्थ में सुख–बुद्धि की धारणा को और प्रगाढ़ कर लेता है। वह यह स्वीकार ही नहीं कर पाता कि सुख अर्थ–प्राप्ति से नहीं, वरन् इच्छापूर्त्ति के काल में व्याकुलता मन्द होने पर मिला है। वह अर्थ को सुख का साधन या साध्य मानकर उससे राग भी करता है और साथ ही इस राग को अच्छा भी मानता है और इसीलिए उसकी इच्छाओं का कभी अन्त नहीं हो पाता। जैनाचार्यों ने इस अज्ञान अवस्था को 'पागलपन' की संज्ञा दी है।[210] इसी कारण ऐसे व्यक्ति को 'तीव्राकांक्षी' कहा जा सकता है। इस दशा में सामान्यतया अर्थ एवं भोग की ही प्रधानता होती है, लेकिन व्यक्ति चाहे तो नैतिक एवं मोक्षानुकूल धर्म को भी जीवन में उचित स्थान दे सकता है। यद्यपि तीव्राकांक्षी व्यक्ति की इच्छाओं का स्रोत असीम प्रकार का होता है, फिर भी इच्छाएँ किसी भी क्षण कम–ज्यादा होते हुए चार प्रकार की हो सकती हैं –

1) असीम प्रकार की तीव्रतम इच्छा
2) असीम प्रकार की मन्द इच्छा
3) असीम प्रकार की तीव्र इच्छा
4) असीम प्रकार की मन्दतम इच्छा

इनमें से मन्दतम इच्छा वाला व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक शान्त रहता है। फिर भी इच्छाओं की मूल प्रकृति 'असीम' होने से उसकी शान्ति स्थायी नहीं रहती। वस्तुतः, बाह्य इच्छाएँ भले ही शान्त हो जाएँ, किन्तु उसके अंतरंग में इच्छाओं का स्रोत तो ज्यों का त्यों ही बना रहता है।

इच्छाओं के प्रभावशील होने से व्यक्ति की आवश्यकताएँ उत्पन्न होती है, तरतमता के आधार पर जिनके चार प्रकार हैं –

क) अधिकतम ख) अधिक ग) अल्प घ) अल्पतम

जब इच्छाएँ तीव्रतम होती हैं, तब आवश्यकताएँ अधिकतम होती हैं और क्रमानुसार इच्छाओं के तीव्र, मन्द एवं मन्दतम होने पर आवश्यकताएँ भी अधिक, अल्प एवं अल्पतम होती जाती हैं। यद्यपि इस सोपान की दृष्टि से अल्पतम आवश्यकता वाला जीवन ही श्रेष्ठ है, फिर भी अन्य सोपानों की तुलना में इस सोपान पर स्थित व्यक्ति की आवश्यकताएँ अधिक ही होती हैं। यह बात और है कि कभी–कभी परिस्थितिवश (मजबूरीवश) व्यक्ति की इच्छाएँ एवं आवश्यकताएँ स्वतः कम हो जाती हैं।

आध्यात्मिक–विकास की अपेक्षा से यह दशा मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान कहलाती है। इसमें स्थित व्यक्ति भले ही बाह्य में मुनि जीवन भी अंगीकार क्यों न कर ले, तथापि उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग – ये पाँचों दोष होते ही हैं। साथ ही उसके छब्बीस अंतरंग परिग्रह एवं नौ बाह्य परिग्रह भी होते हैं। अशुभ भावों का आधिक्य होता है, शुभ भाव अपेक्षाकृत अत्यल्प होते हैं। परिणामतः परलोक में दुर्गतियों की सम्भावना अत्यधिक एवं सद्गतियों की सम्भावना अत्यल्प होती है। इस प्रकार कालान्तर में भी दुःख चिरकालिक एवं अत्यधिक तथा सुख (भौतिक) क्षणिक एवं अत्यल्प मिलता है (देखें सारणी – 01, पृ. 75)।

इस भूमिका में सामान्यतया गृहस्थपने जीवन–यापन होता है, किन्तु कभी बाह्य में गृहत्यागी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यलिंगी मुनिदशा की प्राप्ति भी हो सकती है। इसमें कदाचित् शुभभावमय जीने से देवत्व की रिद्धी–सिद्धि भी सम्भव हो जाए, किन्तु सम्यग्दर्शन न होने से अर्थ–प्रबन्धन के उत्तरवर्त्ती सोपानों पर आरुढ़ होना असम्भव है। इन सोपानों पर आरूढ़ होने के लिए सिर्फ बाह्य–त्याग या शुभभाव ही पर्याप्त नहीं है, वरन् सम्यग्दर्शन का होना भी अनिवार्य है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप के आधार पर नवतत्त्वों का चिन्तन–मनन करके मिथ्या मान्यताओं को मिटाना ही सम्यक् श्रद्धान का वास्तविक रूप है ।

इस भूमिका में स्थित प्रबन्धक को निम्न कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए –

1) जैनदर्शन में प्रतिपादित नवतत्त्वों एवं षड्द्रव्यों के स्वरूप के सम्यक् चिन्तन, मनन एवं निर्णय का अभ्यास करना।
2) बाह्य–पदार्थ नहीं, बल्कि आत्मा ही सुख–शान्ति एवं आनन्द का सच्चा स्रोत है – ऐसी सम्यक् मान्यता बनाना।
3) जैनाचार में प्ररुपित धर्म–नीति से युक्त अर्थोपार्जन एवं भोगोपभोग करना। जीवन के हर छोटे बड़े व्यवहार में नैतिकता रखना, क्योंकि श्रावक का प्रथम कर्त्तव्य न्याय–नीतिपूर्वक धनोपार्जन करना है – **न्यायसम्पन्नविभवः**।
4) अंतरंग में अर्थ की आसक्ति का विसर्जन करने का प्रयत्न करना एवं बाह्य में दुर्गतियों के कारण रूप **'बहु–आरम्भ–परिग्रहः'** (अत्यधिक हिंसा एवं परिग्रह से युक्त जीवन) का त्याग करना।
5) अशुभ भावों को दूर करके शुभ भावों अर्थात् स्वाध्याय, सेवा, दया, दान, पूजा, भक्ति, विनय, विवेक एवं आत्मचिन्तन आदि की वृद्धि करना।
6) सन्तोष, अहिंसा, धैर्य, सहिष्णुता की अभिवृद्धि कर जीवन को सहज सुखी बनाने का यत्न करना।
7) अंतरंग परिग्रह एवं बाह्य परिग्रह के सीमाकरण हेतु प्रयत्न करना।
8) यथासम्भव मन्दतम इच्छा वाली जीवनशैली का विकास करना एवं अल्पतम आवश्यकताओं में जीने का प्रयत्न करना।

2) द्वितीय भूमिका : मन्दाकांक्षी

यह अर्थ–प्रबन्धक का द्वितीय सोपान है, जिसमें उसकी अर्थ सम्बन्धी आकांक्षाएँ मन्द (ससीम) हो जाती हैं। यद्यपि वह कभी अशान्त, दुःखी एवं निराश रहता है और कभी शान्त, प्रसन्न एवं सन्तोषी भी, फिर भी दोनों ही दशाओं में उसे मन्दाकांक्षी ही मानना चाहिए, क्योंकि उसकी इच्छाओं का मूल स्रोत असीम से बदल कर 'ससीम' हो जाता है। उसकी यह मान्यता बन जाती है कि आत्मा स्वयं से ही सुखी या दुःखी होती है, न कि संसार के किसी बाह्य पदार्थ से। वह अब यह नहीं मानता है कि जितना अधिक अर्थ होगा, उतना ही अधिक जीवन सुखी एवं आनन्दित होगा। वह तो यह मानता है कि आत्मा में उत्पन्न तृष्णा से ही आत्मा दुःखी होती है एवं तृष्णाजय से सुखी, इसीलिए वह अब इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृष्णा को जीतने के लिए प्रयत्नशील रहता है और तृष्णा–मुक्ति ही उसका परम उद्देश्य बन जाता है। इस प्रकार उसकी इच्छाओं का स्रोत अब 'ससीम' (सीमा सहित) प्रकार का हो जाता है। यद्यपि मान्यता–शुद्धि होने पर भी उसमें चारित्रिक अशुद्धियाँ (कषाय) विद्यमान रहती ही हैं, जिनका कारण पूर्व के संस्कार एवं वर्त्तमान पुरूषार्थ की कमजोरी होती है।

चारित्र में अशुद्धि होने से प्रतिसमय उसकी इच्छाओं की उत्पत्ति भी होती रहती है जिसका उसे खेद भी रहता है। तरतमता के आधार पर जिनके चार विभाग हो सकते हैं –

1) ससीम प्रकार की तीव्रतम इच्छा
2) ससीम प्रकार की तीव्र इच्छा
3) ससीम प्रकार की मन्द इच्छा
4) ससीम प्रकार की मन्दतम इच्छा

इन इच्छाओं की तीव्रता–मन्दता के कारण ही कोई शान्त, प्रसन्न एवं सुखी प्रतीत होता है, तो कोई अति अशान्त, व्याकुल एवं दुःखी। फिर भी, प्रथम सोपान की अपेक्षा इस भूमिका में दुःख अल्प होता है। इतना ही नहीं, इसी सोपान से आत्म–सुख का आंशिक रसास्वादन भी प्रारम्भ हो जाता है।

इन इच्छाओ पर आधारित आवश्यकताएँ पूर्ववत् चार प्रकार की होती हैं –

1) अधिकतम 2) अधिक 3) अल्प 4) अल्पतम

यद्यपि प्रथम सोपान की तुलना में इसमें स्थित व्यक्ति की आवश्यकताएँ सामान्यतया अल्प ही होती हैं, तथापि इसमें भी अल्पतम आवश्यकता वाला जीवन ही श्रेष्ठ है।

आध्यात्मिक–विकास की अपेक्षा से यह दशा अविरत–सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान कहलाती है। इसमें नियमतः अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग – ये चारों दोष होते ही हैं। अंतरंग परिग्रह इक्कीस एवं बाह्य परिग्रह नौ होते हैं। पूर्व सोपान की अपेक्षा से प्रायः इसमें अशुभ भावों की मन्दता, शुभ भावों की अभिवृद्धि तथा शुद्ध (शुभाशुभ रहित) भावों का प्रारम्भ भी हो जाता है। परिणामतः परलोक में देवगति (पूर्व में आयु–बन्ध न हुआ हो तो) की ही प्राप्ति होती है।

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष – इन चारों पुरूषार्थों का सह–अस्तित्व होता है। यद्यपि बाह्य–व्यवहार में अर्थ एवं काम ही दृष्टिगोचर होते हैं, तथापि अंतरंग परिणति में कषाय–मुक्ति ही प्रबन्धक का परम उद्देश्य होता है। उसके जीवन में धर्म न केवल अर्थ एवं भोग को नियंत्रित करता है, बल्कि मोक्षानुकूल भी रहता है (देखें सारणी – 01, पृ. 75)।

इस भूमिका में स्थित प्रबन्धक को निम्न कार्य करने चाहिए –

1) नवतत्त्वों एवं षड्द्रव्यों के चिन्तन, मनन एवं निर्णय का पुनरावर्त्तन करना।
2) सम्यग्दर्शन की स्थिरता का एवं चारित्र–शुद्धि (कषाय–निवृत्ति) का अभ्यास करना।
3) अधर्म–आश्रित जीवन–व्यवहार से निवृत्ति की भावना करना।
4) अर्थ एवं भोग वृत्तियों को निर्मल बनाने के लिए उन्हें धर्म–समन्वित करना।
5) यदि गृहस्थपने में है, तो निष्काम भाव से परिवार–कुटुम्ब तथा समाजादि के कर्त्तव्यों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्वहन करना। कहा भी गया है[211] –

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर सुं न्यारो रहे, जिम धाय खिलावे बाल।।

6) अशुभ प्रवृत्तियों को दूर करके पूजा, भक्ति, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग आदि शुभ प्रवृत्तियों में संलग्न रहना।
7) अशुभ भावों को दूर करके प्रशम (क्षमा), संवेग (पापभीरुता), निर्वेद (वैराग्य), अनुकम्पा (दया) एवं आस्तिक्य (तत्त्व–श्रद्धा) आदि शुभ भावों की अभिवृद्धि करना।
8) आत्मिक–स्थिरता रूप शुद्ध भावों की अभिवृद्धि करना अर्थात् अकषाय–वृत्ति सह ज्ञाता–दृष्टा भाव से जीने का अभ्यास करना।
9) तीव्रतम इच्छा से मन्दतम इच्छा वाली जीवनशैली का विकास करना।
10) अधिकतम आवश्यकता से अल्पतम आवश्यकता की ओर बढ़ना।
11) अंतरंग में अप्रत्याख्यानी कषाय के निवारण हेतु प्रयत्न करना।
12) बहिरंग में धन–धान्यादि परिग्रहों के सीमाकरण का उपाय करना।

3) तृतीय भूमिका : मन्दतराकांक्षी

यह अर्थ–प्रबन्धक का तृतीय सोपान है, जिसमें उसकी आत्म–शक्तियाँ पूर्वापेक्षा अधिक विकसित हो जाती हैं तथा इच्छाओं का मूल स्रोत 'अल्प' प्रकार का हो जाता है। वह अर्थ एवं काम पुरूषार्थ से पूर्णरूप से विरक्त न होकर भी आंशिक रूप से तो विरक्त हो ही जाता है। अतएव उसे मन्दतराकांक्षी कहना उचित होगा।

वह अर्थ–प्रबन्धक गृहस्थपने में रहता हुआ बारह व्रतों को अंगीकार करके अर्थ एवं भोग के पुरूषार्थ को मर्यादित कर लेता है।

श्रावक के बारह व्रत[212]

1) अणुव्रत – पंच दोषों का आंशिक त्याग करने रूप व्रत। इसके पाँच प्रकार हैं –
   i) अहिंसा अणुव्रत – स्थूल हिंसा का त्याग करना।
   ii) सत्य अणुव्रत – स्थूल असत्य का त्याग करना।
   iii) अचौर्य अणुव्रत – स्थूल चोरी का त्याग करना।
   iv) स्वदारा–सन्तोषव्रत – स्वदारा में सन्तोष करना एवं मैथुन की मर्यादा करना।
   v) परिग्रह–परिसीमन व्रत – परिग्रह का परिमाण करना।

2) गुणव्रत – अणुव्रतों का संरक्षण एवं संवर्धन करने रूप व्रत। इसके तीन प्रकार हैं –
   i) दिशा–परिमाण व्रत – दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करना।
   ii) उपभोग–परिभोग–परिमाण व्रत – उपभोग तथा परिभोग की मर्यादा करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

iii) अनर्थदण्ड–विरमण व्रत – निष्प्रयोजन किए जाने वाले कार्यों का त्याग करना।

3) शिक्षाव्रत – विशिष्ट आत्म–साधना की ओर अग्रसर होने रूप व्रत। इसके चार प्रकार हैं –

i) सामायिक व्रत – समभाव की साधना करना।

ii) देशावगासिक व्रत – दिशा–परिमाण व्रत में गृहीत क्षेत्र–परिमाण को दिन या रात्रि में किसी नियत समय के लिए और अधिक मर्यादित करके उसके बाहर की सांसारिक प्रवृत्तियों से सर्वथा निवृत्त होना।

iii) पौषधोपवास व्रत – संसारलक्षी सर्व प्रवृत्तियों को छोड़कर आत्मा का पोषण एवं विकास करने हेतु सम्पूर्ण दिन अथवा रात मुनिवत् जीने का अभ्यास करना।

iv) अतिथि–संविभाग व्रत – अपने अधिकार की वस्तुओं में से अतिथि के लिए समुचित विभाग करना।

अर्थ–प्रबन्धक की दृष्टि से ये बारह व्रत अतिमहत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनके द्वारा उसके धन–धान्यादि बाह्य परिग्रहों एवं इच्छा रूपी अंतरंग परिग्रहों का परिसीमन हो जाता है।

इस दशा में सामान्यतया चारों पुरूषार्थों धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का सह–अस्तित्व होता है, फिर भी जीवन–व्यवहार में धर्म एवं मोक्ष की मुख्यता तथा अर्थ एवं काम की गौणता स्पष्ट दिखती है।

तरतमता की अपेक्षा से व्यक्ति की इच्छाएँ चार प्रकार की होती हैं –

1) अल्प वर्ग की तीव्रतम इच्छा
2) अल्प वर्ग की तीव्र इच्छा
3) अल्प वर्ग की मन्द इच्छा
4) अल्प वर्ग की मन्दतम इच्छा

यद्यपि पूर्व सोपानों की तुलना में इसमें स्थित व्यक्ति की आकुलता बहुत कम होती है, वह प्रायः शान्त एवं सहज होता है, तथापि उपर्युक्त मन्दतम इच्छा वाला प्रबन्धक अपेक्षाकृत और अधिक शान्त एवं सहज होता है।

इस भूमिका में स्थित प्रबन्धक की इच्छाओं से उत्पन्न आवश्यकताएँ पूर्ववत् चार प्रकार की होती हैं –

1) अधिकतम 2) अधिक 3) अल्प 4) अल्पतम

जीवन–व्यवहार में अनावश्यक तत्त्वों का आंशिक परित्याग होने तथा आवश्यक तत्त्वों का विवेकपूर्वक सीमाकरण होने से इसमें अपेक्षाकृत बहुत कम आवश्यकताएँ शेष रहती हैं, फिर भी, अल्पतम आवश्यकता वाला जीवन और अधिक श्रेष्ठ है।

आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा से यह दशा देशविरति नामक पंचम गुणस्थान कहलाती है। इसे ही 'संयमासंयम' अथवा 'विरताविरत' भी कहा गया है। इसमें अंतरंग एवं बाह्य परिग्रहों की मर्यादा हो जाती है। अंतरंग परिग्रह सतरह एवं बाह्य परिग्रह नौ ही शेष रहते हैं।

इस भूमिका में आरूढ़ प्रबन्धक के अशुभ भावों की मन्दता एवं शुभभावों की तीव्रता होती है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिणामतः वह परलोक में उत्तम देवगति के योग्य कर्मों का संचय करता है। साथ ही, शुद्ध भावों में भी यथायोग्य वृद्धि होने से उसका संसार–परिभ्रमण भी परिमित होता जाता है और इस तरफ इच्छाओं की मन्दता तथा आत्मिक–स्थिरता की वृद्धि होने से उसका दुःख अल्प तथा सुख अधिक होता जाता है। जैसे–जैसे आत्मा साधना के द्वारा उसके ज्ञाता–दृष्टा भाव एवं अकषाय–वृत्ति की अभिवृद्धि होती है, वैसे–वैसे वह प्रबन्धक अपने व्रतों में उत्तरोत्तर विकास करता हुआ अणुव्रतों से महाव्रतों की ओर बढ़ता जाता है (देखें सारणी – 01, पृ. 75)।

इस भूमिका के सफल निर्वहन हेतु अर्थ–प्रबन्धक को निम्नलिखित कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए –

1) सम्यग्दर्शन में स्थिर रहना।
2) बारह व्रतों का निरतिचार (निर्दोष) पालन करना।
3) यथायोग्य तत्त्वचिन्तन पूर्वक वैराग्यवर्धक भावनाएँ करना।
4) जैनाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट ग्यारह प्रतिमाओं को अंगीकार करना।
5) अशुभ प्रवृत्तियों को दूर करके पूजा, भक्ति, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग आदि शुभ प्रवृत्तियों में संलग्न रहना।
6) अशुभ भावों को दूर करके प्रशम (क्षमा), संवेग (पापभीरुता), निर्वेद (वैराग्य), अनुकम्पा (दया) एवं आस्तिक्य (तत्त्व–श्रद्धा) आदि शुभ भावों की अभिवृद्धि करना।
7) आत्मिक स्थिरता रूप शुद्ध भावों की अभिवृद्धि करना।
8) तीव्रतम इच्छाओं से मन्दतम इच्छाओं वाली जीवनशैली का विकास करना।
9) अधिकतम आवश्यकता से अल्पतम आवश्यकता की ओर बढ़ना।
10) अंतरंग में प्रत्याख्यानी कषाय के निवारण हेतु प्रयत्न करना।
11) बहिरंग में मुनि जीवन अंगीकार करने का अभ्यास करना।

4) चतुर्थ भूमिका : मन्दतमाकांक्षी

इसमें व्यक्ति की आत्मिक शक्तियाँ और अधिक विकसित हो जाती हैं। तथा इच्छाओं का स्रोत 'अल्पतम' प्रकार का हो जाता है। वह संसार, भोग एवं शरीर सम्बन्धी ममत्व भावों से विरक्त होकर मुनिदशा को प्राप्त करता है। वह तृष्णा को तृणवत् मानता है। उसकी संसार सम्बन्धी प्रवृतियों में उदासीनता तथा आत्महित की प्रवृतियों में जागृति आ जाती है।

वह पंच महाव्रतों को ग्रहण करते हुए पंच ऐन्द्रिक विषयों पर विजय प्राप्त करता है। उसे मन्दतमाकांक्षी कहना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि वह इच्छाजयी दशा के बिल्कुल निकट रहता है।

आध्यात्मिक विकास–क्रम की दृष्टि से, यह दशा षष्ठम एवं सप्तम गुणस्थानवर्ती अर्थात् क्रमशः प्रमत्त एवं अप्रमत्त मुनियों की है। इस दशा के मुनिराज अन्तर्मुहूर्त्त की अवधि में छठे से सातवें तथा सातवें से छठे गुणस्थान में झूलते रहते हैं। छठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय एवं योग – ये तीन दोष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नियमतः होते हैं, जबकि सातवें गुणस्थान में प्रमाद भी समाप्त होकर केवल कषाय तथा योग शेष रहते हैं, सातवें गुणस्थान में कषाय भी बुद्धिपूर्वक (व्यक्त) नहीं, केवल अबुद्धिपूर्वक (अव्यक्त) ही रहती है।

जहाँ छठे गुणस्थान में धर्म एवं मोक्ष दोनों पुरूषार्थ होते हैं, वहीं सातवें गुणस्थान में एकमात्र मोक्ष पुरूषार्थ ही होता है। किन्तु दोनों ही गुणस्थानों में से किसी में भी अर्थ तथा काम पुरूषार्थ के लिए कोई स्थान नहीं होता।

इच्छाएँ भी व्यक्त रूप से छठे गुणस्थान तक ही रहती हैं, सातवें में नहीं। तरतमता के आधार पर इन इच्छाओं के चार भेद किए जा सकते हैं –

1) अल्पतम प्रकार की तीव्रतम इच्छा
2) अल्पतम प्रकार की तीव्र इच्छा
3) अल्पतम प्रकार की मन्द इच्छा
4) अल्पतम प्रकार की मन्दतम इच्छा

इन इच्छाओं की यह विशेषता है कि इनमें लेशमात्र भी सांसारिक हित या वृद्धि का प्रयोजन नहीं होता, बल्कि संयम में स्थिरता तथा अभिवृद्धि का पावन उद्देश्य ही होता है। चाहे प्रवृत्ति शरीर–हित, संघ–हित या आत्म–हित की क्यों न प्रतीत होती हो, परन्तु इसका अन्तिम साध्य मोक्षानुकूल धर्म–साधना ही होता है। इसी कारण आहार, पानी, निद्रा, उपचार, वैयावृत्य (सेवा–शुश्रूषा), सहयोग, धर्म–कथा, सदुपदेश, संलेखना (समाधिमरण) आदि विविध क्रियाकलापों में काम, लोभ, मद, माया आदि सांसारिक प्रयोजनों का अभाव होता है। कहा जा सकता है कि इन इच्छाओं में वैसी व्याकुलता नहीं होती, जैसी सामान्य संसारी प्राणियों की इच्छाओं में होती है। फिर भी मुनिराज इन इच्छाओं को भी आत्म–दूषण मानते हैं तथा इनसे निवृत्त होकर शुद्धात्मस्वरूप का आश्रय लेकर आत्म–रमणता के अनिर्वचनीय सुखों का बारम्बार सेवन करते हैं। इस आत्मरमणता की दशा को ही सातवाँ गुणस्थान कहते हैं। यद्यपि छठे से सातवाँ श्रेयस्कर है, तथापि छठे गुणस्थान में रहते हुए मन्दतम इच्छाओं में जीना ही श्रेष्ठ है।

छठे गुणस्थान में व्यक्त इच्छाओं के प्रभावशील होने से उत्पन्न आवश्यकताओं के पुनः अधिकतम, अधिक, अल्प एवं अल्पतम – ये चार प्रकार होते हैं। इनमें भी अल्पतम आवश्यकता वाला जीवन अधिकतम की अपेक्षा से उत्तम है। ध्यातव्य है कि इन मुनिराजों की आवश्यकताओं में आग्रह–बुद्धि, पाप–बुद्धि एवं असहजता का अभाव होता है। यह स्थिति भी छठे गुणस्थान की है, सातवें में तो बुद्धिपूर्वक कोई आवश्यकता ही नहीं बचती।

इस सोपान पर अंतरंग परिग्रह तेरह एवं बहिरंग परिग्रह शून्य रह जाते हैं। अंतरंग–परिग्रह भले ही संख्या की अपेक्षा से तेरह प्रकार के हैं, किन्तु भावों की अपेक्षा से नगण्य हैं। यहाँ तक कि सातवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक (व्यक्ततापूर्वक) किसी प्रकार का भी अंतरंग–परिग्रह नहीं होता।

इसमें भावदशा भी पूर्व के सोपानों की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है। छठे गुणस्थान में अशुभभावों का पूर्ण अभाव एवं उत्कृष्ट शुभभावों का सद्भाव रहता है, जबकि सातवें में तो एकमात्र शुद्धभाव ही रहते हैं। इससे उत्कृष्ट पुण्य कर्मों का बन्धन अथवा संसार–परिभ्रमण का तीव्रगति से ह्रास होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये मुनिराज भले ही निर्धन, निर्वस्त्र और एकाकी ही क्यों न हो, परन्तु इच्छा रूपी शत्रुओं का पराभव करने से वे निर्भय, निराकुल एवं निर्द्वन्द्व आत्मिक सुख–पान करते रहते हैं (देखिए सारणी – 01)।[213]

इस भूमिका के उत्तरोत्तर विकास हेतु अर्थ–प्रबन्धक को निम्न कर्त्तव्य निभाने चाहिए –

1) सम्यग्दर्शन एवं सर्वविरति दशा में स्थिरता का दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करना।
2) परभावों से छूटने एवं स्वभाव में रमण करने का बारम्बार अभ्यास करना।
3) अशुभभावों से बचने के लिए शुभभावों को अपनाना, किन्तु शुभभावों को भी समाप्त कर शुद्धभावों में स्थिर होने का निरन्तर प्रयत्न करना।
4) 'मैं शुद्धात्मस्वरूपी, सहज, अखण्ड, अनादिनिधन, एक, अप्रतिबद्ध हूँ' – ऐसी आत्म–जागृति सदैव रखने का अभ्यास करना।
5) आत्म–वैभव के प्रति बहुमान रखना तथा बाह्य–वैभव को तुच्छ जानना।

देवलोक की संपदा, राजलोक के भोग।
काग–विष्ट सम गिनत है, सम्यग्दृष्टि लोग।।

6) समस्त बाह्य आवश्यकताओं की पराधीनता से मुक्त होने का अभ्यास करना।
7) निरतिचार सम्यक्चारित्र का पालन करने का अभ्यास करना।

5) पंचम भूमिका – इच्छाजयी

यह अर्थ–प्रबन्धक का चरम–साध्य है। इसमें जीव पूर्ण स्वाधीन हो जाते हैं और उनकी कोई इच्छा शेष नहीं रहती। जैनदर्शन में इन्हें वीतरागी, केवलज्ञानी, केवलदर्शी, जीतमोही, जीवनमुक्त, अरिहन्त, केवली आदि पदों से सम्बोधित किया जाता है। अर्थ–प्रबन्धन की अपेक्षा से इन्हें शून्याकांक्षी अथवा इच्छाजयी भी कहा जा सकता है।

धर्म, अर्थ एवं काम पुरूषार्थों को विनष्ट कर ये वीतराग दशा या जीवनमुक्त दशा में आरूढ़ हो जाते हैं। पूर्ण निर्ममत्वी तथा निष्कषायी हो जाने से इनका बाह्य परिग्रह के साथ–साथ अंतरंग परिग्रह भी शेष नहीं रहता। व्यक्त–अव्यक्त इच्छाओं एवं आवश्यकताओं से रहित होकर ये निष्परिग्रही आत्म–भावों में संवृत (गुप्त) होकर जगत् में विचरण करते हैं। चूँकि इनमें इच्छाओं का ही अभाव हो जाता है, इसीलिए ये सादि–अनन्त काल के लिए अतुलनीय, अमित, अनुत्तर, अव्याबाध एवं निर्दोष सुख, शान्ति तथा आनन्द में निमग्न हो जाते हैं। इनमें शुभ–अशुभ भावों का पूर्ण अभाव तथा शुद्ध भावों का पूर्ण सद्भाव रहता है। इसी कारण, इनका जन्म–जरा–मरण रूप संसार का परिभ्रमण समाप्त हो जाता है। कुल मिलाकर, यह सांसारिक अवस्था का अन्तिम दौर है, जिसके पश्चात् एक, अडोल, अकम्प, प्रशान्त, परिपूर्ण एवं स्थिर सिद्धावस्था की प्राप्ति सहज ही हो जाती है (देखिए सारणी – 01)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International

For Personal & Private Use Only

www.jainelibrary.org

सारणी 1

अर्थ प्रबन्धक की पंच भूमिकाएँ

जीवन–सोपान	अंतरंग इच्छाओं का प्रकार	वर्त्तमान इच्छा	वर्त्तमान आवश्यकता	पुरूषार्थ	गुणस्थान	अंतरंग–परिग्रह	बहिरंग परिग्रह	भाव	वर्त्तमान में दुःख–सुख
1)	असीम	4 तीव्रतम तीव्र मन्द मन्दतम	4 अधिकतम अधिक अल्प अल्पतम	3 धर्म अर्थ काम	1 मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	26 1 मिथ्यात्व 4 अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ 4 अप्रत्याख्यानी क्रोध–मान–माया–लोभ 4 प्रत्याख्यानी क्रोध–मान–माया–लोभ 4 संज्वलन क्रोध–मान–माया–लोभ 6 हास्य–रति–अरति–भय–शोक–जुगुप्सा 3 पुरूषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद	9 धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, सुवर्ण, रजत, कुप्य, द्विपद, चतुष्पद	2 तीव्रतम अशुभ, मन्दतम शुभ	2 अत्यधिक दुःख व अतिअल्प भौतिक सुख
2)	ससीम	4 तीव्रतम तीव्र मन्द मन्दतम	4 अधिकतम अधिक अल्प अल्पतम	4 धर्म अर्थ काम मोक्ष	4 अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान	21 4 अप्रत्याख्यानी क्रोध–मान–माया–लोभ 4 प्रत्याख्यानी क्रोध–मान–माया–लोभ 4 संज्वलन क्रोध–मान–माया–लोभ 6 हास्य–रति–अरति–भय–शोक–जुगुप्सा 3 पुरूषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद,	9 धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, सुवर्ण, रजत, कुप्य, द्विपद, चतुष्पद	3 तीव्र अशुभ, मन्द शुभ, मन्दतम शुद्ध	2 अधिक दुःख व अल्प सुख (भौतिक व आत्मिक)

3)	अल्प	4 तीव्रतम तीव्र मन्द मन्दतम	4 अधिकतम अधिक अल्प अल्पतम	4 धर्म अर्थ काम मोक्ष	5 देशविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान	17 4 प्रत्याख्यानी क्रोध–मान–माया–लोभ 4 संज्वलन क्रोध–मान–माया–लोभ 6 हास्य–रति–अरति–भय–शोक–जुगुप्सा 3 पुरूषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद,	9 सीमित धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, सुवर्ण, रजत, कुप्य, द्विपद, चतुष्पद	3 मन्द अशुभ, तीव्र शुभ, मन्द शुद्ध	2 अल्प दुःख व अधिक सुख (भौतिक व आत्मिक)
4)	अल्पतम	4 तीव्रतम तीव्र मन्द मन्दतम	4 अधिकतम अधिक अल्प अल्पतम	2 धर्म व मोक्ष या 1 मोक्ष	6 प्रमत्त सयत या 7 अप्रमत्त सयत गुणस्थान	13 4 संज्वलन क्रोध–मान–माया–लोभ 6 हास्य–रति–अरति–भय–शोक–जुगुप्सा 3 पुरूषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद,	0	2 तीव्रतम शुभ व तीव्र शुद्ध या 1 तीव्र शुद्ध	2 अतिअल्प दुःख व अत्यधिक सुख (आत्मिक) या 1 अत्यधिक सुख (आत्मिक)
5)	शून्य	0	0	1 मोक्ष	13/14 सयोगी केवली /अयोगी केवली गुणस्थान	0	0	1 पूर्णतम शुद्ध	1 परम आत्मिक सुख

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

10.7 निष्कर्ष

मनुष्य को जीवन–निर्वाह के लिए जिन भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वे 'अर्थ' कहलाती हैं। 'अर्थ' की आवश्यकता प्राचीन युग में थी, मध्य युग में रही और आधुनिक युग में भी है। यद्यपि सामान्य व्यक्ति धन–सम्पत्ति आदि अर्थों को सुख–शान्ति का साधन मानता है, किन्तु जैनदर्शन की आध्यात्मिक–दृष्टि में ये सुख–शान्ति के साधन नहीं, अपितु संज्ञाओं की सम्पूर्त्ति के लिए विवशता मात्र हैं।

अर्थ के महत्त्व को लेकर तीन विचारधाराएँ हैं – भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक। भौतिक विचारधारा अर्थ को भौतिक–विकास का सशक्त साधन मानकर जीवन में उसे सर्वोपरि स्थान देती है। नैतिक विचारधारा सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए 'अर्थ' को जीवन का अनिवार्य साधन मानती है, परन्तु वह धर्म नियंत्रित 'अर्थ' को ही महत्त्व देती है। आध्यात्मिक विचारधारा 'अर्थ' को आजीवन आवश्यकता के रूप में नहीं, अपितु मोक्षानुकूल साधन के रूप में स्वीकार करती है और अन्ततः 'अर्थ' एवं 'भोग' के मोहपाश से पूर्णतया मुक्त होने का निर्देश देती है।

वर्त्तमान में आर्थिक क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई है, फिर भी सर्वांग से देखें, तो यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि वर्त्तमान अर्थनीति असन्तुलित, अमर्यादित एवं अव्यवस्थित है। दुष्परिणाम यह है कि व्यक्ति 'अर्थ' की मृगतृष्णा में फँसकर 'अर्थ' के पीछे भाग रहा है। उसके जीवन में 'अर्थ' साधन न रहकर साध्य बन गया है। अर्थ की तुलना में जीवन के शरीर, परिवार, पर्यावरण, धर्म, अध्यात्म आदि अन्य पक्षों की घोर उपेक्षा हो रही है। पर्यावरण का अतिदोहन होने से भावी पीढ़ी के अस्तित्व के लिए खतरा भी बढ़ता जा रहा है, अस्तु।

उपर्युक्त दुष्परिणामों से बचने के लिए जैनआचारशास्त्रों पर आधारित अर्थ–प्रबन्धन की आज महती आवश्यकता है। अर्थ–प्रबन्धन के दो पक्ष हैं – सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक। सैद्धान्तिक–पक्ष के अनुसार, व्यक्ति की अर्थनीति में भौतिकता के साथ नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का समन्वय होना आवश्यक है। 'अर्थ' केवल जैविक आवश्यकताओं की पूर्त्ति का साधन न बनकर नैतिक एवं चारित्रिक उन्नति का साधन भी बनना चाहिए। यह स्वीकार होना चाहिए कि 'अर्थ' सम्यक् सुख का साधन तो है ही नहीं, उल्टा 'अर्थ' की लालसा दुःख और चिन्ता की जड़ है। अतः अर्थ का उपयोग औषधि के समान आवश्यकतानुसार ही करना चाहिए और आत्म–साधना करते हुए अर्थ की पराधीनता को क्रमशः समाप्त कर देना चाहिए।

सैद्धान्तिक–पक्ष को आधार बनाकर अर्थ–प्रबन्धक को जीवन–व्यवहार में क्रमशः अर्थ का सीमांकन करते जाना चाहिए। इस हेतु जैनधर्मदर्शन में परिग्रह एवं उसके सीमाकरण की अवधारणा को स्पष्टतया समझाया गया है। जैनाचार्यों ने परिग्रह के दो भेद किये हैं – अंतरंग एवं बहिरंग। अंतरंग परिग्रह आशा, इच्छा, तृष्णा, लालसा और मूर्च्छा रूप है तथा बहिरंग परिग्रह धन–सम्पत्ति आदि बाह्य सामग्री/वस्तु रूप है। जैनाचार्यों ने अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रह में भी अंतरंग परिग्रह की प्रधानता को स्वीकारा है और इसीलिए अंतरंग में अनासक्तिपूर्वक जीने का बारम्बार उपदेश भी दिया है। उन्होंने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अंतरंग परिग्रह के पाँच कारणों का उल्लेख भी किया है – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग। इन अंतरंग परिग्रह के कारणों से उत्पन्न होने वाली इच्छाओं को क्रमशः पाँच जातियों में विभक्त किया जा सकता है – असीम, ससीम, अल्प, अल्पतम एवं शून्य। अर्थ–प्रबन्धक का यह कर्त्तव्य है कि वह इन पाँच श्रेणियों में क्रमशः आगे बढ़ता हुआ अन्ततः पंचम श्रेणी अर्थात् इच्छा–शून्यता की दशा को प्राप्त करे।

जैसे–जैसे जीवन–प्रबन्धक का स्तर बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे उसे बाह्य परिग्रहों का सीमाकरण भी करना होता है। बाह्य परिग्रह नौ प्रकार के हैं – क्षेत्र, वास्तु, रजत, स्वर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद एवं कुप्य। अर्थ–प्रबन्धन की प्रक्रिया में जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह पहले आवश्यकताओं का सम्यक् निर्धारण करते हुए अनुचित आवश्यकताओं का परित्याग करे और फिर उचित आवश्यकताओं की पूर्त्ति का सम्यक् प्रयत्न करे। इतना ही नहीं, वह अपनी आवश्यकताओं को भी क्रमशः कम करता जाए। इस हेतु उसे अपने अर्थ के ग्रहण, सुरक्षा, उपभोग एवं संग्रह सम्बन्धी प्रक्रियाओं का सम्यक् प्रबन्धन करना भी आवश्यक होता है।

अर्थ–प्रबन्धन की प्रक्रिया में व्यक्ति क्रमशः तीव्राकांक्षी, मन्दाकांक्षी, मन्दतराकांक्षी, मन्दतमाकांक्षी एवं इच्छाजयी – इन पाँच भूमिकाओं को अपनाता हुआ आगे बढ़ता जाता है। इस तरह वह अर्थ–प्रबन्धन की विकास–प्रक्रिया में उत्तरोत्तर उच्च भूमिका की प्राप्ति करता हुआ अन्ततः सर्वोच्च दशा में पहुँचता है।

सारांश यह है कि जीवन–प्रबन्धक 'अर्थ' को साधन बनाकर प्रयोग में लेता हुआ अन्ततः साधन का भी त्याग कर साध्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ. क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	**क्या आप 'अर्थ' की जानकारी रखते हैं?**		1
2)	क्या आप अर्थ के महत्त्व सम्बन्धी विविध विचारधाराओं को जानते हैं?		10
3)	**क्या आप अर्थनीति के दुष्परिणाम को जानते हैं?**		19
	विकल्प– नहीं→⓪ हाँ→⑤		
4)	**क्या आपकी व्यक्तिगत अर्थनीति सन्तुलित है?**		19
5)	क्या आपकी व्यक्तिगत अर्थनीति सुमर्यादित है?		19
6)	**क्या आपकी व्यक्तिगत अर्थनीति सुव्यवस्थित है?**		19
7)	क्या धर्म, अर्थ, काम के बजाय मोक्ष लक्ष्य से अर्थ की आवश्यकता स्वीकारते हैं?		7
8)	**क्या आपका परम लक्ष्य इच्छा–शून्यता है?**		47
	विकल्प– हाँ→⓪ नहीं→⑤		
9)	**क्या आप अर्थ को साधन के बजाय साध्य मानते हैं?**		15
10)	क्या आप यह मानते हैं कि अर्थ से सुख मिलता है?		35
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
11)	क्या आप आवश्यकताओं का विश्लेषण करते हैं?		51
12)	**क्या आप आवश्यकता–पूर्ति के साधनों का प्रयोग करने में सावधानियाँ रखते हैं?**		53
13)	क्या आप आर्थिक चक्र को सन्तुलित रखते हैं?		57
14)	**क्या आप वस्तु की उपयोगिता, मात्रा, गुणवत्ता, कीमत, प्रयोग की बारम्बारता, शुद्धता, निर्दोषता का सम्यक् विश्लेषण करते हैं?**		58
15)	क्या आप संचित अर्थ की सम्यक् सुरक्षा करते हैं?		60
16)	**क्या आप नियंत्रित उपभोग उदासीनतापूर्वक करते हैं?**		62
17)	क्या आप वस्तु की संग्रहण–योग्यता का सम्यक् विश्लेषण करते हैं?		63
18)	**क्या आप बहिरंग की अपेक्षा अंतरंग परिग्रह को प्रधान मानते हैं?**		45
19)	क्या आप बाह्य परिग्रह का सीमाकरण करते हैं?		48
20)	**क्या आप वस्तुओं का अत्यावश्यक, आवश्यक एवं अनावश्यक के रूप में विभाजन करते हैं?**		50
		कुल	

कुल	**0–20**	**21–40**	**41–60**	**61–80**	**81–100**
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
भविष्य में अपेक्षित प्रबन्धन	अत्यधिक	अधिक	अल्प	अल्पतर	अल्पतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 संस्कृतहिन्दीकोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 96
2 मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः
– कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ. 765
3 अर्थशास्त्र के सिद्धांत, डॉ.रामरतन शर्मा, पृ. 6
4 वही, पृ. 10
5 वही, पृ. 13
6 वही, पृ. 17
7 वही, पृ. 27
8 अदृष्टेऽपि बलयादौ श्रुत्वा तदभिप्राय मात्रे...
– दशवैकालिकसूत्र सटीक अ. 1 (अभिधानराजेन्द्रकोष, 1/506 से उद्धृत)
9 सूत्राभिधये – उत्तराध्ययनसूत्र सटीक अ. 1
(वही, 1/506 से उद्धृत)
10 ऋ–गतौ अर्यते, गम्यते, ज्ञायते इत्यर्थः
– विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्ति
(वही, 1/506 से उद्धृत)
11 द्रव्ये – आवश्यकबृहद्वृत्ति
(वही, 1/506 से उद्धृत)
12 इर्यति पर्यायांस्तैर्वाऽर्यत इत्यर्थो द्रव्यं
– सर्वार्थसिद्धि, 1/17, पृ. 82
13 मणिकणकादौ – कल्पसुबोधिनी टीका (अभिधानराजेन्द्रकोष 1/506 से उद्धृत)
14 राजलक्ष्म्यादौ – स्थानांगसूत्र सटीक
(वही, 1/506 से उद्धृत)
15 ग्रंथराजश्रीपंचाध्यायी, 143
16 स्वर्ग–अपवर्ग–प्राप्ति कारणभूते
– उत्तराध्ययनसूत्र सटीक
(अभिधानराजेन्द्रकोष, 1/506 से उद्धृत)
17 यतः सर्वप्रयोजन सिद्धिः सोऽर्थः
– नीतिवाक्यामृत, 2/1
18 तत्त्वार्थसूत्र, 1/34, 35
19 प्रवचनसार, गाथा 124
20 तत्त्वार्थसूत्र, 5/38, 41
21 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 187
22 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 24
23 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/91
24 सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्यमूलमर्थः। अर्थस्य मूलं राज्यं। राज्यमूलमिन्द्रिय जय।
– चाणक्यसूत्र, 1–4
25 अर्थशास्त्र के सिद्धांत, डॉ.रामरतन शर्मा, पृ. 1
26 वही, अ.1, पृ. 6
27 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 16
28 सर्वार्थसिद्धि, 2/10/275
29 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाईदोशी, पृ. 2
30 (क) तत्त्वार्थसूत्र, 2/24
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, 6/1
31 आहारादिविषयाभिलाषः संज्ञेति
– सर्वार्थसिद्धि, 2/24/308
32 अर्थशास्त्र के सिद्धांत, डॉ.रामरतनशर्मा, पृ. 26
33 आवश्यककथा
(अभिधानराजेन्द्रकोष, 6/106 से उद्धृत)
34 पुष्पपराग, मुनिश्रीजयानंदविजय, 1083
35 मुनि गुण स्वाध्याय, श्रीमद्देवचन्द्र, 2/584
36 तत्त्वार्थसूत्र, 7/1
37 युवादृष्टि (पत्रिका), अप्रैल, 2010, अर्थ समस्या भी है, समाधान भी, पृ. 5
38 नीतिवाक्यामृत, 2/1
39 यस्यांति वित्तं स नरः कुलीनः, सः पण्डितः सः श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः कांचन–माश्रयन्ति।।
– नीतिशतक, आ.भर्तृहरि (वीर प्रभु के वचन, रमणलाल ची. शाह, पृ. 90 से उद्धृत)
40 कहीं रुको कभी रुको, आ.रत्नसुंदरसूरि, पृ. 1
41 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 17
42 भारतीय दर्शन, डॉ.उमेश मिश्र, 91
43 (क) भारत की सांस्कृतिक विरासत, पुखराज जैन, पृ. 30
(ख) महाभारत, 12/8/21
(ग) वही, 12/8/23
(घ) वही, 12/8/14
44 पूज्यते यदपूज्योऽपि, यदगम्योऽपि गम्यते।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य च।।
–पचतंत्र (वीर प्रभु के वचन, रमणलाल ची. शाह, पृ. 91 से उद्धृत)
45 दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणं। दैन्यान्मरणमुत्तमम्।
– चाणक्यसूत्र, 257, 506
46 अमरवदर्थजातमर्जयेत्
अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः
महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहु मन्यते लोकः।
– वही, 254–256
47 विरूपोऽर्थवान् सुरूपः।
कुलीनाद्विशिष्टः।
– वही, 258, 260

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

48 समकाले स्वयमपि प्रभुत्वस्य प्रयोजनं भवति।
– वही, 273

49 अद्रव्य प्रयत्नो बालुका क्वथनादनन्यः।
– वही, 320

50 नास्तिधनवतां शुभकर्मसु क्षमः। – वही, 354

51 अर्थमूलौ धर्मकामौ। – वही, 91

52 भारतीय जीवनमूल्य, डॉ.सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 55, 56

53 वही, पृ. 57

54 वही, पृ. 82

55 श्रीमद्भगवद्गीता, 18/34

56 वही, 16/10, 12, 15

57 सुत्तनिपात, 26/29 (डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 188 से उद्धृत)

58 मज्झिमनिकाय, 1/22/4 (वही, पृ. 189 से उद्धृत)

59 दीघनिकाय, 3/8/4 (वही, पृ. 188 से उद्धृत)

60 वही, 3/8/2 (वही, पृ. 188 से उद्धृत)

61 वही, पृ. 82, 83

62 भारतीय जीवनमूल्य, डॉ, सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 128

63 वही, पृ. 127

64 त्रिवर्ग तत्र सापायं, जन्मजातंक दूषितम्।
ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्ष साधने।।
– ज्ञानार्णवः, 3/5

65 परमात्मप्रकाश, 2/3

66 भगवतीआराधना, 1808

67 पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु, निश्चलतरो, मोक्ष परं सत्सुखः।
शेषास्तद्विपरीत धर्म कलिता, हेया मुमुक्षोरतः।।
– श्रावकधर्मप्रकाश (पद्मनंदीपंचविंशिका), 7/25

68 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 188

69 दशवैकालिकनिर्युक्ति, 262–264

70 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 188

71 प्राकृतसूक्तिसरोज 11/7 (डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 188 से उद्धृत)

72 व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 20/8

73 आवश्यकमलयगिरि (प्रथमखण्ड) (अभिधानराजेन्द्रकोष, 1/511 से उद्धृत)

74 अट्ठुप्पत्ती ववहारो – निशीथचूर्णि, 6397

75 प्रश्नव्याकरणसूत्र, 5/4, पृ. 148

76 बृहत्कल्पभाष्य, 1/388

77 निमित्ते, अत्थसत्थे अ – नंदीसूत्र, 50, पृ. 95

78 अत्थसत्थ मई विसारए – अंगसुत्ताणि, खं. 3, पृ. 4

79 ईस–अत्थसत्थ–रहचरियसिक्खाकुसले।
– आयरिउ संघदासगणि वसुदेवहिण्डी, 1/36, (प्राचीन जैन साहित्य मे आर्थिक जीवन, डॉ.कमल जैन, पृ. 9 से उद्धृत)

80 अत्थसत्थ कुसले – जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, 3/66, पृ. 117

81 प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन,
डॉ.कमल जैन, पृ. 9

82 भरतायार्थशास्त्रं च, भरतं च ससंग्रहम्।
अध्यायैरतिविस्तीर्णः, स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः।।
– आदिपुराण, 16/119

83 आणंदे कामदेवे य, गाहावइ चुलणीपिया।
सुरादेवे चुल्लसयाए, गाहावइ कुंडकोलिए।
सद्दालपुत्ते महासयए, नंदिणीपिया सालिही पिया।
– उपासकदशांगसूत्र, 1/2

84 उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक परिशीलन,
सा.डॉ. विनीतप्रज्ञाश्री, पृ. 550

85 (क) समराइच्चकहा, हरिभद्रसूरि, 246
(ख) धम्मत्थो कामोविन्होहिइ अत्थासो सेसपि
– कुवलयमाला कहा, पृ. 57
(ग) जस्सत्थो तस्स सुहं...जस्स अहिंसा समुद्दिट्ठा
– पउमचरियं, 35/66,67
(घ) अभिसेयदाम – कल्पसूत्र, सूत्र 5
(प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, डॉ.कमल जैन, पृ. 9, 11 से उद्धृत)

86 न्यायसंपन्न विभवः – योगशास्त्र 1/47

87 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 17

88 कहीं रुको कभी रुको आ.रत्नसुन्दरसूरि, पृ. 5

89 प्रो. बी.एल.जैन से चर्चा के आधार पर

90 वही

91 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 33

92 वही, पृ. 18

93 प्रो. बी.एल.जैन से चर्चा के आधार पर

94 वही

95 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 82

96 Oragnization & Management, R.D.Agrawal, p. 428

97 do, p. 427

98 do, p. 447

99 do, p. 427

100 News, Media, Mumbai, December 16, 2009,
Sapna Nair

101 Oragnization & Management, R.D.Agrawal, p. 444

102 उत्तराध्ययनसूत्र, 9/48

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

103 कहीं रुको कभी रुको, आ.रत्नसुंदरसूरि, पृ. 3,4

104 पुरः पुरः स्फुरत्तृष्णा, मृगतृष्णानुकारिषु।
इन्द्रियार्थेषु धावन्ति, त्यक्त्वा ज्ञानामृतं जड़ाः।।
– ज्ञानसार, 7/6

105 कहीं रुको कभी रुको, आ.रत्नसुंदरसूरि, पृ. 65

106 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 42

107 वही, पृ. 32

108 (क) देखें, गरीबी रेखा के ऊपर और नीचे, राष्ट्रीय सहारा, दिल्ली, 21 अक्टूबर, 1999, पृ. 6
(ख) गरीबी का दुश्चक्र, दैनिक जागरण, मेरठ, 16 मई, 2005, पृ. 12

109 हमलोग (पत्रिका), 8 जनवरी, 2009

110 वही, 8 जनवरी, 2009

111 युवादृष्टि (पत्रिका), अप्रैल, 2010, सापेक्ष अर्थशास्त्र–मानवीय दृष्टिकोण, पृ. 24

112 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 33

113 अंगाणं किं सारो? आयारो !
– आचारांगनिर्युक्ति, गा.16

114 आचारः प्रथमो धर्मः – मनुस्मृति, 1/207

115 वित्तीय प्रबन्ध, डॉ.एस.पी.गुप्ता, अ.59, पृ. 495

116 युवादृष्टि (पत्रिका), अप्रैल, 2010, अर्थ समस्या भी है समाधान भी, पृ. 7

117 वही, पृ. 6

118 कहीं रुको कभी रुको, आ.रत्नसुन्दरसूरि, पृ. 79

119 अयं निजः परोवेति, गणनालघुन्चेतसां।
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम।।
– पुष्पराग, मुनिजयानंदविजय, 6124

120 तत्त्वार्थसूत्र, 7/6

121 उत्तराध्ययनसूत्र, 9/48

122 युवादृष्टि (पत्रिका), अप्रैल, 2010, अर्थ समस्या भी है समाधान भी, पृ. 7

123 वही, पृ. 7

124 वही, पृ. 7

125 वही, पृ. 7

126 सत्यमेव जयते नानृतम्
– अमोलसुक्तिरत्नाकर, कल्याणऋषि, पृ. 98

127 पातयति आत्मानं इति पापम्
– उत्तराध्ययनचूर्णि, 2
(जैनआचार, पृ. 242 से उद्धृत)

128 जीवा वि पाणतिवायणं जाव मिच्छादंसणं सल्लेणं अणुपुव्वेणं
– ज्ञाताधर्मकथा, 1/6/4

129 तत्त्वार्थसूत्र, 8/16

130 कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं – उत्तराध्ययनसूत्र, 13/23

131 जं इच्छसि अप्पणतो, जंच न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्सवि, एत्तियगं जिणसासणयं।।
– बृहद्भाष्य, 4584

132 युवादृष्टि (पत्रिका), अप्रैल 2009, अर्थ समस्या भी है समाधान भी, पृ. 7

133 उपदेशप्रासाद, 2/79, पृ. 80

134 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 16–17

135 वही, पृ. 17

136 अमोलसूक्तिरत्नाकर कल्याणऋषि, पृ. 389

137 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ अ. 1

138 भारतीय जीवन मूल्य, डॉ.सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 57

139 आचारांगसूत्र 1/2/3/4

140 ज्ञानसार, 12/8

141 स्वप्नलब्ध धन विभ्रमं धनं
– धर्मबिन्दु, 3/78, पृ. 173

142 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/48

143 आसं च छंदं च विगिं च धीरे।
– आचारांगसूत्र, 1/2/4/3

144 अतिरेगं अहिगरणं – ओघनिर्युक्ति, 741

145 आतुरा परितावेंति – आचारांगसूत्र 1/1/6/4

146 अर्थानामर्जने दुःख, अर्जितानां च रक्षणे।
आयेदुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखकारणम्।।
– स्थानांगसूत्रसटीक
(अभिधानराजेन्द्रकोष, 1/506 से उद्धृत)

147 लोभ कलि–कसाय महक्खंधो चिंतासयनिचिय विपुलसालो।
– प्रश्नव्याकरणसूत्र 1/5

148 तित्तीए असंतीए हाहाभूदस्स धण्णचित्तस्स।
किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदावि पंपाए गहिदस्स।।
– भगवतीआराधना, 1139

149 परिसामस्त्येन ग्रहणं परिग्रहणं....मूर्च्छावशेन परिग्रह्यते आत्मभावेन ममेति बुद्धया गृह्यते इति परिग्रहः – प्रश्नव्याकरणवृत्ति, 215
(जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 853 से उद्धृत)

150 (क) मूर्च्छा परिग्रहः – तत्त्वार्थसूत्र, 7/12
(ख) न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा।।
– दशवैकालिकसूत्र, 6/20

151 अगारधर्म, पृ. 63

152 गंथोऽगंथो व मओ मुच्छाहि निच्छयओ
– विशेषावश्यकभाष्य, 2573

153 प्रश्नव्याकरणसूत्र, 1/5, पृ. 145

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

154 मिच्छत्त वेद रागा, हासादि भया होन्ति छद्दोसा। चत्तारि तह कसाया, चोद्दसं अब्भंतरा गंथा।। – प्रतिक्रमणत्रयी, पृ. 175 (जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 855 से उद्धृत)

155 कोहो माणो माया, लोभो पज्ज तहेव दोसो अ। मिच्छत्त वेद अरइ, रइ हासो सोगो भय दुगुंछा।। – बृहत्कल्पभाष्य, 831

156 कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्त परिग्गहे – व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 18/7/10

157 आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, अ. 6 (जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 856 से उद्धृत)

157A वित्तं सोयरिया च – सूत्रकृतांगसूत्र, 1/1/5, (भारतीयजीवनमूल्य, डॉ.सुरेन्द्रवर्मा, पृ. 140 से उद्धृत)

158 अगारधर्म, पृ. 66

159 उत्तराध्ययनसूत्र, 19/17

160 वही, 4/2

161 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/10/18

162 तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7/17/3/545

163 उपदेशमाला, पृ. 310

164 सूत्रकृतांगसूत्र, 2/1/670

165 प्रश्नव्याकरणसूत्र (सन्मति प्रकाशन), पृ. 761 (जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ 855 से उद्धृत)

166 उत्तराध्ययनसूत्र, 8/16

167 अगारधर्म, पृ. 68

168 सूत्रप्राभृत, 27

169 आचारांगसूत्र, 1/2/5/5

170 प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/3/2

171 श्रीमद्देवचन्द्र, अतीत चौबीसी, 24/5

172 उत्तराध्ययनसूत्र, 9/48

173 जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 110

174 अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, डॉ.रामरतन शर्मा, पृ. 17

175 जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ – उत्तराध्ययनसूत्र 8/17

176 निशीथभाष्य, 2790

177 दशवैकालिकसूत्र, 8/38

178 तत्त्वार्थसूत्र, 6/9

179 वही, 6/9

180 अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, डॉ.रामरतन शर्मा, पृ. 9

181 प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, डॉ.कमल जैन, पृ. 198

182 तत्त्वार्थसूत्र, 6/16

183 बृहद्भाष्य, 4584

184 योगशास्त्र, 2/18

185 वही, 2/21

186 अत्थोमूलं अणत्थाणं – मरणसमाधि, 603 (सूक्तित्रिवेणी, उपा.अमरमुनि, पृ. 236 से उद्धृत)

187 साधना के सूत्र, मधुकरमुनि, पृ. 182

188 योगशास्त्र, 1/51

189 साधना के सूत्र, मधुकरमुनि, पृ. 182

190 दीघनिकाय, 3/8/4 (डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 188 से उद्धृत)

191 आदिस्समाणे...मयण्णे खेयण्णे...अपडिण्णे। – आचारांगसूत्र, 1/2/5/3 (90)

192 आहार उवहिसिज्जं, उग्गमउप्पायणेसणा सुद्धं। गिण्हइ अदीणहियओ, जोहोई स एसणा समिओ। – उपदेशपुष्पमाला, मल्लधारीहेमचंद्रसूरि, 179

193 दशवैकालिकनिर्युक्ति, 268

194 साधना के सूत्र, मधुकरमुनि, पृ. 187

195 डॉ.सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 576

196 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/9/3

197 अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, डॉ.रामरतन शर्मा, पृ. 2

198 दशवैकालिकनिर्युक्ति, 263

199 तिविहेण जावि से तत्थ मताभवइ.....विप्परिया समुवेइ। – आचारांगसूत्र, 1/2/4/2

200 कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं। वमे चतारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो।। – दशवैकालिकसूत्र 8/36

201 स्थानांगसूत्र, 4/2/284

202 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/9/4

203 योगशास्त्र, 1/39

204 सव्व दुक्ख संनिलयं अप्पसुहो बहुदुक्खो....महब्भओ – प्रश्नव्याकरणसूत्र, 1/5

205 दशवैकालिकसूत्र, 1/4

206 वही, 9/2/22

207 वयछक्कं, कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं। पलिअंक निसिज्जाए, सिणाणं सोभवज्जणं।। – दशवैकालिकनिर्युक्ति, 268

208 मुनि गुण स्वाध्याय, श्रीमद्देवचंद्र, 2/584

209 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 126

210 तत्त्वार्थसूत्र, 1/33

211 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/157

212 योगशास्त्र, 2/1

213 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 949, पृ. 670

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 11

भोगोपभोग प्रबन्धन

CONSUMPTION MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 11

भोगोपभोग–प्रबन्धन

(Consumption Management)

	Page No. Chap.	Cont.
11.1 भोगोपभोग की अवधारणा एवं उपभोक्ता संस्कृति	**1**	**613**
11.2 भोगोपभोग का जीवन में महत्त्व	**6**	**618**
11.3 उपभोक्ता संस्कृति का स्वरूप	**9**	**621**
11.4 असन्तुलित, अमर्यादित एवं अव्यवस्थित भोगपभोग–नीति (उपभोक्ता–संस्कृति) के दुष्परिणाम	**11**	**623**
11.5 जैनआचारमीमांसा के आधार पर भोगोपभोग–प्रबन्धन	**16**	**628**
11.5.1 जैनआचारमीमांसा के आधार पर भोगोपभोग–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक पक्ष	16	628
11.5.2 अशुभ भोगोपभोग की निरर्थकता, जैनदृष्टि का आधार	18	630
11.6 भोगोपभोग–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	**25**	**637**
11.6.1 भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए वस्तुओं का सम्यक् विश्लेषण करना	25	637
(क) स्पर्शादि इन्द्रियों एवं मन के विषयों के आधार पर	25	637
(ख) महत्त्व के आधार पर	26	638
(ग) नैतिक, आध्यात्मिक एवं जैविक मूल्यों के आधार पर	27	639
11.6.2 भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए आवश्यक और अनावश्यक वस्तुओं का सम्यक् निर्णय करना	28	640
11.6.3 भोगोपभोग–प्रबन्धन की प्रक्रिया	29	641
11.6.4 भोगोपभोग–प्रबन्धन के विभिन्न स्तर	30	642
11.7 निष्कर्ष	**37**	**649**
11.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	**38**	**650**
सन्दर्भसूची	39	651

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 11

भोगोपभोग–प्रबन्धन
(Consumption Management)

11.1 भोगोपभोग की अवधारणा एवं उपभोक्ता संस्कृति

11.1.1 भूमिका

सामान्यतया यह देखने में आता है कि जीवन में भोगोपभोग की आवश्यकता बनी ही रहती है। जीवन के संचालन के लिए व्यक्ति आहार, वस्त्र, भवन आदि वस्तुओं (अर्थ) को उपार्जित, सुरक्षित एवं संगृहीत करके ही सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु इनका भोगोपभोग भी करना चाहता है। जैनदर्शन की यह मान्यता है कि भोगोपभोग सभी के लिए आवश्यक है, किन्तु उसमें कहीं न कहीं एक मर्यादा का होना भी अत्यावश्यक है, अन्यथा अनियंत्रित भोगोपभोग से जीवन में अनेक विसंगतियाँ पैदा हो जाती हैं। कहा भी गया है कि जिस प्रकार जहरीले फल दिखने में कितने ही सुन्दर क्यों न हों, किन्तु उनका अन्तिम परिणाम सुखद नहीं होता, उसी प्रकार काम–भोग भोगते समय भले ही मीठे लगते हों, परन्तु उनका परिणाम अच्छा नहीं होता।[1] अतः यह एक विचारणीय प्रश्न है कि भोगोपभोग की मर्यादा कब, कितनी और किस रूप में होनी चाहिए। वस्तुतः, यह विचार ही हमें भोगोपभोग के सम्यक् प्रबन्धन की दिशा में ले जाता है।

यहाँ हम सबसे पहले भोग एवं उपभोग को समझने का प्रयत्न करेंगे।

11.1.2 भोगोपभोग का अर्थ

जैनदर्शन में 'भोग' शब्द अलग–अलग प्रसंगों में भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। कहीं भोग शब्द का अर्थ अतिव्यापक है, तो कहीं अतिसंकुचित भी, जिसे हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं –

(1) इन्द्रिय–विषयों के रूप में – उत्तराध्ययनसूत्रवृत्ति के अनुसार, इन्द्रिय और मन को अनुकूल लगने वाले शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श – ये पाँच विषय भोग हैं।[2]

(2) कामना या इच्छा के रूप में – आचारांगसूत्रवृत्ति के अनुसार, शब्दादि पाँचों ऐन्द्रिक विषयों की अभिलाषा करना भोग है।[3]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) पूर्वकृत कर्मों के फल के रूप में – बृहद्द्रव्यसंग्रह के अनुसार, अंतरंग में सुख और दुःख को उत्पन्न करने वाले पूर्व में बाँधे हुए (संचित) कर्मों का फल भोग है।[4]

(4) इन्द्रिय–अर्थ–सम्बन्ध के रूप में – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकावृत्ति के अनुसार, इन्द्रियों और उनके अभीष्ट विषयों के मध्य सुखकर पारस्परिक सम्बन्ध भोग है।[5]

(5) सन्तुष्टि या सुखानुभूति के रूप में – वाचस्पत्याभिधान कोश के अनुसार, सुख को भोग कहते हैं।[6] प्रायः सभी सुखवादी या भौतिकवादी विचारधाराओं, जैसे – आधुनिक अर्थशास्त्र, चार्वाक–दर्शन, वात्स्यायन–कामसूत्र आदि में भोग को बाह्य पदार्थों के माध्यम से प्राप्त होने वाली सुखानुभूति या सन्तुष्टि के रूप में दर्शाया गया है।

(6) सुख–दुःख की अनुभूति के रूप में – बृहद्द्रव्यसंग्रह के अनुसार, पाँचो इन्द्रियों के इष्ट एवं अनिष्ट विषयों से उत्पन्न सुख तथा दुःख रूप अनुभूति भोग है।[7]

(7) आत्मिक–आनन्द की अनुभूति के रूप में – बृहद्द्रव्यसंग्रह के अनुसार, निज शुद्धात्मा के दर्शन, ज्ञान एवं आचरण से उत्पन्न अविनाशी आनन्द रूप अमृत का रसपान करना भोग है।[8]

हमें अनेकान्त दृष्टि से इन अर्थों को मिलाकर 'भोग' शब्द के आशय को समझना होगा। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यक्ति के सामने भोग के लिए दो मुख्य अनुभूति केन्द्र हैं – ऐन्द्रिक एवं आत्मिक। सामान्यतया व्यक्ति ऐन्द्रिक विषयों के भोग को ही भोग के रूप में स्वीकारता है। पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप उसे ऐन्द्रिक विषयों की प्राप्ति होती है। जब अभीष्ट विषयों की संप्राप्ति होती है, तब उनमें तन्मय होकर वह सुख (हर्ष) की अनुभूति करता है और इससे विपरीत स्थिति में दुःख (विषाद) की। किन्तु जब साधक ऐन्द्रिक–विषयों को छोड़कर निज शुद्धात्मा का आश्रय लेता है, तब विकारों से रहित स्वयं के निश्चल, निर्मल, अखण्ड एवं अविनाशी आनन्द की अनुभूति करता है। जैनाचार्यों की दृष्टि में, आत्मिक–भोग ही वास्तव में उपादेय है यानि ग्रहण करने योग्य है। उन्होंने इसीलिए ऐन्द्रिक भोगों को मर्यादित करने और आत्मिक आनन्द की अभिवृद्धि करने का निर्देश दिया है। भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए यह विचार अपनी–अपनी भूमिकानुसार प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक के लिए पालन करने योग्य है। आगे, इस विषय पर गहराई से चिन्तन किया जाएगा।

भोगोपभोग के अर्थ सम्बन्धी चर्चा के साथ–साथ यह भी आवश्यक होगा कि हम भोग एवं उपभोग के अन्तर को समझें। जैनदर्शन में भोगने योग्य वस्तुओं के दो विभाग किए गए हैं – भोग एवं उपभोग। वे वस्तुएँ जिनकी उपयोगिता एक बार में ही समाप्त हो जाती हैं, भोग की वस्तुएँ कहलाती हैं, जैसे – भोजन, पान, औषध, धूप आदि तथा वे वस्तुएँ जो बार–बार उपयोग में ली जा सकती हैं, क्योंकि उनकी उपयोगिता का ह्रास या तो नहींवत् होता है या अतिमन्द होता है, उपभोग की वस्तुएँ कहलाती हैं, जैसे – वस्त्र, आवास, आभूषण, स्त्री आदि।[9]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि वस्तुएँ चाहे भोग की हों या उपभोग की, दोनों का मर्यादित उपयोग ही करना चाहिए, अन्यथा अनेक प्रकार की विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

जैनाचार्यों ने भोगोपभोग की वस्तुओं को केवल भौतिक मानने वाली दृष्टि को नकारते हुए इन वस्तुओं के पुनः दो भेद किए हैं – भौतिक (अजीव) एवं चैतसिक (सजीव)। उन्होनें इस बात की पुष्टि की है कि यदि पलंग, टेबल आदि निर्जीव पदार्थ भोग की वस्तुएँ हैं, तो नौकर–चाकर, स्त्री–पुरूष, पशु–पक्षी आदि सजीव पदार्थ भी भोग की वस्तुएँ ही हैं। भगवतीसूत्र में इसीलिए कहा गया है[10] – **'जीवा वि भोगा, अजीवा वि भोगा'**। अतः भोगोपभोग–प्रबन्धन के अन्तर्गत भौतिक एवं चैतसिक, दोनों प्रकार की वस्तुओं का सीमाकरण करना आवश्यक है। यदि व्यक्ति केवल भौतिक परिग्रह के उपयोग की मर्यादा करके सन्तुष्ट हो जाए और चैतसिक परिग्रह का सीमाकरण न करे, तो भोगोपभोग–प्रबन्धन सन्तुलित नहीं हो सकेगा।

11.1.3 भोगोपभोग के प्रकार : इन्द्रिय–विषयों के आधार पर

इन्द्रिय और मन के अनुकूल स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द एवं भाव रूप विषयों का आसेवन करना भोगोपभोग है, अतः इन विषयों के आधार पर भोगोपभोग के छः प्रकार हैं –

(1) स्पर्श सम्बन्धी भोगोपभोग – व्यक्ति काया (त्वचा) के माध्यम से स्पर्श सम्बन्धी विषयों को ग्रहण करता है। इनमें से कुछ विषय उसे प्रिय लगते हैं, अतः वह उनसे राग करता है, जबकि कुछ अन्य विषय अप्रिय लगने से वह उनसे द्वेष करता है।[11] जैनाचार्यों ने स्पर्श सम्बन्धी विषयों के मौलिक रूप से आठ भेद किए हैं[12] –

★ चिकना ★ ठण्डा ★ हल्का ★ मुलायम
★ खुरदुरा (रुखा) ★ गरम ★ भारी ★ कठोर

(2) स्वाद सम्बन्धी भोगोपभोग – व्यक्ति जिह्वा के माध्यम से स्वाद या रस सम्बन्धी विषयों को ग्रहण करता है। इनमें से कुछ विषयों को अनुकूल मानकर उनसे राग करता है, तो कुछ को प्रतिकूल मानकर द्वेष।[13] ये स्वाद सम्बन्धी विषय पाँच प्रकार के होते हैं[14] –

★ तीखा ★ कड़वा ★ कसैला ★ खट्टा ★ मीठा

(3) गन्ध सम्बन्धी भोगोपभोग – व्यक्ति नासिका के द्वारा गन्ध विषयक ज्ञान करके सुगन्धयुक्त द्रव्यों से राग और दुर्गन्ध युक्त द्रव्यों से द्वेष करता है।[15] इसके दो भेद होते हैं[16] –

★ सुगन्ध ★ दुर्गन्ध

(4) रूप सम्बन्धी भोगोपभोग – व्यक्ति नेत्रों के माध्यम से विविध वर्णयुक्त दृश्यों को देखता हुआ उनमें से मनोहारी दृश्यों पर राग और अप्रिय दृश्यों से द्वेष करने लगता है।[17] इसके पाँच भेद होते हैं[18] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ काला ★ हरा ★ लाल ★ पीला ★ सफेद

(5) शब्द सम्बन्धी भोगोपभोग – व्यक्ति कान के द्वारा विविध शब्दों को सुनकर प्रिय शब्दों से राग और अप्रिय शब्दों से द्वेष करता है।[19] ये शब्द तीन प्रकार के होते हैं[20] –

★ जीव शब्द ★ अजीव शब्द ★ मिश्र शब्द

(6) भाव सम्बन्धी भोगोपभोग – व्यक्ति केवल उपस्थित पदार्थ ही नहीं, अपितु अनुपस्थित एवं काल्पनिक पदार्थों का भोगोपभोग भी करता है। वह मन के माध्यम से स्पर्शादि पंच विषयों को अनुभूत करता है और प्रिय भावों से राग तथा अप्रिय भावों से द्वेष करता है।[21] इन मनोभावों के मूलतः तीन भेद होते हैं –

★ अतीतकालीन भाव ★ वर्त्तमानकालीन भाव ★ अनागतकालीन भाव

इस प्रकार, मनुष्य इन स्पर्शादि छहों विषयों के भोगोपभोग में हमेशा संलग्न रहता है। पशु–पक्षी आदि भी भोगोपभोग तो करते हैं, किन्तु सामर्थ्य कम होने से वे लाचार होते हैं और अपेक्षाकृत अल्प भोगोपभोग में भी जीवन–यापन कर लेते हैं। चूँकि मनुष्य के पास सामर्थ्य अधिक होता है, अतः उसकी भोगोपभोग की क्रियाएँ भी अधिक होती हैं। वह जितना–जितना भौतिक विकास करता जाता है, उतना–उतना अधिक भोगी होता जाता है और इससे वह भोगोपभोग की उचित मर्यादाओं का उल्लंघन भी कर देता है। इसी कारण से जैनाचार्यों ने भोगोपभोग को नियंत्रित एवं संयमित करने की प्रेरणा दी है, जो भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

11.1.4 भोगोपभोग की मूल विचारधारा एवं उपभोक्ता संस्कृति

भोगोपभोग से सम्बन्धित मुख्यतया दो विचारधाराएँ हैं – भोगप्रधान एवं अध्यात्मप्रधान। प्रथम विचारधारा को एक आम आदमी से लेकर आधुनिक अर्थशास्त्री एवं अन्य भौतिकवादी विचारक स्वीकार करते हैं। ये केवल भोगप्रधान जीवनशैली को ही जीवन का परम–लक्ष्य मानते हैं। उनका मत है कि भोग ही सुख का साधन है और इसीलिए जीवन में भोग के साधनों को जुटाकर उनका अधिक से अधिक उपभोग करना चाहिए। यद्यपि इनमें से कुछ लोग यह भी मानते हैं कि भोगोपभोग की सीमा होनी चाहिए, फिर भी उनके अनुसार, जब तक कोई शारीरिक, आर्थिक या राजनीतिक मजबूरी उत्पन्न न हो, तब तक तो भोगोपभोग किया ही जा सकता है और करना भी चाहिए।

इस विचारधारा में भोगोपभोग की वस्तुओं के तीन विभाग किए गए हैं और इन्हें जीवन–स्तर के उत्तरोत्तर विकास का मापदण्ड भी माना गया है।[22] ये इस प्रकार हैं –

★ अनिवार्य वस्तुओं का भोगोपभोग (Necessaries)

★ सुविधापरक या आरामदायक वस्तुओं का भोगोपभोग (Comforts)

★ विलासितापरक वस्तुओं का भोगोपभोग (Luxeries)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस विचारधारा से होने वाले दुष्परिणामों की चर्चा आगे की जाएगी।

द्वितीय विचारधारा के प्रणेता जैन–विचारकों सहित अन्य आध्यात्मिक–विचारक हैं, जो जीवन में केवल भौतिक मूल्यों को ही सम्पूर्ण नहीं मानते, अपितु नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को भी उचित सम्मान देते हैं। इनकी मान्यता है कि भोगोपभोग पराधीन वृत्ति है, क्योंकि इस हेतु बाह्य पदार्थों पर निर्भर होना पड़ता है, साथ ही इसके कई अन्य नकारात्मक पक्ष भी हैं, अतः भोगोपभोग को अनियंत्रित रूप से बढ़ाने के बजाय उसे घटाने का प्रयत्न करना ज्यादा उचित है।[23] इनकी दृष्टि में विलासिताओं का त्याग करके आरामदायक जीवन भी जीया जा सकता है और आरामदायक जीवन को भी सीमित करते हुए अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हुए भी जीवन–यापन किया जा सकता है। गृहस्थ अवस्था में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जो सादा–जीवन और उच्च–विचार के सिद्धान्त को साकार करते हुए जीवन का सुव्यस्थित निर्वाह करते हैं, जैसे – श्रीमद्राजचन्द्र, महात्मा गाँधी, विनोबा भावे आदि। अनिवार्य में भी अल्पतम आवश्यकताओं पर आधारित जैन–मुनि का जीवन एक ज्वलन्त उदाहरण है। इतना ही नहीं, जैन साधना पद्धति का चरम लक्ष्य मोक्ष (सिद्ध) पद की प्राप्ति है, जिसमें आहार, वस्त्रादि अनिवार्य आवश्यकताएँ भी समाप्त हो जाती हैं।

इस प्रकार संक्षेप में कहें, तो जैन साधना पद्धति यह मानती है कि बाह्य ऐन्द्रिक भोग दुःख के कारण हैं,[24] अतः इन्हें मर्यादित करते हुए आत्मिक–भोग की क्रमशः वृद्धि करनी चाहिए और भूमिकानुसार जितना भी इन्द्रिय–विषयों का सेवन करना पड़े, उसे मजबूरी मानकर ही करना चाहिए, उनके प्रति आसक्ति या राग–द्वेष का भाव नहीं रखना चाहिए।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

11.2 भोगोपभोग का जीवन में महत्त्व

भोगोपभोग–प्रबन्धन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीवन में भोगोपभोग का क्या महत्त्व है, इसका तुलनात्मक विश्लेषण करना अत्यावश्यक है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भोगोपभोग का अत्यधिक महत्त्व माना है और निम्न बिन्दुओं द्वारा दर्शाया है –

1) भोगोपभोग के द्वारा व्यक्ति को सुख एवं सन्तोष की प्राप्ति होती है।
2) भोगोपभोग के द्वारा व्यक्ति के जीवन–स्तर (Living Status) की उन्नति होती है।
3) भोगोपभोग के द्वारा सभ्यता का विकास होता है।
4) भोगोपभोग के कारण राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है।[25]
5) अनिवार्य भोगोपभोग के द्वारा जीवन–अस्तित्व बना रहता है।
6) भोगोपभोग के आधार पर सामाजिक–प्रतिष्ठा और सम्मान की प्राप्ति होती है।[26]
7) भोगोपभोग की वृद्धि के द्वारा उत्पादन, विनिमय, वितरण आदि अन्य आर्थिक–क्रियाओं को गति मिलती है।
8) भोगोपभोग के द्वारा समाज में रोजगार के स्तर में वृद्धि होती है।
9) समस्त आर्थिक क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य भी भोगोपभोग है। कहा भी गया है – Consumption is the sole end and purpose of all production.[27]
10) भोगोपभोग के द्वारा समाज में आर्थिक समानता स्थापित करने की दिशा में सहयोग मिलता है।

इस प्रकार, आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार, भोगोपभोग ही मानवीय क्रियाओं का आदि और अन्त है। आधारभूत बात यह है कि प्रत्येक मानवीय क्रिया का जन्म आवश्यकता (इच्छा) से होता है, आवश्यकता के आधार पर ही व्यक्ति माँग (Demand) करता है, माँग के आधार पर ही उत्पादन होता है, उत्पादन के आधार पर ही लोगों को रोजगार मिलता है और राष्ट्रीय–आय में वृद्धि होती है।

मनुष्य की उपर्युक्त विचारधारा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए भगवान् महावीर को कहना पड़ा कि यह मनुष्य **'काम–कामी'** है अर्थात् मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति उसकी कामनाओं से संचालित होती है।[28]

यद्यपि भौतिकवादी दृष्टि से उपर्युक्त बिन्दु उचित प्रतीत होते हैं, तथापि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखने पर भोगोपभोग के विपक्ष में निम्नलिखित निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है –

1) भोगोपभोग की वृद्धि के कारण ही मनुष्य दुःखी और सन्तप्त होता है।[29]
2) भोगोपभोग के अतिरेक में ही उसके जीवन–स्तर की अवनति होती है।
3) भोगोपभोग के कारण ही व्यक्ति असभ्य और अशिष्ट व्यवहार करता है।
4) भोगोपभोग जहाँ अमर्यादित होता है, वहाँ राज्य की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है। सन् 2008

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में अमेरिका में आई आर्थिक मन्दी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।[30]

5) भोगोपभोग के अतिरेक से ही व्यक्ति का जीवन–अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है।
6) भोगोपभोग के कारण ही व्यक्ति को सामाजिक बदनामी और अपमान झेलना पड़ता है।
7) भोगोपभोग के अतिरेक में व्यक्ति आलसी हो जाता है और उसकी उत्पादन, विनिमय, वितरण आदि आर्थिक–क्रियाएँ प्रभावित होती हैं।
8) भोगोपभोग का अतिरेक ही व्यक्ति को अकर्मण्य बनाकर बेरोजगार कर देता है।
9) भोगोपभोग में लिप्त व्यक्ति नैतिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों (लक्ष्यों) से गिर जाता है।
10) भोगोपभोग के कारण समाज में वर्ग–संघर्ष (Class–Struggle) में वृद्धि होती है।
11) भोगोपभोग की वृत्ति से व्यक्ति स्वार्थी होकर अनीतिपूर्वक अर्थोपार्जन करने लगता है।[31]

इस प्रकार, भोगोपभोग के विपक्ष में कही गई ये बातें भी निराधार नहीं हैं। अतः प्रसिद्ध साहित्यकार हरिकृष्ण प्रेमी का यह कथन अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है कि "भोग की जीवन में आवश्यकता तो है, किन्तु भोग ही जीवन का आदि और अन्त नहीं है।"[32] जैनदर्शन की अनेकान्त दृष्टि दोनों दृष्टियों (पक्ष एवं विपक्ष) को समन्वित कर भोगोपभोग की आवश्यकता का एक सापेक्ष दृष्टिकोण प्रदान करती है। इसके अनुसार, भोगोपभोग आवश्यक भी है और अनावश्यक भी। जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में यदि व्यक्ति अपनी भूमिकानुसार उचित मात्रा में भोगोपभोग करता है, तो यह आवश्यक है, किन्तु यदि वह इस सीमा का उल्लंघन करता है, तो यह अनावश्यक हो जाता है। जैनाचार्यों ने सप्त दुर्व्यसनों के त्याग, पैंतीस मार्गानुसारी कर्त्तव्यों के पालन, व्रतों (विशेषतः भोगोपभोग–परिमाण व्रत) के निर्वहन आदि का निर्देश भी भोगोपभोग को मर्यादित करने हेतु ही दिया है, जिनका विशेष चिन्तन आगे किया जाएगा।

भोगोपभोग की जीवन में आवश्यकता और स्थान

जैनदृष्टि से भोगोपभोग की आवश्यकता एवं जीवन में उनके स्थान को हम पुरूषार्थ–चतुष्टय की अवधारणा के आधार पर भी समझ सकते हैं। इसमें धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरूषार्थों को नकारकर जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष कहा गया है, क्योंकि मोक्ष ही उत्तम एवं परमसुखदायक है।[33] फिर भी, किसी हद तक धर्म को भी उसके मोक्षानुकूल होने से स्वीकार किया गया है, किन्तु अर्थ और काम को क्रमशः निरर्थक[34] एवं दुःखकर[35] मानकर उनका त्याग करने का उपदेश भी दिया गया है।

जैनदर्शन में साधनापथ पर अग्रसर साधक के लिए एक भिन्न दृष्टि से यह भी प्रतिपादित किया गया है कि यदि धर्म, अर्थ और काम परस्पर अबाधित होकर रहते हैं, तो ये स्वीकृत हैं। आशय यह है कि यदि अर्थोपार्जन न्यायपूर्वक हो, काम–भोग मर्यादित हो तथा धर्म–कार्य उचित अनुष्ठान के रूप में हो और ये तीनों मिलकर मोक्षाभिमुख हों, तो ये आचरणीय हैं।[36]

इस प्रकार, साध्य की दृष्टि से काम (भोग) अनाचरणीय हैं एवं साधना की दृष्टि से मर्यादित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काम (भोग) स्वीकृत भी किए गए हैं, परन्तु अमर्यादित काम (भोग) तो सर्वथा अनाचरणीय ही हैं। उदाहरणस्वरूप, मनुष्य में संज्ञा (Instincts) के रूप में काम–वासना का तत्त्व तो होता ही है। प्रथमतया तो उस पर विजय पाना चाहिए (साध्य की दृष्टि से)। फिर भी, यदि सम्भव न हो, तो विवाह–संस्था द्वारा उसे मर्यादित किया जाना चाहिए (साधना की भूमिका में)। किन्तु, अमर्यादित काम–भोगों का तो सर्वथा निषेध करना चाहिए, क्योंकि वे सम्पूर्ण समाज–व्यवस्था को दूषित कर देते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

11.3 उपभोक्ता संस्कृति का स्वरूप

भोगोपभोग के सम्यक् प्रबन्धन हेतु भोगोपभोग की आवश्यकता कितनी और किस रूप में है, यह विवेक होना अत्यावश्यक है। इसके अभाव में भोगोपभोग अमर्यादित होकर उपभोक्ता संस्कृति को जन्म देता है। आज विश्व में इसी उपभोक्ता संस्कृति का बोलबाला है।

इस सड़क पर इस कदर कीचड़ बिछा है।
हर किसी का पाँव घुटनों तक सना है।। [37]

उपभोक्ता–संस्कृति का विकास यद्यपि मानवीय–कल्याण के उद्देश्य से ही हुआ था, फिर भी यह व्यवस्था ही आज मानव के लिए समस्याओं का कारण बन गई है। इसमें मूलतः उपभोक्ता को ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का प्रेरणा स्रोत माना जाता है और उपभोक्ता को लक्ष्य में रखकर ही उत्पादन, विनिमय, वितरण आदि आर्थिक क्रियाएँ संचालित होती हैं। उपभोक्ता की सुप्त वासनाओं को उकसाने के लिए विविध विज्ञापन एवं प्रलोभन दिए जाते हैं, उसे विविध उपभोक्ता–सेवाओं (Customer Services) के द्वारा आकर्षित किया जाता है, मूलतः सेवाओं के नाम पर लाभ प्राप्ति एवं स्वार्थपूर्त्ति का उद्देश्य प्रमुख होता है। उपभोक्ता बाह्य आकर्षण में फँसकर विवेक खो देता है और उसे अपने हित–अहित एवं लाभ–अलाभ का भान नहीं रहता। उसकी इच्छाएँ अनियंत्रित एवं असीमित हो जाती हैं, वह स्वच्छन्द हो जाता है। उसमें अधिक से अधिक भोगोपभोग की लालसा पनपती जाती है। वह दिनोंदिन इन्द्रिय–विषयों का दास बनता चला जाता है, फिर भी विडम्बना यह है कि उसे बाजार के 'राजा' (Consumer's Sovereignty) की संज्ञा देकर भ्रमित किया जाता है। प्रो.राबर्टसन का कहना है[38] – 'पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता ही सम्राट् है।' कीखोफर का कहना है[39] – 'उपभोक्ता के द्वारा किया गया चुनाव, चाहे वह समझदारीपूर्ण हो या मूर्खतापूर्ण, समस्त औद्योगिक प्रणाली को नियंत्रित करता है।' सच तो यह है कि भले ही उपभोक्ता की सर्वोच्च सत्ता बतलाई जाती है, फिर भी उसकी स्थिति एक कठपुतली से अधिक कुछ भी नहीं होती। इस प्रकार उपभोक्तावादी संस्कृति एक ऐसा वातावरण निर्मित करती है कि उपभोक्ता इसके मोहपाश में फँसकर उपभोगों के अतिरेक में डूब जाता है।

उपभोक्ता को भ्रमित करने वाली वर्त्तमान उपभोक्ता संस्कृति के मूल सूत्र हैं –

★ खूब उत्पादन हो और खूब उपभोग हो।
★ अनियंत्रित एवं असीम इच्छाएँ ही विकास का आधार हैं।
★ बाह्य समृद्धि ही जीवन–स्तर की उन्नति का मापदण्ड है।
★ उपभोग ही अधिकतम सन्तुष्टि का एकमात्र साधन है।
★ उचित हो या अनुचित, उपभोग तो होना ही चाहिए।

उपभोक्ता–संस्कृति और भोगोपभोग–प्रबन्धन में बहुत अन्तर है। उपभोक्ता–संस्कृति वस्तुतः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगवाद की ओर प्रवृत्त करती है, जबकि भोगोपभोग–प्रबन्धन आत्म–संयम की ओर प्रेरित करता है। उपभोक्ता संस्कृति के अनुसार, व्यक्ति को अधिक से अधिक वस्तुओं का उपभोग करना चाहिए, किन्तु भोगोपभोग–प्रबन्धन कम से कम सामग्रियों के उपयोग पर जोर देता है। उपभोक्तावादी जीवनदृष्टि में केवल भौतिक–मूल्यों का महत्त्व होकर नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के लिए न कोई सम्मान है और न ही कोई स्थान। किन्तु भारतीय संस्कृति पर आधारित भोगोपभोग–प्रबन्धन की दृष्टि में भौतिक एवं नैतिक–आध्यात्मिक मूल्यों के बीच सम्यक् सामंजस्य का होना सर्वोच्च प्राथमिकता है। उपभोक्ता संस्कृति की विडम्बना यह है कि व्यक्ति पहले भोगों की व्यवस्था के लिए सन्तप्त रहता है, फिर भोग करते हुए भी अतृप्त रहता है और अन्ततः भोगों का आदी हो जाता है, जिससे भोग उसके लिए अपरिहार्य हो जाते हैं,[40] किन्तु भोगोपभोग–प्रबन्धन की विशेषता यह है कि व्यक्ति भोगों की आसक्ति को मर्यादित करता हुआ अन्ततः आसक्तिरहित हो जाता है। यह सत्य है कि उपभोक्तावादी–जीवनदृष्टि और भोगोपभोग–प्रबन्धन की दृष्टि में जीवन का लक्ष्य शान्ति और आनन्द की उपलब्धि है, फिर भी उपभोक्ता संस्कृति कहीं न कहीं भोगों को प्राथमिकता देकर उनमें शान्ति की तलाश करती है, जबकि भोगोपभोग–प्रबन्धन शान्ति को प्राथमिकता देकर मर्यादित भोगों को स्वीकार करता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपभोक्तावादी जीवनदृष्टि एवं भोगोपभोग–प्रबन्धन दोनों में से कोई भी पदार्थ के उपयोग के लिए इंकार नहीं करता, फिर भी दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि पहली दृष्टि में, न तो उपभोग कोई विवशता है और न ही उसकी सीमा की आवश्यकता है, वह यह भी मानती है कि जीवन के लिए उपभोग नहीं, अपितु उपभोग के लिए जीवन है, जबकि दूसरी दृष्टि में, जीवन के लिए उपभोग करना एक विवशताजन्य आवश्यकता है, साथ ही उसका यह मानना है कि जीवन के लिए उपभोग है, न कि उपभोग के लिए जीवन।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि जहाँ एक ओर मूल्यवादी आध्यात्मिक जीवन–दृष्टि से युक्त भोगोपभोग–प्रबन्धन एक सन्तुलित, सुव्यवस्थित और सुमर्यादित जीवनशैली की पहल करता है, वहीं दूसरी ओर भौतिकवादी उपभोक्ता संस्कृति एक असन्तुलित, अव्यवस्थित और अमर्यादित जीवनशैली की ओर ले जाती है।

इस असन्तुलित, अमर्यादित एवं अव्यवस्थित भोगोपभोग की जीवनशैली के क्या दुष्परिणाम होते हैं, इस पर हमें गम्भीरता से विचार करना होगा और यह देखना होगा कि भोगोपभोग का सम्यक् प्रबन्धन करना क्यों और किस प्रकार से आवश्यक है?

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

11.4 असन्तुलित, अमर्यादित एवं अव्यवस्थित भोगोपभोग–नीति (उपभोक्ता संस्कृति) के दुष्परिणाम

उपभोक्ता–संस्कृति की कमियों के परिणामस्वरूप आज व्यक्ति और समाज दोनों ही अपने आदर्शों और मूल्यों को खोते जा रहे हैं और इससे व्यवहार जगत् में अनेक चिन्तनीय दुष्परिणाम भी सामने आ रहे हैं।

आइए, इन दुष्परिणामों पर एक नजर डालें, जिससे हमें भोगोपभोग–प्रबन्धन की महत्ता का बोध हो सके –

(1) विकास के नाम पर छलावा – उपभोक्तावाद यह भ्रान्ति फैलाता है कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र आर्थिक–समृद्धि और भौतिक–सुख की ऊँचाइयों पर जा रहे हैं, जो कि वास्तविकता से परे हैं। आंकड़े भी बताते हैं कि वर्ष 1950–51 में देश का सकल–राष्ट्रीय उत्पाद 40,454 करोड़ रूपए और प्रतिव्यक्ति आय 1126 रूपए थी, जो वर्ष 1996–97 में बढ़कर क्रमशः 2,58,465 करोड़ रूपए तथा प्रतिव्यक्ति आय 2,761 रूपए हो गई। इससे यह प्रतीत होता है कि भारत में व्यक्ति और समाज अधिक सुखी और सम्पन्न हुए हैं, परन्तु वास्तविक स्थिति इससे भिन्न है। इस अवधि में जीवन–रक्षक वस्तुओं के मूल्य करीब दस गुना बढ़े हैं, जबकि आय मात्र ढाई गुना बढ़ी है। यह मात्र आँकड़ों की बाजीगरी है। आज आर्थिक–विषमता, आर्थिक–सत्ता का केन्द्रीकरण, वर्ग–विद्वेष, शोषण आदि की प्रवृत्तियाँ खूब बढ़ी हैं।[41]

(2) आय–साधनों में विकृति – उपभोक्तावादी–संस्कृति ने व्यक्ति के भीतर स्वार्थ और प्रतिस्पर्धा की भावना को अत्यधिक उत्तेजित किया है और इससे वह येन–केन–प्रकारेण अपने साध्य को सिद्ध करने में लगा है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था[42] – 'तुम साधन की चिन्ता करो, साध्य अपने आप निष्पन्न होगा', किन्तु आज व्यक्ति साधन के औचित्य–अनौचित्य का चिन्तन किए बिना साध्य की सिद्धि में लगा है। उसकी दृष्टि में साधनों का औचित्य सिद्धि में निहित है, इससे ही आज चोरी, डकैती, हत्या, अपहरण, आतंक, भ्रष्टाचार आदि कुकृत्य बढ़–चढ़कर हो रहे हैं।[43] इस प्रकार आय के साधनों की प्रामाणिकता धीरे–धीरे नष्ट होती जा रही है।

(3) शारीरिक एवं मानसिक रोगों में वृद्धि – आज उपभोगों में संलग्न व्यक्ति अधिकाधिक उत्पादन एवं संग्रह करने की चाह रखता हुआ अपने आपको ही दाँव पर लगा रहा है, परिणामस्वरूप अव्यवस्थित दिनचर्या हो जाने से वह अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोगों से पीड़ित होता जा रहा है, जैसे – माइग्रेन, अनिद्रा, उच्चरक्तचाप, हृदयघात, ब्रेन हेमरेज, लकवा, मोटापा, हताशा, निराशा, हीन–भावना, अवसाद, हिस्टीरिया आदि। कभी–कभी तो व्यक्ति आत्महत्या के लिए भी प्रवृत्त हो जाता है। विश्व–स्वास्थ्य–संगठन के अनुसार, बढ़ती हुई उपभोक्ता–संस्कृति के कारण पूरे विश्व में आज लगभग 45 करोड़ लोग मानसिक बीमारियों से ग्रस्त हैं। मशीनीकृत होती जिन्दगी के कारण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगामी 15–20 वर्षों में विश्व का हर चौथा व्यक्ति तनाव, अवसाद आदि में से किसी न किसी व्याधि से ग्रसित होगा।[44] कहा भी गया है –

नर नारी रहते जहाँ, विषय भाव में लीन।
'साधक' उनको छोड़ते, धर्म स्वास्थ्य धन तीन।।[45]

(4) प्राकृतिक–असन्तुलन और पर्यावरण–प्रदूषण की वृद्धि – उपभोक्तावाद अधिकतम उपभोग के लिए अधिकतम उत्पादन को प्रोत्साहित करता है, किन्तु अधिकतम उत्पादन का अर्थ है – प्राकृतिक संसाधनों का अधिकाधिक दोहन और ऊर्जा की अत्यधिक खपत। इससे आज वनों की कटाई, भूमि का क्षरण, पेयजल की कमी, CO_2 गैस की वृद्धि, रेडियोधर्मी विकिरण, वैश्विक ताप–वृद्धि, समुद्री जल–स्तर की वृद्धि, प्राकृतिक आपदा आदि समस्याएँ समाज के लिए चिन्तनीय मुद्दा बन चुकी हैं। वस्तुतः, यह उपभोक्ता–संस्कृति व्यक्ति को शनैः–शनैः सर्वविनाश की ओर ले जा रही है।[46] जीवन–अस्तित्व के इस खतरे को जैनाचार्यों ने इन पंक्तियों में इंगित किया है[47] –

जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ।।

जो लोक के अस्तित्व को नकारता है, वह अपने अस्तित्व को नकारता है और जो अपने अस्तित्व को नकारता है, वह लोक के अस्तित्व को नकारता है।

(5) पारिवारिक एवं सामाजिक विघटन – उपभोक्ता–संस्कृति ने आज मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों को भी तहस–नहस कर दिया है। उपभोक्ता–संस्कृति के अग्रज राष्ट्र अमेरिका में सामाजिक स्थिति की बदहाली, शिकागो विश्वविद्यालय के 24 नवबंर 1999 को प्रस्तुत, निम्न तथ्यों से झलकती है –

- ★ परिवारों के संचालन एवं लालन–पालन हेतु विवाह–संस्था का महत्त्व घट जाना।
- ★ सन् 1960 में अविवाहित माताओं की संख्या 5 प्रतिशत थी, जो सन् 1996 में बढ़कर 32 प्रतिशत हो गई।
- ★ इन्हीं छत्तीस वर्षों में तलाक का प्रतिशत दुगुना हो गया।
- ★ सन् 1972 में 72 प्रतिशत बच्चे अपने माता–पिता के साथ रहते थे, जबकि सन् 1996 में मात्र 52 प्रतिशत।
- ★ सन् 1972 में 45 प्रतिशत माता–पिताओं के बच्चे नहीं थे और यह तथ्य विवाहित स्त्री–पुरूषों की बच्चों के प्रति अरुचि का स्पष्ट द्योतक है।
- ★ यहाँ पर शादी के पहले भी शादीशुदा जैसा जीवन बिताने की परम्परा कई लोगों में देखी जाती है।[48]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(6) अर्थ का केन्द्रीकरण – आज पूंजीवादी अर्थ–व्यवस्था के कारण समाज का एक वर्ग तो अत्यधिक समृद्ध है, जबकि उससे कई गुना बड़ा एक दूसरा वर्ग है, जो अत्यधिक निर्धनता का जीवन व्यतीत कर रहा है। यह तथ्य सन् 2006 में प्रकाशित लेख के निम्न बिन्दुओं से स्वतः स्पष्ट है –

1) भारतवर्ष की सकल राष्ट्रीय आय का लगभग 49.50 प्रतिशत भाग तो केवल 20 प्रतिशत सर्वाधिक धनाढ्य लोगों से सम्बन्धित होता है।
2) भारत में निजी कम्पनी का मुख्य कार्यकारी अधिकारी 15 करोड़ रूपए प्रतिवर्ष आसानी से कमाता है, जबकि एक आम आदमी वर्ष भर में मुश्किल से 5000 रूपए कमा पाता है।
3) भारत में करोड़पतियों की संख्या वर्ष 2003 में 61 हजार थी, जो वर्ष 2009 में करीब 16 लाख हो गई।
4) देश में 40 करोड़ लोग गरीबी–रेखा से नीचे जी रहे हैं, जिन्हें जीवन–यापन करने के लिए औसतन 77 रूपए प्रतिमाह प्राप्त हो पाता है।[49]

इस आर्थिक–केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप समाज में शोषक एवं शोषितों के मध्य दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं और संघर्ष पनप रहे हैं।

(7) भावनात्मक संकीर्णता की वृद्धि – भगवान् महावीर ने **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'**[50] के सूत्र के द्वारा परस्पर सहयोग, सेवा, बन्धुत्व, मैत्री आदि उदात्त भावनाओं के साथ जीने का उपदेश दिया, किन्तु आज उपभोक्तावादी–संस्कृति के प्रभावस्वरूप व्यक्ति संवेदनहीन, क्रूर, स्वार्थी, अवसरवादी और विश्वासघाती बनता जा रहा है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा गया है – जहाँ कामभोगों में आसक्ति होती है, वहाँ व्यक्ति के व्यवहार में क्रूरता, छल–कपट, झूठ, धोखा, चालाकी आदि कुप्रवृत्तियाँ (कूट) स्वतः ही उत्पन्न हो जाती हैं।[51]

(8) समय और ऊर्जा की बरबादी – उपभोक्ता–संस्कृति के कारण व्यक्ति अनेक प्रकार की अनावश्यक क्रियाओं में व्यस्त होकर अपने अमूल्य समय और सामर्थ्य को नष्ट कर रहा है। इनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं –

1) ब्यूटीपार्लर एवं मसाजपार्लर जाना।
2) क्लब और जुआ–घरों में जाना।
3) हेल्थ क्लब में जाना।
4) सप्ताहांत (Weekend) में पिकनिक मनाना।
5) छुट्टी के दिनों में रेस्त्रां आदि में जाना।
6) सिगरेट, बीयर, शीशा आदि मादक पदार्थों का सेवन करना।
7) मोबाईल एवं दूरभाष पर घण्टों बातचीत करना।
8) दूरदर्शन एवं चलचित्र की अतिरुचि होना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

9) विडियो गेम्स खेलना।
10) मैच देखने की अतिरुचि होना।
11) अनावश्यक उपन्यास तथा मैग्जीन पढ़ना।
12) विविध व्यंजन बनाना, सजाना, खाना और खिलाना।
13) वर्ष में अनेक बार पार्टी आयोजित करना, जैसे – जन्मदिन, विवाह, मुण्डन, नववर्ष, वेलेन्टाईन–डे, लिव इन रिलेशन आदि।
14) सौन्दर्य–प्रसाधनों (Cosmetics) आदि का प्रयोग करना।
15) विविध परिधान पहनना, बार–बार बदलना एवं मेचिंग के लिए विविध वस्तुओं का प्रयोग करना।
16) घर, गाड़ी, दुकान ऑफिस आदि की अनावश्यक साज–सज्जा करना।
17) मॉल्स, शोरुम्स, सुपर मार्केट्स, सामान्य बाजारों आदि में अनावश्यक खरीददारी हेतु जाना।
18) महँगे उपहार एवं ग्रीटिंग कार्ड्स भेंट करना इत्यादि।

चूँकि व्यक्ति की पसन्द, रुचि, फैशन सतत बदलती रहती है, अतः वह जल्दी–जल्दी भोग एवं उपभोग की वस्तुओं में भी बदलाव करता जाता है, साथ ही विक्रेता वर्ग भी उसे इस हेतु सुविधाएँ एवं प्रलोभन देता रहता है, जैसे – 0% ब्याज पर आधारित ऋण सुविधा, ऋण चुकाने की आसान किश्तें, क्रेडिट–कार्ड सुविधा, हाउस लोन सुविधा, सस्ती स्कीम, छूट आदि। इसके अतिरिक्त झूठे लेकिन मन–लुभावने विज्ञापन भी व्यक्ति की कृत्रिम माँगों का सृजन करने में अहम भूमिका अदा करते हैं।

इन सबसे प्रभावित होकर व्यक्ति अनावश्यक भोगोपभोग करता रहता है, जिसकी जीवन में कोई वास्तविक आवश्यकता तो नहीं होती, किन्तु इनसे व्यक्ति का समय एवं सामर्थ्य सृजनात्मक एवं रचनात्मक कार्यों के बजाय निरर्थक कार्यों में व्यतीत हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी इसीलिए कहा गया है कि इस विश्व में अनेक लोग ऐसे हैं, जो इन्द्रिय–विषयों के भोगों में आसक्त होकर अपने मनुष्य–जीवन को प्रमाद में ही बिता देते हैं।[52]

(9) अनुकूलन (Adaptation) की क्षमता का ह्रास – उपभोक्ता संस्कृति से प्रभावित होकर व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा सुख–सुविधाओं एवं विलासिताओं का आदी होता जा रहा है, जैसे – वातानुकूलित यन्त्र (A.C.), वॉटर कूलर्स, गीजर, स्वचालित यन्त्र, रिमोट कन्ट्रोल यन्त्र, मिक्सर, ज्यूसर, परिवहन के साधनों आदि का उपयोग दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। इस पर भी नए–नए मॉडलों के प्रयोग की अभिरुचि भी विशेष रूप से बढ़ रही है। व्यक्ति पुराने के बदले नई वस्तुएँ खरीदने के लिए सदैव लालायित रहता है।

भले ही व्यक्ति इसे अपना स्टेटस–सिम्बल (Status Symbol) और प्रगति का सूचक माने, लेकिन इसके दुष्परिणामों से वह बच नहीं सकता। उदाहरणार्थ –

1) व्यक्ति का जीवन परवश होता जा रहा है, जैसे – गाड़ी खराब हो या ड्रायवर न हो, तो आधा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किलोमीटर पैदल जाना भी एक गम्भीर समस्या बन जाती है।

2) व्यक्ति की स्फूर्ति एवं चुस्ती धीरे–धीरे कम होती जाती है, जैसे–रिमोट कंट्रोल का प्रयोग करने वाला व्यक्ति सामान्यतः उठने–बैठने की क्रिया में भी असहज हो जाता है।

3) व्यक्ति के लिए प्रतिकूल प्राकृतिक परिवर्त्तनों को सह पाना बहुत मुश्किल हो जाता है, जैसे – वातानुकूलित कार का प्रयोग करने वाले को धूप में पैदल चलना भी कष्टकारी लगता है।

4) अनेक प्रकार के शारीरिक रोग, जैसे – मोटापा, मधुमेह आदि उन व्यक्तियों में अधिक पाए जाते हैं, जो परावलम्बी एवं विलासिताभोगी होते हैं।

(10) अनावश्यक अपव्यय – उपभोक्तावाद बचत के बजाय खर्चे की आदत को ही प्रोत्साहित करता है और उसी को राष्ट्रीय–प्रगति का मापदण्ड भी मानता है, किन्तु नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर देखें, तो उपभोगों में किया जाने वाला अनावश्यक अपव्यय अनुचित है। जो व्यक्ति अनुचित अपव्यय करता है, उसे अपने स्टेटस को बनाए रखने एवं बढ़ाने के लिए उतनी ही अधिक अर्थोपार्जन सम्बन्धी क्रियाएँ भी करनी पड़ती हैं। इतना ही नहीं, इन क्रियाओं को करते हुए उसे हिंसा, झूठ, चोरी आदि अठारह पापस्थानकों का सेवन भी करना पड़ता है। साथ ही अधिक आकुलता, व्याकुलता एवं तनावभरा जीवन भी जीना पड़ता है। वस्तुतः, अनावश्यक उपभोग केवल अर्थ का ही अपव्यय नहीं करता, अपितु जैनदृष्टि से देखें, तो नैतिक–आध्यात्मिक मूल्यों तथा पूर्वसंचित पुण्य कर्मों का भी अपव्यय करता है।

विषय भोग सब हीन हैं, करो न इनमें वास।
'साधक' यों बच जाएगा, जीवन धन का नाश।।[53]

स्पष्ट है कि जीवन में अविवेकपूर्ण ढंग से भोगोपभोग हेतु प्रेरित करने वाली उपभोक्ता–संस्कृति व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक है। इससे नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य नष्टप्रायः हो जाते हैं और व्यक्ति केवल भौतिकवादी–दृष्टिकोण पर आधारित जीवनशैली अपना लेता है। इससे उसे और समाज को गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ता है, अतः भोगोपभोग का सम्यक् प्रबन्धन करके मर्यादित एवं नियंत्रित भोगोपभोग करना ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। कहा भी गया है[54] –

भोगे भोच्चा वमित्ता य लहुभूयविहारिणो।
आमोयमाणा गच्छन्ति दिया कामकमा इव।।

अर्थात् जो विवेकी पुरूष होते हैं, वे भोगों को भोगने के पश्चात् (समझ आने पर) उन्हें छोड़ देते हैं और प्रसन्नतापूर्वक विचरण करते हैं।

प्रथमतः, जीवन जीने के लिए आवश्यक सामग्रियों को छोड़कर शेष भोग–साधनों में निरन्तर कमी करते हुए उनसे ऊपर उठना ही आज एकमात्र विकल्प है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

11.5 जैनआचारमीमांसा के आधार पर भोगोपभोग–प्रबन्धन

भोगोपभोग की समस्याओं एवं दुष्परिणामों की चर्चा करने के पश्चात् उनके समाधान को खोजना आवश्यक है. इस हेतु जैनआचारशास्त्र अर्थात् जीवन–प्रबन्धन शास्त्र के जीवन–उपयोगी नीति–निर्देश हमारे मुख्य आधार होंगे। जैनआचारशास्त्र का प्रबन्धन सम्बन्धी एक प्रमुख सूत्र है कि सही जानना, सही मानना और सही जीना ही लक्ष्य प्राप्ति का सही उपाय है।[55] इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम भोगोपभोग–प्रबन्धन के सिद्धान्तों को जानें और मानें, फिर उनका जीवन में प्रयोग करें। अतः भोगोपभोग–प्रबन्धन की प्रक्रिया को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं – प्रथम सैद्धान्तिक पक्ष है, जिसके आधार पर हम विवेकपूर्वक विश्लेषण करके सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण किया जा सकता है और द्वितीय प्रायोगिक पक्ष है, जिसके आधार पर अनावश्यक भोगोपभोग से निवृत्ति और आवश्यक भोगोपभोग में प्रवृत्ति की जा सकती है।

11.5.1 जैनआचारमीमांसा के आधार पर भोगोपभोग–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक पक्ष

भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए सबसे पहले भोगोपभोग के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण करना आवश्यक है। इस हेतु जीवन–प्रबन्धक को अपने संकुचित एवं भ्रमित दृष्टिकोण को छोड़कर अनेकान्त–दृष्टि से सत्य को ग्रहण करना होगा।

आज विडम्बना यही है कि व्यक्ति ने भोगोपभोग के प्रति संकुचित दृष्टिकोण अपनाकर उसे केवल बाह्य ऐन्द्रिक विषयों से सम्बन्धित मान लिया है, किन्तु यह उचित नहीं है। जैनदृष्टि के आधार पर देखें, तो भोगोपभोग के विषय अंतरंग आत्मा एवं बाह्य जगत् दोनों से सम्बन्धित होते हैं और इसी आधार पर भोगोपभोग के निम्न भेद किए जा सकते हैं–[56]

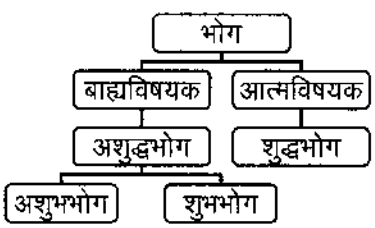

वस्तुतः जैनदर्शन यह मानता है कि भोग एवं उपभोग तो प्रत्येक आत्मा का अभिन्न गुण है और आत्मा की सभी अवस्थाओं में किसी न किसी प्रकार का भोग एवं उपभोग तो होता ही रहता है।[57] जब यह भोगोपभोग कामनाओं का विसर्जन करते हुए आत्मरमणता के रूप में होता है, तब इसे शुद्ध–भोगोपभोग कहा जाता है।[58] जैनाचार्यों की दृष्टि में यह भोगोपभोग ही सर्वोत्तम है, सर्वथा आचरणीय है और एक अत्यन्त, अतिशययुक्त, स्वाधीन एवं अव्याबाध आत्मसुख की प्राप्ति कराने वाला है। संक्षेप में कहें, तो यह वह अवस्था है, जिसमें राग–द्वेष और तज्जन्य इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं और आत्मा स्वयं की निर्मल पर्यायों (आत्म–शान्ति) का भोग तथा स्वयं के ही ज्ञानादि गुणों का उपभोग करती है।[59] इस शुद्ध भोगोपभोग का गहन चिन्तन–मनन सहित प्रबन्धनविषयक चर्चा अध्याय तेरहवें में की जाएगी।

जब यह भोगोपभोग आत्मा के बजाय पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों में पर–रमणता रूप होता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, तब उसे अशुद्ध भोगोपभोग कहा जाता है। इसके दो प्रकार हैं – अशुभ भोगोपभोग एवं शुभ भोगोपभोग। वह भोगोपभोग अशुभ कहलाता है, जिसमें व्यक्ति अशुभ भावों से युक्त होकर बाह्य विषयों में तन्मय हो जाता है, जैसे – कुविचार, कुसंगति, कुमार्ग में लीन रहना।[60] वह भोगोपभोग शुभ कहलाता है, जिसमें व्यक्ति शुभ–भावों से युक्त होकर सात्विक प्रवृतियों में तन्मय हो जाता है, जैसे – अर्हद् भक्ति, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान आदि में लीन होना।[61]

संक्षेप में कहें तो, इन दोनों ही भोगोपभोग में राग–द्वेष एवं इच्छाओं का सद्भाव तो बना ही रहता है, फिर भी अशुभ–भोगोपभोग में ये राग–द्वेष एवं इच्छाएँ असात्विक (अप्रशस्त) होती हैं और चित्त की आकुलता–व्याकुलता का कारण बनती हैं, जबकि शुभ–भोगोपभोग में ये सात्विक (प्रशस्त) होती हैं और प्रसन्नता का कारण बनती हैं।[62] जैनाचार्यों ने शुभ–भोगोपभोग को अशुभ–भोगोपभोग से ऊपर उठने एवं शुद्ध–भोगोपभोग में स्थिर होने के लिए एक सेतु या साधन के समान बताया है। इस शुभ–भोगोपभोग की विस्तृत चर्चा अध्याय बारहवें में की जाएगी। जहाँ तक अशुभ–भोगोपभोग का सवाल है, जैनाचार्यों ने इसे भूमिकानुसार अधिक से अधिक मर्यादित एवं नियंत्रित करने का सदुपदेश दिया है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर भोगोपभोग–प्रबन्धन के निम्नलिखित उद्देश्यों का निर्धारण किया जा सकता है –

1) अशुभ–भोगोपभोग को अधिकाधिक मर्यादित करना।
2) अशुभ–भोगोपभोग से निवृत्ति हेतु शुभ–भोगोपभोग में प्रवृत्त होना तथा शुद्ध भोगोपभोग की प्राप्ति हेतु शुभ भोगोपभोग से निवृत्त होना।
3) अनासक्ति की वृद्धि करते हुए शुद्ध–भोगोपभोग में अधिकाधिक रमण करना।

जैनदृष्टि के आधार पर अशुभ, शुभ और शुद्ध भोगोपभोग का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

क्र.	विशेषता / प्रकार	अशुभ–भोगोपभोग	शुभ–भोगोपभोग	शुद्ध–भोगोपभोग
1)	भोग का आधार (क्षेत्र)	बाह्य परिवेश	बाह्य परिवेश	अंतरंग परिवेश
2)	भोग के प्रमुख साधन	पाँच इन्द्रियाँ, मन एवं अन्य बाह्य साधन	पाँच इन्द्रियाँ, मन एवं अन्य बाह्य साधन	आत्मा
3)	भोग का तात्कालिक फल	कभी हर्ष, कभी विषाद	चित्त की प्रसन्नता[63] (अंशतः दोषसहित)	परमानन्द
4)	भोग का दीर्घकालिक फल	दुर्गतियों में भ्रमण	सद्गतियों में भ्रमण	संसार–परिभ्रमण से मुक्ति
5)	कर्म–बन्धन की दृष्टि से भोग का फल	पाप कर्म	पुण्य कर्म	बन्धन मुक्त[64]
6)	भोग की दशा (बाह्य)	प्रवृत्ति रूप	प्रवृत्ति रूप	निवृत्ति रूप
7)	भोग की उचितता / अनुचितता	सर्वथा हेय	कथंचित् हेय एवं कथंचित् उपादेय	परम उपादेय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अशुभ–भोगोपभोग, जो प्रस्तुत अध्याय की मुख्य विषय–वस्तु है, की हेयता का सम्यग्ज्ञान हुए बिना भोगोपभोग की मर्यादा की बात करना व्यर्थ होगा। वस्तुतः, इस सन्दर्भ में अधिकांश लोगों के मन में यह भ्रामक मान्यता बनी हुई है कि इन्द्रियों के मधुर विषयों को भोगकर ही हमें सुख की प्राप्ति होती है। यह मान्यता भले ही कितनी भी प्रगाढ़ क्यों न हो, जैनाचार्यों की दृष्टि में किसी भी रूप में उचित नहीं है, क्योंकि सुख वस्तुगत नहीं, आत्मगत है। यदि व्यक्ति निम्न बिन्दुओं का विवेकपूर्ण चिन्तन–मनन करे, तो निश्चित ही उसे अशुभ भोगोपभोगों की निरर्थकता एवं तुच्छता की सम्यक् अनुभूति हो सकेगी –

11.5.2 अशुभ भोगोपभोग की निरर्थकता, जैनदृष्टि का आधार

यद्यपि सुख की कल्पना में ही हम काम–भोगों की अभिलाषा करते हैं और काम–भोगों की प्राप्ति होने पर हमें सुख की अनुभूति भी होती है, फिर भी यह एक भ्रम है, क्योंकि जैनाचार्यों की दृष्टि में इन काम–भोगों में निम्न कमियाँ या दोष हैं –

(1) काम–भोगों से प्राप्त सुख सच्चा सुख नहीं – इन्द्रियों के स्पर्शादि विषयों के सुख को सुख कहना ही गलत है, क्योंकि इसका प्रारम्भ सदैव चंचलता, आतुरता एवं दुःख से ही होता है। जैसे ही कोई विषय यथार्थ या कल्पना रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है और वह प्रिय लगने लगता है, वैसे ही तृष्णा का जन्म होता है और तृष्णा के साथ ही दुःख की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। तृष्णा की पूर्त्ति के लिए व्यक्ति को कई बार अथक परिश्रम करना एवं कष्ट सहना पड़ता है, फिर भी कई बार अभीष्ट भोगों की प्राप्ति नहीं हो पाती। कई बार स्वयं को प्राप्त न होकर किसी अन्य को प्राप्त हो जाते हैं। इन सब स्थितियों में व्यक्ति दुःखी और बेचैन होता रहता है, तब कैसे हम इन भोगों को सुख रूप कह सकते हैं?

कदाचित् अभीष्ट भोगों की प्राप्ति हो भी जाती है, तब भी इनका सेवन करने पर जो सुख प्राप्त होता है, वह स्थायी नहीं होता, अपितु बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर होता है।[65] व्यक्ति जितना–जितना इसका सेवन करते जाता है, उतना–उतना सुख कम होता चला जाता है और एक सीमा के पश्चात् यह दुःख का हेतु बन जाता है। कहा भी गया है[66] –

सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे, लेश ए लक्षे लहो।
क्षण–क्षण भयंकर भाव मरणे, कां अहो राची रहो?

व्यक्ति भले ही हाथी, घोड़े, धन, वैभव आदि भोग सामग्रियाँ प्राप्त कर ले, तो भी पाप कर्मों का उदय होने पर अर्थात् प्रतिकूल परिस्थितियों (रोग, शोक, दुःख, मृत्यु आदि) के प्राप्त होने पर वह इन भोगों का स्वामी होता हुआ भी असहाय एवं बलहीन हो जाता है। ये सामग्रियाँ भी उसका संरक्षण करने में समर्थ नहीं होती। कभी व्यक्ति इन्हें छोड़कर चला जाता है, तो कभी ये व्यक्ति को छोड़कर चली जाती हैं।[67]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भले ही इस सुख को सुख क्यों न कहा जाए, परन्तु इस सुख में सदैव अपूर्णता बनी रहती है और अपूर्णता कभी भी सुख रूप नहीं होती, क्योंकि जहाँ चाह है, वहाँ चिन्ता है और जहाँ चिन्ता है, वहाँ तनाव या दुःख है। उत्तराध्ययनसूत्रकार कहते हैं कि 'व्यक्ति की कामनाएँ आकाश के समान असीम हैं और इस संसार के साधन सीमित हैं, अतः यदि किसी व्यक्ति को सम्पूर्ण पृथ्वी भी दे दी जाए, तो भी इच्छाओं को परिपूर्ण करने अर्थात् उसे पूर्ण सुखी करने में वह समर्थ नहीं है।'[68] जो सुख परिपूर्ण न हो और जिसे पाने के पश्चात् भी निश्चिन्तता न हो, अपितु नवीन सुख की तृष्णा बनी रहे, उसे हम सच्चा सुख कैसे कह सकते हैं?

व्यक्ति इस इन्द्रियाश्रित एवं पदार्थाश्रित सुख को भले ही सुख माने, लेकिन जैनाचार्यों की दृष्टि में, यह सुख सुख नहीं, अपितु दुःख ही है, क्योंकि यहाँ पराधीनता है और जहाँ पराधीनता है, वहाँ दुःख ही दुःख है। यह पराधीन और अपूर्ण सुख भी तब प्राप्त होता है, जब कुछ पुण्य का उदय हो और इन्द्रियाँ भलीभाँति भोगानुकूल कार्य करती हों।[69] अनेक भोगीपुरूष वृद्धावस्था आने पर इसीलिए दुःखी रहते हैं, क्योंकि अब न तो उनकी इन्द्रियाँ व्यवस्थित कार्य करती हैं और न ही उन्हें भोगों के सेवन के लिए स्वतन्त्रता मिल पाती है। कहा भी गया है – **'पराधीन सपने हुँ सुख नाहीं'।**[70]

अध्यात्मयोगी श्रीमद्देवचन्द्रजी इस विषय–सुख की तुच्छता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि इस सुख को भोगना व्यर्थ है, क्योंकि ये विषय–सामग्रियाँ जड़ हैं, चलायमान हैं और कइयों के द्वारा पूर्व में भोगकर परित्याग की हुई जूठन हैं। उनके अनुसार, चेतन होकर जड़ भोगों का भोग करना उचित नहीं है, क्योंकि हंस भी मोती को छोड़कर कूड़ा–कर्कट, कीचड़ आदि कुत्सित वस्तुओं में चोंच नहीं मारा करता।[71]

जड़ चल जगनी ऐंठनो, न घटे तुजने भोग हो मित्त।

इन भोगों से प्राप्त सुख को हम अव्याबाध सुख भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इन सुखों का सेवन करते हुए कोई न कोई बाधा तो उपस्थित होती ही रहती है – कभी भूख, तो कभी प्यास, कभी रोग, तो कभी शोक आदि।[72] जहाँ बाधाएँ आती हैं, उस सुख को सुख की संज्ञा कैसे दी जा सकती है?

इन भोगों से व्याकुल व्यक्ति की स्थिति इस प्रकार होती है कि वह जितना–जितना भोग करता जाता है, उसकी भोग–तृष्णा भी उतनी–उतनी बढ़ती चली जाती है। यदि कोई एक बार स्त्री का भोग करता है, तो बार–बार भोगना चाहता है, यदि एक बार मिठाई खाता है, तो बार–बार खाने की इच्छा करता है, एक बार कोई सुगन्ध लेता है, तो बार–बार सुगन्ध लेने की इच्छा करता है इत्यादि।[73] जिस प्रकार से खुजली का रोगी खुजलाने पर दुःख को भी सुख मानता है, परन्तु उसका दुःख और अधिक बढ़ जाता है, उसी प्रकार से काम–भोगों की स्थिति भी होती है, अतः ऐसे सुख को क्या सुख मानना।[74]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सोचा करता हूँ भोगों से, बुझ जाएगी इच्छा ज्वाला।
परिणाम निकलता है लेकिन, मानो पावक में घी डाला।।[75]

इस भोग को सुख रूप इसलिए भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इस सुख की प्राप्ति, संरक्षण एवं संवर्द्धन आदि के लिए व्यक्ति को नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की भी उपेक्षा करनी पड़ती है। जिस सुख को पाने के लिए व्यक्ति दूसरों को दुःखी करे, उसे सुख कैसे कहा जाए? अथवा जिसकी प्राप्ति के लिए हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापाचारों का सेवन करना पड़े, उसे सुख कैसे कहा जा सकता है? भोगों का सेवन करते हुए मानवीय संवेदनाएँ किस हद तक गिर जाती हैं, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण स्वीडन निवासी इसाकिन जॉनसन (32 वर्ष) है, जिसने अपनी प्रेमिका (40 वर्ष) को अकारण ही बड़ी बेरहमी से मार डाला और किचन में जाकर उसके अंगों को पकाकर खा लिया।[76] जिसमें पवित्रता एवं नैतिकता का अपलाप होता हो, ऐसे सुख की क्या कीमत?

इस प्रकार, यह मानना होगा कि अशुभ–भोगों के सेवन से प्राप्त सुख अनित्य, अशरण, अतृप्तिकारक, पापवर्धक, पराश्रित, चलायमान, लोक–जूठन, अपूर्ण, चंचल, जड़–रूप एवं अनैतिक आदि अनेकानेक दोषों से युक्त होता है और इसीलिए जैनाचार्यों ने भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए इस दोषपूर्ण सुख से निवृत्त होने का दृष्टिकोण बनाने हेतु बल दिया है।

(2) अशुभ–भोगोपभोग से सुख नहीं, सुखाभास की प्राप्ति – भोगोपभोग के बारे में हमारा यह मानना भी गलत है कि भोगों से सुख प्राप्त होता है, वस्तुतः जैनाचार्य यह मानते हैं कि सुख–दुःख का कारण बाह्य वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति नहीं, अपितु हम स्वयं ही हैं।[77]

भोगोपभोग का और अधिक विश्लेषण करें, तो चार प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं –

1) बाह्य जगत् से सुख की प्राप्ति अथवा
2) बाह्य जगत् से दुःख की प्राप्ति अथवा
3) बाह्य जगत् से कभी सुख – कभी दुःख की प्राप्ति अथवा
4) बाह्य जगत् से न सुख, न दुःख की प्राप्ति

इनमें से प्रथम तीन प्रकार की मान्यता वाले व्यक्ति बाह्य जगत् के भोगों से प्रभावित होकर सुख–दुःखमय जीवन बिताते रहते हैं, किन्तु अन्तिम मान्यता वाले व्यक्ति संसार के भोगों से अनासक्त होकर जीवन–यापन करते हैं और आत्मसुख की प्राप्ति करते रहते हैं। भोगोपभोग–प्रबन्धन की दृष्टि से यह चौथा दृष्टिकोण ही अनुकरणीय है।

प्रश्न उठ सकता है कि जब बाह्य भोगों में सुख–दुःख नहीं है, तो इनका सेवन करते हुए सुख–दुःख की अनुभूति क्यों और कैसे होती है? इस प्रश्न का निराकरण करने हेतु आध्यात्मिक–दृष्टि से भोगोपभोग की प्रक्रिया का विश्लेषण करना आवश्यक होगा।

सर्वप्रथम इन्द्रिय अथवा मन के माध्यम से स्पर्शादि विषयों का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् अंतरंग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में इसका विश्लेषण प्रारम्भ हो जाता है और विषयों के प्रति प्रिय–अप्रिय, इष्ट–अनिष्ट, अनुकूल–प्रतिकूल, लाभदायक–हानिकारक आदि भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यहीं से राग–द्वेष रूप तृष्णा (इच्छा) का जागरण होता है, जो क्रोध, मान, माया, लोभादि अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। बारम्बार होने वाले अविवेकपूर्ण चिन्तन एवं बाह्य–विषयों से सुख–प्राप्ति के भ्रमित दृष्टिकोण के कारण यह तृष्णा बढ़ती चली जाती है। इससे भीतर में अतृप्ति, असन्तुष्टि एवं चंचलता का जन्म होता है, जिससे छूटकारा पाने के लिए व्यक्ति इन्द्रिय–भोगों के प्रति आकर्षित होता है।

इन्द्रिय–भोगों का सेवन करते हुए हमें अज्ञान एवं भ्रम के कारण यह महसूस होता है कि जिस वस्तु को भोगने की पूर्व में अभिलाषा की थी, उसे हमने भोग लिया है और यह विचार ही हमारे भीतर उत्पन्न हुई तृष्णा को समाप्त कर देता है। इस कारण से पूर्व में उत्पन्न हुई इच्छा, दुःख, चंचलता और असन्तुष्टि भी समाप्त हो जाती है। इसे ही लोकव्यवहार में भोगों के द्वारा तृष्णा की पूर्त्ति एवं तज्जन्य सुख की प्राप्ति कहा जाता है।

यदि इस पूरी प्रक्रिया का सूक्ष्म चिन्तन किया जाए, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें भोगों से सुख नहीं मिलता, अपितु भोगों का सेवन करते हुए भीतर में इच्छा की जो समाप्ति होती है, उसी से सुख मिलता है, जबकि भ्रमवश हम यह मान लेते हैं कि भोगों ने हमें सुखी किया है। वस्तुतः, हम स्वयं की इच्छाओं की उत्पत्ति से दुःखी और इच्छाओं की समाप्ति से सुखी होते रहते हैं। सच तो यह है कि बाह्य भोग का सेवन और अंतरंग तृष्णा की तुष्टि दोनों सर्वथा भिन्न–भिन्न हैं, किन्तु मोहवश इन दोनों में कारण–कार्य सम्बन्ध मान लिया जाता है। यह वैसी ही स्थिति है, जैसे सूखी हड्डी को चबाता हुआ कुत्ता उसकी तीखी नोकों से अपना तलवा कट जाने पर स्वयं के ही रुधिर का रसपान कर हड्डी से सुखी होने का भ्रम पैदा कर लेता है।[78] यदि मैथुन–सेवन, मादक–द्रव्य–सेवन, स्वादिष्ट–भोजन आदि की प्रक्रियाओं में हम सुख मिलने के मूल कारण को ढूँढे, तो हमें निश्चित ही यह महसूस होगा कि इन भोगों से सुख नहीं मिलता, अपितु तृष्णा की ज्यों–ज्यों समाप्ति होती जाती है, त्यों–त्यों सुख की अनुभूति होती जाती है।

इन बाह्य भोगों की असारता के कारण ही जैनाचार्यों ने भोगोपभोग की अभिवृद्धि के बजाय उन्हें मर्यादित करने हेतु निर्देश दिए हैं। उनके द्वारा निर्दिष्ट साधना मार्ग यही है कि पहले इच्छाओं को सात्विक करो, फिर संक्षिप्त करो और अन्त में समाप्त करो। इस प्रकार जैसे–जैसे इच्छाएँ मर्यादित होती जाएँगी, वैसे–वैसे बाह्य भोगों की आवश्यकताएँ भी सीमित होती जाएँगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) अशुभ भोगोपभोग से दुःख ही दुःख – भोगोपभोग के बारे में केवल इतना ही मान लेना पर्याप्त नहीं होगा कि वे सुख के बजाय सुखाभास (काल्पनिक सुख) देते हैं। वस्तुतः, जैनाचार्यों की यह दृढ़ मान्यता है कि विषय–भोगों की लालसा के कारण व्यक्ति को अपार दुःख भोगने पड़ते हैं।[79] उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है कि ये कामभोग भले ही मनोज्ञ एवं मनोरम महसूस होते हों, किन्तु ये किंपाक के जहरीले फलों के समान होते हैं, जो दिखने में तो बड़े रसीले और सुन्दर होते हैं, किन्तु परिणाम में जीवन का ही नाश कर देते हैं।[80] आज एड्स रोगियों की अत्यन्त दुःखद स्थिति सहज ही इस बात को द्योतित करती है कि विषय–भोग किस हद तक व्यक्ति को दुःखी बना सकते हैं।

इन्द्रिय सुख की कामना, उपजाती है रोग।
'साधक' संयम साधलो, तन मन रहे निरोग।।[81]

सच्चाई यह है कि इन कामभोगों का सेवन करते हुए अल्पकाल का सुखाभास मिलने के अतिरिक्त हमें दुःख ही दुःख मिलता है। जैनाचार्य कहते हैं कि इन कामभोगों का सेवन करने के पूर्व, सेवन करते हुए और सेवन करने के पश्चात् भी चिरकाल तक हमें दुःख ही प्राप्त होता है,[82] जैसे ही व्यक्ति में भोगों की तृष्णा उत्पन्न होती है, वैसे ही उसका दुःख भी प्रारम्भ हो जाता है और जैसे–जैसे तृष्णा बढ़ती है, दुःख भी बढ़ता चला जाता है, यह तृष्णारूपी ज्वर सतत प्राणी को सन्तप्त करता रहता है।[83] इस तृष्णा से व्याकुल प्राणी अपने ताप को मिटाने के लिए इन्द्रिय–भोगों में प्रवर्त्तित होता है। उसे यह भ्रम होता है कि भोगों को भोगने से तृष्णा मिट जाएगी, परन्तु इन भोगों को भोगते हुए भी तृष्णा मिटती नहीं है। कभी भोग–साधनों के वियोग का भय सताता है,[84] तो कभी दूसरे साधनों को भोगने की तृष्णा जाग जाती है। चूँकि एक समय में एक ही विषय भोगा जा सकता है,[85] अतः व्यक्ति द्वन्द्वात्मक स्थिति में बेचैन होता रहता है। इसी प्रकार वह कभी भोगों की मात्रा (Quantity), कभी गुणवत्ता (Quality), कभी विविधता (Variety), कभी विघ्न बाधाओं आदि से असन्तुष्ट बना रहता है और इसीलिए सेवन–काल में भी उसे पूर्ण तृप्ति नहीं होती। भोगों का सेवन करने के पश्चात् भी अथवा भोग सामग्रियों का असमय वियोग हो जाने पर भी व्यक्ति दुःखी हो जाता है। कहा गया है – 'जो सुख (सुखाभास) भोगों का सेवन करते हुए मिलता है, उससे कई गुना अधिक दुःख भोगों का वियोग होने पर प्राप्त होता है।[86] वास्तव में व्यक्ति भोगों का आदी हो जाने से उन्हें छोड़ना ही नहीं चाहता, फिर भी ये दैववश छूट जाते हैं और इससे वह अत्यन्त दुःखी हो उठता है। आज धूम्रपान, गुटखा, मद्यपान, हुक्का–सेवन (शीशा), ब्राउन शुगर आदि की दुस्त्याज्यता से कौन परिचित नहीं है?

भोगों के सेवन से मन्द दुःख तो होता ही है, परन्तु कई बार तीव्र दुःख एवं यातनाएँ भी सहनी पड़ती हैं। भोग–तृष्णा के वश व्यक्ति घोर से घोर पापकर्म कर बैठता है और परिणामस्वरूप उसे सामाजिक बदनामी, पारिवारिक धिक्कार, कारावास, प्राणदण्ड आदि सजाएँ भी भुगतनी पड़ती हैं।[87] अतः इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भोगों से दुःख ही दुःख प्राप्त होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगों के व्यसनों से जकड़ा हुआ व्यक्ति किस प्रकार अपना जीवन नष्ट करता है, इसे हम अन्य प्राणियों के दृष्टान्त के माध्यम से समझ सकते हैं – स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होकर कामान्ध हाथी गड्ढे में गिरकर शिकारी के बन्धन में फँस जाते हैं, रसनेन्द्रिय के वशीभूत मछलियाँ काँटे में फँसकर मृत्यु को प्राप्त होती हैं, भ्रमर गन्ध के रसिक होकर कमल के भीतर ही मर जाते हैं, पतंगे नेत्रेन्द्रिय के वशीभूत होकर दीपक की लौ में जलकर मर जाते हैं और हिरण संगीत में मुग्ध होकर अपने प्राण गँवा देते हैं। जब एक–एक इन्द्रियों के विषय–भोग ही इतने दुःखदायी हैं, तो पाँच–पाँच इन्द्रियों के लोलुपी बनकर कितना दुःख भोगना पड़ेगा,[88] यह एक सोचनीय विषय है।

यह मान्यता भी उचित नहीं है कि जो भोग वर्त्तमान में प्राप्त हैं, उन्हें भोग लेना चाहिए, क्योंकि परलोक किसने देखा है।[89] जैनाचार्य स्पष्ट कहते हैं कि विषयभोगों का सेवन रागपूर्वक होता है और जहाँ राग है, वहाँ कर्मों का बन्धन भी अवश्य होगा,[90] इसीलिए यह मानना चाहिए कि भले ही हम भोगों को हँसते–हँसते क्यों न भोगें, लेकिन इनसे बन्धने वाले पापों के उदय से हमें रो–रो कर भी छुटकारा नहीं मिल सकेगा। वस्तुतः, वैरी तो इस जीवन में ही दुःखी करता है, किन्तु भोग तो करोड़ों जन्मों तक दुःखी करते रहते हैं।[91] इस जीवन में पापों को बाँधकर व्यक्ति चारों गतियों में परिभ्रमण करता हुआ अनन्त दुःखों को प्राप्त करता है।[92] वह नरक में घोर वेदनाओं को, पशु तथा मानवगति में दुःखों को एवं देवगति में दुर्भाग्य को प्राप्त होता है।[93] इस प्रकार, ये काम–भोग क्षणभर के लिए सुख रूप प्रतीत होते हुए भी वास्तव में सुख रूप तो नहीं होते, उल्टा चिरकाल तक दुःख देते रहते हैं।[94] कहा भी गया है[95] –

अनंत सौख्य नाम दुःख, त्यां रही न मित्रता।
अनंत दुःख नाम सौख्य, प्रेम त्यां विचित्रता।।
उघाड न्याय–नेत्र ने निहाळ रे! निहाळ तुं।
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी ते प्रवृत्ति बाळ तुं।।

अर्थात् यह विचित्रता है कि जहाँ (आत्मा में) अनन्त सुख है, वहाँ दुःख मानकर यह जीव मित्रता नहीं कर रहा है और जहाँ (भोगों में) अनन्त दुःख है, वहाँ सुख मानकर प्रेम कर रहा है। रे जीव! अपने विवेक–चक्षु खोल और इन भोगों के दुष्परिणामों को जानकर इनसे निवृत्त हो।

इस प्रकार, हमने भोगोपभोग–प्रबन्धन के सम्यक् दृष्टिकोण के निर्धारण हेतु आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन किया और भोगों की असारता का निर्णय किया। यह इस बात के लिए प्रेरित करता है कि विषय–भोगों की वस्तुस्थिति का सच्चा बोध होने पर साधक को इनसे विरक्त हो जाना चाहिए। कहा भी गया है[96] –

जया पुण्णं च पावं च, बन्धं मोक्खं च जाणइ।
तया निव्विंदिए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् इन तुच्छ भोगों के कटु परिणामों को जानकर साधक सहज ही दैवीय एवं मानवीय विषय–भोगों से विरक्त हो जाता है।

यद्यपि यह सत्य है कि ज्ञान का सार 'आचरण' ही है,[97] तथापि सभी व्यक्ति विषयभोगों से सर्वथा विरक्त नहीं हो सकते, अतः जैनआचारशास्त्रों में भोगोपभोग को मर्यादित एवं नियंत्रित करने का दिशा–निर्देश भी दिया गया है। इसे जानने के लिए हमें भोगोपभोग–प्रबन्धन के प्रायोगिक पक्ष को समझना होगा और यह देखना होगा कि किस प्रकार से और किस क्रम से व्यक्ति को अपनी भूमिकानुसार यह अशुभ–भोगोपभोग से निवृत्ति और शुभ–भोगोपभोग रूपी सेतु के द्वारा शुद्ध–भोगोपभोग में प्रवृत्ति करनी चाहिए। यहाँ शुद्ध–भोगोपभोग से हमारा तात्पर्य अनासक्तिपूर्वक होने वाली सहज अनुभूति का आस्वादन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

11.6 भोगोपभोग–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष

11.6.1 भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए वस्तुओं का सम्यक् विश्लेषण करना

भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए भोगोपभोग की सामग्रियों का सम्यक् विश्लेषण करना आवश्यक है। इस हेतु हमें पूर्व निर्दिष्ट सैद्धान्तिक बोध के आधार पर अपने आग्रह एवं आसक्ति को अलग करके जीवन–व्यवहार में प्रयोग की जा रही भोगोपभोग की वस्तुओं का सम्यक् वर्गीकरण करना होगा।

वर्गीकरण के आधार निम्न हैं –

(क) स्पर्शादि इन्द्रियों एवं मन के विषयों के आधार पर – जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि हम जितना भी भोगोपभोग करते हैं, वह मूलतया स्पर्श, रस (स्वाद), गन्ध, रूप, शब्द एवं भाव से सम्बन्धित ही होता है, अतः हम जीवन–व्यवहार में प्रयोज्य सामग्रियों को इन विषयों के आधार पर निम्नतया वर्गीकृत कर सकते हैं –

क्र.	विषय	विवरण
1)	स्पर्श	स्त्री–पुरूष आलिंगन, हीटर, कूलर, ए.सी., पंखा, शय्या, सोफे आदि।
2)	स्वाद	**सभी प्रकार के खाद्य एवं पेय पदार्थ तथा इन्हें तैयार करने में सहायक उपकरण** **(क) अशन[96] – सभी प्रकार के अनाज, कठोल, विगई, सब्जी आदि भूख मिटाने वाले पदार्थ।** **(ख) पान – प्यास बुझाने वाले सभी प्रकार के तरल पदार्थ, जैसे – पानी एवं माण्ड, खजूर, ककड़ी आदि का रस।** **(ग) खादिम – सभी प्रकार के फल, मेवे एवं सिके हुए अनाज आदि, जिनसे थोड़ा आधार मिलता है, किन्तु भूख पूर्ण शान्त नहीं होती।** **(घ) स्वादिम – तम्बोल, सुपारी, जायफल, इलाइची, लवंग, सोंठ, पीपल, हरडे आदि स्वाद हेतु प्रयोग में लिए जाने वाले पदार्थ।**
3)	गन्ध	इत्र, पुष्प, विलेपन, प्रसाधन–सामग्री (डीऑड्रेंट, पाउडर आदि), धूप आदि।
4)	रूप	**टी.वी., वस्त्र, जूते–चप्पल, एल्बम, दर्पण, शृंगार–प्रसाधन (लिपस्टिक, नेलपॉलिश आदि), गेम्स, सिनेमा, दर्शनीय–स्थल, नाटक, नृत्य, सजावट, कम्प्यूटर, उपन्यास, कॉमिक्स आदि।**
5)	शब्द	संगीत, वाद्ययन्त्र, टी.वी., चलचित्र, रेडियो, भाषण, वार्तालाप, मोबाईल, लाउड स्पीकर आदि।
6)	भाव	**अतीत के प्रिय–अप्रिय भोगों का स्मरण, वर्त्तमान के भोगों के बारे में चिन्तन–मनन भविष्य के भोगों की कल्पना इत्यादि।**

उपर्युक्त स्पर्शादि विषयों के आधार पर हम स्थूल रूप से वस्तुओं का वर्गीकरण कर सकते हैं। इसमें कई सामग्रियाँ एक से अधिक इन्द्रियों का विषय बन सकती हैं, किन्तु सुलभता के लिए यहाँ पर उन्हें किसी एक इन्द्रिय का विषय माना गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ख) महत्त्व के आधार पर – व्यक्ति के जीवन–स्तर, उसकी आवश्यकताओं की तीव्रता एवं सुखी–दुःखी करने की क्षमता के आधार पर भोगोपभोग के साधनों को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है –

1) अनिवार्य वस्तुएँ (Necessaries)
2) सुविधादायी वस्तुएँ (Comforts)
3) प्रतिष्ठादायी वस्तुएँ (Prestigious)
4) विलासिताएँ (Luxuries)
5) अनुपयोगी वस्तुएँ (Useless)

1) अनिवार्य वस्तुएँ – ये वे वस्तुएँ हैं –

i) जो जीवन–अस्तित्व को सुरक्षित रखती हैं।
ii) जिनके मिलने पर कार्यक्षमता में वृद्धि होती है और न मिलने पर कमी।
iii) जिनका उपभोग करने पर सामान्यतया थोड़ा सुख मिलता है और नहीं करने पर बहुत अधिक दुःख होता है।
iv) जैसे – भोजन, वस्त्र, मकान आदि जीवन–अस्तित्व सम्बन्धी एवं पौष्टिक दूध, फल आदि कार्यक्षमता में वृद्धि सम्बन्धी वस्तुएँ।

2) सुविधादायी वस्तुएँ – ये वे वस्तुएँ हैं –

i) जिनकी जीवन–अस्तित्व के लिए कोई उपयोगिता नहीं होती।
ii) जिनके मिलने पर कार्यक्षमता में विशेष वृद्धि होती है।
iii) जिनका उपभोग करने पर कुछ अधिक सुख मिलता है और नहीं करने पर थोड़ा दुःख होता है।
iv) जैसे – विद्यार्थी के लिए मोबाईल, डॉक्टर के लिए कार आदि।

3) प्रतिष्ठादायी वस्तुएँ – ये वे वस्तुएँ हैं –

i) जिनसे सामाजिक मान–सम्मान, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति होती है।
ii) जो जीवन–अस्तित्व के लिए आवश्यक नहीं होती।
iii) जिनके मिलने पर कार्यक्षमता में न वृद्धि होती है और न हानि।
iv) जिनका उपभोग करने पर कृत्रिम सुख (अहं के पोषण से) मिलता है और न करने पर कृत्रिम दुःख (अहं को ठेस लगने से)।
v) जैसे – अतिथि–सत्कार हेतु सुपारी–पान, बहुमूल्य वस्तुओं से सजा शो–केस, कृत्रिम झरना, सजावट आदि।

4) विलासिताएँ – ये वे वस्तुएँ हैं –

i) जिनमें से कुछ जीवन–अस्तित्व के लिए केवल अनावश्यक (Unnecessary) होती हैं, जैसे – सोने की घड़ी, चेन आदि, जबकि कुछ तो अनावश्यक के साथ हानिकारक (Harmful) भी, जैसे – शराब, तम्बाकू आदि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ii) जिनके मिलने पर कार्यक्षमता में वृद्धि भी नहीं होती और न मिलने पर हानि भी नहीं होती, किन्तु शराब आदि हानिकारक विलासिताओं के मिलने पर हानि और न मिलने पर अप्रत्यक्ष लाभ होता है।

iii) जिनका उपभोग करने पर बहुत अधिक आनन्द की प्राप्ति का आभास (भ्रम) होता है और न मिलने पर बहुत थोड़ा दुःख होता है।

iv) जैसे – कीमती आभूषण, शानदार बंगला, मादक द्रव्य आदि।

5) अनुपयोगी वस्तुएँ – ये वे वस्तुएँ हैं –

i) जो जीवन–व्यवहार में अकारण/अविचारपूर्वक उपयोग में आ रही हैं।

ii) जिनकी जीवन–अस्तित्व के लिए कोई उपयोगिता नहीं होती।

iii) जिनके मिलने और न मिलने से कार्यक्षमता में किंचित् भी परिवर्त्तन नहीं आता।

iv) जिनका उपभोग करने और न करने से कोई सुख–दुःख की प्राप्ति नहीं होती।

v) जैसे – अन्ध व्यक्ति के लिए दर्पण, अनपढ़ के लिए कम्प्यूटर आदि।

(आधुनिक अर्थशास्त्री भी भोगोपभोग की विविध वस्तुओं का अनिवार्य, सुविधा तथा विलासिता – इन तीन श्रेणियों में विभाजन करते हैं।[99])

स्मरण रहे कि भोगोपभोग का उपर्युक्त वर्गीकरण सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। अभिप्राय यह है कि जो वस्तु एक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है, दूसरे के लिए वही सुविधा और तीसरे के लिए विलासिता या अन्य हो सकती है। देश, काल एवं परिस्थिति में परिवर्त्तन के आधार पर एक ही व्यक्ति के लिए एक ही वस्तु कभी अनिवार्य हो जाती है, तो कभी सुविधा और कभी प्रतिष्ठादि, जैसे–शुगर की बीमारी के पूर्व मिष्ठान्न आदि अनिवार्य हो सकते हैं, किन्तु बाद में अनुपयोगी। प्रशमरतिग्रंथ में भी कहा गया है कि कोई भी वस्तु सर्वथा कल्प्य (प्रयोज्य) नहीं होती, अपितु देश, काल, क्षेत्र, पुरूष, अवस्था, उपघात और शुद्ध परिणामों का विचार करके कल्प्य (प्रयोज्य) होती है।[100] अतः भोगोपभोग–प्रबन्धन का लक्ष्य है कि जीवन–प्रबन्धक सम्यग्ज्ञान को आधार बनाकर उचित विश्लेषण करे और अपनी शक्ति–अनुसार विलासितादि अनावश्यकताओं का सीमांकन करे।

(ग) नैतिक, आध्यात्मिक एवं जैविक मूल्यों के आधार पर – आवश्यकताओं का यह तीसरा, किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण है। इसमें नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर हम भोगोपभोग की वस्तुओं का विभाजन करते हैं। ये मूल्य इस प्रकार हैं –

1) हिंसादि पापों की तरतमता के आधार पर विभाजन।

2) अंतरंग भावों या परिणामों (राग–द्वेषादि) की तरतमता के आधार पर विभाजन।

3) आदतों (Habits/संस्कारों) में होने वाले बिगाड़ की तरतमता के आधार पर विभाजन।

4) समय के अपव्यय की तरतमता के आधार पर विभाजन।

5) धन और श्रम के अपव्यय की तरतमता के आधार पर विभाजन।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर हमें भोगोपभोग की प्रक्रिया से हो रही बहुआयामी हानियों पर दृष्टि डालकर यह निर्णय करना चाहिए कि कौन–से भोग तीव्र हानिकारक हैं और कौन–से मन्द। जैनदृष्टि की यह मान्यता है कि हमें उन भोगोपभोगों का पहले निषेध करना चाहिए, जिनके परिणाम अधिक नुकसानकारी हैं। उदाहरणार्थ – कोई व्यक्ति चमड़े के जूते भी पहन सकता है और फोम के भी। यहाँ नैतिक मूल्यों के आधार पर उसे चमड़े के जूतों का त्याग करके फोम के जूतों को स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार समय, धन, आदतों एवं सबसे महत्त्वपूर्ण अंतरंग परिणामों के आधार पर उसे प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण करना चाहिए।

11.6.2 भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए आवश्यक और अनावश्यक वस्तुओं का सम्यक् निर्णय करना

पूर्व में हमने भोगोपभोग के प्रति जो समीचीन दृष्टिकोण बनाया है और वस्तुओं का वर्गीकरण किया है, उस आधार पर यह आवश्यक है कि हम वस्तुओं की उचितता एवं अनुचितता का निर्धारण करें।

जैनदर्शन में उचित एवं अनुचित के निर्णय को पूर्ण प्राथमिकता प्रदान की गई है। जैनाचार्यों ने अनुचित कृत्यों को 'अनर्थदण्ड' कहकर उनका निषेध किया है और उचित कृत्यों को 'आवश्यक' कहकर उन्हें अवश्यकरणीय माना है।

अपनी इच्छाओं अथवा आदतों के आधार पर नहीं, किन्तु सम्यग्ज्ञान के आधार पर भोगोपभोग की सामग्रियों के तीन विभाग किए जा सकते हैं।

1) अत्यावश्यक भोगोपभोग – वे भोगोपभोग, जिनके संस्कार अतिगाढ़ हैं एवं जिन्हें हम न तो छोड़ सकते हैं और न ही सीमित कर सकते हैं।
2) आवश्यक भोगोपभोग – वे भोगोपभोग, जिन्हें हम छोड़ तो नहीं सकते, किन्तु मर्यादित (सीमित) अवश्य कर सकते हैं।
3) अनावश्यक भोगोपभोग – वे भोगोपभोग, जिन्हें हम सीमित ही नहीं, अपितु पूर्णतया छोड़ भी सकते हैं।

इस प्रकार, उपर्युक्त तीनों विभागों के आधार पर हमें उचित चयन–प्रक्रिया (Selection Process) अपनाकर 'अत्यावश्यक भोगोपभोगों' को करते हुए भी उनके प्रति खेद, निंदा, गर्हा आदि भाव रखना, 'आवश्यक भोगोपभोगों' का उचित सीमाकरण करना तथा 'अनावश्यक भोगोपभोगों' का पूर्ण त्याग करना चाहिए। भोगोपभोगों को क्रमशः मर्यादित करने की साधना करते हुए वर्त्तमान में जो अत्यावश्यक हैं, उन्हें आवश्यक और जो आवश्यक हैं, उन्हें अनावश्यक की श्रेणी में लाकर त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही भोगोपभोग–प्रबन्धन का प्रायोगिक रूप है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

11.6.3 भोगोपभोग–प्रबन्धन की प्रक्रिया

जब भी भोगोपभोग सम्बन्धी परिस्थिति निर्मित होती है, तब हम निम्न प्रकार से चिन्तन कर सकते हैं, जो हमें भोगोपभोग–प्रबन्धन की सम्यक् दिशा में अग्रसर करेगा –

(क) सम्यग्दृष्टिकोण के आधार पर चिन्तन – हमें सर्वप्रथम भोगोपभोग की निःसारता एवं दुःखदायकता का चिन्तन करना होगा और यदि सम्भव हो तो उसका परित्याग भी करना होगा।

(ख) इन्द्रिय–विषय सम्बन्धी विश्लेषण के आधार पर चिन्तन – यदि भोगोपभोग की तृष्णा उपर्युक्त चिन्तन द्वारा शान्त न हो सके, तो हमें यह चिन्तन करना होगा कि यह भोगविशेष कौन–सी इन्द्रिय का विषय है और इस भोग के द्वारा हमारे शारीरिक स्वास्थ्य, पारिवारिक–सम्बन्धों और सामाजिक–प्रतिष्ठादि पर क्या–क्या हानिकारक प्रभाव पड़ेगें? जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि एक–एक इन्द्रिय के भोग में फँसकर पशु गति के प्राणी अपने प्राण तक गँवा देते हैं, अतः हम यह चिन्तन कर सकते हैं कि हमें इस इन्द्रिय–विषय के आकर्षण में नहीं फँसना है। इस प्रकार हम इन्द्रिय–विषयों की निःसारता के द्वारा भोगेच्छा का प्रतिकार कर सकते हैं।

(ग) अनिवार्य आदि पाँचों वस्तुओं सम्बन्धी विश्लेषण के आधार पर चिन्तन – यदि भोगोपभोग सम्बन्धी तृष्णा उपर्युक्त चिन्तन से भी शान्त न हो, तो हमें पुनः यह चिन्तन करना होगा कि वास्तविकता में यह भोग मेरे लिए अनिवार्य है या सुविधा है या अन्य। यदि यह निर्णय हो कि यह भोग अनुपयोगी है या विलासिता है या प्रतिष्ठादायी मात्र है, तो उसकी हेयता को समझकर उसका परित्याग करना चाहिए, भले ही वह वस्तु हमें सुगमता से क्यों न उपलब्ध हो। यदि वह वस्तु सुविधा रूप महसूस हो, तो भी चिन्तन करना चाहिए कि 'कहीं यह मेरी कमजोरी तो नहीं है' और सम्भव हो, तो उसका परित्याग अथवा सीमाकरण अवश्य कर लेना चाहिए। यदि वह वस्तु अनिवार्य भासित हो, तो भी यह सोचना आवश्यक होगा कि यह सचमुच में अनिवार्य है या मेरी विकृत जीवनशैली से अनिवार्य बन गई है। ऐसा चिन्तन करते हुए इसे भी यथाशक्ति मर्यादित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(घ) नैतिक, आध्यात्मिक एवं जैविक मूल्यों के आधार पर चिन्तन – यदि उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा भी भोग–इच्छा पूर्ण अथवा आंशिक शान्त न हो, तो यह चिन्तन करना कि इस भोग में कितने जीवों की हिंसा होती है (वस्तु के निर्माण से लेकर उपभोग की प्रक्रिया तक)। यह चिन्तन भी जरुरी होगा कि इस भोग को करने से अंतरंग में क्रोधादि कषायों की क्या स्थिति होगी, कहीं भोग के संस्कार अतिगाढ़ तो नहीं हो जाएंगे, इसके सेवन में समय का कितना अपव्यय होगा, कितना धन खर्च होगा, कितना परिश्रम करना होगा इत्यादि। ऐसा चिन्तन करते हुए विवेकपूर्वक भोगों का पूर्ण त्याग करना अथवा सीमांकन करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ङ) सम्यक् निर्णय के आधार पर चिन्तन – उपर्युक्त प्रक्रिया से चिन्तन करते हुए भी जो भोगेच्छाएँ शेष रह जाती हैं, उनका पुनः चिन्तन एवं निर्णय करना भी आवश्यक है। जैनाचार्यों की दृष्टि में हमें अपने उत्साह की अभिवृद्धि करते हुए ज्ञ–परिज्ञा द्वारा वस्तु को उसके स्वरूप के आधार पर समझना चाहिए एवं प्रत्याख्यान–परिज्ञा द्वारा अयोग्य विषयों को अनावश्यक मानकर परित्याग करना चाहिए।[101] फिर भी जो भोग छोड़ा न जा सके, उनका सीमाकरण करना चाहिए और शेष रहे वे भोग जो थोड़े भी सीमित न किए जा सकें, उन्हें खेद, निन्दा एवं गर्हापूर्वक ही भोगना चाहिए। यह चिन्तन सदैव चलता रहे कि वस्तु केवल वस्तु होती है और चेतन का उससे वास्तव में (पारमार्थिक–दृष्टि से) कोई सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी उसमें अच्छा–बुरा, प्रिय–अप्रिय, पसन्द–नापसन्द, सुरूप–कुरूप आदि मानना जीव की महान् भूल है, कल्पना मात्र ही है। आत्मज्ञान के द्वारा इस भूल का निवारण सम्भव है।

जड़–चेतन की सब परिणति प्रभो! अपने–अपने में होती है।
अनुकूल कहें प्रतिकूल कहें, यह झूठी मन की वृत्ति है।।[102]

11.6.4 भोगोपभोग–प्रबन्धन के विभिन्न स्तर

भोगोपभोग–प्रबन्धन की प्रक्रिया में साधक अपनी वर्त्तमान भूमिका के साथ न्याय करता हुआ उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाओं की प्राप्ति करता जाता है। वह पदार्थ–आश्रित जीवन–दृष्टि को छोड़कर आत्म–आश्रित जीवन–दृष्टि को मुख्यता देता जाता है। इससे उसकी अशुभ–भोगोपभोग से निवृत्ति, शुभ–भोगोपभोग में अपेक्षाकृत प्रवृत्ति तथा निवृत्ति और शुद्ध भोगोपभोग में प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती जाती है। अन्ततः वह शुद्ध–भोगोपभोग की सर्वोच्च दशा को प्राप्त कर लेता है, जिसमें बाह्य भोगोपभोग की पराधीनता समाप्त होकर अशरीरी अवस्था की प्राप्ति हो जाती है।

भोगोपभोग–प्रबन्धन की दिशा में बढ़ता हुआ जीवन–प्रबन्धक निम्न स्तरों को क्रमशः पार करता जाता है –

(क) प्रथम स्तर : तीव्र भोगी – इस भूमिका का साधक विषय–भोगों का तीव्र अभिलाषी होता है। उसे इस स्तर से ऊँचा उठने के लिए निम्न प्रयत्न करने चाहिए –

1) सप्तव्यसन का अनिवार्य रूप से त्याग करना – शिकार, जुआ, चोरी, मांसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन एवं परस्त्रीगमन/परपुरूषगमन।[103]
2) सभी नशीले पदार्थों का सर्वथा त्याग करना, जैसे – सिगरेट, बीड़ी, पान–गुटखा, चरस, गांजा, अफीम, हेरोइन, शराब आदि।
3) काम–वासनाओं को उत्तेजित करने वाले भोगोपभोग के साधनों का सर्वथा त्याग करना, जैसे – अश्लील–साहित्य, अश्लील–चलचित्र, फूहड़–वार्ता, अश्लील–वेबसाइट, अश्लील–गीतश्रवण आदि।[104]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परनारी के गमन से, धर्मनीति हो नाश।
'साधक' मरने पर उसे, मिलता नरक निवास।।[105]

4) अंतरंग भावों और संस्कारों को विकृत करने वाले उपकरणों का मर्यादित प्रयोग करना, जैसे – टी.वी., चलचित्र, रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेपरिकार्डर, आइ–पॉट आदि।
5) विलासिता के साधनों की मर्यादा करना, जैसे – कीमती वस्त्र, आभूषण, जूते–चप्पल, वाहन आदि।
6) बाईस अभक्ष्य पदार्थों के सेवन का पूर्ण त्याग करना।
7) लौकिक त्यौहारों को मर्यादित ढंग से मनाना, जैसे – दीपावली में पटाखे, लाइटिंग एवं स्टिरियो आदि की मर्यादा करना, होली जलाने एवं खेलने का त्याग करना आदि।
8) नववर्ष, वेलेण्टाइन–डे, लिव इन रिलेशन आदि को असभ्य तरीके से नहीं मनाना।
9) लोक दिखावे के लिए भव्य पार्टियाँ आयोजित करने की मर्यादा करना।
10) शृंगार–प्रसाधनों में से जो पशु–उत्पादों से निर्मित हैं, उनका सर्वथा त्याग करना एवं अन्यों की मर्यादा करना, जैसे – क्रीम, लोशन, तेल, काजल, मस्करा, नेलपॉलिश, परफ्यूम, इत्र, डीऑड्रेण्ट, पाउडर, लिपस्टिक आदि।

जिसके शृंगारों में मेरा, यह महँगा जीवन धुल जाता।
अत्यन्त अशुचि जड़–काया से, चेतन का है कैसा नाता।।[106]

11) शौचालय एवं स्नानघर में पशु–उत्पादों से निर्मित प्रसाधनों का सर्वथा त्याग करना एवं अन्यों की मर्यादा करना, जैसे – साबुन, शेम्पू, फेस–वॉश, टूथ पाउडर, टूथ पेस्ट, मालिश तेल आदि।
12) अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं केवली प्रणीत धर्म – इन चारों की शरणा लेना।
13) अर्हद्भक्ति, गुरु–सेवा, तत्त्व–अध्ययन आदि शुभ प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक करना और उनमें भी आत्म–रमणता का लक्ष्य रखना।
14) पर्वतिथियों, तीर्थयात्राओं आदि प्रसंगों में ब्रह्मचर्य का पालन करना।
15) आमोद–प्रमोद हेतु देश–विदेश की यात्रा करने की मर्यादा रखना।
16) पापभीरु बनना।[107]

(ख) द्वितीय स्तर : मन्दभोगी – इस स्तर का साधक अपने दृष्टिकोण को सम्यक् कर लेता है और भोगों में सुख की कल्पना से मुक्त हो जाता है। श्रीमद्देवचन्द्र ने इस दशा का वर्णन इस प्रकार किया है[108] –

आरोपित सुख भ्रम टल्यो रे, भास्यो अव्याबाध।
समर्यु अभिलाषी पणुं रे, कर्त्ता साधन साध्य।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस स्तर से ऊँचा उठने के लिए साधक को निम्न प्रयत्न करने चाहिए –

1) कुसंगति के सेवन से यथासम्भव दूर रहना।
2) पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति का अन्धानुकरण नहीं करना।
3) विलासिता के साधनों का पूर्ण त्याग करना अथवा उन्हें मर्यादित करना।
4) घर–कुटुम्ब में भोगों के लिए नहीं, अपितु कर्त्तव्य–निर्वाह हेतु जीना।

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तरसुं न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल।।[109]

5) सर्कस, पिकनिक, मेला, फिल्म आदि मनोरंजन के साधनों के सेवन का सर्वथा त्याग करना।
6) स्वस्त्री या स्वपुरूष सेवन की मर्यादा करना।[110]
7) शुभ–भोगों की गुणवत्ता (Quality) में वृद्धि करना।
8) शुद्ध–भोगों (आत्मसुख) की अनुभूति का अधिकाधिक पुनरावर्त्तन करना।
9) छोटी–छोटी एवं अल्पकालिक मर्यादाओं को यम के माध्यम से ग्रहण करना।
10) बारह व्रतों को ग्रहण करने की योग्यता विकसित करना।

(ग) तृतीय स्तर : मन्दतरभोगी – इस स्तर के साधक का आत्म–नियन्त्रण अधिक विकसित हो जाता है, जिससे वह विषय–भोगों की वासनाओं से ऊपर उठकर भोगोपभोग को संकल्पपूर्वक मर्यादित कर लेता है। मूलतः वह ब्रह्मचर्य–अणुव्रत, उपभोग–परिभोग–परिमाणव्रत, अनर्थदण्ड–विरमणव्रत आदि बारह व्रतों को ग्रहण कर लेता है।

इस स्तर पर किए जाने वाले प्रयत्न निम्न हैं –

1) आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की सीमाएँ निर्धारित करना।
2) पापाचार से यथासम्भव निवृत्ति लेना।
3) प्रतिष्ठा एवं विलासिता की वस्तुओं का संकल्पपूर्वक पूर्ण अथवा आंशिक त्याग करना।
4) भोग एवं उपभोग के अमुक पदार्थों की छूट रखकर शेष पदार्थों का त्याग करते हुए उपभोग–परिभोग व्रत को ग्रहण करना।

जैनाचार्यों ने अत्यन्त वैज्ञानिक तरीके से भोगोपभोग व्रत की सुविधा हेतु निम्नलिखित छब्बीस प्रकार के पदार्थों का उल्लेख किया है, जिनकी मर्यादा का निर्धारण प्रत्येक व्रती श्रावक को करना चाहिए।[111] मर्यादा का निर्धारण करते समय इनकी मात्रा आदि की अधिकतम सीमा तय करनी चाहिए।

★ शरीरादि पोंछने का तौलिया आदि।
★ दाँत साफ करने के लिए मंजन आदि।
★ नेत्र, केश आदि की सार–संभाल के लिए आँवला, अरीठा आदि फल।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ मालिश के लिए तेलादि।
★ उबटन के लिए लेपादि।
★ स्नान के लिए जल।
★ पहनने के लिए वस्त्रादि।
★ विलेपन के लिए चन्दनादि।
★ फूल एवं हार।
★ शरीर–शोभा के लिए आभूषणादि।
★ वायु–शुद्धि के लिए धूपादि।
★ पेय पदार्थ – दूध, शरबत, मट्ठा आदि।
★ पक्वान्न – मिठाई, नमकीन आदि।
★ ओदन – विधिपूर्वक अग्नि पर पकाकर खाए जाने वाले चावल, दलियादि।
★ सूपदाल – दाल, सूप आदि तरल खाद्य पदार्थ।
★ घृतादि विकारवर्धक वस्तुएँ।
★ शाक – भोजन में खाई जाने वाली सब्जियाँ।
★ माधुरक – मेवा, मधुर फलादि रसीले पदार्थ।
★ भोजन – क्षुधा निवारणार्थ खाई जाने वाली रोटी, बाटी आदि।
★ पीने का पानी।
★ मुखवास – सुपारी, पानादि।
★ वाहन – हाथी, घोड़ा, बैलादि (वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में स्कूटर, मोटर–सायकल, कारादि)
★ उपानह – जूते–चप्पल आदि।
★ शय्यासन – पलंग, पाट, गद्दा, तकिया आदि।
★ सचित्त वस्तु – वे खाद्य/पेय पदार्थ, जिनमें जीवन–अस्तित्व अभी विद्यमान है।
★ खाने के द्रव्यों की विविधता।

इनमें से ग्यारह पदार्थ शरीर की रक्षा सम्बन्धी एवं पंद्रह पदार्थ शरीर में शक्ति की अभिवृद्धि सम्बन्धी हैं। यह समस्त चर्चा श्रावक के उपभोग–परिभोग व्रत के अन्तर्गत उपासकदशांगसूत्र के प्रथम अध्याय एवं श्रावक प्रतिक्रमण में मिलती है।

5) उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत का पालन करते हुए पाँच बातों से बचना[112] –
   i) त्रसवध – त्रस जीवों के वध से बनने वाली वस्तुएँ, जैसे – रेशमी वस्त्र आदि।
   ii) बहुवध – असंख्य स्थावर जीवों की हिंसा से तैयार होने वाली अथवा त्रसजीव पैदा करके तैयार की जाने वाली वस्तुएँ, जैसे – मदिरा आदि।
   iii) प्रमाद – आलस्य की अभिवृद्धि करने वाली वस्तुएँ, जैसे – तामसिक भोजन।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

iv) अनिष्ट – स्वास्थ्य बिगाड़ने वाली वस्तुएँ, जैसे – अधपकी वस्तुएँ।

v) अनुपसेव्य – घृणित एवं निन्दनीय वस्तुएँ, जैसे – मांस, मछली आदि।

6) उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत का पालन करते हुए निम्न अतिचारों (दोषों) से बचना[113] –

i) सचित्त आहार – अमर्यादित सचित्त वस्तु का सेवन।

ii) सचित्त–प्रतिबद्ध आहार – सचित्त से युक्त (लगी हुई) अचित्त वस्तु का आहार।

iii) अपक्व आहार – कच्ची शाक, बिना पके फल आदि का सेवन।

iv) दुःपक्व आहार – गलत ढंग से पकी वस्तु का आहार।

v) तुच्छ औषधि भक्षण – कम खाई और अधिक फेंकी जाने वाली वस्तु का सेवन।

7) अनर्थदण्ड विरमण व्रत को ग्रहण करना – भोगोपभोग की उन समस्त क्रियाओं का त्याग करना, जो वर्त्तमान जीवन के लिए अर्थहीन हैं एवं पापकारी होने से भावी जीवन में दण्डनीय हैं।

8) ब्रह्मचर्य का यथासम्भव पालन करना और स्वदारासन्तोषव्रत ग्रहण करते हुए नौ वाड़ो (नव गुप्ति) का पालन करना[114] –

i) स्त्री–पुरूष और नपुंसक से दूर वास करना।

ii) स्त्री सम्बन्धी वार्ताएँ नहीं करना।

iii) स्त्री के द्वारा प्रयुक्त शयन, आसन, पाट, पाटले आदि पर नहीं बैठना।

iv) स्त्री के अंगोपांग देखने का प्रयत्न नहीं करना।

v) दीवार के अन्तराल पर स्त्री–पुरूष का युगल रहता हो, ऐसे स्थान का त्याग करना।

vi) पूर्वकृत काम–क्रीड़ा का स्मरण नहीं करना।

vii) गरिष्ठ एवं तामसिक आहार का त्याग करना।

viii) प्रमाण से अधिक आहार नहीं करना।

ix) शरीर का शृंगार नहीं करना।

9) स्वस्त्रीसन्तोष व्रत का पालन पूर्ण निष्ठा से करना और निम्न स्वछन्दताओं से बचना[115] –

i) इत्वर परिगृहीता गमन – धनादि देकर पराई स्त्री के साथ थोड़े समय के लिए समागम करना।

ii) अपरिगृहीता गमन – वेश्या, विधवा, परित्यक्ता या कुमारी आदि के साथ समागम करना।

iii) अनंगक्रीड़ा – अप्राकृतिक मैथुन करना अथवा कृत्रिम साधनों के द्वारा कामाचार की कल्पना करना।

iv) परविवाहकरण – कन्यादान को धर्म मानकर अथवा रागवश दूसरों के लड़के–लड़कियों का विवाह कराना।

v) कामभोगतीव्रअभिलाषा – काम–क्रीड़ा में तीव्र आसक्ति होना एवं उसके लिए कामोद्दीपक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

औषधियों का सेवन करना।

10) यथायोग्य सामायिक, पौषध, देशावगासिक एवं अतिथिसंविभाग व्रतों का पालन कर भोग–निवृत्ति का विशेष अभ्यास करना।[116]

11) प्रतिदिन प्रातः एवं सायं चौदह नियम ग्रहण करते हुए उनसे सम्बन्धित निम्न वस्तुओं की मर्यादा करना[117] –

सचित्त–दव्व–विगइ–वाणह–तंबोल–वत्थ–कुसुमेसु।
वाहण–सयण–विलेवण–बंभ–दिसि–ण्हाण–भत्तेसु।।

i) सचित्त मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि सजीव वस्तुओं के प्रयोग सम्बन्धी।
ii) द्रव्य – खाने–पीने के काम में आने वाले पदार्थों की संख्या।
iii) विगई – दूध, दही, घी, तेल, मिठाई एवं कढ़ाई (तले पदार्थ) वाली वस्तुएँ।
iv) उपानह – जूते–चप्पल आदि।
v) तम्बोल – सुपारी आदि सभी मुखवास।
vi) वस्त्र – पहनने व काम में आने वाले रुमालादि।
vii) कुसुम – फूल–तेल आदि सूंघने के पदार्थ।
viii) शयन – गद्दा, तकिया, चद्दरादि बिछावन।
ix) वाहन – परिवहन के जैविक/यांत्रिक सभी साधन।
x) विलेपन – साबुन, लेप आदि प्रसाधन।
xi) दिशा – दसों दिशाओं में गमन।
xii) स्नान – लघु, मध्यम एवं उत्कृष्ट स्नान।
xiii) ब्रह्मचर्य – मैथुन प्रवृत्ति पर नियन्त्रण।
xiv) भोजन – खाद्य–पदार्थों की मात्रा

ये चौदह नियम मूलतः भोगोपभोग–परिमाण की अभिवृद्धि के लिए हैं और प्रतिदिन ग्रहण करने योग्य हैं।

12) षड्जीवनिकाय की यथाशक्ति जयणा करना अर्थात् हिंसात्मक प्रवृत्ति से बचना।
13) शुभ भोगों की गुणवत्ता में और अधिक अभिवृद्धि करना।
14) शुद्ध भोगों अर्थात् आत्म–स्थिरता की दशा की विशेष अभिवृद्धि करना।
15) धीरे–धीरे आत्मस्थिरता एवं आत्मरमणता बढ़ाते जाना और बाह्य विषय–भोगों को अधिकाधिक मर्यादित करना।
16) श्रावक की ग्यारह प्रतिमा क्रमशः वहन करना।
17) पंचमहाव्रत धारण करने अर्थात् अशुभ भोगों के सर्वथा परित्याग करने की पात्रता विकसित करना।[118]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(घ) चतुर्थस्तर : मन्दतमभोगी – आध्यात्मिक–शक्तियों का अतिविशिष्ट विकास होने पर ऐन्द्रिक–विषयों की आसक्ति सूख जाती है। केवल आत्म–साधना हेतु आहार–पानी आदि मूलभूत आवश्यकताएँ शेष रहती हैं और उसमें भी समितिपूर्वक (साध्वाचार की मर्यादा का पालन करते हुए) पूर्त्ति का प्रयत्न होता है। इस स्तर पर पहुँचकर साधक को निम्न प्रयत्न करने चाहिए –

1) हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह – इन पाँचो अशुभ भोगों का पूर्ण परित्याग करना और मुनि दशा में प्रवेश करना।
2) शरीर को मुक्ति (धर्म) का प्राथमिक साधन मानते हुए भोजनादि की पूर्त्ति मधुकरी चर्या से करना और धर्म विरुद्ध लोकाचरण नहीं करना।[119]
3) शरीर की शोभा–विभूषा का सर्वथा परित्याग करना।[120]
4) पाँचों इन्द्रियों का गोपन करके समता की साधना करना।
5) विशेष तप आदि के द्वारा अप्रकट रूप से प्रवर्त्तमान पुरूष–स्त्री सम्बन्धी भोगेच्छा (पुरूषवेद, स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद) पर भी पूर्ण विजय प्राप्त करना।
6) स्त्री, सत्कार–पुरस्कार आदि बाईस प्रकार के परिषहों (विशेष प्रतिकूल परिस्थितियों) में विचलित नहीं होना और आत्मसुख में निमग्न रहना।[121]
7) आत्म–स्थिरता की अधिकाधिक वृद्धि का प्रयत्न करना।
8) राग–द्वेष, मोह पर पूर्ण विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

स्वस्वरूप एकत्वता, साधे पूर्णानंद हो मित्त।
रमे भोगवे आतमा, रत्नत्रयी गुणवृंद हो मित्त।।[122]

(ङ) पंचमस्तर : आत्मभोगी – इस दशा को वीतरागदशा या जीवनमुक्त दशा कहा जाता है। यह वह दशा है, जिसमें राग, द्वेष, मोह आदि विलय को प्राप्त हो जाते हैं और बाह्य भोगों अर्थात् शुभाशुभ भोगों की लालसा पूर्णतया समाप्त हो जाती है। अब कोई प्रयत्न शेष नहीं होता और लेशमात्र भी इच्छा शेष नहीं रहती। इसमें स्थित जीव भोगोपभोग–प्रबन्धन की उत्कृष्ट अवस्था तक पहुँच जाते हैं। इन्हें सयोगी केवली (प्रवृत्ति सहित परमात्मा) कहा जाता है। इनकी श्वासादि शारीरिक–क्रिया, अघाती कर्म सम्बन्धी कार्मिक–क्रिया एवं समवशरण, प्रातिहार्य आदि की रचना रूप पारिस्थितिक–क्रिया आदि स्वाभाविक रूप से होती रहती हैं, किन्तु ये एकमात्र शुद्ध, निराबाध, स्वाधीन, परिपूर्ण आत्मस्वरूप में स्थिर रहकर पूर्ण शुद्ध भोगों में तन्मय रहते हैं। यह दशा सांसारिक अवस्था के अन्तिम किनारे के रूप में होती है, जिसके पश्चात् जन्म–जरा–मरण आदि दुःखों की परम्परा सदा के लिए समाप्त हो जाती है और एक अडोल, अकम्प एवं परम–प्रशांत सिद्धावस्था (प्रवृत्ति रहित अशरीरी परमात्मदशा) की प्राप्ति हो जाती है, जिसमें परम–सुख का भोगोपभोग अनन्त काल तक होता रहता है। जैनदृष्टि से यही भोगोपभोग–प्रबन्धन का परम आदर्श रूप है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

11.7 निष्कर्ष

भोग एवं उपभोग जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जैनआचारशास्त्र में इनका विस्तृत विवेचन किया गया है। फिर भी, संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो वस्तुएँ एक बार ही प्रयोग में आती हैं, उन्हें भोग की वस्तुएँ तथा जो बार–बार उपयोग में आती हैं, उन्हें उपभोग की वस्तुएँ कहा जाता है। चूँकि मनुष्य एक सामर्थ्यवान् प्राणी है, अतः वह एक ओर भोगोपभोग की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है, तो दूसरी ओर वह भोगोपभोग को सन्तुलित, सुमर्यादित एवं सुव्यवस्थित भी कर सकता है। जैनाचार्यों ने सदैव ही भोगोपभोग को मर्यादित करने का निर्देश दिया है, जिससे भोगोपभोग के अतिरेक से उत्पन्न होने वाले भयावह दुष्परिणामों से बचा जा सके। वस्तुतः, भोगोपभोग को सुमर्यादित करने की प्रक्रिया ही भोगोपभोग–प्रबन्धन है।

भोगोपभोग–प्रबन्धन की समग्रता के लिए भोगोपभोग–प्रबन्धन की प्रक्रिया को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया गया है – सैद्धान्तिक पक्ष एवं प्रायोगिक पक्ष। भोगोपभोग के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण करना सैद्धान्तिक पक्ष की विषय वस्तु है, जिसमें हमने जाना कि मूलतः भोगोपभोग के तीन प्रकार हैं – अशुभ, शुभ एवं शुद्ध। इनमें से अशुभ भोगोपभोग को मर्यादित करना और शुभ भोगोपभोग में आवश्यक प्रवृत्ति करते हुए शुद्ध भोगोपभोग की प्राप्ति करना ही सम्यक् भोगोपभोग–प्रबन्धन का सन्मार्ग है। दूसरे शब्दों में कहें तो, बाह्य विषय–भोगों से निवृत्त होते हुए आत्मरमणता के आनन्द को प्राप्त करना ही भोगोपभोग–प्रबन्धन की सम्यक् प्रक्रिया है। प्रस्तुत अध्याय में अशुभ भोगोपभोग की असारता को जैनदृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया है, जिससे इसके प्रति मोहान्ध दृष्टिकोण का निवारण और सम्यक् दृष्टिकोण का निर्धारण हो सके।

प्रायोगिक पक्ष में मुख्यतः हमने जाना कि जीवन–व्यवहार में किस प्रकार से भोगोपभोग को अधिकाधिक मर्यादित किया जा सकता है। इस हेतु भोगोपभोग के लिए प्रयोग में आने वाली वस्तुओं का वर्गीकरण करके उनमें से त्याज्य वस्तुओं को त्यागने, न त्याग की जा सके उन वस्तुओं को सीमित करने और न सीमित हो सके उन्हें अनासक्त भावनापूर्वक अर्थात् खेदपूर्वक प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है।

इस क्रम का पालन करता हुआ व्यक्ति धीरे–धीरे अपने स्तर का उचित विकास कर सकता है। जैन साधना पद्धति के आधार पर यहाँ पाँच स्तर बताए गए हैं, जिनमें क्रमशः आगे बढ़ता हुआ जीवन–प्रबन्धक तीव्रभोगी दशा से मन्दभोगी, मन्दतरभोगी, मन्दतमभोगी दशा को पार करता हुआ, अन्ततः आत्मभोगी दशा की प्राप्ति कर सकता है। यहाँ हमें मूलतः जैनाचार्यों की एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि प्राप्त होती है कि भोगोपभोग तो प्रत्येक प्राणी (आत्मा) की स्वाभाविक योग्यता है। आवश्यकता इस बात की है कि आत्मा को बाह्य विषयों से हटाकर स्वसम्मुख कर आत्मसुख की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त किया जाए और अन्ततः साधना के द्वारा राग–द्वेष, मोह पर विजय प्राप्त करते हुए सहज, स्वाधीन, निर्विकारी, आत्मभोगी दशा को प्राप्त किया जाए, यही भोगोपभोग–प्रबन्धन का चरम लक्ष्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

11.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ. क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	**क्या आप भोगोपभोग की अवधारणा से परिचित हैं?**		1
2)	क्या आप उपभोक्ता–संस्कृति को जानते हैं?		9
3)	**क्या आप जीवन में सन्तुलित भोगोपभोग को महत्त्व देते हैं?**		6
4)	क्या आप उपभोक्ता–संस्कृति के दुष्परिणामों को जानते हैं?		11
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
5)	क्या आप अशुभ–भोगोपभोग को मर्यादित करने का प्रयास करते हैं?		16
6)	**क्या आप स्पर्शादि इन्द्रियों एवं मन के विषयों को आधार बनाकर भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए वस्तुओं का सम्यक् विश्लेषण करते हैं?**		25
7)	क्या आप नैतिक मूल्यों के आधार पर भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए वस्तुओं का सम्यक् विश्लेषण करते हैं?		27
8)	**क्या आप भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए आवश्यक और अनावश्यक वस्तुओं का सम्यक् निर्णय करते हैं?**		28
	विकल्प– हमेशा→① अक्सर→② कभी–कभी→③ कदाचित्→④ कभी नहीं→⑤		
9)	**क्या आपके आय–साधनों में विकृति रहती है?**		11
10)	क्या आप में भावात्मक–संकीर्णता रहती है?		13
11)	**क्या आप समय और ऊर्जा की बर्बादी करते हैं?**		13
12)	क्या आप अनुकूलन की क्षमता का ह्रास करते हैं?		14
13)	**क्या आप शुभ–भोगोपभोग करते हैं?**		16
14)	क्या आप शुद्ध–भोगोपभोग करते हैं?		16
15)	**क्या आप सुविधादायी वस्तुओं का भोगोपभोग करते हैं?**		26
16)	क्या आप प्रतिष्ठादायी वस्तुओं का भोगोपभोग करते हैं?		26
17)	**क्या आप विलासिताओं का भोगोपभोग करते हैं?**		26
18)	क्या आप अनुपयोगी वस्तुओं का भोगोपभोग करते हैं?		27
	विकल्प– नहीं→⓪ हाँ→⑤		
19)	क्या आपकी मान्यता में अशुभ–भोगोपभोग से सुखाभास है?		20
20)	**क्या आपकी मान्यता में अशुभ–भोगोपभोग से दुःख ही दुःख है?**		22
		कुल	

कुल	**0–20**	**21–40**	**41–60**	**61–80**	**81–100**
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
भविष्य में अपेक्षित प्रबन्धन	अत्यधिक	अधिक	अल्प	अल्पतर	अल्पतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 उत्तराध्ययनसूत्र, 19/18
2 उत्तराध्ययनसूत्र वृत्ति
(अभिधानराजेन्द्रकोष, 5/1603 से उद्धृत)
3 आचारांगसूत्रवृत्ति 1/2/4 (वही, 5/1603 से उद्धृत)
4 बृहद्द्रव्यसंग्रह, नेमिचंद्राचार्य, 1/9
5 द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, 24/5
6 वाचस्पत्याभिधान कोश
(अभिधानराजेन्द्रकोष, 5/1603 से उद्धृत)
7 बृहद्द्रव्यसंग्रह, 1/9
8 वही, 1/9
9 योगशास्त्र, 3/5
10 व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 7/7/9
11 उत्तराध्ययनसूत्र, 32/75
12 वही, 36/19–20
13 वही, 32/62
14 वही, 36/18
15 वही, 32/49
16 वही, 36/17
17 वही, 32/23
18 वही, 36/16
19 वही, 32/36
20 पैतीस बोल, सा.विद्युत्प्रभा, पृ. 51.
21 उत्तराध्ययनसूत्र, 32/88
22 अर्थशास्त्र के सिद्धांत, डॉ.रामरतन शर्मा, 2/2, पृ. 19
23 प्रवचनसार, 1/76
24 आचारांगसटीक, 1/2/4/2
25 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 102
26 अर्थशास्त्र के सिद्धांत, एस.पी. दूबे, 1/8,
पृ. 107–108
27 वही, पृ. 98–99
28 आचारांगसूत्र, 1/2/5/7
29 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 102
30 हमलोग (पत्रिका), 18 जनवरी, 2009, पृ. 1
31 महावीर का अर्थशास्त्र, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 102–103
32 शपथ, हरिकृष्ण प्रेमी, पृ. 10 (हिंदीसूक्ति–संदर्भकोश, महो.
चन्द्रप्रभसागर, पृ. 91 से उद्धृत)
33 परमात्मप्रकाश, 2/3
34 मरणसमाधि, 604
35 उत्तराध्ययनसूत्र, 13/16
36 दशवैकालिकनिर्युक्ति, 263–264
37 जैनभारती (पत्रिका), मार्च, 2009, पृ. 16
38 अर्थशास्त्र के सिद्धांत, डॉ.रामरतन शर्मा, 2/1, पृ. 7
39 वही, पृ. 7
40 आरंभे तापकान् प्राप्तावऽतृप्ति प्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान्, कामं कः सेवते सुधीः।।
– इष्टोपदेश, 17
41 जैनभारती (पत्रिका), फरवरी, 2006, पृ. 23
42 वही, पृ. 23–24
43 वही, पृ. 23–24
44 वही, पृ. 23–24
45 साधक सतसई, चाँदमल सिरोहिया ठाकर, 347
46 जिनवाणी (पत्रिका), अक्टूबर, 2010, पृ. 62–63
47 आचारांगसूत्र 1/1/3/5
48 जैनभारती (पत्रिका), फरवरी, 2006, पृ. 24
49 वही, पृ. 25
50 तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
51 उत्तराध्ययनसूत्र, 5/5
52 वही, 10/20
53 साधकसतसई, चाँदमल सिरोहिया ठाकर, 570
54 उत्तराध्ययनसूत्र, 14/44
55 तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
56 प्रवचनसार, 1/55
57 कर्मोदयापेक्षा भावात्तदपि पारिणामिकं
– तत्त्वार्थराजवार्तिक 2/7, पृ. 112
58 पद्मनंदीपंचविंशति, 4/64–65
59 द्रव्यसंग्रह, 9
60 प्रवचनसार, 158
61 पद्मनंदीपंचविंशिका, 6/7
62 पंचास्तिकाय, 131
63 वही, 131
64 धवला, 7/4/2/8/3
65 स्वयंभूस्तोत्र, 13
(सहजसुखसाधन, ब्र.सीतलप्रसाद, पृ. 82 से उद्धृत)
66 श्रीमद्राजचन्द्र, अमूल्यतत्वविचार 1, पृ. 109
67 सूत्रकृतांगसूत्र, 2/1/33
68 उत्तराध्ययनसूत्र, 9/48–49
69 प्रवचनसार, 76
70 श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड 101/5
(परिवार में रहने की कला, पृ. 125 से उद्धृत)
71 श्रीमद्देवचन्द्र, वर्त्तमान चौबीसी, 4/5
72 प्रवचनसार, 76
73 सहजसुखसाधन, ब्र.सीतलप्रसाद, पृ. 70–71

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

74 उपदेशमाला, 212
75 देवशास्त्रगुरूपूजा, युगलजी
76 नवभारत (समाचार पत्र, इंदौर) 12 मार्च, 2011, पृ. 1,
77 उत्तराध्ययनसूत्र, 20/37
78 भगवतीआराधना, 1249
79 ज्ञानार्णव:, 10
80 उत्तराध्ययनसूत्र, 32/20
81 साधक सतसई, चाँदमल सिरोहिया ठाकर, 58
82 इष्टोपदेश, 17
83 स्वयंभूस्तोत्र, 13
(सहजसुखसाधन, ब्र.सीतलप्रसाद, पृ. 82 से उद्धृत)
84 मूलाचार, 724
85 सहजसुखसाधन, ब्र.सीतलप्रसाद, पृ. 74
86 भगवतीआराधना, 1242
87 सहजसुखसाधन, ब्र.सीतलप्रसाद, पृ. 72–73
88 ज्ञानसार, 7/7
89 उत्तराध्ययनसूत्र, 5/6
90 शीलप्राभृत, 27
91 भगवतीआराधना, 1267
92 मूलाचार, 735
93 शीलप्राभृत, 23
94 उत्तराध्ययनसूत्र, 14/13
95 श्रीमद्राजचंद्र, निवृत्तिबोध, पृ. 50
96 दशवैकालिकसूत्र, 4/39
97 ज्ञानस्य फलं विरतिः – प्रशमरति, 72
98 आवश्यकसूत्र, अ. 6, पृ. 111
99 अर्थशास्त्र के सिद्धांत, डॉ.एस.पी. दूबे, पृ. 1/9/107
100 प्रशमरति, 146
101 आचारांगसूत्र सटीक, 1/1/1/7
102 देवशास्त्रगुरूपूजा, युगलजी
103 समणसुत्तं, 303
104 प्रबोधटीका, 2/188
105 साधकसतसई, चाँदमल सिरोहिया ठाकर, 381
106 देवशास्त्रगुरूपूजा, युगलजी
107 योगशास्त्र, 1/48
108 श्रीमद्देवचन्द्र, वर्त्तमान चौबीसी 2/7
109 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/157
110 उपासकदशांगसूत्र, 1/16
111 जैनआचार, देवेन्द्रमुनि, पृ. 321
112 वही, पृ. 323
113 योगशास्त्र, 3/97
114 प्रबोधटीका, 1/44
115 उपासकदशांगसूत्र, 1/48
116 तत्त्वार्थसूत्र, 7/16
117 प्रबोधटीका, 2/219
118 आनंदस्वाध्यायसंग्रह, चारशरण, पृ. 91
119 प्रशमरति, 132
120 आनंदस्वाध्यायसंग्रह, श्रमण अतिचार, पृ. 108
121 तत्त्वार्थसूत्र, 9/9
122 श्रीमद्देवचन्द्र, वर्त्तमान चौबीसी, 4/8

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 12

धार्मिक व्यवहार प्रबन्धन

RELIGIOUS BEHAVIOR MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 12

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन

(Religious Behaviour Management)

	Page No. Chap.	Cont.
12.1 धर्म की अवधारणा	**1**	**653**
12.2 धर्म का जीवन में महत्त्व एवं स्थान	**4**	**656**
12.3 धर्म और जीवन मूल्य	**9**	**661**
12.4 अनियोजित धर्मनीति के दुष्परिणाम	**12**	**664**
12.5 जैनधर्म एवं जैनआचारमीमांसा के आधार पर धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन	**17**	**669**
12.5.1 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक पक्ष	17	669
12.5.2 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन क्या है?	17	669
12.5.3 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन, आखिर क्यों?	18	670
12.5.4 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन कैसे–कैसे किया जाता है?	20	672
12.5.5 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए उपयुक्त स्थान क्या हो?	27	679
12.5.6 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए उपयुक्त समय क्या हो?	28	680
12.6 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष	**29**	**681**
12.6.1 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन का उद्देश्य निर्माण करना	29	681
12.6.2 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के सही लक्ष्यों एवं नीतियों का निर्माण करना	29	681
12.6.3 उपासनात्मक साधनों का सम्यक् उपयोग करना	31	683
12.6.4 आचरणात्मक धर्म का सम्यक् निर्वाह करना	34	686
12.6.5 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के पाँच स्तर	38	690
12.7 निष्कर्ष	**41**	**693**
12.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment: A questionnaire)	**42**	**694**
सन्दर्भसूची	43	695

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 12

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन
(Religious Behaviour Management)

12.1 धर्म की अवधारणा

जीवन का सम्यक् प्रबन्धन करने के लिए धार्मिक व्यवहारों को भी सुनियोजित करना अत्यावश्यक है और इस हेतु सर्वप्रथम हमें धर्म के सच्चे अभिप्राय को समझना होगा। भारतीय–संस्कृति विशेषतः जैन–संस्कृति में 'धर्म' शब्द का प्रयोग भिन्न–भिन्न प्रसंगों में भिन्न–भिन्न अर्थों में हुआ है, अतः धर्म के सम्यक् स्वरूप का निर्धारण करने के लिए हमें धर्म को उसके व्यापक अर्थों में ग्रहण करना होगा।

(1) वस्तु–स्वभाव (Nature) – जैनाचार्यों ने कहा है – **'वत्थु सहावो धम्मो'** अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।[1] आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु का स्वाभाविक गुण उसका धर्म है, जैसे – आग का धर्म जलाना है, पानी का धर्म शीतलता है इत्यादि।

(2) कर्त्तव्य (Duty) – पाइयसद्दमहण्णवो में धर्म का एक अर्थ कर्त्तव्य बताया गया है,[2] अतः प्रत्येक व्यक्ति के जो भी करने योग्य लौकिक एवं लोकोत्तर दायित्व हैं, उन्हें धर्म मानना चाहिए, जैसे – माता–पिता की सेवा करना सन्तान का धर्म है, विद्यार्थी को शिक्षा देना शिक्षक का धर्म है इत्यादि।

(3) जीवदया (Nonviolence) – कहा गया है – **'जीवाणं रक्खणं धम्मो'** अर्थात् जीवों की रक्षा करना धर्म है।[3] यह जीवदया या जीवरक्षा बाह्य में यतनापूर्वक प्रवृत्ति और अंतरंग में आत्मजागृतिपूर्वक जीने के अर्थ में है, क्योंकि इससे बाह्य में षड्जीवनिकाय की रक्षा होती है एवं अंतरंग में आत्मतत्त्व की। इसकी श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जैसे जगत् में मेरूपर्वत से ऊँचा तथा आकाश से विशाल और कुछ नहीं है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है।[4]

(4) संविधान (Constitution) – 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'संविधान' या 'कानून' अर्थ में भी होता है। आचारांग का यह सूत्र **'आणाए मामगं धम्मं'** अर्थात् जिनाज्ञा का पालन करना धर्म है,[5] इस बात

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का द्योतक है कि धर्म एक नैतिक नियमावली (Moral Code) है, जो सभी के लिए अनुकरणीय है। यह नियमावली हमें संविधान की तरह हेय–ज्ञेय–उपादेय का भेद कराती है और पूर्ण नियोजित जीवन जीने की प्रेरणा देती है।

(5) सदाचार (Good Conduct) – पाइयसद्दमहण्णवो के अनुसार, 'हमारे सदाचार, सुकृत, कुशल–अनुष्ठान एवं शुभ–कर्म धर्म हैं।'[6] अन्यत्र भी कहा है – **'चारित्तं खलु धम्मो'** अर्थात् चारित्र वास्तव में धर्म है।[7] आचारांगसूत्र के अनुसार, **'समियाए धम्मे'** अर्थात् समता में रहना धर्म है।[8] कार्त्तिकेय–अनुप्रेक्षा में कहा गया है कि उत्तम क्षमा, उत्तम मृदुता, उत्तम सरलता, उत्तम निर्लोभता, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य एवं उत्तम ब्रह्मचर्य, इनका पालन करना धर्म है।[9]

इस प्रकार, सम्यक् आचरण को भी धर्म के रूप में बताया गया हैं।

(6) रत्नत्रय (The Three Gems) – कार्त्तिकेय–अनुप्रेक्षा के अनुसार, 'सम्यग्दर्शन (Right Faith), सम्यग्ज्ञान (Right Knowledge), एवं सम्यक्चारित्र (Right Conduct) रत्नत्रय धर्म है।'[10] वस्तुतः ये सम्यग्दर्शन आदि आत्मा की ही शुद्ध अवस्थाएँ हैं – आत्मस्वरूप का निश्चय सम्यग्दर्शन, आत्मस्वरूप का परिज्ञान सम्यग्ज्ञान और आत्मस्वरूप में स्थिरता सम्यक्चारित्र है।[11] यह धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप है।

इस प्रकार, 'धर्म' शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों पर विभिन्न अर्थों में होता है और यह आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक, नैतिक आदि अर्थों को इंगित करता है। भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने पर भी यह निश्चित है कि धर्म सदैव ही मानव की उन्नति का प्रबल अभिप्रेरक (Motivator) रहा है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'धर्म' शब्द 'धृ धारणे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है – धारण करना, बनाए रखना अथवा पुष्ट करना।[12] इसका तात्पर्य यह है कि धर्म वह तत्त्व है, जो सम्पूर्ण संसार के प्राणियों को दुःख से उठाकर उत्तम सुख की अवस्था में धारण करता है।[13] यह अनिष्ट स्थानों में भटकते जीवों को स्वर्ग–मोक्ष रूप इष्ट स्थानों में प्रतिष्ठित करता है।[14] यह झूठी मान्यता एवं राग–द्वेष आदि भावों से ग्रसित प्राणियों को ऊपर उठाकर निर्विकार शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर करता है।[15] संक्षेप में, धर्म वह है, जो प्राणियों को निम्न पद से उच्च पद में स्थापित करता है।[16] इस प्रकार धर्म प्रबन्धकीय–दृष्टि से एक उपयोगी संसाधन है, जिसका सकारात्मक प्रयोग जीवन को उन्नति के पथ पर अग्रसर कर सकता है।

मौलिक तौर पर तो 'धर्म' जीवन की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, किन्तु वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में धर्म की जो स्थिति है, उसे हम निम्न तीन विभागों में बाँट सकते हैं[17] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ धर्म आज एक व्यवसाय बन गया है, क्योंकि धर्म के नाम पर वैयक्तिक स्वार्थों की साधना ही प्रमुख हो गई है।

★ वर्त्तमान में धर्म मूलतः परम्परागत कर्मकाण्ड तक सीमित हो गया है, इसका आध्यात्मिक पक्ष गौण हो गया है।

★ धर्म आज स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय पर टिका हुआ है, जिसे आधुनिक समाज ढकोसला मान रहा है और धर्म के तात्कालिक लाभों को नहीं समझ कर धर्म–विमुख हो रहा है।

अतः प्रबन्धन–पद्धति को अपनाकर हमें धार्मिक व्यवहारों को सुधारने के लिए निम्न प्रयत्न करने होंगे –

★ धर्म को भौतिक सम्पन्नता एवं समृद्धि की दृष्टि से नहीं, अपितु नैतिक विकास के लिए अपनाना होगा।

★ धर्म को कर्मकाण्ड के अन्धानुकरण से बचाकर आध्यात्मिक बनाना होगा।

★ धर्म को स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय से मुक्त कर उसके तात्कालिक लाभों को समझना होगा।

★ धर्म जो केवल विश्वास के आधार पर टिका है, उसे विज्ञान के आधार पर खड़ा करना होगा।

जब तक हम धर्म की उपयोगिता और उसके महत्त्व का सम्यक् मूल्यांकन नहीं करेंगे, तब तक हम धर्म का सम्यक् प्रयोग भी नहीं कर सकेंगे। अतः यह जानना होगा कि धर्म का जीवन में क्या महत्त्व एवं स्थान है?

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12.2 धर्म का जीवन में महत्त्व एवं स्थान

प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति में धर्म का विशेष महत्त्व रहा है। पुरूषार्थ चतुष्टय में धर्म को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि जहाँ यह अर्थ और काम को मर्यादित करके उन्हें मूल्यों (Values) की श्रेणी में लाता है, वहीं यह मोक्ष का साधन भी बनता है।[18] स्पष्ट है कि धर्म के बिना अर्थ और काम अनर्थकारी बन जाते हैं और मोक्ष केवल एक कल्पना भर रह जाता है। यही कारण है कि त्रिवर्गवादी एवं चतुर्वर्गवादी विचारकों ने धर्म को जीवन की प्राथमिक आवश्यकता माना है। आज भी इस बात की आवश्यकता है कि हम जो महत्त्व रोटी, कपड़ा एवं मकान को देते हैं, उससे भी अधिक महत्त्व धर्म को दें। मेरी दृष्टि में, जीवन में धर्म की केन्द्रीय भूमिका निम्न चित्र से स्पष्ट है –

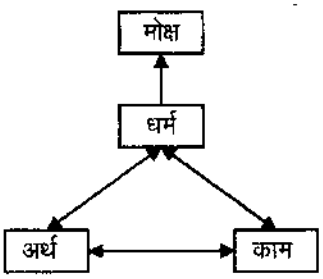

12.2.1 धर्म के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाली जैन सूक्तियाँ

- ★ धर्म विश्व का सर्वोत्तम मंगल है। इस धर्म का लक्षण है – अहिंसा, संयम और तप। जिसका मन सदैव धर्म में लीन रहता है, उसे देव भी नमन करते हैं।[19]
- ★ रत्नत्रय से युक्त धर्म रक्षक है, शरण है, सद्गति–प्रदायक है, संसार गर्त में गिरने वालों के लिए आधार है और यदि सम्यक् प्रकार से आचरण में लाया जाए, तो यह अजरामर मोक्षपद को प्राप्त कराने वाला है।[20]
- ★ यह धर्म इसलोक और परलोक में प्रीति कराने वाला, कीर्त्ति दिलाने वाला, तेजस्वी और यशस्वी बनाने वाला, प्रशंसनीय एवं रमणीय बनाने वाला, भयमुक्त करने वाला, शान्ति देने वाला तथा सभी शुभाशुभ कर्मों का क्षय करने वाला है।[21]
- ★ सम्यक् प्रकार से जीवन में उतारा हुआ धर्म परभव में भी लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों दृष्टि से कल्याणकारी होता है।[22]
- ★ धर्मनिष्ठ व्यक्ति परलोक में भी देवेन्द्र या चक्रवर्ती पद की प्राप्ति करता है अथवा आत्मलीन होकर मोक्ष पद की प्राप्ति करता है।[23]
- ★ धर्म वह जलाशय है, जिसमें स्नान कर आत्मा कर्ममल से मुक्त हो जाती है।[24]
- ★ इस संसार में धर्म ही हमारा सब कुछ है और धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई शरणभूत नहीं है। यह धर्म ही हमारा गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बन्धु है और निष्कारण हम अनाथों से वात्सल्य करने वाला है।[25]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ चिन्तामणि, दिव्य निधियाँ, कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सभी धर्म के चिरकालीन अनुचर हैं।[26]

★ धर्म के समान निधि नहीं है।[27]

★ धर्म के दो प्रयोजन हैं – दुःख को दूर करना और सुख को प्राप्त कराना। अतः हम चाहे सुखी हों अथवा दुःखी, दोनों ही अवस्था में हमें धर्म का आचरण करना चाहिए, क्योंकि यदि हम सुखी हैं, तो धर्म से हमारा सुख वृद्धिगत होगा और यदि हम दुःखी हैं, तो उससे हमारे दुःखों का विनाश होगा।[28]

★ संसार में जितने भी भौतिक सुख हैं, वे एकमात्र धर्मरूपी उद्यान में स्थित क्षमा, मृदुता आदि वृक्षों के ही फल हैं। अतः धर्म–उद्यान के वृक्षों की भलीभाँति रक्षा करनी चाहिए, जिससे भविष्य में आत्मिक सुख एवं शान्ति रूपी फलों की प्राप्ति होती रहे।[29]

★ धर्म से भौतिक सुख का विनाश होता है – यह कल्पना भ्रमपूर्ण है, क्योंकि धर्म सुख का कारण है और कारण कभी अपने कार्य का विरोधी नहीं होता, अतः सुखनाश के भय से धर्मविमुख नहीं होना चाहिए।[30]

★ कल्पवृक्ष का फल याचना से और चिन्तामणि का फल विचार करने से प्राप्त होता है, किन्तु धर्म से जो फल प्राप्त होता है, वह बिना याचना और कल्पना किए ही प्राप्त हो जाता है, जैसे – यदि मनुष्य सघनवृक्ष के नीचे पहुँचता है, तो छाया स्वयमेव प्राप्त होती है, उसके लिए वृक्ष से याचनादि नहीं करनी पड़ती।[31]

जाँचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन।
बिन जाँचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन।।[32]

★ जो प्राणी अज्ञानवश धर्म को नष्ट करके विषय–सुखों में रत रहते हैं, वे मानों वृक्षों को जड़ से उखाड़कर फलों की प्राप्ति करना चाहते हैं।[33]

उपर्युक्त सूक्तियाँ इस बात को स्पष्ट करती हैं कि धर्म का हमारे जीवन से गहरा सम्बन्ध है। यदि हम सही अर्थों में धर्म को जीवन में अपना लें, तो यह इसलोक और परलोक दोनों के लिए हितकारी है। धर्मबिन्दु ग्रन्थ में भी धर्म के दोनों प्रकार के फलों का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि रागादि भावों के उपद्रवों से मुक्त होना और समता, सहिष्णुता आदि सद्भावों के वैभव को प्राप्त करना, धर्म का 'अनन्तर फल' (Immediate Gain) है और संसार परिभ्रमण से मुक्त होकर परमसुख रूप निर्वाण पद की प्राप्ति करना, धर्म का 'परम्पर फल' (Ultimate Gain) है।[34]

यह मान्यता गलत है कि धर्म निरर्थक एवं कष्टकारी है और वर्त्तमान जीवन में इससे आर्थिक, भौतिक, सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक आदि पहलू असन्तुलित हो जाते हैं। वस्तुतः, धर्म वह कला है, जिसके द्वारा उक्त सभी पहलुओं को सन्तुलित, सुव्यवस्थित एवं उन्नत बनाया जा सकता है और इसीलिए जीवन–प्रबन्धन हेतु धर्म का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12.2.2 धर्म के महत्त्व के विभिन्न दृष्टिकोण

इस तथ्य को निम्न बिन्दुओं के द्वारा समझा जा सकता है –

(1) आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म का महत्त्व – धर्म की मूल दृष्टि आध्यात्मिक–विकास की है, जिसका अनुसरण कर हम आत्मिक–सुख की प्राप्ति कर सकते हैं। परन्तु भौतिक–सुख से आकर्षित होकर मृग–तृष्णा के समान हम बाह्य में सुख खोजते रहते हैं और सदैव अतृप्त बने रहते हैं। वस्तुतः, सुख बाह्य वस्तुओं में नहीं, अपितु आत्मा का ही स्वभाव (धर्म) है[35] और आत्मा से ही प्राप्य है। जैसे–जैसे आत्मा विभाव से स्वभाव की ओर लौटती जाती है, वैसे–वैसे आत्मिक–सुख की उपलब्धि बढ़ती जाती है। दूसरे शब्दों में, जैसे–जैसे राग–द्वेष की विषमता मिटती जाती है, वैसे–वैसे आत्मा समता में सुस्थित होती जाती है और इससे समस्त तनावों एवं दुःखों से मुक्ति मिल जाती है।

इस प्रकार धर्म ही एकमात्र साधन है, जो भौतिक सुखों के मोहपाश से छुड़ाकर आत्मिक–सुख का सेवन कराता है।

(2) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से धर्म का महत्त्व – मानव का मन अश्व के समान चारों ओर दौड़ता रहता है, किन्तु यदि उसे धर्म के द्वारा नियंत्रित एवं नियमित कर दिया जाए, तो यही मन स्थिरता और पवित्रता को प्राप्त होता है। इससे विचार, कल्पना, स्मरण आदि शक्तियों की विशेष अभिवृद्धि होती है। उचित–अनुचित का मानसिक विश्लेषण भी सम्यक्तया हो पाता है। व्यक्ति अपने जीवन के आत्मिक एवं व्यावहारिक पहलुओं के बारे में अधिक कुशलता के साथ चिन्तन, मनन एवं निर्णय कर पाता है।

(3) शैक्षणिक दृष्टि से धर्म का महत्त्व – शिक्षा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का आधार है, परन्तु धर्म के अनुशासन में रहे बिना वह सम्यक् शिक्षा का अर्जन नहीं कर सकता। धर्म के माध्यम से वह कुसंस्कारों एवं उद्दण्डतापूर्ण व्यवहारों से बचकर शिक्षा के प्रति अधिक गम्भीर, एकाग्र, सजग एवं समर्पित हो सकता है। वह अपने अमूल्य समय, धन एवं ऊर्जा के अनावश्यक अपव्यय को भी रोक सकता है और इस तरह सर्वांगीण–शिक्षा की प्राप्ति का सम्यक् प्रबन्धन कर सकता है।

(4) आर्थिक दृष्टि से धर्म का महत्त्व – अर्थ जीवन की एक आवश्यकता है, किन्तु यदि धर्म का नियन्त्रण न हो, तो अर्थ ही अनर्थ का कारण बन जाता है।[36] इससे भ्रष्टाचार, झूठ–फरेब, घोटाले, विश्वासघात आदि अनेक विसंगतियाँ पैदा हो जाती हैं, जिन्हें रोकने के लिए धर्म के नैतिक सिद्धान्तों का पालन अत्यन्त जरूरी है। जैनधर्म में निर्दिष्ट अहिंसा आदि व्रतों का पालन करके व्यक्ति अपनी आर्थिक नीति का सम्यक् प्रबन्धन कर सकता है। वह धर्म से मर्यादित अर्थोपार्जन करता हुआ आध्यात्मिक विकास के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

(5) पर्यावरणीय दृष्टि से धर्म का महत्त्व – यह धर्म तत्त्व ही है, जो हमारी असीम तृष्णा को मर्यादित कर सादगीपूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा देता है। इससे सहज ही भौतिक–पर्यावरण के सीमित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसाधनों की सुरक्षा हो जाती है और परोक्ष रूप से मानव–अस्तित्व भी बना रहता है। यदि धर्म न हो, तो मनुष्य और पर्यावरण के मध्य का सन्तुलन ही भंग हो जाए, क्योंकि अनियंत्रित मनुष्य सदा ही पर्यावरण पर अपना एकाधिकार जमाने का प्रयत्न करता रहा है। आचारांगसूत्र में पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकायों की रक्षा रूप अहिंसा को धर्म के रूप में प्रतिपादित करके भौतिक–पर्यावरण की सुरक्षा को सुनिश्चित किया गया है। धर्म को परिभाषित करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि भूत, वर्त्तमान एवं भविष्य के सभी अर्हत् एक ही सन्देश देते हैं कि किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए, उसे पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए, यही एकमात्र शुद्ध, नित्य एवं शाश्वत् धर्म है।[37]

(6) सामाजिक दृष्टि से धर्म का महत्त्व – 'धर्म' शब्द, जिसे अंग्रेजी में Religion (रिलीज़न) कहा जाता है, की व्युत्पत्ति हमें यह बताती है कि धर्म एक योजक तत्त्व है, जो हमें जोड़ता है। 'रिलीजन' शब्द रि + लीजेर से बना है, जिसका अर्थ होता है – पुनः जोड़ने वाला।[38] इस प्रकार 'रिलीजन' एकता और सामंजस्य का सूचक है तथा यही सामाजिक संगठन के लिए आवश्यक है।

जैनधर्म मूलतः निवृत्तिपरक है, फिर भी उसे संघीय धर्म के रूप में स्थापित किया गया है। इसमें निर्दिष्ट धर्म साधना में दूसरों के हित का भी ध्यान रखा गया है। तत्त्वार्थसूत्र में एक–दूसरे के परस्पर हित साधने को जीवों का दायित्व बताया गया है।[39] यहाँ जीवन की व्याख्या 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (Struggle for the Existence) के रूप में नहीं की गई है। जैनाचार्यों का यह मानना है कि अस्तित्व का संरक्षण संघर्ष से नहीं, अपितु पारस्परिक सहयोग से ही सम्भव है (The law of life is the law of cooperation) और इसीलिए यहाँ संरक्षण, सहयोग और सेवा की वृत्ति को धर्म कहा गया है। मनुष्य का मूल दायित्व परमात्मा की उपासना के साथ–साथ प्राणीमात्र की सेवा करना भी है।[40]

जैनाचार्यों के अनुसार, धर्म और सदाचार एक–दूसरे के पर्यायवाची हैं। यह ठीक है कि मनुष्य को समाज में जीना होता है, लेकिन अनीतिपूर्वक जीवन जीने का प्रयास वस्तुतः व्यक्ति और समाज के बीच के सम्बन्ध को बिगाड़ देता है। अतः यदि सदाचारपरक जीवन हो, तो समाज में सहज ही समरसता बन सकती है। आज जो सदाचारविहीन संस्कृति फैल रही है, इससे ही सामाजिक–व्यवस्था दूषित हो रही है।

सार रूप में, सदाचारपरक जीवनशैली को प्रोत्साहित कर धर्म सामाजिक–व्यवस्था को बनाए रखने में अहम योगदान देता है। इसीलिए कहा गया है – **'धर्मो धारयते प्रजाः'** अर्थात् जो प्रजा (समाज) को धारण करता है, वह धर्म है।[41]

(7) पारिवारिक दृष्टि से धर्म का महत्त्व – जिस प्रकार से सामाजिक संगठन की दृष्टि से धर्म का महत्त्व है, उसी प्रकार से उसका महत्त्व पारिवारिक संगठन के लिए भी है। स्थानांगसूत्र में धर्म के चार द्वार बताए गए हैं – क्षमा, सन्तोष, सरलता और नम्रता।[42] ये सद्गुण जिस परिवार में विद्यमान हों, उसमें स्वार्थ, घृणा, क्लेश–कलह आदि व्यवहार कभी नहीं हो सकते। ऐसे परिवार में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक सदस्य अपने–अपने कर्त्तव्यों (धर्म) के प्रति सजग तथा अधिकारों के प्रति सहज (लोचपूर्ण) रहता है। स्वयं धर्मकृत्यों में रत रहता हुआ दूसरों को भी सत्प्रेरणा देता है। उपासकदशांगसूत्र में पत्नी (उपलक्षण से सभी) के बारे में कहा गया है कि वह धर्म में सहायता करने वाली, धर्म में साथ देने वाली, धर्मानुरागी तथा परिवार के सुख–दुःख को समान रूप से बाँटने वाली होती है।[43] इस प्रकार, धर्म के नैतिक मूल्य परिवार की सुव्यवस्था के लिए भी अत्यावश्यक हैं।

(8) राजनीतिक दृष्टि से धर्म का महत्त्व – यद्यपि आज राजनीति को धर्म–निरपेक्ष बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है, परन्तु इसके बजाय संप्रदाय–निरपेक्ष अथवा पन्थ–निरपेक्ष शब्दों का प्रयोग ज्यादा उचित है। वस्तुतः, यदि राजनीति को धर्मविहीन कर दिया जाए, तो राज्य व्यवस्था ही चरमरा जाएगी। महात्मा गाँधी का भी यह विचार रहा है कि 'धर्म से अलग कोई राजनीति नहीं है।'[44] यदि धर्म (नैतिकता) को आत्मसात् करके राजनीति की जाए, तो इसमें व्याप्त बुराइयाँ निश्चित तौर पर समाप्त हो सकती हैं। उस स्थिति में पद, प्रतिष्ठा एवं पैसा मूल्यहीन हो जाएगा और राष्ट्रीय उन्नति प्रमुख हो जाएगी। प्रत्येक राजनीतिज्ञ स्वार्थ एवं सत्ता का परित्याग करके जनता की सेवा एवं सहयोग के लिए तत्पर हो जाएगा। स्थानांगसूत्र में इसी चेतना को जाग्रत करने हेतु ग्रामादि दशविध धर्म बताए गए हैं (विशेष विवरण के लिए देखें – अध्याय 9)।[45]

इस प्रकार, धर्म केवल पारलौकिक जीवन को ही नहीं, अपितु ऐहलौकिक जीवन को भी उन्नत बनाता है। धर्म को अपनाकर ही व्यक्ति का व्यक्तित्व परिष्कृत होता है, अतएव जीवन में धर्म के महत्त्व को अवश्य स्वीकार करना चाहिए, जिससे धर्म का उपयोग जीवन के प्रबन्धन हेतु किया जा सके। परन्तु इस लक्ष्य को साकार करने के लिए हमें अपने धार्मिक व्यवहारों को सुनियोजित करना होगा, केवल धर्म के नाम पर कुछ क्रियाकाण्ड कर लेना अपने आपको छलने से अधिक कुछ नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12.3 धर्म और जीवन मूल्य

मानवीय जीवन में जो भी उपयोगी है, उन्हें पाश्चात्य–दर्शन में मूल्य (Values) कहा जाता है, जैसे – धन, मनोरंजन, सौन्दर्य, कला, ज्ञान आदि। भारतीय–दर्शन में प्रकारान्तर से इन्हें इष्ट, प्रयोजन, श्रेय, पुरूषार्थ आदि कहा जाता है, फिर भी 'पुरूषार्थ' शब्द सर्वाधिक लोकप्रिय है।[46]

प्रश्न उठता है कि भोजन, मकान, धन, शरीर आदि के समान क्या धर्म भी एक जीवन–मूल्य है? इस सन्दर्भ में हमारे समक्ष तीन दृष्टियाँ हैं – 1) भौतिक, 2) नैतिक एवं 3) आध्यात्मिक। चूँकि मूल्य मनुष्य के द्वारा आरोपित (निर्धारित) किए जाते हैं, अतः मत–विभिन्नता के कारण एक ही पदार्थ का मूल्यांकन अलग–अलग ढंग से होता है। यही कारण है कि धर्म–मूल्य के बारे में विविध मान्यताएँ प्रचलित हैं।

(1) भौतिक–दृष्टि

भौतिक विचारधारा जीवन में अर्थ एवं भोग के महत्त्व को तो मानती है, किन्तु धर्म और मोक्ष से इसका कोई सरोकार नहीं है। अतः इसकी दृष्टि में धर्म मूल्य नहीं है, परन्तु जैसा कि हमने पूर्व में इंगित किया है कि जीवन के सभी पहलुओं – आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, सामाजिक आदि में धर्म का अपना विशिष्ट महत्त्व है, अतः यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती कि केवल अर्थ और भोग में ही जीवन को बिता दिया जाए। हमें ईसा मसीह का यह वाक्य स्मरण रखना होगा कि Man can not live by bread alone। रोटी पेट की क्षुधा तो शान्त कर सकती है, लेकिन हमारे मानस की नहीं, उसे कुछ और भी चाहिए, जो मानस की क्षुधा को मिटा सके।[47] वस्तुतः अर्थ और भोग हमें सुविधा और विलासिता तो दे सकते हैं, किन्तु मन की सन्तुष्टि नहीं।

(2) नैतिक–दृष्टि

नैतिक विचारधारा भारतीय संस्कृति की त्रिवर्गवादी विचारधारा है। यह धर्म, अर्थ और काम – तीनों को ही मूल्य मानती है। इसकी दृष्टि में 'धर्म' के अन्तर्गत सभी नैतिकमूल्य, 'अर्थ' के अन्तर्गत आर्थिक और राजनीतिक मूल्य तथा 'काम' के अन्तर्गत सभी मनोवैज्ञानिक मूल्यों का समावेश हो जाता है।[48]

यद्यपि भारतीय चिन्तन में मूल्यों का वर्गीकरण अवश्य किया गया है, लेकिन मूल्यों को स्वतन्त्र नहीं बनाया गया और न ही इनके अमर्यादित सेवन की स्वीकृति दी गई। वस्तुतः, इसमें धर्म को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है और साध्य की भूमिका में स्थापित किया गया है। अर्थ और काम को भी तभी मूल्य माना गया है, जब ये धर्म के द्वारा नियंत्रित एवं मर्यादित हों। धर्म विरुद्ध अर्थ और काम को पूर्णतया असेवनीय और आत्म–विनाशक माना गया है। अर्थ और भोग को इस प्रकार मूल्य की श्रेणी में लाने का श्रेय धर्म को दिया गया है।[49] आचार्य हरिभद्र ने भी गृहस्थ–जीवन हेतु इन तीनों जीवन–मूल्यों को परस्पर विरोध के बिना सेवन करने का निर्देश दिया है एवं धर्म को किसी भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिस्थिति में त्यागने योग्य नहीं मानना है।[50]

जीवन–प्रबन्धन की दृष्टि से यह नैतिकता सामाजिक जीवन में अत्यावश्यक है। यदि हम धर्म–मूल्य को अस्वीकार करेंगे, तो सदाचार का लोप हो जाएगा और सदाचार के बिना सामाजिक व्यवस्था चरमरा जाएगी, अतः त्रिवर्गवादी विचारधारा धर्म के जिस नैतिक पक्ष पर बल देती है, उसी के अनुरूप हमें जीवन में धर्म को अपनाना होगा और धर्मानुकूल अर्थोपार्जन एवं भोगोपभोग करना होगा।

यदि हम धर्म को केवल बाह्य आडम्बर के रूप में करते रहेंगे, तो भी उससे लाभ नहीं होगा, क्योंकि वह तथाकथित धर्म भी अर्थ और भोग को नियंत्रित एवं सामाजिक–व्यवस्था को सुव्यवस्थित नहीं कर सकेगा। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले ने भी अपनी पुस्तक Ethical Study में इस सत्य को स्वीकार किया है कि नीतिविहीन धर्म, धर्म नहीं है और धर्मविहीन नीति, नीति नहीं है। जैनाचार्यों ने भी इसीलिए धर्म को भावप्रधान बताया है। उनके अनुसार, अशुभ–भावों से निवृत्ति और शुभ–भावों में प्रवृत्ति धर्म (व्यवहार धर्म) है।

इस प्रकार, त्रिवर्गवादी विचारधारा धर्म को जीवन का सर्वोच्च–मूल्य मानती है और इससे ही व्यावहारिक–जीवन का प्रबन्धन करने का निर्देश भी देती है।

(3) आध्यात्मिक–दृष्टि

आध्यात्मिक विचारधारा भारतीय संस्कृति की चतुर्वर्गीय विचारधारा है, जिसमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष – इन चारों पुरूषार्थों को जीवन–मूल्य के रूप में स्वीकारा गया है। इसकी दृष्टि में धर्म यदि नैतिक–मूल्य है, तो मोक्ष आध्यात्मिक–मूल्य है। दोनों में अन्तर यह है कि धर्म के द्वारा सामाजिक–जीवन सुचारु रूप से चलता है, तो मोक्ष के द्वारा व्यक्ति अपनी आत्मिक–शक्तियों का अनावरण/शुद्धिकरण कर आध्यात्मिक–जीवन को सुप्रबन्धित करता है। अन्तर के साथ–साथ दोनों में परस्पर सम्बन्ध भी है। वस्तुतः, धर्म यदि साधन के रूप में प्रयोग किया जाए, तो यह व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में ले जाता है, जिस पर चलकर व्यक्ति अन्ततः मोक्ष रूपी साध्य की प्राप्ति करता है।

जैनदर्शन भी मूलतः आध्यात्मिक–विचारधारा पर आधारित है। यहाँ मोक्ष–पुरूषार्थ को ही उत्तम माना गया है, क्योंकि उसके बिना धर्म, अर्थ और काम से भी 'परमसुख' की प्राप्ति सम्भव नहीं है।[51] धर्म का स्थान अर्थ और काम की तुलना में तो उच्च स्वीकार किया गया है, किन्तु मोक्ष की दृष्टि से यह भी एक साधन ही है। अन्तर इतना है कि जहाँ त्रिवर्गवादी विचारधारा में धर्म को साध्य के रूप में स्वीकार किया गया है, वहीं पुरूषार्थ–चतुष्टय वाली जैन–विचारधारा में धर्म को एक साधन के रूप में ही देखा गया है। कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में मुख्यतः दो मूल्यों पर विशेष बल दिया गया है – धर्म और मोक्ष। मोक्ष परम मूल्य है और धर्म मोक्ष का राजमार्ग है।[52] धर्म का यह रूप वस्तुतः अशुभ से शुभ नहीं, अपितु शुभ से शुद्ध (साक्षीभाव) की ओर प्रवर्त्तन का प्रतीक है। दूसरे शब्दों में, यह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामाजिक स्तर से ऊपर उठाकर व्यक्ति को मोक्षानुकूल बनाने का प्रयास है। जैनाचार्यों के अनुसार, इस स्तर पर धर्म की प्रवृत्ति मूलतः आत्मकेन्द्रित (Spiritual) होती है, जिसमें जड़ और चेतन के भेद–ज्ञान की मुख्यता होती है।

आध्यात्मिक विचारधारा की विशेषता यह है कि इसमें चारों जीवन–मूल्यों को परस्पर एक–दूसरे में गूँथने का कार्य भी किया गया है। एक ही साधक अपने साधनाकाल में चारों को सन्तुलित और समन्वित करता हुआ आगे बढ़ सके, यह व्यवस्था यहाँ सम्यक्तया निर्दिष्ट है। उदाहरणार्थ, जैन मुनि भिक्षार्थ भ्रमण करता है एवं याचनादि करके भिक्षा प्राप्त करता है (अर्थ–मूल्य), वह देह–रक्षणार्थ एवं संयम–पालनार्थ आहार–ग्रहण करता है (भोग–मूल्य), वह आहारचर्या में हुए दोषों का प्रायश्चित करता है (धर्म–मूल्य) और आहारोपरान्त निज आत्म–स्वरूप में लीन हो जाता है (मोक्ष–मूल्य)। जैनाचार्यों ने इन चारों मूल्यों को परस्पर जोड़े रखने के लिए यह व्यवस्था दी है कि मुनि अर्थ और भोग की पूर्त्ति करते हुए भी धर्म–मूल्य का अपलाप न करे। वह धर्मानुकूल समिति, गुप्ति आदि का जागृतिपूर्वक पालन करता हुआ अनाचारों से दूर रहे। वह धर्मप्रवृत्ति करते हुए भी कहीं आत्मलक्ष्य न भूल जाए, यह सावधानी भी उससे अपेक्षित है। इस हेतु उसे बारम्बार मोक्षानुकूल धर्म करने की प्रेरणा जैनाचार्यों ने दी है। यहाँ यह जानना आवश्यक होगा कि जैनशास्त्रों में केवल मुनि ही नहीं, अपितु गृहस्थ को भी चारों जीवन–मूल्यों को परस्पर गूँथते हुए अपने जीवन को आगे बढ़ाने का निर्देश दिया गया है।

निष्कर्ष यह है कि धर्म वह जीवन–मूल्य है, जो एक सेतु (Bridge) के समान कार्य करता है। एक ओर वह अर्थ एवं भोग को नियंत्रित करते हुए मूल्य की श्रेणी में लाता है तथा सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित करने में साध्य रूप सिद्ध होता है, तो दूसरी ओर वह आध्यात्मिक जीवन (मोक्ष) को सुनियोजित करने में साधन रूप से अपनी भूमिका निभाता है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि धर्म के बिना मोक्ष, अर्थ एवं काम तीनों ही निराधार हो जाते हैं।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12.4 अनियोजित धर्मनीति के दुष्परिणाम

पिछली चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि मानव–जीवन में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वह तत्त्व है, जो प्राणी को अशुभ–भावों से निवृत्त एवं शुभ भावों में प्रवृत्त करता हुआ, अन्ततः शुद्ध भावों में रमणता की दिशा में ले जाता है। धर्म न हो, तो प्राणी शुद्ध एवं शुभ भावों से पतित होकर अशुभ भावों के गर्त्त में गिर जाता है। फिर भी वर्त्तमान युग में व्यक्ति धर्म का सम्यक् मूल्यांकन ही नहीं कर पा रहा है। वह या तो धर्म को अनावश्यक जानकर उससे दूर हो रहा है अथवा धर्म करते हुए भी सम्यक् प्रकार से धर्म न करके स्वयं को ही छल रहा है। आज धर्मनीति में न समग्रता है और न सन्तुलितता। यह बात निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट हो जाती है –

(1) आज संप्रदायों के आधार पर धर्म को देखा जा रहा है –

डॉ. सागरमल जैन ने कहा है – धर्म भिन्न है एवं संप्रदाय भिन्न है। धर्म (रिलीजन) शब्द जोड़ने का सूचक है, जबकि संप्रदाय या School शब्द विभाजन का सूचक है। यह सत्य है कि संप्रदाय एक व्यवस्था है, जिसके माध्यम से धर्म तक पहुँचा जा सकता है, फिर भी संप्रदाय को धर्म नहीं कहा जा सकता। धर्म तो हमारा स्वभाव है, अतः वह आन्तरिक है, जबकि संप्रदाय का सम्बन्ध बाह्य परम्पराओं (रूढ़ियों) तक ही सीमित है और इसीलिए वह बाहरी है। अतः यह मानना होगा कि सांप्रदायिकता में धर्म नहीं है। धर्म को लक्ष्य बनाकर तो संप्रदाय में रहा जा सकता है, किन्तु संप्रदाय को लक्ष्य बनाकर धर्म में नहीं रहा जा सकता। जहाँ धर्मरहित संप्रदाय है, वहाँ ठीक वैसी ही स्थिति है, जैसी आत्मा से रहित शरीर (शव) की।[53]

वर्त्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है – धर्म को छोड़कर संप्रदायों, मतों, पन्थों आदि को बढ़ावा मिलना। आज व्यक्ति मूल धर्म को भूलता जा रहा है और जैन, बौद्ध, हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि संप्रदायों को ही धर्म के रूप में प्रतिष्ठित कर रहा है। इतना ही नहीं, इन संप्रदायों की नित नई–नई शाखाएँ–प्रशाखाएँ भी अस्तित्व में आ रही हैं। श्रीमद्राजचंद्र के अनुसार, इनके सम्भावित कारण निम्नलिखित हैं[54] –

- ★ साधुओं की आचार शिथिलता
- ★ मोह का प्रभाव
- ★ बुद्धि की न्यूनता
- ★ दुःषमकाल (कलियुग) का प्रभाव
- ★ आचार्यों का अहं एवं तज्जन्य वाद–विवाद
- ★ शास्त्रज्ञान की कमी
- ★ प्रवर्त्तन करने वाले को अनुकरण करने वालों का अन्ध समर्थन
- ★ मार्ग–प्रवर्त्तन के पश्चात् सन्मार्ग प्राप्त होने पर भी उसे ग्रहण करने में हठधर्मिता

जैसे–जैसे संप्रदायों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है, वैसे–वैसे धर्म के नाम पर हमारे मानस में वैचारिक घृणा, विद्वेष और बिखराव भी बढ़ता जा रहा है। सभी संप्रदायवादी अपनी–अपनी सत्यता का दावा करते हुए दूसरों को भ्रान्त और भ्रष्ट बता रहे हैं। उपदेशक भी शब्दों में एकता और सामंजस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की बात भले ही कर रहे हों, लेकिन अपने–अपने गच्छ, मत, पन्थ की रूढ़ियों का दुराग्रह नहीं छोड़ पा रहे हैं। इन मोह–ग्रस्त जीवों के बारे में सन्त आनन्दघनजी कहते हैं[55] –

गच्छनां भेद बहु नयण निहालतां, तत्त्वनी वात करतां न लाजे।
उदरभरणादि निज काज करतां थकां, मोह नडिया कलिकाल राजे।।

जैनशास्त्रों में दृष्टि की संकीर्णता को 'दृष्टि–राग' बताया गया है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति मतान्ध होकर स्वमत का स्थापन (मण्डन) और परमत का उत्थापन (खण्डन) कर रहा है। कट्टरता इतनी बढ़ गई है कि मानव–धर्म और मानव जाति का अस्तित्व ही खतरे में है, क्योंकि सभी अपना वर्चस्व चाहते हैं और धर्म के नाम पर आतंकवाद, नरसंहार, दंगे–फसाद करने से भी नहीं हिचक रहे हैं। वस्तुतः, धर्म तो निराकुलता और समाधि का मार्ग है, लेकिन सांप्रदायिकता के बढ़ने से धर्म के नाम पर हिंसा, झूठ आदि पापकृत्य हो रहे हैं।

वर्त्तमान परिवेश में जैनदर्शन की धार्मिक–साहिष्णुता वाली दृष्टि को अपनाने की आवश्यकता है, जो संप्रदाय से ऊपर उठकर धर्म को आत्मसात् करने की प्रेरणा देती है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा भी है – जिन्होंने राग–द्वेष आदि का क्षय कर दिया हो, वे चाहे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, शिव हों या जिन हों, उन्हें नमस्कार है।[56]

श्री सत्यनारायणजी गोयनका के शब्दों में[57]

धर्म न हिन्दु बौद्ध है, धर्म न मुस्लिम जैन।
धर्म चित्त की शुद्धता, धर्म शांति सुख चैन।।

(2) आलम्बन के स्थान पर आडम्बर को ही धर्म माना जा रहा है –

वर्त्तमान युग में सुविधा और विलासिता के प्रति व्यक्ति का प्रेम बढ़ रहा है। वह धार्मिक स्थलों पर भी भव्य मण्डप एवं मंच का निर्माण, वातानुकूलित धर्मशाला का निर्माण, आकर्षक रोशनी, आतिशबाजी, गरिष्ठ–भोजन आदि आडम्बरों को बढ़ावा दे रहा है। परिणाम यह है कि धर्मस्थानों पर भी हम भोगों के संस्कारों को ही प्रगाढ़ कर रहे हैं। धर्म का मूल सम्बन्ध तो सदाचार से है, लेकिन हम धर्म के नाम पर आचारहीन होते जा रहे हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में सादगीपूर्ण ढंग से धर्म करने पर जोर देते हुए कहा गया है[58] – धर्म की धुरा को खींचने के लिए धन की क्या आवश्यकता है? धर्म के लिए तो सदाचार ही अपेक्षित है, लेकिन हमने आज धर्म की बागडोर धनवानों को सौंप दी है।

(3) धर्म को मनोरंजन का साधन माना जा रहा है –

आज धर्म करने का अर्थ केवल कुछ समय का मनोरंजन मात्र है। जैसे मनोरंजन के लिए व्यक्ति हास्य, गपशप आदि करता है, वैसे ही धार्मिक–स्थलों पर भी वह धार्मिक तम्बोला, अन्ताक्षरी आदि खेलों द्वारा अपना मनोरंजन करता है। तीर्थ स्थानों को भी पिकनीक–स्पॉट अथवा हिल–स्टेशन जैसा मानकर घूमने–फिरने जाता है। धार्मिक सभाओं में भी उपदेश–श्रवण के लिए नहीं, अपितु मन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहलाने के लिए जाता है। कई लोग तो तीर्थों या गुरुजनों के दर्शनार्थ जाते हुए भी रास्ते में ताश खेलते हैं, म्युजिक सुनते हैं और धर्मशालाओं आदि के शुद्ध भोजन को छोड़कर होटल एवं हाथ–ठेलों में बनी अशुद्ध वस्तुओं को चाव से खाते हैं आदि–आदि। परिणाम यह है कि इन्हें धर्म का वास्तविक लाभ नहीं मिल पाता। जो धर्म आत्मिक–शान्ति का साधन है, वही धर्म फुरसत के क्षणों में सस्ता मनोरंजन करने का साधन बन जाता है। पुण्य कर्म के बजाए पाप कर्मों को संचित करने का माध्यम बन जाता है। जैनशास्त्रों में इन पापों की प्रगाढ़ता के बारे में चेतावनी देते हुए कहा गया है[59] –

अन्य स्थाने कृतं पापं, धर्मस्थाने विमुच्यते।
धर्मस्थाने कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति।।

अर्थात् दूसरे स्थानों पर किया गया पाप तो धर्मस्थानों पर दूर हो सकता है, परतु धर्मस्थानों पर जिस पाप का सेवन किया जाता है, उससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है, वह तो वज्र के लेप के समान दृढ़ हो जाता है।

(4) आज धर्म को व्यावसायिक दृष्टि से देखा जा रहा है –

वर्त्तमान युग में व्यक्ति का नजरिया पूरी तरह व्यावसायिक (Professional) हो गया है। वह हर समय अपने भौतिक–लाभ के अवसर खोजता रहता है। धर्म को भी वह आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में अपनी उन्नति के लिए अपनाता है। वह यह मानता है कि धर्म करने से मुझे पद, पैसा, प्रतिष्ठा, यश–कीर्त्ति आदि सब कुछ मिल जाएगा। यही कारण है कि वह नौकरी, विवाह, पुत्र–प्राप्ति, अर्थलाभ आदि के लिए जप–तपादि करता है और मनोरथ की पूर्त्ति होने पर दानादि करने का संकल्प भी करता है। यद्यपि वह इसे धर्म मानता है, परन्तु वास्तव में यह धर्म नहीं व्यापार है। इसे जैनाचार्यों ने अज्ञान–क्रिया कहा है, जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति धर्म के माध्यम से आध्यात्मिक उन्नति कर पाने से वंचित रह जाता है। प्रत्युत अन्धविश्वास एवं अन्धरूढ़ियों का पोषण कर मिथ्यात्व को मजबूत करता रहता है।

(5) धर्म को सामाजिक एवं राजनीतिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति का माध्यम माना जा रहा है –

मान–सम्मान की भूख वर्त्तमान युग में सर्वत्र बढ़ती जा रही है। इसे मिटाने के लिए व्यक्ति धर्म से भी जुड़ता है। वह धर्म के बहाने समाज के सदस्यों के साथ सम्पर्क एवं सम्बन्ध बनाता है। पहले कार्यकर्त्ता के रूप में अपनी सामाजिक पहचान बनाता है और फिर अधिक यश–कीर्त्ति पाने हेतु विशेष दानादि देकर अपने नाम की तख्ती लगवाता है। धर्म–क्षेत्रों में अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए जोड़–तोड़ करता है एवं न्यासी, अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सचिव आदि पदों की प्राप्ति हेतु दौड़–धूप करता है। इस प्रकार वह धर्म नहीं करते हुए भी राजनीतिक लाभ उठाने के लिए धर्म करने का दिखावा करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति स्वयं और समाज दोनों को छलता है। वह पुण्यशाली कहलाते हुए भी पापार्जन ही करता है। वह न उपासना–पद्धति के प्रति समर्पित होता है और न ही अंतरंग भावों को परिष्कृत कर पाता है।

(6) लौकिक धर्म को ही लोकोत्तर धर्म माना जा रहा है –

धर्म के दो प्रकार हैं – लौकिक एवं लोकोत्तर।[60] पहला व्यक्ति को सामाजिक जीवन या व्यावहारिक जीवन जीने की कला सिखाता है और दूसरा आध्यात्मिक जीवन अर्थात् मोक्ष–मार्ग पर चलने की कला सिखाता है। आज कुछ लोग केवल लौकिक धर्म को ही सम्पूर्ण मान रहे हैं। उनकी दृष्टि में केवल अल्प उपासना या मानवीय–व्यवहार ही धर्म की इतिश्री है, इससे ऊपर जीवन का कोई साध्य नहीं। परिणाम यह निकलता है कि मानव से महामानव बनने की जो योग्यता प्राप्त हुई है, उसका सदुपयोग नहीं हो पाता। ऐसे व्यक्ति भले ही राष्ट्रीय, पारिवारिक, व्यावसायिक आदि बाह्य (लौकिक) कर्त्तव्यों का निर्वाह कर लें, लेकिन आत्मिक कर्त्तव्यों से वंचित रह जाते हैं। उनके भीतर क्षमा, मृदुता, सरलता, निर्लोभता आदि सद्गुणों का समुचित विकास नहीं हो पाता। वस्तुतः, साध्य की सीमितता से सद्गुणों की उपलब्धि भी सीमित हो जाती है। हम लौकिक धर्मानुयायी से उस गुणवत्ता के क्षमादि सद्गुणों की अपेक्षा नहीं कर सकते, जो लोकोत्तर सत्पुरूषों में होते हैं।

(7) एकांगी धर्म को ही सर्वांगीण माना जा रहा है –

धर्म तभी सफल है, जब उसमें सर्वांगीणता हो। वर्त्तमान युग की विडम्बना यह है कि धर्मानुयायियों की संख्या तो बढ़ रही है, किन्तु इनमें से अधिकांश धर्म के किसी एक पहलू को ही पकड़कर बैठे हुए हैं। श्रीमद्राजचंद्र कहते हैं कि कोई क्रिया–जड़ होकर केवल बाह्य कर्म–काण्ड में अनुरक्त है, तो कोई शुष्क–ज्ञानी होकर अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करता है।[61] वस्तुतः धर्म के निकट पहुँचकर भी सर्वांगीणता के अभाव में भावात्मक सुधार न हो पाने से ज्ञानियों को इन्हें देखकर करुणा आती है। सोचा जा सकता है कि यदि कोई जप–तप, माला–पाठ, प्रतिक्रमणादि क्रियाओं को यन्त्र के समान करता रहे और उसके जीवन में अहिंसा, अनाग्रह एवं अपरिग्रह की वृत्ति न हो, तो क्या इसे धर्म कहा जाए? कार्यों को तोता–रटन के समान करता रहे और उसके जीवन में मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भावना न हो, तो क्या उसे धर्म कहा जाए? उत्तर स्पष्ट है कि इन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता।

धर्म न होने पर भी आज एकांगी धर्म साधना का ही बोलबाला है। इसका परिणाम यह है कि अपने समय, सामर्थ्य एवं संसाधनों का प्रयोग करके भी व्यक्ति धर्म का यथोचित लाभ नहीं ले पा रहा है, वह उस अन्धे या लंगड़े व्यक्ति के समान है, जो चाहता हुआ भी अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(8) अक्रमिक विकास को ही धर्म माना जा रहा है –

प्रबन्धन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है – कार्य में क्रमबद्धता का होना। सफलता तभी मिलती है, जब हम कार्य को क्रमबद्ध ढंग से सम्पादित करते हैं। यही नियम धार्मिक–विकास के लिए भी लागू होता है। जैनधर्मदर्शन में इस हेतु गुणस्थान सिद्धान्त निर्दिष्ट है, जिसमें स्पष्टतया बताया गया है कि किस व्यक्ति को किस भूमिका में, किस प्रकार का धार्मिक व्यवहार करना योग्य है। इसी आधार पर स्थूल रूप से धर्म को दो प्रमुख भागों में बाँटा गया है – गृहस्थधर्म एवं मुनिधर्म।[62]

वर्त्तमान युग की यह विडम्बना है कि धर्माभिलाषीजन इस क्रमिक व्यवस्था का ही अपलाप करने में लगे हैं। वे कभी अपनी भूमिका से नीचे आकर, तो कभी ऊँची छलांग लगाकर धर्मकृत्य कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, कोई गृहस्थ भावावेश में आकर मासक्षमण (एक मास का उपवास) कर लेता है, तो वही गृहस्थ बाद में तम्बाकू सेवन की वृत्ति का त्याग नहीं कर पाता। इसी प्रकार कोई श्राविका प्रतिदिन प्रतिक्रमण (दोष त्यागने की क्रिया) तो करती है, लेकिन छोटी–छोटी घटनाओं से विचलित हो जाती है इत्यादि।

इसका दुष्परिणाम यह है कि व्यक्ति का अंतरंग (भावात्मक) धार्मिक विकास व्यवस्थित ढंग से नहीं हो रहा है। अनियोजित एवं अक्रमिक पुरुषार्थ करने से वह लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर पा रहा है। जैनकथानकों में पंद्रह सौ तापसों का वर्णन मिलता है, जिन्होंने बोधि (सम्यग्ज्ञान) प्राप्ति के बिना ही कठोर साधना करते हुए स्वयं को दुर्बल एवं कृशकाय कर डाला, परन्तु साधना की सिद्धि नहीं हो सकी। जब उन्हें गुरु गौतमस्वामी का समागम एवं प्रतिबोध प्राप्त हुआ, तो अल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त हो गई।[63] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है – अज्ञानपूर्वक (अक्रमिक) किए जाने वाले बाल–तप से लाखों–करोड़ों जन्मों में जितने कर्म खपते हैं, उतने कर्म ज्ञानपूर्वक साधना करने से श्वासमात्र में खप जाते हैं।[64]

अतएव अक्रमिक धार्मिक विकास का प्रयास भी अनियोजित जीवनशैली का परिचायक है।

इस प्रकार, उपर्युक्त सभी तथा विस्तार–भय से अकथित अन्य कई विसंगतियों को सुधारना जीवन–प्रबन्धक का एक आवश्यक कर्त्तव्य बन जाता है। इस हेतु जैनदृष्टि के आधार पर आगे चर्चा की जा रही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12.5 जैनधर्म एवं जैनआचारमीमांसा के आधार पर धार्मिक–व्यवहार –प्रबन्धन

जैनधर्म एवं जैनआचारमीमांसा में धार्मिक व्यवहार प्रबन्धन के दो पक्ष बताए हैं – सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक। जहाँ सैद्धान्तिक पक्ष धार्मिक–व्यवहारों का सम्यक् नियोजन करने हेतु सूत्र प्रदान करता है, वहीं प्रायोगिक पक्ष उन सूत्रों को सफलतापूर्वक जीवन में क्रियान्वित करने हेतु मार्गदर्शन देता है। दोनों पक्षों का सम्यक् समन्वय करके ही धार्मिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। कहा भी गया है – जिस प्रकार एक पहिए से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार मात्र ज्ञान या मात्र आचरण से लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती, लक्ष्य प्राप्ति के लिए दोनों का समन्वय जरुरी है।[65]

12.5.1 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक पक्ष

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए सर्वप्रथम हमें सैद्धान्तिक पक्ष के माध्यम से धर्म के बारे में अपने ज्ञान और दृष्टिकोण को समीचीन करना होगा। हमें यह समझना होगा कि धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन क्या है? क्यों आवश्यक है? इसके लिए किन साधनों को स्वीकार करना चाहिए और किनका परिहार करना चाहिए? इत्यादि। वस्तुतः, जैनदृष्टि में सदैव ज्ञान को प्राथमिकता दी गई है। दशवैकालिकसूत्र में स्पष्ट कहा है कि प्रथम ज्ञान होना आवश्यक है, उसके पश्चात् अहिंसा आदि जीवन–व्यवहार।[66] धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन हेतु जिन सिद्धान्तों को जानना आवश्यक है, वे इस प्रकार हैं –

12.5.2 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन क्या है?

जीवन को धर्ममय बनाने की प्रक्रिया ही धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन है, किन्तु इसका अर्थ केवल जादू–टोने अथवा अन्धरूढ़ि एवं अन्धविश्वास पर आधारित कुछ अनुष्ठान करना नहीं है। यह भी सोचना गलत होगा कि पूजा, अर्चनादि कुछ धर्म–कृत्यों को करने मात्र से हमारा धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन सम्बन्धी दायित्व पूर्ण हो जाएगा। वस्तुतः, धार्मिक व्यवहारों के प्रबन्धन का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जिससे गुजर कर हमारे जीवन में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का सम्यक् विकास हो सके।

इस प्रक्रिया के अन्तर्गत तीन कार्य क्रमशः करने योग्य हैं –

1) अशुभ भावों से निवृत्त होना, जैसे – क्रोध, ईर्ष्या, वैर, हिंसा, अहंकार एवं अन्य स्वार्थपरक (दोषपूर्ण) व्यवहार।
2) शुभ भावों में प्रवृत्त होना, जैसे – दया, करुणा, कोमलता, सरलता, स्वाध्याय, भक्ति आदि सद्व्यवहार।
3) शुद्ध भावों का अभ्यास करना यानि आत्मरमणता, स्वरूप रमणता, साक्षीभाव, ज्ञाता–दृष्टा भाव, अकषायगुण आदि का प्रयत्न करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12.5.3 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन, आखिर क्यों?

यह प्रश्न उठ सकता है कि जीवन में धार्मिक व्यवहारों का प्रबन्धन करने की आखिर क्या आवश्यकता है? यदि हम इसे न करें, तो क्या अन्तर पड़ेगा? जैनदृष्टि से विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि जिस प्रकार हमें व्यापारादि बाह्य क्रियाकलापों का प्रबन्धन आवश्यक लगता है, उसी प्रकार धार्मिक व्यवहारों का प्रबन्धन या सम्यक् नियोजन करना भी हमारे जीवन का एक आवश्यक कर्त्तव्य है और यदि हम ऐसा नहीं करते हैं, तो हमारे जीवन में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का ही अभाव हो जाएगा।

जैनपरम्परा में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि हम सम्यक् प्रबन्धन के अभाव में धर्माचरण से रहित होकर जीवन–यापन करते हैं, तो हमारा जीवन निष्फल है और इसके विपरीत धर्माचरणपूर्वक बिताया गया जीवन सफल हो जाता है।[67] आशय यह है कि सफलता का मापदण्ड अर्थ एवं भोग सम्बन्धी उपलब्धियाँ नहीं, अपितु धार्मिक व्यवहारों का सम्यक् विकास करना है। अतः यदि कोई चाहे कि मैं जीवन के आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, शारीरिक आदि अन्य व्यवहारों को प्रबन्धित करके धार्मिक व्यवहारों का प्रबन्धन कर लूँगा, तो ऐसे जीवों को सावचेत करते हुए धर्मकृत्यों को प्राथमिकता देने के लिए कहा गया है। दशवैकालिक में स्पष्ट कहा है – 'जब तक बुढ़ापा नहीं आता, व्याधियाँ नहीं बढ़ती, इन्द्रियाँ शिथिल नहीं होती, तब तक सम्यक्तया धर्माचरण कर लेना चाहिए।'[68] उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें अध्याय में बारम्बार यह बताने का प्रयास किया गया है कि मनुष्य–जीवन नश्वर, दुर्लभ एवं कई प्रकार की बाधाओं से युक्त है, अतः धर्माराधन में एक क्षण का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

जैनाचार्यों ने धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए आत्म–जागृति बनाने पर जोर इसीलिए दिया है, क्योंकि यदि हम इनका प्रबन्धन नहीं करेंगे, तो इस जीवन में प्राप्त नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के विकास की योग्यता निष्फल हो जाएगी और इसके परिणामस्वरूप हम शुद्ध भावों से वंचित रहते हुए शुभ भावों से भी नीचे गिर जाएँगे, फिर हमारा जीवन–यापन एकमात्र अशुभ भावों में ही होगा।

अशुभ भावों से संचालित होकर हमारा बाह्य व्यवहार भी अशुभ हो जाएगा, जिसमें केवल अर्थ एवं भोग की प्रधानता होगी। हमारे व्यवहार में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह – इन पाँचों अधर्मों (पाप) का अनियंत्रित सेवन होगा। इस प्रकार, 'यह मेरे पास है और यह मेरे पास नहीं है, यह मुझे करना है और यह मुझे नहीं करना है' – ऐसा अर्थ–भोग सम्बन्धी विचार करते–करते ही एक दिन कालरूपी चोर प्राणहरण कर लेगा।[69]

इस प्रकार से व्यतीत किए जाने वाले जीवन का जैनदृष्टि के आधार पर सम्यक् विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया जाए, तो निम्नलिखित निष्कर्ष हमारे सामने आते हैं –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ **सामाजिक जीवन का अस्त–व्यस्त होना** – जीवन में धार्मिक–व्यवहारों का सम्यक् प्रबन्धन न होने से व्यक्ति का व्यवहार स्वार्थपरक हो जाता है, जिससे वह अन्यों के साथ उचित व्यवहार भी नहीं कर पाता है। जीवन में क्रोध, मान, छल–कपट, विश्वासघात, ईर्ष्या आदि दोषों के कारण सम्बन्धों में दरारें आती रहती हैं और अक्सर क्लेश–कलह का वातावरण बना रहता है।

★ **मानसिक अशान्ति होना** – यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि धर्म का वर्त्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः, धर्म तो नगद का सौदा है, जो तत्काल मानसिक शान्ति देता है, परन्तु जीवन में धर्म का सम्यक् प्रबन्धन न होने से व्यक्ति आकुल–व्याकुल होता रहता है। कहा भी गया है – धर्म का फल तो उसी समय मिलता है, क्योंकि जैसे ही मोह टूटता है, तृष्णा छूटती है, चाह और चिन्ता कम हो जाती है, वैसे ही मन शान्ति और आनन्द से भर जाता है, यही तो धर्म का फल है।[70]

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जिसको कछु न चाहिए, वह शाहन का शाह।।[71]

★ **इहलौकिक दुःखों की प्राप्ति होना** – नैतिक एवं आध्यात्मिक सद्गुणों के अभाव में व्यक्ति की आत्म–नियन्त्रण की क्षमता समाप्त हो जाती है और वह अमर्यादित व्यवहार भी कर बैठता है। मानवता का ह्रास हो जाने से वह कई बार लोक–विरुद्ध कार्य कर लेता है, जिससे अर्थ–हानि, अपयश, अनादर, तिरस्कार, दण्ड आदि भी प्राप्त होते हैं। अतः स्पष्ट है कि जो सम्यक् धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन करेगा, उसे कभी भी इन अवांछनीय स्थितियों का सामना नहीं करना पड़ेगा।

★ **पारलौकिक दुःखों की प्राप्ति होना** – जैनशास्त्रों में कहा गया है – मनुष्य जन्म मूलधन के समान है और जीवात्मा व्यापारी के समान है। यदि जीवात्मा सम्यक् धर्ममय व्यवहार करे, तो उत्तरोत्तर स्वर्ग एवं मोक्ष के लाभ की प्राप्ति कर सकता है, किन्तु यदि वह अधर्ममय व्यापार (व्यवहार) करे, तो मूलधन को गवाँकर नरक और तिर्यंच रूप दुर्गतियों को भी प्राप्त कर सकता है। आशय यह है कि अशुभ भावों से पाप–कर्मों का बन्धन होता है, जो दुर्गतियों में ले जाकर कष्ट और पीड़ा देता है।[72] वस्तुतः यह धार्मिक व्यवहार का सम्यक् प्रबन्धन नहीं करने का दुष्परिणाम है।

★ **जीवन के किसी भी क्षेत्र में सम्यक् विकास का न हो पाना** – व्यक्ति जीवन के शैक्षणिक, आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक आदि प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रगति चाहता है, किन्तु सम्यक् धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन न होने से उसकी मानसिक एवं शारीरिक ऊर्जा का सही दिशा में नियोजन नहीं हो पाता। वह 'अनर्थदण्ड' (अप्रयोजनभूत क्रिया) में ही पुण्योदय से प्राप्त सामग्रियों का अपव्यय कर देता है, जिससे उचित जीवन–लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती और वह जीवन में सम्यक् प्रगति नहीं कर पाता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त बिन्दुओं से स्पष्ट है कि धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन की जीवन में नितान्त आवश्यकता है। यही वह माध्यम है, जिसके द्वारा हम जीवन का सम्यक् प्रबन्धन कर सकते हैं। यदि हम धार्मिक व्यवहारों का जीवन में उचित प्रबन्धन नहीं करेंगे, तो यह निश्चित है कि शिक्षा, समय, शरीर, वाणी, मन, पर्यावरण, समाज आदि जीवन के विविध पहलुओं का भी सम्यक्–प्रबन्धन सम्भव नहीं होगा।

12.5.4 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन कैसे–कैसे किया जाता है?

धार्मिक–व्यक्तित्व का सम्यक् निर्माण करने के लिए हमें धर्म को समग्रता से स्वीकार करना होगा। केवल एकपक्षीय धर्म कभी सफल नहीं हो सकता। इस हेतु जैनआचारशास्त्रों में निर्दिष्ट धार्मिक–व्यवहारों को उनके विविध आयामों के साथ ग्रहण करना होगा। दूसरे शब्दों में, हमें यह जानना आवश्यक होगा कि धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन कैसे–कैसे होता है और इसके विविध आयामों के क्या–क्या लाभ हैं? इससे ही हमें अपनी भूमिकानुसार सम्यक् धर्मविधि के चयन की सही समझ आएगी। धर्म–साधना के विविध आयाम इस प्रकार हैं –

(1) धर्म उपासनात्मक भी है और आचरणात्मक भी है

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए जैन–परम्परा में धर्म के दो रूपों का वर्णन मिलता है – उपासनात्मक एवं आचरणात्मक। यदि गहराई में जाकर देखें, तो निश्चित ही उपासनात्मक धर्म का महत्त्व समझ में आता है। इसके दो विभाग हैं – ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक। ये दोनों विभाग उन साधनों के समान हैं, जिनसे आचरणात्मक धर्मरूपी साध्य की सिद्धि सम्भव है, परन्तु यदि हम साधन को ही साध्य मान लेंगे, तो कहीं न कहीं धर्म हमारे व्यवहार में चरितार्थ नहीं हो पाएगा और इसीलिए धर्म का जीवन में लाभ भी दृष्टिगोचर नहीं होगा। वस्तुतः, हमें उपासनात्मक धर्म का सम्यक् साधन की तरह प्रयोग करके आचरणात्मक धर्म को जीवन में उतारना होगा।

इन दोनों का सम्यक् समन्वय करने हेतु हमें उपासनात्मक धर्म के द्वारा धार्मिक–मूल्यों का ज्ञान प्राप्त कर उसके आधार पर जीवन के दृष्टिकोण में सकारात्मक परिवर्त्तन करना होगा और अन्ततः आचरणात्मक धर्म के द्वारा जीवन–व्यवहार में धर्म को उतारना होगा। यह निम्न सारणी से स्पष्ट है –

धर्म के प्रकार	विविध कार्य	उद्देश्य	सदृश
1) उपासनात्मक			
क) ज्ञानात्मक	स्वाध्याय (सत्संग) – वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परावर्त्तना, धर्मकथा आदि।	सैद्धान्तिक शिक्षा की प्राप्ति	Like theoretical study in the classroom
ख) क्रियात्मक	देवपूजा, गुरु–उपासना, सामायिक, प्रतिक्रमण, जप–तप, पौषध आदि।	प्रायोगिक शिक्षा की प्राप्ति	Like practical study in the laboratory/workshop
2) आचरणात्मक	कर्त्तव्य–सजगता, विकट परिस्थिति में समता, जीवन व्यवहार में क्षमादि गुणों का समावेश आदि।	धर्मशिक्षा का जीवन में प्रयोग	Like implementation of various studies in the practical life

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) धर्म लौकिक भी है और लोकोत्तर भी है

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए जैनशास्त्रों में दो प्रकार के धर्मों का पालन करने का निर्देश भी मिलता है – लौकिक धर्म एवं लोकोत्तर धर्म।[73] लौकिक धर्म का सम्बन्ध परिवार, समाज एवं राष्ट्र के प्रति दायित्वों के शान्तिपूर्वक निर्वाह से है, जबकि लोकोत्तर धर्म का सम्बन्ध आत्मिक कर्त्तव्यों के निर्वाह से है। चूँकि मुनिवर्ग आत्म–कल्याण के लिए पूर्ण संकल्पित एवं समर्पित होता है, अतः उसे लोकोत्तर धर्म का सम्यक् पालन करना होता है, परन्तु गृहस्थवर्ग के लिए यह आवश्यक है कि वह लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों धर्मों का सम्यक् पालन करे।

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के अन्तर्गत जिन लौकिक एवं लोकोत्तर धर्मों के मध्य गृहस्थ वर्ग को सन्तुलन बनाना आवश्यक है, उनके कुछ मुख्य बिन्दु जैनशास्त्रों के आधार पर इस प्रकार है –

(क) लौकिक धर्म – सप्तव्यसन का त्याग करना, पूर्व निर्दिष्ट ग्रामादि दस धर्मों का पालन करना, नीतिपूर्वक व्यापार करना, शिष्टाचारपूर्वक जीना, समान कुल वाले किन्तु अन्य गोत्रीय के साथ विवाह करना, देश में प्रचलित आचार–संहिता का पालन करना, शासन के अधिकारी आदि की निन्दा नहीं करना, सत्पुरूषों की संगति करना, माता–पिता की सेवा करना, समाज–निन्दित कार्य नहीं करना, सांप्रदायिक दुराग्रह नहीं रखना, उचित उत्तरदायित्व का निर्वाह करना, उपकारी के प्रति कृतज्ञ रहना, सेवा–सहयोग आदि से सबका प्रिय बनना, पीड़ितों पर दया करना, मार्गानुसारी गुणों का पालन करना इत्यादि।

(ख) लोकोत्तर धर्म – मुक्ति मार्ग का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना, वस्तुस्वरूप के बारे में सम्यक् दृष्टिकोण बनाना, कषायविजय का निरन्तर अभ्यास करना, यथाशक्ति अणुव्रतों अथवा महाव्रतों को ग्रहण करना इत्यादि।

धार्मिक–व्यवहारों के सम्यक् प्रबन्धन के लिए जीवन–प्रबन्धक को निम्न बिन्दु विचारने योग्य हैं –

- ★ यदि वह मुनि की भूमिका में है, तो उसे लोकोत्तर धर्म के प्रति निष्ठावान् रहना चाहिए एवं अनावश्यक लौकिक धर्म को कर्त्तव्य के रूप में ओढ़ने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।
- ★ यदि वह गृहस्थ है, तो लौकिक कर्त्तव्यों में ही पूरा जीवन नहीं बीता देना चाहिए, वरन् लोकोत्तर कर्त्तव्यों के निर्वाह के लिए भी उचित समय एवं ऊर्जा बचानी चाहिए।
- ★ गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी लोकोत्तर साधना के द्वारा अपनी आकांक्षाओं एवं माँगों को सीमित करते जाना चाहिए, जिससे लौकिक धर्म–निर्वाह की आवश्यकता भी सीमित होती चली जाए।

इस प्रकार, जीवन में क्रमशः लौकिक धर्म को सम्यक्तया सीमित करते हुए लोकोत्तर धर्म की निरन्तर अभिवृद्धि करते जाना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) धर्म निषेधात्मक भी है एवं विधेयात्मक भी है

धार्मिक–व्यवहार के सम्यक् प्रबन्धन हेतु धर्म के पुनः दो पक्ष हैं – निषेधात्मक धर्म एवं विधेयात्मक धर्म। निषेधात्मक धर्म उन साधनों (कारकों) के प्रयोग का निषेध करता है, जो हमारे नैतिक–आध्यात्मिक विकास में बाधक हों, जैसे – सप्तव्यसन, तामसिक–गरिष्ठ भोजन, देश–विरुद्ध कार्य, क्रोधादि मनोवृत्तियाँ इत्यादि। विधेयात्मक धर्म उन साधनों के प्रयोग हेतु प्रेरित करता है, जो नैतिक–आध्यात्मिक विकास में सहायक हों, जैसे – धर्म–श्रवण, आत्म–चिन्तन, अर्हद्–भक्ति, गुरु–उपासना, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि।

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन की समग्रता के लिए इन दोनों धर्मों का पारस्परिक समन्वय अत्यावश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसीलिए सम्यक् धर्ममार्ग की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि साधक को जहाँ एक ओर असत्प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिए, वहीं दूसरी ओर सत्प्रवृत्तियों का ग्रहण भी करना चाहिए।[74]

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के इच्छुक साधक के लिए निम्न बिन्दु विचारणीय हैं –

★ यदि वह निषेधात्मक साधनों का परित्याग किए बिना विधेयात्मक साधनों का प्रयोग करता है, तो उसे सफलता नहीं मिल सकती, क्योंकि उसकी उचित पात्रता ही नहीं होती। आध्यात्मिक सन्त देवचंद्रजी ने कहा भी है[75] –

प्रीति अनंती पर थकी, जे तोड़े हो ते जोड़े एह।
परम पुरूषथी रागता, एकत्वता हो दाखी गुण गेह।।

अर्थात् भक्त भगवान् ऋषभदेवजी से प्रीति तो करना चाहता है, किन्तु सच्ची प्रीति नहीं कर पाता। कारण यह है कि अनन्तकाल से पर–पदार्थों से हो रही प्रीति को तोड़े बिना परमात्मा से प्रीति नहीं हो सकती। वस्तुतः, जो पर–प्रीति का त्यागकर परमात्म–प्रीति का प्रयत्न करे, उसमें तन्मय हो जाए, वह स्वयं सद्गुणों का भण्डार बन जाएगा। आशय यह है कि निषेधात्मक धर्म का पालन किए बिना विधेयात्मक धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, उदाहरणार्थ –

- महाबल कुमार (मल्लिनाथ भगवान् का पूर्व भव) ने मुनि अवस्था में अनशन तप किया, किन्तु सूक्ष्म माया का त्याग नहीं हो सका।
- कोई व्यक्ति सत्संग में जाने के बावजूद भी लाभान्वित नहीं होता, क्योंकि वहाँ भी उसे धूम्रपान की तलब सताती है।

★ यदि वह केवल निषेधात्मक धर्म को ही पूर्ण मान लेता है, तो भी उसका धर्म समीचीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विधेयात्मक धर्म के अभाव में वह उचित नैतिक एवं आध्यात्मिक सद्गुणों का विकास नहीं कर सकता, उदाहरणार्थ –

- कमठ ने संसार तो छोड़ा, पर सद्धर्म को स्वीकार नहीं किया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

- कोई व्यक्ति भोजन का त्याग (लंघन) तो करता है, लेकिन अपने उस समय को टी.वी. देखने या मित्रों के साथ गपशप करने में बिता देता है।

वस्तुतः त्यागने योग्य एवं ग्रहण करने योग्य दोनों धर्मसाधनों का परस्पर समन्वय स्थापित करना अत्यावश्यक है, अन्यथा धार्मिक–व्यवहार प्रबन्धन सफल नहीं हो सकता। इन दोनों का इस प्रकार समन्वय करना चाहिए कि हमारे नैतिक–आध्यात्मिक मूल्यों का सम्यक् विकास हो सके।

(4) धर्म पराश्रित भी है और स्वाश्रित भी है

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए धर्म को पुनः दो रूपों में भी दर्शाया गया है – पराश्रित (व्यवहार) धर्म और स्वाश्रित (निश्चय) धर्म। धर्म का वह प्रकार, जिसमें साधक मन–वचन–काया का आलम्बन लेकर शुभ भावपूर्वक स्व–धर्म की प्राप्ति के लिए साधना करता है, पराश्रित धर्म कहलाता है। यह धर्म अशुभ भावों एवं लौकिक धर्म के अन्तर्गत किए जाने वाले शुभ भावों की तुलना में श्रेयस्कर है। इसके अन्तर्गत शुभ भावपूर्वक किए जाने वाले धर्मकृत्य, जैसे – अहिंसादि व्रतों का पालन, स्वाध्याय, चिन्तन–मनन, भक्ति आदि आते हैं।

धर्म का दूसरा प्रकार स्वाश्रित धर्म है, जो आत्मा के आश्रित होता है, यह आत्मा का सहज स्वभाव है और इससे अतीन्द्रिय सुख की अनुभूति होती है। यह आत्मा के समस्त व्यवहारों का साध्य है। शुभ भावपूर्वक किए जाने वाले पराश्रित धर्म के अनन्तर रागादि दोषों से रहित होने वाली आत्म–रमणता की दशा स्वाश्रित–धर्म है, इस दशा में आत्मा ज्ञाता–दृष्टा रूप अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर लेती है। प्रवचनसार में इसका लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा का समत्वभाव है, वही धर्म (स्वाश्रित) है।[76]

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए निम्न बिन्दु विचारणीय हैं –

★ साधक का परमधर्म स्वाश्रित धर्म ही है, किन्तु इसकी पात्रता विकसित करने के लिए पराश्रित धर्म का आलम्बन भी आवश्यक है।

★ पराश्रित धर्म का आलम्बन इस प्रकार से लेना चाहिए कि अशुभ भावों से निवृत्ति हो सके, शुद्ध भावों (स्वाश्रित धर्म) की पात्रता विकसित हो सके, साथ ही शुभ भावों को ही साध्य मानने की भूल न हो।

(5) धर्म द्रव्यात्मक भी है और भावात्मक भी है

जैनदृष्टि में धार्मिक व्यवहारों के दो रूप इस प्रकार भी होते हैं – द्रव्यात्मक एवं भावात्मक। जहाँ द्रव्यात्मक धर्म का सम्बन्ध केवल वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों से जुड़ा है, वहीं भावात्मक धर्म अंतरंग आत्मिक अनुभूतियों से सम्बद्ध है, जैसे – करबद्ध होकर मस्तक झुकाकर **'णमो अरिहंताणं'** का उच्चारण करना द्रव्यात्मक धर्म है और उसके अर्थ–भावार्थ का चिन्तन करना, अरिहन्त परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करना, उनके जैसा बनने का मनोरथ करना एवं उनके समान ज्ञाता–दृष्टा भाव में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहने का प्रयत्न करना – ये सभी भावात्मक धर्म के उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त परिणाम हैं।

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए यह मानना आवश्यक है कि भावात्मक धर्म ही वास्तविक धर्म है और यही साध्य है। फिर भी इसकी प्राप्ति हेतु निमित्त या साधन होने से द्रव्यात्मक धर्म को भी औपचारिक रूप से धर्म की संज्ञा दी जाती है। अध्यात्मयोगी श्रीमद्देवचन्द्र ने द्रव्य–धर्म की साधनता और भाव–धर्म की साध्यता को निम्न पंक्तियों के द्वारा दर्शाया है[77] –

द्रव्यथी पूजारे कारण भावनुं रे, भाव प्रशस्त ने शुद्ध

अर्थात् न्हवण, विलेपनादि द्रव्य–पूजा भावों की उत्पत्ति का कारण है, ये भाव पहले प्रशस्त (गुणियों के प्रति अनुराग) तथा बाद में शुद्ध (आत्म–रमणता) रूप को प्राप्त होते हैं।

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए व्यक्ति के समक्ष निम्न चार विकल्प होते हैं –

	भाव अशुद्ध	भाव शुद्ध
द्रव्य अशुद्ध	×	×
द्रव्य शुद्ध	×	✓

इनमें से चौथा विकल्प (भाव शुद्ध–द्रव्य शुद्ध) ही सर्वश्रेष्ठ है।[78] अतः शुद्ध द्रव्यात्मक धर्म रूपी साधन का पालन करते हुए शुद्ध भावात्मक धर्म को प्राप्त करना प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक का कर्त्तव्य है।

(6) धर्म प्रवृत्तिरूप भी है और निवृत्तिरूप भी है

जैनशास्त्रों में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति – ये द्विविध धर्मरूपों का उल्लेख भी मिलता है। वस्तुतः, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों सापेक्ष हैं। एक ही समय में व्यक्ति किसी क्रिया से निवृत्ति लेता है और किसी क्रिया में प्रवृत्त होता है, जैसे – राग–द्वेष से निवृत्ति होती है और समता में प्रवृत्ति होती है। ये प्रवृत्ति या निवृत्ति जब नैतिक–आध्यात्मिक उच्चता का कारण बनती हैं, तब धर्म कहलाती हैं और जब निम्नता का कारण बनती हैं, तब अधर्म कहलाती हैं। अतः कहा जा सकता है कि केवल प्रवृत्ति ही अधर्म नहीं होती, निवृत्ति भी अधर्म हो सकती है और इसी प्रकार केवल निवृत्ति ही धर्म नहीं होती, प्रवृत्ति भी धर्म हो सकती है। धार्मिक व्यवहार–प्रबन्धन के लिए यह आवश्यक होगा कि व्यक्ति अधर्म से निवृत्ति ले एवं धर्म में प्रवृत्ति करे।[79]

यह उल्लेखनीय है कि यदि वह अधर्म से निवृत्ति लेने पर भी धर्म में प्रवृत्ति नहीं करता है अथवा अधर्म से निवृत्ति लिए बिना धर्म में प्रवृत्ति की चेष्टा करता है, तो उसे उचित लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ – कोई अवकाश के दिन व्यवसाय से तो निवृत्ति ले लेता है, किन्तु दिनभर खाने–पीने, सोने–भोगने या टी.वी. देखने आदि में प्रवृत्त हो जाता है अथवा कोई सामायिक आदि धर्मकृत्य में प्रवृत्त होता है, किन्तु सामायिक करते हुए भी निन्दा आदि अधार्मिक प्रवृत्तियों से निवृत्त नहीं होता – ये दोनों स्थितियाँ उसके नैतिक–आध्यात्मिक उत्थान के लक्ष्य को प्राप्त कराने में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपयोगी नहीं बन पाती। अतः व्यक्ति को विवेकपूर्वक प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की उचितता का ध्यान रखकर अपने धार्मिक व्यवहारों का प्रबन्धन करना चाहिए। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति धर्म का सुन्दर समन्वय हमें आवश्यक–सूत्र के एक पाठ (नमो चउवीसाए) में मिलता है, जिसका उपयोग प्रत्येक श्रमण–श्रमणी को प्रतिदिन सुबह–शाम करना होता है, वह पाठ है –

मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि।
अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि।
अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि।

इसका भावार्थ है – 'मैं मिथ्यात्व का परित्याग करता हूँ और सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ। मैं अबोधि का परित्याग करता हूँ और बोधि को स्वीकार करता हूँ। मैं अज्ञान का परित्याग करता हूँ और सम्यग्ज्ञान को स्वीकार करता हूँ।'[80]

(7) धार्मिक–मूल्य शाश्वत् (उत्सर्गरूप) भी हैं और पारिस्थितिक (अपवादरूप) भी है

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए हमें धर्म को पुनः दो प्रकार से ग्रहण करना चाहिए – शाश्वत् एवं पारिस्थितिक। यदि धार्मिक मूल्यों को सर्वथा नित्य एवं अपरिवर्त्तनशील मान लिया जाए, तो भी विसंगति उत्पन्न होती है और यदि सर्वथा परिवर्त्तनशील व्यवस्था के रूप में ग्रहण किया जाए, तो भी विसंगति उत्पन्न होती है। पहले में जहाँ धर्म की लोचपूर्णता ही समाप्त हो जाती है, वहीं दूसरे में धर्म के स्थायी मूल्यों के अस्तित्व को ही खतरा होने लगता है, अतः अनेकान्तदृष्टि के अनुसार, धर्म के दोनों ही रूपों को स्वीकारना आवश्यक है। वस्तुतः, जो धर्म का अंतरंग पक्ष है, जो सारतत्त्व है और जो मूलस्वरूप है, उसे शाश्वत् मानना चाहिए, जबकि जो धर्म का बाह्य रूप है, निमित्त साधन है, जो देश, काल, स्वशक्ति एवं परिस्थिति के सापेक्ष है, उसे पारिस्थितिक मानना चाहिए।

क्र.	धर्म के शाश्वत् मूल्य	धर्म के पारिस्थितिक मूल्य
1)	आत्मा है और वह नित्य है।	पर्व–त्यौहार एवं उन्हें मनाने की विधियाँ, रहन–सहन, खान–पान, वेशभूषा एवं रीति–रिवाज, बाह्य शिष्टाचार एवं अभिवादन, पूजा–भक्ति आदि की पद्धतियाँ, लोक–प्रसिद्ध आचार व्यवस्था आदि।
2)	**शरीर जड़ है, आत्मा से भिन्न है।**	
3)	संसार परिभ्रमण का कारण कर्म है।	
4)	**राग–द्वेष एवं अज्ञान कर्म के मूल हैं।**	
5)	व्यक्ति स्वयं से ही सुखी और स्वयं से ही दुःखी होता है।	
6)	**समता सुख रूप है, राग–द्वेष दुःख रूप हैं।**	
7)	अहिंसा आदि पाँचों व्रत धर्म के आधार हैं।	
8)	**सही जानना, मानना एवं जीना मोक्ष का मार्ग है।**	
9)	जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है आदि।	

जैनशास्त्रों में इन्हें क्रमशः उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग के रूप में भी जाना जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्न बिन्दुओं को जानना धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए आवश्यक है –

- ★ व्यक्ति को धर्म के बाह्य साधनों का दुराग्रह नहीं रखते हुए विवेकपूर्वक लचीला रुख अपनाना चाहिए।
- ★ धर्म के अंतरंग साधनों के प्रति अनिश्चयात्मक स्थिति नहीं रखते हुए पूर्ण स्थिर एवं सन्देहरहित रहना चाहिए।
- ★ धर्म के बाह्य साधनों का आश्रय लेकर अंतरंग साधनों तक पहुँचना चाहिए एवं परिपूर्ण धार्मिक भावात्मक विकास करना चाहिए।

(8) धर्म विश्वास और विज्ञान (प्रज्ञा) दोनों पर आधारित है

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति विश्वास और विज्ञान दोनों का सम्यक् समन्वय करे। एक ओर वह प्रज्ञा (विज्ञान) के द्वारा सत्य का निश्चय करे और दूसरी ओर वह निर्णीत सत्य के प्रति पूर्ण निष्ठा (विश्वास) रखे।

यदि वह विज्ञान (प्रज्ञा) का अपलाप कर केवल विश्वास (निष्ठा) की नींव पर धर्म की इमारत खड़ी करने का प्रयत्न करता है, तो वह इमारत कभी टिक नहीं सकेगी। जैनाचार्यों ने उस विश्वास को कभी सम्यक् नहीं माना, जिसमें सम्यग्ज्ञान का आधार न हो।[81] उत्तराध्ययनसूत्र में इसीलिए कहा गया है कि प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करो और तत्त्व का निर्णय करो **(पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छियं)**।[82] अन्यत्र भी कहा है – ज्ञान से ही तत्त्वबोध होता है[83] और ज्ञान से ही मुनि हुआ जाता है।[84] सूत्रकृतांगसूत्र में तो प्रज्ञाहीन मनुष्य को नेत्रहीन मनुष्य की उपमा देते हुए कहा गया है कि वह शास्त्र के समक्ष रहकर भी सत्य का दर्शन नहीं कर पाता।[85] सन्त आनन्दघनजी की यह पंक्ति भी ज्ञानहीन आचरण की निरर्थकता को दर्शाती है[86] –

चरम नयण करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सकल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोइये रे, नयण ते दिव्य विचार।।

इसी प्रकार, यदि कोई विश्वास (श्रद्धा) का अपलाप कर केवल कुतर्क एवं कुयुक्ति के द्वारा बौद्धिक विलास ही करे, तो भी यह उसका धर्म नहीं हो सकता। जैनाचार्यों ने उस ज्ञान को भी सम्यक् नहीं कहा है, जिसके साथ सम्यक् विश्वास (दृष्टिकोण) का समन्वय न हो।[87] विश्वास के महत्त्व को दर्शाते हुए कहा गया है कि जैसे 'एक' (संख्या) के बिना शून्य की कोई कीमत नहीं है और संख्या के साथ मिलते ही शून्य भी मूल्यवान् हो जाता है, वैसे ही यह मानना होगा कि सम्यक् दृष्टिकोण के बिना ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है और सम्यक् विश्वास होते ही ज्ञान भी सम्यक् बन जाता है। सन्त आनन्दघनजी ने इन विश्वास रहित विद्वानों पर कटाक्ष करते हुए कहा है[88] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तर्क विचारे रे वाद परम्परा रे, पार न पहुंचे कोय।
अभिमते वस्तु रे वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय।।

सार कथन है कि धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए व्यक्ति को विज्ञान एवं विश्वास – दोनों का सम्यक् सामंजस्य स्थापित करना अत्यावश्यक है।

इस प्रकार, धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए व्यक्ति को विभिन्न रूपों में धर्म को समझना आवश्यक है, जिससे वह हर समय अपनी भूमिकानुसार उचित–अनुचित का भेद करके उचित व्यवहार का पालन कर सके।

12.5.5 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए उपयुक्त स्थान क्या हो?

जैन–परम्परा में किसी भी कार्य की सफलता के लिए चार कारकों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। ये हैं – द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव। इससे स्पष्ट है कि क्षेत्र अर्थात् स्थान का भी उचित चयन करना आवश्यक है। यद्यपि परिपक्व जीवन–प्रबन्धक किसी भी क्षेत्र में रहकर अपनी साधना कर सकता है।*

परन्तु सामान्य जीवन–प्रबन्धक को साधनानुकूल देश एवं काल की आवश्यकता पड़ती है, अन्यथा प्रतिकूल स्थानों पर रहकर उसके नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का पतन भी हो सकता है।

जैन–परम्परा में इसी कारण साधनानुकूल स्थानों की व्यवस्था की जाती है, जैसे – जिनालय, गुरुमन्दिर, पौषधशाला (उपाश्रय/स्थानक), आश्रम, तीर्थस्थान, ग्रन्थालय, शोधकेन्द्र, सेवासंस्थान इत्यादि। यहाँ आकर व्यक्ति को सुदेव, सुगुरु एवं सद्धर्म (सत्शास्त्र) और इनके अनुयायियों का सम्यक् सान्निध्य प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त, जैन श्रावक अपने निवास स्थान पर भी उपासना–कक्ष आदि बनाते हैं, जहाँ पवित्रता और एकान्त का विशेष ध्यान रखा जाता है।

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के सम्यक् सन्तुलन हेतु यह आवश्यक है कि व्यक्ति उपर्युक्त धर्म–स्थानों पर आकर अपनी पूर्व निर्दिष्ट ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक दोनों प्रकार की उपासना करे और द्रव्यात्मक धर्म का आलम्बन लेकर भावात्मक धर्म तक पहुँचने का प्रयत्न करे। वह यहाँ आकर लौकिक एवं लोकोत्तर – दोनों प्रकार के धर्मों को जानने और जीने का अभ्यास करे। निषेधात्मक धर्म–साधनों का त्याग तथा विधेयात्मक धर्म–साधनों का प्रयोग करने हेतु संकल्पित हो और अन्ततः अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य की प्राप्ति करे।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उपर्युक्त धर्मस्थानों में धार्मिक शिक्षाओं – ग्रहणात्मक (Theoretical) एवं आसेवनात्मक (Practical) की प्राप्ति होती है। इनसे प्राप्त शिक्षाओं को

---

* आचारांगसूत्र (1/8/1/202) में भी कहा गया है – गामे वा अदुवा रण्णे। नेव गामे नेव रण्णे, धम्ममायाणह।।
अर्थात् धर्म गाँव में भी हो सकता है और अरण्य (वन) में भी, क्योंकि वस्तुतः धर्म का सम्बन्ध न गाँव से है और न अरण्य से, वह तो अन्तरात्मा से है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन–व्यवहार में अपनाना ही वास्तव में श्रेष्ठ धर्म है। यह कहा जा सकता है कि शिक्षार्जन उपासनात्मक या ग्रहणात्मक धर्म है और जीवन–व्यवहार सुधारना आचरणात्मक या आसेवनात्मक धर्म है। उपासनात्मक धर्म के लिए तो स्थानों का निर्धारण किया जाता है, किन्तु आचरणात्मक धर्म तो प्रसंगस्थल पर ही सजगता के साथ निभाना होता है। आचरणात्मक धर्म को कसौटी पर कसते हुए एवं स्थान–निरपेक्ष बताते हुए कहा गया है – जो दुःखों की प्राप्ति में भी दुःखी नहीं होता, सुख की प्राप्ति में भी जो लालसारहित रहता है, जिसके मन में ममत्व, भय एवं क्रोध समाप्त हो चुके हैं, वही धार्मिक है, स्थितप्रज्ञ है एवं मुनि है।[89] ज्ञानसार में भी कहा गया है – जो मन–वचन–काया की स्थिरता को प्राप्त हो चुके हों, वे ग्राम में रहें अथवा जंगल में, दिवस हो अथवा रात्रि, उनकी समता बनी ही रहती है।[90]

12.5.6 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए उपयुक्त समय क्या हो?

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन की सफलता के लिए व्यक्ति को समयानुसार धार्मिक–व्यवहार करना अत्यावश्यक है। कहा भी गया है – **'काले कालं समायरे'** अर्थात् उचित समय पर उचित कार्य करना ही योग्य है।[91]

जैसा कि हमने पूर्व में देखा है कि धर्म के दो रूप हैं – उपासनात्मक एवं आचरणात्मक। इनमें से आचरणात्मक धर्म के लिए समय का कोई बन्धन नहीं होता, वह प्रतिसमय आचरणीय है, जबकि उपासनात्मक धर्म सदैव समय सापेक्ष होता है। जैन–परम्परा में विविध उपासनाओं को नियत काल में सम्पादित करने का विधान है, जैसे – देवदर्शन एवं पूजन (त्रिकाल), गुरु समागम (त्रिकाल), प्रतिक्रमण (प्रातः एवं सायं), चौदह नियम (प्रातः एवं सायं), प्रत्याख्यान ग्रहण (प्रातः एवं सायं), आत्मचिन्तन (प्रातः एवं रात्रि), तीर्थयात्रा (वर्ष में कम से कम एक बार) इत्यादि। जैन–परम्परा में मूलतः धार्मिक उपासनाओं को दैनिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं वार्षिक कर्त्तव्यों के रूप में विभक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त पर्वतिथियों पर विशेष–विशेष उपासना करने का विधान भी है।

इस प्रकार, इन सैद्धान्तिक पक्षों का निरन्तर अनुशीलन कर जीवन–प्रबन्धक को अपने धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन का सम्यक् नियोजन (Planning) करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12.6 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन का प्रायोगिक पक्ष

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए जितना महत्त्व सैद्धान्तिक पक्ष का है, उतना ही प्रायोगिक पक्ष का भी मानना चाहिए। प्रायोगिक पक्ष के माध्यम से ही वे सूत्र प्राप्त होते हैं, जिन्हें जीवन–व्यवहार में आचरित कर व्यक्ति धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। वस्तुतः, प्रायोगिक पक्ष को आचरण में अपनाए बिना सैद्धान्तिक पक्ष से प्राप्त ज्ञान केवल सूचनात्मक ही रह जाता है, उसकी जीवन में कोई उपयोगिता नहीं रहती। कहा भी गया है – जैसे करोड़ो दीपक जलाने पर भी अन्धे व्यक्ति को प्रकाश नहीं मिल सकता, वैसे ही प्राप्त ज्ञान को आचरण में लाए बिना जीवन–लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।[92]

धार्मिक व्यवहारों का सम्यक् प्रबन्धन करने हेतु जिस प्रक्रिया को जीवन–व्यवहार में लाना होगा, वह इस प्रकार है –

12.6.1 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन का उद्देश्य निर्माण करना

सर्वप्रथम इस चेतना को जाग्रत करना आवश्यक है कि 'मुझे जीवन में धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन करना ही है।' यह प्रबन्धन उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार जीवन में व्यापार, कार्यालय आदि का प्रबन्धन आवश्यक है। इस हेतु बारम्बार सम्यक् धार्मिक–व्यवहारों की जीवन में क्या उपयोगिता है, इसका चिन्तन करना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र के दसवें अध्याय में गौतम स्वामी के माध्यम से मानवमात्र को धर्माचरण के लिए सजग होने का बारम्बार उपदेश दिया गया है। कभी जीवन की नश्वरता, अस्थिरता, दुर्लभता आदि को देखकर, तो कभी इन्द्रिय–बल की क्षीणता, बाधक तत्त्वों की त्याज्यता आदि को समझकर अखण्ड रूप से धर्म में रत रहने का निर्देश दिया गया है। बृहत्कल्पभाष्य में भी कहा गया है[93] – 'धर्माचरण करने में शीघ्रता करनी चाहिए, क्षणभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि जीवन का क्षण–क्षण विघ्नों से भरा है। इसमें एक सन्ध्या की भी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।' वस्तुतः यह चेतना ही धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन की दिशा में आगे बढ़ने का बल प्रदान करती है।

12.6.2 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के सही लक्ष्यों एवं नीतियों का निर्माण करना

जैनशास्त्रों में दो बातों के निर्धारण को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है – लक्ष्य एवं लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग।[94] धार्मिक व्यवहारों के सम्यक् प्रबन्धन के लिए इन दोनों के सम्बन्ध में सजगता होना अत्यावश्यक है, जैसे धागे में पिरोई हुई सूई गुम नहीं होती, वैसे ही सम्यक् लक्ष्य एवं उसके मार्ग को जानने वाला साधक उन्मार्गगामी नहीं होता।

उपाध्याय यशोविजयजी ने साफ शब्दों में कहा है कि धार्मिक अनुष्ठान स्वयं अपने आप में शुद्ध ही होता है, किन्तु अनुष्ठान करने वाले साधकों का आशय एवं अध्यवसाय अलग–अलग होने से वह पाँच प्रकार का हो जाता है[95] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ विष–अनुष्ठान – इहलोक के आहार, ऋद्धि आदि सुखों की आकांक्षा से किया जाने वाला धार्मिक व्यवहार।

★ गरल–अनुष्ठान – परलोक में दिव्यभोगों की अभिलाषा से किया जाने वाला धार्मिक व्यवहार।

★ अननुष्ठान – उद्देश्यविहीन होकर यन्त्रवत् किया जाने वाला धार्मिक व्यवहार।

★ तद्हेतु–अनुष्ठान – नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास (मोक्ष) के लक्ष्य से किया जाने वाला सामान्य धार्मिक व्यवहार।

★ अमृत–अनुष्ठान – सहजतापूर्वक शुद्ध भावों के साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य से किया जाने वाला विशेष धार्मिक व्यवहार।

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के लिए केवल इसकी चेतना जाग्रत करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु सम्यक् लक्ष्यपूर्वक धार्मिक–व्यवहारों को सम्पन्न करना भी अत्यावश्यक है। उपर्युक्त पाँच प्रकार के अनुष्ठानों में से प्रारम्भिक तीन अनुष्ठानों का सर्वथा त्याग करके अन्तिम दो अनुष्ठानों का ग्रहण करना जीवन–प्रबन्धक का पुनीत कर्त्तव्य है। इन दोनों में भी अमृत–अनुष्ठान को श्रेष्ठ माना गया है।

अमृत–अनुष्ठान अथवा तद्हेतु–अनुष्ठान को लक्षित करने वाले साधक को अपनी धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन की योजनाओं में निम्नलिखित बिन्दुओं को स्थान देना चाहिए –

★ जीवन में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का समुचित विकास हो।

★ जीवन का भावात्मक पक्ष परिष्कृत हो (अशुभ→शुभ→शुद्ध)।

★ धार्मिक–व्यवहारों के द्वारा जीवन–प्रबन्धन के सभी लक्ष्यों की पूर्त्ति हो।

उपर्युक्त लक्ष्यों की सम्यक् प्राप्ति हेतु धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धक को जीवन में निम्नलिखित नीतियों (Policies) का निर्धारण करना भी आवश्यक है –

★ आचरणात्मक एवं उपासनात्मक (ज्ञानात्मक–क्रियात्मक) धर्मों में परस्पर सन्तुलन हो। इनमें भी उपासनात्मक धर्म के द्वारा शिक्षण–प्रशिक्षण प्राप्त करके आचरणात्मक धर्म के रूप में उनका प्रयोग करने की नीति हो।

★ लौकिक एवं लोकोत्तर धर्म भी परस्पर एक–दूसरे के विरोधी न बनें, अपितु इन्हें पृथक्–पृथक् रखकर प्रयोग करने की नीति हो।

★ द्रव्यात्मक धर्म से परहेज भी न हो और उसे ही सम्पूर्ण मानने की भ्रान्ति भी न हो, उसे भावात्मक धर्म की प्राप्ति के लिए साधन रूप में प्रयोग करने की नीति हो।

★ प्रवृत्ति और निवृत्ति – इन दोनों क्रियाओं का परस्पर सामंजस्य स्थापित करने वाली नीति हो, जिससे ये दोनों क्रियाएँ मिलकर धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के कार्यों को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हों।

★ पराश्रित धर्म को साधन बनाकर स्वाश्रित धर्म रूपी साध्य तक पहुँचने की नीति हो।

★ विज्ञान एवं विश्वास – इन दोनों का उचित समन्वय हो, जिससे न स्वच्छन्दता का पोषण हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(विश्वास के अभाव में) और न अन्धविश्वास का संवर्द्धन हो (विज्ञान के अभाव में)।

- ★ निषेधात्मक धर्म के द्वारा निषिद्ध साधनों के प्रति हेयदृष्टि एवं विधेयात्मक धर्म के द्वारा अनुशंसित साधनों (Recommanded Means) के प्रति उपादेयदृष्टि हो।
- ★ धर्म के शाश्वत् मूल्यों को पूर्ण रूप से अंगीकार करने एवं पारिस्थितिक मूल्यों को देश, काल, शक्ति एवं परिस्थिति के आधार पर ग्रहण करने की नीति हो।
- ★ धार्मिक–व्यवहार इस प्रकार से सम्पादित हो कि अर्थ एवं काम के नियंत्रित सेवन में बाधा न हो और क्रमशः मोक्ष–साध्य की ओर बढ़ा जा सके।
- ★ सामाजिक जीवन–व्यवहार में धर्म, अर्थ एवं काम परस्पर अविरोधी हों, किन्तु अपरिहार्य बाधक परिस्थिति उत्पन्न होने पर काम एवं अर्थ की तुलना में धर्म का संरक्षण करने वाली नीति हो **(धर्मो रक्षति रक्षितः)**।
- ★ धार्मिक–व्यवहार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के सम्यक् प्रबन्धन के लिए सहयोगी बने, जैसे – शिक्षा–प्रबन्धन, समय–प्रबन्धन, शरीर–प्रबन्धन, अभिव्यक्ति (वाणी)–प्रबन्धन, तनाव एवं मनोविकार–प्रबन्धन, पर्यावरण–प्रबन्धन, समाज–प्रबन्धन, अर्थ–प्रबन्धन, भोगोपभोग–प्रबन्धन एवं आध्यात्मिक–प्रबन्धन।

इस प्रकार, उपर्युक्त नीतियों का सजगतापूर्वक पालन करने से धार्मिक जीवन के व्यवहारों का प्रबन्धन सम्यक् दिशा में अग्रसर हो सकता है।

12.6.3 उपासनात्मक साधनों का सम्यक् उपयोग करना

आत्म–सजगतापूर्वक धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के सही लक्ष्यों तथा नीतियों का निर्धारण करके यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति धार्मिक व्यवहारों का सम्यक् शिक्षण–प्रशिक्षण प्राप्त करे। इस हेतु उसे उपासनात्मक पद्धति को अपनाना चाहिए। उपासनात्मक पद्धति के द्वारा उसे ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं और ये शिक्षाएँ ही उसके नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का आधार होती हैं।

(1) ज्ञानात्मक साधनों का सम्यक् प्रयोग

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन हेतु ज्ञान–प्राप्ति एक अनिवार्य आवश्यकता है। जैनधर्म में इस हेतु अनेक व्यवस्थाएँ हैं। प्राथमिक स्तर पर व्यक्ति को चाहिए कि वह प्रवचन, सत्संग (स्वाध्याय), शिविर, पाठशाला, संगोष्ठी (सेमीनार) आदि के माध्यम से ज्ञानार्जन करे। जैनशास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य जीवन पाने के बाद भी उत्तम धर्म का श्रवण कर पाना अत्यन्त कठिन है,[96] अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह पूर्ण निष्ठा एवं रुचि के साथ धर्म–श्रवण के अवसर का लाभ उठाए। इस हेतु व्यक्ति को उन तेरह कारणों से बचना होगा, जो धर्म–श्रवण करने में बाधक होते हैं[97] – 1) आलस्य, 2) मोह, 3) अवज्ञा, 4) अभिमान, 5) क्रोध, 6) प्रमाद, 7) कृपणता, 8) भय, 9) शोक, 10) अज्ञान, 11) उपेक्षा, 12) कुतूहल और 13) अरमणता। स्थानांगसूत्र में भी धर्म–श्रवण के लिए बाधा रूप दो बातों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख किया गया है, जिनसे साधक को बचना चाहिए[98] – 1) महारम्भ (अतिहिंसा), 2) महापरिग्रह।

जैसे–जैसे व्यक्ति का ज्ञानात्मक–स्तर बढ़ता है, वैसे–वैसे उसे धर्म–श्रवण के साथ–साथ सम्यक् दृष्टिकोण का विकास करने की भी आवश्यकता होती है[99] और इस हेतु चिन्तन–मनन करना अनिवार्य है।

जैन–परम्परा में यह व्यवस्था भी है कि व्यक्ति परिपक्व होने पर स्वयं शास्त्राध्ययन करे। जैनाचार्यों ने जैन साहित्य के चार विभाग किए हैं – 1) धर्मकथानुयोग, 2) गणितानुयोग, 3) द्रव्यानुयोग एवं 4) चरण–करणानुयोग।[100] इन सभी का सन्तुलित अध्ययन करके व्यक्ति अपने ज्ञान को और अधिक समृद्ध कर सकता है। धर्मकथानुयोग से महापुरूषों की आदर्श कथाओं का पठन कर विनय, विवेक, सत्य, संयम, समता, क्षमा, सरलता आदि सद्गुणों को जीवन में अंगीकार करने की प्रेरणा मिलती है। गणितानुयोग से स्वयं के दोषों एवं उनके दुष्परिणामों को जानकर उनसे दूर हटने की प्रेरणा मिलती है। द्रव्यानुयोग से जड़–चेतन या आत्म–अनात्म का सम्यक् बोध होकर विभाव से स्वभाव में आने की कला प्राप्त होती है। चरण–करणानुयोग से आचार–व्यवस्था का बोध होकर अपनी भूमिकानुसार उचित में उचित आचरण करने की प्रेरणा मिलती है।

इन चारों अनुयोगों में द्रव्यानुयोग प्रधान है, जिससे जीव–अजीव, आस्रव–संवर (शुभाशुभ भावों का आगमन – आस्रव एवं उनका आंशिक निषेध – संवर), बन्ध–निर्जरा (शुभाशुभ भावों का आत्मा में ठहराव – बन्ध एवं उनका आंशिक क्षय – निर्जरा), संसार–मोक्ष आदि के स्वरूप का ज्ञान होता है। इस ज्ञान बल पर ही आत्म–अनात्म का विवेक होकर आत्मज्ञान एवं आत्मस्थिरता की प्राप्ति होती है।

(2) क्रियात्मक साधनों का सम्यक् प्रयोग

धार्मिक जीवन के व्यवहार का सम्यक् प्रबन्धन करने हेतु विविध क्रियाओं का प्रयोग करना भी एक आवश्यक कार्य है। ये क्रियाएँ यन्त्रवत् न होकर पूर्ण तन्मयता एवं समझ के साथ होनी चाहिए। प्राथमिक स्तर पर यह सम्भव है कि इन क्रियाओं को करते हुए समझ की कमी रह जाए, किन्तु जीवन–प्रबन्धक को शनैः–शनैः इन क्रियाओं को ज्ञानपूर्वक पूर्ण करने का लक्ष्य रखना चाहिए।

जैन–परम्परा में भिन्न–भिन्न भूमिकाओं के साधकों के लिए जिन–जिन क्रियाओं को करने का विधान किया गया है, वे इस प्रकार हैं –

(क) अर्हद्–भक्ति – जैन–परम्परा में अरिहन्त अवस्था को जीवन की सर्वोच्च शुद्ध दशा माना गया है। इस अवस्था को प्राप्त आत्माओं का आलम्बन लेकर इनके प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाना जीवन–प्रबन्धक का कर्त्तव्य है और यही अर्हद्–भक्ति है। देवदर्शन, वन्दन, पूजन, बहुमान, गुणगान, नामस्मरण आदि अनुष्ठान अर्हद्–भक्ति के ही विविध रूप हैं। वस्तुतः, इन धर्मकृत्यों में परमात्मा के प्रति समर्पण का उद्देश्य सांसारिक ऋद्धि–सिद्धि नहीं, अपितु परमात्मा के समान सद्गुणों की प्राप्ति होना चाहिए **(वन्दे तद्गुणलब्धये)**। कहा गया है[101] –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अज कुलगत केसरी लहे रे, निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ते भवि लहे रे, आतम शक्ति संभाल।।

आशय यह है कि प्रभु की भक्ति करते हुए भव्यात्मा को अपनी आत्म–शक्तियों का सहज ही बोध हो जाता है।

(ख) गुरु–उपासना – जैन–परम्परा में संयममय जीवन जीने वाले पंचमहाव्रतधारी साधु–साध्वी को गुरूपद पर आसीन किया गया है। ये अपने जीवन को श्रेष्ठ तरीके से प्रबन्धित करते हुए उत्कृष्ट पद अर्थात् अरिहन्त पद एवं तत्पश्चात् सिद्धपद (मोक्ष) की प्राप्ति के पुरूषार्थ में संलग्न रहते हैं। धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के अन्तर्गत व्यक्ति को गुरु के दर्शन, वन्दन, पूजन, नामस्मरण, उपदेश–श्रवण आदि विविध उपासनाएँ करने का निर्देश दिया गया है। विशेषता यह है कि गुरु–उपासना का उद्देश्य सांसारिक कामनाओं की पूर्त्ति नहीं, अपितु गुरु के निकट रहकर उनसे जीवन–प्रबन्धन का मार्गदर्शन प्राप्त करना है।

(ग) माला, जाप एवं ध्यान – जैन–परम्परा में मन को एकाग्र एवं शान्त करने के लिए माला, जाप एवं ध्यान की पद्धति भी बताई गई है। व्यक्ति को चाहिए कि वह अपनी मानसिक स्थिति के आधार पर इनका प्रयोग करे। मन की चंचलता अधिक होने पर माला–जाप करे एवं कम होने पर ध्यान की पद्धति अपनाए। मूलतः माला में कायिक, जाप में वाचिक एवं ध्यान में मानसिक आलम्बन की प्रधानता होती है। इनका प्रयोग करते हुए जैसे–जैसे एकाग्रता बढ़ती है और मनोविकारों का शमन होता है, वैसे–वैसे साधक को ध्यान की निरालम्बन अवस्था को पाने का प्रयत्न करना चाहिए। ध्यान के महत्त्व के बारे में कहा गया है[102] –

अरिहंत पद ध्यातो थको, दव्वह गुण पज्जाय रे।
भेद–छेद करी आतमा, अरिहन्त रूपी थाय रे।।

आशय यह है कि अरिहंत पद का आलम्बन ध्यान करती हुई आत्मा अपने विकारों का छेदन–भेदन करते हुए स्वयं अरिहंत रूप हो जाती है।

(घ) सामायिक – यह समत्व भावों में स्थित होने की क्रिया है। इसके माध्यम से नियत काल तक पाप कार्यों से मुक्त रहकर राग–द्वेष रहित होने का अभ्यास किया जाता है। प्रारम्भिक स्तर पर भले ही इसमें शास्त्र आदि का आलम्बन लिया जाए, लेकिन अन्ततः निरालम्बन रूप आत्म–रमणता की दशा प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य होना चाहिए।

(ङ) प्रतिक्रमण – विभाव दशा का त्याग कर स्वभाव (धर्म) दशा की ओर लौटने का प्रयत्न प्रतिक्रमण है। इसके अन्तर्गत भिन्न–भिन्न तरीकों से अपने दोषों की समीक्षा एवं शुद्धि की जाती है, जैसे – एक प्रकार से असंयम, दो प्रकार से राग–द्वेष, तीन प्रकार से मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायादण्ड इत्यादि के आधार पर भावपूर्वक प्रतिक्रमण करके व्यक्ति न केवल अपने अतीतकालीन दोषों से मुक्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है, अपितु भविष्य के दोषों का भी संकल्पपूर्वक यथाशक्ति त्याग कर देता है। वस्तुतः, प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान आदि दोष--सुधार की प्रक्रिया है, इससे भावों का परिष्कार होता है।

इसी प्रकार अन्य प्रचलित क्रियात्मक साधनों का भी सम्यक् प्रयोग करता हुआ जीवन–प्रबन्धक नैतिक–आध्यात्मिक मूल्यों का विकास कर सकता है।

12.6.4 आचरणात्मक धर्म का सम्यक् निर्वाह करना

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन की अन्तिम कसौटी आचरणात्मक धर्म है। आचरणात्मक धर्म के बिना उपासनात्मक धर्म भी अपूर्ण है। उपासनात्मक धर्म तो केवल साधन है, जिसका साध्य आचरणात्मक धर्म है। व्यक्ति के धर्म की परीक्षा चूँकि प्रतिकूल परिस्थितियों में ही होती है, अतः आचरणात्मक धर्म हमारे जीवन का अनिवार्य अंग बने, ऐसा प्रयत्न निरन्तर होना चाहिए।

जैन–परम्परा में इसीलिए आचार–धर्म के सम्यक् परिपालन हेतु क्रम से निम्नलिखित मापदण्ड निर्धारित किए गए हैं –

★ **सप्त व्यसनों का त्याग करना[103] –**

1) शिकार 2) जुआ 3) चोरी 4) मांसभक्षण 5) मद्यपान 6) वेश्यागमन 7) परस्त्रीगमन

★ **अभक्ष्य और अकल्पनीय वस्तुओं के सेवन का त्याग करना[104] –**

सांयोगिक	महाविगई	फल	टेटा	तुच्छ चीजें	अनंतकाय
1) द्विदल	5) मांस	9) बहुबीज	13) बरगद के फल	18) बर्फ	22) अनंतकाय
2) चलितरस	6) मदिरा	10) बैंगन	14) पीपल के फल	19) ओले	
3) अकल्प्य आचार	7) मधु (शहद)	11) तुच्छफल	15) पिलंखण के फल	20) मिट्टी	
4) रात्रिभोजन	8) मक्खन	12) अनजान फल	16) उदुंबर के फल	21) जहर	
			17) गूलर के फल		

★ **शिष्टाचार के गुणों का पालन करना[105] –**

1) लोकापवाद का भय होना।
2) दीन–दुःखियों के प्रति सहयोग भावना होना।
3) कृतज्ञ होना।
4) निन्दा का परित्याग करना।
5) विज्ञजनों की प्रशंसा करना।
6) विपत्ति में धैर्य रखना।
7) वैभव–प्राप्ति होने पर भी विनम्र रहना।
8) संयमित वाणी–व्यवहार करना।
9) कदाग्रह और विरोध नहीं करना।
10) स्वीकृत कार्य को पूर्ण करना।
11) कुलधर्म का पालन करना।
12) अर्थ का अपव्यय नहीं करना।
13) आवश्यक कार्यों हेतु प्रयत्न करना।
14) श्रेष्ठ कार्यों में संलग्न रहना।
15) प्रमाद का परिहार करना।
16) लोकाचार का पालन करना।
17) अनुचित कार्यों का त्याग करना।
18) निम्नस्तरीय कार्यों से सदा बचना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ मार्गानुसारी के गुणों का पालन करना[106] –

1) न्यायपूर्वक धन–वैभव उपार्जित करना।
2) शिष्टाचार (उत्तम आचरण) का प्रशंसक होना।
3) समान कुल–शील वाले, किन्तु अन्य गोत्रीय के साथ विवाह करना।
4) पापभीरू होना।
5) प्रसिद्ध देशाचार का पालन करना।
6) किसी का भी अवर्णवाद (निन्दा) नहीं करना।
7) घर का न अतिगुप्त होना और न अतिप्रकट होना।
8) मकान में आने–जाने के अनेक द्वार नहीं होना।
9) सदाचारी का सत्संग करना।
10) माता–पिता की सेवा करना।
11) उपद्रव वाले स्थान को छोड़ देना।
12) निन्दनीय कार्य नहीं करना।
13) आय के अनुसार व्यय करना।
14) आय के अनुसार पोशाक धारण करना।
15) बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होकर हमेशा धर्मश्रवण करना।
16) अजीर्ण के समय भोजन का त्याग करना।
17) नियमित समय पर सन्तोषपूर्वक भोजन करना।
18) धर्म, अर्थ और काम – तीनों वर्गों में परस्पर समन्वय करना।
19) अपनी शक्ति के अनुसार अतिथि, साधु एवं दीन–दुःखियों की सेवा करना।
20) मिथ्या–आग्रह से सदा दूर रहना।
21) गुणानुरागी होना।
22) निषिद्ध देशाचार एवं निषिद्ध कालाचार का त्याग करना।
23) बलाबल का सम्यक् ज्ञाता होना।
24) व्रत–नियम में स्थिर ज्ञानवृद्धों की सेवा करना।
25) आश्रितों का पालन–पोषण करना।
26) दीर्घदर्शी होना।
27) विशेषज्ञ होना।
28) कृतज्ञ होना।
29) लोकप्रिय होना।
30) लज्जावान् होना।
31) दयालु होना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

32) शान्तस्वभावी होना।

33) परोपकार करने में कर्मठ होना।

34) काम–क्रोधादि छह अंतरंग शत्रुओं को दूर करने में तत्पर होना।

35) इन्द्रिय–समूह को वश में करना।

इन गुणों से युक्त व्यक्ति गृहस्थ धर्म (देशविरति चारित्र) पालन करने के योग्य बन सकता है।

★ **स्थूल दोषों का त्याग करके श्रावक–व्रतों का पालन करना**[107] –

5 अणुव्रत	**3 गुणव्रत**	**4 शिक्षाव्रत**
1) अहिंसा	1) दिग्व्रत	1) सामायिक
2) सत्य	2) भोगोपभोग परिमाण	2) देसावगासिक
3) अचौर्य	3) अनर्थदण्ड त्याग	3) पौषधोपवास
4) ब्रह्मचर्य		4) अतिथि–संविभाग
5) परिग्रह परिमाण		

★ **ग्यारह प्रतिमा वहन करना**[108] –

1) दर्शन
2) व्रत
3) सामायिक
4) पौषध
5) कायोत्सर्ग या दिवामैथुन विरत
6) ब्रह्मचर्य
7) सचित्त त्याग
8) आरम्भ त्याग
9) प्रेष्यारम्भ त्याग
10) उद्दिष्ट भोजन त्याग
11) श्रमणभूत (मुनिवत् जीवन जीना)

★ **सूक्ष्म दोषों का त्याग करके श्रमण योग्य महाव्रतों का पालन करना**[109] –

1) अहिंसा 2) सत्य 3) अचौर्य 4) ब्रह्मचर्य 5) अपरिग्रह

★ **अष्ट प्रवचन माता का पालन करना**[110] –

3 गुप्ति	**5 समिति**
1) मनोगुप्ति	1) ईर्यासमिति 4) आदान–भाण्ड–मात्र–निक्षेपक्ष समिति
2) वचनगुप्ति	2) भाषासमिति 5) पारिष्ठापनिका समिति
3) कायगुप्ति	3) एषणासमिति

★ **श्रमण धर्म का पालन करना**[111] –

1) उत्तम क्षमा 4) उत्तम शौच 7) उत्तम तप 10) उत्तम ब्रह्मचर्य
2) उत्तम मार्दव 5) उत्तम सत्य 8) उत्तम त्याग
3) उत्तम आर्जव 6) उत्तम संयम 9) उत्तम आकिंचन्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ बारह प्रकार का तप करना[112] –

6 बाह्य तप	6 आभ्यन्तर तप
1) अनशन	1) प्रायश्चित्त
2) ऊणोदरी	2) विनय
3) वृत्ति–परिसंख्यान	3) वैयावृत्य
4) रस–परित्याग	4) स्वाध्याय
5) काय–क्लेश	5) ध्यान
6) प्रतिसंलीनता	6) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)

★ परिषहों पर विजय प्राप्त करना[113] –

1) क्षुधा	5) डांस	9) चर्या	13) वध	17) तृणस्पर्श	21) अज्ञान
2) पिपासा	6) अचेल (अवस्त्र)	10) निषद्या	14) याचना	18) मल	22) असम्यक्त्व
3) शीत	7) अरति	11) शय्या	15) अलाभ	19) सत्कार	
4) उष्ण	8) स्त्री	12) आक्रोश	16) रोग	20) प्रज्ञा	

इस प्रकार, उपर्युक्त क्रम से आगे बढ़ता हुआ जीवन–प्रबन्धक नैतिक–आध्यात्मिक मूल्यों का जीवन–व्यवहार में उचित प्रयोग कर सकता है। उसके जीवन में क्षमा, सन्तोष, सरलता, विनम्रता, विनय, विवेक, धैर्य, सहिष्णुता आदि सद्गुणों का निरन्तर विकास होता चला जाता है। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जिससे दूसरों को पीड़ा हो। जिनशासन का सार भी यही है कि जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए भी करो, जो नहीं चाहते हो, वह दूसरों के लिए भी मत करो।[114] साधना–पथ पर बढ़ता हुआ वह विकट से विकट परिस्थितियों में भी समतापूर्वक जीने में दक्ष हो जाता है। जैनाचार्यों का भी यही सदुपदेश है कि भले ही कोई साथ दे अथवा न दे, लेकिन सद्धर्म का आचरण करना ही चाहिए,[115] क्योंकि धर्म ही सभी प्रकार के सुखों का दाता है।[116]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International

12.6.5 धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के पाँच स्तर

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन की दिशा में अग्रसर होने वाला साधक निम्नलिखित पाँच स्तरों में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अपने लक्ष्य की संप्राप्ति कर सकता है –

1) मन्द स्तर 2) तीव्र स्तर 3) तीव्रतर स्तर 4) तीव्रतम स्तर 5) पूर्ण स्तर

स्तर	कषाय स्थिति	धर्म साधना स्थिति	ज्ञानोपासना धर्म (Aspects of Theoretical Study)	क्रियोपासना धर्म (Aspects of Practical Study)	आचरणात्मक धर्म (Implementation of Various Studies in the Practical Life)
प्रथम	तीव्र	मन्द	अ) प्राथमिक धार्मिक ज्ञानार्जन करना – प्रवचन, सत्संग (स्वाध्याय), पाठशाला, संस्कार–शिविर, तत्त्वज्ञान–शिविर आदि के माध्यम से	अ) विविध धार्मिक आराधनाओं में जुड़ना, जैसे – पर्युषण आदि पर्वाराधना, तीर्थयात्रा, चैत्य–परिपाटी, रथयात्रा, सन्त–आगमन, सन्त–विदाई, दीक्षा जैसे वैराग्यवर्धक/भक्तिवर्धक महोत्सव इत्यादि।	अ) सामान्य रूप से लौकिक धर्म का पालन करना, जैसे – राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, कुलधर्म, संघधर्म आदि। अमानवीय कृत्यों का त्याग करना, जैसे – हत्या, जुआ, चोरी, बलात्कार, वेश्यावृत्ति आदि।
			ब) देव–गुरु–धर्म में विशेष आस्था उत्पन्न होती हो, ऐसे अध्ययन करना।	ब) द्रव्यात्मक रूप से धर्माराधना करना, जैसे – देवदर्शन, देवपूजन, गुरुउपासना, माला, जाप, प्राथमिक ध्यान आदि।	ब) विशेष रूप से लौकिक धर्म का पालन करना, जैसे – वृद्ध, अनाथ, रोगी, दीन–दुःखी आदि साधर्मिकों की तन, मन एवं धन से सेवा करना इत्यादि।
			स) मध्यम धार्मिक ज्ञानार्जन करना – चारों अनुयोगों का सामान्य अध्ययन स्वयं करना एवं गुरुजनों से शंका का समाधान प्राप्त करना आदि।	स) छोटे–छोटे तप, सामायिक, पौषध, चिंतन, मनन आदि से जुड़ने का प्रयत्न करना।	स) शिष्टाचार का पालन करना, मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों का यथाशक्ति पालन करना इत्यादि।

For Personal & Private Use Only

www.jainelibrary.org

Jain Education International

For Personal & Private Use Only

www.jainelibrary.org

		द) उच्च धार्मिक ज्ञानार्जन करना – चारों अनुयोगों का विशेष अध्ययन करना, गहन विषयों का विशेष चिन्तन–मनन करना, दूसरों के साथ विचार–विमर्श करना और उन विषयों को विशेष बल देना, जिनसे मोक्षमार्ग हेतु तत्त्वों की सुविचारणा होती हो।	द) भावात्मक रूप से उपर्युक्त सभी धर्माराधनाओं को प्रारम्भ करना।	द) लोकोत्तर धर्म का प्राथमिक रूप से पालन करना, जैसे – अहिंसा, सत्य, अचौर्यादि धर्मों का अभ्यास करना, यतनापूर्वक जीने का अभ्यास करना इत्यादि।
द्वि तीय	मन्द तीव्र	तत्त्वों का चिन्तन–मनन, अनुप्रेक्षा, ध्यानादि करना, देव–गुरु–धर्म में दृढ़ आस्था बनाना, तत्त्व का सुनिश्चय करना, बारम्बार तात्त्विक शास्त्रों का अध्ययन करना, आत्मबोध की प्राप्ति करना इत्यादि।	उपर्युक्त आराधनाओं के साथ–साथ विशेष रुचि/भावों से देव–गुरु–धर्म की भक्ति करना, आत्मलक्षी होकर माला–जाप–ध्यान आदि अनुष्ठान करना, सामायिक, देसावगासिक, पौषधादि का अभ्यास करना, समय–समय पर स्व निरीक्षण करना, गलतियों का अवलोकन करना एवं सुधारने का विचार करना/भाव रखना इत्यादि।	निष्काम कर्म (अनासक्त भाव) की साधना करना, दीर्घकाल तक वैर–वैमनस्य नहीं रखना, आग्रह छोड़कर सहजता से जीने का अभ्यास करना, कम से कम पापों का सेवन करते हुए जीने का प्रयास करना छोटे–छोटे संकल्प, नियम आदि से जुड़ने का प्रयत्न करना, आत्मबल का विकास करना इत्यादि।
तृ तीय	मन्दतर तीव्रतर	तत्त्वों का विशेष चिन्तन–मनन, अनुप्रेक्षादि करना, भावों को ज्ञानपूर्वक सुधारना, आत्म–जागृति की निरन्तरता का अभ्यास करना, दर्शन–ज्ञान की विशुद्धि हेतु प्रयत्नशील रहना इत्यादि।	उपर्युक्त क्रियाओं के साथ–साथ सांसारिक कार्यों से निवृत्त होकर अधिकाधिक समय धर्माराधना में लगाना, नियमित सामायिक आदि धर्मकृत्य करना जीवन परिष्कृत करने हेतु प्रतिक्रमण, पौषध आदि करना।	स्थूल पापों, स्थूल प्रवृत्तियों एवं कषायों का संकल्पपूर्वक त्याग करना, सूक्ष्म पापों का खेद रखना, व्रतों को अंगीकार करना, प्रतिमा–वहन करना इत्यादि।

च तु र्थ	मन्दतम तीव्रतम	आगमिक साहित्य का विशेष अध्ययन करना, स्व–पर उपयोगी ज्ञान का आदान–प्रदान करना एवं धर्मोपदेश देना, भेदज्ञान प्रेरक शास्त्राभ्यास करना, आत्मस्थिरता की अभिवृद्धि करना, आत्मबोध (स्वानुभूति) की निरन्तरता होवे ऐसे चिन्तन–मनन, अनुप्रेक्षा, ध्यान आदि का विशेष प्रयत्न करना इत्यादि।	द्रव्यात्मक धर्मकृत्य, जैसे – द्रव्यपूजादि से निवृत्ति लेना एवं भावात्मक धर्मकृत्य जैसे – भावपूजादि में नियमतः प्रवृत्त होना, ध्यानादि की विशेष भूमिका प्राप्त करना, आलम्बनात्मक क्रियाओं से निरालम्बनात्मक क्रियाओं की ओर बढ़ना, विशेष रूप से स्वाध्याय, ध्यान, तप आदि में रत रहना इत्यादि।	अशुभ (पाप) कार्यों, सांसारिक सम्बन्धों/संस्कारों/प्रवृत्तियों आदि का पूर्ण रूप से संकल्पपूर्वक परित्याग करना, सूक्ष्म दोषों का सेवन हो जाने पर उनका खेद करना, पंचमहाव्रत अंगीकार करना, अष्टप्रवचन माता का पालन करना, दशविध धर्मों का पालन करना, परिषह–जय का यथाशक्ति प्रयत्न करना, समतापूर्वक जीना, शुभाशुभभाव/आसक्ति/राग–द्वेष आदि आस्रवों से निवृत्त एवं संवर–निर्जरा में प्रवृत्त होना।
पं च म	कषाय पूर्ण शून्य	पूर्णज्ञान अर्थात् केवलज्ञान का प्रकट होना, जिसके पश्चात् बाह्य ज्ञानोपासना की आवश्यकता शेष नहीं रहती।	पूर्णतया आत्मलीन हो जाना, जिसके पश्चात् बाह्य क्रियोपासना की आवश्यकता शेष नहीं रहती।	पूर्ण समत्व भाव में स्थित होकर परमानन्द में लीन हो जाना।

धार्मिक व्यवहार–प्रबन्धन के क्रमिक विकास हेतु जीवन–प्रबन्धक को चाहिए कि वह उपर्युक्त तालिकानुसार अपने स्तर का चयन स्वयं करे और निरन्तर उत्तरवर्ती स्तरों पर पहुँचने का प्रयत्न करे।

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

12.7 निष्कर्ष

इस प्रकार, प्रस्तुत अध्याय में हमने यह जाना कि परम्परागत रूप से धर्म की जो व्याख्याएँ की जाती हैं, वे धर्म को सम्यक्तया स्पष्ट करने में सक्षम नहीं हैं। वस्तुतः, धर्म तो एक अतिव्यापक अवधारणा है, जो केवल बाह्य क्रियाकाण्ड अथवा प्रदर्शनात्मक व्यवहार से नहीं, अपितु अंतरंग नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से सम्बद्ध है। धर्म वास्तव में करने या दिखाने की वस्तु नहीं, यह तो जीने और अनुभूति करने की एक अवस्था है। यह मूलतः सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक व्यवस्था है, जो वस्तु का स्वभाव होने से सदैव योग्यता रूप में बनी ही रहती है।

वर्त्तमान परिवेश में धार्मिक मूल्यों को अनदेखा करने से धार्मिक व्यवहारों में आडम्बर, हिंसा, एकान्तिकता आदि अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न होने लगी हैं, जिससे जीवन में धर्म का यथोचित लाभ नहीं मिल पा रहा। धर्म के वास्तविक मूल्यों को स्थापित करना एक अनिवार्य आवश्यकता बन चुकी है। बिना प्रबन्धन के धार्मिक व्यवहारों को सम्यक् दिशा देना असम्भव है, अतः धार्मिक व्यवहार–प्रबन्धन एक नैतिक ही नहीं, अपितु अनिवार्य कर्त्तव्य के रूप में मानवजाति के समक्ष उभरकर आया है।

धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन हेतु जैनधर्म एवं जैनआचारमीमांसा में अनेकानेक सूत्र विद्यमान हैं। इन सूत्रों (सिद्धान्तों) का सम्यक् अनुशीलन कर व्यक्ति अपने धार्मिक दृष्टिकोण को न केवल सन्तुलित एवं समग्र बना सकता है, अपितु उनका जीवन व्यवहार में समुचित प्रयोग भी कर सकता है। इसे ही हमने धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक – इन दो पक्षों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इन पक्षों के आधार पर जीवन–प्रबन्धक सर्वप्रथम धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन की चेतना जाग्रत करता हुआ सम्यक् लक्ष्यों एवं नीतियों का निर्धारण कर सकता है। तत्पश्चात् उपासनात्मक धर्मसाधना – ज्ञानोपासना एवं क्रियोपासना का प्रयोग करते हुए अपने आपको सम्यक् धार्मिक–व्यवहारों के लिए शिक्षित एवं प्रशिक्षित कर सकता है। अन्ततः वह नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का जीवन–व्यवहार में सम्यक् सम्प्रयोग भी कर सकता है और ऐसा करता हुआ वह जीवन–प्रबन्धन के अन्य पहलुओं को विकसित करने में भी सफलता प्राप्त कर सकता है।

=====❮❁❯=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ. क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	क्या आप धर्म के विविध अर्थों को जानते हैं?		1
2)	क्या आप जीवन में धर्म को महत्त्व देते हैं?		4
3)	क्या आप धर्म साधना के विविध आयामों को जानते हैं?		20
	विकल्प– हमेशा→① अक्सर→② कभी–कभी→③ कदाचित्→④ कभी नहीं→⑤		
4)	क्या आप आलम्बन के स्थान पर आडम्बर को धर्म मानते हैं?		13
5)	क्या आप धर्म को मनोरंजन का साधन मानते हैं?		13
6)	क्या आप धर्म को व्यावसायिक दृष्टि से देखते हैं?		14
7)	क्या आप प्रतिष्ठा के हेतु से धर्म करते हैं?		14
8)	क्या आप लौकिक धर्म को लोकोत्तर धर्म मानते हैं?		15
9)	क्या आप एकांगी धर्म को सर्वांगीण मानते हैं?		15
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
10)	क्या आप भूमिका के अनुसार धर्म करते हैं?		16
11)	क्या आप शुभ–भाव पूर्वक प्रवृत्ति करते हैं?		17
12)	क्या आप शुद्ध–भावों का अभ्यास करते हैं?		17
13)	क्या आप अन्य व्यक्तियों के साथ स्वार्थरहित व्यवहार करते हैं?		19
14)	क्या आपकी मानसिक–शान्ति रहती है?		19
15)	क्या आप ज्ञानात्मक–धर्म में समय व्यतीत करते हैं?		20
16)	क्या आप क्रियात्मक–धर्म में समय व्यतीत करते हैं?		20
17)	क्या आप आचरणात्मक–धर्म का पालन करते हैं?		20
18)	क्या आप लौकिक एवं लोकोत्तर धर्म का पालन करते हैं?		21
19)	क्या आप द्रव्यात्मक एवं भावात्मक धर्म का पालन करते हैं?		23
20)	क्या आप उचित स्थान पर धर्म करते हैं?		27
21)	क्या आप उचित समय पर धर्म करते हैं?		28
22)	क्या आप शिष्टाचार के गुणों का पालन करते हैं?		34
23)	क्या आप मार्गानुसारी के गुणों का पालन करते हैं?		35
24)	क्या आप श्रावक/मुनि व्रतों का पालन करते हैं?		36
25)	क्या आप बारह प्रकार के तप करते हैं?		37
		कुल	

कुल	**0–25**	**26–50**	**51–75**	**76–100**	**101–125**
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
भविष्य में अपेक्षित प्रबन्धन	अत्यधिक	अधिक	अल्प	अल्पतर	अल्पतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 भावसंग्रह, 373
2 पाइयसद्दमहण्णवो, पं.हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ, पृ. 485
3 कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 478
4 भक्तपरिज्ञा, 91
5 आचारांगसूत्र, 1/6/2/4
6 पाइयसद्दमहण्णवो, पं.हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ, पृ. 485
7 प्रवचनसार, 1/7
8 आचारांगसूत्र, 1/8/3/1
9 कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 478
10 वही, 478
11 पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 216
12 दशवैकालिकचूर्णि, जिनदासगणि, पृ. 14
13 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 2
14 सर्वार्थसिद्धि, 9/2/789
15 प्रवचनसार, 7
16 ग्रन्थराजश्रीपंचाध्यायी, 1483
17 डॉ.सागरमलजैन से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर
18 भारतीयजीवनमूल्य, डॉ.सुरेन्द्रवर्मा, पृ. 56, 70
19 दशवैकालिकसूत्र, 1/1
20 तंदूलवैचारिकप्रकीर्णक सटीक, 12
21 वही, 13
22 वही, 14
23 वही, 15
24 उत्तराध्ययनसूत्र, 12/46
25 ज्ञानार्णव:, 2/10/11
26 वही, 2/10/4
27 धम्मसमो नत्थि निही
– वज्जालग्गं, नीइवज्जा 1, पृ. 85
28 आत्मानुशासनम्, 18
29 वही, 19
30 वही, 20
31 वही, 22
32 कर लो जिनवर की पूजन, देवेन्द्रकुमार जैन, पृ. 423
33 आत्मानुशासनम्, 24
34 धर्मबिन्दु, 7/2.6
35 प्रवचनसार, 71
36 अत्थो मूलं अणत्थाणं – मरणसमाधि, 603
37 आचारांगसूत्र, 1/4/1/1
38 धर्म का मर्म, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 3
39 तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
40 डॉ.सागरमलजैन से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर
41 धर्म का मर्म, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 16.17
42 स्थानांगसूत्र, 4/4/627
43 उपासकदशांगसूत्र, 7/227
44 लोकतंत्र : नया व्यक्ति नया समाज, आ.महाप्रज्ञ, पृ. 21
45 स्थानांगसूत्र, 10/135
46 डॉ. सागरमलजैन अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 187
47 धर्म का मर्म, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 57 से उद्धृत
48 भारतीयजीवनमूल्य, डॉ.सुरेन्द्रवर्मा, पृ. 25
49 वही, पृ. 50–56
50 धर्मबिन्दु, 1/50–51
51 परमात्मप्रकाश, 2/3
52 भारतीयजीवनमूल्य, डॉ.सुरेन्द्रवर्मा, पृ. 127–128
53 धर्म का मर्म, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 3
54 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 40, पृ. 173
55 आनंदघन चौबीसी, 14/2
56 सुक्तिमुक्तावली, 82
(कषाय, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 132 से उद्धृत)
57 धर्म : जीवन जीने की कला, सत्यनारायण गोयनका, पृ. 7
58 धणेण किं धम्म धुराहिगारे
– उत्तराध्ययनसूत्र, 14/17
59 बूँद–बूँद से घट भरे, आ.तुलसी, पृ. 57
60 जैनधर्म : जीवन और जगत्, सा.कनकश्री, पृ. 129
61 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि 3–5, पृ. 534
62 स्थानांगसूत्र, 2/1/109
63 कल्पसूत्र, आ.आनंदसागरजी म.सा., पाँचवी वाँचना, पृ. 264–265
64 प्रवचनसार, 238
65 आवश्यकनिर्युक्ति, 102
66 दशवैकालिकसूत्र, 4/33
67 उत्तराध्ययनसूत्र, 14/24.25
68 दशवैकालिकसूत्र, 8/35
69 उत्तराध्ययनसूत्र, 14/15
70 धर्म का मर्म, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 18
71 वही, पृ. 19
72 उत्तराध्ययनसूत्र, 7/14.16
73 जैनधर्म : जीवन और जगत्, सा.कनकश्री, पृ. 129
74 उत्तराध्ययनसूत्र, 31/2
75 श्रीमद्देवचन्द्र, वर्त्तमान चौबीसी, 1/5
76 प्रवचनसार, 7

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

77 श्रीमद्देवचन्द्र, वर्त्तमान चौबीसी, 12/2
78 द्वादशपर्व व्याख्यान, आ. आनन्दसागरसूरिजी, पृ. 3
79 जैनभारती (पत्रिका), सितंबर, 2004, पृ. 10
80 आवश्यकसूत्र, अ. 4, पृ. 70.71
81 तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
82 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/25
83 वही, 28/35
84 वही, 25/32
85 सूत्रकृतांगसूत्र, 1/12/8
86 आनंदघन चौबीसी, 2/2
87 तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
88 आनंदघन चौबीसी, 2/4
89 श्रीमद्भगवद्गीता, 2/56
90 ज्ञानसार, 3/5
91 उत्तराध्ययनसूत्र, 1/31
92 आवश्यकनिर्युक्ति, 98
93 बृहत्कल्पभाष्य, 4675
94 नियमसार, 2
95 अध्यात्मसार, 3/10/2–28
96 उत्तराध्ययनसूत्र, 3/8
97 आवश्यकनिर्युक्ति, 841–842
98 स्थानांगसूत्र, 2/1/52
99 उत्तराध्ययनसूत्र, 3/9
100 दशवैकालिकनिर्युक्ति, 3
101 श्रीमद्देवचन्द्र, वर्त्तमान चौबीसी, 2/4
102 आवश्यकपूजासंग्रह, दीपचन्द नाहटा, पृ. 23
103 समणसुत्तं, 303
104 पंचुंबरि चउविगई हिम–विस–करगे अ सव्व–मट्टि अ।
राइ–भोयणगं चिय बहुं–बीअ अणंत–संधाणा।।
घोलवडा वायंगण अमुणिअ–नामाइं पुप्फ–फलाइं।
तुच्छ–फलं चलिअ–रस वज्जे वज्जाणि बावीसं।।
– अभक्ष्य अनंतकाय विचार, प्राणलालमेहता, पृ. 3
105 धर्मबिन्दु, 1/14
106 योगशास्त्र, 1/47–56
107 तत्त्वार्थसूत्र, 7/1,16
108 आवश्यकसूत्र, अ. 4, पृ. 52,53
109 तत्त्वार्थसूत्र, 7/1
110 उत्तराध्ययनसूत्र, 24/2
111 तत्त्वार्थसूत्र, 9/6
112 वही, 9/19–20
113 वही, 9/9
114 बृहत्कल्पभाष्य, 4584
115 एगे चरेज्ज धम्मं।
– प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/5/164
116 भगवतीआराधना, 1813

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 13

आध्यात्मिक विकास प्रबन्धन

SPIRITUAL DEVELOPMENT MANAGEMENT

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 13

आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन

(Spiritual Development Management)

	Page No. Chap.	Cont.
13.1 आध्यात्मिक विकास का स्वरूप	**1**	**697**
13.2 आध्यात्मिक जीवन में साधक, साधन और साध्य की एकरूपता	**6**	**702**
13.3 जैनधर्म में आध्यात्मिक जीवन के विविध स्तर	**11**	**707**
13.4 आध्यात्मिक साधना में आई विसंगतियाँ एवं बाधाएँ	**19**	**715**
13.5 जैनधर्म और आचारशास्त्र के आधार पर आध्यात्मिक–जीवन–प्रबन्धन	**26**	**722**
13.5.1 आध्यात्मिक–जीवन–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक–पक्ष	26	722
(1) आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन की मूल अवधारणा	26	722
(2) मोक्ष का स्वरूप	27	723
(3) मोक्ष में ही परम सुख	27	723
(4) मोक्ष का मार्ग	29	725
(5) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का स्वरूप	30	726
(6) जैनदृष्टि के आधार पर विश्व–व्यवस्था	32	728
(7) नवतत्त्वों का विषय, जैनदृष्टि का आधार	36	732
13.6 आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन का प्रायोगिक–पक्ष	**39**	**735**
13.6.1 सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास–क्रम	39	735
(1) प्राथमिक भूमिका का निर्माण करना	39	735
(2) सम्यक्त्व–सम्मुखता	40	736
(3) सम्यग्दर्शन के लिए तीव्र प्रयत्न करना	40	736
(4) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का लक्ष्यभेदी प्रयत्न करना	41	737
13.6.2 सम्यक्चारित्र के विकास का अभ्यास–क्रम	41	737
(1) प्राथमिक भूमिका का निर्माण करना	41	737
(2) अनन्तानुबन्धी कषाय से निवृत्त होना	42	738
(3) अप्रत्याख्यानीकषाय से निवृत्त होना	42	738
(4) प्रत्याखानी कषाय से निवृत्त होना	42	738
(5) तीव्र संज्वलन कषाय से निवृत्त होना	43	739
(6) मन्द संज्वलन कषाय से निवृत्त होना	43	739
13.7 निष्कर्ष	**44**	**740**
13.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची (Self Assessment : A questionnaire)	**45**	**741**
सन्दर्भसूची	46	742

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 13

आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन
(Spiritual Development Management)

13.1 आध्यात्मिक विकास का स्वरूप

जीवन–प्रबन्धन के क्षेत्र में आध्यात्मिक–विकास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कोई भी जीवन–प्रबन्धक आध्यात्मिक–विकास की उपेक्षा करके जीवन का सम्यक् प्रबन्धन नहीं कर सकता। यद्यपि शिक्षा, समय, शरीर, अभिव्यक्ति, मन, पर्यावरण, समाज, अर्थ (धन), भोगोपभोग एवं धार्मिक–व्यवहारों के सम्यक् प्रबन्धन का भी जीवन में महत्त्व है, तथापि इनका लक्ष्य व्यावहारिक जीवन को सुव्यवस्थित करके आध्यात्मिक विकास के लिए उचित पात्रता प्रदान करना मात्र है। यह आध्यात्मिक–विकास प्रबन्धन ही है, जो एक ओर शिक्षादि प्रबन्धनों से अर्जित पात्रता का सम्यक् उपयोग कर एक सफल आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण करता है, तो दूसरी ओर आत्मिक सद्गुणों का सम्यक् विकास कर इन सभी प्रबन्धनों की प्रक्रिया को सुचारु रूप से संचालित एवं नियंत्रित भी करता है। इस प्रकार आध्यात्मिक–विकास एवं अन्य सभी प्रबन्धन परस्पर सम्बद्ध हैं। फिर भी, यह कहना होगा कि आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन जीवन–प्रबन्धन का केन्द्र बिन्दु है, जबकि अन्य सभी प्रबन्धन परिधि पर स्थित हैं। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक–प्रबन्धन साध्य है, जबकि अन्य सभी प्रबन्धन इस साध्य की प्राप्ति के लिए साधन रूप हैं।

यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि जीवन में आध्यात्मिक–विकास की आवश्यकता क्यों हैं, इसका सम्यक् अभिप्राय क्या है, इसका चरमलक्ष्य क्या है और इसकी सम्यक् प्रक्रिया क्या है?

13.1.1 आध्यात्मिक विकास की आवश्यकता, आखिर क्यों?

जीवन–विकास की दो धाराएँ हैं – आध्यात्मिक एवं भौतिक। यद्यपि इन दोनों के आधार एवं दिशा में अन्तर है, तथापि दोनों का साध्य एक ही है – व्यक्तित्व–विकास। आध्यात्मिक–धारा आत्माश्रित है और इसकी दिशा अन्तर्मुखी है, जबकि भौतिक–धारा पदार्थाश्रित है और इसकी दिशा बहिर्मुखी है। आधार एवं दिशा में विपरीतता होने के बावजूद दोनों का प्रयत्न एक ही लक्ष्य से होता है और वह है – दुःख–विमुक्ति एवं सुख–प्राप्ति।

भगवान् महावीर की दृष्टि में सभी प्राणियों की मौलिक आवश्यकता भी यही है। आचारांगसूत्र में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्ट कहा गया है[1] – **'सुहसाया दुक्ख पडिकूला'** अर्थात् सभी को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय। समणसुत्तं में इसकी सार्वभौमिकता दर्शाते हुए कहा गया है कि जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सभी जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है।[2] प्रशमरति प्रकरण के टीकाकार इसे एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में दर्शाते हुए कहते हैं – सुख की अभिलाषा होना प्रत्येक जीव का स्वभाव ही है, वह स्वाभाविक रूप से सुख चाहता है और दुःख से डरता है।[3] किन्तु यहाँ सुख का तात्पर्य वस्तुगत सुख (Objective Pleasure) नहीं, अपितु आत्मगत सुख (Subjective Happiness) है।

यहाँ प्रश्न उठता है, कि जब आधार और दिशा भिन्न–भिन्न हैं, तो दोनों में से कौन–सा विकास वास्तव में सुख–प्राप्ति का हेतु है? भगवान् महावीर ने गहराई से इन दोनों धाराओं को समझाया और यह कहा कि समस्त दुःखों का मूल कारण व्यक्ति की भौतिक–पदार्थों के प्रति आसक्ति या ममत्ववृत्ति है।[4] यद्यपि भौतिक–विकास से प्राप्त सुख–सुविधा के साधनों के द्वारा व्यक्ति दुःखों के निवारण का प्रयत्न करता है, तथापि वह उस कारण का उच्छेद नहीं कर पाता, जिससे दुःख का स्रोत प्रस्फुटित होता है। आशय यह है कि भौतिक–विकास के द्वारा इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं तृष्णाओं को समाप्त करना सम्भव नहीं है। भौतिक–विकास भले ही इच्छापूर्त्ति के द्वारा मानवीय आकांक्षाओं को परितृप्त करना चाहता है, किन्तु वह अग्नि में डाले गए घृत के समान आकांक्षाओं को उपशान्त करने की अपेक्षा और अधिक बढ़ाता ही है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार, "भौतिक–विकास की दिशा में किया जाने वाला प्रयत्न तो टहनियों को काटकर जड़ को सींचने के समान है।"[5]

यह प्रश्न उठ सकता है, कि आखिर भौतिक विकास इच्छापूर्त्ति करने में समर्थ क्यों नहीं है? जैन आगमों में इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त होती हैं और उनकी पूर्त्ति के साधन सीमित हैं। सीमित साधनों से असीम की पूर्त्ति करना असम्भव है।[6] कहा गया है – चाहे स्वर्ण और रजत के कैलाश के समान असंख्य पर्वत भी खड़े हो जाएँ, फिर भी मनुष्य की तृष्णा को पूरा करने में समर्थ नहीं हो सकते।[7] इस प्रकार भले ही साधनों का अन्त हो जाए, किन्तु इच्छाओं का अन्त नहीं होता। कहावत भी है – Our desires are unlimited, but means are limited. यही कारण है कि मानव के द्वारा किया जाने वाला अत्यधिक भौतिक–विकास भी उसकी इच्छाओं की पूर्त्ति करने में असमर्थ है।

भगवान् महावीर ने इसीलिए भौतिक–विकास के मार्ग को सुख–प्राप्ति का मार्ग नहीं बताया, वरन् एक ऐसे मार्ग को प्ररूपित किया, जिससे सुख–प्राप्ति की अभिलाषा पूर्ण हो सके। यह मार्ग है – आध्यात्मिक–विकास का मार्ग, जिसके माध्यम से जीवन–प्रबन्धक दुःखों से पूर्ण मुक्त होकर आत्मिक सुख से सराबोर हो जाता है। इसे ही हम आध्यात्मिक–प्रबन्धन की प्रक्रिया भी कह सकते हैं। किन्तु, सर्वप्रथम हमें यह समझ लेना होगा कि आध्यात्मिक–विकास से हमारा तात्पर्य क्या है?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.1.2 आध्यात्मिक विकास का सम्यक् अभिप्राय

'अध्यात्म' शब्द अधि + आत्म से बना है। संस्कृत वैयाकरणों ने इसकी व्युत्पत्ति दर्शाते हुए कहा है – **'आत्मनि इति अध्यात्मम्'** अर्थात् आत्मा के विषय में जो कुछ होता है, वह अध्यात्म है।[8] अन्यत्र भी कहा गया है – **'आत्मानम् अधिकृत्य यद् वर्त्तते तद् अध्यात्मम्'** अर्थात् आत्मा को लक्ष्य में रखकर जो क्रिया की जाती है, वह अध्यात्म है।[9] उपाध्याय यशोविजयजी के अनुसार – 'आत्मा को केन्द्र में रखकर जो पंचाचार का सम्यक्तया पालन किया जाता है, वह अध्यात्म है।' टीका में इसी बात को समझाते हुए कहा गया है – सुविशुद्ध एवं अनन्तगुणों का स्वामी परमात्मतुल्य निजात्मा को लक्षित करके ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार का पालन करना ही अध्यात्म है।[10] अध्यात्मसार में इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है – 'आत्मा पर मोह का आधिपत्य समाप्त होने पर जो आत्म–केन्द्रित शुद्ध क्रियाएँ होती हैं, उन्हें अध्यात्म कहना चाहिए।'[11] बृहद्द्रव्यसंग्रह में मोह को स्पष्ट करते हुए अध्यात्म के बारे में कहा गया है – 'मिथ्यात्व एवं रागादि समस्त विकल्प जालों का त्याग करके शुद्ध आत्मतत्त्व में रमण करना अध्यात्म है।'[12] समयसार में संक्षेप में कहा गया है कि अपनी शुद्धात्मा की विशुद्धता के लिए आधारभूत आचरण करना ही अध्यात्म है।[13] इस प्रकार, जैनदर्शन में 'अध्यात्म' शब्द आत्मा की विशिष्टता का सूचक है।

अध्यात्म की दिशा में जीवन को अग्रसर करना ही आध्यात्मिक–विकास है। दूसरे शब्दो में, आध्यात्मिक--विकास आत्मा का विकास है। इस विकास के मार्ग में पदार्थ परम मूल्य न होकर आत्मा ही परम मूल्य है। जीवन का परम लक्ष्य भी भौतिक सुख–सुविधाओं की उपलब्धि नहीं, अपितु आत्मिक आनन्द की अनुभूति है। आत्मा के कषायजन्य मलिन परिणामों का क्षय कर निर्मल परिणामों की प्राप्ति होना ही इस विकास का मापदण्ड है। इस प्रकार, आध्यात्मिक–विकास का मार्ग मूलतः इच्छाओं, वासनाओं एवं कषायों से ऊपर उठकर समता, सन्तोष, क्षमा, मृदुता आदि सद्गुणों की संप्राप्ति है।

13.1.3 आध्यात्मिक–विकास का लक्ष्य आत्मोपलब्धि ही क्यों?

यह एक ज्वलन्त प्रश्न है कि आध्यात्मिक–विकास के लिए आत्मोपलब्धि को परम मूल्य क्यों माना गया और भौतिक–विकास के प्रयत्नों में आत्मा को महत्त्व क्यों नहीं दिया गया? गहराई से समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास की दृष्टियों में तात्त्विक रूप से ही अन्तर है। जीवन–प्रबन्धक के लिए इस अन्तर को समझना अत्यावश्यक है।

भौतिक–दृष्टि सुख–दुःख का आधार बाह्य वस्तुओं को मानती है। उसके अनुसार, सुख–दुःख वस्तुगत तथ्य हैं। अतः उसमें आत्मा को महत्त्व नहीं दिया गया। इसके विपरीत, आध्यात्मिक–दृष्टि सुख–दुःख का केन्द्र आत्मा को ही मानती है। इसके अनुसार, सुख–दुःख दोनों आत्मकृत हैं, वास्तविक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों से नहीं, अपितु आत्मिक भावों से ही होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा गया है कि सुख और दुःख का कर्त्ता–भोक्ता आत्मा स्वयं है। वही अपना मित्र भी है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शत्रु भी। जो सुप्रतिष्ठित अर्थात् सद्गुणों में स्थित आत्मा है, वह मित्र है और जो दुःप्रतिष्ठित अर्थात् दुर्गुणों में स्थित आत्मा है, वह शत्रु है।[14] अतः स्पष्ट है कि आध्यात्मिक–विकास की प्रक्रिया में आत्मा को ही साधना का लक्ष्य माना गया है।

13.1.4 आत्मा का सम्यक् स्वरूप

यहाँ स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा उठ सकती है कि आत्मा क्या है, यह कैसी है, इसका पतन किस रूप में होता है और इसका उत्थान कैसे सम्भव है? जैनदर्शन में इन प्रश्नों का स्पष्ट निराकरण आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, उत्तराध्ययन, समयसार, प्रवचनसार आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है।

जैनाचार्यों के अनुसार, विश्व दो प्रकार के पदार्थों का समूह है – जीव एवं अजीव।[15] जीव को परिभाषित करते हुए कहा गया है – जो जीया था, जीता है और जीएगा, वही जीव है।[16] इसके अनेक पर्यायवाची हैं, जैसे – प्राणी, जन्तु, सत्त्व, आत्मा, चेतन इत्यादि।

आत्मा (जीव) के आश्रित अनेक गुण रहते हैं, जिनमें प्रमुख हैं – ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य आदि।[17] ये गुण सदैव आत्मा के साथ रहते हैं और इनके मूल स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं आता।

गुण	गुणों का सामर्थ्य
ज्ञान	जानने की शक्ति
दर्शन	मान्यता बनाने की शक्ति
चारित्र	आचरण करने की शक्ति
वीर्य	पुरुषार्थ करने की शक्ति
सुख	आनन्दित होने की शक्ति

आत्मा का प्रत्येक गुण अपना–अपना कार्य करता है, जिसे 'पर्याय' कहा जाता है।[18] यह पर्याय प्रतिसमय परिवर्तनशील रहती हुई दो प्रकार की होती हैं – स्वभाव एवं विभाव।[19] जब आत्मा में वस्तु के यथार्थ स्वरूप के अनुरूप ज्ञानादि गुणों का परिणमन होता है, तब अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष[20] स्वभाव–पर्याय उत्पन्न होती है। इससे विपरीत परिणमन होने पर अन्य द्रव्यों के सापेक्ष विभाव–पर्याय उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में, देहादि (आत्मेतर) पदार्थों के प्रति ममत्वादि (ये मेरे हैं इत्यादि) भावों के होने पर विभाव–पर्याय की उत्पत्ति होती है, किन्तु वस्तु–स्वरूप को आधार बनाकर पर–पदार्थों के प्रति इष्ट–अनिष्ट बुद्धि का त्याग करके समत्वादि भावों के होने पर स्वभाव–पर्याय उत्पन्न होती है। इस प्रकार, विभाव दशा आत्मा के ह्रास की एवं स्वभाव दशा आत्मा के विकास की परिचायक है।

आत्मा के विविध गुणों की स्वभाव एवं विभाव पर्यायों के अन्तर को निम्न तालिका के माध्यम से समझा जा सकता है–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुण	विभाव पर्याय	स्वभाव पर्याय
ज्ञान	मिथ्याज्ञान – वस्तु–स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जानना, जैसे – जड़–चेतन का विवेक न होना, संसार–मोक्ष के बारे में अन्यथा बुद्धि होना आदि।	सम्यग्ज्ञान – वस्तु–स्वरूप को संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रहित जानना, जैसे – जड़ को जड़, चेतन को चेतन जानना, संसार–मोक्ष के सम्यक् मार्ग का निर्णय होना आदि।
दर्शन	मिथ्यादर्शन – वस्तु–स्वरूप का अयथार्थ श्रद्धान होना, जैसे – स्व–पर सम्बन्धी विपरीत मान्यता होना, शुभाशुभ भावों को भला मानना एवं शुद्ध भावों को अनुपयोगी मानना आदि।	सम्यग्दर्शन – वस्तु–स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान होना, जैसे – स्व को स्व, पर को पर मानना, सुख–दुःख स्वयं से ही है, ऐसा मानना, मोक्ष को आत्मस्वभाव मानना आदि।
चारित्र	मिथ्याचारित्र – वस्तु–स्वरूप से विपरीत आचरण करना, जैसे – राग–द्वेष, कषाय, मोह आदि से युक्त प्रवृत्तियाँ।	सम्यक्चारित्र – वस्तु–स्वरूप के अनुसार आचरण करना, जैसे – आत्म–स्वरूप में रमणता, राग–द्वेष रहितता, समत्व भाव, ज्ञाता–दृष्टा भाव आदि।
वीर्य	मिथ्यापुरूषार्थ – बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध जोड़ने वाला पुरूषार्थ करना।	सम्यक्पुरूषार्थ – आत्मा के द्वारा आत्मा में रहने का पुरूषार्थ करना।
सुख	आकुलता–व्याकुलता–हर्ष (सुखाभास) एवं विषाद रूप परिणाम होना।	अनाकुलता–आत्मिक–आनन्द रूप परिणाम होना।

इस प्रकार, जब तक आत्मा विभाव पर्याय में होती है और स्व–स्वरूप से विपरीत वर्त्तन करती है, तब तक उसके ज्ञानादि गुणों की दशा मिथ्याज्ञानादि रूप बनी रहती है। वह विवेकविहीन एवं मूढ़ होकर पर से राग–द्वेष, मोह आदि करती रहती है और उसी में पुरूषार्थ करती हुई आकुल–व्याकुल होती रहती है। जैनाचार्यों ने इसे उन्मत्तवत् अर्थात् पागलों की तरह कार्य करने रूप स्थिति कहा है। परन्तु, जब आत्मा यथार्थ आत्मज्ञान पाकर वस्तु–स्वरूप का सम्यक् श्रद्धान कर, आत्मस्वभाव में रमण करने लगती है और उसी में स्थिर रहने का पुरूषार्थ करती है, तब एक निराकुल, अतिशययुक्त, अविनाशी आत्मानन्द की अनुभूति करती है, जिसे जैनाचार्यों ने स्वभाव दशा कहा है।

उपर्युक्त चिन्तन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आध्यात्मिक–विकास वस्तुतः, विभाव दशा से स्वभाव दशा की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया है। यही वह दशा है, जिसमें मोहादि के विकल्पजाल नष्ट हो जाते हैं और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इस अवस्था को प्राप्त करना ही प्रत्येक जीवन–प्रबन्धक का परम साध्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.2 आध्यात्मिक जीवन में साधक, साधन और साध्य की एकरूपता

आत्मा को विभाव–दशा से स्वभाव–दशा में लाने वाली आध्यात्मिक–विकास की प्रक्रिया में तीन महत्त्वपूर्ण घटक होते हैं – साधक, साधन एवं साध्य। सामान्यतया आध्यात्मिक साधना करने वाले को साधक कहते हैं, आध्यात्मिक साधना के लक्ष्य को साध्य कहते हैं और वह उपाय, जिसके माध्यम से साधक साध्य की प्राप्ति करता है, उसे साधन कहते हैं। जीवन–प्रबन्धन की दिशा में इन तीनों के स्वरूप एवं पारस्परिक सम्बन्धों को सम्यक्तया समझना अत्यावश्यक होगा।

(1) व्यावहारिक जीवन में साधक, साधन और साध्य

व्यावहारिक जीवन में जब भी व्यक्ति को किसी कार्य की सिद्धि करनी होती है, तो सर्वप्रथम साध्य का निर्धारण करना पड़ता है, क्योंकि साध्य–निर्धारण के बिना किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती। तत्पश्चात् साध्य की प्राप्ति के लिए अनुकूल साधनों के ग्रहण एवं प्रतिकूल के त्याग की आवश्यकता भी होती है अन्यथा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। साध्य के निर्धारण एवं उचित साधनों के चयन के साथ–साथ योग्य साधक का होना भी बहुत आवश्यक है। साधक उसे कहते हैं, जो प्राप्त साधनों का इस प्रकार प्रयोग करे कि साध्य सिद्ध हो सके। इसी कारण साधक में कुछ निश्चित योग्यताएँ होनी भी आवश्यक हैं।

उदाहरण के लिए, यदि कोई छात्र डॉक्टर बनना चाहता है, तो सर्वप्रथम वह यह सुनिश्चित करता है कि उसे डॉक्टर बनना है। इस साध्य की सिद्धि के लिए वह चिकित्सा महाविद्यालय, शिक्षक, पुस्तकें, अध्ययन–कक्ष, फीस, परिवहन आदि साधनों का चयन करता है। इसके साथ ही वह अपनी योग्यता का निर्माण भी करता है, जिससे उसे महाविद्यालय में प्रवेश मिल सके और वहाँ दी जा रही शिक्षा को वह सम्यक्तया ग्रहण कर सके।

इस प्रकार, जब साधक, साधन एवं साध्य – इन तीनों की एकरूपता होती है, तभी कार्य की निष्पत्ति होती है।

(2) आध्यात्मिक जीवन में साधक, साधन और साध्य

आध्यात्मिक जीवन में भी व्यावहारिक जीवन की तरह ही साधक, साधन एवं साध्य की एकरूपता होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु, सर्वप्रथम यह जानना होगा कि आध्यात्मिक जीवन में साध्य से हमारा तात्पर्य क्या है, साधन का सम्यक् मापदण्ड क्या है और साधक में क्या–क्या योग्यताएँ अपेक्षित हैं?

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, जिसमें किसी भी तथ्य का निर्धारण एकान्त–दृष्टिकोण से नहीं किया जाता। अतः, साधक, साधन एवं साध्य और इनके पारस्परिक सम्बन्धों को भी यहाँ विविध दृष्टिकोणों के माध्यम से समझाया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.2.1 साध्य का स्वरूप

आध्यात्मिक जीवन में सर्वप्रथम साध्य का निर्धारण करना आवश्यक है। जैनदर्शन में इस साध्य को परमात्मपद के रूप में दर्शाया गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस पद का वर्णन करते हुए परमात्मा के तेईस विशेषण दिए हैं – 'शरीर–इन्द्रियादि से रहित, अचिन्त्य गुणों के समूह, सूक्ष्म, लोकाग्र में अवस्थित, जन्मादि संक्लेशों से रहित, प्रधान ज्योतिस्वरूप, अन्धकाररहित, सूर्य जैसे निर्मल, अक्षर, ब्रह्म, नित्य, प्रकृतिरहित, लोकालोक के प्रकाशक, समुद्र समान निस्तरंग, वर्णरहित, स्पर्शरहित, अगुरुलघु, सभी पीड़ाओं से रहित, परमानन्द सुख से युक्त, असंग, सभी कलाओं से परे, सदाशिव, आद्य आदि।'[21]

जैनदर्शन में मूलतः 'परमात्मा' शब्द दो अर्थों का द्योतक है – प्रथम अर्थ में यह आत्मा के त्रैकालिक शुद्ध स्वरूप को इंगित करता है और दूसरे अर्थ में यह आत्मा की सर्वोच्च शुद्ध अवस्था को दर्शाता है।

प्रथम अर्थ वस्तुतः आत्मा की मोहयुक्त मलिन अवस्था को गौण करके ज्ञानादि अनन्तगुणों के पिण्ड के रूप में आत्मद्रव्य को परिलक्षित करता है। इसकी दृष्टि में प्रत्येक आत्मा प्रत्येक अवस्था में शुद्ध चैतन्यमूर्त्ति है[22] और उसमें लेशमात्र भी अशुद्धि नहीं है। जो कुछ अशुद्धियाँ हैं, वे संयोगी पदार्थों एवं उनके निमित्त से होने वाली अवस्थाओं में है, परन्तु त्रैकालिक शुद्ध स्वरूप तो इन सबसे निरपेक्ष ही है और सदाकाल निर्मल, निश्चल, निर्विकारी, एक, अखण्ड एवं शुद्ध सत्ता रूप में रहता है। जिस प्रकार लोहे का संग पाकर भी स्वर्ण का स्वर्णत्व ज्यों का त्यों बना रहता है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के संयोग मिलने पर भी आत्मा का शुद्ध स्वरूप एक–सा बना रहता है। वह द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म से सर्वथा रहित होता है[23] यानि उसमें न अष्ट कर्मों (द्रव्यकर्म) की मलिनता का प्रवेश होता है, न राग–द्वेष आदि कलुषताओं (भावकर्म) का प्रभाव पड़ता है और न शरीर, परिजनादि बाह्य पदार्थों (नोकर्म) का तादात्म्य होता है। यह शुद्धात्म–स्वरूप महिमामय, पूर्णव्यक्त, अनुभवगोचर, निश्चल, शाश्वत्, कर्मकलंक रूपी कीचड़ से रहित, स्तुति करने योग्य साक्षात् परमात्मा (देव) है।[24] जैनाचार्यों ने इस शुद्धात्म–स्वरूप की उपलब्धि को ही आध्यात्मिक साधना का परम साध्य बताया है। **जब आत्मा शुद्धात्म–स्वरूप की अनुभूति करती है, तब विशुद्ध ज्ञाता–दृष्टा भाव या साक्षीभाव उत्पन्न होता है, जो आत्मा को निराकुल समाधि की अवस्था में स्थित कर दुःखों से मुक्त कर देता है। इस प्रकार आत्मा का साध्य आत्मा स्वयं है।**

जैनदर्शन में 'परमात्मा' शब्द अपने द्वितीय अर्थ मे अधिक प्रचलित है। यह वस्तुतः मूलस्वरूप को नहीं, अपितु मूलस्वरूप के आश्रय से निष्पन्न होने वाली आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध अवस्था को इंगित करता है। इस अवस्था को 'मोक्ष' भी कहा जाता है। यह मोक्षपद या परमात्मपद आत्मा का परमसाध्य इसीलिए माना जाता है, क्योंकि यह वह अवस्था है, जिसमें सर्व विभाव (रागादि भाव) विनष्ट हो जाते हैं एवं अनन्त चतुष्टय – अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य प्रकट हो जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस अवस्था के दो भेद हैं – 1) अरिहंत 2) सिद्ध। अरिहंत परमात्मा सशरीरी एवं सिद्ध परमात्मा अशरीरी होते हैं। ये अरिहन्त परमात्मा भी आयुष्यादि अघाती कर्मों का क्षय हो जाने पर सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं। यद्यपि शरीर, कर्म आदि की अपेक्षा से इन दोनों में अन्तर होता है, तथापि अंतरंग स्वरूप की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं होता। जब तक आत्मा सांसारिक मोह–माया के कारण कर्ममल से आच्छादित रहती है, तब तक वह बादलों से घिरे हुए सूर्य के समान होती है, किन्तु जब साधना (प्रबन्धन) के द्वारा इन कर्मों के आवरण को दूर कर देती है, तब यही आत्मा अनन्तानन्त आध्यात्मिक शक्तियों का पुंज बनकर शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है।[25] इस प्रकार यह द्वितीय अर्थ आत्मपूर्णता अर्थात् आत्मा की सर्वोच्च अवस्था को आध्यात्मिक जीवन के साध्य के रूप में प्रकाशित करता है।

जब आत्मा पूर्वोक्त प्रथम अर्थ से निर्दिष्ट शुद्धात्म स्वरूप रूपी साध्य का समग्र आश्रय ले लेता है, तब ही आत्मा द्वितीय अर्थ से निर्दिष्ट सर्वोच्च आत्मदशा की प्राप्ति करता है। इस प्रकार दोनों साध्य पृथक्–पृथक् नहीं, अपितु परस्पर सम्बद्ध है। संक्षेप में कहें, तो दोनों का निष्कर्ष यही है कि **आध्यात्मिक जीवन में आत्मा ही 'साध्य' है।**

13.2.2 साधन का स्वरूप

आध्यात्मिक विकास को सिद्ध करने के लिए साधन या साधना–मार्ग का भी अपना वैशिष्ट्य है। इसके बिना साध्य की प्राप्ति असम्भव है। वस्तुतः, साधना मार्ग पर चलकर ही साध्य की प्राप्ति हो सकती है।

आध्यात्मिक विकास की दिशा में जिन साधनों का महत्त्व है, उनका वर्णन करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष रूपी साध्य का साधना–मार्ग है।[26] इसी बात को समझाते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप के मार्ग का अनुकरण करने वाली आत्मा मोक्ष रूपी साध्य की प्राप्ति करती है।[27] वस्तुतः, उत्तराध्ययनसूत्र में तप को चारित्र से पृथक् करके स्थान दिया गया है, इसका कारण यह है कि तप कर्मक्षय का विशिष्ट साधन है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप – ये मोक्ष–मार्ग के सहचारी साधन हैं, तथापि भेददृष्टि के द्वारा इनके कार्यों में विद्यमान अन्तर को समझा जा सकता है। पद्मनन्दि पंचविंशिका के अनुसार, आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का बोध सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में ही स्थिति सम्यक्चारित्र है।[28] उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, जीवादि पदार्थों को जानना सम्यग्ज्ञान है, उन पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, शुभाशुभ भावों का निरोध करना सम्यक्चारित्र है और विशेष शुद्धि का प्रयत्न करना सम्यक्तप है।[29] भले ही जैनशास्त्रों में सम्यग्दर्शनादि साधनों एवं उनके कार्यों में भेद दर्शाया गया है, फिर भी परमार्थ से इन्हें अभेद ही माना गया है। केवल समझने के लिए भेद किया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाता है, लेकिन वास्तविकता में इनमें भेद नहीं होता। योगशास्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र, जिन्हें मोक्षमार्ग कहा जाता है, वे वस्तुतः आत्मा ही हैं।[30] समयसार में भी कहा गया है कि ये तीनों भाव व्यवहार–दृष्टि से कहे जाते हैं, किन्तु निश्चय–दृष्टि से न सम्यग्ज्ञान है, न सम्यग्दर्शन है और न सम्यक्चारित्र है, केवल आत्मा (ज्ञायक) ही सत्य है।[31] इससे स्पष्ट है कि **आध्यात्मिक जीवन में आत्मा ही 'साधन' है।**

जैनदृष्टि में इस प्रश्न का निराकरण भी मिलता है कि आध्यात्मिक विकास के अन्तर्गत सम्यग्दर्शनादि तीनों साधनों की प्राप्ति एक साथ होती है या नहीं। वस्तुतः, तीनों साधन जब परिपूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं, तभी मोक्ष रूपी साध्य की प्राप्ति होती है, यह नियम है। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि इनमें कोई क्रम नहीं होता। उत्तराध्ययनसूत्र में इस विषय में कहा गया है – सम्यग्दर्शन रहित जीव को सम्यग्ज्ञान नहीं होता, सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता और चारित्रविहीन जीव का मोक्ष नहीं होता तथा मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता।[32] यद्यपि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होने की बात अवश्य की गई है, पर यह सम्यग्दर्शन के माहात्म्य को दर्शाने के लिए ही कही गई है। वस्तुतः, इन दोनों में साहचर्य होता है, इतना अवश्य है कि सम्यक्चारित्र की निष्पत्ति इन दोनों के प्रकट होने के पश्चात् होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसीलिए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता, किन्तु सम्यक्चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन हो सकता है। ये सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र एक साथ भी हो सकते हैं, फिर भी सम्यक्चारित्र से पूर्व ही सम्यग्दर्शन होता है।[33]

अब यह प्रश्न उठता है कि आध्यात्मिक जीवन में साधक कौन होता है और उसकी क्या योग्यताएँ होती है?

13.2.3 साधक का स्वरूप

किसी भी कार्य की सिद्धि में साधक का अप्रतिम महत्त्व होता है। साधक के बिना साधना पथ का अनुकरण एवं तदनन्तर साध्य की प्राप्ति असम्भव है। यह प्रश्न उठता है कि आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में किसे साधक कहा जाए?

जैनदर्शन की यह स्पष्ट मान्यता है कि विश्व की प्रत्येक आत्मा अनन्तशक्तियों का अजस्र स्रोत है, किन्तु सभी को साधक नहीं कहा जा सकता। जिस आत्मा को अपनी शक्तियों पर विश्वास हो जाता है और जो शुद्धात्म–स्वरूप की प्राप्ति के लिए पुरूषार्थ प्रारम्भ कर देती है, उसे साधक कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जो विभावदशा से स्वभावदशा की ओर प्रयत्नशील रहती है, वह आत्मा साधक कहलाती है।

जिस प्रकार खदान से निकले हीरे की चमक कम होती है, परन्तु जब उसे अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं द्वारा स्वच्छ कर तराशा जाता है, तो उसकी चमक बढ़ जाती है। ठीक उसी प्रकार साधक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की प्राथमिक अवस्था मलिन होती है, किन्तु विभिन्न साधनाओं के द्वारा वह परमात्मदशा (साध्य) को भी प्राप्त कर लेता है।[34]

साधक के सामान्य लक्षण दर्शाते हुए अध्यात्मोपनिषद् में कहा गया है कि साधक में तीन बातों का होना आवश्यक है – मोह की अल्पता, आत्मस्वरूप की ओर अभिमुखता एवं अपने दुराग्रहों से मुक्ति।[35] श्रीमद्राजचन्द्र ने भी आत्मज्ञान प्राप्ति के योग्य अधिकारी के चार लक्षण बताए हैं – विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता।[36] अन्यत्र भी सच्ची मुमुक्षुता का लक्षण दर्शाते हुए कहा है कि सर्व प्रकार की मोहासक्ति से आकुल–व्याकुल होकर एक मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करने वाला मुमुक्षु (साधक) है और इससे भी अधिक जो अनन्य प्रेम से मोक्षमार्ग में प्रतिक्षण प्रवृत्तिशील है, वह तीव्र मुमुक्षु (विशेष साधक) है।[37] धर्मसंग्रह श्रावकाचार में कहा गया है कि जो ज्ञानानन्दमय आत्मा को साधता है, वह साधक है।[38] सागार–धर्मामृत में कहा गया है कि जो समाधिमरण को साधता है, वह साधक (श्रावक) है।[39] इस प्रकार साधकों के विविध लक्षण जैनआचारशास्त्रों में वर्णित हैं। वस्तुतः, राग–द्वेष, कषाय और वासनाओं की मात्रा सब साधकों की अलग–अलग होती है और इसीलिए भिन्न–भिन्न प्रकार से साधकों के लक्षण बताए गए हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी ने जघन्य और उत्कृष्ट साधक के आध्यात्मिक जीवन का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है – 'साधना की प्राथमिक अवस्था में साधक इन्द्रिय–विषयों का अनिष्ट बुद्धि से त्याग करता है, परन्तु वही साधना के उच्च शिखर पर पहुँचकर, न तो विषयों का त्याग करता है और न ही ग्रहण, अपितु उनके यथार्थ स्वरूप का दृष्टामात्र रहता है।'[40]

निष्कर्ष यह है कि आध्यात्मिक–विकास में साधक, साधन और साध्य की एकरूपता होती है। आत्मा ही साध्य, आत्मा ही साधन एवं आत्मा ही साधक होती है। भगवतीसूत्र का यह कथन कि **"आया णे अज्जे! सामाइए, आया णे अज्जे! सामाइयस्स अट्ठे"**[41] अर्थात् आत्मा स्वयं समत्वरूप है एवं समत्व की प्राप्ति उसका लक्ष्य है, साधक और साध्य की एकरूपता दर्शाता है। इसी प्रकार नियमसार की यह पंक्ति कि आत्मा को ज्ञान–दर्शन रूप जानो और ज्ञान–दर्शन को आत्मा जानो[42] अथवा समयसार का यह कथन कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र परमार्थ–दृष्टि से आत्मा ही है,[43] साधक एवं साधन की एकरूपता को प्रतिपादित करता है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.3 जैनधर्म में आध्यात्मिक जीवन के विविध स्तर

आध्यात्मिक जीवन की यह विशेषता होती है कि यद्यपि इसका साध्य एकरूप ही होता है, फिर भी साधक की अवस्था एक समान नहीं होती। राग–द्वेष, कषाय और वासना की तरतमता सभी साधकों में अलग–अलग होती है और इससे साधकों के अनेक स्तर बन जाते हैं। साधक जिस स्तर पर होता है, उसकी साधना भी उसी स्तर के अनुरूप होती है। इस प्रकार, साध्य में एकरूपता होने के बाद भी साधक और उसके साधना–स्तर में व्यक्तिविशेष की अपेक्षा से विविधताएँ होती हैं। अतः यह समझना होगा कि आध्यात्मिक जीवन–प्रबन्धन की दिशा में जो साधक कदम बढ़ाते हैं, उनके विभिन्न स्तर क्या हो सकते हैं और तदनुरूप उनकी साधना के भी क्या–क्या स्तर हो सकते हैं? मुख्य रूप से यह ध्यान रखना होगा कि साधना के स्तरों में तो अन्तर रह सकता है, परन्तु मूल साधना–मार्ग की दिशा सभी साधकों की समान ही होती है।

13.3.1 प्रथम वर्गीकरण : उपस्थित–अनुपस्थित के आधार पर

जैनधर्म में आध्यात्मिक जीवन के विभिन्न स्तरों की जो चर्चाएँ हुई हैं, उनमें से सबसे मुख्य चर्चा उन दो वर्गों को लेकर है, जिनमें से पहला वर्ग वह है, जो अभी साधना मार्ग में उपस्थित ही नहीं है और दूसरा वह है, जो साधना मार्ग में उपस्थित होकर साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहा है। आचारांगसूत्र में इन्हें 'अनुपस्थित' और 'उपस्थित' के रूप में विवेचित किया गया है। उपस्थित के लिए पण्डित, मेधावी, धीर, सम्यक्त्वदर्शी और अनन्यदर्शी – ये नाम प्रयुक्त हैं और अनुपस्थित को बाल, मन्द और मूढ़ के नामों से अभिहित किया गया है।[44]

13.3.2 द्वितीय वर्गीकरण : बहिरात्मा–अन्तरात्मा–परमात्मा के आधार पर

साधक के विभिन्न स्तरों को लेकर जो दूसरा वर्गीकरण है, वह आत्मा की तीन अवस्थाओं पर आधारित है –

(1) बहिरात्मा – जैनाचार्यों ने उस आत्मा को बहिरात्मा कहा है, जो सांसारिक विषय–भोगों में रुचि रखती है। वह पर–पदार्थों में आत्मबुद्धि का आरोपण करके जीती रहती है और मिथ्यात्व से युक्त होती है।[45] यह आत्मा की बहिर्मुखी अर्थात् विषयाभिमुखी अवस्था है।

(2) अन्तरात्मा – अन्तरात्मा देहात्मबुद्धि से रहित होती है, क्योंकि वह स्व और पर की भिन्नता को भेदविज्ञान के द्वारा जान लेती है।[46] यह आत्मा बारम्बार अपने परमात्मस्वरूप का आलम्बन लेकर ज्ञाता–दृष्टा भाव में रहने का अभ्यास करती रहती है। यह चेतना की अन्तर्मुखी अवस्था है।

(3) परमात्मा – जो आत्मा कर्ममल से रहित, राग–द्वेष की विजेता, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होती है, उसे परमात्मा कहा जाता है। परमात्मा के पूर्वोक्त दो भेद किए गए हैं – अरिहंत और सिद्ध। जीवनमुक्त आत्मा को अरिहंत एवं देहमुक्त आत्मा को सिद्ध कहा जाता है।[47]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा की इन तीन अवस्थाओं को क्रमशः आध्यात्मिक विकास के तीन सोपानों के रूप में बताया गया है। बहिरात्मा से अन्तरात्मा एवं अन्तरात्मा से परमात्मा को श्रेष्ठ माना गया है। इन्हीं तीन अवस्थाओं को सामान्यतया मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि एवं सर्वदर्शी आत्मा भी कहा जाता है। पण्डित सुखलालजी ने इन्हें क्रमशः आध्यात्मिक–अविकास, आध्यात्मिक–विकास और आध्यात्मिक–पूर्णता की अवस्था कहा है।[48] डॉ. सागरमल जैन इन्हें अनैतिक, नैतिक एवं अतिनैतिक अवस्था कहते हैं।[49]

आत्मा के इस त्रिविध वर्गीकरण का प्रमुख श्रेय आचार्य कुन्दकुन्द को जाता है। परवर्त्ती सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों ने इन्हीं का अनुकरण किया है। कार्त्तिकेय, पूज्यपाद, हरिभद्र, योगेन्दु, आनन्दघन और यशोविजय आदि सभी ने अपनी–अपनी रचनाओं में आत्मा के उपर्युक्त तीनों प्रकारों का उल्लेख किया है।[50]

आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन की दृष्टि से यह मानना होगा कि बहिरात्मा आध्यात्मिक साधना से वंचित रहती है और अन्तरात्मा बनते ही उसकी साधना प्रारम्भ होती है, जो परमात्मा–अवस्था प्राप्त होने पर पूर्ण हो जाती है। वह परमात्मदशा में पहुँचकर साध्य को प्राप्त कर उसमें एकाकार हो जाती है।

13.3.3 तृतीय वर्गीकरण : कर्मबन्धन के हेतुओं के आधार पर

आध्यात्मिक जीवन के विकास को लेकर मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग – इन कर्मबन्धन के हेतुओं के आधार पर भी साधना के छः विभाग किए जा सकते हैं –

(1) मिथ्यात्व सहित आत्मा – अयथार्थ (मिथ्या) दृष्टिकोण को मिथ्यात्व कहते हैं।[51] इस अवस्था में साधक आध्यात्मिक साधना के सम्यक् लक्ष्य एवं सम्यक् मार्ग से अनभिज्ञ होता है, उसे सत्य की यथार्थ अनुभूति नहीं हो पाती। यह सबसे निकृष्ट अवस्था है, जिसमें मिथ्यात्व सहित अविरति आदि चारों दोष भी बने ही रहते हैं।[52]

(2) सम्यग्दृष्टि आत्मा – यह आत्मा की वह असंयमित अवस्था है, जिसमें मिथ्यात्व तो छूट जाता है, किन्तु अविरति बनी रहती है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह – इन पाँचों दोषों से विरक्त न होना अविरति है।[53] सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है – पाँच इन्द्रियों और एक मन के विषय एवं पाँच स्थावर और एक त्रस जीव की हिंसा – इन बारह प्रकार के दोषों का त्याग न करना अविरति है।[54] इस अवस्था में साधक आंशिक या पूर्ण रूप से संयममय जीवन नहीं जी पाता। ज्ञातव्य है कि जिसकी अविरति दशा होती है, उसमें प्रमाद आदि तीन दोष भी रहते ही हैं।[55]

(3) विरत आत्मा – यह आध्यात्मिक साधना का तृतीय स्तर है, जिसमें साधक अविरति पर विजय प्राप्त कर संयम अंगीकार कर लेता है, किन्तु उसमें प्रमाद (असजगता) दोष विद्यमान रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः, यह प्रमाद अत्यल्प ही होता है, फिर भी साधक को अपने आत्मस्वरूप में रमणता के लिए बाधक होता है, इससे प्रभावित होकर उसके शुद्धोपयोग (ज्ञाता–दृष्टा भाव) का घात होता है।[56] कहा भी गया है – आत्महित का विस्मरण होना प्रमाद है अथवा आत्महित के कार्यों में असावधानी होना **(कुशलेषु अनादरः)** प्रमाद है।[57] इस प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं – चार विकथा (स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा एवं देशकथा), पाँच इन्द्रियों के विषय, चार कषाय (क्रोध, मान, माया एवं लोभ) निद्रा एवं स्नेह/मद्य।[58] ज्ञातव्य है कि जो प्रमाद से युक्त होता है, उसमें कषाय एवं योग भी रहते ही हैं।[59]

(4) प्रमादरहित आत्मा – यह आध्यात्मिक साधना का चतुर्थ स्तर है, जिसमें साधक प्रमाद पर विजय प्राप्त कर लेता है, किन्तु अल्प कषाय (संज्वलन कषाय/नो कषाय) का दोष विद्यमान रहता है। आत्मा के क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप परिणामों को कषाय कहते हैं। इन क्रोधादि चारों में से प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी आदि चार भेद होकर सोलह तथा हास्यादिक नौ नोकषाय जुड़कर कषाय के कुल पच्चीस भेद होते हैं।[60] इन सभी कषायों से आध्यात्मिक साधना बाधित होती है, साधक समत्वभाव में नहीं रह पाता।

इस स्तर के साधक की कषाय अत्यल्प रह जाती है, उसमें केवल संज्वलन कषाय एवं नोकषायों की उपस्थिति होती है, ये कषाय भी उसकी आत्मपूर्णता या वीतरागदशा की प्राप्ति में बाधक होती हैं। ज्ञातव्य है कि संज्वलन कषाय की विद्यमानता में योग भी रहता ही है।[61]

(5) कषायरहित आत्मा – इस अवस्था में पहुँचकर साधक की कषाय पूर्णतः क्षीण (क्षय) हो जाती है। वह आध्यात्मिक–विकास के साध्य रूप अरिहन्त अवस्था को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। फिर भी, शरीर से युक्त होने के कारण योग अर्थात् आत्मिक प्रदेशों का परिस्पन्दन (चंचलता/कम्पन) बना रहता है, जो इस परम उत्कृष्ट स्थिति में बाधक तो नहीं होता,[62] फिर भी उसके सद्भाव में ईर्यापथिक बन्ध (क्षणिक बन्ध) चलता रहता है और सिद्ध अवस्था की प्राप्ति नहीं हो पाती।

(6) योगरहित आत्मा – यह आध्यात्मिक साधना का अन्तिम शिखर है, जिसे सिद्धावस्था कहा जाता है। इस अवस्था में योग (द्रव्य से मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति एवं भाव से आत्म–प्रदेशों का परिस्पंदन) भी समाप्त हो जाते हैं और आत्मा अडोल, अकम्प होकर सादि–अनन्त काल तक परमानन्द की प्राप्ति करती रहती है।

इन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप पाँच भावों का उल्लेख समवायांगसूत्र, ऋषिभाषित, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है।[63]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.3.4 चतुर्थ वर्गीकरण : कषायों के आधार पर

आध्यात्मिक जीवन के विकास को लेकर अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन – इन चार कषायों की सत्ता के आधार पर भी साधक के पाँच स्तर बनाए जा सकते हैं –

(1) अनन्तानुबन्धी कषाय सहित आत्मा – यह आध्यात्मिक साधना का सबसे निकृष्ट स्तर है, जिसमें आत्मा अनन्तानुबन्धी कषाय से युक्त होती है। अनन्त संसार–परिभ्रमण का कारण होने से जैनाचार्यों ने मिथ्यात्व को 'अनन्त' कहा है और जो कषाय अनन्त की 'अनुबन्धी' हो अर्थात् मिथ्यात्व का अनुसरण करने वाली हो, उसे 'अनन्तानुबन्धी कषाय' कहा है।[64] अनन्तानुबन्धी कषाय का अर्थ है – जीवन में तीव्र कषायजन्य क्रिया–प्रतिक्रिया चलते रहना। इस कषाय के चार भेद हैं – क्रोध, मान, माया एवं लोभ। इनकी व्याख्या इस प्रकार है[65] –

- ★ अनन्तानुबन्धी क्रोध – आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अरुचि होना।
- ★ अनन्तानुबन्धी मान – 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ' – ऐसी मान्यता पर अहंकार होना।
- ★ अनन्तानुबन्धी माया – 'अपना स्वाधीन एवं शाश्वत् आत्मस्वरूप समझ में नहीं आता' – ऐसी वक्रता के साथ अपनी समझ–शक्ति को छिपाकर आत्मा (स्वयं) को ठगना।
- ★ अनन्तानुबन्धी लोभ – पुण्य–पाप के विकारी भावों से और पर–पदार्थों से लाभ मानकर अपनी विकारीदशा की वृद्धि करना।

इस भूमिका में साधक अपने शुद्ध स्वरूप का आस्वादन लेने से वंचित रहता है और उसकी अधिकतम सीमा शुभ भावों तक ही रहती है। यह भी ज्ञातव्य है कि अनन्तानुबन्धी कषाय जहाँ रहती है, वहाँ शेष तीन कषाय तो रहती ही हैं।

(2) अनन्तानुबन्धी कषायरहित आत्मा – इस स्तर पर पहुँचकर साधक अनन्तानुबन्धी कषाय पर विजय प्राप्त करके भी अप्रत्याख्यानी कषाय से पराजित होता रहता है। इस अप्रत्याख्यानी कषाय के कारण साधक अल्प भी प्रत्याख्यान अर्थात् विरति को प्राप्त करने में असमर्थ होता है।[66] इस प्रकार, इस अवस्था में रहता हुआ साधक सत्य को सत्यरूप में स्वीकार तो करता है, किन्तु सत्य का अनुकरण कर जीवन को संयमित नहीं कर पाता। अप्रत्याख्यानी कषाय के भी चार भेद हैं – क्रोध, मान, माया और लोभ।

यह साधक अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव तो करता है, जिससे उसका यथार्थ मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु अप्रत्याख्यानी कषायवश वह साधना की दिशा में गतिशील नहीं हो पाता। ज्ञातव्य है कि अप्रत्याख्यानी कषाय जहाँ होती है, वहाँ शेष दो कषाय तो नियमपूर्वक होती ही हैं।

(3) अप्रत्याख्यानी कषायरहित आत्मा – इस तृतीय स्तर में साधक की अप्रत्याख्यानी कषाय क्षय–उपशम को प्राप्त होती है, जिससे साधक की अनासक्ति में अभिवृद्धि होती है और वह आंशिक संयम (अणुव्रत) को ग्रहण करता है, परन्तु प्रत्याख्यानी कषाय का सद्भाव होने से साधक पूर्ण संयम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(महाव्रत) अंगीकार नहीं कर पाता।[67] इस प्रकार वह सत्य को सत्य मानकर भी पूर्णरूपेण सत्य पर जीने के लिए संकल्पित नहीं हो पाता। प्रत्याख्यानी कषाय के भी चार भेद हैं – क्रोध, मान, माया एवं लोभ।

यह साधक रागादिभावों की मन्दता से स्वस्वरूप का अनुभव पूर्वापेक्षा अधिक कर पाता है, फिर भी उसमें अन्तिम दो कषायों का सद्भाव बना ही रहता है।

(4) प्रत्याख्यानी कषायरहित आत्मा – इस अवस्था में पहुँचकर साधक आत्म–साधना को विशेष गति प्रदान करता है। उसकी प्रत्याख्यानी कषाय भी क्षय–उपशम को प्राप्त हो जाती है, जिससे साधक परिपूर्ण संयम (महाव्रत) अंगीकार कर लेता है। वह हिंसादि पाँच दोषों का सर्वथा परित्याग कर अधिक से अधिक आत्मस्वरूप में रमणता के लिए प्रतिबद्ध हो जाता है। फिर भी संज्वलन कषाय विद्यमान होने से वह पूर्ण वीतरागदशा को प्राप्त नहीं हो पाता। वह कषाय जो संयम के साथ एकीकृत (सम्) होकर ज्वलित होती रहती है, संज्वलन कषाय कहलाती है।[68] संज्वलन कषाय की तीव्रता अत्यल्प होती है और इसके भी चार भेद होते हैं – क्रोध, मान, माया एवं लोभ।

(5) संज्वलन कषायरहित आत्मा – यह अवस्था आत्मपूर्णता की अवस्था है, जिसमें साधक अन्तिम संज्वलन कषाय का भी क्षय कर निष्कषायी हो जाता है। आत्मा अब पूर्णतया आत्मानन्द में लीन हो जाती है। इस प्रकार आध्यात्मिक साधना के विकास–क्रम में साधक क्रमशः कषायों के एक–एक स्तर पर विजय पाता हुआ परम साध्यरूप परमात्मदशा को प्राप्त कर लेता है।

13.3.5 पंचम वर्गीकरण : कर्मनिर्जरा की दस अवस्थाओं के आधार पर

आध्यात्मिक जीवन के विविध स्तरों को साधक की कर्मनिर्जरा (सकाम) की मात्रा के आधार पर भी समझा जा सकता है। इसी आधार पर आचारांगनिर्युक्ति, तत्त्वार्थसूत्र, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में साधक की क्रमशः असंख्यगुणा निर्जरा वाली दस अवस्थाओं का वर्णन किया गया हैं। ये हैं – सम्यग्दृष्टि, श्रावक (देशविरति), विरत (सर्वविरति मुनि), अनन्तानुबन्धी–वियोजक, दर्शनमोह क्षपक, उपशमक (उपशमश्रेणी में आरूढ़), उपशान्तमोह, क्षपक (क्षपकश्रेणी में आरूढ़), क्षीणमोह एवं जिन।[69]

यह उल्लेखनीय है कि व्यक्ति की एक वह दशा होती है, जिसमें सम्यक् साधना के अभाव में कर्मनिर्जरा (सकाम) ही नहीं होती और इसीलिए उसे वास्तविक साधक भी नहीं कहा जा सकता। साथ ही, दूसरी वह दशा होती है, जिसमें साधक की कर्मनिर्जरा का सद्भाव होता है, वहाँ भी कर्मनिर्जरा की मात्रा के आधार पर उसके विविध स्तरों का निर्धारण किया जाता है। अल्पतम निर्जरा वाले साधक को 'जघन्य' तथा क्रमशः अधिक निर्जरा वाले साधक को उत्तरोत्तर 'उत्कृष्ट' श्रेणी में स्थान दिया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.3.6 षष्ठम वर्गीकरण : गुणस्थानों के आधार पर

वर्त्तमान में जैन–परम्परा में आध्यात्मिक–विकास का जो वर्गीकरण मुख्य रूप से प्रचलित है, वह गुणस्थान सिद्धान्त पर आधारित है। यह सिद्धान्त आध्यात्मिक–विकास की यात्रा में आत्मा की क्रमिक प्रगति का ज्ञान कराता है। जिस प्रकार सीढ़ी–दर–सीढ़ी चढ़ता हुआ व्यक्ति इमारत की एक मंजिल से दूसरी मंजिल पर पहुँच जाता है अथवा मार्ग में मील के पत्थरों को पीछे छोड़ता हुआ यात्री अपने गन्तव्य तक पहुँच जाता है, वैसे ही आध्यात्मिक विकास के चौदह सोपानों पर चढ़ता हुआ साधक मोक्षसाध्य पर पहुँच जाता है।[70] ये चौदह सोपान ही गुणस्थान सिद्धान्त के प्रतिपाद्य विषय हैं।

'गुणस्थान' शब्द गुण एवं स्थान शब्द से बना है, जिसमें 'गुण' आत्मा की ज्ञानादि शक्तियों का और 'स्थान' उनकी अवस्था का द्योतक है। कर्मस्तववृत्ति में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि आत्मा के जो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र गुण हैं, उनकी शुद्ध–अशुद्ध तरतमता रूप अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।[71] आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार, मोह और योग के निमित्त से आत्मा के श्रद्धा (दर्शन) और चारित्र गुण की तरतमतायुक्त अवस्था को गुणस्थान कहते हैं।[72] ये गुणस्थान इस प्रकार हैं[73] –

1) मिथ्यादृष्टि
2) सासादन
3) सम्यक्मिथ्यादृष्टि (मिश्र)
4) अविरत सम्यग्दृष्टि
5) देशविरत सम्यग्दृष्टि
6) प्रमत्त–संयत
7) अप्रमत्त–संयत
8) अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर)
9) अनिवृत्ति बादर
10) सूक्ष्म सम्पराय
11) उपशान्त–मोह छद्मस्थ वीतराग
12) क्षीण–मोह छद्मस्थ वीतराग
13) सयोगी केवली
14) अयोगी केवली

(1) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान – यह आत्मा की निकृष्टतम अवस्था है। इसमें शरीर के प्रति अहं–बुद्धि, परिवार के प्रति मम–बुद्धि, इष्ट संयोगों के प्रति सुख–बुद्धि एवं साता–सम्मान के प्रति उपादेय–बुद्धि बनी रहती है।[74] साथ ही जीव को कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, श्रेय–अश्रेय, पुण्य–पाप, तत्त्व–अतत्त्व, धर्म–अधर्म के यथार्थ स्वरूप का निश्चय नहीं हो पाता।[75]

(2) सासादन गुणस्थान – यह गुणस्थान क्रम की अपेक्षा से द्वितीय है, किन्तु इसका स्पर्श चतुर्थ गुणस्थान से पतित आत्मा करती है। उपशम सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन का एक प्रकार) की दशा में स्थित आत्मा में जब अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है, तब आत्मा मिथ्यात्वाभिमुख हो जाती है और उसी समय में सासादन गुणस्थान की प्राप्ति होती है। इसका काल अधिकतम छह आवलिका (काल की सूक्ष्म इकाई) होता है।[76]

(3) सम्यक्–मिथ्या–दृष्टि (मिश्र) गुणस्थान – यह सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व की मिश्रित अवस्था

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। दही और गुड़ की मिश्रित स्वाद जैसी यह दशा है। जब न मिथ्यात्व का उदय होता है और न अनन्तानुबन्धी कषाय का, किन्तु सत्य एवं असत्य की मिश्रित अनुभूति होती है, उस काल में यह गुणस्थान होता है। इसकी काल–स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है।[77]

(4) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – यह एक विशिष्ट उपलब्धि वाली अवस्था है। इसमें आत्मभ्रान्ति समाप्त हो जाती है, आत्मस्वरूप का रसास्वादन मिल जाता है, आत्मा को अपने आध्यात्मिक साध्य एवं साधनामार्ग का सम्यक् बोध हो जाता है। परन्तु इन्द्रिय–विषयों से जीव विरक्त नहीं हो पाता, वह हिंसादि दोषों को छोड़ नहीं पाता। यद्यपि वह संसार को उपादेय नहीं मानता, तथापि सांसारिक प्रवृत्तियों को विराम नहीं दे पाता।

(5) देशविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – इस गुणस्थान में आंशिक रूप से संयम का प्रारम्भ हो जाता है। आत्मा चौथे गुणस्थान के पूर्व तक असीम इच्छाओं में जीती है, चौथे में इच्छाएँ ससीम हो जाती हैं और इस पाँचवे गुणस्थान में इच्छाओं का सीमांकन प्रारम्भ हो जाता है। आत्मिक–रस बढ़ने लगता है, साधना में गहराई आने लगती है तथा जीवन अणुव्रतमय हो जाता है।

(6) प्रमत्तसंयत (सर्वविरत) गुणस्थान – यह वह गुणस्थान है, जिसमें पूर्ण संयम प्रारम्भ हो जाता है। साधक सर्व सावद्य कर्मों का संकल्पपूर्वक परित्याग कर महाव्रत अंगीकार कर लेते हैं और उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ शुभ भावों से सम्पादित होती हैं। वे बुद्धिपूर्वक निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। संयमित (मुनि) होने पर भी मन्द रागादि के रूप में प्रमाद का सेवन होने से इसे प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं।[78]

(7) अप्रमत्त संयत गुणस्थान – इस गुणस्थान में संयमित साधक प्रमाद का भी त्याग कर देते हैं। उनकी प्रकट रूप से राग की कोई स्थिति नहीं रहती, वे एकमात्र आत्म–स्वरूप का आनन्द लेते रहते हैं। भीतर में अचेतन मन में कषाय तरंगें उठती हैं और वहीं विलीन हो जाती हैं। इस गुणस्थान का समय अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक नहीं होता। इसके पश्चात् यदि प्रमाद (असजगता) का उदय होता है, तो साधक छठे गुणस्थान में आ जाते हैं। पुनः दोषों की अंतरंग स्वीकृति होने पर वे साधक शुद्धिकरण की प्रक्रिया को अपना कर सातवें गुणस्थान में आ जाते हैं, आत्मलीन हो जाते हैं। इस प्रकार, कभी प्रमत्त तो कभी अप्रमत्त अवस्था में झूलते रहते हैं।[79]

(8) अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर) गुणस्थान – सातवें गुणस्थान की स्थिति विशुद्ध होने पर साधक इस भूमिका में प्रवेश करते हैं, जहाँ प्रतिसमय अपूर्व–अपूर्व परिणाम (अनुभूतियाँ) आते रहते हैं और विशेष–विशेष आत्म–शान्ति की स्थिति बनती जाती है।[80] इस भूमिका में पाँच विशेष कार्य होते हैं – अपूर्व स्थिति–घात, अपूर्व रस–घात, अपूर्व गुणश्रेणी निर्जरा, अपूर्व गुणसंक्रमण एवं अपूर्व स्थितिबन्ध।[81] पूर्व के गुणस्थान में जो भूमिका निर्मित हुई थी, उसके आधार पर इस गुणस्थान में कषायों के उपशम या क्षय की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(9) अनिवृत्ति बादर गुणस्थान – इस गुणस्थान में सभी साधकों की समान परिणति होती है। आठवें तक परिणति में भेद बना रहता है, नवमें से अभेद शुरु होता है। समान समयवर्ती सभी साधकों के परिणाम समान होते हैं और प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि को प्राप्त होते हैं। कषायों का उपशम अथवा क्षय का क्रम जारी रहता है और अन्त में सूक्ष्म लोभ कषाय ही शेष रहती है।[82]

(10) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान – जिस प्रकार फर्श पर पानी गिरकर सूख जाता है, किन्तु एक निशान रह जाता है, उसी प्रकार इस गुणस्थान में साधक के अचेतन मन में कषायों के निशान जैसा सूक्ष्म लोभ कषाय का अस्तित्व रहता है,[83] अन्ततः इस सूक्ष्म लोभ का भी उपशम या क्षय हो जाता है।

(11) उपशान्त–मोह छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान – इस गुणस्थान में वही साधक प्रवेश करते हैं, जिन्होंने आठवें, नवमें एवं दसवें गुणस्थान में कषायों का उपशम किया हो। इसमें साधक छद्मस्थ (असर्वज्ञ) रहते हुए भी कुछ समय के लिए वीतरागी के समान बन जाते हैं। इसमें अन्तर्मुहूर्त्त काल तक पूर्णानन्द का सेवन करने के पश्चात् साधक की दमित वासनाएँ पुनः उभरने लगती हैं और वे नीचे के गुणस्थानों में गिर जाते हैं।[84]

(12) क्षीण–मोह छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान – इस गुणस्थान में वही साधक प्रवेश करते हैं, जिन्होंने आठवें, नवमें एवं दसवें गुणस्थानों में कषायों का क्षय किया हो। इसमें भी साधक छद्मस्थ (असर्वज्ञ) रहते हुए वीतराग–अवस्था का रसपान करते हैं।

(13) सयोगी केवली गुणस्थान – इस गुणस्थान में साधक केवल–ज्ञान (सर्वज्ञता), केवल–दर्शन (सर्वदर्शिता), अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य (बल) की प्राप्ति कर लेते हैं। वस्तुतः, ये साधक साधना के द्वारा साध्य की उपलब्धि कर लेते हैं। अब कुछ करना शेष नहीं रहता, फिर भी देह का संयोग रहने तक 'योग' प्रवृत्तियाँ स्वभाविक रूप से चलती रहती हैं।

(14) अयोगी केवली गुणस्थान – देह से सम्बन्ध छूटने से ठीक पूर्व इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है। इसमें मन–वचन–काया की सारी चेष्टाएँ शान्त होकर अयोगी अवस्था की प्राप्ति होती है। देह से सम्बन्ध छूटते ही साधक सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार, गुणस्थान–सिद्धान्त साधक की निकृष्टतम अवस्था से लेकर साध्य से एकाकार हो जाने तक के विविध सोपानों का क्रमिक चित्रण प्रस्तुत करता है। इसका उल्लेख आगम–साहित्य में 'जीवस्थान'[85] के नाम से एवं परवर्ती साहित्य में 'गुणस्थान'[86] के नाम से मिलता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.4 आध्यात्मिक साधना में आई विसंगतियाँ एवं बाधाएँ

आध्यात्मिक साधना का मार्ग सहज--स्वाधीन, निर्दोष--निराकुल, अखण्ड--अव्याबाध सुख को देने वाला है, फिर भी प्रायः यह देखा जाता है कि व्यक्ति अनेक प्रकार की विसंगतियों में फँसकर उनसे उत्पन्न होने वाली बाधाओं के कारण इस मार्ग का सम्यक् लाभ नहीं उठा पाता। जैनाचार्यों ने इन विसंगतियों को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र कहा है। कहीं--कहीं पर मिथ्यातप एवं मिथ्यापुरूषार्थ को मिथ्याचारित्र से पृथक् करके भी दर्शाया गया है। इन्हें सम्यक्तया समझकर जीवन--प्रबन्धक आध्यात्मिक साधना में आने वाली विसंगतियों एवं बाधाओं का सम्यक् प्रबन्धन करके आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर पहुँच सकता है। जिस प्रकार कुशल वैद्य रोग के कारणों को विशेष रूप से बताता है, जिससे रोगी कुपथ्य का सेवन न करे और शीघ्र ही रोगरहित हो जाए, उसी प्रकार जैनाचार्यों ने इन मिथ्याभावों को विस्तार से समझाया है, जिससे जीवन--प्रबन्धक इनका परिहार करके आध्यात्मिक आरोग्य की प्राप्ति कर सके।[87] ये मिथ्याभाव निम्न हैं --

13.4.1 मिथ्यादर्शन एवं उसका स्वरूप

जैसा कि पूर्व में बारम्बार यह उल्लेख किया गया है कि मिथ्यादर्शन आत्मा की सबसे प्रमुख बाधाओं में से एक है। यह वह दशा है, जिसमें सत्य का यथार्थ श्रद्धान नहीं हो पाता। वस्तु का स्वरूप जैसा नहीं है, वैसा मान लेना और जैसा है, वैसा नहीं मानना, यह विपरीत अभिप्राय होना ही मिथ्यादर्शन की पहचान है। जैनाचार्यों ने इस दशा को मूढ़ता, उन्मत्तता, मूर्खता या पागलपन की संज्ञा दी है, क्योंकि इस दशा में आत्मा प्रयोजनभूत विषयों (आत्मिक--लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य विषयों) को अन्यथा जानता एवं मानता है और इससे वह अपनी आत्मा का अहित ही करता है। ये प्रयोजनभूत विषय नौ हैं -- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष,[88] लेकिन मिथ्यादृष्टि आत्मा इन नवतत्त्वों के सम्बन्ध में विपरीत अभिप्राय ग्रहण कर लेती है। फलस्वरूप, उसे स्व--पर का सम्यक् श्रद्धान नहीं हो पाता और न ही आत्म--तत्त्व के स्वरूप की सम्यक् श्रद्धा हो पाती है। यहाँ तक कि यह मिथ्यादृष्टि आत्मा नवतत्त्वों के उपदेशक एवं आत्महित का सन्मार्ग बताने वाले सुदेव, सुगुरु एवं सद्धर्म (सत्शास्त्र) पर भी सम्यक् आस्था नहीं कर पाती। मिथ्यादर्शन की प्रमुख विसंगतियाँ हैं --

(1) जीव को अजीव एवं अजीव को जीव मानना -- यद्यपि देह और आत्मा भिन्न--भिन्न होते हैं, वैसे ही जैसे असि और म्यान, फिर भी मिथ्यादृष्टि देह को ही आत्मा मान लेता है। वस्तुतः, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श एवं आकार आदि विशेषताएँ तो दैहिक हैं, लेकिन वह यह मानता है कि मैं काला हूँ, गोरा हूँ, भारी हूँ, हल्का हूँ, लम्बा हूँ, बौना हूँ इत्यादि। आत्मा अजर--अमर है, लेकिन वह शरीर की उत्पत्ति--विनाश के आधार पर स्वयं का जन्म--मरण मानता है। इसी प्रकार आत्मा जानती, देखती, सोचती, समझती है, लेकिन वह यह मानता है कि ये सभी शरीर (स्नायु तंत्र) की क्रियाएँ हैं।

वह केवल देह से ही सम्बन्ध नहीं जोड़ता, अपितु पुत्र--पुत्री, स्त्री, धन--धान्य, हाथी--घोड़े,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नौकर–चाकर आदि पर–द्रव्यों से भी अपना आत्मीय सम्बन्ध मान लेता है और इस प्रकार 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, मैं इनका स्वामी हूँ, मैं इनका अधिकारी हूँ, मैं इनके सुख–दुःख का कर्त्ता एवं भोक्ता हूँ' आदि सम्बन्धों का मिथ्या आरोपण करता रहता है। पारमार्थिक–दृष्टि से तो आत्मा का पर से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, फिर भी मिथ्यादर्शन के कारण सम्बन्धों की भ्रमपूर्ण स्थिति निर्मित हो जाती है।[89]

(2) पुण्य–पाप के स्वरूप के प्रति मिथ्याभाव होना – शुभ भावों से पुण्य एवं अशुभ भावों से पाप बन्ध होता है।[90] यद्यपि अशुभ की अपेक्षा शुभ भाव किसी दृष्टि से श्रेयस्कर व एकदेश उपादेय (किंचित् ग्रहण करने योग्य) हैं, तथापि तीव्र अनन्तानुबन्धी कषाय होने से जीव अशुभ भावों को भी उपादेय मान लेता है, जैसे – क्रोध करने पर सब अनुशासित रहते हैं, झूठ बोलने से लोकप्रिय बना जा सकता है इत्यादि। दूसरे प्रकार का मिथ्यात्वी थोड़ा मन्दकषायी होता है, किन्तु वह पुण्य को ही सम्पूर्णतया उपादेय मानने की भूल कर बैठता है। वह पुण्य को ही मुक्ति का मार्ग मान लेता है। वस्तुतः, आत्मज्ञानी साधक पाप को हेय (त्याग करने योग्य) और पुण्य को पाप की अपेक्षा से एकदेश उपादेय मानता हुआ भी संवर, निर्जरा एवं मोक्ष की अपेक्षा से दोनों को हेय ही मानता है।[91]

(3) आस्रव–संवर के स्वरूप के प्रति मिथ्याभाव होना – शुभाशुभ भावों का उत्पन्न होना आस्रव है और उनका निरोध संवर है।[92] मिथ्यात्व दशा में जीव शुभ भाव में ही संवर की कल्पना कर लेता है। अतः उसके जप–तप, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, सामायिक आदि अनुष्ठान केवल शुभ भावों के लक्ष्य से ही होते हैं। वस्तुतः, शुभाशुभ भाव दोनों ही आकुलता रूप हैं, कर्मबन्धन के कारण हैं और क्रमशः सोने और लोहे की बेड़ी के समान हैं, जबकि संवर सुख रूप है, मुक्ति का साधन है।

(4) बन्ध–निर्जरा के स्वरूप के प्रति मिथ्याभाव होना – तत्त्वार्थसूत्र में **'तपसा निर्जरा च'** सूत्र निर्दिष्ट है, जिसका अर्थ है – तप से निर्जरा (अंशतः आत्म–शुद्धि एवं कर्म–क्षय) होती है,[93] इस सिद्धान्त का भी मिथ्यात्वी जीव गलत प्रयोग करता है। वह अज्ञानपूर्वक एवं फलासक्ति से तप करता है, जो निर्जरा का नहीं, अपितु बन्ध का ही कारण बनता है। शुभ भावों से युक्त तप तो पुण्यबन्ध का कारण बनता है, किन्तु मान–सम्मान, यश–कीर्त्ति, प्रतिस्पर्द्धा, गत्यानुगतिकता (देखा–देखी) आदि अशुभ भावों से युक्त तप भी पाप बन्ध का कारण होता है, जिसे मिथ्यात्वी जीव धर्म (निर्जरा) ही मानता रहता है।

(5) संसार–मोक्ष के स्वरूप के प्रति मिथ्याभाव होना – तीव्र मिथ्यादृष्टि जीव मोक्ष के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकारता। वह संसार में ही सुख–दुःख की कल्पना करता रहता है। मन्द मिथ्यादृष्टि जीव मोक्ष–सुख और स्वर्ग–सुख में भेद नहीं कर पाता। उसे स्वर्ग से भिन्न मोक्ष के सहज, स्वतंत्र, परिपूर्ण, अनन्त आत्मिक सुख की अंतरंग से स्वीकृति ही नहीं होती।

इस प्रकार, मिथ्यादर्शन के कारण जीव नौ तत्त्वों का अयथार्थ श्रद्धान करता है और इससे उसकी आध्यात्मिक साधना सम्यक् दिशा में अग्रसर नहीं हो पाती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(6) मूढ़ता – मिथ्यात्वी जीव तीन प्रकार की मूढ़ताओं से ग्रस्त होता है – देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता एवं समयमूढ़ता। देवमूढ़ता के वशीभूत होकर वह वीतराग सर्वज्ञ देवों को छोड़कर मिथ्यादृष्टि देवी–देवताओं की आराधना करता है और उनसे लोकख्याति, रूप–लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री आदि सम्पदाएँ प्राप्त होने की कामना करता है। लोकमूढ़ता के वश वह नदी स्नान, प्रातःकालीन स्नान, वृक्षपूजा, अग्निपूजा, भूमिपूजा आदि को धर्मकृत्य मानता है। समय (शास्त्र) मूढ़ होकर वह ज्योतिषविद्या, मंत्रविद्या आदि शास्त्रों के अनुसार कार्य करता है। इस प्रकार, वह मिथ्यात्व को और अधिक प्रगाढ़ करता जाता है।[94]

13.4.2 मिथ्याज्ञान एवं उसका स्वरूप

मिथ्यादर्शन का सहचारी ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को अयथार्थ जानना ही मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञानी भले ही लोक में बुद्धिमान् क्यों न कहलाए, लेकिन उसे वस्तु के सम्यक् स्वरूप का अनुभव नहीं होता, इसीलिए वह स्व–पर का सम्यक् भेद नहीं कर पाता और न ही उसे आत्मा की सच्ची अनुभूति हो पाती है। उसके ज्ञान में तीन प्रकार के दोष होते हैं – संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय। 'मैं आत्मा हूँ कि शरीर हूँ' ऐसा परस्पर विरुद्धतापूर्वक द्वन्द्वात्मक ज्ञान **'संशय'** है। 'मैं शरीर ही हूँ' ऐसा वस्तुस्वरूप से विपरीत ज्ञान **'विपर्यय'** है। 'मैं कोई भी हूँ, मुझे क्या' ऐसा निर्धारणरहित ज्ञान **'अनध्यवसाय'** है। इस प्रकार प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों में संशयादि से युक्त ज्ञान ही मिथ्याज्ञान कहलाता है।[95] इसकी प्रमुख विसंगतियाँ इस प्रकार हैं –

(1) निश्चय–व्यवहार नय सम्बन्धी अयथार्थ ज्ञान होना – जैनदर्शन अनेकान्तमूलक है। यहाँ नय सिद्धान्त का आश्रय लेकर विविध दृष्टिकोणों से वस्तु के स्वरूप का निर्धारण किया जाता है। नय का अर्थ है – देखने का दृष्टिकोण या नजरिया (Viewpoint)। आध्यात्मिक साधना में निश्चय एवं व्यवहार – इन दो नयों का प्रयोग होता है। निश्चय–नय मूलभूत सत्य का प्रकाशक है, जैसी वस्तु है, उसी रूप में वस्तु का प्रतिपादन करता है। व्यवहार–नय मूलभूत सत्य तक पहुँचाने के लिए एक साधन का कार्य करता है, वह निमित्तादि के साथ मिलाकर मूलवस्तु का कथन करता है, जैसे – 'मिट्टी का घड़ा' कहना निश्चय कथन है, जबकि जिसमें घी रखा जाता है, उसे 'घी का घड़ा' कहना व्यवहार कथन है।[96]

मिथ्याज्ञानी की नय–सम्बन्धी तीन प्रकार की भूलें होती हैं। पहली भूल यह होती है कि वह दोनों को ही यथार्थ या सत्य मान लेता है, ऐसे मिथ्याज्ञानी को उभयाभासी कहते हैं। वस्तुतः, निश्चय ही सत्य है, व्यवहार तो सत्य का उपचारमात्र है। दूसरी भूल यह होती है कि वह व्यवहार नय की उपेक्षा करके निश्चय नय को ही एकान्ततः आवश्यक मान लेता है, ऐसे मिथ्याज्ञानी को निश्चयाभासी अथवा शुष्कज्ञानी कहते हैं। यह शुष्कज्ञानी बन्ध–मोक्ष को केवल कल्पना मानकर स्वयं को सर्वथा सिद्ध–बुद्ध ही मान लेता है और मोहाधीन होकर जीता रहता है। वस्तुतः, व्यवहार नय सत्य न होते हुए भी साध्य–प्राप्ति के पूर्व तक आवश्यक है, क्योंकि यह निश्चय (साध्य) तक पहुँचने का साधन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीसरी भूल यह होती है कि मिथ्याज्ञानी निश्चय का लोपकर व्यवहार को ही सब कुछ मान लेता है, उसे व्यवहाराभासी या क्रियाजड़ कहते हैं।[97] ऐसे जीव बाह्य क्रियाओं में ही धर्म मानते हैं, उनके भीतर ज्ञान का रस नहीं होता।

इस प्रकार, नय का सम्यक् बोध न हो पाने से मिथ्याज्ञानी अथक परिश्रम करता हुआ भी आध्यात्मिक–विकास नहीं कर पाता। वास्तव में, आध्यात्मिक साधना के मार्ग में निश्चय एवं व्यवहार के बीच ऐसी व्यवस्था है कि किसी एक को मुख्य करके दूसरे को गौण तो किया जा सकता है, किन्तु किसी भी स्थिति में उसका लोप (निषेध) नहीं किया जा सकता।

(2) वस्तु के स्वरूप का सम्यक् निर्धारण नहीं कर पाना – मिथ्याज्ञानी के ज्ञान में वस्तु–स्वरूप सम्बन्धी तीन प्रकार की भूलें होती हैं – कारण–विपरीतता, स्वरूप–विपरीतता एवं भेदाभेद–विपरीतता। इन भूलों से उसका जीवन–व्यवहार अनुपयुक्त बन जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में ऐसे जीव को पागल (उन्मत्त) की उपमा दी गई है, जो वास्तविक और अवास्तविक (सत् और असत्) का भेद करने में असमर्थ होता है और इसीलिए नहीं करने योग्य कार्यों में भी रच–पच जाता है।[98]

- ★ कारण–विपरीतता – मूल कारण को नहीं पहचानना एवं अकारण को कारण मानना, जैसे – दुःखी स्वयं से होना और आरोप दूसरों/परिस्थिति पर लगाना।
- ★ स्वरूप–विपरीतता – वस्तु के मूलस्वरूप को नहीं पहचानना और अन्यथा मानना, जैसे – आत्मा का मूल स्वरूप ज्ञाता–दृष्टा रहना है, किन्तु उसे कर्त्ता–भोक्ता मानना।
- ★ भेदाभेद–विपरीतता – दो भिन्न वस्तुओं को अभिन्न एवं अभिन्न वस्तुओं को परस्पर भिन्न मानना, जैसे – बाह्य वस्तुओं एवं शरीर से आत्मा त्रिकाल भिन्न है और अपने ज्ञानादि गुणों से त्रिकाल अभिन्न है, किन्तु इसका उल्टा मान लेना।[99]

इस प्रकार, मिथ्याज्ञानी इन विपरीतताओं से ग्रस्त होकर वस्तु के यथार्थ स्वरूप की अनुभूति से वंचित रहता है और वह आध्यात्मिक साधना में आगे नहीं बढ़ पाता।

13.4.3 मिथ्याचारित्र एवं उसका स्वरूप

आत्मस्वभाव से विमुख होकर पर–सम्मुख होना तथा कषाययुक्त प्रवृत्तियाँ करना ही मिथ्याचारित्र है। यहाँ यह समझना होगा कि आत्मा का स्वभाव तो ज्ञाता–दृष्टापना ही है, परन्तु जब पदार्थों को देखकर या जानकर आत्मा उनमें इष्ट–अनिष्ट की मिथ्या कल्पना करने लगती है, तो राग–द्वेष की उत्पत्ति होती है और इसी का नाम मिथ्याचारित्र है। मूल में परिस्थिति या पदार्थ न तो अच्छे होते हैं और न ही बुरे, परन्तु इनसे जुड़कर व्यक्ति इष्ट–अनिष्ट की कल्पना कर स्वयं राग–द्वेष रूप दोषों को उत्पन्न कर लेता है।[100] ये राग–द्वेष ही विस्तार पाकर क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरूषवेद एवं नपुंसकवेद के रूप में परिणत हो जाते हैं।[101] इन कषायों की मात्रा एवं तीव्रता जितनी अधिक होती है, उतनी ही आत्मा स्वस्वभाव से विमुख होती जाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इससे ही व्यक्ति का व्यवहार भी हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह – इन पाँचों पापों से युक्त हो जाता है। इसे ही असंयम भी कहते हैं।

मिथ्याचारित्र सम्बन्धी प्रमुख विसंगतियाँ इस प्रकार हैं –

(1) आध्यात्मिक साधना के लिए उचित पात्रता न होना – वर्त्तमानयुग भौतिकवाद का युग है, जिसमें भोग–विलास के साधनों के प्रति विशेष आकर्षण है। इसमें अर्थ एवं भोग सम्बन्धी पुरूषार्थ जितना–जितना बढ़ा है, उतना–उतना धर्म एवं मोक्ष पुरूषार्थ का ह्रास भी हुआ है। इससे व्यक्ति में आध्यात्मिक साधना हेतु योग्य पात्रता का भी अभाव हो रहा है। श्रीमद्राजचन्द्र ने ऐसे जीवों का लक्षण इस प्रकार बताया है[102] –

काळदोष कळिथी थयो, नहि मर्यादाधर्म।
तोय नहीं व्याकुळता, जुओ प्रभु मुजकर्म।।

(2) मतार्थता होना, आत्मार्थता न होना – मत जिसका लक्ष्य है, वह जीव मतार्थी एवं आत्मा जिसका लक्ष्य है, वह जीव आत्मार्थी होता है। वर्त्तमान युग में साधक की मतार्थता (मताग्रहीपना) बढ़ती जा रही है और आत्मार्थता (आत्मलक्षीपना) घटती जा रही है। मिथ्याचारित्र की तीव्रता होने से पहली भूल यह होती है कि साधक गच्छ, मत, पन्थ, परम्परा, कुल, जाति के प्रति मोहान्ध हो जाता है, जिसे दृष्टि–राग भी कहा जाता है। दूसरी भूल यह होती है कि वह बाह्य त्याग के आधार पर ही किसी को भी गुरु मान लेता है। तीसरी भूल, परमात्मा को भी केवल दैहिक लक्षणों अथवा समवशरण आदि सिद्धियों के आधार पर समझता है, न कि उनके अंतरंग स्वरूप के आधार पर। चौथी भूल, आत्मज्ञान के उपदेशक सद्गुरु का प्रत्यक्ष योग मिलने पर भी उनसे दूरी बना लेता है। पाँचवी भूल, असद्गुरु का सान्निध्य मिलने पर उनके निकट जाकर उनके प्रति विशेष निष्ठा उत्पन्न करता है, क्योंकि वहाँ उसके मान की पुष्टि होती है, इत्यादि।[103] इस प्रकार, मतार्थी जीव पक्षपातबुद्धि होने के कारण विवेकपूर्वक निर्णय नहीं ले पाता, आत्मार्थीपने का अभाव होने से वह आध्यात्मिक साधना से वंचित रह जाता है।

नहि कषाय उपशान्तता, नहि अन्तर वैराग्य।
सरळ पणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य।।

(3) सद्गुरु के प्रति सम्यक् भक्ति का अभाव होना – सद्गुरु का सान्निध्य मिलने पर उनके प्रति जो समर्पण होना चाहिए, वह भी मिथ्याचारित्र के कारण नहीं हो पाता। मान–कषायवशात् उनके समक्ष अपने दोषों की स्वीकृति भी नहीं हो पाती। श्रीमद्राजचन्द्र ने 'सद्गुरुभक्तिरहस्य' नामक काव्य में भक्ति के आध्यात्मिक स्वरूप का सुन्दर चित्रण किया है। वस्तुतः, सांसारिक–कामनाओं को छोड़कर एकमात्र आत्मिक–विकास के लक्ष्य से की जाने वाली भक्ति ही आध्यात्मिक–विकास का साधन बन सकती है।[104]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(4) तप–त्याग का सम्यक् सन्तुलन न होना – मिथ्याचारित्र के वशीभूत होकर तप–त्याग का विवेक नहीं रहता। कोई भोग–लालसा से बाध्य होकर तप–त्याग को ही नकार देता है और साधन (मन्दकषाय एवं निवृत्ति) के अभाव में आत्मज्ञान से वंचित रह जाता है, तो कोई तप–त्याग में ही अटक कर आत्मज्ञान के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता। कई लोग साधारण से तप–त्याग को ग्रहण करने में भी कतराते हैं और कई बड़ी–बड़ी प्रतिज्ञा धारण करके जैसे–तैसे दुःखी होकर उसे पूर्ण करते हैं। कुछ लोग पाप से धनार्जन भी करते रहते हैं और बड़े–बड़े दान भी देते रहते हैं, जबकि कुछ लोग आरम्भ–समारम्भ का त्याग करके याचना आदि करते हुए देखे जाते हैं इत्यादि। इस प्रकार किसी एक धार्मिकपक्ष को मुख्यता देकर अन्य पक्षों की उपेक्षा करते हैं, इससे असन्तुलन उत्पन्न होता है और आध्यात्मिक साधना का सम्यक् विकास नहीं हो पाता।

त्याग–विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान।
अटके त्याग–विरागमां, तो भूले निजभान।। [105]

(5) व्रत–सम्बन्धी अयथार्थ आचरण – जैनदर्शन में उन्हीं व्रत–वैराग्यादि को सम्यक् कहा गया है, जो आत्मज्ञान के साथ अथवा उसके हेतु से ग्रहण किए जाते हैं, किन्तु मिथ्याचारित्र वाला जीव लक्ष्यविहीन होकर भी इन्हें स्वीकार कर लेता है। वह न किसी मान–सम्मान की प्राप्ति के लिए और न ही किसी विशेष लोभ की पूर्त्ति के लिए, अपितु इन्हें धर्म जानकर अर्थात् मोक्ष का साधन मानकर अणुव्रत और महाव्रत का पालन करता है। परिणामतः मोक्ष तो प्राप्त नहीं करता, केवल स्वर्गादिक को ही साधता है। जैसे कोई मिश्री को अमृत जानकर खा भी ले, तो भी वह अमर नहीं हो सकता, वैसे ही साधक को अपनी मान्यता के आधार पर नहीं, अपितु साधन के आधार पर फल मिलता है।

(6) योग–साधना का अयथार्थ अनुकरण – मिथ्याचारित्र का एक अन्य रूप हठ–साधना के रूप में दिखाई देता है। व्यक्ति सम्यग्ज्ञान के आलोक के बिना ही स्वच्छन्द होकर बड़ी–बड़ी हठ साधनाएँ करने लगता है, जैसे – प्राणायाम, आसन–साधना, मौन साधना, अखण्ड जप, शास्त्र–रटन, पंचाग्नितप, उग्रतप, वनवास, उग्र–अभिग्रह आदि वस्तुतः, आध्यात्मिक साधना सहजता के साथ आगे बढ़ने की साधना है, न कि हठ के आधार पर। हठ साधना कई बार तीव्र उत्तेजना, रोष, क्रोध, श्राप आदि का रूप भी धारण कर लेती है। इस सन्दर्भ में अमृतचन्द्राचार्य,[106] सन्तआनन्दघनजी,[107] सन्तचिदानन्दजी,[108] श्रीमद्देवचन्द्रजी,[109] श्रीमद्राजचन्द्र,[110] सहजानन्दघनजी[111] आदि की रचनाएँ इसी तथ्य की अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार, मिथ्याचारित्र के वशीभूत होकर की जाने वाली आध्यात्मिक–साधना भी नाममात्र की साधना बन जाती है, उससे वास्तविक आध्यात्मिक विकास नहीं हो पाता।

सार रूप में आध्यात्मिक साधना की इन तीनों विसंगतियों को हमने जाना। यहाँ यह समझना होगा कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र – तीनों परस्पर भिन्न दिखते हुए भी अभिन्न ही हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो प्रवृत्ति मिथ्याज्ञान की हेतु होती है, वही कहीं न कहीं मिथ्यादर्शन एवं मिथ्याचारित्र की पोषक भी होती है, इसी प्रकार मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र की प्रवृत्तियों को भी जानना चाहिए। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति इन तीनों विसंगतियों का त्याग करे और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का उपाय कर आध्यात्मिक साधना के मार्ग में अग्रसर हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.5 जैनधर्म और आचारशास्त्र के आधार पर आध्यात्मिक–जीवन–प्रबन्धन

प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम आध्यात्मिक–विकास का सामान्य स्वरूप बताया गया। उसके पश्चात् आध्यात्मिक–विकास के आवश्यक घटक – साधक, साधन और साध्य के स्वरूप एवं इनकी पारस्परिक एकरूपता को स्पष्ट किया गया। फिर आध्यात्मिक साधकों एवं उनकी साधना के विभिन्न स्तरों की चर्चा की गई। तत्पश्चात् आध्यात्मिक साधना में अवरोध उत्पन्न करने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र के स्वरूप की चर्चा की गई। अब, आध्यात्मिक विकास में सहायक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है। साथ ही, इन तीनों के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्षों को भी स्पष्ट किया जा रहा है।

13.5.1 आध्यात्मिक–जीवन–प्रबन्धन का सैद्धान्तिक–पक्ष

जिस प्रकार, पूर्व अध्यायों में सैद्धान्तिक–पक्ष (Theoretical Aspect) के पश्चात् प्रायोगिक–पक्ष (Practical Aspect) को समझाया गया है, उसी प्रकार से प्रस्तुत अध्याय में भी किया गया है। सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत आध्यात्मिक–प्रबन्धन क्या है, इसकी आवश्यकता क्यों है और इसके लक्ष्य को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इत्यादि प्रश्नों का सैद्धान्तिक समाधान किया गया है।

(1) आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन की मूल अवधारणा

आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य की प्राप्ति की जा सके। चूँकि आध्यात्मिक–जीवन का मुख्य लक्ष्य मोक्ष है, अतः हम कह सकते हैं कि आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन वस्तुतः मोक्षमार्ग का प्रबन्धन है। यह धर्म, अर्थ और काम से ऊपर उठकर मोक्ष–प्राप्ति की प्रक्रिया है। मोक्ष–प्राप्ति के लिए मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र बाधक कारण हैं, ये तीनों मोक्षमार्ग नहीं, संसार–परिभ्रमण के मार्ग हैं, अतः साधना के द्वारा इन तीनों बाधक कारणों से मुक्त होने की प्रक्रिया को भी आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन कहा जा सकता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को मोक्ष–प्राप्ति का साधक कारण बताया गया है। कहा गया है कि ये तीनों रत्नत्रय हैं और इनकी पूर्णता ही मोक्ष है,[112] अतः यह भी कहा जा सकता है कि इन तीनों की प्राप्ति की प्रक्रिया आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन है। एक अन्य दृष्टिकोण से यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा को स्थित करने एवं परभावों से आत्मा को मुक्त करने की प्रक्रिया का नाम आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन है। एक और दृष्टिकोण से मोक्ष आत्मिक तनाव एवं क्षोभ से मुक्ति है, अतः जिसके द्वारा व्यक्ति और समाज तनावों से मुक्त बनें, वही आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन है।

कहा जाता है – **'प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते'** अर्थात् उद्देश्य के बिना मन्दबुद्धि भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि मोक्ष के स्वरूप को समझते हुए सर्वप्रथम यह जाना जाए कि वह अन्य पुरूषार्थों से श्रेष्ठ क्यों है? तभी कोई साधक आध्यात्मिक–विकास को अपना जीवन–लक्ष्य बनाकर उसके सम्यक् प्रबन्धन की दिशा में अग्रसर हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकता है।

(2) मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष का शाब्दिक अर्थ है – 'मुक्ति' और इसी आधार पर, तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, आत्मा की सम्पूर्ण कर्मों से मुक्ति मोक्ष है।[113] नियमसार में कहा गया है – 'सुख–दुःख, पीड़ा–बाधा एवं जन्म–मरण से छुटकारा मोक्ष (निर्वाण) है।'[114] अन्यत्र यह भी कहा गया है – 'इन्द्रिय–विषयों की इच्छा और उपसर्ग, मोह और विस्मय, निद्रा, भूख और प्यास का अभाव हो जाना मोक्ष है।'[115] उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार – 'जिसे महर्षि प्राप्त करते हैं, वह स्थान मोक्ष है, जो अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम (मंगल), शिव (कल्याण) और अनाबाध आदि नामों से प्रसिद्ध है।'[116] इनसे स्पष्ट है कि मोक्ष एक स्थान भी है और स्थिति (आत्मावस्था) भी। स्थान के रूप में यह लोक का अग्र (उच्चतम) भाग है और स्थिति की अपेक्षा से यह आत्मा की सर्वविभावों – क्रोधादि परिणामों, सर्वकर्मों, देहादि बाह्य संयोगों, सर्वदुःखों से मुक्त होने की अवस्था है। संक्षेप में, 'मो' का अर्थ है, 'मोह' एवं 'क्ष' का अर्थ है 'क्षय', अतः मोह यानि भ्रम, कल्पना, अवास्तविकता का क्षय (नाश) हो जाना मोक्ष है।

मोक्ष का अर्थ केवल निषेधात्मक (नास्तिरूप) ही नहीं है। यह मानना भूल होगी कि मोक्ष शून्यावस्था है, क्योंकि मोक्ष का अपना विधेयात्मक (अस्तिरूप) वैशिष्ट्य भी है। आप्तमीमांसावृत्ति के अनुसार – 'स्वात्मा की उपलब्धि मोक्ष है'।[117] ज्ञानार्णव के अनुसार – 'जो संसार का प्रतिपक्षी है, वह मोक्ष है। जो चिदानन्दमयी सर्वोच्च (परिपूर्ण) दशा है, वह मोक्ष है। जो अतीन्द्रिय, अनुपम, अविच्छिन्न, स्वाभाविक, विषयातीत, पारमार्थिक सुख रूप है, वह मोक्ष है।'[118] तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है – मोक्ष वह अवस्था है, जिसमें आत्मा क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान), क्षायिकदर्शन (केवलदर्शन), क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र (वीतरागता), क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग एवं क्षायिकवीर्यादि से परिपूर्ण हो जाती है।[119] इस प्रकार मोक्ष आत्मा की पूर्ण शुद्ध, स्वतंत्र एवं स्वाभाविक अवस्था है।

(3) मोक्ष में ही परम सुख

यह बारम्बार कहा जाता है कि मोक्ष का सुख एक विशिष्ट सुख है, विषय सुख इसके समक्ष तुच्छ है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ सकता है कि मोक्ष का सुख श्रेष्ठ है, तो क्यों है?

जैनदर्शन मूलतः आध्यात्मिक विचारधारा है, इसमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पुरूषार्थों का गहराई से विश्लेषण किया गया है। यद्यपि चारों पुरूषार्थों का उद्देश्य दुःख से मुक्ति एवं सुख की प्राप्ति ही है, फिर भी एकमात्र मोक्ष ही ऐसा पुरूषार्थ है, जो अपने उद्देश्य की सम्यक् पूर्त्ति करता है। प्रशमरति प्रकरण में कहा गया है – काम पुरूषार्थ दुःख का हेतु होने से दुःख रूप है, अर्थ पुरूषार्थ उपार्जन, रक्षण एवं विनाश के प्रसंगों में दुःख का कारण बनता है और धर्म (पुण्यानुबन्धी) का फल अर्थ एवं काम होने से वह भी दुःख हेतु ही है, अतः सर्वथा अविनाशी और सुख–स्वरूप होने के कारण मोक्ष ही परम पुरूषार्थ है।[120]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक भिन्न दृष्टिकोण से भी इस तथ्य को समझा जा सकता है। यदि हम दुःख का मनोवैज्ञानिक कारण खोजें, तो वह इच्छा, तृष्णा एवं आकांक्षा ही है। जैसे ही बाह्य पदार्थों को जानकर आत्मा में उनके प्रति इष्ट–अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसे ही इच्छाओं का जन्म होता है और आत्मा में दुःख की अनुभूति होने लगती है। अतः दुःख का इच्छाओं से सीधा सम्बन्ध है। दुःख से मुक्ति के लिए व्यक्ति चारों पुरूषार्थों में से किसी न किसी पुरूषार्थ का आश्रय लेता है। इन पुरूषार्थों की दिशाओं में मूलभूत अन्तर है। अर्थ एवं काम इच्छाजन्य दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए इच्छापूर्त्ति का प्रयत्न करते हैं। धर्म इच्छाओं को परिवर्त्तित (सात्विक) करने का प्रयत्न करता है। किन्तु इन तीनों पुरूषार्थों से इच्छाएँ सदा के लिए समाप्त नहीं हो पाती, अतः मोक्ष–पुरूषार्थ इच्छापूर्त्ति के बजाय इच्छाओं से मुक्ति का प्रयत्न करता है। इसके पीछे सिद्धान्त यह है कि जितनी–जितनी इच्छाएँ मिटती जाती हैं, उतनी–उतनी दुःखों से मुक्ति भी मिलती जाती है, अन्ततः पूर्ण इच्छारहित अवस्था आने पर परमसुख की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार विषय–सुख, सुख का केवल बाह्य उपचार करता है, जबकि मोक्षसुख दुःख के कारणों को मूल से हटाकर स्थायी सुख की प्राप्ति कराता है। यही कारण है कि मोक्ष सुख को ही जैनदर्शन में परमसुख कहा जाता है। निम्न तालिका के माध्यम से विषय–सुख की तुलना में मोक्ष–सुख में निहित गुणों को स्पष्ट किया जा रहा है[121] –

क्र.	विषय–सुख के दोष	मोक्ष–सुख के गुण
1)	यह प्रतिसमय क्षीण होता है और अन्ततः समाप्त हो जाता है।	यह अक्षय होता है और सदाकाल बना रहता है।
2)	यह अन्त में नीरस हो जाता है।	इसकी सरसता सदैव बनी रहती है।
3)	यह आरोपित सुख होता है।	यह वास्तविक होता है।
4)	यह पराधीन सुख है।	यह स्वाधीन सुख है।
5)	यह आत्मा को विकारी बनाता है।	यह निर्विकारी बनाता है।
6)	यह जड़ता लाता है।	यह ज्ञानमय बनाता है।
7)	यह श्रमसाध्य है।	यह सहज है।
8)	यह सीमित होता है।	यह असीम होता है।
9)	इसके आदि और अन्त में दुःख ही दुःख है और मध्य में क्षणिक सुखाभास है।	इसके आदि, मध्य एवं अन्त में सुख ही सुख है।
10)	यह बाधा (अन्तराय) से युक्त होता है।	यह सदा निराबाध होता है।
11)	इसके भोग से शक्ति का क्षय होता है।	इससे शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।
12)	यह पूर्वकृत पुण्य पर निर्भर होता है।	यह केवल आत्मनिर्भर होता है।
13)	यह सुख निजस्वरूप का भान भुलाता है।	यह निजस्वरूप का स्मरण कराता है।
14)	यह आकुलता युक्त होता है।	यह निराकुल होता है।
15)	यह भय और शोक को जन्म देता है।	यह अभय और अशोक बनाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्र.	विषय–सुख के दोष	मोक्ष–सुख के गुण
16)	यह पाप कर्मों का बन्ध करने वाला है।	यह सब कर्मों का क्षय करने वाला है।
17)	यह तन, मन एवं आत्मा को रोगी बनाने वाला है।	यह सभी को आरोग्य एवं स्वस्थता प्रदान करने वाला है।
18)	यह हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह के दोषों को बढ़ाने वाला है।	यह सभी दोषों से मुक्ति दिलाने वाला है।
19)	यह देश, काल, परिस्थिति एवं व्यक्ति की रुचि के सापेक्ष है।	यह परद्रव्यों एवं परभावों से निरपेक्ष है।
20)	यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को दूषित करता है।	यह निष्कलंक और निर्दोष होता है।
21)	यह पर्यायदृष्टि से होता है।	यह द्रव्यदृष्टि से मिलता है।
22)	यह राग–द्वेष पूर्वक होता है।	यह विरागता और वीतरागता के साथ होता है।
23)	यह सदैव अपूर्ण होता है।	यह सदैव परिपूर्ण होता है।
24)	यह दुर्गतियों में भटकाता है।	यह परमगति में ले जाता है।

इस प्रकार, मोक्ष–सुख एवं विषय–सुख का संक्षेप में तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया। निष्कर्ष यह है कि विषयसुख अनेक प्रकार के दोषों से युक्त होता है और इसीलिए मोक्षसुख ही सर्वथा आत्महितकारी है। अतः जीवन–प्रबन्धक को मोक्ष–प्राप्ति का विशेष प्रयत्न करना चाहिए।

(4) मोक्ष का मार्ग

मोक्ष प्राप्ति के लिए मोक्ष का सम्यक् मार्ग जानना अत्यावश्यक है। वस्तुतः, आत्मा सच्चिदानन्दमय, स्व–पर प्रकाशक, अजर–अमर–अविनाशी, देहादि संयोगों से रहित, ज्ञानादि अनन्तगुणों का पिण्ड, शुद्ध स्वरूप है। इस शुद्ध–स्वरूप का आश्रय लेकर उत्पन्न होने वाली ज्ञाता–दृष्टा या साक्षी भाव की प्रवृत्ति ही मोक्ष–प्राप्ति का मूल मार्ग है।[122] इस मोक्षमार्ग में बाधा रूप आत्मा के ही राग–द्वेष और अज्ञान हैं, इनसे निवृत्त होकर ही मोक्षमार्ग में आगे बढ़ा जा सकता है।[123] इन बाधाओं को ही सर्वसामान्य रूप से 'मोह' कहा जाता है। मोह का तात्पर्य केवल राग, प्रीति, स्नेह से नहीं है। मोह के अन्तर्गत तो आत्मा के सभी विकारी परिणामों का समावेश हो जाता है। मोह का एक अर्थ भ्रम या कल्पना भी माना गया है और इस दृष्टि से आत्मा के सभी भ्रमित परिणाम मोह हैं। इस आधार पर मोक्षमार्ग और कुछ नहीं, बस! मोह से निवृत्त होने की प्रक्रिया है। दूसरे शब्दों में, भ्रमपूर्ण परिणामों से छूटकर वास्तविकता में जीने की दिशा में प्रवृत्त होना ही मोक्षमार्ग है।

मोक्षमार्ग को और गहराई से समझाने के लिए जैनाचार्यों ने मोह के दो मुख्य भेद बताए हैं – दर्शनमोह और चारित्रमोह।

(क) दर्शनमोह – यह आत्मा के दृष्टिकोण को भ्रमित बनाता है, इसके सद्भाव में आत्मा को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षमार्ग की सच्ची आस्था ही नहीं होती। दूसरे शब्दों में, अपने आत्मस्वरूप का सच्चा श्रद्धान ही नहीं हो पाता। यह मोक्षमार्ग की प्रथम ग्रन्थि है, जिसका छेदन किए बिना जीव का मोक्षमार्ग प्रारम्भ ही नहीं होता।

(ख) चारित्रमोह – यह आत्मा को सम्यक् आचरण करने से भ्रमित करता है। इसके प्रभाव से आत्मा शुभाशुभ भावों से ऊपर उठकर शुद्ध भावों अर्थात् ज्ञाता–दृष्टाभाव को प्राप्त नहीं हो पाती। इसी कारण राग–द्वेष एवं कषायों का क्षय नहीं हो पाता और सहज स्वाभाविक वीतरागदशा प्रकट नहीं हो पाती।

इन दर्शनमोह एवं चारित्रमोह से मुक्ति का उपाय करना ही मोक्षमार्ग है। दर्शनमोह से मुक्ति का अर्थ है – आत्मबोध की प्राप्ति करना एवं चारित्रमोह से मुक्ति का अभिप्राय है – वीतरागता की प्राप्ति करना।[124] इन दोनों में भी पहले दर्शनमोह और फिर चारित्रमोह की निवृत्ति से ही सम्यक् मोक्षमार्ग बनता है। अतः पहले आत्मबोध की प्राप्ति तथा बाद में कषायमुक्ति या वीतरागता का प्रयत्न आध्यात्मिक जीवन–प्रबन्धन की सही दिशा है।

इन दर्शनमोह एवं चारित्रमोह पर विजय प्राप्त करने के लिए जैनाचार्यों ने त्रिविध साधना–मार्ग का विधान किया है। इसके तीन अंग हैं – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इन तीनों की एकता से ही मोक्षमार्ग का निर्माण होता है।[125] इनमें से एक भी न हो, तो मोक्ष का उपाय असम्भव है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के अभाव में आचरण सम्यक् नहीं होता और सम्यक् आचरण के अभाव में मुक्ति भी नहीं होती।[126]

अब, यह आवश्यक होगा कि हम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की अवधारणा को स्पष्टतया समझें।

(5) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का स्वरूप

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को 'रत्नत्रय' कहा गया है और इसे जैनाचार्यों ने भिन्न–भिन्न नयों (दृष्टिकोणों) से समझाया है, जो इस प्रकार हैं[127] –

	सम्यग्दर्शन	सम्यग्ज्ञान	सम्यक्चारित्र
व्यवहार नय	नवतत्त्वों (पदार्थ) का सम्यक् श्रद्धान	नवतत्त्वों (पदार्थ) का सम्यक् बोध	अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति
निश्चय नय	परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का सम्यक् श्रद्धान (आत्म–श्रद्धान)	परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का सम्यक् बोध (आत्म–ज्ञान)	शुभ–अशुभ से निवृत्ति, शुद्ध में प्रवृत्ति (आत्म–स्थिरता)

(क) सम्यग्दर्शन

जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि सम्यग्दर्शन आत्मा के 'दर्शन' (श्रद्धा) नामक गुण की स्वभाव पर्याय है। दर्शन गुण का सम्बन्ध किसी विषय या वस्तु के बारे में मान्यता, दृष्टिकोण, आस्था, श्रद्धा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विश्वास या प्रतीति बनाने से है, जैसे – 'यह ऐसा ही है'। मोक्षमार्ग की दृष्टि से, जब तक मान्यता विपरीत बनी रहती है, तब तक मिथ्यादर्शन नाम पाती है, परन्तु जब यह सही हो जाती है, तब सम्यग्दर्शन कहलाती है। इस दशा की प्राप्ति हेतु पूर्व में साधक देव–गुरु–धर्म के प्रति समर्पित होता है, उनके द्वारा उपदिष्ट विश्व–व्यवस्था को समझता है और उसमें प्रयोजनभूत नवतत्त्वों पर सच्ची श्रद्धा करता है, फिर इनमें छिपी स्व और पर की पहचान का सम्यक् भेदज्ञान कर उस पर आस्था करता है। ऐसा करता हुआ अन्ततः अपनी आत्मा का सम्यक् श्रद्धान करता है।[128] इस आत्म–श्रद्धान को ही निश्चय–दृष्टि से सम्यग्दर्शन कहते हैं एवं इसकी पूर्ववर्ती अवस्थाओं को व्यवहार–दृष्टि से सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(ख) सम्यग्ज्ञान

यह आत्मा के 'ज्ञान' नामक गुण की स्वभाव पर्याय है। ज्ञान गुण के द्वारा ही आत्मा किसी विषय या वस्तु के बारे में जानने, देखने, सोचने आदि की क्रिया करती है। अध्यात्म के क्षेत्र में ज्ञान का सम्बन्ध मूलतः शास्त्रज्ञान से नहीं, अनुभूति ज्ञान से होता है। मोक्षमार्ग की दृष्टि से, जब तक यह ज्ञान विपरीत होता है, तब तक मिथ्याज्ञान नाम पाता है, परन्तु यही ज्ञान जब मोक्षमार्ग के अनुकूल हो जाता है, तब सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हेतु साधक पूर्व में देव–गुरु–धर्म के उपदेशों को सम्यक्तया श्रवण करता है, उन पर उचित चिन्तन–मनन कर विश्व के यथार्थ स्वरूप को समझता है, फिर उसमें प्रयोजनभूत नवतत्त्वों को सम्यक्तया ग्रहण करता है, फिर इनमें निहित स्व और पर की सच्ची समझ बनाता है एवं अन्ततः भेदज्ञान के बल पर आत्मा की सम्यक् अनुभूति करता है। इस आत्मज्ञान या आत्मबोध की स्थिति को ही निश्चय–दृष्टि से सम्यग्ज्ञान कहते हैं एवं इसकी पूर्ववर्त्ती अवस्थाओं को व्यवहार–दृष्टि से सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

मूलतः सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन दोनों का प्रकटीकरण एक साथ ही होता है।[129] निश्चय सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन के होने पर ही जीव की आत्मरुचि बढ़ती है एवं विशिष्ट विवेक की जागृति होती है और वह चारित्रमोह पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर देता है, परिणामतः सम्यक्चारित्र रूप शुद्ध–पर्याय का प्रादुर्भाव होता है।

(ग) सम्यक्चारित्र

यह आत्मा के 'चारित्र' नामक गुण की निर्मल पर्याय है। चारित्र गुण वह शक्ति है, जिसके द्वारा जीव अशुभ, शुभ या शुद्ध भाव करता है। मोक्षमार्ग की दृष्टि से, जब तक जीव को सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान नहीं होता, तब तक उसमें शुभ–अशुभ भावों का संचार होता रहता है, जिसे मिथ्याचारित्र कहते हैं, परन्तु जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रकट हो जाते हैं, तब शुद्ध भाव रूप सम्यक्चारित्र का प्रादुर्भाव होता है। इस दशा की प्राप्ति हेतु साधक सर्वप्रथम अशुभ भावों से निवृत्त होकर शुभ भावों में प्रवृत्त होता है, इसे व्यवहार दृष्टि से सम्यक्चारित्र कहा जाता है।

सम्यक्चारित्र की यह विशेषता है कि इसकी मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है। यह सम्यग्दर्शन से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रारम्भ होता है और वीतरागदशा की प्राप्ति के साथ परिपूर्ण होता है। इस बीच में जितने–जितने अंश में शुद्ध भाव होते हैं, उतना–उतना सम्यक्चारित्र होता है और शेष अंशों में अस्थिर चारित्र अर्थात् अपूर्ण सम्यक्चारित्र बना रहता है। अपनी दशा को उत्तरोत्तर बढ़ाने हेतु साधक बारम्बार वस्तु–स्वरूप या विश्व–व्यवस्था के आधार पर जीवन को ढालता है। वह अंतरंग में कषायों का शमन–दमन करता हुआ समत्व–भाव को बढ़ाता है। इस प्रक्रिया में क्रमशः अणुव्रतों एवं महाव्रतों को ग्रहण करता है तथा भावों को निर्मल करता है। अन्ततः, वह पूर्ण सम्यक्चारित्र को प्राप्त हो जाता है।

अब, यह प्रश्न उठ सकता है कि विश्व–व्यवस्था क्या है और कैसी है, जिसके बल पर साधक अपनी दृष्टि को परिमार्जित, ज्ञान को निर्मल एवं आचरण को समत्व की दिशा में अग्रसर करता है।

(6) जैनदृष्टि के आधार पर विश्व–व्यवस्था

जैनदर्शन में विश्व (लोक) की जो व्यवस्था बताई गई है, उसका आधार वैज्ञानिक है और साथ ही वह जीव को समत्व भाव की ओर ले जाने वाली है। इस विश्व–व्यवस्था का वर्णन हमें भगवतीसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, द्रव्यसंग्रह आदि अनेक जैनशास्त्रों में मिलता है।

भगवान् महावीर के अनुसार, यह विश्व छह प्रकार (जाति) के द्रव्यों का समूह है। ये हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल।[130] इनमें से प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों का समूह है। ये गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं तथा द्रव्य से कभी पृथक् नहीं होते, जैसे – आत्मा में ज्ञानगुण, पुद्गल में स्पर्शगुण इत्यादि।[131] ये गुण स्वयं क्रियाशील होते हैं और प्रतिसमय बदल–बदल कर अपना कार्य करते रहते हैं, जिन्हें 'पर्याय' कहा जाता है, जैसे – ज्ञानगुण का कार्य प्रतिसमय जानना है, स्पर्शगुण का कार्य मृदु, कठोर आदि होना है, इत्यादि। यह पर्याय वस्तुतः गुणों की अवस्था ही होती है। इस प्रकार, विश्व अनन्त द्रव्य–गुण–पर्यायात्मक है। यहाँ यह विशेषता है कि द्रव्य और गुण तो नित्य हैं, जबकि पर्याय अनित्य है। इसे ही उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्त (Permanency with a change) विश्व–व्यवस्था कहा गया है।[132] उदाहरणार्थ, आम (पुद्गल) एक द्रव्य है, उसमें स्वाद नामक गुण है एवं खट्टा, मीठा आदि उसकी (स्वाद गुण की) पर्याय है। व्यवहार–दृष्टि से कहा जा सकता है कि आम और उसकी स्वाद नामक शक्ति केरी अवस्था में भी वही थी एवं पकने के पश्चात् भी वही रही, किन्तु स्वाद की पर्याय पूर्व में खट्टी थी, क्रमशः मीठी होती गई।

द्रव्यों में जो गुण होते हैं, उनके मूलतः दो भेद हैं – सामान्य गुण एवं विशेष गुण। सामान्य गुण वे हैं, जो सभी द्रव्यों में पाए जाते हैं और विशेष गुण वे हैं, जो सभी द्रव्यों में न रहकर अपनी–अपनी जाति वाले द्रव्यों में ही रहते हैं। उदाहरणार्थ, अस्तित्व गुण आदि सभी द्रव्यों का सामान्य गुण है, जबकि ज्ञानगुण आत्मा का विशेष गुण है।[133]

विशेष गुणों के आधार पर जीवादि छह द्रव्यों को स्पष्टतया समझा जा सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

★ **जीव द्रव्य** – इनके अपर नाम आत्मा, चेतन, प्राणी, जन्तु आदि हैं। ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, वीर्य, क्रियावती शक्ति (गमनागमन की शक्ति) आदि इनके विशेष गुण हैं।[134] ये संकोच–विस्तार गुण से भी युक्त होते हैं।[135] इनमें रूप, रस, स्पर्श, गन्ध आदि गुणों का अभाव होता है। इनकी संख्या अनन्त है। जीव को छोड़कर शेष समस्त द्रव्य जड़, अचेतन, अनात्मा या अजीव आदि कहलाते हैं।

★ **पुद्गल द्रव्य** – 'पुद्' का अर्थ है – पूरण (मिलना) तथा 'गल' का अर्थ है – गलन (बिछुड़ना), अतः जिन द्रव्यों में पूरण–गलन अर्थात् बनने एवं सड़ने–गलने की प्रक्रिया होती है, उन्हें पुद्गल कहते हैं, जैसे – मकान, वाहन, शरीर, काष्ठ आदि।[136] स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, क्रियावती–शक्ति आदि इनके विशेष गुण होते हैं।[137] पुद्गल द्रव्य संख्या में अनन्तानन्त होते हैं, ये दो अवस्थाओं में पाए जाते हैं – परमाणु (अणु) एवं स्कन्ध (परमाणुओं का समूह)।[138]

★ **धर्म द्रव्य** – स्वयं गमन करते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों को गमन करने में जो निमित्त (माध्यम) हो, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं, जैसे – गमन करती हुई मछली को गमन करने में जल निमित्त है। यह द्रव्य संख्या में एक है, किन्तु सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है।[139]

★ **अधर्म द्रव्य** – स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों को ठहरने में जो निमित्त हो, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं, जैसे – पथिक को ठहरने में वृक्ष की छाया। यह द्रव्य भी धर्मद्रव्य के समान संख्या में एक और लोकव्यापी होता है।[140]

★ **आकाश द्रव्य** – जो जीवादिक अन्य द्रव्यों को रहने के लिए स्थान देता है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। आकाश संख्या में एक होते हुए भी सर्वव्यापी (लोक–अलोकव्यापी) है।[141]

★ **काल द्रव्य** – जो जीवादिक द्रव्यों के परिणमन में निमित्त होता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं, जैसे कुम्हार के चाक को घूमने के लिए लोहे की कीली।[142] भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान को मिलाकर काल के अनन्त समय होते हैं।

इन छह द्रव्यों की व्यापक समझ के द्वारा साधक अपनी असली पहचान खोज लेता है। वह इसका सम्यक् बोध कर लेता है कि इन द्रव्यों में से 'मैं कौन हूँ' और 'पर कौन है' – दूसरे शब्दों में, आत्मा को आत्मा की पहचान मिल जाती है, जो आध्यात्मिक जीवन–प्रबन्धन के लिए प्राथमिक आवश्यकता है।

इन छह द्रव्यों के सामान्य गुणों को जानना भी आध्यात्मिक जीवन के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। ये सामान्य गुण संख्या में अनन्त हैं, जिनमें से छह गुण विशेष रूप से समझने योग्य हैं। ये हैं[143]–

★ **अस्तित्व गुण** – जिस शक्ति के कारण द्रव्य न कभी नष्ट और न कभी उत्पन्न होता है, बल्कि त्रैकालिक रहता है, उसे अस्तित्व गुण कहते हैं।

★ **वस्तुत्व गुण** – जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व (स्वयं के योग्य क्रिया करने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का सामर्थ्य) होता है, उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं।

★ **द्रव्यत्व गुण** – जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्थाएँ निरन्तर बदलती रहती हैं, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं।

★ **प्रमेयत्व गुण** – जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय बनता है, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

★ **अगुरुलघुत्व गुण** – जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अखण्डता बनी रहती है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता और द्रव्य में रहने वाले अनन्तगुण बिखरकर अलग–अलग नहीं होते, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।

★ **प्रदेशत्व गुण** – जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य रहता है, उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं।

इन छह सामान्य गुणों को जानकर आत्मा का अन्य पदार्थों से क्या सम्बन्ध है, यह स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त षड्द्रव्य रूप विश्व–व्यवस्था के आधार पर साधक अपनी भ्रान्तियों को नष्ट करता हुआ निम्नलिखित सिद्धान्तों को आत्मसात् कर आध्यात्मिक साधना में इनका प्रयोग कर सकता है[144] –

विश्व से सम्बन्धित सिद्धान्त

★ यह विश्व स्वयं–सिद्ध है एवं इसका कर्त्ता–धर्त्ता–हर्त्ता ईश्वर नहीं है।

★ यह विश्व सदा से था, है और सदा रहेगा।

★ ईश्वर से प्रलोभन–पूर्त्ति या भय–मुक्ति सम्बन्धी कामना करना व्यर्थ है।

द्रव्य से सम्बन्धित सिद्धान्त

★ प्रत्येक द्रव्य स्वयम्भू है।

★ प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणात्मक है, शून्य नहीं।

★ प्रत्येक द्रव्य का कर्त्ता–धर्त्ता वह स्वयं है, अतः वह स्वतंत्र है।

★ मैं आत्मा हूँ और ज्ञान–दर्शनादि मेरी शक्तियाँ हैं।

★ ये देह, वस्त्र, आभूषण, बंगला, गाड़ी आदि पुद्गल हैं और मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

★ ये परिजन, मित्र आदि जीव भी मुझसे भिन्न हैं।

★ विश्व के अनन्त द्रव्यों एवं मेरा सह–अस्तित्व सदा से था, है और रहेगा, अतः अन्यों पर अपना एकाधिकार जमाना व्यर्थ है।

★ कोई भी द्रव्य छोटा–बड़ा नहीं होता, क्योंकि सभी अनन्त गुणों के स्वामी हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणों से सम्बन्धित सिद्धान्त

★ मैं (आत्मा) भी अनन्त गुणों का स्वामी हूँ, अतः पर की दासता व्यर्थ है।

★ प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक गुण अपना–अपना कार्य करता है, अन्य का नहीं।

★ मेरे (आत्मा के) अनन्तगुण भी अपना–अपना कार्य करते हैं, अतः पर के प्रति कर्त्ता–बुद्धि रखना व्यर्थ है।

पर्याय से सम्बन्धित सिद्धान्त

★ द्रव्य और गुण सदा निर्मल ही रहते हैं और पर्याय शुद्धाशुद्ध होती है।

★ मैं (आत्मा) भी द्रव्य और गुण की अपेक्षा से शुद्ध हूँ, पर्याय की अपेक्षा से वर्त्तमान में अशुद्ध हूँ।

★ पर्याय का स्वभाव परिवर्त्तनशील है।

★ मेरी (आत्मा की) पर्याय भी परिवर्त्तनशील होने से शुद्ध हो सकती है।

★ मैं अन्यों की समीक्षा करने के बजाय अपनी पर्यायों का अवलोकन करूँ और उनकी शुद्धि का प्रयत्न करूँ।

अस्तित्व गुण से सम्बन्धित सिद्धान्त

★ सभी द्रव्यों का अस्तित्व शाश्वत् है, मैं (आत्मा) भी जन्म–मरण से रहित हूँ।

★ अस्तित्व की अपेक्षा से सभी द्रव्य समान ही हैं।

★ मैं किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता और न कोई मुझे। अतः माता–पिता, पुत्र–स्त्री आदि से केवल संयोग सम्बन्ध व्यावहारिक–दृष्टि से है।

★ जब अस्तित्व त्रैकालिक है, तो सात प्रकार के भय करना व्यर्थ है – इहलोक–भय, परलोक–भय, मृत्यु–भय, अकस्मात्–भय, आजीविका–भय, अगुप्ति–भय एवं अपमान–भय।

वस्तुत्व गुण से सम्बन्धित सिद्धान्त

★ मैं किसी की रक्षा नहीं कर सकता और न कोई मेरी।

★ प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रयोजनभूत क्रिया का कर्त्ता स्वयं है, अतः कोई भी पदार्थ जगत् में निरर्थक नहीं है।

★ मैं (आत्मा) भी सभी प्रकार से स्वतंत्र हूँ, अतः परावलम्बन छोड़कर स्वावलम्बी बनना चाहिए।

★ परद्रव्य अपना कार्य करने के लिए स्वतंत्र है, अतः उनसे राग–द्वेष करना व्यर्थ है।

★ अरिहंतों और सिद्धों के समान मैं भी ज्ञान–दर्शन स्वभावी हूँ।

★ 'जानना' मेरा (आत्मा का) कार्य है, अतः जानकर सुखी–दुःखी होना व्यर्थ है।

★ मेरी सीमा केवल जानना–देखना है, अतः मुझे ज्ञाता–दृष्टा या साक्षी भाव से जीना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यत्व गुण से सम्बन्धित सिद्धान्त

★ प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय परिवर्त्तनशील है, अतः पर–पदार्थों से एवं उनकी नश्वर पर्यायों से मोह करना व्यर्थ है।

★ पर–पदार्थों के परिणमन का प्रवाह स्वतंत्र एवं सहज है, अतः उस प्रवाह को बदलने की चेष्टा करना व्यर्थ है।

★ परिणमन होना द्रव्य का स्वभाव है, अतः इस परिणमन में सहज रहना ही श्रेयस्कर है।

★ वर्त्तमान दुःखमय संसारावस्था का नाश एवं सुख रूप सिद्धावस्था का प्रकट होना सम्भव है।

प्रमेयत्व गुण से सम्बन्धित सिद्धान्त

★ आत्मा के द्वारा आत्मा को जाना जा सकता है।

★ ज्ञाता (आत्मा) और ज्ञेय (अनात्मा) भिन्न–भिन्न होते हैं।

★ आत्मा की महिमा निराली है, यह परद्रव्यों को भी जानती है और स्वद्रव्य को भी।

अगुरूलघुत्व गुण से सम्बन्धित सिद्धान्त

★ चेतन सदा चेतन और जड़ सदा जड़ रहता है।

★ आत्मा के ज्ञानादि गुणों में से एक भी गुण कभी कम नहीं हो सकता।

★ आत्मा में बाहर से कोई भी गुण या पर्याय न आते हैं और न जाते हैं, अतः मैं किसी का कर्त्ता, भोक्ता, स्वामी और अधिकारी नहीं हूँ।

प्रदेशत्व गुण से सम्बन्धित सिद्धान्त

★ द्रव्य का आकार छोटा हो या बड़ा, इससे सुख–दुःख का सम्बन्ध नहीं है।

★ प्रत्येक द्रव्य अपने आकार की सीमा में ही रहता है, वह अन्य की सीमा में प्रवेश नहीं कर सकता।

ऐसे अनेक प्रकार से षड्द्रव्यात्मक विश्व–व्यवस्था को स्वीकार कर आध्यात्मिक साधक को नवतत्त्वों का अनुशीलन करना चाहिए, जिससे उसकी मोक्षमार्ग की समझ और अधिक स्पष्ट हो सके। जैनदर्शन में इन नवतत्त्वों का वर्णन इस प्रकार किया गया है –

(7) नवतत्त्वों का विषय, जैनदृष्टि का आधार

जिस प्रकार किसी रोगग्रस्त व्यक्ति का इलाज करने के पूर्व चिकित्सक को तीन जानकारियाँ प्राप्त करनी आवश्यक है – रोगी कौन है, रोग के कारण क्या हैं और रोग–निवारण कैसे सम्भव है, उसी प्रकार साधक को भी तीन प्रश्नों का निराकरण करना अनिवार्य है – मैं कौन हूँ (दुःखी कौन है), मैं दुःखी क्यों होता हूँ और मैं सुखी कैसे हो सकता हूँ? इन तीन प्रश्नों का समाधान करने के लिए जैनाचार्यों ने नवतत्त्वों का वर्णन किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'तत्त्व' शब्द तत्+त्व से बना है। 'तत्' का अर्थ है – वस्तु और 'त्व' का अर्थ है – स्वरूप। अतः वस्तु के स्वरूप को तत्त्व कहते हैं **(तस्य भावः इति तत्त्वम्)**।[145] चूँकि वस्तु का स्वरूप वस्तु से सदैव अभिन्न होता है, अतः अभेद विवक्षा से 'तत्त्व' शब्द में वस्तु एवं उसके स्वरूप दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसी दृष्टि से जैनाचार्यों ने नवतत्त्वों का विवेचन किया है[146] –

(क) जीवतत्त्व – ज्ञान–दर्शन स्वभावी आत्मा को जीवतत्त्व कहते हैं। जब यह जीव पर–निमित्त के शुभ आलम्बन से युक्त होता है, तब उसे शुभ भाव (पुण्य) होता है, जब अशुभ आलम्बन से युक्त होता है, तब उसे अशुभ भाव (पाप) होता है एवं जब स्वावलम्बी अर्थात् निज शुद्धस्वरूप का आलम्बन लेता है, तब उसे शुद्ध भाव (धर्म) होता है।

(ख) अजीवतत्त्व – ज्ञान–दर्शन स्वभाव से रहित पदार्थों को अजीवतत्त्व कहते हैं। इसमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल – इन पाँचों प्रकार के द्रव्यों का समावेश होता है। ये अजीव तत्त्व आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं।

इन जीव–अजीव तत्त्वों का चिन्तन–मनन कर साधक यह निर्णय कर सकता है कि मैं आत्मा हूँ, जड़ नहीं।

(ग) आस्रवतत्त्व – आत्मा में विकारी शुभाशुभ भावों का उत्पन्न होना भाव–आस्रव एवं तत्समय नवीन कर्मों का आत्मा की ओर आकर्षित होना द्रव्य आस्रव कहलाता है।

(घ) बन्धतत्त्व – मोह, राग–द्वेष, अज्ञान, शुभाशुभ भावों में आत्मा का रुक जाना भाव–बन्ध तथा नवीन कर्मों का आत्मा से बन्ध जाना द्रव्य बन्ध है।

आस्रव और बन्ध के दो उपभेद हैं – पुण्य एवं पाप।

(ङ) पुण्यतत्त्व – दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि शुभ भावों का होना भावपुण्य है और इसके निमित्त से कर्म का आत्मा से सम्बन्ध होना द्रव्यपुण्य है।

(च) पापतत्त्व – मिथ्यात्व, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, अव्रत आदि अशुभ भावों का होना भावपाप है और इसके निमित्त से कर्म का आत्मा से सम्बन्ध होना द्रव्य पाप है।

आस्रव, बन्ध, पुण्य एवं पाप आत्मा की स्वाभाविक नहीं, वैभाविक अवस्थाएँ हैं। ये अवस्थाएँ परपदार्थों से सम्बन्ध जोड़ने पर उत्पन्न होने वाले विकारी परिणाम हैं और परमार्थदृष्टि से साधक के लिए हेय रूप हैं, फिर भी पुण्य आस्रव एवं पुण्य बन्ध को पाप की तुलना में व्यवहार–दृष्टि से उपादेय कहा गया है।

(छ) संवरतत्त्व – शुभाशुभ भावों के आस्रव का आत्मा के शुद्ध भावों द्वारा अंशतः निरोध होना भाव संवर है एवं तदनुसार नए कर्मों का आगमन अंशतः रुक जाना द्रव्य संवर है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ज) निर्जरातत्त्व – शुद्ध आत्मस्वभाव के आलम्बन के बल पर स्वरूप में स्थिरता की आंशिक वृद्धि एवं अशुद्ध अवस्था का आंशिक नाश होना भाव निर्जरा है और तदनुसार कर्मों का आत्मा से अंशतः झड़ना (क्षय होना) द्रव्य निर्जरा है।

(झ) मोक्षतत्त्व – अशुद्ध अवस्था का सम्पूर्ण नाश होकर आत्मा की पूर्ण निर्मल पवित्र दशा का प्रकट होना भाव मोक्ष है तथा द्रव्य कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाना द्रव्यमोक्ष है। भाव मोक्ष को अरिहंत–अवस्था एवं द्रव्य मोक्ष को सिद्ध–अवस्था कहा जाता है।

संवर और निर्जरा आत्मा की एकदेश स्वभाव अवस्थाएँ हैं और इसीलिए एकदेश उपादेय (ग्राह्य) हैं, जबकि मोक्ष आत्मा की परिपूर्ण स्वभाव अवस्था है और इसीलिए सर्वथा उपादेय है।

इन नवतत्त्वों में से प्रथम दो तत्त्व द्रव्य के सूचक हैं और शेष सभी पर्यायों के। इन पर्यायों में से विकारी पर्यायों से छूटना और निर्विकारी पर्यायों की प्राप्ति करना आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य है। ये निर्विकारी पर्यायें साधना के प्रारम्भ में संवर–निर्जरा रूप होती हैं और अन्ततः मोक्ष रूप में परिणत हो जाती हैं। यह मोक्ष पूर्ण आरोग्य और स्वस्थता की स्थिति है, जिसमें साधक को पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार, इन नवतत्त्वों का बारम्बार चिन्तन–मनन करता हुआ साधक स्व और पर के भेदज्ञान का अभ्यास करता रहता है और फलस्वरूप आत्मा का सम्यक् श्रद्धान एवं सम्यग्बोध करता है, इसे ही क्रमशः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इससे आत्मरुचि की अभिवृद्धि होती है और साधक आत्मरमणता का बारम्बार अभ्यास करता हुआ अन्ततः सम्यक्चारित्र की प्राप्ति करता है।

वस्तुतः उपर्युक्त कथन भेददृष्टि से किया गया है, सो समझने के लिए है। वास्तविकता तो यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र आदि सब आत्मा ही है। अतः आत्मा में भेद से परे जाकर एवं विकल्परहित होकर लीन हो जाना, यही आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन का हार्द है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.6 आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन का प्रायोगिक–पक्ष

पूर्व में हमने आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्ष को जाना। इस बात को गहराई से समझा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का क्या स्वरूप है और किस प्रकार से विश्व–व्यवस्था एवं नवतत्त्वों का आलम्बन लेकर इस रत्नत्रय की प्राप्ति सम्भव है। अब इस बात की चर्चा की जा रही है कि रत्नत्रय की प्राप्ति का प्रायोगिक रूप क्या हो, कैसे सीढ़ी–दर–सीढ़ी चढ़कर व्यक्ति आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति कर सकता है। यहाँ यह भी समझना होगा कि जिस तरह मार्ग का जानकार समुचित प्रयत्न किए बिना गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता, अनुकूल वायु के बिना जलयान इच्छित लक्ष्य को नहीं पा सकता, उसी तरह शास्त्र द्वारा मोक्षमार्ग को जान लेने पर भी सम्यक् प्रयोग से रहित ज्ञान इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति नहीं करा सकता।[147]

आगे, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए उचित अभ्यास के क्रम को स्पष्ट किया जा रहा है। अनुकूलता की दृष्टि से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का पृथक्–पृथक् विवेचन किया जा रहा है।

13.6.1 सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास–क्रम

आध्यात्मिक साधना के विकास के लिए सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि होना नींव डालने के समान है। चूँकि ये दोनों युगपत् (साथ–साथ) होते हैं, अतः इनका वर्णन भी साथ–साथ ही किया जा रहा है। इनके प्रकटीकरण के लिए साधक को अनुक्रम से निम्न अभ्यास करना चाहिए –

(1) प्राथमिक भूमिका का निर्माण करना – सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम उचित पात्रता का विकास करना आवश्यक है। जैनशास्त्रों के अनुसार, इस विकास का अधिकारी वही व्यक्ति है, जो **क्षयोपशम–लब्धि (सम्यग्दर्शन हेतु आवश्यक पाँच लब्धियों में से प्रथम)** से युक्त हो। ऐसा व्यक्ति ज्ञानावरणादि कर्मों का विशेष क्षयोपशम हो जाने से तत्त्व–विचार करने में समर्थ होता है।[148] जो जीवन–प्रबन्धक इस क्षयोपशम–लब्धि से सम्पन्न है, उसे इसका उपयोग सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की भूमिका तैयार करने के लिए करना चाहिए। इस हेतु उसे अर्थ और भोग की निरर्थकता का चिन्तन–मनन करना चाहिए और इनके प्रति रुचि को अल्प करते जाना चाहिए। इससे मोहात्मक वृत्तियाँ मन्द होती हैं और क्रोधादि काषायिक परिणामों की शुद्धि होती है। इस दशा को ही **विशुद्धि–लब्धि (द्वितीय लब्धि)** कहते हैं।[149] श्रीमद्राजचन्द्र ने इस दशा के चार लक्षण बताए हैं[150] –

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास।।

अर्थात् जो इस स्तर का साधक होता है, उसके चार लक्षण होते हैं – 1) उसकी कषाय उपशान्त होती है, 2) उसे मोक्ष–पद के सिवाय अन्य किसी पद की अभिलाषा नहीं होती, 3) संसार के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रति वैराग्य रहता है और 4) प्राणीमात्र पर दया रहती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस दशा के साधक को 'अपुनर्बन्धक' कहा है। यह साधक ऐसी भावात्मक विशुद्धि को प्राप्त हो जाता है, जिससे पुनः कभी भी कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्धन न हो। इस दशा के तीन लक्षण होते हैं – 1) वह तीव्र भावों से पाप नहीं करता, 2) वह संसार के प्रति बहुमान नहीं रखता और 3) वह सर्वत्र उचित आचरण करता है।[151] उपाध्याय यशोविजयजी ने भी प्राथमिक साधक में तीन बातों का होना आवश्यक बताया है – 1) मोह की अल्पता, 2) आत्म–अभिमुखता तथा 3) कदाग्रह (पक्षपात) से मुक्तता।[152]

इस प्रकार, प्रथम स्तर में साधक को कषाय–मन्दता, मोक्षाभिलाषा, सरलता, पाप–भीरुता, आत्माभिमुखता आदि सद्गुणों से युक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

(2) सम्यक्त्व–सम्मुखता – इस स्तर के साधक को उचित बाह्य निमित्तों की पहचान करनी चाहिए। उसे सुदेव, सुगुरु एवं सुशास्त्र (सुधर्म) तथा उनके अनुयायियों (षडायतन) का समागम कर उनका उपदेश श्रवण करना चाहिए। साथ ही यह विचार करना चाहिए कि 'अहो! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं थी। मैं तो भ्रमित होकर प्राप्त संयोगों में ही तन्मय होता रहा, परन्तु इस जीवन का थोड़ा ही काल अब शेष है और यहाँ मुझे सर्वनिमित्त भी सुलभ हैं, अतः मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए, क्योंकि इनसे ही मेरा हित है।' ऐसा विचार कर आत्मा के लिए जो हितकारी है, उस मोक्षमार्ग का, देव–गुरु–धर्मादिक का, जीवादि नवतत्त्वों का तथा निज–पर का उपदेश सुनना चाहिए और उसके चिन्तन–मनन एवं निर्णय का उद्यम करना चाहिए।[153] इस प्रकार तत्त्वों को ग्रहण करने एवं उनका विचार करने से साधक को **देशना–लब्धि (तृतीय लब्धि)** की प्राप्ति होती है, जिसमें उसे आत्मान्वेषण के लिए विशेष चिन्तन करना चाहिए, जैसे – मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है, मैं क्यों दुःखी होता हूँ और दुःखी करने वाले सम्बन्धों को रखूँ या छोड़ूँ इत्यादि।[154] जैसे–जैसे वह देशना को समझता जाता है, वैसे–वैसे उसे आप्तपुरुषों के वचनों के प्रति श्रद्धा, उनकी आज्ञा को स्वीकार करने में अपूर्व रुचि एवं स्वच्छन्दता का निरोध करने रूप उनकी भक्ति उत्पन्न होती है। श्रीमद्राजचन्द्र ने इसे व्यवहार सम्यग्दर्शन की दशा कहा है।[155]

(3) सम्यग्दर्शन के लिए तीव्र प्रयत्न करना – इस स्तर के साधक को जीवादि नवतत्त्वों का विशेष–विशेष चिन्तन–मनन करना चाहिए। इन नवतत्त्वों के आधार पर उसे स्व और पर के भिन्नत्व का बोध करते हुए अन्ततः एक आत्मस्वरूप को ही ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि इस अभ्यास से ही आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है। इस हेतु उसे लक्षण, नय, निक्षेप, अनुयोगद्वार आदि ज्ञान प्राप्ति के साधनों का भी सम्यक् उपयोग करना चाहिए। इस प्रयत्नात्मक दशा को ही **प्रायोग्य–लब्धि (चतुर्थ लब्धि)** कहते हैं। यह वह अवस्था है, जिसमें जीव मिथ्यात्व के ग्रन्थिभेद के निकट पहुँच जाता है। उसके कर्मों की स्थिति एक कोटोकोटी सागरोपम से कुछ कम रह जाती है।[156]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावों की दृष्टि से, आत्मा पर–पदार्थों से उपयोग हटाकर आत्मतत्त्व को पाने का अभ्यास करती है, वह श्रुतज्ञान का आलम्बन लेकर ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करने का प्रयत्न करती है।[157] इस अवस्था को यथाप्रवृत्तिकरण भी कहते हैं।[158]

(4) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का लक्ष्यभेदी प्रयत्न करना – पूर्व स्तर में साधक को विकल्पात्मक रूप से तत्त्व की अनुभूति होती है, जैसे – मैं एक हूँ, अखण्ड हूँ, अजर–अमर–अविनाशी हूँ, शुद्ध हूँ आदि, किन्तु अब, इस स्तर पर पहुँचकर उसे निर्विकल्प अनुभूति का प्रयत्न करना चाहिए। इस हेतु उसे पर–पदार्थों से अपना उपयोग (चेतना का व्यापार/Active Consciousness of the Soul) हटाकर अर्थात् मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के विकल्पों को गौण कर एकमात्र आत्मस्वरूप के ज्ञान का प्रयास करना चाहिए और एक अखण्ड, अविनाशी, शुद्ध आत्मस्वरूप का विकल्परहित अनुभव करना चाहिए।[159] ऐसा करने पर आत्मा के आनन्द का अपूर्व अनुभव होता है यानि आत्मा का सहज–आनन्द प्रकट होता है और अंतरंग में अपूर्व आत्मशान्ति का वेदन होता है। 'मैं चैतन्य स्वरूप, परिपूर्ण आत्मा हूँ', यह निर्विकल्प अनुभूति होते ही ज्ञान एवं श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय प्रकट होती है, जिसे क्रमशः निश्चय सम्यग्ज्ञान एवं निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

इस प्रयत्नात्मक दशा को ही **करण–लब्धि (पंचम लब्धि)** कहते हैं। इस स्तर पर साधक क्रमशः तीन कार्य करता है – चरम यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण। दिगम्बर मान्यतानुसार इन्हें अधःकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इनका विशेष उल्लेख लब्धिसार, कर्मग्रन्थ, गोम्मटसार आदि साहित्य में उपलब्ध है।[160]

13.6.2 सम्यक्चारित्र के विकास का अभ्यास–क्रम

आध्यात्मिक साधना के अन्तर्गत सम्यक्चारित्र का विकास करना एक क्रमिक प्रक्रिया है, जिसमें अनुक्रम से निम्न अभ्यास करना चाहिए –

(1) प्राथमिक भूमिका का निर्माण करना – यद्यपि निश्चय सम्यक्चारित्र का प्रारम्भ निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ ही होता है, तथापि सम्यग्दर्शन के पूर्व भी निर्मल चारित्र की भूमिका का निर्माण करना आवश्यक है। इस हेतु साधक को अशुभ भावों के त्याग एवं शुभ भावों के ग्रहण का प्रयत्न करना चाहिए। उसे सामान्य सदाचार का पालन करते हुए जीवन–यापन करना चाहिए, जैसे – सप्तव्यसन, अभक्ष्यसेवन एवं अकल्पनीय कृत्यों का त्याग तथा मार्गानुसारी के पैंतीसगुणों का पालन आदि। इनका विशेष उल्लेख योगशास्त्र, धर्मबिन्दुप्रकरण, श्राद्धधर्म, वसुनन्दीश्रावकाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, सागारधर्मामृत आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है। साधक को सामान्य सदाचार के साथ–साथ सामान्य धर्माचरण, जैसे – देवपूजा, गुरु–उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान में भी यथाशक्ति रुचि रखनी चाहिए। इतना ही नहीं, उसके त्याग, व्रतादि सभी सद्व्यवहार भी सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति की दिशा में सहयोगी सिद्ध होने चाहिए। दूसरे शब्दों में, उसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रिक–विकास के सभी उपक्रम सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के लक्ष्य से होने चाहिए। इस भूमिका के चारित्र को जैनाचार्यों ने व्यवहार–चारित्र की संज्ञा दी है।

(2) अनन्तानुबन्धी कषाय से निवृत्त होना – साधक को केवल प्रथमस्तर के चारित्र को ही चारित्रिक विकास की इतिश्री नहीं मान लेना चाहिए। उसे द्वितीय स्तर में पहुँचकर शुभ से शुद्ध भावों की ओर गमन करने का प्रयत्न भी करना चाहिए। इस हेतु उसे मुख्य रूप से सांसारिक भोग–वासनाओं के प्रति उदासीनता लाना चाहिए और साथ ही मोक्षमार्ग के प्रति विशेष रुचिवन्त बनना चाहिए। भले ही वह सांसारिक प्रपंचों में व्यस्त हो एवं व्रतादि से युक्त न हो, फिर भी उसे सम्यग्ज्ञान के आधार पर अपने दोषों को दोष रूप में महसूस करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, उसे कम से कम राग का राग (राग को अच्छा मानना) छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे बारम्बार प्राप्त तत्त्वज्ञान के आधार पर भेदज्ञान का अभ्यास करते रहना चाहिए। इस अभ्यास के बल पर ही वह अन्ततः आत्मस्वरूप को उपलब्ध कर लेता है अर्थात् सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। इसके साथ ही उसका स्वरूपाचरण चारित्र (सम्यक्चारित्र का एक प्रकार) प्रारम्भ हो जाता है।

(3) अप्रत्याख्यानी कषाय से निवृत्त होना – सम्यग्दर्शन होने के बाद भी शुभाशुभ भावों का अस्तित्व बना रहता है और इससे साधक वीतरागदशा की प्राप्ति से दूर रहता है। इस तृतीय स्तर में पहुँचकर साधक को वीतरागता की दिशा में विशेष पुरुषार्थ करना चाहिए। उसे सुदेव, सुगुरू एवं सुशास्त्र के निकट रहने का एवं उन पर पूर्ण आस्था रखने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही, उसे बारम्बार हेय–ज्ञेय–उपादेय का चिन्तन करना चाहिए और इस आधार पर हेय अर्थात् अनावश्यक तथ्यों के परित्याग की भावना करनी चाहिए। उसे बाह्य जगत् से निवृत्ति एवं आत्मा में प्रवृत्ति करने का बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। इससे क्रमशः उसका आत्मबल विकसित होता जाता है और अन्ततः अप्रत्याख्यानी कषाय पर विजय प्राप्त हो जाती है। तत्पश्चात् उसे बाह्य में अणुव्रतों को ग्रहण करना चाहिए एवं भीतर में अर्थ एवं भोग की आसक्ति का सीमांकन कर लेना चाहिए। इसके साथ–साथ उसकी आत्मस्थिरता भी और अधिक बढ़ती जानी चाहिए। इस दशा को ही संयमासंयम चारित्र कहते हैं।

(4) प्रत्याख्यानी कषाय से निवृत्त होना – साधक को केवल प्रतिबन्धों के सीमाकरण से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, अपितु सर्वथा अप्रतिबद्ध जीवन जीने का प्रयत्न भी करना चाहिए। वस्तुतः, गृह–कुटुम्ब आदि को काजल की कोठरी की उपमा दी गई है, अतः साधक को विशिष्ट आत्मसाधना के लिए शरीर, कुटुम्ब एवं भोगों के प्रति उदासीनता उत्पन्न करनी चाहिए और जैनशास्त्रों में निर्दिष्ट प्रतिमाओं को क्रमशः ग्रहण करना चाहिए। अन्ततः उसे सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन पूर्वक प्रत्याख्यानी कषाय पर विजय प्राप्त कर सर्वविरति चारित्र अंगीकार करना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(5) तीव्र संज्वलन कषाय से निवृत्त होना – सर्वविरति जीवन अंगीकार करने के साथ ही साधक गृहस्थ सम्बन्धी प्रपंचों से मुक्त होकर मुनि (श्रमण) बन जाते हैं। उनका कर्त्तव्य होता है कि वे अधिक से अधिक आत्म–रमणता एवं आत्म–स्थिरता के साथ जिएँ और सहज ही हिंसादि पाँच दोषों से दूर रहें, परन्तु वे असावधानीवश अपने शुद्धोपयोग में नहीं रह पाते। इस असावधानी का मूल कारण है उनकी तीव्र संज्वलन कषाय। इसके कारण वे शुभ भावपूर्वक बाह्य प्रवृत्तियों में जुड़ जाते हैं और कदाचित् उत्तरगुणों में अल्पदोष (अतिचार) भी लगा देते हैं। इन दोषों से मुक्ति हेतु उन्हें आत्मशुद्धि के विविध अनुष्ठान करने चाहिए, जैसे – प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान आदि। इन अनुष्ठानों को भावपूर्वक करते हुए उन्हें पुनः शुद्धोपयोग में स्थिर होने का प्रयत्न करना चाहिए।

(6) मन्द संज्वलन कषाय से निवृत्त होना – वे मुनि अप्रमत्त होकर जब शुद्धोपयोग की साधना करते हैं, तब भी अचेतन मन में अव्यक्त रूप से शुभाशुभ भावों की धारा प्रवाहित होती रहती है। इसका मूल कारण है – मन्द संज्वलन कषाय।[161] यह कषाय वीतरागदशा की अभिव्यक्ति में अन्तिम बाधा है। अतः मुनि को विशेष तप आदि प्रवृत्तियों से जुड़कर आत्मविशुद्धि का विशेष प्रयत्न करना चाहिए। अंतरंग में विद्यमान मोह की महासत्ता का समग्र विनाश करने के लिए विपरीत परिस्थितियों में भी समताभाव से जीने का अभ्यास करना चाहिए। उन्हें परिषह–जय एवं उपसर्ग–जय (विविध प्रतिकूल परिस्थितियों में समताभाव) के लिए सदैव सजग रहना चाहिए। इससे अंतरंग विशुद्धि अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है और साधक क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर कषाय–विजेता बन जाता है। इसे ही यथाख्यात चारित्र या वीतराग चारित्र कहते हैं।

इस प्रकार, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की एकता साधक का मोक्षमार्ग बन जाती है और इन तीनों की पूर्ण विकसित अवस्था ही मोक्ष कहलाती है। वस्तुतः, अभेद–दृष्टि से देखें, तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र तथा मोक्ष और कुछ नहीं, केवल आत्मा की आत्मा में अवस्थिति है और यही जीवन–प्रबन्धन का अन्तिम उद्देश्य भी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.7 निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्याय में हमने यह जाना कि अध्यात्म का जीवन में केन्द्रीय स्थान है। यह व्यक्ति को भोगासक्ति से उत्पन्न दुःखों से मुक्त कर सच्ची शान्ति प्रदान करता है। यहाँ अध्यात्म का सही अर्थ आत्मा को लक्ष्य में रखकर की जाने वाली हितकारी प्रक्रियाओं से है, न कि बाह्य क्रियाकाण्ड अथवा शारीरिक प्रवृत्तियों को करने से। जैनदर्शन में इसीलिए आत्मा के स्वरूप को गहराई तक समझाया गया और यह बताया गया कि साधक, साधन एवं साध्य की एकरूपता से ही व्यक्ति आध्यात्मिक–विकास की दिशा में अग्रसर हो सकता है।

आध्यात्मिक–विकास के विभिन्न स्तर क्या–क्या हो सकते हैं और उनका वर्गीकरण किस–किस प्रकार से हो सकता है, यह बताना भी प्रस्तुत अध्याय का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य रहा है। इसे जानकर ही जीवन–प्रबन्धक स्वयं के वर्त्तमान स्तर का मूल्यांकन कर सकता है एवं सही साध्य की दिशा में क्रमशः आगे बढ़ सकता है।

आध्यात्मिक साधना के मार्ग में आगे बढ़ने में कई विसंगतियाँ एवं बाधाएँ उत्पन्न होती हैं, अतः प्रस्तुत अध्याय में इन्हें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र के रूप में समझाया गया है। यह भी विस्तार से बताया गया है कि इनमें से प्रत्येक विसंगति के उपभेद क्या–क्या हो सकते हैं? इस सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा करने के पीछे हमारा उद्देश्य यही है कि व्यक्ति इन्हें समझकर ही इनके सम्यक् प्रबन्धन की दिशा में आगे बढ़े।

इस प्रकार, प्रस्तुत अध्याय में आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन को सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्षों के रूप में समझाया गया है। सैद्धान्तिक पक्ष के माध्यम से मूलतया जैनदर्शन की मोक्षमार्गीय अवधारणा को बताया गया है। इसके अन्तर्गत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के मूलस्वरूप पर दृष्टि डाली गई है और साथ ही इन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयोजनभूत विश्व–व्यवस्था एवं नवतत्त्वों का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इनके मन्थन से प्राप्त सूत्रों को भी सूचीबद्ध किया गया है, जिनका अनुशीलन कर जीवन–प्रबन्धक अपनी आध्यात्मिक क्षेत्र की भ्रान्त अवधारणाओं को तोड़ सकता है।

यहाँ आध्यात्मिक–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ–साथ उसके प्रायोगिक पक्ष की चर्चा भी की गई है तथा आध्यात्मिक विकास की प्रायोगिक प्रक्रिया को जैनदृष्टि के आधार पर भी दर्शाया गया है। इसके अन्तर्गत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के अभ्यास–क्रमों का पृथक्–पृथक् विश्लेषण किया गया है और अन्त में इन तीनों की परिपूर्ण दशा रूप मोक्षावस्था को लक्षित किया गया है।

विशेष जानकारी हेतु सम्बन्धित शास्त्रों का अवलोकन किया जा सकता है।

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13.8 स्वमूल्यांकन एवं प्रश्नसूची

(Self Assessment : A questionnaire)

कृपया सही विकल्प का चुनाव कर उसका नम्बर नीचे प्रश्नसूची में भरें।

क्र.	प्रश्न	उत्तर	सन्दर्भ पृ. क्र.
	विकल्प– अल्प→① ठीक→② अच्छा→③ बहुत अच्छा→④ पूर्ण→⑤		
1)	**क्या आप आध्यात्मिक–विकास की अवधारणा को जानते हैं?**		1
2)	क्या आप साध्य के स्वरूप को जानते हैं?		7
3)	**क्या आप साधन के स्वरूप को जानते हैं?**		8
4)	क्या आप साधक के स्वरूप को जानते हैं?		9
5)	**क्या आप आध्यात्मिक जीवन के विविध स्तरों को जानते हैं?**		11
6)	क्या आप सम्यग्दर्शन एवं मिथ्यादर्शन के स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं?		30
7)	**क्या आप सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान के स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं?**		31
8)	क्या आप सम्यक्चारित्र एवं मिथ्याचारित्र के स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं?		31
9)	**क्या आप मोक्ष के स्वरूप को जानते हैं?**		27
10)	क्या आप 'मोक्ष में ही परम सुख है' इस अवधारणा से सहमत हैं?		27
11)	**क्या आप विश्व–व्यवस्था यानि षड्द्रव्य एवं नवतत्त्वों को जानते हैं?**		32
	विकल्प– कभी नहीं→① कदाचित्→② कभी–कभी→③ अक्सर→④ हमेशा→⑤		
12)	**क्या आप साधना में उपस्थित रहते हैं?**		11
13)	क्या आप अन्तर्मुखी होने का अभ्यास करते हैं?		11
14)	**क्या आप मोह की अल्पता रखते हैं?**		39
15)	क्या आप उपदेश श्रवण करते हैं?		40
16)	**क्या आप तत्त्वों का विशेष चिन्तन–मनन एवं अनुभूति करते हैं?**		40
17)	क्या आप सदाचार (व्यवहार चारित्र) का पालन करते हैं?		41
18)	**क्या आप अनन्तानुबन्धी कषाय से निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं?**		42
19)	क्या आप अप्रत्याख्यानी कषाय से निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं?		42
20)	**क्या आप प्रत्याख्यानी कषाय से निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं?**		42
		कुल	

कुल	0–20	21–40	41–60	61–80	81–100
वर्त्तमान में प्रबन्धन का स्तर	अल्प	ठीक	अच्छा	बहुत अच्छा	पूर्ण
भविष्य में अपेक्षित प्रबन्धन	अत्यधिक	अधिक	अल्प	अल्पतर	अल्पतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भसूची

1 आचारांगसूत्र, 1/2/3/4
2 समणसुत्त, 150
3 प्रशमरति, 39
4 उत्तराध्ययनसूत्र, 32/7
5 अध्यात्मवाद और विज्ञान, डॉ.सागरमलजैन, पृ. 1
6 उत्तराध्ययनसूत्र, 9/48
7 वही, 9/48
8 पाणिनीयः अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, 2/1/6
9 अभिधानराजेन्द्रकोष, 1/227
10 अध्यात्मोपनिषद्, 1/2
11 अध्यात्मसार, 2/2
12 बृहद्द्रव्यसंग्रहः, 57, पृ. 187
13 समयसार, तात्पर्यवृत्ति, पृ. 526
14 अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय – सुपट्ठियो।।
– उत्तराध्ययनसूत्र, 20/37
15 भगवतीआराधना, 81
16 स्थानांगसूत्रवृत्ति, अभयदेवसूरि, 1
17 न्यायविवरण, 1/115, पृ. 428–429
18 आलापपद्धति, 15
19 तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागरसूरि, 5/38
20 नियमसार, 28
21 षोडशकप्रकरण, 15/13–16
22 समयसार, 3
23 वही, मंगलाचरण, आ.अमृतचन्द्र, 1
24 वही, कलश, आ.अमृतचन्द्र, 12
25 उपाध्याय यशोविजयजी का अध्यात्मवाद,
सा.प्रीतिदर्शनाश्री, पृ. 136
26 तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
27 उत्तराध्ययनसूत्र, 28/3
28 श्रावकधर्मप्रकाश (पद्मनन्दिपंचविंशति), एकत्व सप्तति
अधिकार, 14 (825, 146)
29 उत्तराध्ययनसूत्र, 28/35
30 योगशास्त्र, 4/1
31 समयसार, 7–8
32 उत्तराध्ययनसूत्र, 28/30
33 वही, 28/29
34 उपाध्याय यशोविजयजी का अध्यात्मवाद,
सा. प्रीतिदर्शनाश्री, पृ. 131
35 अध्यात्मोपनिषद्, 1/5
36 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 40, पृ. 172
37 वही, पृ. 291
38 धर्मसंग्रहश्रावकाचार, पं.मेधावी, 2/8
39 सागारधर्मामृतम्, आशाधर, 1/20
40 अध्यात्मोपनिषद्, 2/9
41 व्याख्याप्रज्ञप्ति, 1/9/21/4
42 नियमसारटीका, पद्मप्रभमल्लधारी, 25, पृ. 142
43 समयसार, 16
44 आचारांगसूत्र, 1/6/5/1
45 मोक्षप्राभृत, 5, 8, 10, 11
46 वही, 5, 9
47 वही, 5, 6, 12
48 दर्शन और चिंतन, पं.सुखलाल संघवी, खं. 2,
पृ. 260–277
49 जैन, बौद्ध और गीता, डॉ.सागरमलजैन, 2/448
50 वही, 2/447
51 तत्त्वार्थसूत्र, 8/1
52 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 8/1, पृ. 514
53 तत्त्वार्थसूत्र, 7/1
54 सर्वार्थसिद्धि, 8/1/732
55 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 8/1, पृ. 514
56 वही, 7/13, पृ. 478–479
57 सर्वार्थसिद्धि, 8/1/730
58 गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 34
59 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 8/1, पृ. 514
60 वही, पृ. 515
61 वही, पृ. 515
62 षट्खण्डागम (धवला), 10/4/2/4/175/437/8
63 (क) समवायांगसूत्र, 26
(ख) ऋषिभाषितसूत्र, 9/5
(ग) तत्त्वार्थसूत्र, 8/1
64 सर्वार्थसिद्धि, 8/9/751
65 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 8/9, पृ. 525
66 सर्वार्थसिद्धि, 8/9/751
67 वही, 8/9/751
68 वही, 8/9/751
69 (क) आचारांगनिर्युक्ति, 22–23
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, 9/47
(ग) षट्खण्डागम (धवला), कृतिअनुयोगद्वार, वेदनाखण्ड,
चूलिका, 7–8
70 कषाय, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 67
71 कर्मग्रंथवृत्ति, 2/2, पृ. 7

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

72 गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 3, 8
73 कर्मग्रंथ, 2/2
74 कषाय, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 67–68
75 रयणसार, 40
76 कर्मग्रंथ, मुनि मिश्रीमल, 2/2, पृ. 16
77 वही, पृ. 20–21
78 कषाय, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 72
79 वही, पृ. 72
80 वही, पृ. 72
81 कर्मग्रंथ, मुनि मिश्रीमल, 2/2, पृ. 27–31
82 कषाय, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 73
83 वही, पृ. 73
84 वही, पृ. 73
85 समवायांगसूत्र, 95
86 गोम्मटसार (जीवकाण्ड), 8
87 मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार 3, पृ. 76
88 उत्तराध्ययनसूत्र, 28/14
89 मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार 4, पृ. 80–82
90 तत्त्वार्थसूत्र, 6/3–4
91 मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार 7, पृ. 255–256
92 तत्त्वार्थसूत्र, 9/1
93 वही, 9/3
94 बृहद्द्रव्यसंग्रह:, 41, पृ. 132–133
95 मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार 4, पृ. 85
96 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 1/6, पृ. 30
97 (क) तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 1/6, पृ. 31
(ख) मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार 7 (व्यवहाराभासी)
(ग) श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि, 3–5, पृ. 534–535
98 तत्त्वार्थसूत्र, 1/33
99 (क) सर्वार्थसिद्धि, 1/32/236–239
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 1/32, पृ. 88–90
100 उत्तराध्ययनसूत्र, 32/100–101
101 देखें, मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार 4, पृ. 88–93
102 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 264, पृ. 299
103 वही, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि 24–26, पृ. 543–544
104 वही, पत्रांक 264, पृ. 298–300
105 वही, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि 7, पृ. 535
106 समयसार, कलश, आ.अमृतचन्द्र, 142
107 आतम अनुभव.....सीझे काज समासी।।
– आनंदघनपदसंग्रह, 1, पद 6
108 जोग जुगति.....नवि आवे।।
– चिदानंदकृतपदसंग्रह, 1, पद 11
109 श्रीमद्देवचन्द्र, 2, पृ. 578
110 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 265, 300–301
111 आनंदघन चौबीसी, मुनि सहजानंदघन, 11
112 देखें, ज्ञानार्णव:, 6/1
113 तत्त्वार्थसूत्र, 10/3
114 नियमसार, 176
115 वही, 179
116 उत्तराध्ययनसूत्र, 23/83
117 आप्तमीमांसापदवृत्ति, वसुनन्दी सैद्धांतिक चक्रवर्ती, 40
118 ज्ञानार्णव:, 3/6–8
119 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 10/4, पृ. 629
120 प्रशमरति, 148
121 (क) ग्रंथराजश्रीपंचाध्यायी, 1013
(ख) प्रवचनसार, 76
(ग) सर्वार्थसिद्धि, 7/10
(घ) दु:खरहित सुख, कन्हैयालाल लोढ़ा, पृ. 53–58
122 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि 101, पृ. 560
123 वहीं, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि 100, पृ. 560
124 वही, आत्मसिद्धि 103, पृ. 560
125 तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
126 उत्तराध्ययनसूत्र, 28/30
127 तत्त्वार्थसूत्र, श्रीमती पूजा–प्रकाश छाबड़ा, 1/1
128 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, अ. 1, परिशिष्ट 4, पृ. 162–163
129 तत्त्वार्थसूत्र, पं.सुखलाल संघवी, 1/1, पृ. 2
130 उत्तराध्ययनसूत्र, 28/7
131 वही, 28/6
132 तत्त्वार्थसूत्र, 5/29
133 आलापपद्धति, 9
134 जिनधर्मप्रवेशिका, ब्र.यशपाल जैन, पृ. 18
135 तत्त्वार्थसूत्र, 5/16
136 स्थानांगसूत्रवृत्ति, अभयदेवसूरि, 51
137 जिनधर्मप्रवेशिका, ब्र.यशपाल जैन, पृ. 18
138 तत्त्वार्थसूत्र, 5/25
139 पंचास्तिकाय, 84–85
140 वही, 86
141 वही, 90–91
142 वही, 100–101
143 देखें, जिनधर्मप्रवेशिका, ब्र.यशपाल जैन, पृ. 28–40
144 वही, पृ. 4–42

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

145 सर्वार्थसिद्धि, 1/2/10
146 तत्त्वार्थसूत्र, रामजीभाई दोशी, 1/4, पृ. 19–20
147 विशेषावश्यकभाष्य, 1944
148 लब्धिसार, 3–4
149 वही, 5
150 श्रीमद्राजचन्द्र, पत्रांक 718, आत्मसिद्धि 38, पृ. 545
151 योगशतक, 13
152 अध्यात्मोपनिषद्, 1/5
153 मोक्षमार्गप्रकाशक, अधिकार 7, पृ. 257
154 श्रीमद्राजचन्द्र, शिक्षापाठ 67, पृ. 110
155 वही, पत्रांक 751, पृ. 580
156 कर्मग्रंथ, मुनि मिश्रीमल, 2/2, पृ. 17
157 देखें, समयसार, 144, पृ. 202
158 कर्मग्रंथ, मुनि मिश्रीमल, 2/2, पृ. 17
159 समयसार, 144, पृ. 202–203
160 (क) लब्धिसार, 35
(ख) रम्यरेणु, 2/2, पृ. 72–92
(ग) गोम्मटसार जीवकाण्ड, 651
161 कषाय, सा.हेमप्रज्ञाश्री, पृ. 72

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 14

जीवन प्रबन्धन ...एक सारांश

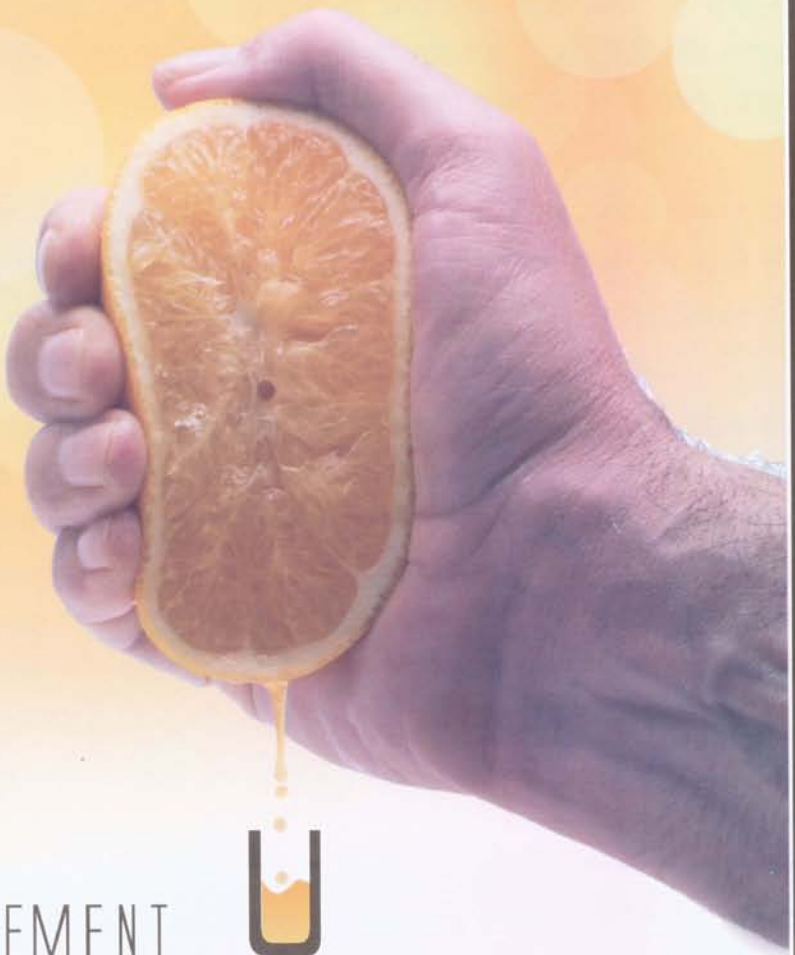

LIFE MANAGEMENT
A SUMMARY

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय 14

जीवन–प्रबन्धन : एक सारांश
(A Summary of Life Management)

मानव–जीवन बहुआयामी है, अतः उसके प्रबन्धन हेतु हमें जीवन के विविध पक्षों को समझना होगा। पुनः जीवन एक निष्क्रिय अस्तित्व नहीं है। जीवन का अर्थ ही सक्रियता है और सक्रियता विभिन्न क्षेत्रों में रहती है। अतः जीवन–प्रबन्धन के अनेक क्षेत्र हैं, जिन पर प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में हमने विचार किया है।

जहाँ तक मानव–जीवन का प्रश्न है, उसमें वासना और विवेक दोनों ही अपरिहार्य रूप से रहे हुए हैं। मनुष्य को हम विवेकयुक्त पशु (Man is a Rational Animal) कहकर परिभाषित करते हैं, जो यह सिद्ध करता है कि उसमें वासना और विवेक दोनों ही तत्त्व मौजूद हैं, किन्तु मानव–जीवन की सार्थकता इसी में मानी गई है कि उसकी वासनाओं पर विवेक का अंकुश रहे।

जीवन–प्रबन्धन वस्तुतः जैविक–वासनाओं पर विवेक का अंकुश लगाने का ही एक प्रयत्न है। यह हमें एक सम्यक् जीवन जीने की कला सिखाता है। यह अपने आप में एक विज्ञान भी है और कला भी। 'विज्ञान' सत्य को जानने का एक प्रयत्न है और 'कला' सत्य को जीने का एक प्रयत्न। जीवन–प्रबन्धन जीवन जीने की सम्यक् दिशा का बोध कराकर, उसे जीवन में जीने की एक कला के रूप में ही हमारे समक्ष लाता है। यह सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही है, इसीलिए प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में हमने जीवन–प्रबन्धन के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों ही पक्षों की चर्चा की, लेकिन इस चर्चा में हमारा आधार जैन जीवन–दृष्टि रहा है।

जीवन जीना सभी चाहते हैं, किन्तु जीवन को सम्यक् प्रकार से कैसे जिया जाए? यह विचार विरलों में ही होता है। पशु अपनी प्रकृति के अनुरूप जीवन जीता है, किन्तु मनुष्य अपनी प्रकृति से भिन्न होकर भी जीवन जी सकता है। जैसा कि हमने पूर्व में इंगित किया है, मानव–जीवन के दो नियामक तत्त्व हैं – वासना और विवेक। दोनों का सम्यक् समन्वय जीवन–प्रबन्धन है और किसी भी एक पक्ष की ओर अतिवादिता, यह जीवन की उच्छृंखलता का ही एक रूप है, अतः जीवन–प्रबन्धन से हमारा तात्पर्य यही है कि जीवन के विविध आयामों को एक विवेकपूर्ण दृष्टि प्रदान की जाए।

यद्यपि आज जीवन–प्रबन्धन एक आवश्यकता बन गया है, किन्तु यह आवश्यक इसीलिए है कि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन को एक सम्यक् दिशा प्रदान की जा सके और वह अपनी आध्यात्मिक ऊँचाइयों को प्राप्त कर सके। जैसा कि हमने पूर्व में इंगित किया है कि जीवन जीने के प्रेरक तत्त्वों में वासना और विवेक – दोनों ही काम करते हैं, किन्तु वर्त्तमान भौतिकवादी युग में वासना प्रधान बनती जा रही है और विवेक गौण होता जा रहा है। वासना की यह प्रधानता ही मनुष्य को पशु से भी नीचे गिरा देती है। पशु–जीवन में वासनाओं की प्रमुखता तो होती है, किन्तु वह अपनी वासनाओं को अपनी प्रकृति से नियंत्रित करता है। प्रकृति के नियमों को भंग करके वह अपनी वासना के पोषण का प्रयास नहीं करता, किन्तु मनुष्य की यह दुर्बलता है कि वह वासना के पोषण में प्राकृतिक मर्यादाओं को भी भूल जाता है और परिणामतः पशु से भी नीचे गिर जाता है। वर्त्तमान युग में जीवन–प्रबन्धन इसीलिए अत्यावश्यक बन गया है कि हम अपनी वासनाओं पर विवेक का अंकुश लगाना सीख लें, जीवन–प्रबन्धन वस्तुतः इसी कला को लेकर आगे आता है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में हमने जैनधर्म की आध्यात्मिक जीवनदृष्टि को सम्मुख रखते हुए जीवन–प्रबन्धन के कुछ मार्गदर्शक सिद्धान्तों और उनके प्रायोगिक पक्षों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जैसा कि हमने पूर्व में इंगित किया था कि जीवन अपने आप में बहुआयामी है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि जीवन के इन विविध आयामों को खोजकर, फिर उनके सन्दर्भ में जीवन जीने की शैली किस प्रकार हो, इसकी विस्तृत चर्चा की जाए। मानव–जीवन तथ्यों और आदर्शों का सुमेल है। हमारे लिए जीवन जीने में तथ्यों की पूर्ण उपेक्षा करना सम्भव नहीं है, फिर भी उन्हें न तो अनियंत्रित छोड़ा जा सकता है और न बिना विवेक के उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हुआ जा सकता है। अतः प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में हमने जीवन जिन आधारों पर खड़ा है, उनका आकलन करने का प्रयत्न किया है। फिर उसे किस प्रकार सुनियोजित किया जा सकता है, यह बताने का प्रयास किया है। साथ ही हमने जीवन जीने के सिद्धान्तों को व्यवहार में किस प्रकार उपस्थित किया जाए, यह भी देखने का प्रयत्न किया है और इस आधार पर व्यक्ति की जीवनशैली कैसी हो, इसका मार्गदर्शन करने का प्रयास किया है, ताकि व्यक्ति वासनाओं से ऊपर उठकर विवेकपूर्ण जीवन जी सके। यहाँ हमें यह स्पष्ट कर देना आवश्यक लगता है कि प्रस्तुत प्रसंग में वासना का अर्थ मात्र काम–वासना नहीं है, अपितु उसमें जीवन जीने के आवश्यक सभी तत्त्वों को समाहित किया गया है और उनका परिशोधन किस प्रकार हो या उनमें परिशोधन की सम्भावनाएँ कितनी हैं, यह देखने का प्रयत्न भी किया गया है। अतः प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में हमने न तो तथ्यों की उपेक्षा की है और न ही आध्यात्मिक जीवन–मूल्यों का अपनयन किया है। हमने तो प्रबन्धन के रूप में आदर्श और यथार्थ के बीच एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। साथ ही, व्यावहारिक स्तर पर यह भी देखने का प्रयत्न किया है कि वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक आदि जीवन–मूल्यों की कहीं उपेक्षा न हो। हमारे आदर्श मात्र आदर्श नहीं हैं, वे जीवन में व्यवहार्य भी हैं और इसीलिए प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय में जहाँ एक ओर आध्यात्मिक जीवन–मूल्य को दृष्टि में रखा गया है, वहीं दूसरी ओर उनकी व्यावहारिक उपादेयता को भी ध्यान में रखा गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्मदर्शन और नीतिशास्त्र मूलतः आध्यात्मिक जीवन–मूल्यों की बात करते हैं। फिर भी, वे आदर्शों को निरा आदर्श न रखकर जीवन में व्यवहार्य भी बताना चाहते हैं। जैनधर्मदर्शन की अनेकान्त जीवनदृष्टि यह बताती है कि हम आदर्शों को जीवन में जीकर दिखा सकते हैं। अतः प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में जैनधर्मदर्शन के तप–त्याग के जीवन–मूल्यों को व्यवहार के समायोजन की दृष्टि से ही रखा गया है।

यद्यपि जैनदर्शन निवृत्तिपरक है, तथापि वह प्रवृत्ति की पूर्ण उपेक्षा नहीं करता। वह निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति की बात करता है। जीवन–प्रबन्धन भोग की मर्यादाओं का सीमांकन करके यही बताता है कि हम किस प्रकार का जीवन जिएँ, जिससे हम आध्यात्मिक विकास की ऊँचाइयों को स्पर्श कर सकें। इसीलिए हमें जहाँ एक ओर जीवन के महत्त्व को समझना होगा, वहीं दूसरी ओर जीवन के प्रबन्धन की महत्ता को भी स्वीकार करना होगा।

आज का युग प्रबन्धन का युग है। प्रबन्धन को जीवन में एक स्थान अवश्य मिला है, किन्तु हमें यह कहते हुए दुःख होता है कि हमारे समक्ष प्रबन्धन का लक्ष्य मात्र वासनात्मक जीवन–मूल्यों की सम्पूर्त्ति तक ही सीमित हो गया है। आज जीवन में अर्थ और काम प्रमुख बन गए हैं तथा धर्म और मोक्ष गौण हो गए हैं। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का उद्देश्य अर्थ और काम को धर्म और अध्यात्म के जीवन–मूल्यों से समन्वित करना ही रहा है। इसीलिए हमने प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में जीवन के सभी प्रमुख आयामों को समाहित करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि जीवन एक प्रक्रिया है और वह सदैव परिवर्त्तनशील है, फिर भी हमने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि वर्त्तमान प्रसंगों में जीवन के व्यवहार का किस प्रकार से प्रबन्धन किया जाए कि व्यक्ति जीवन के सभी पक्षों का सम्यक् मूल्यांकन एवं परिष्करण करता हुआ आत्मतोष का वरण कर सके।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में हमने जीवन–प्रबन्धन के विविध आयामों को समाहित करते हुए उन्हें विविध क्षेत्रों में विभाजित किया है, जैसे – शिक्षा–प्रबन्धन, समय–प्रबन्धन, शरीर–प्रबन्धन, अभिव्यक्ति(वाणी)–प्रबन्धन, तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन, पर्यावरण–प्रबन्धन, समाज–प्रबन्धन, अर्थ–प्रबन्धन, भोगोपभोग–प्रबन्धन, धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन और आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन। इस प्रकार जीवन के सभी पक्षों के सम्यक् प्रबन्धन की बात इस शोध–ग्रन्थ में की गई है, इसलिए प्रकारान्तर से इसमें भारतीय जीवनशैली के चारों पक्षों – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जिन्हें हिन्दु–परम्परा में पुरूषार्थ चतुष्टय के रूप में जाना जाता है, को समाहित करते हुए जीवन के विविध आयामों के प्रबन्धन की बात कही है। वस्तुतः, जीवन जब तक सम्यक् रूप से प्रबन्धित नहीं होता, तब तक जीवन जीने की सार्थकता की अभिव्यक्ति नहीं होती।

आगे, हम यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि जीवन के इन सभी आयामों को जैन जीवनदृष्टि से इस प्रकार से प्रबन्धित किया जाए कि मानव इसी जीवन में आध्यात्मिक जीवन–मूल्य को आत्मसात् करता हुआ प्रगति की दिशा में अपने चरण बढ़ा सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के प्रथम अध्याय **जीवन–प्रबन्धन का पथ** का प्रारम्भ हमने मंगलाचरण से किया। उसके पश्चात् हमने जीवन–प्रबन्धन की आवश्यकता क्यों है, इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए कहा है कि जीवन का सन्तुलित, सुव्यवस्थित और समग्र विकास हो, यह प्रत्येक मानव की आन्तरिक इच्छा होती है और जीवन–प्रबन्धन वस्तुतः इसी लक्ष्य की पूर्त्ति का एक प्रयास है। इसमें प्रबन्धन का तात्पर्य जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उपलब्ध सीमित संसाधनों का उपयोग करने की कला ही है और इसी के माध्यम से व्यक्ति जीवन–मूल्यों को आत्मसात् कर सकता है।

इसके पश्चात् हमने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि जीवन क्या है, जीवन के विविध घटक कौन–कौन से हैं, जीवन का लक्षण क्या है और जीवन का लक्ष्य क्या है। इस प्रसंग में जैनदर्शन की मान्यता बहुत स्पष्ट है कि जीने की प्रक्रिया जीवन है; यह जीवन मूलतः आत्म–संचालित होता है, फिर भी व्यावहारिक–दृष्टि से आत्मा और शरीर का समन्वित रूप कहलाता है; जीवन का लक्षण प्राण है और प्राणशक्ति का संतुलित प्रवर्त्तन ही जीवन का परम लक्ष्य है। आगे, यह बताने का प्रयत्न किया है कि जीवन के अनेक आयाम (विशेषताएँ) हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर जीना ही जीवन की सम्यक् दिशा है। प्रस्तुत अध्याय में हमने सृष्टि के विविध जीवनरूपों की चर्चा भी की है और यह बताया है कि मानव–जीवन ही इस जगत् का सर्वश्रेष्ठ रूप है, क्योंकि इसी में जीवन–प्रबन्धन की सर्वाधिक संभावनाएँ छिपी हुई हैं। आगे, जीवन जीने के विविध तरीकों यानि जीवनशैलियों का वर्णन किया है, जिससे जीवन–प्रबन्धक अपने जीवन का सम्यक् मूल्यांकन कर नकारात्मक जीवनशैलियों से बचता हुआ सकारात्मक जीवनशैलियों को अपना सके और यही जीवन–प्रबन्धन का ध्येय भी है। जीवनशैलियों को परिष्कृत करना आसान नहीं है, अतः यहाँ प्रबन्धन की अवधारणा को समझना आवश्यक हो जाता है और इसीलिए प्रस्तुत अध्याय में जीवन–प्रबन्धन के सन्दर्भ में आधुनिक एवं जैन दृष्टिकोणों से प्रबन्धन के मूल स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया गया है। सामान्यतया व्यक्ति प्रबन्धन का उपयोग औद्योगिक, व्यावसायिक अथवा किसी हद तक सामाजिक क्षेत्रों में ही करता है, अतः जीवन का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता। इसी कारण हमने प्रस्तुत अध्याय में जीवन–प्रबन्धन की मौलिक अवधारणा एवं जीवन–प्रबन्धन के सम्यक् स्वरूप को सुस्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया है, जिसके अंतर्गत यह बताया है कि जीवन–प्रबन्धन की आवश्यकता आखिर क्यों है, इसका जीवन में क्या महत्त्व है, इसका मूल उद्देश्य क्या है और इस लक्ष्य कि संप्राप्ति में साधक एवं बाधक कारण कौन–कौन से हैं। जीवन अत्यन्त जटिल है, क्योंकि जीवन के शिक्षा, शरीर, वाणी, समाज आदि विविध पहलू एक–दूसरे में गुँथे हुए हैं। इससे जीवन–प्रबन्धन अत्यन्त कठिन हो जाता है, अतः इस अध्याय में हमने जैन–दृष्टि को आधार बनाकर जीवन–प्रबन्धन की सरलतम प्रणाली कैसी होनी चाहिए, इस बात की चर्चा भी की है। आगे, हमने भारतीय–दर्शनों और विशेष रूप से जैनदर्शन में वर्णित पुरूषार्थ–चतुष्टय यानि, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पुरूषार्थों की अवधारणा को स्पष्ट किया है। यह बताने का विशुद्ध उद्देश्य मात्र इतना है कि व्यक्ति के समक्ष जीवन–विकास के इन चारों आयामों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संतुलित सम्मिलन हो और जीवन–प्रबन्धन की प्रक्रिया में सर्वांगीणता आ सके। इसके पश्चात् जीवन की बहुआयामिता का वर्णन करते हुए हमने जीवन–प्रबन्धन के विविध आयामों को स्पष्ट किया है, जैसे – शिक्षा–प्रबन्धन, समय–प्रबन्धन, शरीर–प्रबन्धन, अभिव्यक्ति(वाणी)–प्रबन्धन, तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन, पर्यावरण–प्रबन्धन, समाज–प्रबन्धन, अर्थ–प्रबन्धन, भोगोपभोग–प्रबन्धन, धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन एवं आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन। इन विविध विधाओं की चर्चा तो अलग–अलग अध्याय में विस्तार से की है, किन्तु प्रस्तुत अध्याय में जीवन–प्रबन्धन के इन विविध आयामों को स्पष्ट करते हुए यही बताया है कि जीवन एक बहुआयामी प्रक्रिया है। अतः जीवन प्रबन्धन के लिए विविध क्षेत्रों या जीवन के विविध आयामों का प्रबन्धन आवश्यक है।

दूसरा अध्याय मूलतः **जैनदर्शन और आचारशास्त्र में जीवन–प्रबन्धन के तत्त्वों** को स्पष्ट करने के उद्देश्य से लिखा गया है। इसमें सर्वप्रथम दर्शन और आचारशास्त्र का सह–सम्बन्ध बताया गया है और यह भी बताया गया है कि नीतिविहीन दर्शन और दर्शनविहीन नीति दोनों ही सार्थक नहीं हैं। दर्शन और नीति दोनों के सह–सम्बन्ध से ही जीवन–प्रबन्धन की यात्रा आगे बढ़ती है और इसी बात को स्पष्ट करते हुए आगे जैनआचारमीमांसा के उद्देश्य को प्रस्तुत करके जैनआचारमीमांसा और जीवन–प्रबन्धन के सहसम्बन्ध को समझाया गया है। नीतिविहीन जीवन, जीवन के अप्रबन्धन की स्थिति है, जबकि नीतियुक्त जीवन, जीवन–प्रबन्धन का सम्यक् स्वरूप है। इसके पश्चात् इस द्वितीय अध्याय में हमने जैनआचारमीमांसा में जीवन–प्रबन्धन के जो मुख्य तत्त्व रहे हुए हैं, उन्हें स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि जैनआचारमीमांसा पंचाचार के माध्यम से जीवन–प्रबन्धन की बात करती है। जैनदर्शन की यह विशेषता है कि यह ज्ञान को निरी सूचना और आस्था को मात्र अन्धविश्वास नहीं बनाता, अपितु यह कहता है कि सैद्धान्तिक रूप से जो कुछ जाना है और माना है, उसे जीवन में जी कर दिखाना होगा। ज्ञान और दर्शन जब तक जीवन से जुड़ते नहीं हैं, तब तक वे मात्र सूचना और विश्वास ही हैं। इस प्रकार, जैनआचारमीमांसा मुख्यतः सम्यक् प्रकार से जीवन जीने की बात करती है और यही उसकी दृष्टि में जीवन–प्रबन्धन का मुख्य तत्त्व है। इस अध्याय के निष्कर्ष में हमने यह बताया है कि जैनआचारशास्त्र में वर्णित पंचाचार जीवन–प्रबन्धन के सभी आयामों, जैसे – शिक्षा–प्रबन्धन, समय–प्रबन्धन, शरीर–प्रबन्धन, अभिव्यक्ति(वाणी)–प्रबन्धन, तनाव एवं मानसिक विकारों का प्रबन्धन, पर्यावरण–प्रबन्धन, समाज–प्रबन्धन, अर्थ–प्रबन्धन, भोगोपभोग–प्रबन्धन, धार्मिक–व्यवहार–प्रबन्धन एवं आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन के प्रबन्धन की बात करता है और व्यक्ति का जीवन इनके सम्यक् प्रबन्धन पर निर्भर करता है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के प्रथम एवं द्वितीय अध्याय मूलतः जैन जीवन–प्रबन्धन की भूमिका रूप ही हैं। आगे, हमने जैनआचारमीमांसा को दृष्टिगत रखते हुए तृतीय अध्याय से शिक्षा–प्रबन्धन, समय–प्रबन्धन, शरीर–प्रबन्धन आदि की बात कही है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का तृतीय अध्याय **शिक्षा–प्रबन्धन** से सम्बन्धित है। इस अध्याय में हमने सर्वप्रथम यही बताने का प्रयास किया है कि शिक्षा का स्वरूप क्या हो। इस अध्याय में शिक्षा का सामान्य परिचय देने और अर्थ स्पष्ट करने के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रसंग में हमने यह बतलाया है कि जिस प्रकार वैदिक परम्परा में शिक्षा का तात्पर्य **'सा विद्या या विमुक्तये'** के रूप में स्पष्ट किया गया है, उसी प्रकार जैनग्रन्थ ऋषिभाषित में यह कहा गया है कि **'इमा विज्जा महाविज्जा..... सा विज्जा दुक्खमोयणी'** अर्थात् वही विद्या सब विद्याओं में उत्तम है, जिसकी साधना से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है। इस प्रकार जैनदर्शन शिक्षा को सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त होने का माध्यम मानता है। चूँकि दुःख–विमुक्ति सभी जीवों का सामान्य लक्ष्य है, इसीलिए इस अध्याय के प्रारम्भ में ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि शिक्षा की आवश्यकता क्यों है और शिक्षा के माध्यम से जीवन का सम्यक् विकास कैसे सम्भव होता है। इसके पश्चात् प्रस्तुत तृतीय अध्याय में जैनदृष्टि से शिक्षा के विविध आयामों की चर्चा की गई है। इसमें जहाँ एक ओर लौकिक शिक्षा की बात कही गई है, वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक शिक्षा की बात भी कही गई है। इस प्रसंग में हमने जैन, बौद्ध और वैदिक प्राचीन शिक्षा–पद्धतियों की सामान्य प्रस्तुति की है और यह बताया है कि विभिन्न युगों में शिक्षा के सम्बन्ध में विविध दृष्टियाँ क्या रही हैं। इस सामान्य चर्चा के पश्चात् वर्त्तमान युग में शिक्षा का विकास किस प्रकार से हुआ है और इस हेतु कौन–कौन से अभिकरण (Agencies) अस्तित्व में आए हैं, इनकी भी चर्चा की है। साथ ही वर्त्तमान युग में शिक्षा के विविध आयाम क्या हैं, इन्हें भी बताया गया है। इसके पश्चात् हमने वर्त्तमान युग की शिक्षाप्रणाली की विशेषताओं एवं कमियों, दोनों का ही समीक्षात्मक–दृष्टि से अध्ययन करते हुए यह बताया है कि आध्यात्मिक–मूल्यों से रहित असन्तुलित शिक्षा के क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं। इसके पश्चात् जैनआचारग्रन्थों का आधार लेते हुए शिक्षा के सम्यक् प्रबन्धन की बात कही है और यह बताया है कि लौकिक और लोकोत्तर या व्यावहारिक और आध्यात्मिक शिक्षा के समन्वयन के द्वारा ही मानव–जीवन का सम्यक् विकास सम्भव है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय **समय–प्रबन्धन** को लेकर है। इस अध्याय में हमने सर्वप्रथम समय के स्वरूप तथा उसकी विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए समय की सार्वकालिक महत्ता पर बल दिया है और यह बताया है कि मनुष्य को एक सीमित समय जीवन जीने के लिए उपलब्ध होता है और यह उस पर निर्भर करता है कि वह उस समय का सम्यक् उपयोग करता है या नहीं। समय–प्रबन्धन समय के सम्यक् उपयोग की बात करता है और यह बताता है कि जो व्यक्ति समय का सदुपयोग कर लेता है, वही अपने जीवन–विकास की यात्रा को आगे बढ़ा पाता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय समय की सार्वकालिक महत्ता को स्पष्ट करने के बाद वर्त्तमान युग में समय–प्रबन्धन की क्या आवश्यकता है और क्या महत्त्व है, इस बात पर बल देता है। साथ ही यह बताता है कि समय का सदुपयोग न करके अव्यस्थित ढंग से उसका दुरुपयोग करने के क्या–क्या दुष्परिणाम होते हैं। वर्त्तमान युग की जो भी प्रमुख समस्याएँ हैं, उनमें समय के सम्यक् उपयोग न करने से जनित समस्याएँ ही प्रधान हैं। इसके पश्चात् इस अध्याय में हमने जैनआचारमीमांसा के आधार पर समय–प्रबन्धन की बात कही है और इसी प्रसंग में यह भी बताया है कि भगवान् महावीर ने अपने प्रधान शिष्य गौतम को समय का सम्यक् सदुपयोग करने का उपदेश किस प्रकार दिया था। इसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पश्चात् इस अध्याय में समय–प्रबन्धन किस प्रकार किया जा सकता है, इसके प्रायोगिक पक्ष को भी सामने रखा गया है और यह बताया गया है कि विविध क्षेत्रों में समय–प्रबन्धन के सन्दर्भ में किस प्रकार के आदर्श (Models) उपस्थित किए जा सकते हैं। इस अध्याय का सार यही है कि व्यक्ति समय का सम्यक् सदुपयोग करना सीखे और समय को बर्बाद होने से बचाए।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का पंचम अध्याय **शरीर–प्रबन्धन** से सम्बन्धित है। शरीर वस्तुतः, जीवन जीने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। शरीर के अभाव में न जीवन जिया जा सकता है, न साधना की जा सकती है। अतः जैनआचारमीमांसा में शरीर–प्रबन्धन को विशेष महत्त्व दिया गया है। यह सत्य है कि शरीर साधना का साधन है, लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि साधन के अभाव में साध्य की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है। इसके पश्चात् इस अध्याय में शरीर के कुप्रबन्धन या अप्रबन्धन के दुष्परिणामों की विस्तार से चर्चा की गई है तथा यह बताया है कि आहार सम्बन्धी विसंगतियाँ किस प्रकार से हमारे जीवन को अपने साध्य से विमुख बना देती है। इस प्रसंग में हमने आहार, जल, प्राणवायु, श्रम–विश्राम, निद्रा, स्वच्छता, साज–सज्जा एवं काम–वासना सम्बन्धी विकृत आचारों की विस्तार से चर्चा करते हुए यह बताया है कि यदि शरीर का सम्यक् प्रबन्धन करना चाहते हैं, तो हमें विसंगतियों से बचना होगा। वर्त्तमान युग में भोगवादी संस्कृति के परिणामस्वरूप शरीर और उससे सम्बन्धित विविध पक्षों का सम्यक् प्रबन्धन नहीं हो पा रहा है। अतः आज शरीर को कुप्रबन्धन से बचाकर उसके सम्यक् प्रबन्धन की विशेष आवश्यकता है। अतः इसी क्रम में आगे आहार, जल, प्राणवायु, श्रम–विश्राम, निद्रा, स्वच्छता, साज–सज्जा एवं काम–वासना का नियंत्रण किस प्रकार से किया जा सकता है, इन तथ्यों को भी विस्तार से समझाया गया है। चूँकि शरीर और मन अन्योन्याश्रित हैं, अतः इसी अध्याय में हमने मनोदैहिक विकृतियों की चर्चा करते हुए यह बताया है कि मनोदैहिक–प्रबन्धन किस प्रकार से हो सकता है। इसी प्रसंग में हमने शरीर–प्रबन्धन के प्रायोगिक पक्षों को भी स्पष्ट किया है और यह बताया है कि शरीर–प्रबन्धन के बिना धार्मिक और आध्यात्मिक साधनाएँ सम्भव नहीं हैं। अतः सम्यक् शरीर–प्रबन्धन एक आवश्यक तत्त्व है, क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा का निवास सम्भव है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का षष्ठम अध्याय **अभिव्यक्ति–प्रबन्धन** से सम्बन्धित है। इस प्रसंग में हमने सबसे पहले सांकेतिक–अभिव्यक्ति और भाषिक–अभिव्यक्ति के स्वरूप को स्पष्ट किया है और यह बताया है कि वाणी के सम्यक् प्रयोग के बिना व्यक्ति का जीवन पाशविकता की ओर बढ़ जाता है। अभिव्यक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसमें यह बताया गया है कि सांकेतिक–अभिव्यक्ति मूलतः निम्नस्तर के प्राणियों में पाई जाती है, जबकि सांकेतिक–अभिव्यक्ति के साथ–साथ भाषिक–अभिव्यक्ति विशेष रूप से मानव प्रजाति में ही पाई जाती है। वस्तुतः, मनुष्य की भाषिक–अभिव्यक्ति की शक्ति भी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यहाँ पर यह समझना जरुरी है कि भाषिक–अभिव्यक्ति यदि सम्यक् दिशा में नियोजित नहीं होती है, तो उसके भयंकर दुष्परिणाम भी सामने आते हैं, अतः इस अध्याय में भाषिक–अभिव्यक्ति का महत्त्व स्पष्ट करने के बाद असंयमित भाषिक–अभिव्यक्ति के दुष्परिणामों की विशेष रूप से चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि जैनआचारशास्त्र में भाषिक–अभिव्यक्ति का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक् प्रबन्धन करने हेतु कौन–कौन से सूत्र दिए गए हैं। यह सत्य है कि मानव–जीवन में यदि व्यक्ति को अभिव्यक्ति का अवसर ही ना मिले, तो वह तनावग्रस्त हो जाता है, किन्तु वह अभिव्यक्ति चाहे सांकेतिक हो या भाषिक, यदि सम्यक् रूप से प्रयुक्त नहीं की जाती है, तो मानव जाति को विकास के स्थान पर पतन की ओर ले जाती है। जैनचिन्तकों ने भी यह बताया है कि द्रौपदी की असंयमित भाषिक–अभिव्यक्ति ने महाभारत जैसे युद्ध को जन्म दिया। जैनआगमों विशेष रूप से आचारांग और दशवैकालिक में इस बात पर बहुत बल दिया गया है कि साधक को अपनी भाषिक–अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में कितना सजग रहना चाहिए। वाणी का कुप्रबन्धन किस प्रकार के अनर्थों को जन्म देता है, यह चर्चा भी प्रस्तुत अध्याय में जैनआचारमीमांसा के आधार पर की गई है और यह बताया गया है कि भाषिक–अभिव्यक्ति का सम्यक् प्रयोग मनुष्य को किस प्रकार से करना चाहिए और इस सन्दर्भ में हमने जैनग्रन्थों के आधार पर भाषिक–अभिव्यक्ति की एक आदर्श नियमावली (Model) भी प्रस्तुत की है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का सप्तम अध्याय **तनाव एवं मानसिक विकारों के प्रबन्धन** से सम्बन्धित है। आज यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि समग्र मानवता तनावग्रस्त है और यह भी सत्य है कि वह तनाव से मुक्ति चाहती है, किन्तु तनाव से मुक्ति के सम्यक् मार्ग के अवलम्बन से आज वह वंचित है। यह एक सत्य है कि तनाव एवं मानसिक विकार की जन्मभूमि मानव–मन ही है। अतः इस अध्याय में सर्वप्रथम भारतीय–दर्शन और विशेष रूप से जैनदर्शन में मन का क्या स्वरूप है, इसे विस्तार से बताया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि जीवन को सम्यक् प्रकार से जीने में मन का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचारमीमांसा और विशेष रूप से जैनआचारमीमांसा की दृष्टि से मन को ही बन्धन और मुक्ति का आधार माना गया है।

मणसा उवेति विसए, मणसेव य सन्नियत्तए तेसु।
इति वि हु अज्झत्थसमो, बंधो विसया न उ पमाणं।।

इस प्रकार, हमने जीवन व्यवहार एवं साधना में मन के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि मन का सम्यक् प्रबन्धन न होने से ही विविध मानसिक विकारों विशेष रूप से तनाव, अवसाद आदि मनोरोगों का जन्म होता है और व्यक्ति को इनके दुष्परिणामों को भोगना पड़ता है। प्रस्तुत अध्याय में प्रसंगानुरूप मनोविकारों के बहिरंग एवं अंतरंग कारणों की विस्तार से चर्चा तथा समीक्षा की गई है और यह बताया गया है कि तनाव भी एक मनोविकार ही है। तनाव को स्पष्ट करने की दृष्टि से आगे हमने यह लिखा है कि तनाव का स्वरूप क्या है, यह कहाँ और क्यों उत्पन्न होता है और इससे मुक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है, इसकी चर्चा हमने जैनआचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में मन–प्रबन्धन को लेकर की है और यह बताया है कि मन–प्रबन्धन का एक सम्यक् आदर्श (Model) क्या और किस रूप में हो सकता है। इस प्रकार, यह अध्याय न केवल तनाव और मानसिक विकारों की चर्चा करता है, अपितु उनसे विमुक्ति किस प्रकार सम्भव है, इसकी भी चर्चा करता है। वस्तुतः, आज धर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और साधना का कोई अर्थ है, तो यही है कि जो व्यक्ति, परिवार और समाज को जो तनाव से मुक्त रखे, वही सम्यक् साधना है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का अष्टम अध्याय **पर्यावरण–प्रबन्धन** से सम्बन्धित है। व्यक्ति और समाज का विकास पर्यावरण से निरपेक्ष नहीं होता, अतः इस अध्याय में सर्वप्रथम हमने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि पर्यावरण क्या है? वस्तुतः, पर्यावरण वह समग्र परिदृश्य है, जिसमें व्यक्ति के जीवन का विकास और निर्माण होता है। जिस प्रकार का पर्यावरण या परिवेश होगा, उसी के आधार पर व्यक्ति, समाज तथा संस्कृति का विकास होगा। उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं कि अरब देश में शव को दफनाने की और भारत आदि में शव को जलाने की जो परम्पराएँ विकसित हुई हैं, उनका आधार वहाँ का पर्यावरण ही रहा है। रेतीले प्रदेशों में भूमि की विपुलता थी, किन्तु वन–सम्पदा का अभाव था, अतः उनके सामने शव को दफनाने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। दूसरी ओर भारत जैसे वनों से परिपूर्ण देश में खुली भूमि की कमी और काष्ठ आदि की विपुलता के कारण यहाँ शवों को जलाने की परम्परा विकसित हुई। अतः यह एक सर्वमान्य तत्त्व है कि व्यक्ति, समाज और संस्कृति का विकास पर्यावरण–निरपेक्ष नहीं होता है। पर्यावरण से व्यक्ति का खान–पान और उसकी उपासना पद्धतियाँ भी प्रभावित होती हैं। जीवन में जल को महत्त्व देने के कारण हिन्दु–संस्कृति के तीर्थों का विकास मुख्यतः नदियों के किनारे हुआ, जबकि ध्यान–साधना पर बल देने वाले जैनधर्मदर्शन में तीर्थ–क्षेत्रों के रूप में पहाड़ की चोटियों को अधिक पसन्द किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पर्यावरण का सार्वजनिक, सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक महत्त्व है। प्रस्तुत अध्याय में हमने उसे ही इंगित करने का प्रयत्न किया है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि आज पर्यावरण–प्रदूषण के दुष्परिणामों से मानव–संस्कृति अत्यधिक प्रभावित हुई है और स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि यदि पर्यावरण–प्रदूषण को नहीं रोका गया, तो मानव जाति का अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता है। ध्यान–साधनाएँ भी पर्यावरण के सुन्दर परिदृश्य में अधिक सहज और सफल होती हैं। अतः न केवल जीवन जीने के लिए, अपितु साधना के लिए भी पर्यावरण का अतिमहत्त्व है। पर्यावरण–प्रदूषण के दुष्परिणाम आज मानवता को कहाँ तक प्रभावित कर रहे हैं, यह चर्चा करते हुए प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में यह दिखाया गया है कि जैनआचारमीमांसा में पर्यावरण–संरक्षण के तत्त्व प्राचीन काल से ही उपस्थित रहे हैं। साथ ही इस चर्चा के पूर्व इस बात को भी इंगित करने का प्रयास किया गया है कि पर्यावरण–प्रदूषण के मूलभूत कारण क्या हैं और जैनआचारमीमांसा में उन कारणों के निराकरण का प्रयत्न किस रूप में हुआ है। जैनआचारमीमांसा का षट्कायिक जीवों की अहिंसा का सिद्धान्त पर्यावरण–संरक्षण या पर्यावरण–प्रबन्धन का एक सम्यक् उपाय है, क्योंकि जैन–परम्परा ने षट्जीवनिकायों में वनस्पति को भी जीवन का एक रूप माना है और उनकी हिंसा से बचने का निर्देश दिया है। आज वृक्षों के संरक्षण एवं वनों के विकास की जो बात कही जा रही है, उस सम्बन्ध में जैन–चिन्तक प्राचीन काल से ही जागरूक रहे हैं। जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने आत्मौपम्य–दृष्टि से सभी जीवनिकायों के संरक्षण की बात कही है। वे यह मानते रहे हैं कि पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि सभी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन से युक्त हैं। अतः उनका विनाश जीवन का विनाश है। जैनदर्शन प्रारंभिक–काल से ही यह मानता रहा है कि जीवन पारस्परिक संवाद के आधार पर नहीं, अपितु पारस्परिक सहयोग के आधार पर चलता है **(परस्परोपग्रहो जीवानाम्)**। जीवन का विकास और जीवन का संरक्षण जीवन के अन्य रूपों के पारस्परिक सहयोग पर ही निर्भर है। जैसे प्राणी–जगत् को जीवन जीने के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है, इस ऑक्सीजन का विसर्जन वनस्पति–जगत् करता है, वैसे ही वनस्पति–जगत् को जीवन जीने के लिए कार्बन–डाई–ऑक्साईड की आवश्यकता होती है, जिसका विसर्जन प्राणी–जगत् करता है। इसी प्रकार वनस्पति के फलादि से प्राणीय–जीवन अपना पोषण पाता है, तो प्राणियों के मल, मूत्र आदि के उत्सर्जन से वनस्पति–जगत् का जीवन चलता है। अतः जीवन के विविध रूपों के प्रति सहयोग की भावना ही पर्यावरण–प्रबन्धन का एक सम्यक् उपाय हो सकती है। जैनाचार्यों ने पर्यावरण–प्रबन्धन के प्रायोगिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए भूमि–संरक्षण, जल–संरक्षण, अग्नि–संरक्षण, वायु–संरक्षण, वनस्पति–संरक्षण और त्रसजीव–संरक्षण की बात कही है। वस्तुतः, इन सभी से मिलकर पर्यावरण बनता है, अतः पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए इनका संरक्षण आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन–परम्परा अपने आदिकाल से ही पर्यावरण–संरक्षण एवं पर्यावरण–प्रबन्धन के लिए सजग रही है। आज भी जैन जीवनशैली भूमि, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के सीमित उपयोग पर ही बल देती है, जो कि पर्यावरण–प्रबन्धन का एक आवश्यक प्रायोगिक पक्ष है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का नवम अध्याय **समाज–प्रबन्धन** को लेकर है। इस अध्याय में सर्वप्रथम समाज के स्वरूप और महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः, व्यक्ति और समाज एक–दूसरे के आश्रित ही हैं, व्यक्ति के बिना समाज की और समाज के बिना व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। व्यक्ति और समाज का यह सह–अस्तित्व हमें यह बताता है कि समाज की उपेक्षा करके व्यक्ति और व्यक्ति की उपेक्षा करके समाज नहीं चल सकता, अतः जीवन–प्रबन्धन के लिए समाज–प्रबन्धन आवश्यक है। सामाजिक–संरचना के लिए जो विविध आयाम अस्तित्व में हैं, वे व्यक्ति–सापेक्ष ही हैं। व्यक्ति–निरपेक्ष समाज और समाज–निरपेक्ष व्यक्ति, दोनों ही एक अयथार्थ कल्पना है। सामाजिक–अव्यवस्था का प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर पड़ता है और व्यक्ति की अव्यवस्थित जीवनशैली का प्रभाव समाज–व्यवस्था पर पड़ता है। अतः इस अध्याय में हमने सामाजिक–अव्यवस्था के दुष्परिणामों की विस्तार से चर्चा की है और यह बताया है कि जब तक समाज सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित नहीं होगा, तब तक वैयक्तिक जीवन–विकास भी सम्यक् दिशा की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। समाज–प्रबन्धन का मूलभूत उद्देश्य यही है कि उसके घटक रूप व्यक्ति का विकास भी एक सम्यक् दिशा में हो। इसीलिए इस अध्याय में सामाजिक चेतना के सम्यक् विकास को आवश्यक माना गया है। सामाजिक–सम्बन्धों की निर्मलता ही समाज–प्रबन्धन का आदर्श है। समाज पारस्परिक–सद्भावनाओं पर आधारित होकर प्रगति करता है, अतः आचार के क्षेत्र में जैन–परम्परा ने तो सदैव मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ्य भावों की बात की है। ये सभी सामाजिक चेतना और सामाजिक सद्भावना के विकास के लिए आवश्यक तत्त्व माने गए हैं। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को लेकर जैनागम अनेकान्त–दृष्टि को महत्त्व देता है और यह कहता है कि सामाजिक–प्रबन्धन अनेकान्त–दृष्टि के आधार पर ही सफल हो सकता है। समाज के सभी सदस्यों की योग्यता और रुचि में वैविध्य पाया जाता है, अतः सामाजिक–प्रबन्धन में उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन के दो पक्ष हैं – स्वार्थ एवं परार्थ, लेकिन जैनाचार्यों की मान्यता यह है कि स्वार्थ और परार्थ के पारस्परिक सामंजस्य से ही परमार्थ का विकास होता है। जैनदर्शन यह मानता है कि स्वहित और लोकहित दोनों ही अपेक्षित हैं, लेकिन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों अर्थात् परमार्थ की उपेक्षा करके इन दोनों में सम्यक् समन्वय नहीं किया जा सकता। परमार्थ में स्वार्थ और परार्थ दोनों ही समाहित होते हैं। परमार्थ के क्षेत्र में जो पारस्परिक सहयोग एवं लोकमंगल की भावना रही है, वही समाज–प्रबन्धन का मूलभूत आधार है, इसीलिए जैनदर्शन में दान के स्थान पर संविभाजन की बात कही गई है। हमारे पास जो अतिरिक्त संचय है, उस पर मात्र हमारा ही अधिकार नहीं है। दूसरे शब्दों में, उचित उपयोग के पश्चात् जो बचत के रूप में हमारे पास रहता है, वह व्यक्तिगत मालकियत का विषय नहीं है। अतः संविभाजन सामाजिक व्यवस्था का एक आदर्श रूप है। इस प्रकार, जैनदर्शन दान को संविभाजन के रूप में ही मान्यता देता है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जो भी देता है, वह वस्तुतः जिस पर दूसरों का अधिकार है, उसे ही देता है। इससे दान के साथ अहंकार की भावना का विकास नहीं होता। इस सैद्धान्तिक–चर्चा के साथ–साथ हमने प्रस्तुत अध्याय में प्रायोगिक–चर्चा का भी पक्ष रखा है और यह बताया है कि जीवन में किन–किन सूत्रों का पालन करने से सामाजिक–प्रबन्धन सम्पूर्ण रूप से सम्पन्न हो सकता है। सामाजिक–प्रबन्धन एक सिद्धान्त ही नहीं, अपितु यह एक व्यावहारिक बात है। जैन–परम्परा में इस दृष्टि से श्रावक के पैंतीस मार्गानुसारी गुणों की चर्चा हुई है। अतः इस अध्याय के अन्त में हमने यह बताया है कि वे कौन–से प्रमुख बिन्दु हैं, जिनका पालन करके व्यक्ति समाज–प्रबन्धन को सफल बना सकता है। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत अध्याय के अन्त में हमने लगभग छिहत्तर (76) बिन्दुओं वाली आदर्श नियमावली (Model) की चर्चा की है, जो सामाजिक–प्रबन्धन और सामाजिक–शान्ति का आधार बन सकती हैं।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्धन का दशम अध्याय **अर्थ–प्रबन्धन** से सम्बन्धित है, अतः इस अध्याय में अर्थ की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए अर्थ का जीवन में क्या महत्त्व एवं स्थान है, इसे स्पष्ट किया गया है। जैन जीवन–दृष्टि जीवन के लिए अर्थ के महत्त्व को स्वीकार करती है, किन्तु वह यह मानती है कि अर्थ जीवन जीने का एक साधन है। जब इस साधन को ही साध्य मान लिया जाता है, तब असन्तुलित, अव्यवस्थित एवं अमर्यादित अर्थनीति का विकास होता है और इसके दुष्परिणाम मानव जाति को भोगने पड़ते हैं। आज जो उपभोक्तावादी–संस्कृति का विकास हुआ है, वह इसी अर्थनीति का दुष्परिणाम है। जैनआचारमीमांसा में इस बात पर अधिक बल दिया गया है कि अर्थ एक साधन है, उसे कभी साध्य नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि जब अर्थ साध्य हो जाता है, तो फिर धर्म और मोक्ष दोनों अर्थहीन हो जाते हैं। जैनआचारदर्शन में अर्थ–प्रबन्धन के लिए परिग्रह की मर्यादा की बात कही गई है और परिग्रह की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि परिग्रह दो प्रकार का होता है – अंतरंग एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहिरंग। वस्तुएँ बाह्य–परिग्रह हैं, किन्तु संचय की वृत्ति अंतरंग परिग्रह है। संचय की वृत्ति पर अंकुश लगाकर बाह्य–परिग्रह का सीमांकन करना ही जैनदृष्टि से अर्थ–प्रबन्धन की एक प्रमुख प्रक्रिया है। इसे जैनाचार्यों ने परिग्रहपरिमाण–व्रत की संज्ञा दी है। आगे, इसी अध्याय में हमने यह तो स्वीकार किया है कि आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है, किन्तु व्यक्ति को यह निर्णय करना होता है कि वह आवश्यकताओं का सम्यक् निर्धारण करके उनकी पूर्त्ति का सम्यक् प्रयत्न करे। जैनआचारमीमांसा इस बात पर बल देती है कि जीवन–संरक्षण की आवश्यकता तो है, किन्तु विलासितापूर्ण जीवन एक दुर्व्यवस्था है। उचित आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए संसाधनों का प्रयोग तो आवश्यक है, किन्तु इस सन्दर्भ में सीमांकन भी आवश्यक है और इसीलिए प्रस्तुत अध्याय में हमने ग्रहण–प्रबन्धन, सुरक्षा–प्रबन्धन, उपभोग–प्रबन्धन और संग्रह–प्रबन्धन की बात कही है, क्योंकि अर्थ–प्रबन्धन का आधार ये तत्त्व ही हैं। व्यावहारिक रूप से अर्थ–प्रबन्धन का प्रायोगिक–पक्ष क्या है, इस सन्दर्भ में अर्थ–प्रबन्धन के पाँच सोपानों की चर्चा की है। ये पाँचों सोपान वस्तुतः आवश्यकताओं और इच्छाओं के क्रमशः सीमितीकरण पर आधारित हैं। जैनदर्शन की यह मान्यता रही है कि इच्छाएँ अनन्त हैं, अतः अर्थ के माध्यम से इच्छाओं की सम्पूर्त्ति कभी भी सम्भव नहीं है। इच्छाओं की अपेक्षा आवश्यकताएँ सीमित होती हैं और इनकी पूर्त्ति भी सम्भव है। अतः अर्थ–प्रबन्धन के लिए यह आवश्यक है कि हम आवश्यकताओं की सम्पूर्त्ति का प्रयत्न तो करें, किन्तु इच्छाओं के पीछे भागें नहीं।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का एकादश अध्याय **भोगोपभोग–प्रबन्धन** से सम्बन्धित है। जीवन जीने के लिए भोगोपभोग आवश्यक है, भोगोपभोग के अभाव में जीवन सम्भव नहीं है। अतः भोगोपभोग का जीवन में कितना महत्त्व है, यह समझना आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में हमने इस बात को समझाने का प्रयत्न किया है और यह बताया है कि आवश्यकताओं की सम्पूर्त्ति तो आवश्यक है, पर इच्छाओं की सम्पूर्त्ति सम्भव नहीं। अतः हमें भोगोपभोग के सन्दर्भ में उपभोक्तावादी या भोगवादी जीवन–दृष्टि से बचना होगा। वर्त्तमान विश्व में जिस भोग–संस्कृति का विकास हुआ है, उसका आधार असन्तुलित, अव्यवस्थित एवं अमर्यादित भोगोपभोग की जीवनशैली है। यह जीवन की आवश्यकताओं पर आधारित न होकर इन्द्रियों की विषयाकांक्षाओं के आधार पर विकसित हुई है और इस उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्परिणाम आज समग्र मानवता भोग रही है। आज के व्यावसायिक–जगत् का सूत्र भी यही हो गया है कि 'अनावश्यक आवश्यकता बढ़ाओ, अपना माल खपाओ और मुनाफा कमाओ'। जैनआचारमीमांसा इस जीवन–दृष्टि का विशेष विरोध करती हुई एक मर्यादित भोगोपभोग की नीति को प्रस्तुत करती है। वह यह मानती है कि खाना आवश्यक है, किन्तु वह स्वाद के लिए नहीं, स्वास्थ्य के लिए होना चाहिए और विषय–वासनाओं के लिए नहीं, सम्यक् जीवन–प्रबन्धन के लिए होना चाहिए। प्रस्तुत अध्याय में हमने यह बताया है कि जीवन में भोगोपभोग का महत्त्व है, किन्तु जीने के लिए खाना या खाने के लिए जीना – इन दो विकल्पों में से मानव को एक विकल्प का चयन करना होगा। विश्व में आज जिस उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हुआ है, उसके फलस्वरूप असन्तुलित, अव्यवस्थित एवं अमर्यादित भोगोपभोग की वृद्धि हुई है, जिसके दुष्परिणामों को हम भोग रहे हैं। इसीलिए जैनआचारमीमांसा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगोपभोग के सम्यक् प्रबन्धन की बात करती है और कहती है कि भोगोपभोग करने के पूर्व सम्यक् दृष्टिकोण के विकास की आवश्यकता है। जैनआचारमीमांसा के भोगोपभोग–प्रबन्धन सम्बन्धी सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयत्न भी हमने इस शोध–प्रबन्ध में किया है। इस सन्दर्भ में प्रत्येक इंद्रिय के विषयों का संयमन किस प्रकार से हो, यह बताया गया है, जैसे – जीवन जीने के लिए आहार आवश्यक है, किन्तु आहार का लक्ष्य स्वस्थता है, न कि स्वाद। आचारांग, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों के आधार पर हमने यह बताया है कि इंद्रियों से उनके विषयों का सम्पर्क होने पर हम उनमें उत्पन्न होने वाले पारस्परिक–सम्बन्धों को नहीं रोक सकते, जैसे – आँख होगी तो रूप दिखाई देगा ही। जैनआचारमीमांसा का कहना है कि भोगोपभोग–प्रबन्धन के लिए यह आवश्यक है कि भोगोपभोग के जो भी विषय हमारी इंद्रियों के सम्पर्क में आते हैं, उनके प्रति हमारे चित्त में राग–द्वेष की वृत्ति न हो। इंद्रियों का अपने विषय से सम्पर्क रोका नहीं जा सकता, किन्तु उन विषयों के प्रति राग–द्वेष भावों की चर्या को नियंत्रित किया जा सकता है। अतः इस अध्याय में हमने यह बताया है कि इंद्रियों का सम्पर्क अपने विषय से नहीं रोकना, अपितु उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप जगने वाले राग–द्वेष या इच्छाओं का सम्यक् प्रबन्धन करना है। अतः प्रस्तुत अध्याय में हमने भोगोपभोग–प्रबन्धन की समग्र प्रक्रिया का तथा उस प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों का विस्तार से उल्लेख किया है और यह बताया है कि भोगोपभोग का प्रबन्धन किस प्रकार सम्भव हो सकता है। इस सन्दर्भ में भोगोपभोग के परिसीमन की जो प्रक्रिया जैन–आगमों में मिलती है, उसका भी हमने निर्देश किया है। जीवन जीने के लिए मर्यादित भोगोपभोग आवश्यक हो सकते हैं, किन्तु उन्मुक्त भोगोपभोग की वृत्ति का परिसीमन तो आवश्यक है। इस सन्दर्भ में जैन जीवन–दृष्टि हमें यह कहती है कि भोगोपभोग की प्रवृत्ति को मर्यादित करना सीखें।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का बारहवां अध्याय **जीवन के धार्मिक–व्यवहारों के प्रबन्धन** से सम्बन्धित है। इस अध्याय के प्रारम्भ में हमने यह बताया है कि धर्म मानव–जीवन का एक आवश्यक अंग है। जिस प्रकार मनुष्य को जीवन में अर्थ–प्राप्ति एवं भोगों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उसके जीवन में धार्मिक–व्यवहार भी जरुरी हैं, अतः जीवन के सम्यक् प्रबन्धन के लिए धार्मिक–व्यवहारों का प्रबन्धन भी आवश्यक है। इस सन्दर्भ में हमारी प्राथमिक आवश्यकता यह है कि व्यक्ति को धर्म के सम्यक् स्वरूप का बोध हो, अतः इस अध्याय के प्रारम्भ में हमने धर्म की विभिन्न अवधारणाओं एवं परिभाषाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और यह बताया है कि धर्म का मानव–जीवन में कितना महत्त्व एवं स्थान है। धर्म की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए हमने इस प्रसंग में इस बात को भी स्पष्ट किया है कि अर्थ और भोग को नियंत्रित करने के लिए तथा मोक्ष की प्राप्ति करने के लिए जीवन में धर्म की महती आवश्यकता है। इसी परिचर्चा को आगे बढ़ाते हुए प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के इस अध्याय में धर्म को एक जीवन–मूल्य के रूप में स्थापित किया गया है। प्राचीन परम्परा में जो विविध जीवन–मूल्य माने गए हैं, उनमें नैतिक और आध्यात्मिक जीवन–मूल्यों का सम्बन्ध धर्म से ही है। दूसरी ओर जीवन–मूल्य के सन्दर्भ में भारतीय–परम्परा में जो पुरूषार्थ–चतुष्टय की अवधारणा है, उसमें भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म को एक महत्त्वपूर्ण पुरूषार्थ माना गया है। जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है कि भारतीय चिन्तन में जहाँ एक ओर धर्म को अर्थ और भोग का नियन्त्रक तत्त्व माना गया है, वहीं दूसरी ओर इसे मोक्ष–प्राप्ति का साधन भी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार भारतीय जीवन–दर्शन में धर्म साध्य और साधन दोनों ही है। इसी अध्याय में धर्म के सम्यक् स्वरूप, उसके महत्त्व और जीवन–मूल्य के रूप में उसकी उपयोगिता को प्रतिपादित करने के पश्चात् हमने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि अव्यवस्थित धर्मनीति के क्या दुष्परिणाम होते हैं? साम्प्रदायिक संकीर्णता, धार्मिक उन्माद, रूढ़ी–प्रधानता, प्रदर्शन और अहं की सन्तुष्टि के प्रयत्न अव्यवस्थित धर्म–नीति के ही दुष्परिणाम हैं। आज धर्म के नाम पर जो दुराग्रह, सांप्रदायिक संकीर्णता, आतंकवाद आदि देखे जाते हैं, वे सब अव्यवस्थित धर्म–नीति और धर्म के सम्यक् स्वरूप का बोध न होने के कारण ही उत्पन्न हो रहे हैं। यह सत्य है कि धार्मिक–जीवन में श्रद्धा प्रमुख तत्त्व है, किन्तु जब धर्म अन्धरूढ़ियों और अन्धविश्वासों से ग्रस्त हो जाता है, तो उसके दुष्परिणामों को सहने के लिए मानवता बाध्य होती है। इन दुष्परिणामों से हम धार्मिक सहिष्णुता और सद्भाव के द्वारा ही बच सकते हैं। अतः प्रस्तुत अध्याय में धार्मिक सहिष्णुता और सद्भाव के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का क्या दृष्टिकोण रहा है, इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। धर्म मात्र एक रूढ़िगत व्यवहार या अन्धविश्वास बन कर न रहे, इस सन्दर्भ में जैनधर्म और जैनआचारमीमांसा में धर्म–साधना के जो सम्यक् सूत्र प्रस्तुत किए गए हैं, उन पर भी हमने प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है और यह बताया है कि आज धार्मिक–व्यवहार को धार्मिक अन्धरूढ़ियों और अन्धविश्वास से मुक्त कर वैज्ञानिक और आध्यात्मिक आधार पर खड़ा करना होगा। वैज्ञानिक और आध्यात्मिक आधार पर स्थित धार्मिक–व्यवहार का सुनियोजन ही प्रस्तुत अध्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसी दृष्टि से हमने धार्मिक–व्यवहार के सम्यक् प्रयोजन को प्रतिष्ठित करने के लिए व्यावहारिक जीवन–दृष्टि और व्यावहारिक प्रयत्न भी अभिसूचित किए हैं। इनका जीवन में प्रयोग कर मानवता को धार्मिक–अन्धविश्वासों, धार्मिक–उन्मादों और धार्मिक–आतंकवाद से बचाया जा सकता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में हमारा निष्कर्ष यही है कि धार्मिक–व्यवहार सुनियोजित हो, ताकि वह मानव जाति में शान्ति और सद्भाव का विकास कर सके।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का तेरहवां अध्याय **आध्यात्मिक–विकास और जीवन–प्रबन्धन** से सम्बन्धित है। इस अध्याय में सर्वप्रथम अध्यात्म के अर्थ को स्पष्ट करते हुए अध्यात्म का क्या स्वरूप हो, यह समझाया गया है। आध्यात्मिक–विकास से हमारा तात्पर्य आत्मिक सुख और शान्ति की प्राप्ति ही है। आज मानवता मुख्य रूप से तनाव से ग्रस्त है। व्यक्ति का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन तनाव से ग्रस्त होने के कारण अशान्त है। आज जिन लोगों और देशों के पास भौतिक–सम्पदा का जमाव है, वे भी अपने आपको तनावग्रस्त पा रहे हैं। व्यक्ति और समाज ही नहीं, आज पूरा विश्व तनाव से ग्रस्त है और किसी एक व्यक्ति का भौतिक पागलपन समग्र मानव के अस्तित्व के विनाश का कारण बन सकता है। आज विश्व में बाहरी शान्ति की बात तो की जा रही है, किन्तु व्यक्ति के अशान्त चित्त के परिशोधन का कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। आध्यात्मिक–विकास के स्वरूप को स्पष्ट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए हमने यह बताया है कि सुख और शान्ति केवल बाह्य जीवन के ही तत्त्व नहीं हैं। यदि व्यक्ति स्वयं तनावग्रस्त होगा, तो वह दूसरों को भी तनावग्रस्त बनाएगा। अतः सम्यक् जीवन–प्रबन्धन के लिए व्यक्ति को आध्यात्मिक–विकास की दिशा में प्रयत्न करना होगा। आध्यात्मिक–विकास से हमारा तात्पर्य केवल यह है कि व्यक्ति भौतिक इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं वासनाओं से ऊपर उठे और आत्मिक–शान्ति को प्राप्त हो। दूसरे शब्दों में, वह तनावमुक्त हो, इसी दृष्टि से आगे चलते हुए हमने यह स्पष्ट किया है कि आध्यात्मिक–विकास के लिए साध्य, साधन और साधक की एकरूपता आवश्यक है। आज साध्य को तो महत्त्व दिया जा रहा है, लेकिन साधन एवं साधक पर कोई विचार नहीं किया जा रहा है। जैन जीवन–दृष्टि हमें यह बताती है कि साध्य एवं साधन दोनों की पवित्रता पर ध्यान देना होगा और यह पवित्रता साधक के जीवन की पवित्रता पर आधारित होगी। मात्र साध्य को लक्ष्य में रखकर चलने से कहीं न कहीं गलत साधनों को अपनाने की बात भी उठ जाती है, जबकि जैनदृष्टि यह मानती है कि सम्यक् साधना से ही सम्यक् साध्य की प्राप्ति सम्भव है। यह सत्य है कि व्यक्ति के आध्यात्मिक–विकास और जीवन जीने के विभिन्न स्तर होते हैं। जैनधर्म में आध्यात्मिक–जीवन के इन विभिन्न स्तरों की विस्तार से चर्चा हुई है, प्रस्तुत अध्याय में भी हमने संक्षेप में आध्यात्मिक–विकास के इन विभिन्न स्तरों की चर्चा की है। जैन जीवन–दर्शन में आध्यात्मिक–विकास के जो विभिन्न स्तर बताए गए हैं, उनमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा – ये तीन प्रमुख हैं। राग–द्वेष और कषायों की उपशान्तता एवं भौतिक आकर्षणों के प्रति निर्लिप्तता से ही व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है, इसे जैनदर्शन में कषायों की मन्दता और राग–द्वेष की उपशान्तता के आधार पर समझाया गया है। इसमें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन – ये चार स्तर बताए गए हैं, पुनः इन्हीं कषायों की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर जैनदर्शन में कर्म–क्षय की दस अवस्थाओं तथा गुणस्थानों की चौदह अवस्थाओं की चर्चा हुई है, जिसका हमने संक्षेप में वर्णन किया है। आध्यात्मिक–साधना की विसंगतियों की चर्चा करते हुए हमने यही बताया है कि राग–द्वेष की वृत्तियाँ एवं कषाय ही आध्यात्मिक–साधना में बाधा उत्पन्न करती हैं। अतः जैनधर्म और आचारशास्त्र के आधार पर हमने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन के लिए हमें आकांक्षाओं, इच्छाओं एवं अपेक्षाओं तथा राग–द्वेष एवं कषायों की वृत्ति से ऊपर उठना होगा और इनसे ऊपर उठने का प्रयत्न ही आध्यात्मिक–विकास–प्रबन्धन का व्यावहारिक पक्ष है। इसे हमने गंभीरता से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। अन्त में यह बताया है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक–विकास नहीं होता है, तो समग्र भौतिक एवं आर्थिक–विकास निरर्थक हो जाता है। यदि मानव जाति को तनाव–मुक्त करना है, तो हमें व्यक्ति और समाज के भौतिक–विकास की अपेक्षा उनके आध्यात्मिक–विकास पर अधिक बल देना होगा, तभी हम व्यक्ति के जीवन का सम्यक् प्रकार से प्रबन्धन कर सकेंगे। इसी निष्कर्ष के साथ हमने यह अध्याय समाप्त किया है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का यह अन्तिम अध्याय मुख्य रूप से **उपसंहार** रूप है, जिसके प्रारम्भ में जीवन–प्रबन्धन की आवश्यकता और महत्ता को स्पष्ट करते हुए उससे सम्बन्धित विविध आयामों की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चर्चा की गई है और उन्हीं आयामों पर आधारित प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के विभिन्न अध्यायों का उपसंहार किया गया है। अन्त में यही दिखाने का प्रयास किया गया है कि भौतिक और आर्थिक विकास यद्यपि जीवन जीने के लिए आवश्यक हैं, फिर भी उनका सम्यक् प्रबन्धन तो नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन–मूल्यों पर ही आधारित होगा। जीवन जीने के विभिन्न स्तर हैं, हम उनमें से किसी की भी पूर्ण उपेक्षा तो नहीं कर सकते, किन्तु उनकी नियंत्रक–शक्ति को कहीं न कहीं नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन–मूल्यों पर आधारित बनाना होगा। इससे ही व्यक्ति के जीवन का सम्यक् प्रबन्धन सम्भव होगा और तभी वह अपने जीवन में आध्यात्मिक शिखर पर आरूढ़ हो सकेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ ग्रंथ सूची

BIBLIOGRAPHY

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७. श्वेताम्बर आगम साहित्य

क्र.	ग्रन्थ / पुस्तक	ग्रंथकार / संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1	अंगसुत्ताणि	संपा. मुनि नथमल	जैन विश्वभारती, लाडनूं	वि. 2031
2	अनुयोगद्वारसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1987
3	आचारांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1998
4	आचारांगसूत्र (सटीक)	संपा. मुनि दीपरत्नसागर	आगमश्रुत प्रकाशन, अहमदाबाद	ई. 2000
5	आवश्यकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1994
6	उत्तराध्ययनसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1984
7	उत्तराध्ययनसूत्र	व्या. आत्माराम महाराज	भ.महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर, दिल्ली	ई. 2003
8	उपासकदशांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1989
9	औपपातिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1992
10	कल्पसूत्र	आ. भद्रबाहु व्या. महो. लक्ष्मीवल्लभ अनु. आनंदसागरसूरि	श्री आनन्दज्ञानमन्दिर, सैलाना	ई. 1976
11	गच्छाचारपयन्ना	संयो. विजयराजेन्द्रसूरि	शा. अमीचन्दजी ताराजी दाणी, धानसा	ई. 1991
12	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1994
13	जीवाजीवाभिगमसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1991
14	तंदुलवैचारिकप्रकीर्णक	अनु. सुभाष कोठारी	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	ई. 1991
15	त्रीणिछेदसूत्राणि	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1992
16	दशवैकालिकसूत्र	संपा. मुनि नथमल	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 1974
17	दशवैकालिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगमोदय समिति, मुंबई	ई. 1993
18	नन्दीसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1991
19	निर्युक्तिसंग्रह	संपा. विजयजिनेन्द्रसूरि	श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला लाखाबावल – शांतिपुरी (सौराष्ट्र)	ई. 1989
20	पइण्णयसुत्ताइं	संपा. पुण्यविजयमुनि	महावीर जैन विद्यालय, मुंबई	ई. 1984
21	प्रज्ञापनासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1993
22	प्रश्नव्याकरणसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1993
23	महापच्चक्खाणपइण्णयं	संपा. पुण्यविजयमुनि	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	ई. 1992
24	राजप्रश्नीयसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1991
25	व्यवहारभाष्य	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 2004
26	व्याख्याप्रज्ञप्ति	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1982
27	समवायांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1991
28	सूत्रकृतांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1999
29	स्थानांगसूत्र	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 1976
30	स्थानांगसूत्रवृत्ति	अभयदेवसूरि	सेठ माणिकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद	ई. 1937

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्र.	ग्रंथकार / संपादक	ग्रन्थ / पुस्तक	प्रकाशक	वर्ष
31	उपा. अमरमुनि	समाज और संस्कृति	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	ई. 1966
32	उपा. अमरमुनि	सूक्तित्रिवेणी	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	ई. 1968
33	अनु. आनंदसागरसूरि	द्वादशपर्वव्याख्यान	श्री आनन्दज्ञानमन्दिर, सैलाना	ई. 1992
34	उमास्वाति अनु. संघवी सुखलाल	तत्त्वार्थसूत्र	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 1993
35	उमास्वाति	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य	श्रीमद्राजचंद्र आश्रम, अगास	ई. 1932
36	उमास्वाति	प्रशमरतिप्रकरण	श्रीमद्राजचंद्र आश्रम, अगास	वि. 2044
37	कच्छारा नारायणलाल	जैनधर्म में विज्ञान	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 2006
38	सा. कनकश्री	जैनधर्म : जीवन और जगत्	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 1999
39	संक. कल्याणऋषि	अमोलसूक्तिरत्नाकर	श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया	ई. 1955
40	व्या. कापड़िया मोतीचंद गिरधरलाल	आनंदघनपदसंग्रह	श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई	ई. 1982
41	कोठारी त्रिशला देवी	मुक्तिवैभव	श्री भूपेन्द्र सूरि साहित्य समिति, आहोर	ई. 2001
42	कोठारी सुभाष	उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	ई. 1988
43	गौड़ बी. पी.	स्व–प्रबंधन में जीवन विज्ञान (एम.ए.पाठ्यपुस्तक)	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 2003
44	व्या. चंदुलाल नानचंद	नवतत्त्वप्रकरणसार्थ	श्रीमद्यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला, महेसाणा	ई. 1981
45	संक. चंद्रप्रभसागर	प्राकृतसूक्तिकोश	जयश्री प्रकाशन, कोलकाता	ई. 1985
46	महो. चंद्रप्रभसागर	हिन्दीसूक्ति–संदर्भकोश	जितयशा फाउंडेशन, कोलकाता	ई. 1993
47	संपा. चण्डालिया पारसमल	अगारधर्म	श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, ब्यावर	ई. 1995
48	चिदानंदजी	पदसंग्रह	पोपटलाल साकरचंद शाह, पुणे	वि. 1992
49	छाबड़ा पूजा–प्रकाश	तत्त्वार्थसूत्र	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	ई. 2010
50	जयवल्लभ	वज्जालग्गं	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 1984
51	संक. जयानन्दविजय	पुष्पपराग	श्री आदिनाथ जैन मंदिर, साँथू	
52	जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण अनु. स्व. शाह चुनीलाल हुकमचंद	विशेषावश्यकभाष्य	भद्रंकर प्रकाशन, अहमदाबाद	वि. 2053
53	जैन कमल	प्राचीनजैनसाहित्य में आर्थिकजीवन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 1988
54	जैन काशीनाथ	श्रीपालचरित्र	श्री जैन श्वेतांबर पंचायती मंदिर, कोलकाता	ई. 2003
55	जैन दुलीचन्द	जिनवाणी के मोती	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 1993
56	जैन सागरमल	अध्यात्मवाद और विज्ञान	प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर	
57	जैन सागरमल	जैन, बौद्ध और गीता	राज. प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर	ई. 1982
58	जैन सागरमल	जैनभाषादर्शन	भो.ले. भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली	ई. 1986
59	जैन सागरमल	धर्म का मर्म	प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर	ई. 2007
60	जैन सागरमल	सागरजैनविद्याभारती	सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी	ई. 1994
61	अनु. जैन हंसराज	श्रीमद्राजचंद्र	श्रीमद्राजचंद्र आश्रम, अगास	ई. 2002

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्र.	ग्रंथकार / संपादक	ग्रन्थ / पुस्तक	प्रकाशक	वर्ष
62	जैन हीरालाल	भारतीयसंस्कृति में जैनधर्म का योगदान	मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल	ई. 1975
63	आ. तुलसी	जीवनविज्ञान : मूल्यपरक शिक्षा का एक अभिनव प्रयोग	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 2000
64	आ. तुलसी	बूँद–बूँद से घट भरे	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 1997
65	त्रिपाठी आनंदप्रकाश	जैनविद्या (बी.ए. प्रथम वर्ष)	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 2009
66	त्रिपाठी आनंदप्रकाश	जैनधर्मदर्शन एवं भारतीयेतरधर्मदर्शन (एम.ए. पाठ्यपुस्तक)	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 2007
67	संक. दक्षरत्नाश्री	ललितस्वाध्यायसौरभ	प.श्री चंपकलाल सी. शाह	ई. 2002
68	देवेन्द्रसूरि व्या. मुनि मिश्रीमल	कर्मग्रंथ	मरूधरकेशरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर	ई. 1974
69	देवेन्द्रसूरि व्या. रम्यरेणु	कर्मग्रंथ	ऊँकारसूरि आराधना भवन, सुरत	वि. 2055
70	देवेन्द्रमुनि	जैनआचार	श्री तारक गुरू जैन ग्रंथालय, उदयपुर	ई. 1982
71	देवेन्द्रमुनि	जैननीतिशास्त्र : एक परिशीलन	श्री तारक गुरू जैन ग्रंथालय, उदयपुर	ई. 1988
72	मुनि धर्मेश	जीवनविज्ञान की रूपरेखा	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 1996
73	धर्मदासगणि	उपदेशमाला	जैन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद	ई. 2010
74	मुनि नथमल	जैनदर्शन, मनन और मीमांसा	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू	ई. 1977
75	संपा. नाहटा अगरचंद	अष्टप्रवचनमातासज्झायसार्थ	श्रीमद्देवचन्द्र ग्रंथमाला, कोलकाता	वि. 2020
76	संक. नाहटा दीपचंद	आवश्यकपूजासंग्रह	श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति	–
77	संपा. नाहटा अगरचंद भँवरलाल	पंचभावनासज्झायसार्थ	बी.जे. नाहटा फाउण्डेशन, कोलकाता	वि. 2061
78	नेमिचन्द्रसूरि अनु. सा. हेमप्रभाश्री	प्रवचनसारोद्धार	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	ई. 2000
79	पाण्डे श्री प्रकाश	डॉ. सागरमलजैनअभिनन्दनग्रंथ	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 1998
80	प्रशांतवल्लभविजय	कुलकसमुच्चय	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	ई. 2006
81	सा. प्रियदर्शनाश्री	आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 1995
82	सा. प्रियदर्शनाश्री,	जीवन की मुस्कान (द्वितीय महापुष्प)	शा. भँवरलालजी चाँदमलजी कानूँगा, भीनमाल आदि	ई. 1998
83	सा. प्रीतिदर्शनाश्री	उपाध्याय यशोविजयजी का अध्यात्मवाद	श्री राजेन्द्रसूरि जैन शोध संस्थान, उज्जैन	ई. 2009
84	सक. बया डी. एस.	प्राकृतमुक्तावली	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	ई. 1995
85	संपा. बुद्धिसागरसूरि	श्रीमद्देवचन्द्र	श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, पादरा	ई. 1929
86	संपा. पं. भद्रंकरविजय	प्रबोधटीका	जैन साहित्य विकास मंडल, मुंबई	ई. 2000
87	मधुकरमुनि	साधना के सूत्र	हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर	ई. 1984
88	व्या. मल्लिषेणसूरि	स्याद्वादमंजरी	श्री आराधना भवन जैन पौषधशाला, मुंबई	ई. 2058
89	आ. महाप्रज्ञ	अध्यात्मविद्या	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 1994
90	आ. महाप्रज्ञ	आहार और अध्यात्म	तुलसी अध्यात्म नीडम्, लाडनूं	ई. 1985
91	आ. महाप्रज्ञ	किसने कहा मन चंचल है ?	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू	ई. 1985

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्र.	ग्रंथकार / संपादक	ग्रन्थ / पुस्तक	प्रकाशक	वर्ष
92	युवा. महाप्रज्ञ	कैसे सोचें?	तुलसी अध्यात्म नीडम्, लाडनूं	ई. 1985
93	आ. महाप्रज्ञ	चित्त और मन	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 1994
94	आ. महाप्रज्ञ	जीवनविज्ञान : शिक्षा का नया आयाम	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू	ई. 2003
95	युवा. महाप्रज्ञ	जीवनविज्ञान : स्वस्थ समाज–रचना का संकल्प	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 1986
96	आ. महाप्रज्ञ	नया मानव नया विश्व	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू	ई. 1994
97	आ. महाप्रज्ञ	महावीर का अर्थशास्त्र	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू	ई. 1999
98	आ. महाप्रज्ञ	महावीर का स्वास्थ्यशास्त्र	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू	ई. 2003
99	आ. महाप्रज्ञ	लोकतंत्र : नया व्यक्ति नया समाज	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 2000
100	आ. महाप्रज्ञ	श्रीभिक्षु–आगमविषयकोश	जैन विश्वभारती, लाडनूं	ई. 2005
101	संक. महोदयसागरसूरि	आनन्दस्वाध्यायसंग्रह	–	–
102	महो. मानविजय	श्रमणधर्म	सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद	ई. 2004
103	मिश्रा जे.पी.एन.	अनुप्रायोगिक मानवशरीररचना एवं क्रियाविज्ञान (एम.ए.पाठ्यपुस्तक)	जैन विश्वभारती, लाडनूं	–
104	मिश्रा जे.पी.एन	जीवनविज्ञान और स्वास्थ्य (एम.ए.पाठ्यपुस्तक)	जैन विश्वभारती, लाडनूं	–
105	उपा. यशोविजय	अध्यात्मसार	श्री राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	ई. 2009
106	उपा. यशोविजय	अध्यात्मोपनिषद्	श्री अंधेरी गुजराती जैन संघ, मुंबई	वि. 2054
107	उपा. यशोविजय अनु. शाह रमणलाल ची.	ज्ञानसार	राजसौभाग सत्संग मंडल, सायला	ई. 2005
108	उपा. यशोविजय	द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि. 2092
109	उपा. यशोविजय व्या. कापडिया मोतीचंद गिरधरलाल	शांतसुधारस	श्री महावीर जैन विद्यालय, मुंबई	ई. 1986
110	सा. युगलनिधिकृपाश्री	कर्मसंहिता	मैत्री चेरिटेबल फाऊण्डेशन, नई दिल्ली	ई. 2006
111	सा. युगलनिधिकृपाश्री	जीवनपाथेय	मैत्री चैरिटेबल फाऊण्डेशन, चेन्नई	ई. 2004
112	रत्नशेखरसूरि	श्राद्धविधिप्रकरण	भद्रंकर प्रकाशन, अहमदाबाद	वि. 2054
113	रत्नसुंदरसूरि	कहीं रूको कभी रूको	रत्नत्रयी ट्रस्ट, मुंबई	ई. 1995
114	संक. राजेन्द्रसूरि	अभिधानराजेन्द्रकोष	समस्त जैन श्वेतांबर संघ	ई. 1910
115	लक्ष्मीसूरि	उपदेशप्रासाद	श्री जैनधर्म प्रसारकसभा, भावनगर	वि. 1978
116	लोढ़ा कन्हैयालाल	जीवअजीवतत्त्व	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	ई. 1994
117	लोढ़ा कन्हैयालाल	दुःखरहितसुख	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	ई. 2005
118	विजय कुमार	जैन एवं बौद्ध शिक्षादर्शन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 2003
119	सा. विद्युत्प्रभाश्री	द्रव्यविज्ञान	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	ई. 1994
120	सा. विद्युत्प्रभाश्री	पैंतीसबोल	प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर	ई. 2009
121	संपा. महो. विनयसागर	ऋषिभाषितसूत्र	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	ई. 2003
122	सा. विनीतप्रज्ञाश्री	उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन	श्री चंद्रप्रभुमहाराज जुनामन्दिर ट्रस्ट, चेन्नई	ई. 2002

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्र.	ग्रंथकार / संपादक	ग्रन्थ / पुस्तक	प्रकाशक	वर्ष
123	आ. शांतिसूरि	जीवविचारप्रकरण	श्रीमद्यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला, महेसाणा	वि. 2033
124	अनु. पं. शास्त्री कैलाशचंद	समणसुत्तं	सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी	ई. 1975
125	शाह प्राणलाल मंगलजी	अभक्ष्यअनंतकायविचार	श्रीमद्यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला, मेहसाणा	वि. 2045
126	व्या. शास्त्री हरगोविन्द	अभिधानचिंतामणिः	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–1	ई. 2003
127	शाह रमणलाल ची.	वीरप्रभु के वचन	श्री जैन साहित्य प्रकाशन केन्द्र, रायपुर	ई. 2000
128	शाह वरजीवनदास वाडीलाल	जिनशासन के चमकते हीरे	वरजीवनदास वाडीलाल शाह, बैंगलौर	ई. 1997
129	संघवी सुखलाल	दर्शन और चिंतन	पं. सुखलालजी सम्मान समिति, अहमदाबाद	ई. 1957
130	व्या. मु. सहजानंदघन	आनन्दघन चौबीसी	प्राकृतभारती अकादमी, जयपुर	ई. 1989
131	सिद्धसेनदिवाकरसूरि अनु. संघवी सुखलाल	संमतितर्क	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद	
132	सा. सुलक्षणाश्री	भावनास्रोत	श्री पार्श्वनाथ जैन तीर्थ ट्रस्टमंडल, पेदतुम्बलम्	ई. 2010
133	सुशीलसूरि	श्रीसिद्धचक्रनवपदस्वरूपदर्शन	आचार्य श्री सुशीलसूरि जैन ज्ञान मंदिर शान्तिनगर, सिरोही	ई. 1985
134	सा. स्थितप्रज्ञाश्री	रात्रिभोजनत्याग आवश्यक क्यों?	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 2009
135	समणी स्थितप्रज्ञा	जीवनविज्ञान और मूल्यपरकशिक्षा (एम.ए. पाठ्यपुस्तक)	जैन विश्वभारती, लाडनूं	–
136	आ. हरिभद्रसूरि	धर्मबिन्दु	श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. 1983
137	आ. हरिभद्रसूरि	पंचाशकप्रकरणम्	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 1997
138	आ. हरिभद्रसूरि	योगशतक	मुनिश्रीहजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर	ई. 1982
139	आ. हरिभद्रसूरि	षोडशकप्रकरण	श्री अंधेरी गुजराती जैन संघ, मुंबई	
140	आ. हेमचन्द्र	योगशास्त्र	श्री मुक्तिचन्द्र श्रमण आराधना ट्रस्ट, भावनगर	ई. 1977
141	मल्लधारी हेमचद्रसूरी	उपदेशपुष्पमाला	प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर	ई. 2007
142	सा. हेमप्रज्ञाश्री	कषाय	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 2005
143	पं. हेमरत्नविजय	गुडबॉय	जिनगुण आराधक ट्रस्ट, मुंबई	ई. 2008
144	पं. हेमरत्नविजय	चलो जिनालय चलें	अर्हद्धर्मप्रभावक ट्रस्ट, मुंबई	ई. 1992
145	हेमरत्नसूरि	द रिसर्च ऑफ डायनिंग टेबल	अर्हद् धर्मप्रभावक ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि. 2057
146	Jain Sagarmal	Lala Harjas Rai Commemoration Volume	P.V. Research Institute, Varanasi	ई. 1987
147	Sikdar J.C.	Jaina Biology	L.D. Institute of Indology, Ahmedabad	ई. 1974

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्र.	ग्रंथकार / संपादक	ग्रन्थ / पुस्तक	प्रकाशक	वर्ष
148	अकलंक देव	राजवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 1993
149	अमृतचन्द्राचार्य	ग्रंथराजश्रीपंचाध्यायी	श्री दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अलवर	ई. 1996
150	अमृतचन्द्राचार्य	पुरूषार्थसिद्ध्युपाय	पं.धरमचन्द्रजैन, संसारचन्द्र रोड, जयपुर	ई. 1995
151	आशाधर	धर्मामृत (अनगार–सागार)	श्रीमद्राजचंद्र आश्रम, अगास	ई. 1995
152	उग्रादित्याचार्य	कल्याणकारक	सेठ गोविंदरावजी दोषी, सोलापुर	ई. 1940
153	उमास्वाति व्या. रामजीभाई दोशी	तत्त्वार्थसूत्र	श्रीमती सोनीदेवी पाटनी, कल्याणमल राजमल पाटनी सिद्धचेतना ट्रस्ट, कोलकाता	ई. 1996
154	आ. कुन्दकुन्द अनु. पन्नालाल	अष्टपाहुड	पं.धरमचन्द्रजैन, ससारचन्द्र रोड, जयपुर	ई. 1995
155	आ. कुन्दकुन्द अनु. परमेष्ठीदास	नियमसार	साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर	ई. 1984
156	आ. कुन्दकुन्द	पचास्तिकाय	परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास	ई. 1986
157	आ. कुन्दकुन्द अनु. जैन मगनलाल	पंचास्तिकायसंग्रह	साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर	ई. 1990
158	आ. कुन्दकुन्द	प्रवचनसार	श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर	वि. 2032
159	आ. कुन्दकुन्द अनु. आर्यिका स्याद्वादमती	रयणसार	पं.धरमचन्द्रजैन, संसारचन्द्र रोड, जयपुर	ई. 1998
160	आ. कुन्दकुन्द	समयसार	परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास	ई. 1997
161	मुनि क्षमासागर	जैनदर्शनपारिभाषिककोष	ज्ञानोदय विद्यापीठ, भोपाल	ई. 2000
162	किशनसिंह	क्रियाकोष	श्रीमद्राजचंद्र आश्रम, अगास	ई. 1985
163	कोठिया दरबारीलाल	न्यायदीपिका	पं.धरमचन्द्रजैन, संसारचन्द्र रोड, जयपुर	ई. 1998
164	गुणभद्र	आत्मानुशासनम्	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	ई. 1993
165	भट्टारक ज्ञानभूषण	उपासकाध्ययन	दिगंबर जैन समाज, अगास	ई. 1987
166	भट्टारक ज्ञानभूषण	तत्त्वज्ञानतरंगिणी	श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़	वि. 2054
167	आ. जिनसेन	आदिपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 2000
168	आ. जिनसेन अनु. जैन देवेन्द्रकुमार	महापुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 1999
169	जैन अनिलकुमार	जीवन क्या है ?	विद्या प्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली	ई. 2002
170	जैन देवेन्द्र कुमार	कर लो जिनवर की पूजन	श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, अजमेर	ई. 2004
171	जैन यशपाल	जिनधर्मप्रवेशिका	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	ई. 2003
172	जैन भागचंद	वसुनन्दिश्रावकाचार	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 1999
173	संक. जैन मुमुक्षु महिला मण्डल	सामान्यजैनाचारविचार	श्री जैन मुमुक्षु महिला मंडल, देवलाली	ई. 2008
174	जैन हीरालाल	श्रावकधर्मप्रकाश (पद्मनन्दिपंचविंशति)	श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़	वि. 2035
175	जैन हीरालाल	पंचसंग्रह:	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 1947
176	जैन हीरालाल	श्रावकाचारसंग्रह	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	–
177	पं. टोडरमल	मोक्षमार्गप्रकाशक	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	ई. 1995
178	देवसेनाचार्य	भावसंग्रह	जैन ग्रंथमाला, मुंबई	वि. 1978
179	देवसेनाचार्य	आलापपद्धति	दिगंबर जैन ग्रंथमाला, मुंबई	वि. 1977
180	नेमिचन्द्राचार्य	गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 2000

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्र.	ग्रंथकार / संपादक	ग्रन्थ / पुस्तक	प्रकाशक	वर्ष
181	नेमिचन्द्राचार्य	गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 2000
182	नेमीचन्द्राचार्य	बृहद्द्रव्यसंग्रहः	परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास	ई. 1989
183	नेमिचन्द्राचार्य संपा, शास्त्री फूलचंद्र	लब्धिसार	श्रीमद्राजचंद आश्रम, अगास	ई. 2002
184	पुष्पदंतभूतबलि संपा. शास्त्री फूलचंद्र	षट्खण्डागम (धवला)	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	ई. 1986
185	पूज्यपाद देवनंदी	इष्टोपदेश	श्रीमद्राजचंद्र आश्रम, अगास	ई. 1979
186	पूज्यपाद देवनंदी व्या. पं. शास्त्री फूलचंद्र	सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 1999
187	भारिल्ल शोभाचन्द्र	जैनतर्कभाषा	मंत्रीगण--पुस्तक प्रकाशन, पाथर्डी	ई. 1964
188	माइल्ल धवल अनु. पं. शास्त्री कैलाशचंद्र	नयचक्र	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 1999
189	योगेन्दुदेव	परमात्मप्रकाश	श्रीमद्राजचंद्र आश्रम, अगास	ई. 1992
190	वट्टकेरस्वामी अनु. आर्यिका रत्न ज्ञानमती	मूलाचार	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 1999
191	वर्णी जिनेन्द्र	जैनेन्द्रसिद्धांतकोश	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	ई. 1998
192	चक्रवर्ती वसुनन्दी	आप्तमीमांसा पदवृत्ति	भा. जैन सि. प्रकाशिनी संस्था, काशी	ई. 1914
193	वादिराजसूरि	न्यायविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. 1949
194	श्रीमद् विमलदास अनु. पं. शर्मा ठाकुर प्रसाद	सप्तभंगीतरंगिणी	परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास	ई. 1977
195	आ. यतिवृषभ व्या. आर्यिका विशुद्धमती	तिलोयपण्णत्ती	भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभा	ई. 1984
196	शिवकोटि आचार्य अनु. पं. शास्त्री कैलाशचन्द्र	भगवतीआराधना	हीरालाल खुशालचंद दोशी, फलटण	ई. 1990
197	शुभचन्द्राचार्य	ज्ञानार्णवः	परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास	ई. 1987
198	श्रुतसागरसूरि	तत्त्वार्थवृत्ति	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	वि. 1949
199	समंतभद्राचार्य व्या. पं. कासलीवाल सदासुखदास	रत्नकरण्डश्रावकाचार	वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली	ई. 1997
200	समंतभद्राचार्य	स्वयम्भूस्तोत्र	दोशी सखाराम नेमिचन्द, सोलापुर	—
201	सीतलप्रसाद	सहजसुखसाधन	सदासुख ग्रन्थमाला, अजमेर	ई. 1999
202	सोमदेवसूरि	नीतिवाक्यामृत	आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर	ई. 1996
203	स्वामी कार्तिकेय टी. जयचन्द	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़	ई. 1974

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्र.	ग्रंथकार / संपादक	ग्रन्थ / पुस्तक	प्रकाशक	वर्ष
204	अग्निहोत्री रवीन्द्र	आधुनिकभारतीय शिक्षा : समस्याएँ और समाधान	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर	ई. 2007
205	अग्रवाल एच.एस.	अर्थशास्त्र के सिद्धांत	लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा	ई. 1980
206	अग्रवाल गोपीनाथ	शाकाहार या मांसाहार फैसला आप स्वयं करें	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	ई. 2009
207	अग्रवाल निरंजन	परिवार में रहने की कला	तनाव–मुक्त परिवार केन्द्र, नई दिल्ली	ई. 1998
208	अग्रवाल प्रवीणकुमार	व्यावसायिकप्रबन्ध के सिद्धांत एवं उद्यमिता	साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा	ई. 2005
209	अग्रवाल राज्यश्री	समाजदर्शन की भूमिका	कैलास पुस्तक सदन, भोपाल	ई. 1987
210	अग्रवाल राधारमण	साइंस ऑफ टाईम मैनेजमेंट	उपकार प्रकाशन, आगरा–2	–
211	अग्रवाल विजय	समय आपकी मुट्ठी में	रंग प्रकाशन, इन्दौर	ई. 2002
212	आ. आठवले प. ग.	दृष्टार्थशारीरम्	सौ.पद्मिनी आठवले, नागपुर	ई. 1980
213	आप्टे वामन शिवराम	संस्कृतहिन्दीकोश	भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली	ई. 1999
214	आर्मस्ट्रांग केथरिन	शरीरसंबंधीज्ञान	एन.आर.ब्रदर्स, इन्दौर	ई. 2000
215	उपा. गोविंदप्रसाद	आयुर्वेद द्वारा संपूर्ण स्वास्थ्य	मेद्य प्रकाशन, दिल्ली	ई. 2004
216	गांगुली कल्पना	पर्यावरणबोध	पर्यावरण संरक्षण अनुसंधान एवं विकास केन्द्र, इन्दौर	ई. 2008
217	गुप्ता एम.के.	तनावमुक्त कैसे रहें?	पुस्तक महल, दिल्ली	ई. 2004
218	गुप्ता एस.पी.	वित्तीयप्रबंध		
219	गोयनका सत्यनारायण	धर्म : जीवन जीने की कला	विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी	ई. 2001
220	गौतम शिव	शराब से मुक्त समाज की ओर	मे फ्लावर, अहमदाबाद	ई. 2010
221	चक्रवर्ती पुरूषोत्तम भट्ट	पर्यावरणचेतना	मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल	ई. 2004
222	चट्टोपाध्याय सतीशचन्द्र	भारतीयदर्शन	पुस्तक भंडार पब्लिशिंग हाऊस, पटना	ई. 1994
223	आ. चाणक्य अनु. वाचस्पति गैरोला	कौटिलीयअर्थशास्त्रम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–1	ई. 2009
224	जैन कपूरमल	विज्ञान (कक्षा 10)	मध्यप्रदेश राज्यशिक्षा केन्द्र, भोपाल	ई. 2008
225	जैन पुखराज	भारत की सांस्कृतिक विरासत	साहित्य भवन, आगरा	ई. 1991
226	ठाकर चाँदमल सिरोहिया	साधकसतसई	श्री प्रताप मुनि ज्ञानालय, सादड़ी	ई. 1993
227	त्रिपाठी रविदत्त	अष्टांगसंग्रह	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली	ई. 2003
228	दुबे एम.पी.	अर्थशास्त्र के सिद्धांत	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	ई. 1980
229	दुबे सरला	सामाजिकविघटन तथा पुनर्गठन	रंजन प्रकाशन गृह, नई दिल्ली–16	ई. 1982
230	नारंग पी.	शिक्षा का विकास एवं समस्याएँ	के.एस.के. पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स नई दिल्ली	ई. 2007
231	परिव्राजक सत्यपति	योगदर्शन	दर्शनयोग महाविद्यालय, सागपुर	ई. 2001
232	महर्षि पाणिनी	धातुपाठः	रामलाल कपुर ट्रस्ट, सोनीपत (हरियाणा)	ई. 2006
233	पांडे आर.के.	विज्ञान (कक्षा 9)	मध्यप्रदेश राज्यशिक्षा केन्द्र, भोपाल	ई. 2007
234	पाण्डेयः गोपालदत्त	सिद्धांतकौमुदी	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी	ई. 2001
235	पाल हंसराज	वाणीसम्प्रेषण	मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल	ई. 2003
236	प्राणनाथ वानप्रस्थी	चन्द्रशेखरआजाद	राजपाल एंड सन्स, दिल्ली	ई. 1969
237	प्राणनाथ वानप्रस्थी	वीरपुत्रियाँ	राजपाल एंड सन्स, दिल्ली	ई. 1969
238	प्राणनाथ वानप्रस्थी	सरदारभगतसिंह	राजपाल एंड सन्स, दिल्ली	ई. 1969
239	प्राणनाथ वानप्रस्थी	सुभाषचंद्रबोस	राजपाल एंड सन्स, दिल्ली	ई. 1969

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्र.	ग्रंथकार / संपादक	ग्रन्थ / पुस्तक	प्रकाशक	वर्ष
240	बघेल डी.एस.	यूनीफाइड सोशियोलॉजी	साहित्य भवन, आगरा	ई. 2009
241	आ. बालकृष्ण	आयुर्वेदसिद्धांतरहस्य	दिव्ययोग मंदिर ट्रस्ट, हरिद्वार	ई. 2007
242	ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	पाणिनीयः अष्टाध्यायीसूत्रपाठः	रामलाल कपूर ट्रस्ट, दिल्ली	ई. 2007
243	भाटिया मनजीत सिंह	मनोरोग	नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया	ई. 2008
244	मिश्र भगवत्स्वरूप	कबीरग्रंथावली	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	ई. 1978
245	मिश्र शीतला	बोलने सुनने की कला	युवा वाग्मी सभा, इन्दौर	ई. 1994
246	मुकर्जी रवीन्द्रनाथ	यूनीफाइड समाजशास्त्र (बी.ए.1)	शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, इन्दौर	ई. 1999
247	रामसुखदास	श्रीमद्भगवद्गीता टी. साधकसंजीवनी	गीताप्रेस, गोरखपुर	ई. 2005
248	वर्मा सुरेन्द्र	भारतीयजीवनमूल्य	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	ई. 1996
249	वरदराजाचार्य	लघुसिद्धान्तकौमुदी	गीताप्रेस, गोरखपुर	वि. 2061
250	विनोद	स्वामीविवेकानंद	राजपाल एंड सन्स, दिल्ली	ई. 1969
251	महर्षि व्यास	महाभारत	गीताप्रेस, गोरखपुर	ई. 1988
252	शर्मा आर.ए.	पर्यावरणशिक्षा	सूर्य पब्लिकेशन, मेरठ	ई. 2006
253	शर्मा जी.डी.	प्रबन्ध के सिद्धान्त एवं व्यवहार	रमेश बुक डिपो, जयपुर	वि. 2031
254	शर्मा रामरतन	अर्थशास्त्र के सिद्धांत	भैया प्रकाशन, इन्दौर	ई. 1980
255	शर्मा वासुदेव	सुभाषितरत्नभंडार	तुकाराम जावजी, मुंबई	ई. 1911
256	शर्मा श्रीराम	मनुष्य में देवत्व का उदय	अखंड ज्योति संस्थान, मथुरा	ई. 1996
257	शास्त्री राजेश्वरदत्त	स्वस्थवृत्तसमुच्चय	डॉ.अखिलेश्वरदत्त मिश्र, वाराणसी	ई. 1973
258	शास्त्री हरगोविन्द	मनुस्मृति	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी	ई. 1965
259	शुक्ला लक्ष्मी	भारतीयमनोविज्ञान	विद्यानिलयम्, दिल्ली	ई. 1998
260	सिंह अरूण कुमार	आधुनिकअसामान्यमनोविज्ञान	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी	ई. 2001
261	सिंह अरूण कुमार	उच्चतरसामान्यमनोविज्ञान	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	ई. 2006
262	सिंह अरूण कुमार	व्यक्तित्व का मनोविज्ञान	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी	ई. 2006
263	सिंह नागेन्द्र	भारतीयदर्शन में मन की अवधारणा (शोध–प्रबंध)	विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन	ई. 2004
264	–	जीवविज्ञान (कक्षा 12)	युगबोध प्रकाशन	–
265	Agrawal R.D.	Orgnization and Management	Tata Mc Graw - Hill Publishing Company Limited, New Delhi	ई. 2005
266	Bradley F.	Ethical Studies	Oxford University Press, New Delhi	ई. 1962
267	Covey Stephen R.	The Seven Habits of Highly Effective People	Simon and Schuster Ltd., London	ई. 1992
268	Drucker Peter F.	Management : Task, Responsibilities & Practices	Harpon & Row, Newyork	ई. 1974
269	Feldmen Robert S.	Understanding Psychology	Tata Mc Graw - Hill Publishing Company Limited, New Delhi	ई. 2004
270	Gupta C.B.	Management & Organization	Sultan Chand and Sons, New Delhi	ई. 1995
271	Joshi Rosy	Environment Management	Kalyani Publishers, Ludhiana	ई. 2008
272	Saxena A.B.	Education for the Environmental Concerns	Radha Publications, New Delhi	ई. 1996

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७४ पत्र एवं पत्रिकाएँ ४७

क्र.	ग्रंथकार / संपादक	ग्रन्थ / पुस्तक	प्रकाशक	वर्ष
273	संपा. खेमका राधेश्याम	कल्याण	गीताप्रेस, गोरखपुर	–
274	संपा. छजलानी विनय	नईदुनिया	–	
275	संपा. जैन धर्मचंद्र	जिनवाणी	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर	–
276	संपा. डागा गौतमचंद	युवादृष्टि	युवालोक, लाडनूं	–
277	संपा. पटवा शुभू	जैनभारती	जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा, बीकानेर	–
278	संपा. समणी मल्लिप्रज्ञा	प्रेक्षाध्यान	तुलसी अध्यात्म नीडम्, लाडनूं	–
279	संपा. महाजन महेन्द्र	पर्यावरणविकास	पर्यावरण संरक्षण अनुसंधान एवं विकास केन्द्र, इंदौर	–
280	संपा. माहेश्वरी प्रफुल्ल	नवभारत	–	–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'जीवन प्रबन्धन के तत्त्व'

पर आधारित

संक्षिप्त शब्दकोष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	शब्द	अर्थ
अ	अकर्मण्य	अक्रियाशील, निष्क्रिय, निकम्मा
	अकल्प्य अचार	एक अभक्ष्य, बिगड़ा हुआ अचार
	अकषायवृत्ति	ऐसी प्रवृत्ति जिसमें कषाय नहीं हो
	अघाती	जो घातक न हो
	अजीव	पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल और आकाश – ये पाँच प्रकार के द्रव्य
	अटवी	वन, जंगल
	अणुव्रत	स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह का त्याग करने रूप श्रावक के पाँच नियम
	अतिवादिता	मर्यादा से अधिक होना
	अतिशय	विशिष्ट प्रभाव, तीर्थंकर के जन्मादि के समय घटने वाली अलौकिक/असाधारण घटनाएँ
	अतीन्द्रिय	जो इन्द्रिय से परे हो, आत्मा, परमात्मा
	अतुलनीय	जिसकी किसी से तुलना न हो सके
	अध्यवसाय	शुभ–अशुभ कर्मबंध कराने वाला विकल्प, बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव, परिणाम
	अनंगक्रीड़ा	लिंग/योनि को छोड़कर अप्राकृतिक अंगों से क्रीड़ा या केलि करना
	अनंतकाय	एक शरीर जिसमें अनंत जीव रहते हों
	अनगार धर्म	मुनिधर्म, पृथ्वीकायादि छह प्रकार के जीवों के रक्षक रूप, उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार के धर्म को धारण करने रूप, इन्द्रिय–विषयों से विरक्ति रूप, शीतादि बाईस परिषहों को सहन करने रूप, अहिंसादि छह व्रतों के धारण रूप, कषाय–जय रूप, अंतरंग में भावों एवं बाह्य में मन–वचन–काययोग की विशुद्धि रूप, मारणान्तिक उपसर्गों में समता रूप, अंगों को संकुचित रखने रूप तथा निरतिचार चारित्र पालन रूप धर्म
	अनजानाफल	एक अभक्ष्य, जिसके फल नाम तथा गुण–दोषों का सही परिचय न हो
	अनध्यवसाय	'यह क्या है', इस प्रकार का अस्पष्ट ज्ञान
	अननुष्ठान अनुष्ठान	बिना मनोयोग के केवल देखा–देखी किया गया धार्मिक अनुष्ठान
	अनन्तधर्मात्मक	वह वस्तु जिसमें अनन्त गुण हों, अनन्त धर्म हों
	अनन्तर–साध्य	निकटवर्ती लक्ष्य, जो परम्पर–साध्य की प्राप्ति में सहयोगी हो
	अनवरत	बिना रूकावट के, लगातार
	अनात्म	आत्मा से भिन्न पदार्थ
	अनादिनिधन	जिसका आदि और अन्त न हो
	अनुकूल	पक्ष में रहने वाला, मनोवांछित, प्रीतिकर (Favourable)
	अनुकूलन	आवश्यक परिवर्तन कर अनुकूल बनना (Adaptation)
	अनुक्रिया	कार्य के बाद का प्रभाव, प्रतिक्रिया (Response)
	अनुप्रेक्षा	बारम्बार चिंतन–मनन करना
	अनुबन्ध–चतुष्टय	परस्पर सम्बद्ध चार पक्ष या तथ्य
	अनुभवगोचर	अनुभव से जाना गया
	अनुयोग	प्रश्न, जिज्ञासा, पूछताछ, जिनवाणी के उपदेश की पद्धति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुयोगद्वार	शास्त्रों में कहे जाने वाले पदार्थों को सुगमता से समझने के विविध उपाय
अनुत्तर	सर्वोत्तम
अनुराग	प्रेम, भक्ति
अनुशंसा	सिफारिश, संस्तुति
अनुशीलन	बार–बार पढ़ना या विचारना, गहन चिंतन–मनन करना
अनुष्ठान	कोई धार्मिक कृत्य, आराधना
अनुसंधान	खोज, अन्वेषण
अनेकान्त–दृष्टि	वस्तु के अनेक पक्षों, धर्मों, गुणों को ग्रहण करने वाली दृष्टि
अनौचित्य	अनुपयुक्त
अन्तर्मुखी	अन्दर की ओर मुख वाला
अन्तर्मुहूर्त	48 मिनिट से कम
अन्योन्याश्रित	एक–दूसरे पर अवलंबित होना
अन्वेषणीय	खोज करने योग्य
अपनयन	दूर करना, दूसरी जगह ले जाना, हटा देना
अपरिहार्य	अत्याज्य, अनिवार्य, अवश्यंभावी (Mendatory)
अपलाप	लोप करना, इंकार करना, छिपाना, बक–बक करना
अपवर्ग	मोक्ष, मुक्ति, जन्म–मरण के चक्र से मुक्त हो जाना
अपवाद	देश, काल, परिस्थिति के अनुसार सामान्य से हटकर अपनाए गए विकल्प, विकट परिस्थिति में कमजोरीवश ग्रहण किए गए कार्य
अपशिष्ट	कुड़ा–कर्कट, भंगार, कबाड़ा, रद्दी (Wastage)
अप्रतिबद्ध	अंतरंग में मनोभावों के और बाह्य में व्यक्ति, वस्तु, देश, काल, परिस्थिति के प्रतिबन्ध से रहित
अप्रतिम	बेजोड़, अनुपम
अप्रियकारी भाषा	जो प्रिय न लगे
अभिधेय	नामकरण के योग्य, कथनीय, विषयवस्तु
अभिप्रेत	रूचिकर, प्रिय, चाहा हुआ, इष्ट
अभिप्रेरण	प्रेरणा (Motivation)
अभिसूचना	ज्ञापन, जानकारी, प्रतिवेदन (Notice)
अभीष्ट	वांछित, प्रिय, मनोज्ञ, इच्छित
अभेददृष्टि	अभिन्नता या एकरूपता को द्योतित करने वाली दृष्टि
अभ्युदय	शुद्धि; उत्तरोत्तर उन्नति; इन्द्र आदि देव सम्बन्धी सुख और चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि मनुष्य सम्बन्धी सुख
अमित	बहुत अधिक, अपरिमित
अमितकारी भाषा	जो अपरिमित हो
अमूर्त्त	अरूपी, रूप–रस–गंध–स्पर्श से रहित
अमृत अनुष्ठान	भावनापूर्वक सहज ढंग से किया गया धार्मिक अनुष्ठान
अमृतकुम्भ	अमृत का कलश
अरिहंत	घाति कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानने वाले सशरीरी परमात्मा, अरहन्त, अरूहन्त, जिन आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अर्हत्	पूज्य, प्रथम परमेष्ठी, वीतराग, सर्वज्ञ, जिन, राग–द्वेषरूपी शत्रुओं के नाशकर्ता
	अर्हता	योग्यता, उपयुक्तता
	अवधारणा	सुविचारित धारणा (Concept)
	अवमान	अपमान, खेत आदि को मापने का डण्डा आदि
	अवशिष्ट	बचा हुआ, बाकी, शेष रहा हुआ
	अवसर्पिणी	काल–चक्र का वह विभाग, जिसमें जीवों की आयु, बल, ऊँचाई आदि क्रमशः घटती जाती हैं
	अवसाद	उदासी, खेद (Depression)
	अविरति	अल्प भी प्रत्याख्यान (प्रतिज्ञा) नहीं लेना
	अव्याबाध	बाधारहित
	अव्याबाध सुख	बाधारहित सुख
	अष्टप्रवचन माता	तीन गुप्ति और पाँच समिति, जो माता के समान मुनियों के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की रक्षा करती हैं
	असंख्य	अनगिनत, अगणित
	असत् कार्य	अयथार्थ कार्य, असामाजिक कार्य, अनुचित कार्य
	असामाजिक तत्त्व	समाज–विद्रोही (Antisocial Element)
	अहितकारी भाषा	जिससे हित न हो
आ	आकिंचन्य	प्राप्त शरीर में भी मूर्च्छा या ममत्व का त्याग करना
	आकुल–व्याकुल	परेशान, अशांत, चंचलित
	आचारशास्त्र	'आचरण' विषयक शास्त्र (Ethical Scriptures)
	आचार्य	जो योग्य आचार जानते हों, करते हों और अन्य साधुओं से कराते हों
	आत्म–अभिमुखता	आत्मानुभूति के सम्मुख होना
	आत्मगत सुख	आंतरिक सुख, आत्मिक सुख
	आत्मतोष	आत्म–तुष्टि, आत्म–संतुष्टि, स्वयं की खुशी
	आत्म–प्रवंचना	स्वयं को ठगना या धोखा देना
	आत्मभ्रान्ति	स्वयं के बारे में भ्रान्ति
	आत्मरमणता	आत्मा में रमण करना, निर्विकल्प समाधि में लीन होना
	आत्मसमाहित	आत्मा में लीन, समाधिस्थ
	आत्मार्थी	जिसका उद्देश्य एकमात्र आत्महित हो
	आत्माश्रित	आत्मा पर आश्रित
	आत्मेतर	आत्मा से भिन्न
	आत्मोपलब्धि	स्वयं को प्राप्त करना
	आधार	वह जिसका सहारा लिया जाए
	आधार–आधेय सम्बन्ध	आश्रय देने वाले (जैसे – भूतल) का आश्रय लेने वाले (जैसे – घट) से संबंध
	आधिपत्य	स्वामित्व, प्रभुत्व, अधिकार, राज्य
	आधेय	वह जिसके द्वारा सहारा लिया जाए
	आध्यात्मिक	आत्मा से संबंधित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	आध्यात्मिक विकास	आत्मा का विकास
	आप्तपुरूष	अधिकृत व्यक्ति; राग, द्वेष और मोह से रहित सर्वज्ञ पुरूष
	आभ्यन्तर	आंतरिक, अंतरंग, भीतरी
	आमूलचूल	सम्पूर्ण, ऊपर से नीचे तक
	आयाम	विस्तार, फैलाव (Dimension)
	आरम्भ	हिंसा आदि की प्रवृत्ति करना
	आरा	काल–चक्र का एक विभाग, छह आरे मिलकर एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल होते हैं
	आरूढ	सवार, आसीन, दृढ़, तत्पर
	आर्तध्यान	प्राप्त परिस्थितियों में दुःखी या पीड़ित होना
	आर्द्रता	नमी
	आलोचना	गुरू के सम्मुख अपने दोषों का निवेदन करना
	आसक्ति	लगाव, प्रेम, लिप्तता
	आसेवनात्मक शिक्षा	प्रायोगिक शिक्षा
	आस्रव	कर्मों का आना
इ	इन्द्रिय–व्यापार	इन्द्रियों का उपयोग
	इन्द्रियाश्रित	इन्द्रियों पर आश्रित
ई	ईर्यापथिक	गमनागमन की क्रिया
उ	उत्तुंग	चोटी, शिखर
	उच्छृंखल	निरंकुश, स्वेच्छाचारी, अनुशासन को नहीं मानने वाला, क्रमरहित
	उच्छेद	काटना, नष्ट करना, जड़ से उखाड़ना
	उत्कर्ष	उन्नति, बढ़ाई, श्रेष्ठ
	उत्प्रेरित	उत्साहित, उत्तेजित
	उत्सर्ग	सामान्य (मूल) रूप से निर्दिष्ट नियम, विधि आदि; त्याग या विसर्जन
	उदय	उगना, प्रकट होना, कर्म का फल या विपाक
	उदरपूर्ति	पेट भरना
	उदात्तीकरण	श्रेष्ठ होना, उत्कृष्ट होना, उच्च होना, वृद्धिशील होना
	उदारीकरण	आयात–निर्यात की व्यवस्था को आसान करना (Liberalisation)
	उन्मत्त	पागल, शराबी, सनकी
	उन्मान	तगर आदि द्रव्यों को ऊपर उठाकर जिनसे तौला जाता है, वे तराजू आदि
	उन्मार्गगामी	विपरीत मार्ग की ओर प्रवृत्त होने वाला
	उन्मुक्त	स्वच्छन्द, बिना नियंत्रण के
	उपचय	वृद्धि, उन्नति, इकट्ठा होना, जीवों में रासायनिक परिवर्तनों की प्रक्रिया
	उपधान	तकिया, विशिष्ट तप आदि साधना के साथ ज्ञानार्जन करना
	उपलक्षण	गौणलक्षण, जैसे – संस्कार–संरक्षण के लिए टी.वी. का निषेध हो, तो उपलक्षण से सिनेमा का निषेध स्वतः हो जाता है
	उपशम	शांत होना, शमन होना, आत्मा के परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का प्रकट न होना
	उपादेय	ग्रहण करने योग्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	उपाध्याय	जो सम्पूर्ण द्वादशांग का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हों तथा मोक्ष के इच्छुक मुमुक्षुओं को उपदेश देते हों
	उपाश्रय	आराधक साधुओं व श्रावकों के ठहरने/आराधना करने का स्थान
	उभयाभासी	मिथ्यात्वी का एक प्रकार, जो निश्चय और व्यवहार – दोनों का साधना में समावेश करने वाला हो, लेकिन जैसा इनका स्वरूप होना चाहिए, वैसा नहीं हो
	उत्तरीय	दुपट्टा, ऊपर से ओढ़ने का वस्त्र, ऊपर पहनने का वस्त्र
ए	एकत्वभाव	पर पदार्थों में एकपने या मैं पने का भाव
	एकदेश	एक अंश में
ऐ	ऐकान्तिक	एक पक्षीय, एक देशीय
औ	औचित्य	उपयुक्त
	औदयिक भाव	कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले जीव के भाव
क	कठोर	निर्दय, कड़े हृदय वाला, सख्त
	कदाग्रह	कु–आग्रह, बुरा आग्रह, बुरी जिद
	कर्त्ता–भोक्ता	करने वाला व भोगने वाला
	कर्तृत्व भाव	पर पदार्थों के कर्ता पने का भाव
	कर्म	आत्मा को आबद्ध करने वाली पुद्गल परिणति, मन–वचन–काया की शुभ या अशुभ प्रवृत्ति, कार्य
	कर्मकाण्ड	धार्मिक विधियाँ एवं क्रियाकलाप
	कर्ममल	कर्म रूपी अशुद्धि
	कल्पवृक्ष	ऐसा वृक्ष जो युगलिक मनुष्यों की इच्छापूर्ति करता है
	कषाय	आत्मा में होने वाली क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कलुषताएँ
	कामधेनु	स्वर्ग की गाय, जो सभी कामनाएँ पूरी करती है
	काय–क्लेश	बाह्यतप विशेष, जिसमें शरीर को सुख मिले, ऐसी भावना को त्याग दिया जाता है
	कायोत्सर्ग	सीमित काल के लिए शरीर एवं अन्य पदार्थों से ममत्व का त्याग कर आत्मध्यान में लीन होना
	कार्यविधि	कार्य या काम करने का तरीका या विधि (Procedure)
	कालाबाजारी	नियम विरूद्ध व्यापार (Black-marketing)
	किंकर्तव्यविमूढ़	डाँवाडोल; 'क्या करूँ, क्या न करूँ' वाली स्थिति
	कुटिलता	माया
	कुश–घास	नुकीली घास, जो यज्ञ–पूजन में काम आती है
	कूपमण्डुक	अपरिवर्तित या संकीर्ण विचारों वाला, कुए का मेंढक, अल्पज्ञ
	कृतकृत्य	जिसका काम पूरा हो चुका है
	कृतघ्न	एहसान न मानने वाला
	कृत्य	कार्य, कर्तव्य, कर्म
	केन्द्रीकरण	सत्ता या अधिकारों को एक स्थान पर केन्द्रित करना
	केवलज्ञानी	सर्वज्ञ
	केवलदर्शी	सर्वदर्शी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	क्रियान्वयन	योजना को कार्य में लाना
ग	गच्छ	समुदाय विशेष, धार्मिक समाज की परम्परा विशेष
	गणधर	तीर्थंकर भगवान् के साधु–समुदाय के नायक; द्वादशांगी के रचयिता
	गणावच्छेदक	प्रचार, उपधि, लाभ आदि के लिए गण से अलग होकर विचरण करने वाला साधु
	गणि	गच्छनायक, आगम अंग ज्ञाता, आचार्य
	गणितानुयोग	करणानुयोग, चार अनुयोगों में से एक, लोक–अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चारों गतियों के स्वरूपादि को बताने वाले शास्त्र
	गत्यात्मक	बदलता हुआ, गतिशील, परिवर्तनशील (Dynamic)
	गरल अनुष्ठान	परलोक की वांछा से किया गया धार्मिक अनुष्ठान
	गहन	सघन, गहरा, रहस्यमय, कठिन
	गीतार्थ	उत्सर्ग व अपवाद के ज्ञाता ऐसे विशिष्ट साधु
	गुणश्रेणी निर्जरा	गुण शब्द का अर्थ है – गुणाकार (Multiplication) तथा उसकी श्रेणी, आवली या पंक्ति का नाम गुणश्रेणी है, अतः प्रतिसमय गुणाकार होते हुये कर्म परमाणुओं का झड़ना गुणश्रेणी निर्जरा है
	गुण संक्रमण	कर्म परमाणुओं का प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी क्रम से अन्य स्वजातीय प्रकृति रूप परिणमन, जैसे – असाता वेदनीय का साता वेदनीय में संक्रमण
	ग्रन्थिभेद	सम्यग्दर्शन एवं वीतराग दशा की प्राप्ति में बाधक कारणों का छेदन
	ग्रहणात्मक शिक्षा	सैद्धांतिक शिक्षा
घ	घटक	भाग, उपभाग, अवयव, रचने वाला अंश
	घाति	घात (नाश) करने वाला
	घानी	तेल निकालने का यंत्र
च	चक्रवात	आँधी–तूफान, बवंडर
	चतुष्टय	चार पक्ष वाला
	चतुष्पद	चार पैरों वाले जीव
	चौदह नियम	अनुव्रती श्रावक के द्वारा प्रतिदिन पालने योग्य चौदह नियम
	चरण–करणानुयोग	चरणानुयोग, चार अनुयोगों में से एक, श्रावक व श्रमण के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि व रक्षा के साधनों का वर्णन करने वाले शास्त्र
	चलित रस	एक अभक्ष्य, वह खाद्य पदार्थ जिसका स्वाभाविक रूप, रस, गंध व स्पर्श बदल जाता है
	चाटुकारिता	चापलूसी (Flattering)
	चैतन्य शक्ति	ज्ञान शक्ति, आत्मिक शक्ति
	चैतसिक	चेतन (आत्मा) सम्बन्धी
छ	छिद्रान्वेषण	दोष–दृष्टि, दूसरे के दोषों को देखना
ज	जितेन्द्रियता	इन्द्रियों पर विजय
	जीव	आत्मा, चेतन (Soul)
	जीवाश्म	मृत जीवों के अवशेष
	जैविक	बाह्य जीवन के घटकों – शरीर, धन, परिवार आदि से सम्बन्धित
	जैविक वासना	शारीरिक या भौतिक कामना, बाह्य जीवन से सम्बन्धित इच्छाएँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ट	टीका	व्याख्या, टिप्पणी (Commentary)
त	तथ्य	यथार्थ, वास्तविक घटना, सार, सच्चाई
	तद्हेतु अनुष्ठान	हेतु या उद्देश्य के अनुसार किया गया अर्थात् धर्मानुराग से किया गया अनुष्ठान
	तरतमता	कम–ज्यादापना, न्यूनाधिकता
	तरल	बहने वाला पदार्थ (Liquid); लचीला (Flexible)
	तात्त्विक	तत्त्व सम्बन्धी, वस्तु के स्वरूप सम्बन्धी
	तादात्म्य	अभिन्न, अनन्य, एकरूप, समरूप
	तुच्छफल	एक अभक्ष्य, जिसमें खाने का अंश कम और फेंकने के ज्यादा हो, जैसे – बेर आदि
	तुनकमिजाजी	क्रोधी या चिड़चिड़ा (Short-tempered)
	त्वरित	जल्दी, तुरन्त, शीघ्र
द	दिग्मूढ़ता	जीवन की सही दिशा का ज्ञान न होना, दिग्भ्रम
	दीघनिकाय	बौद्ध धर्म का ग्रन्थविशेष
	दुर्व्यवस्था	खराब व्यवस्था
	दुस्तर	जिसे पार करना कठिन हो
	दुस्त्याज्य	जिसका त्याग बहुत मुश्किल से हो सके
	दृष्टा	राग किए बिना केवल देखने वाला, दर्शकमात्र
	दृष्टिवाद	आगम साहित्य का बारहवाँ याने अन्तिम अंग
	देहात्मबुद्धि	शरीर को ही 'मैं' मानने वाली बुद्धि
	दैहिक	शारीरिक
	दोहन	उपयोग करना, दुहना
	द्योतित	प्रकाशित, व्यक्त किया हुआ
	द्रव्यानुयोग	चार अनुयोगों में से एक, षड्द्रव्य, नवतत्त्व आदि वस्तु स्वरूप को प्रतिपादित करने वाले शास्त्र
	द्वंद्व	संघर्ष, कलह, झगड़ा, जोड़ा
	द्वादशांगी	बारह अंग (जैन दर्शन के मूल बारह आगम)
	द्विदल	जिसके दो भाग होते हों, ऐसे कठोल, दाल, द्विदल कहलाते हैं। द्विदल के साथ कच्चे दूध, दही या छाछ का मिश्रण अभक्ष्य बन जाता हैं
	द्विपद	दो पैरों वाले जीव
ध	धर्मकथा	जीवन–उपयोगी विषयों पर चर्चा करना या उपदेश देना
	धर्मकथानुयोग	प्रथमानुयोग, चार अनुयोगों में से एक, महापुरूषों की कथा का प्रतिपादक शास्त्र
	धार्मिक आतंकवाद	धर्म के नाम पर आतंक फैलाना
	धार्मिक उन्माद	धर्म के नाम पर पागलपन की हद तक पहुंचना
	धुर	अक्ष (Axis), श्रेष्ठ, दृढ
न	नकारात्मक	अस्वीकार करने योग्य, अनुचित, अहितकारी
	नय	वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञान
	नवाचार	नवीन आचार का विधान करना (Innovation)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	निःशेष	जिसमें कुछ बचे नहीं, समस्त, समुचा
	निःश्रेयस्	मोक्ष, कल्याण
	निकृष्ट	जघन्य, निम्नतम, अधम, नीच
	निक्षेप	पदार्थ को युक्तिपूर्वक जानने/जताने का उपाय अथवा लोक–व्यवहार
	निजीकरण	सरकारी कम्पनियों को गैर–सरकारी बनाना (Privatisation)
	नियत	तय या निश्चित किया हुआ
	नियामक	नियम बताने वाला, अनुशासन में रखने वाला, व्यवस्था रखने वाला
	नियोक्ता	नियुक्त करने वाला (Employer)
	निरत	काम में लगा हुआ, मग्न, लीन
	निरपेक्ष	दूसरे की अपेक्षा नहीं रखने वाला (Absolute)
	निरा	सिर्फ, केवल, मात्र, कोरा
	निराकुल	स्थिर, शांत, निर्भय, विकल्परहित, समाधि
	निरूपक	निरूपण करने वाला, विवेचन करने वाला
	निरोध	रूकावट, रोध, नियन्त्रण
	निर्ग्रन्थ	ग्रन्थि रहित (परिग्रह रहित) साधु
	निर्जरा	कर्मों का आंशिक क्षय होना
	निर्ममत्व	ममता भाव न रखना
	निर्लिप्तता	लिप्त न होना, लगाव नहीं रखना, सांसारिक माया–मोह से दूर रहना
	निर्वाण	मोक्ष, दुःख–निवृत्ति, कर्म–निवृत्ति, शारीरिक संयोगों से मुक्ति, जन्म–जरा–मरण से मुक्ति
	निवृत्तिपरक	त्यागप्रधान, आत्मसाधना परक
	निवृत्तिमार्गी	मोक्षमार्गी, संयमी, निवृत्ति मार्ग का समर्थक/साधक
	निवेश	कम्पनी आदि में लाभ हेतु रकम लगाना (Investment)
	निश्चयाभासी	मिथ्यात्वी का एक प्रकार, जो व्यवहार (साधन) की उपेक्षा कर एकान्त से निश्चय (साध्य) का आग्रह करने वाला हो, जिसे मात्र शब्दिक ज्ञान हो, भावात्मक नहीं
	निषेधात्मक	नकारात्मक, निषेध करने योग्य, अनुचित
	निष्कर्ष	सारभूत अर्थ, नतीजा, परिणाम, निचोड़ (Conclusion)
	निष्ठावान	आज्ञाकारी, आस्थावान्, श्रद्धावान्
	निष्पन्न	सम्पन्न, भली–भाँति पूरा किया हुआ, उत्पन्न
	निष्पादन	बनाना, पूरा करना, निष्पन्न करना
	नीतियुक्त	लोकाचार की वह पद्धति, जिससे अपना कल्याण हो और दूसरे का अहित भी न हो
	नोकषाय	सहायक कषाय – हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरूषवेद, नपुंसकवेद
	न्यूनीकरण	कम करना
प	पंचमहाव्रत	साधुओं द्वारा पूर्णतया स्वीकृत व्रत या नियम – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह
	पंचमहाव्रतधारी	साधु–साध्वी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचाचार	पाँच करने योग्य आचार – ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार
पक्षाग्रह	अपने मत/पक्ष का हठ
पदार्थाश्रित	आत्मा को छोड़कर अन्य वस्तुओं पर आश्रित
परमसाध्य	अंतिम उद्देश्य, मोक्ष, दुःख–निवृत्ति
परमार्थ	सत्य, मोक्ष, यथार्थ तत्त्व, आत्मा के हित के लिए किया गया कार्य
परम्पर–साध्य	अन्तिम या चरम लक्ष्य
परवर्ती	बाद में होने वाला
परस्पर–आश्रयता	एक–दूसरे के ऊपर आश्रित होना (Interdependent)
पराङ्मुख	विमुख, विपरीत, विरूद्ध, उदासीन
परार्थ	दूसरों के हित के लिए किया गया कार्य
परावर्तना	दोहराना, पुनरावर्तन करना, आम्नाय (Revision)
परिग्रह	एकत्रित करना; मिथ्यात्व, कषाय आदि अंतरंग परिग्रह तथा धन, सम्पत्ति आदि बाह्य परिग्रह होते हैं
परिचायक	जान–पहचान कराने वाला
परिज्ञान	जानकारी होना, परिचित होना, पहचानना, निश्चय करना
परिणत	परिवर्तित, बदला हुआ
परिणति	परिणाम, पर्याय
परिणामी–नित्य	वस्तु के द्वारा परिणमन अर्थात् परिवर्तन करते हुए भी अपने मूल स्वरुप को बनाए रखना
परित्याग	पूरी तरह से छोड़ना
परिदृश्य	चारों ओर से देखने योग्य
परिधि	घेरा, वृत्त की परिधि (Circumference)
परिप्रेक्ष्य	सन्दर्भ, विषय, वस्तु, स्थिति, मत आदि का यथार्थ चित्रण करने वाला दृश्य
परिमित	सीमित
परिलक्षित	दृष्टिगत होना, अच्छी तरह से सिद्ध होना
परिवेश	परिधि, घेरा, वातावरण
परिशोधन	पूर्णतया शुद्ध करने की क्रिया
परिष्कृत	शुद्ध किया हुआ
परिसीमन	सीमा, मर्यादा निर्धारित करना
परिस्पन्दन	कम्पन (Vibration)
पर्णरन्ध्र	पत्तों के छिद्र
पर्यवेक्षण	निगरानी (Supervision)
पर्याय	द्रव्य के आश्रित रहने वाले गुणों की अवस्था, स्थिति या दशा (Modification)
पर्यालोचन	समीक्षा, गुण–दोष ज्ञात करना
पल्लवन	नये पत्तों का निकलना, विकसित होना, बढ़ना
पार्थिव शरीर	मृत शरीर, कलेवर
पावक	शुद्ध या पवित्र करने वाला, अग्नि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	पाशविक	पशु–वृत्ति
	पुद्गल द्रव्य	अचेतन रूपी पदार्थ (Matter)
	पुनःप्रेक्षण	फिर से अवलोकन (Feedback)
	पुरुषार्थ चतुष्टय	चार प्रकार के पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष
	पुरोधा	पुरोहित, अग्रणी
	पूंजीवाद	पूंजी आधारित अर्थ–व्यवस्था, इसमें व्यक्ति/समूह के निजी स्वामित्व वाले कारखाने, क्षेत्र आदि होते हैं ये व्यक्ति/समूह अर्थ–लाभ के लिये विविध उत्पादन करते हैं तथा इनके कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप भी नहींवत् होता है (Capitalism)
	पृच्छना	पूछना
	पौषध/पौषधोपवास	अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वों में श्रावक–श्राविका द्वारा पाप–क्रियाओं का त्याग कर 4,8,16 प्रहर तक साधु सदृश जीना
	प्रकाश संश्लेषण	पेड़–पौधों द्वारा सौर किरणों से भोजन बनाने की प्रक्रिया (Photosynthesis)
	प्रतिकूल	विरुद्ध, उल्टा, अप्रीतिकर (Unfavourable)
	प्रतिक्रमण	पीछे लौटना, निंद्य कर्मों से निवृत्ति, विभाव से स्वभाव में लौटना
	प्रतिद्वंद्विता	मुकाबला करने का भाव, विपक्षी भाव
	प्रतिपादक	अच्छी तरह व्याख्या करने वाला, समझाने या बताने वाला
	प्रतिपादन	अच्छी तरह समझाना या बताना, निरूपण करना
	प्रतिपाद्य	जिसकी व्याख्या की जाती है
	प्रतिमा	श्रावक के ग्यारह तथा साधु के बारह प्रकार के नियम विशेष; मूर्ति
	प्रतिमान	मानक (Standard), प्रतिमा, चित्र
	प्रतिवासुदेव	तिरसठ शलाका पुरुषों (महापुरुषों) में से नौ पुरुष, वासुदेव के शत्रु, युद्ध में वासुदेव के हाथों मरकर नियमा नरक में जाते हैं
	प्रत्याख्यान	व्रत, प्रतिज्ञा, पच्चक्खाण, शुभ संकल्प
	प्रबंधन	व्यवस्था, तन्त्र (Management)
	प्रबन्धक	प्रबन्धन करने वाला
	प्रमाण	सबूत, माप, वस्तु को सर्वांश से ग्रहण करने वाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान
	प्रमाद	आलस्य, असावधानी, आत्मा की अजागृति
	प्रमापक	प्रमाणित करने वाला
	प्रवर्तक	किसी काम में प्रवर्त करने (लगाने) वाला
	प्रवर्तन	किसी कार्य में लगाना, कार्य का आरम्भ करना, प्रोत्साहन देना
	प्रस्फुटित	बाहर निकला हुआ, खिला हुआ, प्रकट हुआ
	प्रायोगिक पक्ष	सिद्धांतों के प्रयोग से संबंधित पक्ष, आचार विभाग (Practical Aspect)
	प्रेषित	भेजा हुआ
ब	बन्ध	कर्मों का बंधना
	बलदेव	तिरसठ शलाका पुरुषों (महापुरुषों) में से नौ पुरुष, वासुदेव के बड़े भाई जो मरकर नियमा स्वर्ग या मोक्ष में जाते हैं
	बलात्	बलपूर्वक, जबरदस्ती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	बहिर्मुखी	बाहर की ओर मुख वाला, बाह्य पदार्थों की ओर आकर्षित
	बहुआयामी	जिसमें एक से अधिक पक्ष हों (Multidimensional)
	बहुबीजी फल	एक अभक्ष्य, जिसमें परस्पर सटे हुए अनेक बीज हों, जैसे – अंजीर, खसखस आदि
	बादर	बड़ा, स्थूल
	बारहव्रत	श्रावकों के द्वारा स्वीकार किये जाने योग्य बारह प्रकार के व्रत या नियम
	बारह व्रत	गृहस्थ श्रावकों द्वारा पालन करने योग्य व्रत (5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत, 4 शिक्षाव्रत)
	बालू	महीन रेत
	बाह्य	बाहरी, ऊपरी
	बाह्य परिग्रह	धन–धान्यादि नौ प्रकार की वस्तुओं का परिग्रह
	बुद्धिपूर्वक	ज्ञानपूर्वक, सचेतन (Consciously)
भ	भू–स्खलन	भूमि का क्षरण या बहाव (Soil Erosion)
	भेददृष्टि	भेद करने वाली दृष्टि
	भोक्तृत्व भाव	पर पदार्थों को भोगने का भाव
म	मंदकषायी	अल्प कषाय
	मतिज्ञान	इन्द्रियों और मन से प्राप्त ज्ञान
	मद्य	मादक, नशा
	मध्यस्थता	बीच–बचाव, तटस्थता, पक्षपातरहितता, समता
	मनोवर्गणा	पुद्गल परमाणुओं का पिण्डविशेष, जिससे द्रव्य–मन की रचना होती है
	मनोविचलन	मानसिक क्षमताओं का चलायमान होना, विकृत होना या ह्रास होना
	ममत्व	लगाव, स्नेह, ममता
	ममत्वभाव	पर पदार्थों में मेरे पने का भाव
	मर्यादा	सीमा, हद
	मात्सर्य	जलन, डाह
	मान	कषाय का एक प्रकार, अहंकार, तौल, माप, हीनता–अधिकता को प्राप्त प्रस्थ आदि
	मार्गणा	खोजना, अन्वेषण करना, गवेषणा
	मार्गानुसारी	जिन प्रणीत मार्ग का अनुसरण करने वाले, श्रावक योग्य पैंतीस गुणों से युक्त, सम्यक्त्व प्राप्ति के अभ्यासी
	मिथ्याचारित्र	मोक्षमार्ग से विपरीत मार्ग पर चलना, आत्मा की रागद्वेषमय अस्थिर अवस्था
	मिथ्याज्ञान	मिथ्यात्व की विद्यमानता में होने वाला ज्ञान, मोक्षमार्ग का संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय युक्त ज्ञान
	मिथ्यात्व	जीवादि पदार्थों पर अयथार्थ श्रद्धा, मिथ्यादर्शन
	मिथ्यादर्शन	देखें, मिथ्यात्व
	मुनिधर्म	देखें, अनगार धर्म
	मुमुक्षु	मोक्ष की इच्छा रखने वाला
	मूर्च्छा	बेहोशी, ममत्व, परिग्रह
	मूढ़	मूर्ख, जड़

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	मूर्त	रूपी, रूप–रस–गंध–स्पर्श सहित
	मूल	उत्पत्ति स्थान, आरम्भिक बिन्दु, जड़ (Root)
	मूल प्रवृत्ति	व्यक्ति की मूल इच्छाएँ, संज्ञा (Basic Instincts)
	मूल्य	कीमत, प्रतिष्ठा के योग्य, दार्शनिक साहित्य में 'Values'
	मूल्यांकन	मूल्य आँकना, मुल्य का अनुमान करना (Valuation)
	मृगतृष्णा	अनहोनी बात, मायाजाल, भ्रम, ऐसी तृष्णा जिसकी तृप्ति सम्भव नहीं
	मृदुता	कोमलता, अंहकाररहितता
	मोक्ष	देखें, निर्वाण
	मौलिक	असली, वास्तविक, मूलभूत (Original/Fundamental)
य	योग	संयोग, कुल, एक भारतीय दर्शन विशेष, मन–वचन–काया की प्रवृत्ति, आत्मा की चंचलता
	यौनसंबंध	विवाह संबंध, संभोग समागम (Sexual Relationship)
र	रक्त–शोधन	खून साफ करना
	रजत	चाँदी !
	रत्नत्रय	सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप धर्म
	रमण	लीनता, क्रीड़ा, विलास
	रूग्णता	अस्वस्थता, बीमारी
ल	लंघन	स्वास्थ्य लाभ के लिए भूखा रहना
	लक्षण	असाधारण विशेषता, दो मिले हुए पदार्थों को भिन्न–भिन्न करने वाली विशेषता
	लक्ष्योन्मुखी	लक्ष्य की ओर मुख होना
	लेश्या	कषायों से अनुरंजित मन, वचन, काया की प्रवृत्ति, जिसके कारण जीव स्वंय को पुण्य–पाप से लिप्त करता है
	लोकोत्तर	लोक से परे, मोक्ष
	लौकिक	सांसारिक, लोक सम्बन्धी
व	वंचन	धोखा देना, ठगी करना, धूर्तता
	वणिक्वादी	वाणिज्यवादी, व्यावसायिकी (Commercial)
	वस्तुगत सुख	बाहरी सुख, सांसारिक सुख
	वस्तुस्वरूप	वस्तु का स्वभाव, वस्तु की योग्यता, वस्तु का स्वतत्त्व
	वाङ्मय	साहित्य, वाग्मिता, वचन से युक्त
	वाचना	पढ़ना–सुनना
	वाच्यता–सामर्थ्य	अर्थ को व्यक्त करने की क्षमता
	वाल्मिक	दीमक आदि के द्वारा बनाई गई मिट्टी की बाँबी
	वाष्पोत्सर्जन	भाप का उठना (Evaporation)
	वासुदेव	तिरसठ शलाका पुरूषों (महापुरूषों) में से नौ पुरूष, तीन खण्ड राज्य के स्वामी, बलदेव के छोटे भाई जो मरकर नियमा नरक में जाते हैं
	विकथा	वह कथा जो कथन के योग्य न हो, विपरीत संवाद
	विकल्प	विभिन्नता, उपाय, 'मैं सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ' – इस प्रकार का हर्ष या खेद, मनोभावों का परिवर्तन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	विकारी दशा	विभाव दशा
	विकृत	खराब, बिगड़ना, रूप परिवर्तित होना, अप्राकृतिक, बिभत्स
	विकेन्द्रीकरण	अधिकार आदि को अन्य विभागों में वितरित करना
	विक्षोभ	आवेग, व्याकुलता, उद्विग्नता, उथल–पुथल, अस्त–व्यस्त (Disturbance)
	विद्वेष	शत्रुता, वैर, जलन
	विधा	प्रकार, तरीका, अध्ययन की शाखा, जैसे – कला, विज्ञान, प्रबन्धन आदि (Disciplene)
	विधेयात्मक	सकारात्मक, विधान करने योग्य, उचित
	विनिमय	आदान–प्रदान
	विपणन	व्यापार, विक्रय
	विपर्यय	उल्टा, विरूद्ध, विपरीत
	विभाव	विरूद्ध भाव, विकारी भाव
	विभूति	ऐश्वर्य
	विमुख	हटना, विरत, प्रतिकूल, उदासीन
	विवरण	अच्छी तरह वर्णन करना
	विवेच्य	विवेचन करने योग्य
	विश्लेषण	अलग–अलग करना, छानबीन करना
	विष अनुष्ठान	इसलोक की वांछा से किया गया धार्मिक अनुष्ठान
	विषकुम्भ	जहर का कलश
	विषयाकांक्षा	विषयों (भोगों) की इच्छा
	विष्टा	मल (Stool)
	विसंगति	असंगति, खराबी, बुराई, दोष
	विहित	विधान किया हुआ, विधि के अनुरूप किया हुआ, उचित
	वीतरागी	जो राग–द्वेष से मुक्त हों
	वैयक्तिक	व्यक्तिगत
	वैयावृत्य	भक्तिपूर्वक सेवा–शुश्रूषा
	वैविध्य	विविधता, अनेकरूपता, भिन्न–भिन्न
	व्यवहाराभासी	मिथ्यात्वी का एक प्रकार, जो निश्चय की उपेक्षा कर एकान्त से व्यवहार का आग्रह करने वाला हो
	व्यवहार्य	व्यवहार के योग्य
	व्यापक	सर्वत्र फैला हुआ, विस्तृत, सर्वतोन्मुखी
	व्याप्य	व्याप्त होने योग्य
	व्युत्पत्ति	उत्पत्ति, मूल, उद्‌गम, शब्द का मूल रूप
श	शिष्टाचार–प्रशंसक	सभ्य व्यवहार का समर्थक
	शुद्धात्मस्वरूप	आत्मा का शुद्ध स्वरूप, निर्विकल्प समाधि
	शुष्कज्ञानी	देखें, निश्चयाभासी
	शृंखला	क्रमबद्ध (Series)
	श्रमण–श्रमणी	साधु–साध्वी
	श्रावक धर्म	गृहस्थ धर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	श्रावक–श्राविका	गृहस्थ पुरुष–स्त्री, जो धर्म–पालन के इच्छुक हों
	श्रुतज्ञान	शास्त्र ज्ञान, मति ज्ञान से जाने पदार्थ के आधार पर अन्य पदार्थों का ज्ञान, चिन्तन–मनन रूप ज्ञान
	श्रेणिबद्ध	कतार या पंक्ति में लगाया हुआ
ष	षट्कर्तव्य	छह प्रकार के कर्तव्य – जिन पूजा, गुरू उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान
	षडावश्यक	छह प्रकार के आवश्यक – सामायिक, चतुर्विंशति स्तवन, गुरूवंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान
	षड्जीवनिकाय	छह प्रकार के जीव समुह – पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय व त्रसकाय
	षड्विध कर्म	छह कर्म – असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य व शिल्प
स	संक्लेश	क्रोध, मान, माया व लोभादि कलुषित भाव
	संचरित	स्थानांतरित होना, चलना, फैलना
	संज्ञा	नाम, ज्ञान, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह – इन चार विषयों की अभिलाषा या वांछा
	संतप्त	पीड़ित, क्लांत, दुःखी
	संपादित	भली–भाँति पूरा किया हुआ
	संप्रेषण	प्रेषित करना, भेजना, पहुँचाना (Communication / Transmission)
	संयोग–सम्बन्ध	योगानुयोग हुआ सम्बन्ध, दो या अधिक पदार्थों का मिलना या निकट आना
	संरम्भ	हिंसा आदि कार्यों से सम्बन्धित विचार करना
	संलेखना	संथारा, समतापूर्वक देह का परित्याग करना
	संवर	नवीन कर्मों का रूकना, शुभाशुभ भावों का रूकना
	संविभाग	सुपात्र आदि के लिए वस्तुओं का उचित विभाजन
	संवृत्त	भले प्रकार से जो ढँका हो अथवा ऐसा स्थान जो देखने में न आए
	संवेग	घबराहट, खलबली, अतिरेक, मनोवेग, मनोभाव (Emotions)
	संशय	शंका, संदेह
	संशोधन	शुद्ध करना, ठीक करना, सुधार करना, घटाना–बढ़ाना
	संश्लेषण	जोड़ना, मिलाना, परस्पर बांधना (Synthesis)
	सकारात्मक	स्वीकार करने योग्य, उचित, हितकारी
	सदसद्	भला और बुरा, यथार्थ और काल्पनिक
	सद्भाव	अस्तित्व, विद्यमानता, शुभ भाव, अच्छे भाव
	सप्त व्यसन	सात प्रकार की बुरी आदतें – शिकार, जुआ, चोरी, मांसाहार, मदिरापान, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन
	समत्व	समता, समाधि, राग–द्वेष रूप विषमता से रहित भाव
	समन्वय	मेल–मिलाप (Coordination)
	समन्विति	मिला हुआ
	समवसरण	तीर्थंकर भगवान् की धर्मसभा
	समाज–उदासीन	जो समाज से उदासीन हो
	समानान्तर	समान अन्तर पर होने वाले (Parallel)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समायोजन	आवश्यक सामग्री जुटाना, इकट्ठा करना
समारम्भ	हिंसा आदि कार्यों सम्बन्धी साधनों को एकत्र करना
समास	संग्रह, संक्षेप, मेल, दो या अधिक पदों को मिलाकर एकरूप करना
समीचीन	उचित, संगत, ठीक, यथार्थ
समुच्चय	समूह, ढेर
सम्मिलन	मिलना, एकत्र होना
सम्यक्	सही, उचित, सच्चा
सम्यक्चारित्र	सही ढंग से जीना, आत्म–स्थिरता, आत्म–रमणता
सम्यग्ज्ञान	सही ज्ञान, सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान, स्व–पर का यथार्थ ज्ञान
सम्यग्दर्शन	सही मान्यता, देव–गुरू–धर्म की सच्ची श्रद्धा, सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा, आत्म–श्रद्धान
सर्जक	सर्जन करने वाला, रचना करने वाला, सृष्टा
सर्वव्यापक	सार्वभौमिक, सभी जगह व्याप्त
सहिष्णुता	सहनशीलता
साक्षीभाव	गवाह होने का भाव, ज्ञाता–दृष्टाभाव, जुड़े बिना मात्र जानने का भाव
स्रोत	उद्गम (Source), जल–प्रवाह, झरना, आधार
सादि–अनन्त	जिसका प्रारम्भ हो, लेकिन अन्त न हो
साधक	साधना करने वाला
साधन	साध्य की सिद्धि का माध्यम, कारण या उपाय (Means)
साधना	कार्य पूरा करने की क्रिया, आराधना, उपासना
साध्य	उद्देश्य, साधने योग्य, ध्येय, लक्ष्य (Objective)
सान्निध्य	समीपता, करीबी
सापेक्षवाद	किसी एक की अपेक्षा से दूसरे को जानने/समझने का सिद्धान्त
सापेक्षिक	जो दूसरों पर आलंबित हो, जिसमें किसी की अपेक्षा हो
सामायिक	एक निश्चित समय (48 मिनिट) तक समता भाव में स्थिर रहना, समत्वयोग, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्वयं को उनसे अप्रभावित रखना
साम्प्रदायिकता	अंधी धार्मिकता
साम्य	समानता
साम्यवाद	समानता आधारित अर्थ–व्यवस्था, वर्गहीन समाज की रचना का सिद्धांत (Communism)
सार्वकालिक	जो सभी काल में हो
सार्वजनिक	सर्व साधारण का
सार्वभौमिक	जो सम्पूर्ण विश्व में फैला हो, विश्वव्यापी
सिद्ध	जिसने सिद्धि पाई हो, अशरीरी परमात्मा, कर्मरहित आत्मा, परम शुद्ध आत्मा
सिद्धि	साधना के पूरा होने पर मिलने वाला फल, लक्ष्य की प्राप्ति
सीमांकन	सीमा का निर्धारण करना
सेतु !	पुल
सैद्धांतिक पक्ष	सिद्धांतों से संबंधित पक्ष, दर्शन विभाग (Theoretical Aspect)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	सोद्देश्य	उद्देश्य सहित
	सोपान	सीढ़ी
	स्थविर	संघ के बीच रहकर साधना करने वाले साधु; पतित होने वाले साधकों को धर्म में स्थिर करने वाले साधु
	स्थानक	आराधक साधुओं व श्रावकों के ठहरने/आराधना करने का स्थान
	स्थावर जीव	स्वेच्छापूर्वक गमन न कर सकें वे जीव
	स्थितप्रज्ञ	स्थिर बुद्धि वाला, समरस, निर्विकल्प, सब भ्रमों से मुक्त
	स्थितिघात	कर्मों का स्थिति (काल) को घटाना
	स्नेह	ममत्व, प्रेम
	स्याद्वाद	अनेकान्तवाद की व्याख्या करने की एक पद्धति
	स्वच्छन्द	मनमौजी, स्वेच्छाचारी
	स्वभाव	आदत, प्रकृति, स्वरूप, तत्त्व, धर्म, वस्तु की निज योग्यता
	स्वाध्याय	स्वयं का अध्ययन करना, आत्महितकारी पुस्तकें पढ़ना, उपदेश श्रवण करना इत्यादि
	स्वामित्व भाव	पर पदार्थों का अधिकारी या मालिक होने का भाव
	स्वार्थ	स्वयं का लौकिक हित
ह	हस्तान्तरण	एक व्यक्ति के हाथ से दूसरे के हाथ में जाना
	हेय	त्याग करने योग्य
	ह्रास	क्षय, हानि, अभाव
क्ष	क्षणभंगुर	क्षण में नष्ट होने वाला, क्षणिक, अनित्य
	क्षपक	मोहनीय कर्म का क्षय करने वाला
	क्षय	नाश, क्षीण
त्र	त्रस जीव	स्वेच्छापूर्वक गमन करने में समर्थ सभी जीव
	त्रिकरण	करना, कराना व अनुमोदन – ये तीन करण
	त्रियोग	मन, वचन, काया की प्रवृत्ति
	त्रिवर्गीय	धर्म, अर्थ व काम – इन तीन वर्गों वाला
	त्रैकालिक	भूत, भविष्य एवं वर्तमान – तीनों काल में होने वाला
ज्ञ	ज्ञाता–दृष्टाभाव	केवल जानने–देखने का भाव, प्रतिक्रियारहित अवस्था
	ज्ञानमीमांसा	'ज्ञान' विषयक शास्त्र (Epistemology)
	ज्ञानार्जन	ज्ञान प्राप्त करना
	ज्ञेय	जानने योग्य

=====<●>=====

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

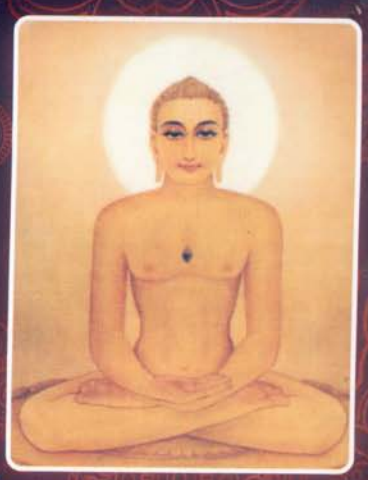

जीवन प्रबन्धन है....

- जीवन के विविध पहलुओं का प्रबन्धन
- जीवन की समस्याओं का सम्यक् समाधान
- सुख, शान्ति एवं आनन्द पूर्वक जीने की कला
- जीवन-विकास के लिए क्रमबद्ध जीवन सोपान
- जीवन का समग्र, सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित विकास
- जीवन-निर्वाह के साथ-साथ जीवन-निर्माण का उपाय
- जीवन का परिष्कार विविध सिद्धान्तों एवं प्रयोगों के द्वारा
- प्राप्त परिस्थितियों में बेहतर जीवन जीने का सरल रास्ता
- जीवन के प्रति पूर्ण ईमानदार व जवाबदार बनने का उद्घोष
- जीवन और धर्म के बीच अटूट, अखण्ड सम्बन्ध की स्थापना
- जीवन को विश्वास के साथ-साथ विज्ञान पर खडा करने का प्रयास
- जीवन में भ्रान्त धारणाओं का उत्थापन तथा यथार्थ मान्यताओं का स्थापन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

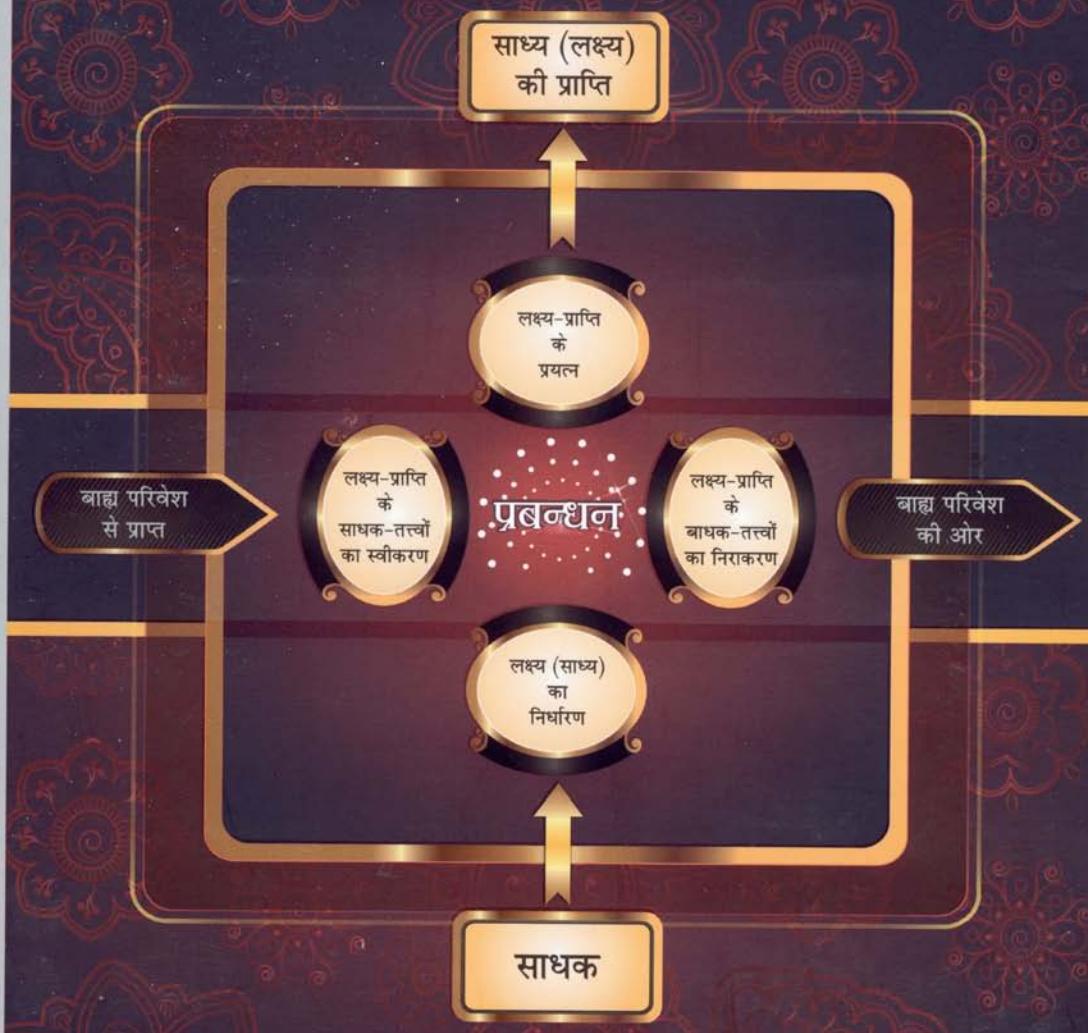

प्रबन्धन

प्रबन्धन वह वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है,
जो बदलते हुए परिवेश में,
जीवन के सम्यक् लक्ष्य का निर्धारण कर, लक्ष्य की सिद्धि के लिए
नियोजन, संगठन, संसाधन, निर्देशन, समन्वयन और नियन्त्रण का
समुचित प्रयोग कर, साधक-तत्त्वों का सम्यक् उपयोग एवं
बाधक-तत्त्वों का सम्यक् निराकरण कर लक्ष्य की प्राप्ति कराता है
और अन्ततः जीवन का समग्र विकास करके
चरम आत्मिक-शान्ति प्रदान करता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org